भारतीय अर्थशास्त्र

[भारत की विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था का एक विस्तृत एवं वैज्ञानिक विवेचन]

लेखक

सत्यदेव देराश्री

अर्थशास्त्र के प्राध्यापक और स्नातकोत्तर विभागाध्यक्ष

श्री महाराज कुमार कालेज, जोधपुर

तथा

लक्ष्मी नारायण नाथूरामका

अर्थशास्त्र के व्याख्याता

महाराजा कालेज, जयपुर
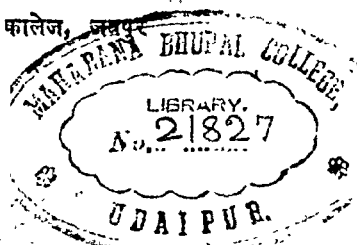
प्रथम संस्करण—१९६१

प्रकाशक

लक्ष्मी नारायण अग्रवाल

शैक्षणिक प्रकाशक

हॉस्पिटल रोड, आगरा।

प्रकाशक
लक्ष्मीनारायण अग्रवाल,
शैक्षणिक प्रकाशक,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

मूल्य : ग्यारह रुपये

मुद्रक
प्रियम्वदा प्रेस,
नौबस्ता, आगरा।

प्रस्तावना

कई वर्षो से मेरे प्रकाशक के ज्येष्ठ पुत्र स्व० श्री राजनारायण अग्रवाल की यह इच्छा थी कि मैं "भारतीय अर्थशास्त्र" पर एक पुस्तक उनको प्रकाशित करने के लिए दूँ। कई विद्यार्थियों और अध्यापक-बन्धुओं ने मुझसे बारम्बार इसके लिए अनुरोध किया। परन्तु अनेक कारणों से मैं इस कार्य को श्री अग्रवाल के जीवित रहते हुए पूरा नहीं कर सका। वास्तव में यदि मैं आज इस रचना को लेकर पाठकों के सन्मुख उप-स्थित हो सका हूँ तो इसका एकमात्र श्रेय मेरे उत्साही सह-लेखक श्री लक्ष्मी नारायण नाथूरामका को है जिन्होंने पुस्तक के लिये अधिकांश सामग्री जुटाने और लिखने में मेरा हाथ बँटाया है। उनके सहयोग के बिना संभवतः यह रचना अभी कुछ वर्षो तक और प्रकाशित न हो पाती।

पिछले वर्षो में भारतीय अर्थशास्त्र पर अँग्रेजी में कुछ पुस्तकें प्रकाशित हुईं हैं जिनमें 'वर्णन' के स्थान पर 'विश्लेषण' पर ज्यादा जोर दिया गया है और आर्थिक आयोजन व विकास के सैद्धान्तिक ज्ञान के सहारे भारत की आर्थिक समस्याओं का वर्णन किया गया है। इस नई शैली में 'सूचना व आँकड़े' प्रदान करना लक्ष्य न रह कर एक साधन-मात्र रह गया है और लक्ष्य पाठकों का 'ज्ञानवर्द्धन' करना होगया है। सर्व श्री अलक घोष, धिरेश भट्टाचार्य, वेंकट सुबैया और कोली तथा हूवर आदि की रचनायें नवीन शैली पर आधारित हैं। कुछ सरकारी रिपोर्टों में भी विश्लेषण व विवे-चन पर अधिक जोर देने से समस्याओं के समझने में विशेष सहायता मिली है।

अँग्रेजी में भी यह शैली बहुत आगे बढ़ चुकी हो, सो बात नहीं है। हमारा अनु-मान है कि अभी सिर्फ प्रारम्भिक प्रयत्न ही हुए हैं। आगे बहुत कुछ करना बाकी है। लेकिन हिन्दी भाषा में तो इधर शुरूआत ही की जानी है। हम यह दुस्साहस तो नहीं कर सकते हैं कि हमने इस प्रथम संस्करण में विश्लेषणात्मक शैली की शुरूआत कर दी है लेकिन यह निश्चय है कि हमारा प्रयास उधर ही है और हम इस पुस्तक के आगामी कुछ संस्करणों तक अवश्य ही प्रगति करेंगे ताकि भारतीय अर्थशास्त्र केवल घटनाओं का वर्णन-मात्र न रहेगा बल्कि इनके अर्न्तसम्बन्ध पर प्रकाश डालने वाला एक वैज्ञानिक विवेचन हो सकेगा।

प्रस्तुत पुस्तक में भाषा, शैली और विषयों के चुनाव में भारतीय विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रमों तथा विद्यार्थियों की रुचि एवं सुविधा का पूरा ध्यान रखा गया है। हम आशा करते हैं कि उनको इस पुस्तक में प्रस्तुत विषयों का विस्तृत और विश्वसनीय

खण्ड ४—ग्रामीण अर्थशास्त्र व सहकारिता

खण्ड ५—भारत की औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था

खण्ड ६—परिवहन

खण्ड ७—व्यापार व प्रशुल्क नीति

खण्ड ८—राष्ट्रीय आय, रोजगार व आयोजन

खंड १—परिचय

पहला अध्याय

भारतीय अर्थशास्त्र की परिभाषा और क्षेत्र

"भारत की मुख्य आर्थिक समस्याओं के अध्ययन और उनके सम्भावित कारणों तथा उनको सुलझाने के लिए किए गए या किए जाने वाले उपायों के विश्लेषण को समष्टि रूप से हम भारतीय अर्थशास्त्र कह सकते हैं।"

(जाथर और बेरी)

भारतीय अर्थशास्त्र की परिभाषा—अर्थशास्त्र को तीन भागों में बांटा जा सकता है, यथा वर्णनात्मक अर्थशास्त्र, सैद्धांतिक अर्थशास्त्र और व्यावहारिक अर्थशास्त्र। वर्णनात्मक अर्थशास्त्र में किसी विषय से सम्बन्धित सब तथ्यों को इकट्ठा करके निष्पक्षता से उनका वर्णन किया जाता है; उदाहरण के लिए हम भारतीय कृषि या जापान के वस्त्र-उद्योग से सम्बन्धित सब तथ्यों को इकट्ठा करके उनका वर्णन कर सकते हैं। सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र में, जिसे प्रायः आर्थिक विश्लेषण की संज्ञा दी जाती है, हम देखते हैं कि अमुक अर्थ-व्यवस्था की क्या विशेषताएँ हैं और यह कैसे कार्य करती है। व्यावहारिक अर्थशास्त्र में सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र के अध्ययन से प्राप्त विश्लेषण-यंत्रों की सहायता से वर्णनात्मक अर्थशास्त्र में वर्णित घटनाओं और तथ्यों के महत्व और कारणों पर प्रकाश डाला जाता है। भारतीय अर्थशास्त्र में वर्णनात्मक अर्थशास्त्र और व्यावहारिक अर्थशास्त्र दोनों का समिश्रण है। इसमें भारत की वर्तमान अर्थ-व्यवस्था का वर्णन किया जाता है और इस विवरण से प्रकट होने वाली भारत की आर्थिक समस्याओं के कारणों और परिणामों की छानबीन की जाती है और इन समस्याओं के हल सुझाए जाते हैं। इस प्रकार भारतीय अर्थशास्त्र में वर्णनात्मक और व्यावहारिक दोनों पहलू शामिल हैं।

आज हमारे देश में छोटी बड़ी अनेक आर्थिक समस्याएँ हैं, जैसे गरीबी की समस्या, बेकारी की समस्या, खेती की उपज बढ़ाने की समस्या, छोटे और कुटीर उद्योगों की समस्या, मंहगाई और मुद्रा-स्फीति की समस्या आदि। भारतीय अर्थशास्त्र में हम पढ़ते हैं कि ये समस्याएँ कब और क्यों पैदा हुईं, इनके क्या परिणाम हैं और इनको सुलझाने के लिए क्या क्या कदम उठाए जा चुके हैं या उठाये जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में, भारत की आर्थिक स्थितियों और समस्याओं के अध्ययन का नाम ही भारतीय अर्थशास्त्र है।

अन्य सम्भावित अर्थ:—यद्यपि "भारतीय अर्थशास्त्र" की उपर्युक्त परिभाषा को लगभग सब आधुनिक भारतीय अर्थशास्त्री स्वीकार करते हैं तथापि इस पद के और भी अर्थ लगाए जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि यह पद स्वयं-स्पष्ट नहीं है और अपने साधारणतः स्वीकृत अर्थ के अतिरिक्त कम से कम तीन और अर्थों की ओर संकेत

विद्यार्थी के लिए इतना महत्व नहीं है। दूसरे शब्दों में, इन पुस्तकों में 'भारत का आर्थिक इतिहास' और 'भारतीय अर्थशास्त्र' दोनों विषय समाविष्ट होते हैं और बहुधा ऐतिहासिक घटनाओं को प्रधानता दी जाती है।

'विश्लेषण प्रणाली' के आधार पर लिखी गई पुस्तकों में भारत की वर्तमान आर्थिक स्थिति के वर्णन और वर्तमान समस्याओं के विश्लेषण को प्रधानता दी जाती है। इस प्रणाली का दोष यह है कि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के ज्ञान के अभाव में गहन विश्लेषण असंभव होता है। किसी आर्थिक समस्या के वर्तमान स्वरूप को भली प्रकार समझने के लिए यह आवश्यक है कि हमको इसकी उत्पत्ति और भूतकाल में इसके विभिन्न रूपों का ज्ञान हो। दूसरे शब्दों में भारत के आर्थिक इतिहास के आधार पर ही भारत की वर्तमान आर्थिक समस्याओं का अध्ययन किया जा सकता है।

हमारा विश्वास है कि भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए उपर्युक्त दोनों प्रणालियों को मिलाकर चलना सर्वोत्तम होगा। वास्तव में, ये दोनों प्रणालियाँ आपस में विरोधी नहीं हैं, बल्कि एक दूसरे की पूरक हैं। इनका अन्तर श्रेणीगत नहीं होकर केवल आंशिक है। परन्तु हम अपनी पुस्तक में किसी समस्या के सुदूर इतिहास में नहीं जाकर उसके वर्तमान और निकट भूत के स्वरूप का ही विस्तृत विवेचन करेंगे। दूसरे शब्दों में, हमारा अध्ययन प्रधानतः वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक होगा और किसी समस्या के ऐतिहासिक विकास को गौण स्थान दिया जाएगा। परन्तु हम प्रत्येक समस्या की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को सदा अपने सामने रखेंगे और जहाँ आवश्यकता हुई तुलनात्मक अध्ययन के लिए आर्थिक इतिहास का संक्षिप्त विवरण भी देंगे।

भारतीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र—हमारी परिभाषा के अनुसार भारतीय अर्थशास्त्र मे भारत की विभिन्न आर्थिक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। हमने यह भी बतलाया है कि यह अध्ययन सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र से भिन्न है। इसका आर्थिक नियमों के प्रतिपादन से सीधा सम्बन्ध नहीं है। हाँ, सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र के अध्ययन से प्राप्त विश्लेषण-यन्त्रों का इसमें प्रयोग किया जाता है। अतएव भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र का पूर्वज्ञान आवश्यक है।

भारतीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसमें भारत के प्राकृतिक और मानवी साधनों का वर्णन, भारतीय कृषि और ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था, उद्योग-धन्धों और व्यापार-व्यवसाय, चलार्थ और अधिकोषण व्यवस्था, राज वित्त और भारत में आर्थिक नियोजन, राष्ट्रीय आय तथा रोजगार आदि भारत के आर्थिक जीवन से सम्बन्धित सब समस्याओं और गति-विधियों का अध्ययन करना पड़ता है। इस प्रकार यह अध्ययन की एक अत्यन्त महत्वाकांक्षी योजना है।

हमारा अध्ययन विस्तृत होने के साथ ही साथ गहन भी होता है। हम प्रत्येक समस्या के पिछले इतिहास का अध्ययन करते हैं, उसके वर्तमान स्वरूप का सावधानी

से विश्लेषण करते हैं तथा अपने अध्ययन के आधार पर प्रत्येक समस्या के सम्बन्ध में भविष्यवाणी भी करते हैं। हम प्रत्येक समस्या के कारणों की छानबीन करते हैं, उसके परिणामों का अध्ययन करते हैं और इसको हल करने के लिए किए गए तथा किए जारहे प्रयत्नों की परीक्षा करके भावी नीति के सम्बन्ध में सुझाव देते हैं।

भारतीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र का विवरण समाप्त करने से पूर्व यह भी बतला देना आवश्यक है कि क्या यह अध्ययन विशुद्ध वैज्ञानिक (Positive) है या आदर्शात्मक (Normative) भी है ? प्रो० रोबिन्स (Robbins) के अनुसार अर्थशास्त्र साध्यों के प्रति तटस्थ है। अर्थशास्त्र वास्तविक स्थिति जैसी है उसका वैसा ही वर्णन-विश्लेषण करता है। कैसा होना चाहिए ? इस प्रश्न का सम्बन्ध अर्थशास्त्र से नहीं है। भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन में हम यह मर्यादा स्वीकार नहीं करते। हम स्पष्ट रूप से पक्षपाती हैं। हम भारत के अधिकतम आर्थिक कल्याण को अपना ध्येय मान कर प्रत्येक समस्या का अपने राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से अध्ययन करते हैं। गरीबी और बेकारी बुरी होती है। अतएव हम उनको बुरा मानकर देश में समृद्धि और रोजगार की वृद्धि करने वाली नीति का समर्थन करते हैं। परन्तु हम दूसरे देशों को नुकसान पहुँचाकर अपने देश की भलाई नहीं करना चाहते। हम पृथकत्वादी नहीं हैं और न अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों के प्रति उदासीन हैं। हम शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और अन्तराष्ट्रीय सहयोग के हामी हैं। परन्तु हमको अपने देश का राष्ट्रीयहित सर्वोपरि समझना चाहिए।

भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्व—भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का विद्यार्थियों के लिए, साधारण नागरिकों के लिए, भारत के नेताओं के लिए और भारत के आर्थिक विकास में दिलचस्पी रखने वाले विदेशियों के लिए भी बड़ा महत्व है।

(१) विद्यार्थियों के लिए महत्व—वैसे तो विद्यार्थियों के लिए पाठय-क्रम में निर्धारित प्रत्येक विषय के अध्ययन का महत्व होता है परन्तु भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का ज्ञानोपार्जन की दृष्टि से भी बड़ा महत्व है। भारतीय अर्थशास्त्र में हमारे देश की विभिन्न तथा पेचीदा समस्याओं का गम्भीर अध्ययन किया जाता है जिससे पाठकों के मस्तिष्क को यथेष्ट सामग्री मिलती है और उनका मानसिक विकास होता है।

(२) नागरिकों के लिए महत्व—हमारे देश के साधारण नागरिकों के लिए भी भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का बड़ा महत्व है। राजनैतिक स्वतंत्रता और लोकतंत्र

पढ़ा लिखा होने का दावा नहीं कर सकता और न अपने मताधिकार का उत्तरदायित्व ही ठीक तरह से निभा सकता है।

आज हमारे देश के सामने सबसे बड़ा प्रश्न गरीबी और बेकारी को दूर करके देशवासियों के जीवन स्तर को उन्नत करने का है। भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन इस प्रश्न को समझने और सुलझाने में हमारी बड़ी सहायता कर सकता है।

हमारा विश्वास है कि साम्प्रदायिक और भाषाई विवादों के ठंडा पड़ जाने के पश्चात् भविष्य में हमारे देश में चुनाव मुख्यतः आर्थिक नीतियों के आधार पर लड़े जाएँगे। अतएव नागरिकों में देश की आर्थिक स्थिति और समस्याओं की जानकारी आवश्यक है। यही नही साम्प्रदायिक और भाषाई विवादों के मूल में भी आर्थिक कारण कार्य करते है। अतएव भारतीय अर्थशास्त्र का ज्ञान इनके समझने में भी हमारी सहायता करता है।

पिछले नौ-दस वर्षों से भारत सरकार आयोजित आर्थिक विकास द्वारा हमारी आर्थिक समस्याओं को हल करने के प्रयत्न कर रही है। हमारे देश की पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता के लिए सक्रिय जन-सहयोग अनिवार्य है। जन-सहयोग के लिए जन-साधारण में इन प्रयत्नों की जानकारी आवश्यक है। यह कार्य भी भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन द्वारा ही संभव हो सकता है।

(३) नेताओं के लिए महत्त्व—साधारण नागरिकों की अपेक्षा नेताओं का उत्तरदायित्व अधिक होता है। दुर्भाग्य से हमारे देश के साधारण नागरिक ही नहीं, परन्तु कुछ सम्मानीय अपवादों को छोड़ कर, हमारे अधिकांश नेतागण भी मुद्रा, विनिमय, अधिकोषण, तटकरनीति, राजकोषीय नीति आदि की समस्याओं से नितांत अपरिचित हैं। इस अवस्था में वे इन समस्याओं को हल करने में हमारा मार्ग-दर्शन कैसे कर सकते हैं ?

यही नहीं हमारे देश में अनेक ऐसे आन्दोलन चलाए जाते हैं जो आर्थिक शक्तियों के विरोध में कार्य करके असफल होते हैं। ये त्रुटियाँ देश के लिए बड़ी मँहगी पड़ती हैं और इनमें समय, शक्ति तथा धन का भारी अपव्यय होता है। अतएव हमारे देश के साधारण नागरिकों की अपेक्षा हमारे लोकमत के नेताओं के लिए भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन और भी आवश्यक है।

(४) विदेशियों के लिए महत्व—संसार की वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में भारतीय अर्थ-व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण स्थान है। भारत अनेक देशों की आवश्यक कच्चे और उपभोग्य पदार्थों की पूर्ति करता है और कई देशों के माल का महत्वपूर्ण ग्राहक है और उनकी अतिरिक्त पूँजी के विनियोग और प्राविधिक ज्ञान के उपयोग के लिए हमारे यहाँ विस्तृत क्षेत्र है। इन कार्यों में रुचि रखने वालों के लिए भी भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का बड़ा महत्व है। यही कारण है कि अमरीका और इङ्गलैण्ड

आदि अनेक देशों की उच्चतर शिक्षा संस्थाओं में भारत के आर्थिक जीवन से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण विषयों का अध्ययन और शोध होता है।

अभ्यास

(१) भारतीय अर्थशास्त्र के अर्थ समझाइये। इसके अध्ययन का क्या महत्व है?

(२) "भारतीय अर्थशास्त्र" का अर्थ और क्षेत्र समझाइये। भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए आप कौन सी अध्ययन प्रणाली उत्तम मानते हैं?

संदर्भ ग्रन्थ

(१) जथर और बेरी: भारतीय अर्थशास्त्र, भाग (१), अध्याय (१)

(२) महादेव गोविन्द रानाडे: एसेज आन इण्डियन इकॉनॉमिक्स, विशेषतः इण्डियन पोलिटिकल इकॉनोमी पर लेख।

(३) धीरेश भट्टाचार्य: "अण्डर स्टैंडिंग इण्डियन इकोनोमी" पहले दो अध्याय (१९५९)

दूसरा अध्याय

भारतीय अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति व विकास की समस्यायें

भारतीय अर्थ-व्यवस्था सदियों से कृषि प्रधान, पिछड़ी हुई और अर्द्ध-विकसित रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद से और विशेपतया पंच-वर्षीय योजनाओं में आर्थिक विकास के लिए सक्रिय कदम उठाये गये हैं। अतः आज की परिस्थितियों में हमारी अर्थ-व्यवस्था को अर्द्ध-विकसित न कह कर 'विकासोन्मुख' (Developing) कहना अधिक उपयुक्त होगा। हम आर्थिक विकास के पथ पर बढ़ रहे हैं। इसलिए आर्थिक पिछड़ेपन के चिन्ह धीरे-धीरे कम हो रहे हैं फिर भी भारतीय अर्थ-व्यवस्था को पूर्णरूप से पाश्चात्य देशों की भाँति विकसित करने के लिए बहुत कुछ करना बाकी है। ध्यान से देखने पर आज भी इसमें अर्द्ध-विकसित देशों के लक्षण पाये जाते हैं जिन्हें दूर करने में हमारी सरकार सतत प्रयत्नशील है।

अर्द्ध-विकसित देशों की विशेषताएँ एवं भारतीय अर्थ-व्यवस्था

अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था की अर्थशास्त्रियों ने कई परिभाषाएँ की हैं। इनमें पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्थाओं की एक या एक से ज्यादा विशेषताओं पर जोर दिया गया है, जैसे कृषि पर जनसंख्या का अत्यधिक भार, वास्तविक राष्ट्रीय आय की कमी, पूँजी का अभाव, उद्योगों की कमी, जनाधिक्य, पिछड़ा हुआ सामाजिक ढाँचा आदि आदि। इस बात में कोई संदेह नहीं है कि अर्द्ध-विकसित देशों में ये विशेषताएँ देखने को मिलती है लेकिन किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था को अर्द्ध-विकसित उसी समय कहा जाना चाहिए जबकि उसमें विकास की सम्भावनाएँ मौजूद हों। विकास की अवस्था वर्तमान उत्पादन और अधिकतम संभव उत्पादन के अनुमान पर निर्भर है। अतः हमारी धारणा के अनुसार अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर आर्थिक विकास कर सकती है। दीर्घकाल में वह भी 'विकसित' अर्थ-व्यवस्थाओं की विशेपताएँ प्राप्त कर सकती है। अर्द्धविकसित अर्थ--व्यवस्था की यह सरल परिभाषा करने पर भी यह आवश्यक हो जाता है कि हम इसकी प्रमुख विशेपता जानें। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ऐसी अर्थ व्यवस्था में वास्तविक राष्ट्रीय आय (Real national income) बहुत कम होती है और अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा आदि देशों के मुकाबले में बहुत नीची होती है। अर्द्ध-विकसित देशों की यह दशा कई कारणों से उत्पन्न हो जाती है और फिर स्थिरता प्राप्त कर लेती है। एक ऐसा वातावरण बन जाता है जो विकास में बाधक हो जाता है। बहुत कठिन परिश्रम से ही तीव्र विकास का वातावरण बनाया जा सकता है। नीचे हम

अर्द्ध-विकसित देशों की विविध विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे और साथ में उन विशेषताओं को भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर लागू करेंगे।

(१) **कृषि की प्रधानता**— प्रायः देखा गया है कि पिछड़े हुए देशों में जनसंख्या का बड़ा भाग कृषि-व्यवसाय में लगा रहता है। जहाँ खनिज पदार्थ पाये जाते हैं वहाँ श्रमिक खानों में भी काम पा सकते हैं। अन्यथा गैर-कृषि क्षेत्रों में रोजगार के साधनों की कमी से जनसंख्या बरबस खेती की तरफ झुकती है। इन देशों की राष्ट्रीय आय का लगभग आधा या इससे भी ज्यादा कृषि-उत्पादन से प्राप्त होता है। भारत में भी भूमि व मनुष्य का अनुपात (Land-man ratio) अनुकूल नहीं है। प्रति मनुष्य भूमि बहुत कम है अथवा प्रति एकड़ मनुष्यों की संख्या ज्यादा है। १९४१ की जनगणना के अनुसार भारतीय जनसंख्या का ६९'८ प्रतिशत कृषि पर आश्रित है। यह असंतुलित व्यावसायिक बँटवारे का परिचायक है। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व विकसित देशों में जनसंख्या का अधिक भाग गैर-कृषि उत्पादन में लगा होता है। औद्योगीकरण व आर्थिक विकास एक साथ पाये जाते हैं। आर्थिक दृष्टि से समुन्नत राष्ट्र उद्योग-प्रधान होते हैं।

(२) **कृषि-उत्पादन का निम्न स्तर**—पिछड़े हुए देशों में कृषि-व्यवसाय की प्रधानता के साथ-साथ दूसरी विशेषता यह पाई जाती है कि वहाँ प्रति एकड़ व प्रति व्यक्ति उत्पादन का स्तर बहुत नीचा होता है। खेत प्रायः छोटे-छोटे एवं बिखरे हुए (Small and scattered) होते हैं। खेती बहुत पिछड़ी हुई दशा में पाई जाती है। कहीं-कहीं तो सदियों पुरानी कृषि-पद्धतियाँ चलती रहती हैं। कृषि में विनियोग बहुत कम हो पाता है क्योंकि ज्यादातर यह घाटे का व्यवसाय रहता है। जनसंख्या का अधिक भाग खेती में लग कर भी पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्नों व कच्चे माल का उत्पादन नहीं कर पाता है जब कि विकसित देशों में थोड़े व्यक्ति लग कर भी बहुत उत्पादन कर पाते हैं जिसमें से वे निर्यात के लायक भी बचा लेते हैं। कृषि के पिछड़ेपन के लिए अनेकों कारण हैं जैसे प्रगतिशील भूमि-व्यवस्था का अभाव, (Lack of progressive land system), कृषि में यंत्रों के प्रयोग की कमी एवं अन्य टेकनिकल कमियाँ (जैसे उत्तम खाद, औजार, बीज, सिंचाई आदि का अभाव), और संगठन की कमजोरियाँ जैसे सहकारी संगठन की प्रगति के अभाव में खेती, साख, बिक्री व उत्पादन में व्यक्तिगत प्रणाली की हानियों का पाया जाना आदि। इन विभिन्न कारणों ने अर्द्ध-विकसित देशों की कृषि को अविकसित बना रखा है। भारत में यह परिस्थिति विशेष रूप से पाई जाती है। यहाँ खेत छोटे-छोटे और बिखरे हुये हैं। यहाँ पर भू-स्वामित्व की सामन्तीप्रणाली जिसमें काश्तकार के लिए उत्पादन बढ़ाने की कोई प्रेरणा नहीं रहती है, वर्षों तक चलती रही है, अतः कृषि का पिछड़ा रहना स्वाभाविक था। गहरी खेती का कार्य अब भी पूर्णतया चालू नहीं हो पाया है। प्रति

एकड़ उत्पादन बढ़ाने की सम्भावनाएँ आज भी बनी हुई हैं और उस दिशा में प्रगति करने की आवश्यकता है।

(३) जनाधिक्य की स्थिति—ज्यादातर अर्द्ध-विकसित देशों में जनाधिक्य की समस्या भी पाई जाती है।

भारत में यह समस्या विशेष रूप से उग्ररूप धारण किये हुए है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना की अवधि में जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि की दर १·२५ प्रतिशत मानी गई थी लेकिन बाद में अनुमानों से पता लगा कि यह २% तक पहुँच गई है। वृद्धि की दर इतनी ऊँची होने से जनसंख्या में वार्षिक वृद्धि लगभग ७०-८० लाख हो जाती है। भारत के प्राकृतिक साधनों का तीव्रतम गति (Fasted speed) से उपयोग करने पर भी इतनी विशाल जनसंख्या का रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना कठिन होगा। भारतीय जनसंख्या की भावी वृद्धि के के बारे में कुछ अनुमान* नीचे दिये जाते हैं जिससे आर्थिक समस्या की गम्भीरता स्पष्ट हो जायगी :—

(मिलियन में)

	१९५१	१९५६	१९६१	१९६६	१९७१	१९७६
द्वितीय योजना के अनुसार	३६२	३८४	४०८	४३४	४६५	५००
केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन C. S. O. के अनुमान	३६२	३९१	४३१	४८०	५२८	५६८

केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन ने अपने अनुमान निम्न जन्म, मृत्यु व वृद्धि की दरों के आधार पर लगाये हैं।

(प्रति वर्ष १००० पर)	१९५१-५६	१९५६-६१	१९६१-६६	१९६६-७१	१९७१-७६
जन्म-दर→	४१·७	४०·७	३९·६	३२·९	२७·३
मृत्यु-दर →	२५·९	२१·६	१८·२	१३·९	१२·६
विकास-दर →	१५·८	१९·१	२१·४	१९·०	१४·७

*Third Five Year Plan : A Draft Outline, p. 5,

इन अनुमानों के आधार पर १९५१-७६ की अवधि में जनसंख्या में २०६ मिलियन की कुल वृद्धि होगी। तीव्र आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में मृत्यु-दर तो चिकित्सा व स्वास्थ्य की सुविधाएँ बढ़ाने से घटने लगती हैं लेकिन जन्म-दर के कम होने में काफी समय लगता है। इस बीच में जनसंख्या का दबाव और भी बढ़ जाता है। अतः जनसंख्या की समस्या विकास में बाधक हो जाती है। कुल उत्पादन बढ़ने पर भी प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में ज्यादा नहीं आ पाता है। अतः जीवन-स्तर ऊँचा नहीं हो पाता है। जनसंख्या बढ़ने से ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी व अर्द्ध-रोजगार की समस्या और भी जटिल बन जाती है। ऊँची जन्म-दरके कारण आश्रितों की संख्या बढ़ जाती है। भारत जैसे देशों में 'लाभप्रद रोजगार'-बहुत कम लोगों को मिल पाता है और श्रम शक्ति का सर्वत्र अपव्यय दिखाई पड़ता है। यह वास्तव में एक चिन्ताजनक व पेचीदी परिस्थिति है।

(४) **पूँजी का अभाव** :—अर्द्ध-विकसित देशों में विकास के अवरुद्ध होने का प्रमुख कारण पूँजी का अभाव है। राष्ट्रीय आय कम होने एवं उपभोग में खर्च होजाने से बचत कम हो पाती है अतः पूँजी का निर्माण कम हो पाता है। जो थोड़ी बहुत बचत होती है उसका भी ज्यादातर उपयोग मकान बनाने, आभूषण खरीदने व विलासिताओं में होता है।

बचत का अनुत्पादक कार्यों में प्रयोग होने से पूँजी की कमी हमेशा बनी रहती है। इन देशों में पूँजी की माँग उसकी पूर्ति से कितनी ही गुनी अधिक होती है। भूमि की उत्पादकता (Productivity) बढ़ाने के लिए पूँजी आवश्यक होती है। श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए उनके प्रशिक्षण आदि पर विनियोग करना पड़ता है। पुरानी मशीनों व औजारों के स्थान पर नई मशीनें व औजार लगाने पड़ते हैं। अतः पूँजी की उत्पादकता बढ़ाने के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है। इस प्रकार चारों तरफ से पूँजी की मांग की जाती है और उसकी पूर्ति न होने से विकास रुक जाता है।

इन देशों के समक्ष एक कठिनाई और है। आर्थिक विकास से जब आय बढ़ती है तो बढ़ी हुई आय बचाने में लगाने के बजाय लोग उपभोग पर व्यय कर डालते हैं। इसलिए राष्ट्रीय आय का वह भाग, जो बचत के रूप में एकत्रित होकर विनियोग में लगाया जाता है, लगभग स्थिर हो जाता है। नीचा जीवन-स्तर होने के कारण आय बढ़ने से लोग अपनी दबी हुई आवश्यकताओं को संन्तुष्ट करने लगते हैं। अतः बचत का बढ़ाना दुष्कर हो जाता है। भारत में आजकल राष्ट्रीय आय का केवल ८% बचाया जाता है इसलिए राष्ट्रीय आयका ११% विनियोग करने के लिए हमें विदेशों से सहायता लेनी होती है।

घरेलू पूँजी (Domestic Capital) के अभाव के कारण पिछड़े हुए देशों से पूँजी का आयात करना पड़ता है।

(५) औद्योगीकरण का अभाव :—सभी अर्द्ध-विकसित देशों में आधुनिक ढंग के बड़े पैमाने के उद्योगों का अभाव पाया जाता है। पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन व मशीनों का निर्माण लगभग नहीं के बराबर होता है। आधारभूत उद्योगों के अभाव में अर्थ-व्यवस्था में तीव्र विकास के लिए आवश्यक गति नहीं आ पाती है। कई पिछड़े हुए देशों मे उपभोग्य वस्तुओं के कारखाने तो चालू हो जाते हैं लेकिन इनमें प्रयुक्त होने वाली मशीनें बाहर से आती रहती हैं। यह विकास का असंतुलित तरीका है और इससे सुदृढ़ व निरन्तर प्रगति नहीं हो सकती है। भारत में औद्योगिक प्रगति हुई लेकिन जनसंख्या, देश का विस्तार व प्राकृतिक साधनों को देखते हुए, यह बहुत कम है। आधारोद्योगों और मशीनो के बनाने वाले उद्योगों की विशेषतः बहुत कमी है। अत्यधिक जनसंख्या व पूँजी का अभाव औद्योगीकरण के मार्ग में बाधक है।

(६) उपयुक्त सामाजिक वातावरण व मनोवृत्ति का अभाव :—अर्द्ध-विकसित देशों के सामाजिक ढांचे भी विकास में बाधक होते हैं। जाति-प्रथा व सम्मिलित कुटुम्ब प्रणाली ने श्रम व पूँजी की गति-शीलता को रोका है, प्रेरणा व साहस को निरुत्साहित किया है और आर्थिक पिछड़ेपन को स्थायित्व प्रदान किया है। इन देशों में सामाजिक प्रथाओं पर काफी अपव्यय होता है और जनता रूढ़िवादी होती है और पीढ़ियों से चलती आई परम्पराओं को आर्थिक दृष्टि से अहितकर होने पर भी निभाती रहती है। इससे सीमित साधनों का दुरुपयोग होता है। लगातार गरीबी में पड़े रहने से आम जनता में अपनी स्थिति सुधारने की इच्छा व शक्ति मारी जाती है। लोग भाग्यवादी हो जाते हैं। आर्थिक विकास के लिए सर्व-साधारण में उत्साह उत्पन्न करना कठिन होजाता है। गरीबी को वहां की जनता सदा के लिए कायम रहने वाली स्थिति मान लेती है।

(७) आर्थिक कुचक्रों का जोर (Force of Economic vicious circles) : – एक गरीब देश इसलिए गरीब है कि वह गरीब है। वास्तव में पिछड़े हुए देशों की आर्थिक परिस्थिति का यह सही चित्र है। इनमें कई आर्थिक कुचक्र चलते रहते हैं जिन्हें तोड़ना अत्यन्त दुष्कर होता है। रेग्नर नर्क्से ने अपनी पुस्तक में[1] गरीबी के ऐसे कुचक्रों का विस्तार से वर्णन किया है। एक गरीब व्यक्ति के पास खाने के लिए पर्याप्त भोजन नहीं है। इससे वह कमजोर रहता है और कम काम कर पाता है। कम काम करने से वह गरीब रहता है और उसके पास खाने का पूरा इंतजाम नहीं हो पाता है आदि आदि। इस प्रकार गरीबी का कारण गरीबी है।

एक दूसरा कुचक्र इस प्रकार है—इन देशों में बचत की कमी होती है, जिससे पूँजी का अभाव पाया जाता है। पूँजी की कमी में कम उत्पादन हो पाता है जिससे वास्तविक आय थोड़ी होती है और परिणामस्वरूप बचत कम होती है। इस प्रकार यह वृत्त

*R. Nurkse : Problems of Capital Formation in Underdeveloped countries.

पुनः चालू हो जाता है। अतः पिछड़े हुए देशों में इस तरह के चक्र बने रहते हैं और प्रगति में बाधा डालते रहते हैं।

(द) बाजार की अपूर्णताएं (Market imperfections) :—पिछड़े हुए देशों में बाजार की कई अपूर्णताएँ देखने को मिलती हैं जैसे उत्पादन के साधनों की प्रगतिशीलता, मूल्यों की बेलोचता, बाजार की परिस्थितियों की अज्ञानता, बेलोचदार ढांचा, एवं विशिष्टीकरण का अभाव आदि।* इनसे साधनों का सर्वोत्तम उपयोग नहीं हो पाता है। आर्थिक साधनों का कभी कभी दुरुपयोग भी हो जाता है।

बाजार की अपूर्णताओं के कारण ही विनियोग को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता है। देश में मांग की कमी रहती है और उद्यम-कर्त्ताओं की कमी बनी रहती है।

अर्द्ध-विकसित देशों की विशेषताओं के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि इन देशों की समस्यायें बड़ी जटिल हैं। क्रांतिकारी उपाय अपना कर ही इनका हल निकाला जा सकता है। इन देशों के आर्थिक विकास की कुछ समस्याओं पर विचार करने से पूर्व इनके आर्थिक पिछड़ेपन के कारणों पर दृष्टि डालना विशेष उपयोगी होगा। यह विवरण भी प्रमुखतया भारत की पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर किया गया है।

आर्थिक पिछड़ेपन के कारण (भारतीय परिस्थिति) :—जब हम यह कहते हैं कि भारत आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है तब हमारा अभिप्राय यह होता है कि यहां की कृषि की दशा हीन है, यहां उद्योग-धन्धों का अभाव है, राष्ट्रीय आय अन्य देशों की तुलना में कम है एवं लोगों का रहन-सहन का दर्जा नीचा है।

अब प्रश्न यह उठता है कि प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से धनी होते हुए भी भारत आर्थिक प्रगति क्यों नहीं कर पाया। जब हम भारत की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय की तुलना अमेरिका, ब्रिटेन व जापान आदि देशों से करते हैं तो बड़ी निराशा होती है। भारत आर्थिक आयोजन द्वारा १९७३-७४ तक प्रति व्यक्ति वार्षिक आय लगभग १०० डालर करना चाहता है जबकि अमेरिका में प्रति व्यक्ति आय पहले से ही लगभग १९६० डालर है। आय के इतने विशाल अन्तर के कुछ ही विशेष कारण हैं जिन्होंने भारत में आर्थिक विकास नहीं होने दिया है।

भारत में तीव्र आर्थिक विकास न होने के राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक कारण हैं।

(१) राजनीतिक कारण :—राजनीतिक दृष्टि से पराधीन देश आर्थिक उन्नति नहीं कर सकता है क्योंकि विदेशी सरकार अपने आर्थिक हितों की रक्षा करती है और उसे आर्थिक प्रगति में कोई रुचि नहीं रहती है। ब्रिटिश काल में आर्थिक विकास रुका रहा। कृषि में पूंजी का विनियोग नहीं किया गया। गहरी खेती चालू

*Muir & Baldwin : Economic Development–Theory, History, Policy.

नहीं की गई। अंगरेजों का हित इस बात में था कि वे यहां से कच्चा माल अपने देश में ले जांय और बदले में निर्मित माल यहां बेचते रहें। इस प्रकार भारत जैसा विस्तृत बाजार उनको तैयार माल बेचने के लिए उपलब्ध हो जाय।

इसलिए अंगरेजों ने यहां कल-कारखाने खोलने में विशेष उत्साह नहीं दिखाया। चाय व कहवा के बागानों में अवश्य रुचि दिखलाई गई क्योंकि विदेशी व्यापार में इनका महत्व बढ़ रहा था। ब्रिटिश सरकार की प्रशुल्क-नीति भी बहुत समय तक अनुदार थी। जब तक अबाध व्यापार की नीति चलती रही भारत में उद्योगों का विकास नहीं हो सका। विवेचनात्मक संरक्षण की नीति से भी बहुत कम उद्योगों को लाभ हुआ। ब्रिटिश काल में जमींदार व कुछ सरकारी अफसर ही आनन्द मनाते थे। अन्य वर्गों ने विशेष लाभ नहीं उठाया था। देश के कुछ धनिक व्यक्ति भी देश के आर्थिक साधनों का उपयोग करने लग गये थे। लेकिन कुल मिलाकर उद्यमकर्त्ताओं का अभाव था और ज्यादातर लोग शीघ्र लाभ मिलने वाली दिशाओं में पूंजी लगाना उचित समझते थे।

इस प्रकार ब्रिटिश काल में एक तरफ कुछ धनी व्यक्ति दिखाई देते थे और दूसरी तरफ जनसंख्या का बड़ा भाग अत्यन्त गरीब और दबा हुआ था। अर्थ-व्यवस्था में भी स्पष्टतया दो भाग दिखाई पड़ते थे—एक तो संगठित क्षेत्र जिसमें आधुनिक ढङ्ग के बड़े पैमाने के कारखाने, बैंक, बीमा कम्पनियां, रेलें आदि थे और दूसरा संगठित क्षेत्र जिसमें खेती, कुटीर उद्योग, छोटे व्यापारी, गांव के महाजन आदि थे। देश में जो कुछ भी बचत होती थी, वह संगठित व आधुनिक क्षेत्र में होती थी। दूसरा क्षेत्र पिछड़ी हुई हालत में था। आज भी भारतीय अर्थ-यन्त्रस्था में ये दोनों क्षेत्र मौजूद हैं लेकिन इनका अन्तर कम हो रहा है। दूसरे क्षेत्र में भी प्रगति करने के उपाय किये जा रहे हैं।

(२) सामाजिक कारण—सामाजिक कारणों में जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार एवं जनसंख्या की वृद्धि को लिया जा सकता है। पहले कहा जा चुका है कि जाति प्रथा ने श्रम व पूंजी की गतिशीलता में बाधा पहुँचाई और समाज को टुकड़ों में बांट दिया। संयुक्त परिवार प्रणाली ने व्यक्तिगत प्रेरणा व उद्यम को हतोत्साहित किया। एक ही जगह रहने से आपसी संघर्ष बढ़े और काम में रुचि घट गई। भारत में जनसंख्या की निरंतर वृद्धि ने और विशेपकर १९२१ के बाद की तेज वृद्धि ने आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है। देश में जीवन-स्तर घटता गया है और बेरोज-गारी उत्पन्न हो गई है।

(३) आर्थिक कारण—भारत में आर्थिक प्रगति की धीमी गति के लिए एक कारण अपर्याप्त उत्पादन भी है। भूमि व पूंजी की तुलना में यहां श्रम का बाहुल्य है। इसलिए भारत में उत्पादन के श्रम-प्रधान और पूंजी बचाने वाले तरीके अपनाये

जाते हैं। फलस्वरूप सभी क्षेत्रों में उत्पादन के स्तर नीचे हैं। देश की आय कम है। उसका बँटवारा भी असमान है। बचत कम होती है और वह उच्च वर्ग तक सीमित है। इस प्रकार भारत पूँजी की दृष्टि से निर्धन देश है। पूँजी के अभाव ने हमारा आर्थिक विकास रोक रखा है।

आर्थिक विकास के मार्ग में प्रथम कठिनाई अब नहीं रही है। सामाजिक संस्थाएँ भी तेजी से बदल रही हैं। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से जाति-प्रथा की दीवारें गिर रही हैं। संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली भी वैयक्तिक भावना के प्रचार से विघटित हो रही है। राष्ट्रीय सरकार स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही आर्थिक विकास में संलग्न है और पंच-वर्षीय योजनाओं द्वारा देश के आर्थिक साधनों का समुचित प्रयोग किया जा रहा है। इस प्रकार आज भारत के तेजी से आर्थिक विकास के मार्ग में मुख्य कठिनाई पूँजी और प्राविधिक ज्ञान की कमी है।

आर्थिक विकास की कुछ समस्याएँ

पिछले वर्षों में भारत के आर्थिक विकास के सम्बन्ध में कई प्रश्न हमारे सामने आये हैं, जैसे आर्थिक विकास में सरकार कितना भाग ले, निजी क्षेत्र व सार्वजनिक क्षेत्रों के कार्य-क्षेत्र कैसे निश्चित किये जाँय, देश की आर्थिक नीति का लक्ष्य क्या हो, देशी व विदेशी पूँजी का सापेक्षिक महत्व क्या हो एवं पूँजी-निर्माण कैसे किया जाय और साथ में श्रम की कार्य कुशलता बढ़ाने के लिए आवश्यक प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था कैसे की जाय। हमने इनमें से कई प्रश्नों के हल ढूँढ़ लिये हैं और उनको लागू कर रहे हैं। भारत के आर्थिक विकास में निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र दोनों को काम करने का अवसर दिया गया है। भारत की आर्थिक नीति का लक्ष्य समाजवादी ढंग का समाज स्थापित करना रखा गया है जिसमें अधिकतम उत्पादन, पूर्ण रोजगार, न्यायोचित वितरण, सहकारी संगठन एवं आर्थिक विकेन्द्रीकरण पर जोर दिया गया है। भारत के आर्थिक विकास के लिए विदेशी पूँजी की सहायता स्वीकार की गई है लेकिन उसके साथ राजनीतिक प्रभाव नहीं माना जायगा। इस प्रकार आर्थिक विकास के कई प्रश्नों के सम्बन्ध में हम फैसला कर चुके हैं। लेकिन पूँजी-निर्माण व दक्षता-निर्माण (Skill formation) के प्रश्न अभी हल होने बाकी हैं। अतः हम नीचे पूँजी-निर्माण व दक्षता-निर्माण पर विशेष प्रकाश डालते हैं।

भारत में पूँजी-निर्माण की समस्या
(Problem of Capital Formation in India)

भारत के आर्थिक विकास में पूँजी के महत्व पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। कृषि के पुनर्संगठन व पुनर्जीवन के लिए, यातायात व संदेश-वाहन के विकास, शिक्षा एवं स्वास्थ्य की व्यवस्था बढ़ाने एवं औद्योगीकरण के लिए विशाल पूँजी की

आवश्यकता है। देश में आय कम होने से आम जनता की बचत करने की शक्ति बहुत कम है। विकास की प्रारम्भिक अवस्था में जब आय बढ़ती है तो उसके साथ-साथ उपभोग भी तेजी से बढ़ता है और परिणामस्वरूप बचत नहीं बढ़ पाती है। गाँवों व शहरों की जनता आमदनी बढ़ने पर उपभोग पर अधिक व्यय करने लगती है जिससे पूँजी-निर्माण की दर नहीं बढ़ पाती है। भारत में आज यही स्थिति उत्पन्न हो गई है। हम विनियोग की दर बढ़ाते जारहे हैं लेकिन आन्तरिक या घरेलू बचत विशेष नहीं बढ़ पा रही है, अतः हमें विदेशी सहायता व ऋणों पर अधिकाधिक मात्रा में आश्रित होना पड़ रहा है। यह स्थिति बहुत वर्षों तक नहीं चल सकती। अतः हमें घरेलू साधनों को बढ़ाना होगा ताकि आर्थिक विकास को स्थायित्व प्रदान किया जा सके। रिज़र्व बैंक द्वारा हाल ही में प्रकाशित भारत में बचत और विनियोग के एक अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारत में बचत की मात्रा १९५१-५२ में ४५ करोड़ रु० से बढ़ कर १९५६-५७ में ५० करोड़ रु० यानी राष्ट्रीय आय के ५·९% से बढ़कर ९·६% गई है। परन्तु १९५७-५८ में बचत की मात्रा कम हुई। कुल बचत में से ८३% रेलू क्षेत्र से, ११% सरकारी क्षेत्र से और ६% कम्पनियों से प्राप्त होती है।

अनुमान है कि दूसरी योजना काल में विनियोग की दर राष्ट्रीय आय के ७% से ढ़ कर ११% कर दी गई है परन्तु देश की बचत की दर इतनी नहीं बढ़ी इसलिए मको विदेशी साधनों पर अधिक निर्भर रहना पड़ा। अनुमान है कि दूसरी योजना ो अवधि में कुल ६२०० करोड़ रु० का विनियोग होगा जिसमें दो तिहाई देशी ाधनों से और शेष एक तिहाई विदेशों से प्राप्त करना होगा। तीसरी योजना में वेनियोग की मात्रा ६२०० करोड़ रु० से बढ़कर १०,००० करोड़ रु० यानी राष्ट्रीय प्राय का ११% की जगह १४% किया जायगा। इसके साथ ही बचत की मात्रा बढ़ानी होगी क्योंकि एक सीमा से आगे विदेशों पर आश्रयिता अव्यावहारिक और अवांछनीय होती है।[1]

अर्द्ध-विकसित देशों में आर्थिक विकास के लिए घाटे की वित्त-व्यवस्था का भी सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। भारत की द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में १२०० करोड़ रु० के घाटे की वित्त-व्यवस्था की गई थी और तृतीय योजना में उसकी मात्रा घटा कर लगभग ५५० करोड़ रु० करने का निश्चय किया गया है। घाटे की वित्त-व्यवस्था में मुद्रास्फीति का भय रहता है। लेकिन थोड़ी मात्रा में परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए इसका प्रयोग अवांछनीय नहीं है। घाटे की वित्त-व्यवस्था का प्रयोग करके बेकार मानवीय व प्राकृतिक साधनों को काम में लगाकर राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। लेकिन इस पद्धति को पूर्ण सावधानी से अपनाना चाहिए ताकि अर्थ-व्यवस्था को क्षति न पहुँचे।

(1) Indian Information (1-7-1960), P. 404.

विदेशी पूँजी भी पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक होती है। मशीनों व दक्ष कर्मचारियों की सहायता मिलने पर विकास की गति तेज की जा सकती है। भारत ने विदेशी निजी क्षेत्रों, सरकारों व अन्तराष्ट्रीय संस्थाओं से पूँजी ली है और आगामी योजनाओं में भी उसकी सहायता लेनी पड़ेगी। हम आशा करते हैं कि चतुर्थ पंच-वर्षीय योजना के अन्त तक भारत में विदेशी पूँजी का केवल सामान्य आयात ही होगा क्योंकि उस समय तक हमारी अर्थ-व्यवस्था 'आत्म-निर्भर विकास' की ओर अग्रसर हो जायगी।

विकास के प्रारम्भिक वर्षों में भुगतान असंतुलन के दबावों का बढ़ना अस्वाभाविक नहीं है। कच्चा माल, मशीनें, खाद्यान्न व अन्य विकास सामग्री का आयात आवश्यक होता है और घरेलू माँग बढ़ जाने से निर्यात स्थिर हो जाते हैं। अतः पिछड़े हुए देशों की परिस्थिति वड़ी जटिल हो जाती है। लेकिन देश में मशीनों का उत्पादन बढ़ा कर इनका आयात घटाया जा सकता है। प्रयत्न करने पर निर्यात भी बढ़ाये जा सकते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे भुगतान-असंतुलन कम किया जा सकता है।

छिपी हुई बेरोजगारी एवं पूँजी-निर्माण
(Disguised Unemployment & Cap'tal Formation)

भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में विशाल श्रम-शक्ति वेकार पड़ी है। मौसमी वेकारी (Seasonal unemployment) के अतिरिक्त भी छिपी हुई वेकारी अथवा अर्द्ध-रोजगार (under employment) की स्थिति विद्यमान है। पैतृक खेतों पर आश्रितों की संख्या निरंतर वढ़ रही है। जहाँ जितने व्यक्तियों की आवश्यकता है वहाँ उस से कई अधिक व्यक्ति एक ही भूमि के टुकड़े पर लदे हुए है। इससे भूमि पर जनसंख्या का भार वढ़ गया है। इससे जीवन-स्तर नीचा हो जाता है और विकास नहीं हो पाता है। यदि आवश्यकता से अधिक अनुत्पादक श्रमिकों को भूमि से हटा कर अन्यत्र लगाया जाय तो कृषि-उत्पादन नहीं घटेगा। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि खेती में प्रतिव्यक्ति सीमान्त उत्पादन लगभग नहीं के वरावर है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि जनसंख्या को कृषि-व्यवसाय से हटाकर संगठित उद्योगों आदि की तरफ लेजाया जाय ताकि अर्थ-व्यवस्था विकसित हो सके।

प्रो० रेग्नार नर्कसे ने अपनी पुस्तक Problems of Capital Formation in Underdeveloped Countries) में छिपी हुई वेकारी को पूँजी-निर्माण में वदलने का सुझाव दिया है। उनका कहना है कि कृषि के अनुत्पादक श्रमिकों को साधारण पूँजी-निर्माण के कार्यों में लगाया जाय, जैसे बाँध बाँधना, सड़क बनाना, मिट्टी की रक्षा करना आदि। प्रो० नर्कसे के अनुसार ऐसा करने में विशेष कठिनाई नहीं होगी। सिर्फ उत्पादक श्रमिकों द्वारा अपने अनुत्पादक सम्बन्धियों को दी गई उपभोग की सुविधा को उस स्थान तक पहुँचाना है जहाँ वे उत्पादन-कार्य

करने लग जाते हैं। यह प्रक्रिया बड़ी सरल लगती है। लेकिन इतना करने से ही गरीबी का कुचक्र समाप्त नहीं हो जायगा।

हाल ही में * प्रो० वकील और डा० ब्रह्मानंद ने अपनी पुस्तक Planning for an Expanding Economy में प्रो० नर्क्से के विचारों को आगे बढ़ाया है। इन्होंने कहा है कि छिपी हुई बेकारी को समाप्त करने के लिए उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाना होगा। जब अनुत्पादक श्रमिक खेत से हट कर अन्यत्र उत्पादक श्रमिक के रूप मे जाता है तो उसका उपभोग बढ़ जाता है। वह यदि पहले एक इकाई (भोजन व कपड़े) का उपभोग करता था तो अब दो इकाई (भोजन व कपड़े) का उपभोग करने लग जाता है। अतः उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने से ही छिपे हुए बेकार व्यक्तियों को पूँजी-निर्माण में लगाया जा सकता है। यदि सरकार एक व्यक्ति के लिए उपभोग्य वस्तुओं की व्यवस्था कर देती है तो दो व्यक्तियों को काम दिया जा सकता है क्योंकि पहला व्यक्ति एक इकाई (भोजन व कपड़ा) अपने साथ ले जाता है और वह दूसरे को यह इकाई दे देता है जो अपने साथ भी एक इकाई लाता है। अतः दूसरे व्यक्ति को भी दो इकाइयाँ मिल जाती हैं और वह उत्पादन में लग सकता है।

उपर्युक्त चर्चा का सारांश यही है कि छिपी हुई बेकारी मिटाने के लिए उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाया जाना चाहिए। साथ में यह भी आवश्यक है कि खेतों पर रहने वाले के उपभोग पर नियन्त्रण करना होगा, अन्यथा विकास की गति अवरुद्ध हो जायगी।

छिपी हुई बेकारी मिटाने के लिए उपभोग्य वस्तुओं के अलावा विकास-सामग्री, आवश्यक मशीनों व संगठन की भी आवश्यकता होगी। मान लीजिए खेती में लगे हुए अनुत्पादक श्रमिकों को बांध बनाने में लगाया जा रहा है। तो सर्वप्रथम इनके लिए उपभोग्य वस्तुओं की व्यवस्था करनी पड़ेगी। बांध-निर्माण के लिए आवश्यक सामग्री व औजारादि का इन्तजाम करना होगा और समस्त कार्य को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए एक संगठन बनाना पड़ेगा जिसके अन्तर्गत यह कार्य सम्पन्न किया जा सके। अतः छिपी हुई बेकारी को मिटाने के लिए उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन बढ़ाने के साथ साथ अन्य साधनों की भी आवश्यकता पड़ेगी, जिनके अभाव में विशेष प्रगति नहीं हो सकेगी।

दक्षता-निर्माण का प्रश्न
(The Problem of Skill Formation)

एक पिछड़े हुए देश में श्रमिकों के दक्ष बनाने का प्रश्न पूंजी-निर्माण के प्रश्न से

*Alak Ghosh—Indian Economy—Its Future Problems, P. 39

कम जटिल नहीं है। आज जब हम तेजी से औद्योगीकरण करना चाहते हैं तब मजदूरों की क्षमता बढ़ाने का महत्व और भी बढ़ जाता है। भारतीय श्रमिकों की उत्पादकता बहुत कम है। अर्थ-व्यवस्था के पिछड़े रहने का एक कारण उत्पादकता के स्तर का नीचे रहना भी है। आर्थिक विकास के लिए दक्ष कारीगरों की आवश्यकता होती है। वैसे स्वचालित यन्त्रों के प्रयोग से दक्षता की आवश्यकता घट रही है क्योंकि गहन यन्त्रीकरण में श्रमिक को बहुत कम काम सीखना पड़ता है। लेकिन भारत में जहां हम स्वचालित यन्त्रों का प्रयोग सीमित रखना चाहते हैं श्रमिकों को दक्ष बनाने में विशेष ध्यान देना होगा।

विकास की प्रारम्भिक अवस्था में हमें पूंजी के साथ-साथ दक्ष कर्मचारियों व श्रमिकों का भी आयात करना पड़ेगा। भारतीय श्रमिकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जा सकेगी। अन्त में हमको भारत में ही दक्षता-निर्माण (Skill formation) करना है। भारतीय कारीगरों व कर्मचारियों को विदेशों में प्रशिक्षित किया जा सकता है।

देश में प्रशिक्षण की सुविधा बढ़ाने के लिए संस्थाएँ स्थापित करनी होती हैं। कारीगर उद्योगों में काम में लगकर धीरे-धीरे ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। उद्योगों में कारीगर नवसिखिए के रूप में प्रवेश पा सकते हैं और कुछ समय तक काम सीख कर फिर नौकरी कर सकते हैं। इस प्रकार दक्षता प्राप्त करने के कई उपाय हैं।

लेकिन सबसे ज्यादा आवश्यक कार्य तो साधारण श्रमिक की दक्षता बढ़ाने का है। तृतीय योजना की रूपरेखा के प्रारूप में (पृष्ठ ६) में कहा गया है कि करोड़ों व्यक्तियों के कार्य पर प्रभाव डालने वाली उत्पादकता में मामूली सुधार भी कुल उत्पादन पर अत्याधिक प्रभाव डालते हैं। अतः हमें इस दिशा में विशेष प्रगति करनी होगी।

सरकार को दक्षता बढ़ाने के कार्यों में विशेष भाग लेना चाहिये। अर्द्ध-विकसित देशों में कृषि को प्रगतिशील बनाने के लिए अत्यधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। प्रति एकड़ उपज बढ़ाने के लिए श्रमिकों की उत्पादकता बढ़ाई जानी चाहिए। दक्षता बढ़ाने के लिए पर्याप्त मात्रा में बढ़िया औजारों की आवश्यकता पड़ेगी। अतः दक्षता-निर्माण व पूंजी-निर्माण साथ-साथ होने चाहिएँ।

प्रत्येक देश की अपनी परम्पराएँ होती हैं और वहां काम करने की विशेष पद्धतियाँ पाई जाती हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इनमें ऐसे परिवर्तन किए जायँ कि कारीगर उनको स्वीकार कर सकें और उनको अपना कर देश का कुल उत्पादन बढ़ाने में सहयोग दे सकें।

तीसरा अध्याय

भारत का प्राकृतिक परिवेश और भौगोलिक साधन

"प्रकृति ने उदारता पूर्वक भारत को अपने उपहार दिये हैं, परन्तु भारतवासी उनसे समुचित लाभ नहीं उठा सके। प्राकृतिक विपुलता और मानव-निर्धनता की यह विषमता कैसी विडम्बना है।"

(जाथर और वेरी)

प्राकृतिक साधन और आर्थिक विकास

किसी देश की आर्थिक स्थिति वहाँ के प्राकृतिक परिवेश और साधनों तथा मनुष्य द्वारा इनके उपयोग पर निर्भर करती है। प्रकृति और पुरुष प्राचीनकाल से धनोत्पादन के प्राथमिक साधन माने गये हैं। कई शताब्दियों तक प्रकृति का कार्य प्रधान रहा और मनुष्य प्रकृति पर निर्भर था। धीरे धीरे मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त की। फिर भी यह विजय पूरी नहीं मानी जा सकती। भारत जैसे कृषि प्रधान और पिछड़े हुये देश में आज भी प्रकृति की प्रधानता है और मनुष्य का कार्य प्रकृति पर निर्भर है। सिंचाई के कृत्रिम साधनों और कृत्रिम रासायनिक खादों के अभाव में खेती की पैदावार आज भी मिट्टी की उपजाऊ शक्ति और वर्षा की यथेष्ठता पर निर्भर है। उद्योगों का विकास भी खेतों तथा खानों से मिलने वाले कच्चे माल पर निर्भर है। खानों से खनिज ईंधन (कोयला और तेल) तथा धातुओं के अतिरिक्त निर्माण उद्योग और रासायनिक उद्योग के लिए कच्चा माल भी मिलता है। परिवहन के साधनों की उन्नति देश के धरातल और जलमार्गों की उपस्थिति पर निर्भर है। नदियों के होने से परिवहन के अतिरिक्त सिंचाई और जल-बिजली के विकास में भी सहायता मिलती है। वन-सम्पत्ति से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से आर्थिक जीवन पर प्रभाव पड़ता है। प्रत्यक्ष रूप से हमें वनों से जलाने की लकड़ी और इमारती लकड़ी के अतिरिक्त कई प्रकार का कच्चा माल मिलता है। परोक्ष रूप से वन आवहवा को मौतदिल बनाते हैं, नदियों में पानी के वहाव को नियंत्रित करके बाढ़ों को रोकते हैं, मिट्टी को कटने से बचाते हैं और कई प्रकार के पशुओं को शरण देते हैं। प्राचीन काल से मनुष्य पशुओं को पाल कर उनसे सवारी और बारबदारी का काम लेता आया है। आज भी भारत में पशुओं से हल चलाने, पानी निकालने और गाड़ी खींचने का काम लिया जाता है। इसके अतिरिक्त हमको गाय भैंस से दूध-घी आदि खाद्य सामग्री मिलती है। संक्षेप में, प्राकृतिक साधनों से हमको आर्थिक जीवन में कई प्रकार से मदद मिलती है।

आर्थिक विकास में भी प्राकृतिक साधनों से बड़ी मदद मिलती है। जब आबादी बढ़ती है और मंडियों का विस्तार होता है तो प्राकृतिक साधनों का उपयोग करने के नए तरीके निकाले जाते है। उद्योगों के विकास के लिए प्राकृतिक साधनों का उपयोग किया जाता है। तदर्थ विदेशों से पूंजी और प्राविधिक ज्ञान का आदान-प्रदान होता है। हम देखेंगे कि भारत में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता है। परन्तु योजना काल से पूर्व उनका बहुत कम उपयोग किया जाता था और भारत एक अर्द्ध विकसित देश माना जाता था। हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में हमारे खनिज पदार्थो और जल-मार्गो का अधिकाधिक उपयोग करके देश के आर्थिक विकास की नीति अपनाई गई है।

हम इस अध्याय में भारत की स्थिति, भौगोलिक खण्डों तथा जलवायु का वर्णन करेंगे और आगे पांच अध्यायों में क्रम से भारत की मिट्टियों, खनिज पदार्थों, वनों, शक्ति के साधनों तथा पशुधन का अध्ययन करेंगे और अन्त में एक स्वतन्त्र अध्याय में भारत में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता के बीच में गरीबी की समस्या का अध्ययन करेंगे।

(अ) भारत की स्थिति और सीमाएँ

एशिया महाद्वीप से दक्षिण की ओर निकले हुये तीन प्रायद्वीपों में बीच वाले को भारत या हिन्दुस्तान कहते हैं। हिमालय के द्वारा मध्य एशिया के दक्षिणी कोर से जुड़ा हुआ यह देश दक्षिण की ओर फैलता हुआ कर्क रेखा तक जाकर अरब सागर
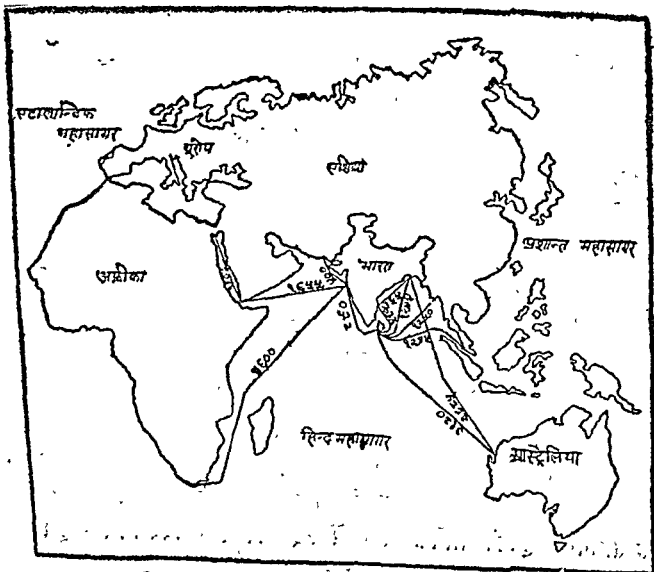
चित्र-संख्या १—भारत की भौगोलिक स्थिति

और बंगाल की खाड़ी में बीच में हिन्द महासागर में एक उल्टे त्रिकोण की तरह लटका हुआ है। यह विषुवत रेखा के उत्तर में ८° अक्षांश से ३७° १०′ अक्षांश तथा ६८° से ९७′ पूर्वी देशान्तर के बीच में स्थित है। कर्क रेखा इसको दो लगभग बराबर-बराबर भागों में बाँटती है। इस प्रकार इसका उत्तरी भाग शीतोष्ण कटिबन्ध और दक्षिणी भाग उष्ण कटिबन्ध में स्थित है।

आकार की दृष्टि से भारत संसार का सातवाँ सबसे बड़ा देश है। पाकिस्तान के अलग हो जाने के बाद भारत का क्षेत्रफल, जम्मू और काश्मीर राज्य सहित, १२,५९,९७ वर्गमील है।[1] भारत का आकार ब्रिटेन का १४ गुना, जापान का ९ गुना, अमेरिका (U. S. A.) का $\frac{2}{5}$, कनाडा का $\frac{1}{3}$, सोवियत संघ (U. S. S, R.) का $\frac{1}{6}$ और समस्त संसार के स्थल क्षेत्र का $\frac{1}{40}$ से ऊपर है। भारत की लम्बाई उत्तर से दक्षिण तक २,००० मील और पूर्व से पश्चिम तक लगभग १८५० मील है। भारत की स्थल सीमा ९,४२५ मील और समुद्र तट लगभग ३,५३५ मील है।

प्रकृति ने भारत को भौगोलिक एकता प्रदान की है और इसको शेष एशिया से पर्वतों तथा समुद्रों द्वारा अलग कर दिया है। भारत के उत्तर में हिमालय की गगन चुम्बी श्रेणियाँ हैं जिनमें सिन्क्यांग, नेपाल और तिब्बत के राज्य हैं। सिक्किम और भूटान के दो राज्य जो इस क्षेत्र में हैं भारत से विशेष सन्धियों द्वारा बँधे हुए हैं। भारत के उत्तर-पश्चिम में पाकिस्तान और उत्तर-पूर्व में बर्मा के पर्वत हैं। इसी ओर भारत के आसाम और पश्चिमी-बंगाल के राज्यों के बीच में पूर्वी पाकिस्तान आ गया है। दक्षिण में मनार की खाड़ी और पाक जलडमरूमध्य भारत को लंका से अलग करते हैं जिसके नीचे हिन्द महासागर फैला हुआ है। भारत के दक्षिण-पश्चिम में अरब सागर और दक्षिण-पूर्व में बंगाल की खाड़ी है। अरब सागर के लक्कादिव, मिनिकोय और अमिनदिवी द्वीप और बंगाल की खाड़ी के अण्डमन तथा निकोबार द्वीप भारतीय संघ के अंग हैं।

अनुकूल स्थिति—किसी देश की भौगोलिक स्थिति का उसके आर्थिक जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से शेष संसार की अपेक्षा भारत की स्थिति बहुत अनुकूल है। भारत पूर्वी गोलार्द्ध के बिलकुल बीच में आ गया है और यहाँ से सभी दिशाओं को जाने वाले व्यापारिक मार्ग हैं। विस्तृत समुद्र तट (३५३५ मील) होने से भारत के लिए समुद्री मार्ग का विशेष महत्व है। अतएव यदि हमारे पास शक्तिशाली जहाजी बेड़ा हो तो हमारा देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रमुख भाग ले सकता है। परन्तु भारत का समुद्र-तट अधिकांशतः सीधा और सपाट है और बड़े जहाजों के आने योग्य प्राकृतिक बन्दरगाहों की बड़ी कमी है।

1. (India, 1960, p. 1. इसमें पांडिचेरी का १८९ वर्ग मील क्षेत्र शामिल नहीं है।)

अतएव तटीय और समुद्री व्यापार की उन्नति के लिए नए बन्दरगाहों का निर्माण और मौजूदा बन्दरगाहों का सुधार और विकास आवश्यक है। भारत-सरकार इस ओर प्रयत्नशील है।[1]

यद्यपि स्थिति और सुगमता की दृष्टि से भारत के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सबसे अच्छा साधन समुद्री मार्ग ही है तथापि भारत का स्थल मार्गों से भी कई देशों से व्यापार होता है। पहले भारत और मिस्र तथा यूरोप के बीच व्यापार स्थल मार्ग ही से होता था। वास्कोडिगामा द्वारा १४९२ ई० में उत्तमाशा अन्तरीप होकर भारत का समुद्री मार्ग खोज निकालने और १८६९ ई० में स्वेज नहर के खुल जाने के पश्चात् भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में समुद्री-मार्ग का महत्व बहुत बढ़ गया है। फिर भी उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व के दर्रों के द्वारा भारत का अपने पड़ौसी देशों से थोड़ा बहुत व्यापार चलता रहा। देश-विभाजन के पश्चात् पुनः पाकिस्तान से स्थल-मार्ग द्वारा होने वाले व्यापार का महत्व बढ़ गया है। फिर भी
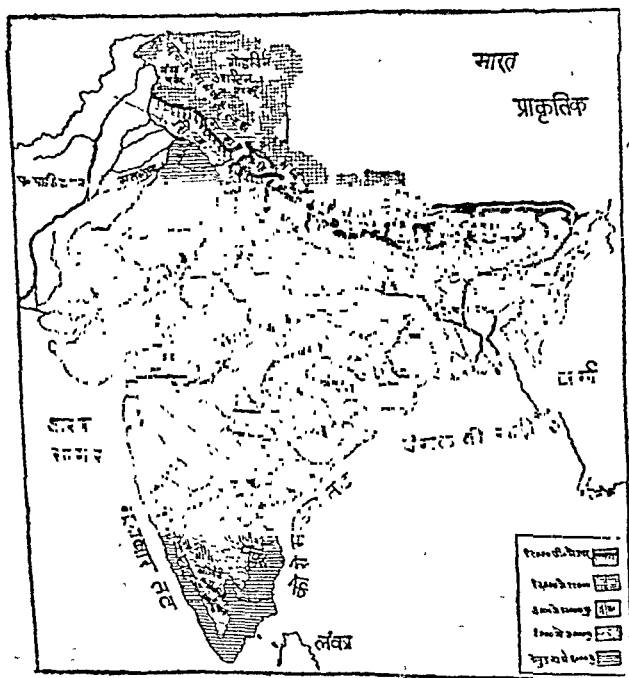
चित्र-संख्या २—भारत की प्राकृतिक स्थिति

१. देखिये "भारत के जलमार्ग," पृ० ३४।

यह मानना पड़ेगा कि पाकिस्तान को छोड़ कर हमारी स्थल सीमा पर स्थित देश प्रायः दरिद्र और अनुन्नत हैं और पहाड़ी दर्रो द्वारा उनको जाने वाले स्थल मार्ग बड़े पैमाने पर व्यापार के लिए उपयुक्त नहीं हैं। इसी कारण आज भी भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का बड़ा भाग समुद्री मार्ग से होता है।

पिछले वर्षो में संसार में वायु-परिवहन की बड़ी उन्नति हुई है। इस दृष्टि से भी भारत की स्थिति बहुत उत्तम है। यूरोप तथा सुदूर-पूर्व के देशों और आस्ट्रेलिया के बीच में स्थित होने से इन देशों के बड़े-बड़े वायुयान भारत होकर जाते हैं। अतः पिछले वर्षो में वायुमार्ग द्वारा यात्रियों और वस्तुओं के यातायात में बड़ी वृद्धि हुई है।

व्यापार के अतिरिक्त जलवायु और सुरक्षा की दृष्टि से भी भारत की स्थिति उत्तम है। हिमालय बाह्य आक्रमणों को रोकता है, ध्रुव-प्रदेश की ठंडी और शुष्क हवाओं को अन्दर नहीं आने देता और व्यापक वृष्टि कराता है। कर्क रेखा भारत के मध्य में होकर जाती है। फलस्वरूप देश को जलवायु और उत्पत्ति आदि की अनेक विभिन्नताएँ प्राप्त हैं। हम इसी अध्याय में आगे चलकर देखेंगे कि इनका हमारे आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

(आ) भारत के भौगोलिक खण्ड

भौगोलिक दृष्टि से भारत चार भागों में विभक्त है—(१) हिमालय का विशाल-पर्वतीय क्षेत्र (२) गंगा और सिन्ध का मैदान, (३) दक्षिण का पठार और (४) समुद्र-तट के मैदान। हम संक्षेप में इन चारों भागों का वर्णन करते हैं और साथ ही साथ यह भी दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि भारत के आर्थिक जीवन में इनका क्या महत्व है तथा इनकी भौगोलिक परिस्थिति ने इनके निवासियों के जीवन पर क्या प्रभाव डाला है।

(१) हिमालय का पर्वतीय क्षेत्र—इस क्षेत्र में भारत के उत्तर का विशाल पर्वतीय प्रदेश सम्मिलित है जो उत्तर-पश्चिम में पामीर से आसाम की सीमा तक लगभग १५०० मील लम्बा और १५० से २०० मील चौड़ा है। इस क्षेत्र को तीन भागों में बांटा जा सकता है—(अ) मुख्य हिमालय, (आ) हिमालय की उत्तरी पश्चिमी शाखा और (इ) हिमालय की दक्षिणी-पूर्वी शाखा।

(अ) मुख्य हिमालय में तीन लगभग समानान्तर पर्वत श्रेणियाँ हैं जिनको क्रमशः महा-हिमालय, लघु-हिमालय और उप-हिमालय की संज्ञा दी जाती है। इन पर्वत श्रेणियों के बीच-बीच में कई पठार और घाटियां हैं जिनमें से कुछ जैसे काश्मीर और कुलू की घाटियाँ, उपजाऊ, विस्तृत और अति सुन्दर हैं। इन पर्वतश्रेणियों में संसार की सब से ऊँची श्रेणियाँ पाई जाती हैं, जैसे एवरेस्ट (२६,०२८ फुट), गोडविन ऑस्टिन (२८, २५० फुट) और कंचनचंगा (२८, १४६ फुट)। बहुत ऊँचे होने के

कारण ये पर्वत सदा वर्फ से ढके रहते हैं और कुछ तंग, ऊँचे, पर्वतीय दर्रों को छोड़ कर इनके आर-पार आवागमन असम्भव है। अतएव तिब्बत और भारत के बीच का अधिकांश व्यापार दार्जिलिंग के उत्तर-पूर्व में चुमबी घाटी के जेलेप ला (Jelap La) और नाटू ला (Natu La) के दर्रों के मार्ग से होता है।
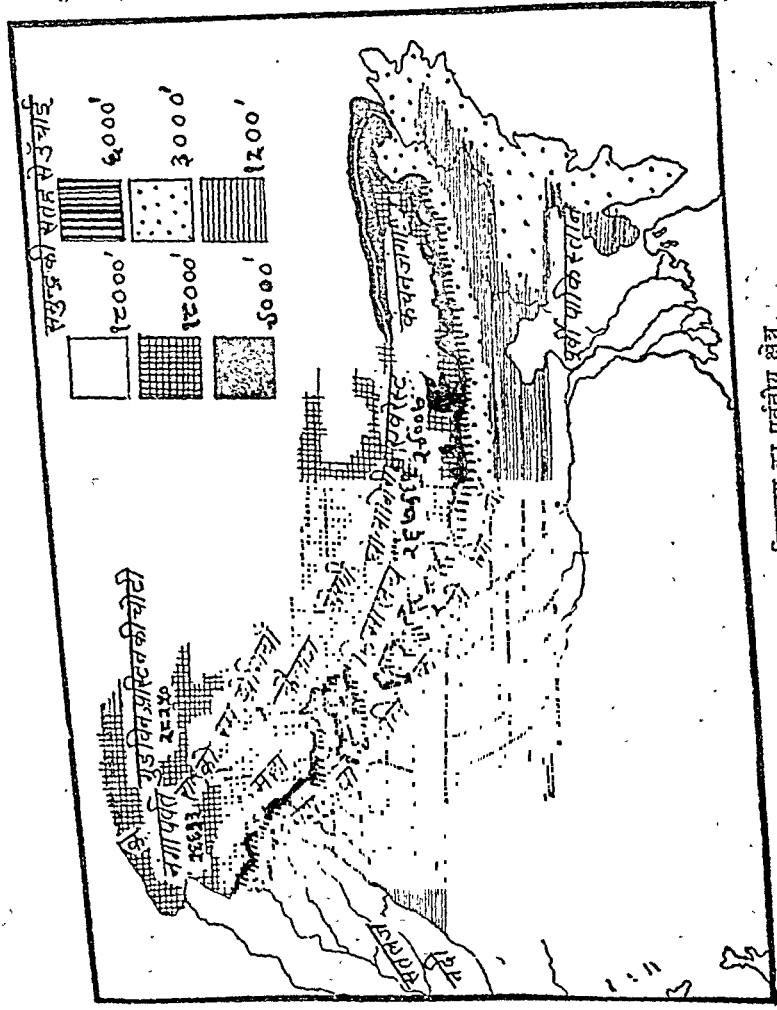
चित्र संख्या ३—हिमालय का पर्वतीय क्षेत्र

(आ) मुख्य हिमालय के पश्चिमी सिरे से एक शाखा सिन्धु नदी के दक्षिण की ओर मुड़ने के स्थान से दक्षिण-पश्चिम को जाकर पाकिस्तान और अफ़गानिस्तान

बीच सीमा बनाती है। इस पर्वत श्रेणी में खैबर और बोलन के प्रसिद्ध दर्रे हैं जिनके मार्ग से उत्तर-पश्चिम दिशा से भारत में अनेक आक्रमण हुए हैं।

(इ) हिमालय की दक्षिण-पूर्व की शाखा ब्रह्मपुत्र नदी के दक्षिण की ओर मुड़ने के स्थान के दक्षिण की ओर चलकर भारत और बर्मा की सीमा बनाती है। ये पर्वत श्रेणियाँ काफी नीची हैं और भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न नामों से पुकारी जाती हैं, जैसे आसाम के उत्तर-पूर्व में इनको पटकाई और नागा पहाड़ियाँ कहते हैं तो दक्षिण-पश्चिम में जयंतिया, खासी और गारो पहाड़ियों के नाम से पुकारते हैं। अधिक वर्षा के कारण ये पहाड़ियाँ घने जंगलों से ढकी हुई हैं जिनको साफ़ करके चाय के बगीचे बनाये गये हैं।

हिमालय के विशाल पर्वतीय क्षेत्र का हमारे देश के आर्थिक जीवन में बड़ा महत्व है :—

(१) ये पर्वत बंगाल की खाड़ी और अरब सागर से उठकर उत्तर की ओर जाती हुई बरसाती हवाओं को रोक कर हमारे देश में वर्षा कराते हैं। जो भाप वर्षा की बूँदों के रूप में नहीं गिरती है वह बर्फ बनकर इन पर्वतों की चोटियों पर जम जाती है और हिमनदी (Glacier) के रूप में वर्ष-भर हमारी नदियों को पानी पहुँचाती है।

(२) ये पर्वत उत्तर की ठंडी और सूखी हवाओं को हमारे देश में आने से रोकते हैं।

(३) इन पर्वतों से कई छोटी बड़ी नदियाँ निकलती हैं। इनकी चोटियों पर जमे हुए बर्फ के पिघलने से इनसे निकलने वाली नदियों में बारह मास पानी बहता रहता है जो सिंचाई, नौका वहन और जल-विद्युत् तैयार करने आदि के काम में आता है।

(४) इन पर्वतों में कई प्राकृतिक जल-प्रपात हैं जो जल-विद्युत तैयार करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं।

(५) इनके ढालों पर लगे हुए जंगल वर्षा का जल इकट्ठा करके उपयुक्त मात्रा में वर्ष भर मैदानों में भेजते हैं जिससे बाढ़ नहीं आने पाती है। इन जंगलों से अनेक प्रकार की मूल्यवान लकड़ियाँ, घासें और अन्य कच्चा-माल प्राप्त होता है।

(६) इन पर्वतों के कारण भारत में विभिन्न प्रकार की जलवायु उपलब्ध है, जिसमें लगभग सब तरह के अनाज, रेशेदार और पेय-पदार्थ उत्पन्न हो सकते हैं।

(७) इनकी घाटियों में अनेक प्रकार के फल और मेवे उत्पन्न होते हैं।

(८) इन पर्वतों की तराइयों में कई घास के मैदान हैं जहाँ पर भेड़-बकरी और अन्य पशु पाले जा सकते हैं।

(९) इन पर्वतों में बहु-मूल्य खनिज पदार्थ भी पाये जाते हैं।

(१०) इस पर्वतीय प्रदेश के वनों में अनेक जंगली जानवर मिलते हैं जो कई तरह से हमारे काम आते हैं।

(११) इनमें अनेक सुन्दर प्राकृतिक दृश्य और स्वास्थ्य-वर्धक स्थान पाये जाते हैं जहाँ पर निवास करने से देशवासियों की कार्य-शक्ति में वृद्धि होती है। इसी कारण प्राचीन काल से बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वानों और साधु सन्तों ने इन पर्वतों में अपने आश्रम बना रखे हैं।

(१२) ये पर्वत एक अभेद्य दुर्ग की भाँति उत्तरी आक्रमणों से देश की रक्षा करके शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना में सहायता पहुँचाते हैं जिनके अभाव में आर्थिक उन्नति असंभव है।

(२) **गंगा और सिन्ध का मैदान**—हिमालय से लेकर विंध्याचल तक फैले विस्तृत समतल मैदान को गंगा और सिन्ध का मैदान कहते हैं क्योंकि इस विशाल प्रदेश का पानी गंगा, सिन्ध और इनकी सहायक नदियों में होकर बहता है। इस मैदान की कुल लम्बाई लगभग २००० मील और चौड़ाई १५०० से २००० मील है। पाकिस्तान के अलग हो जाने के बाद पश्चिमी पाकिस्तान की पूर्वी सीमा से लेकर पूर्वी पाकिस्तान की पश्चिमी सीमा तक इस मैदान की लम्बाई लगभग १५०० मील है। इसमें बहने वाली प्रमुख नदियाँ गंगा और इसकी सहायक यमुना, गोमती घाघरा और गंडक हैं। ब्रह्मपुत्र हिमालय के उत्तरी ढाल पर स्थित मानसरोवर झील से निकल कर भारत के पूर्वी सिरे पर देश में प्रवेश करती है और आसाम तथा पूर्वी पाकिस्तान में बहती हुई गंगा के बंगाल की खाड़ी में मिलने से पूर्व इसमें मिल जाती है। पंजाब के भारतीय भाग को सिन्ध की सहायक सतलज, व्यास और रावी से पानी मिलता है। देश-विभाजन के पश्चात् भारत के आर्थिक जीवन में सिन्ध और इनकी सहायक झेलम तथा चिनाब का उतना महत्व नहीं रहा है क्योंकि इन नदियों का अधिकांश भाग पाकिस्तान में चला गया है।

गंगा और सिन्ध के मैदान में बहने वाली ये नदियाँ भारत के लिए एक बड़ा आर्थिक वरदान हैं। इन्होंने अपने निकटवर्तीय क्षेत्र को मुलायम, गहरी और उपजाऊ मिट्टी से भर दिया है; जिनको कछार कहते हैं। ये बहुधा अपना मार्ग बदलकर नए कछार बनाती हैं इसलिए इनको 'भूमि निर्माता' (Land-Makers) कहते हैं। इनमें साल भर पानी बहता है जो सिंचाई, नौ-वहन और जल-विद्युत बनाने आदि के काम आता है। रेलों के बनने से पहले तो ये परिवहन का भी एक प्रमुख साधन थीं।

गंगा और सिन्ध के मैदान का भारत के आर्थिक जीवन में बड़ा महत्व है। इस मैदान की मिट्टी बहुत मुलायम, उपजाऊ और गहरी होने से खेती के दृष्टिकोण से यह संसार के सर्वोत्तम स्थानों में गिना जाता है। मिट्टी की उत्तमता के साथ ही कई अविरल

बहने वाली नदियों और उनसे निकाली हुई नहरों के होने से यहाँ पर सिंचाई के उत्तम साधन उपलब्ध हैं। इस विस्तृत प्रदेश में जलवायु की भिन्नता का होना भी
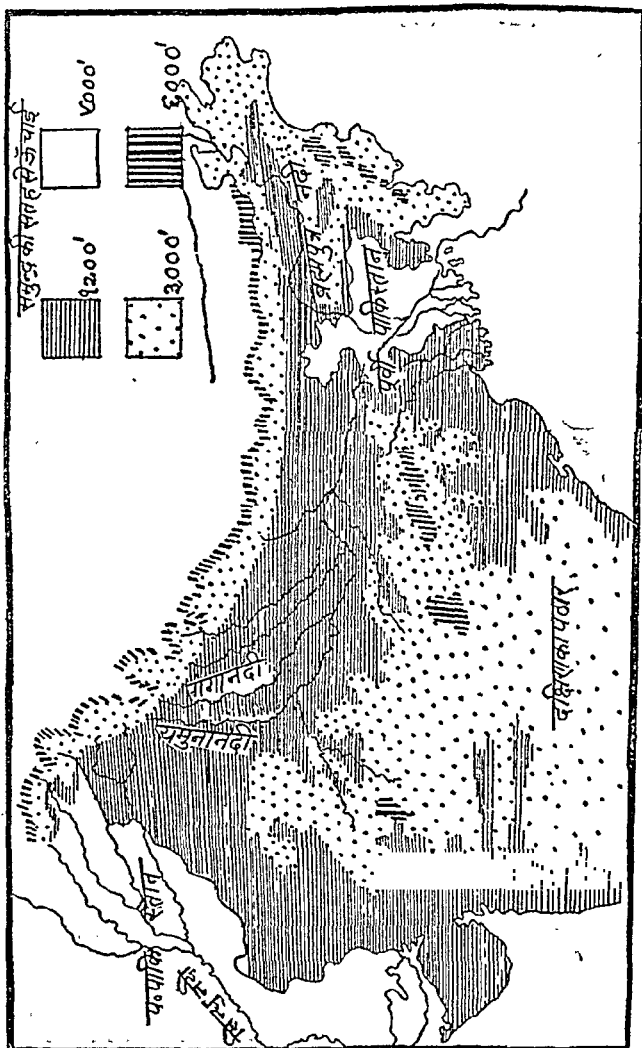
चित्र-संख्या ४—गंगा और सिन्ध का मैदान

स्वाभाविक है। इस मैदान के पूर्वी भाग में यथेष्ट वर्षा होती है परन्तु ज्यों-ज्यों हम पश्चिम को जाते हैं वर्षा का औसत घटता जाता है। तापमान की दृष्टि से भी इस मैदान का पूर्वी भाग अधिक गरम है। यही बात जन-संख्या के घनत्व के लिए भी लागू है। अपनी मिट्टी के उपजाऊपन और जलवायु की विभिन्नता के कारण इस

प्रदेश में लगभग सभी प्रकार की उपज जैसे गेहूँ, जौ, ज्वार, बाजरा, मकई और चावल, ईख, तिलहन, नील, अफीम, कपास, पाट, चाय, कहवा इत्यादि बहुलता से पैदा होते हैं। इसके अतिरिक्त इस मैदान के समतल होने से और ढाल क्रमशः होने से इसमें रेलें, सड़कें और नहरें बनाने में सुविधा रहती है। इस प्रकार यह क्षेत्र सर्वांगीण आर्थिक प्रगति के लिए उपयुक्त है। यही कारण है कि यह मैदान प्राचीन काल से सभ्यता का केन्द्र रहा है।

(३) दक्षिण का पठार—प्रायद्वीपीय पठार गंगा और सिन्ध के मैदान के दक्षिण में है। उत्तर के मैदान और दक्षिण के पठार के बीच से १५०० से ४००० फुट तक ऊंची कई पर्वत श्रेणियां हैं जिनमें अरावली, विन्ध्याचल, सतपुड़ा, मैकल और अजन्ता मुख्य हैं। त्रिभुजाकार पठार के एक ओर पूर्वी घाट है, जहां औसत ऊंचाई २०००
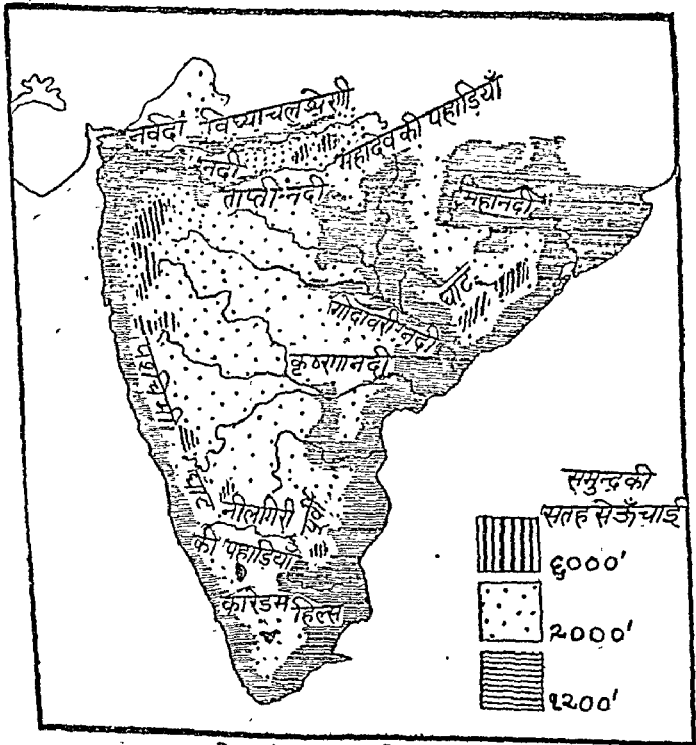
चित्र-संख्या ५—दक्षिण का पठार

फुट है और दूसरी ओर पश्चिमी घाट है जो "एक अविच्छिन्न विशाल समुद्री दीवार"[1] की भांति कहीं-कहीं ६००० फुट तक ऊंचे उठते हैं, इस पठार की औसत ऊंचाई १५००

१. जाथर और बेरी : भारतीय अर्थशास्त्र (हिन्दी रूपान्तर), पृ० ६।

फुट है। यह पठार बड़ा ऊबड़-खाबड़ है और इसमें बड़ी-बड़ी चट्टानें, गड्ढे और जंगल पाये जाते हैं। इसका ढाल अधिकांश पश्चिम से पूर्व की ओर है। इसके बीच-बीच में कई घाटियाँ हैं, जिनमें नदियाँ बहती हैं। इनमें से नर्मदा और ताप्ती अरब सागर में और महानदी, गोदावरी, कृष्णा तथा कावेरी बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। ये बरसाती नदियाँ हैं और ग्रीष्म ऋतु में सूख जाती हैं। इसके अतिरिक्त तंग, गहरी, तेज और चट्टानों तथा प्रपातों से भरी हुई होने के कारण ये न सिंचाई के काम की हैं और न इनमें नौ-वहन ही सम्भव है। किन्तु इनमें जल-विद्युत तैयार करने के लिए कई उपयुक्त स्थान है।

इस पठार का धरातल ऊबड़-खाबड़ और पथरीला होने से खेती करने और सड़कें आदि बनाने में बड़ी कठिनाई होती है। परन्तु इस पठारी प्रदेश में अनेक बहुमूल्य खनिज पदार्थ पाये जाते हैं जिनमें लोहा, कोयला, मैंगनीज और सोना मुख्य हैं।

प्रायद्वीप के उत्तर-पश्चिमी भाग में प्राचीन काल में ज्वालामुखी पहाड़ों के भू-राल (Lava) से बनी हुई काली उपजाऊ मिट्टी है जो कपास की खेती के लिए बहुत उत्तम सिद्ध हुई है। इसीलिए इसको 'काली कपास की मिट्टी' कहते हैं। इस क्षेत्र में प्रचुर मात्रा में उत्तम कपास की खेती होने से बम्बई, अहमदाबाद और शोलापुर में अनेक कपड़े की मिलें हैं।

हम आगे चलकर देखेंगे कि अरब सागर से उठने वाली वर्षा-वाहिनी हवाएँ पश्चिमी घाट से टकरा कर इसके पश्चिमी ढाल पर भारी वर्षा करती हैं। इसीलिए यहाँ पर घने जंगल पाये जाते हैं। परन्तु पश्चिमी घाट का पूर्वी ढाल और इसके और पूर्वी घाट के पश्चिमी ढाल के बीच के क्षेत्र में वर्षा के अभाव और अनिश्चितता से प्रायः अकाल पड़ा करते हैं।

अनुकूल प्राकृतिक दशा के अभाव में इस प्रायद्वीपीय पठार का उतना आर्थिक विकास नहीं हो पाया है जितना उत्तर के मैदान का हो सका है। परन्तु इस प्रदेश में जल-विद्युत के विकास द्वारा यहाँ की खनिज और वन-सम्पत्ति का लाभ उठाया जा सकता है और सिंचाई के विकास द्वारा खेती की उन्नति भी की जा सकती है।

(४) **समुद्र-तट के मैदान**--प्रायद्वीपीय पठार के दोनों ओर पूर्वी और पश्चिमी घाटों तथा समुद्र-तट के बीच में उपजाऊ समतल मैदान है। पूर्वी या कोरोमण्डल तट का मैदान पूर्वी घाट और बंगाल की खाड़ी के बीच में है। यह पश्चिमी तट के मैदान की तुलना में अधिक चौड़ा है। इसके उत्तरी भाग में ग्रीष्म ऋतु में और दक्षिणी भाग में शरद ऋतु में यथेष्ट वर्षा होती है। यद्यपि यहाँ पर वर्षा का औसत पश्चिमी तट से कम है तथापि यहाँ पर महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी आदि नदियों के पानी से सिंचाई की जाती है। यहाँ की मुख्य पैदावार

चावल, नारियल और ईख है। पिछले कुछ वर्षों से मूँगफली और पाट की खेती भी बढ़ रही है।
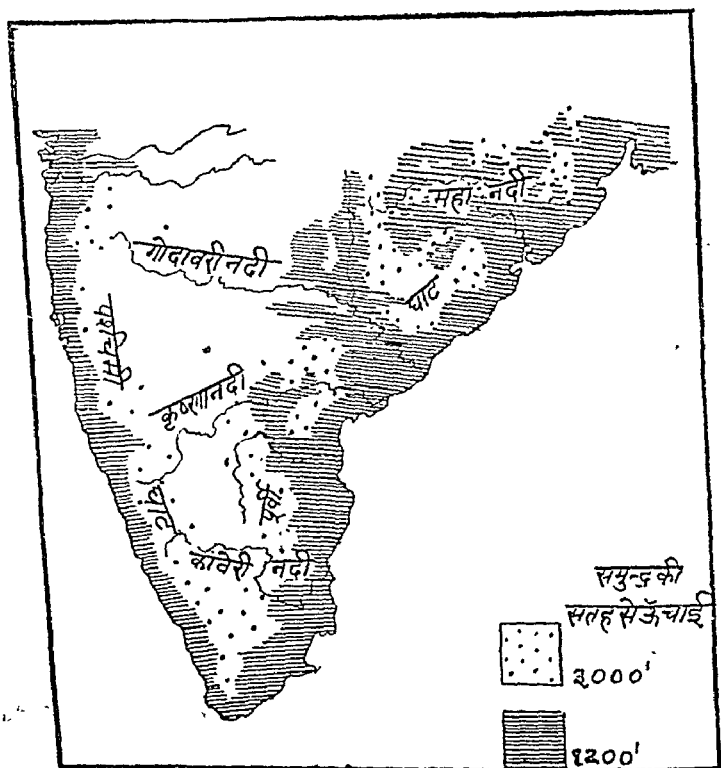
चित्र-संख्या ६—समुद्र तट के मैदान

पश्चिमी तट का मैदान पश्चिमी घाट और अरब सागर के बीच में है। इसके उत्तरी भाग को 'कोणकन' और दक्षिणी भाग को 'मलाबार' तट कहते हैं। यह मैदान अपेक्षाकृत तंग है और इसकी चौड़ाई कहीं भी चालीस मील से अधिक नहीं है। हम बतला चुके हैं कि इस तट पर अच्छी वर्षा होती है और वार्षिक औसत लगभग १००" है। इसलिए जहाँ पर समतल मैदान है वहाँ सिंचाई के बिना भी अच्छी खेती होती है। यहाँ की प्रमुख उपज नारियल, कपास और गरम मसाले हैं।

(इ) भारत की जलवायु

किसी देश की जलवायु का उसके निवासियों के आर्थिक जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। देश की वनस्पति, पशु-सम्पत्ति, खेती की उत्पत्ति, वहाँ के निवासियों की

आवश्यकताएँ और कार्यशक्ति तथा उद्योग-धन्धों का स्थानीकरण आदि वहाँ की जलवायु पर निर्भर करते हैं। इस प्रकरण में हम भारत की जलवायु का संक्षिप्त विवरण देकर यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि इसका भारत के आर्थिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

यद्यपि भारत में समग्र रूप से अर्द्ध-अयनवृत्तीय मानसून शैली की जलवायु पाई जाती है तथापि देश के विशाल आकार, इसकी विलक्षण स्थिति और सीमाओं तथा भूमि की बनावट के वर्षा और तापक्रम पर प्रभाव के कारण संसार के अन्य देशों की तुलना में भारत में जलवायु की अधिक विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। हम देख चुके हैं कि हमारा देश विपुवत-रेखा के उत्तर में ८° से ३७° तक फैला हुआ है और कर्क-रेखा इसके लगभग बीच में होकर जाती है। इसके उत्तर में हिमालय की गगनचुम्बी पर्वतमालाएँ मध्य एशिया से अलग करके इसको महाद्वीपी जलवायु प्रदान करती हैं। दक्षिण में सागर की जलराशि इसके दो लम्बे किनारों को स्पर्श करती हुई इसको समुद्री जलवायु प्रदान करती है। भूगोल-वेत्ता जलवायु के अनुसार भारत के आठ या अधिक उप-विभाग करते हैं; परन्तु हम तापमान के अन्तर की दृष्टि से इसका केवल दो और वर्षा की मात्रा की दृष्टि से तीन बड़े भागों में वर्णन करेंगे ।

हम बतला चुके हैं कि कर्क रेखा हमारे देश को दो भागों में विभक्त करती है जिनको (१) उत्तरी या महाद्वीपी भारत और (२) दक्षिणी या प्रायद्वीपी भारत कहते हैं। उत्तरी भारत में शीतोष्ण जलवायु पाई जाती है। परन्तु गरमी, सरदी, नमी और सूखेपन की मात्रा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न होती है। उत्तर में हिमालय पर्वत का अधिकांश भाग साल भर बर्फ से ढका हुआ रहता है और यहाँ तापक्रम बहुत कम होता है। इसके दक्षिण में स्थित भाभर और तराई में शीतकाल में जाड़ा और ग्रीष्म-काल में कम गरमी पाई जाती है। नीचे चलकर गंगा और सिन्ध के मैदान के पश्चिमी भाग में शीत-काल में अत्यन्त सरदी और ग्रीष्म-काल में अत्यन्त गरमी पड़ती है। इस भाग में जहाँ शीत-काल में न्यूनतम तापक्रम ३७° तक पहुँच जाता है वहाँ ग्रीष्म-काल में अधिकतम तापक्रम ११७° तक आ जाता है। परन्तु हम ज्यों-ज्यों पूर्व की ओर जाते हैं तापक्रम का अन्तर कम होता जाता है और बंगाल तथा आसाम में सरदी कम हो जाती है और गरमी भी साधारण पड़ती है अर्थात् इस मैदान के पूर्वी भाग में जलवायु प्रायः समान रहता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि जहाँ वर्षा की कमी के कारण गंगा और सिन्ध के मैदान के पश्चिमी भाग में जलवायु अपेक्षाकृत सूखा है वहां पर इसके पूर्वी भाग में वर्षा की प्रचुरता के कारण नमी अधिक पाई जाती है।

दक्षिणी भारत कर्क-रेखा और विपुवत रेखा के बीच में उष्ण कटिबन्ध में आ

गया है इसलिए यहाँ तापक्रम का औसत वर्ष-भर ऊँचा रहता है और शीत-काल में साधारण सरदी तथा ग्रीष्म काल में अधिक गरमी पड़ती है। समुद्र के निकट वाले स्थानों में तो तापान्तर और भी कम मिलता है और जलवायु प्रायः सम रहता है। परन्तु जो स्थान अधिक ऊँचाई पर स्थित हैं जैसे उटकमाण्ड, बेंगलोर आदि वहाँ पर नीचे के स्थानों की अपेक्षा अधिक शीतलता पाई जाती है।

भारत में ऋतुएँ—भारत के उन स्थानों में जहाँ पर ऋतुओं की स्पष्ट परिभाषा दी जा सकती है सूक्ष्म दृष्टि से छः और मोटी तौर से तीन ऋतुएँ होती हैं जो निम्नांकित है।

(१) चैत्र, वैसाख—वसन्त ऋतु (२) ज्येष्ठ, आषाढ़—ग्रीष्म ऋतु	ग्रीष्म-काल—मार्च के आरम्भ से जून के प्रारम्भ या मध्य तक
(३) श्रावण, भाद्रपद—वर्षा ऋतु (४) आश्विन, कार्तिक—शरद ऋतु	वर्षा काल—जून के प्रारम्भ या मध्य से सितम्बर के अन्त तक
(५) मार्गशीर्ष, पौष—हेमन्त ऋतु (६) माघ, फाल्गुन—शिशिर ऋतु	शीत-काल—अक्टूबर से फरवरी के अन्त तक

हम देश के विभिन्न भागों में ग्रीष्म-काल और शीत-काल का वर्णन ऊपर कर चुके हैं। अब संक्षेप में वर्षा ऋतु का वर्णन करते हैं।

भारत में वर्षा—भारत के अधिकांश भाग में वर्षा जून से अक्टूबर तक दक्षिणी पश्चिमी मौसमी हवाओं से होती है। इस काल में सूर्य की रेखाएँ सीधी कर्क-रेखा पर गिरती है जिसके फलस्वरूप भारत के स्थल-भाग के ऊपर की हवा गरम और हल्की हो जाने से ऊपर को उठती है। इसी समय दक्षिणी समुद्रों पर सूर्य के दूर होने से तापक्रम कम होता है जिससे वहाँ की हवा का दवाव बढ़ जाता है। क्योंकि हवा अधिक दवाव के स्थान से कम दवाव के स्थान की ओर जाती है, इस समय दक्षिणी समुद्र की ओर से उत्तर की ओर हवाएँ बहने लगती हैं। ये हवाएँ हजारों मील समुद्र की यात्रा करने के कारण नमी से भरी होती है। क्योंकि पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर परिक्रमा करती है, इसलिए समुद्र से आने वाली ये हवाएँ दक्षिण से उत्तर की ओर नहीं चलकर दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व की ओर चलती हैं। इसी कारण इन हवाओं को दक्षिणी-पश्चिमी मानसून कहते हैं और क्योंकि ये हवाएँ ग्रीष्म-काल में बहती हैं इसलिए इनको ग्रीष्म-कालीन मानसून भी कहते हैं। भारत में लगभग ९०% वर्षा इसी ग्रीष्म-कालीन दक्षिण-पश्चिमी मानसून से होती है।

हम देख चुके हैं कि प्रायद्वीपी भारत हिन्द महासागर को दो भागों में चीरता हुआ लंका तक चला गया है और इसके पश्चिम की ओर का भाग अरब सागर तथा पूर्व की ओर का भाग बंगाल की खाड़ी कहलाता है। इसी प्रकार ग्रीष्म-कालीन

दक्षिणी-पश्चिमी मानसून की भी दो शाखाएँ मानी जाती हैं। (क) अरब सागर की शाखा और (ख) बंगाल की खाड़ी की शाखा।
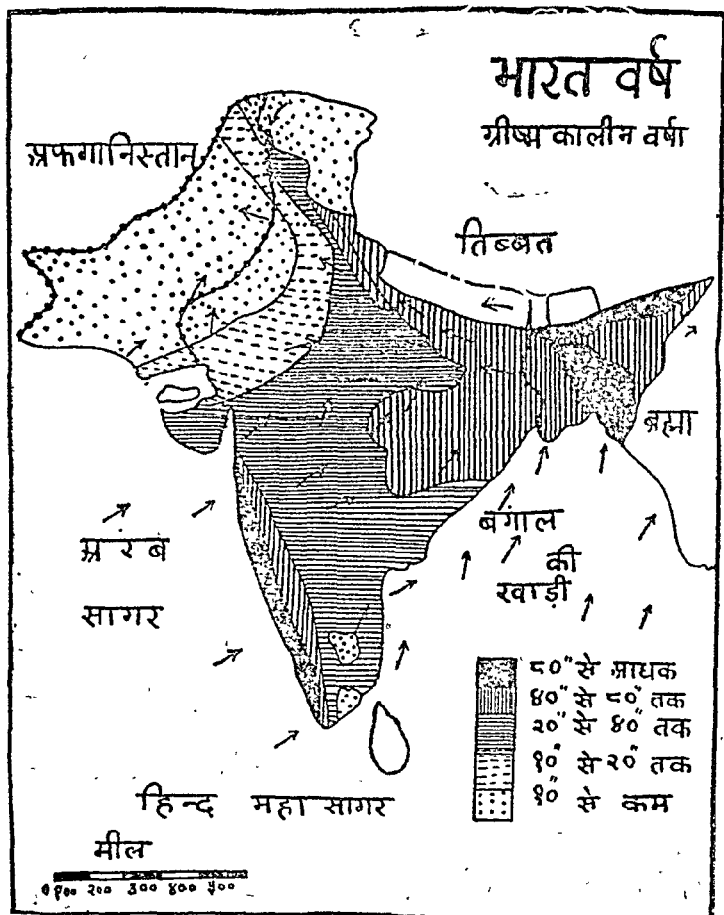
चित्र-संख्या ७—ग्रीष्म ऋतु की वर्षा

(क) अरब सागर वाली शाखा—मानसून की अरब सागर वाली शाखा पश्चिमी समुद्रतट की ओर से भारत में प्रवेश करती है। पश्चिमी घाट की रुकावट से यह ऊँची उठने का प्रयत्न करती है, ठण्डी हो जाती है और इसकी नमी मूसलाधार वर्षा के रूप में गिरती है। इससे पश्चिमी घाट के पश्चिमी ढाल और समुद्र तट के मैदान में भारी वर्षा होती है। पश्चिमी घाट को पार करने के पश्चात् इन हवाओं में बहुत कम पानी रह जाता है। इसी कारण पश्चिमी घाट के पूर्वी ढाल और दक्षिण के पठार पर बहुत कम वर्षा होती है।

इसी मानसून की एक उपशाखा नर्मदा और ताप्ती की घाटियों में प्रवेश करके छोटा नागपुर के पठार तक पहुँचती है और दूसरी उपशाखा कच्छ, राजस्थान और पंजाब को पार करती हुई हिमालय तक पहुँचती है। उत्तर की ओर जाते समय इसके मार्ग में कोई ऊँचा पर्वत नहीं होने से राजस्थान और पंजाब में इन हवाओं से बहुत कम वर्षा होती है। यदि अरावली की पर्वत श्रेणी का रुख दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व के स्थान पर दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम की ओर होता तो सम्भवतः राजस्थान में वर्षा की इतनी कमी नहीं होती।

(ख) बंगाल की खाड़ी वाली शाखा—ग्रीष्म-कालीन मानसून की बंगाल की खाड़ी वाली शाखा हिमालय की पूर्वी श्रेणियों से टकराकर वहाँ भारी वर्षा करती है। आसाम के चेरापूंजी नामक स्थान में तो इस मानसून द्वारा प्रतिवर्ष लगभग ५००" वर्षा होती है जो संसार में सबसे अधिक है। यहाँ से हिमालय की रुकावट के कारण इस मानसून का रुख पश्चिम की ओर हो जाता है और बंगाल, बिहार तथा उत्तर-प्रदेश के उत्तरी-पूर्वी भाग में यथेष्ट वर्षा होती है। आगे चलकर यह अरब सागर वाली शाखा से मिल जाती है और शेष उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में साधारण वर्षा होती है।

शीत-कालीन वर्षा—सितम्बर के पश्चात् उत्तरी भारत में गरमी घटने लगती है और दक्षिण में हिन्द महासागर का पानी अपेक्षाकृत अधिक गरम रहने लगता है। इससे उत्तरी भारत में वायुमंडल में दबाव बढ़ जाता है और दक्षिण की ओर दबाव कम होने से वर्षा-वाहिनी हवाओं का रुख बदल कर दक्षिण की ओर हो जाता है। इसको उत्तरी-पूर्वी या शरदकालीन मानसून कहते हैं। स्थल मार्ग से होकर आने के कारण इन हवाओं में पानी की मात्रा कम होती है; परन्तु जब ये हवाएं आगे चलकर बंगाल की खाड़ी को पार करती हैं तो इनमें नमी आ जाती है और ये पूर्वी-घाट से टकराकर प्रायद्वीप के दक्षिणी-पूर्वी भाग में अक्तूबर से दिसम्बर तक भारी वर्षा करती हैं। किसी-किसी वर्ष मध्यप्रदेश, बरार और हैदराबाद में भी इस ऋतु में कुछ वर्षा होती है यद्यपि इसकी मात्रा कम होती है। परन्तु खेती के दृष्टिकोण से, विशेषतः गेहूं उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों में, इसका बड़ा महत्व है। उत्तरी भारत में शीत-काल प्रायः वर्षा-हीन होता है। परन्तु सीमाप्रान्त और पंजाब के उत्तरी-पश्चिमी भाग (अब प० पाकिस्तान) में औसत वार्षिक वर्षा का लगभग अर्द्धांश इसी ऋतु में होता है। किसी-किसी वर्ष शीत-कालीन मानसून का प्रभाव हिमालय की तराई के जिलों में और पंजाब तथा उत्तरी-पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मैदानों में भी होता है।

वर्षा के दृष्टिकोण से भारत को हम तीन क्षेत्रों में बांट सकते हैं।

(१) अधिक वर्षा का क्षेत्र—इस क्षेत्र में कम से कम प्रतिवर्ष १००" और एक उप-विभाग में २५०" तक और दूसरे उपविभाग में ५००" तक वर्षा होती है।

पहिले उप-विभाग में पश्चिमी घाट और समुद्र-तट तथा दूसरे में हिमालय की पूर्वी श्रेणियों में सिक्किम से लेकर बंगाल और आसाम तक का प्रदेश सम्मिलित है, जहां चेरापूंजी में संसार में सबसे अधिक वर्षा होती है।
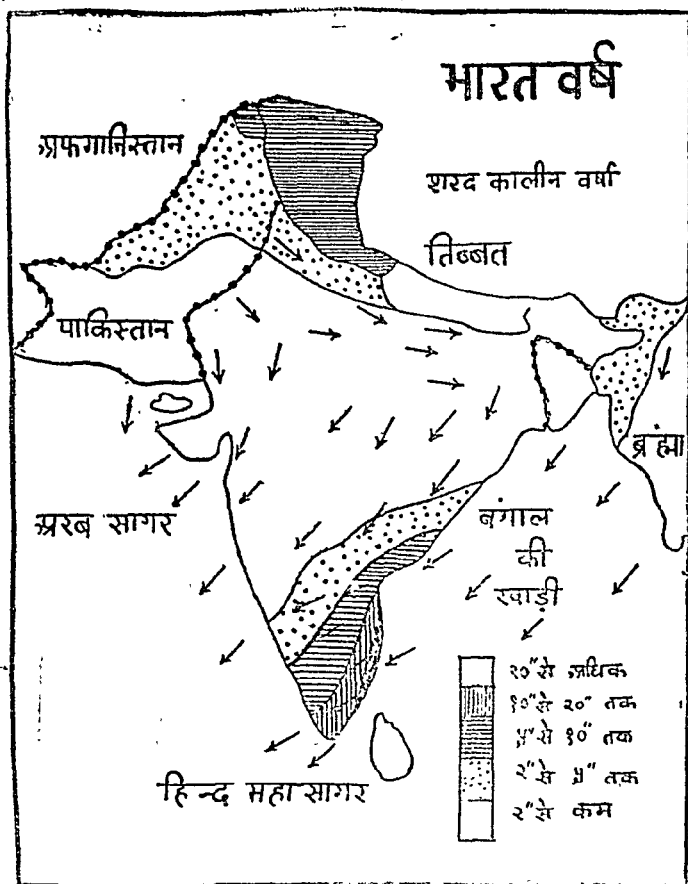
चित्र-संख्या ८ —शरद ऋतु की वर्षा

(२) साधारण वर्षा के क्षेत्र—इस क्षेत्र में ४०″ से ७०″ तक वार्षिक वर्षा होती है। इस क्षेत्र के चार उप-विभाग हैं। पहले उपविभाग में पूर्व में बंगाल की खाड़ी से मध्य प्रदेश के भू० पू० भोपाल राज्य की पश्चिमी सीमा तक का क्षेत्र आता है। दूसरा उपविभाग उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में गोदावरी तक फैला हुआ है। तीसरा उपविभाग प्रायद्वीप के पूर्वी तट पर मद्रास के उत्तर से लेकर तंजौर के दक्षिण तक स्थित है। चौथा उपविभाग पश्चिमी घाट के पूर्वी ढाल पर है जो उत्तर में बड़ौदा तक आ जाता है।

(३) कम औसत वर्षा का क्षेत्र—इस क्षेत्र में देश के वे सब भाग सम्मिलित किए जाते हैं जहाँ पर वर्षा का औसत ४०" से कम होता है। इस क्षेत्र के कई भागों में वर्षा १५" से कम होती है और पश्चिमी राजस्थान तथा पंजाब के कुछ भागों में तो वार्षिक औसत ५" से भी कम है।

हिमालय और पश्चिमी घाट को छोड़ कर भारत में वर्षा का वार्षिक औसत लगभग ४२" है। परन्तु एक किसान के लिए अखिल भारतीय औसत का इतना महत्व नहीं है जितना कि इस बात का है कि वर्षा का स्थान और समय की दृष्टि से अनुकूल वितरण हो और अतिवृष्टि या अनावृष्टि से क्षति नहीं पहुँचे। इस दृष्टि से केवल प्रथम क्षेत्र में स्थित प्रदेश ही "रक्षित" माने जा सकते हैं। शेष दोनों क्षेत्रों में सिंचाई के कृत्रिम साधनों के अभाव में अनावृष्टि के कारण अकाल का भय बराबर बना रहता है।

भारत में वर्षा की विशेषतायें और उनके आर्थिक परिणाम—अन्य देशों की तुलना में भारत में वर्षा की कुछ विशेषतायें हैं जिनका हमारे आर्थिक जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

(१) भारत में वर्षा का वितरण समान नहीं है—जहाँ एक ओर चेरापूंजी में संसार में सबसे अधिक वर्षा होती है वहाँ दूसरी ओर पश्चिमी राजस्थान में वर्षा का औसत ५" से भी कम है। क्योंकि जल के बिना खेती नहीं हो सकती इसलिए कृषि-प्रधान भारत में वर्षा का बड़ा महत्व है। यथेष्ट वर्षा या सिंचाई के साधनों के अभाव में अच्छी फसलें नहीं उगाई जा सकतीं और ऐसा प्रदेश अनुन्नत और कम आबादी वाला होता है।

(२) भारत में अधिकांश वर्षा मानसून से होती है—जिस वर्ष मानसून तेजी से उठती है खूब वर्षा होती है और देश के अनेक भागों में बाढ़ का खतरा उत्पन्न हो जाता है। जिस वर्ष मानसून कमजोर होती है वर्षा भी कम होती है और अनावृष्टि के कारण अकाल का भय पैदा हो जाता है। इसी प्रकार कभी कभी मानसून देरी से उठती है या जल्दी उठकर जल्दी समाप्त हो जाती है तो फसलों को हानि होती है। डा० तिवारी के अनुसार "यदि औसत से २५ प्रतिशत कम वर्षा वाला वर्ष सूखा और ४० प्रतिशत कम वर्षा वाला वर्ष अकाल का माना जाए तो भूतपूर्व आंकड़ों के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कम वर्षा वाले क्षेत्रों में ५ वर्ष में एक वर्ष सूखा और १० वर्ष में एक वर्ष अकाल की संभावना रहती है।"[1] कृषि प्रधान भारत में सूखा या अकाल का अर्थ देशव्यापी भुखमरी और संकट होता है। इससे हमारी सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पंगु हो जाती है। अकाल के दिनों में किसानों की आमदनी और क्रय-शक्ति घट जाने से उद्योग-धन्धों के माल

---

१. डा० श्री गोपाल तिवारी : भारतीय अर्थशास्त्र (१९५३), पृ० १०।

की खपत घट जाती है और शासन की आय भी कम हो जाती है तथा अकाल-सहायता के ऊपर एकदम अधिक व्यय करना होता है। वर्षा की इस अनिश्चितता के कारण कुछ लेखक भारतीय कृषि को "वर्षा में जुआ" कह कर पुकारते है।

(३) वर्षा के असमान वितरण और अनिश्चितता के अतिरिक्त तीसरी बड़ी विशेषता यह है कि **भारत में वर्षा साल-भर नहीं होकर ऋतु विशेष में होती है।** उदाहरण के लिए डा० दुबे ने बताया है कि लन्दन की वर्ष-भर की २४" वर्षा १६१ दिनों में हल्की बूंदाबांदी के रूप में बहुत धीरे-धीरे होती है, जब कि बम्बई की ७१" वर्षा केवल ७५ दिनों में होती है।[1] इस प्रकार हमारे देश में वर्षा का अधिकांश जल मूसलाधार रूप में आता है और बहकर व्यर्थ जाता है। इससे भूमि कटने और बाढ़ आने के महाविनाशकारी परिणाम होते हैं।

भारतकी जलवायु का उसके आर्थिक जीवन पर प्रभाव—हम बतला चुके हैं कि यद्यपि भारत की जलवायु में अनेक विभिन्नताएं पाई जाती हैं तथापि भारत में समग्र रूप से अर्द्ध-अयनवृत्तीय मानसून शैली की जलवायु है। हम मानसून के आर्थिक परिणामों का वर्णन ऊपर कर चुके हैं। यहाँ संक्षेप में तापक्रम की विभिन्नता और अपेक्षाकृत उष्णता के आर्थिक परिणामों का संक्षेप में उल्लेख करते हैं। जलवायु की विभिन्नता के कारण हमारे देश में अनेक प्रकार की वनस्पति, पशु-सम्पति और खेती की उपज प्राप्त होती है। इसी जलवायु की विभिन्नता के कारण हमारे देश में अनेक समृद्ध उद्योगों की नींव रखी जा सकती है और हम आत्म-निर्भरता के समीप पहुँच सकते हैं। परन्तु कहा जाता है कि जहां शीतोष्ण देशों की जलवायु स्फूर्ति और शक्तिवर्धक होती है वहाँ भारत की अर्द्ध-उष्ण जलवायु लोगों को आलसी और कठोर तथा लगातार परिश्रम के अयोग्य बना देती है। उष्ण प्रदेशों में लोगों की आवश्यकताएं भी कम होती हैं और वे आसानी से पूरी की जा सकतीं हैं। इसलिए भी यहाँ के निवासी आलसी हो जाते हैं। निःसन्देह उक्त कथन में आंशिक सत्य है परन्तु हमको जलवायु के इस विपरीत प्रभाव के विषय में अतिशयोक्ति-पूर्ण बातों से बचना चाहिए और इसको अपने आर्थिक पिछड़ेपन का एकमात्र कारण नहीं मानना चाहिये। हमारी इस जलवायु ने भूतकाल में हमारे देश में विशाल सभ्यता के विकास में कोई रुकावट नहीं डाली और आज भी हमको अपनी पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था के कारण अन्यत्र खोजने चाहियें।

---

१. डा० दुबे : भारत का आर्थिक भूगोल।

परीक्षा के प्रश्न

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०;

(१) भारत के आर्थिक जीवन पर भौगोलिक दशाओं का प्रभाव समझाइये।

(१९६० पूरक)

दिल्ली विश्वविद्यालय बी० ए०;

(१) भारत के आर्थिक विकास पर भौगोलिक साधनों के प्रभाव का विवेचन कीजिये। (१९५१)

संदर्भ ग्रंथ

(1) India—1960 (Publications Division, Delhi)

(2) K. L. Ghosh : Economic Resources of India & Pakistan (K. P. Basu Calcutta, 1956)

(3) L. D. Stamp : India, Pakistan, Ceylon & Burma. (Methuen, London, 1957)

चौथा अध्याय

भारत की मिट्टियाँ और उनकी समस्याएँ

"भूमि राष्ट्र के आर्थिक विकास का आधार है।" (डी० एम० आनन्द)

"एक खेतीहर देश में कोई प्राकृतिक साधन मिट्टी के जितना महत्वपूर्ण नहीं होता।" (धिरेश भट्टाचार्य)

मिट्टियों का आर्थिक महत्व

एक खेतीहर देश की आर्थिक समृद्धि मूलतः वहां की मिट्टी पर निर्भर करती है। मिट्टी की बनावट, उसके रासायनिक तत्वों और सूक्ष्म जीवाणुओं पर वनस्पति की उपज निर्भर है। कहाँ पर कौनसी फसल पैदा की जानी चाहिए और कितनी फसलें होंगी, यह मूलतः वहाँ की मिट्टी पर निर्भर है। इसलिए कृषि-प्रधान भारत में मिट्टी ही किसान का धन है। यदि मिट्टी उपजाऊ हुई तो छोटे से खेत से किसान के परिवार का भरण-पोषण हो जाता है। यदि मिट्टी खराब हुई तो बहुत सारी भूमि जोतने पर भी निर्वाह नहीं होता। यही कारण है कि जहाँ मिट्टी उपजाऊ होती है, वहाँ जनसंख्या का घनत्व प्रायः अधिक पाया जाता है।

मिट्टियों के प्रकार

भारत की मिट्टियों को हम मोटी तौर पर पाँच श्रेणियों में बाँट सकते हैं, यथा—(१) नदी निर्मित या कछारी मिट्टी; (२) लाल मिट्टी; (३) काली मिट्टी; (४) लैटराइट मिट्टी; और (५) अन्य प्रकार की मिट्टियाँ।

नदी-निर्मित या कछारी मिट्टी

कछारी, गंगावार (गंगा + बरार) या दुमट मिट्टी उस मिट्टी को कहते हैं **जो नदियाँ अपनी धारा में बहाकर लाती हैं और दोनों किनारों पर जमा देती हैं।** यह मिट्टी बहुत मुलायम, गहरी और उपजाऊ होती है और खेती की दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। भारत में यह मिट्टी गंगा और सिन्ध के मैदान में और प्रायद्वीप के समुद्र-तटीय मैदानों में पाई जाती है। भारत में इस मिट्टी से ढकी हुई भूमि का क्षेत्रफल लगभग ३ लाख वर्ग-मील है। सीमाओं की दृष्टि से उत्तरी राजस्थान, पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, प० बंगाल, आधा आसाम (विशेषतः सुर्मांघाटी), बम्बई और केरल के तटीय क्षेत्रों में एक तंग पट्टी में और आन्ध्र तथा मद्रास राज्यों के उन जिलों में जो गोदावरी, कृष्णा तथा कावेरी के डेल्टाओं में पड़ते हैं फैली हुई है।

इस भूमि की बनावट तथा विशेषताएँ एक सी नहीं हैं। मैदान के उत्तरी भाग में जहाँ नदियाँ पर्वतों से उतर कर मैदान में प्रवेश करती हैं उस मिट्टी में कंकड़ पत्थर मिश्रित बड़े रेत-कण अधिक होने से यह छिद्रदार और शुष्क होती है। फलस्वरूप यह खेती के लिये अधिक उपयुक्त नहीं होती और इस पर साल आदि के विविध वृक्ष और
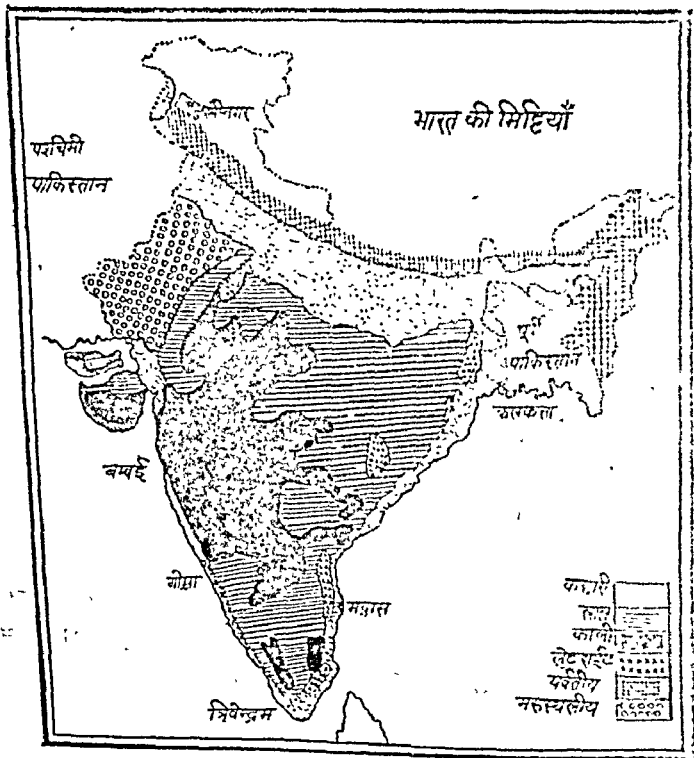
चित्र-संख्या ९—भारत की मिट्टियाँ

ऊँची-ऊँची घासें खड़ी होती हैं। आगे चलकर मैदान के बीच के भाग में मिट्टी के कणों का आकार छोटा हो जाता है और चिकनाई की सीमा बढ़ जाती है। इस प्रकार की दुमट मिट्टी जिसमें रेतीले और चिकने दोनों तत्वों का सम्मिश्रण होता है गेहूँ, गन्ना आदि की फसलों के लिए अति उत्तम होती है। नदियों के मुहानों के पास डेल्टाओं की मिट्टी के कण बहुत बारीक हो जाते हैं और यह चिपकनी और नम हो जाती है। इन स्थानों में गर्मी और वर्षा की अधिकता के कारण चावल और पाट की खेती अच्छी होती है।

उत्तर भारत के मैदान की भूमि मुख्यतः हिमालय से बहकर आई हुई है और इसमें साधारणतः नाइट्रोजन (Nitrogen) और ह्यूमस (Humus) की कमी

पाई जाती है किन्तु पोटाश (Potash), मैगनीशिया (Magnesia) और फास्फोरिक एसिड और चूना Lime) यथेष्ट मात्रा में विद्यमान होते हैं। यही कारण है कि इन मैदानों में गोबर आदि की खाद दी जाती है जिसमें नाइट्रेट्स (Nitrates) प्रचुर मात्रा में होते हैं। उपयुक्त खाद और यथेष्ट पानी उपलब्ध होने पर इस उपजाऊ दुमट भूमि पर खरीफ और रबी की लगभग सब फसलें अच्छी पैदा होती हैं।

प्रायद्वीप के तटीय मैदानों की कछारी मिट्टी में पोटाश (Potash) और चूना (Lime) तो यथेष्ट मात्रा में मिलते हैं परन्तु नाइट्रोजन (Nitrogen), ह्यूमस (Humus) और फास्फोरिक एसिड (Phosphoric Acid) की कमी होती है। सिंचाई की सहायता से यहाँ पर चावल और ईख की उत्तम फसलें होती हैं। पिछले कुछ वर्षों से पाट की खेती में भी अच्छी सफलता मिली है।

(२) लाल मिट्टी

देश के जिन भागों में लोहे की खानें हैं वहाँ पर लोहे की जंग के मिल जाने से मिट्टी का रंग लाल हो गया है। यह मिट्टी तटीय मैदानों और दक्षिण की पथरीली भूमि को छोड़ कर लगभग सारे प्रायद्वीप में पाई जाती है। इसका क्षेत्रफल आठ लाख वर्गमील से भी अधिक बतलाया जाता है। इस क्षेत्र में समस्त मद्रास, मैसूर, आन्ध्र, दक्षिण-पूर्वी बम्बई राज्य सम्मिलित हैं और यही मिट्टी उत्तरी-पश्चिमी आन्ध्र राज्य (भूतपूर्व हैदराबाद राज्य का पूर्वी भाग) और मद्रास-प्रदेश में होती हुई उड़ीसा और छोटा नागपुर तक चली गई है। यही न्यूनाधिक मात्रा में बंगाल के संथाल परगने, वीरभूम ज़िला, उत्तर प्रदेश के मिरजापुर, झाँसी, हमीरपुर जिलों, बघेलखण्ड और मध्य-भारत के भूतपूर्व राज्यों और पूर्वी राजस्थान तक फैली हुई है। इस विस्तृत प्रदेश में पाई जाने वाली लाल मिट्टी की रचना, गहराई और उर्वरता भिन्न-भिन्न है। एक ओर शुष्क पठारों पर कम उपजाऊ, कम गहरी, कंकरीली, पथरीली या रेतीली और हल्के रंग की है, जिसमें केवल बाजरे की साधारण फसल हो सकती है। दूसरी ओर, नीचे के मैदानों में यह उपजाऊ, गहरी, चमकीले लाल रंग की, गहरे भूरे या काले रंग की है, जिस पर सिंचाई की सहायता से विभिन्न फसलें पैदा की जा सकती हैं। लाल मिट्टी में नाइट्रोजन (Nitrogen), फास्फोरिक एसिड (Phosphoric Acid) और ह्यूमस (Humus) की कमी है किन्तु पोटाश (Potash) और चूना (Lime) यथेष्ट मात्रा में पाये जाते हैं।

(३) काली मिट्टी

यह मिट्टी दक्षिणी पठार में ज्वालामुखी की भूराल (Lava) से बनी हुई होने से काले रंग की है। इस मिट्टी में कपास की खेती अच्छी होती है इसलिए इसको 'काली कपास की मिट्टी' (Black Cotton Soil) भी कहते हैं। यह मिट्टी दक्षिणी पठार

के लगभग दो लाख वर्ग मील के क्षेत्र में पाई जाती है। सीमा की दृष्टि से इस क्षेत्र में वर्तमान महाराष्ट्र और गुजरात राज्यों के अधिकांश भाग, दक्षिणी-पश्चिमी मध्य-प्रदेश और सुदूर दक्षिण (मद्रास) के रामनद और टिनिवेली जिले आते हैं।

इस मिट्टी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह वर्षा के पानी को दीर्घकाल तक रोके रखती है इसलिए सिंचाई की अधिक आवश्यकता नहीं होती है। परन्तु अधिक वर्षा होने पर यह बहुत गीली और चिकनी हो जाती है क्योंकि यह पानी को सोख नहीं सकती। इसके विपरीत शुष्क ऋतु में यह नम मिट्टी सिकुड़ जाती है और भूमि में चौड़ी और गहरी दरारें पड़ जाती हैं, जिनमें सांप और बिच्छू आदि घर कर लेते हैं। इस भूमि पर दक्षिण का गहरा हल चलाया जा सके उसके पहले एक अच्छी वर्षा का होना जरूरी है और यदि वर्षा नहीं होती तो किसान भगवान की दया की बाट देखने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकता, किन्तु अच्छी वर्षा हो जाने पर अधिक परिश्रम के बिना ही इसमें कपास और ज्वार की अच्छी फसलें पैदा होती हैं।

काली मिट्टी में साधारणतः नाइट्रोजन (Nitrogen), फास्फोरिक एसिड (Phosphoric Acid) और सजीव तत्वों (Organic Matter) की कमी होती है। किन्तु पोटाश (Potash) और चूने (Lime) की कमी नहीं होती है।

(४) लैटराइट मिट्टी

अंग्रेजी का लैटराइट (Laterite) शब्द लेटिन के 'लेटर' (Later) से बना है जिसका अर्थ होता है ईंट। अतः 'लैटराइट' का शाब्दिक अर्थ होता है ईंट के रंग की। भौमिकी (Geology) में 'लैटराइट' चट्टानों के क्षय के अवशेष भाग को कहते हैं जिसका रंग ईंट की तरह लाल होता है और जिसमें लोहे के ऑक्साइड और अलूमिनियम के हाइड्रोऑक्साइड बड़ी मात्रा में पाये जाते हैं। आचार्य रघुवीर के "आंग्ल-भारतीय महाकोष" में 'लैटराइट' के लिए 'अयःस्फोदिज' शब्द की रचना की गई है जिसमें 'अय' लोहे के लिए 'स्फ' अलूमिनियम के लिए, 'उद' हाइड्रोओक्साइड (उदजारेय) के लिए और 'इज' खनिज के लिए है।

हमारे प्रायद्वीप की पहाड़ियों और पठारों में लोहे के सहित अनेक धातुएं पाई जाती हैं। हमारे यहाँ कुछ महीनों में मूसलाधार वर्षा होती है और कुछ महीने बिलकुल सूखे होते हैं। कभी कड़ाके की गरमी पड़ती है तो कभी शीत की अधिकता होती है। इस प्रदेश की चट्टानों पर हमारे देश की विशेष जलवायु के प्रभाव से यह मिट्टी बनती है। यही कारण है कि यह छिद्रदार चिकनी मिट्टी वर्तमान मध्य-प्रदेश की पहाड़ियों की चोटियों और पठारों पर, प्रायद्वीप के पूर्वी और पश्चिमी घाटों पर और आसाम की पहाड़ियों पर पाई जाती है। दक्षिण भारत, बंगाल और आसाम के चाय के बागों में इसी मिट्टी की प्रधानता है। इस मिट्टी की एक विशेषता यह है कि यह अम्लयुक्त होती है और इसकी एक समस्या इसकी अम्लता को घटाने या सुधारने की है। परन्तु चाय

के पौधों को अम्लता बहुत प्रिय है और कभी-कभी तो इनके लिए भूमि को अम्लयुक्त करना पड़ता है।

इस मिट्टी की उत्तमता में भी अन्तर पाया जाता है। ऊँची सतह पर यह बहुत कम गहरी और कंकरीली होती है और इसमें नमी बनाये रखने की क्षमता नहीं होती। नीची सतह पर और घाटियों में गहरे रंग की भारी दुमट मिट्टी के रूप में होती है जिसमें दीर्घकाल तक नमी बनी रहती है और इसमें विशेषतः चावल की अच्छी पैदावार होती है। इसमें पोटाश (Potash), फास्फोरिक एसिड (Phosphoric Acid) और चूने (Lime) की कमी है। परन्तु ह्यूमस (Humus) की कमी नहीं हैं।

(५) अन्य मिट्टियाँ

भारत की अन्य मिट्टियों में (अ) हिमालय की पर्वतीय मिट्टियाँ और (आ) मरुस्थल की मिट्टी उल्लेखनीय हैं।

(अ) हिमालय की पर्वतीय मिट्टियाँ—भौमिकी के अनुसार हिमालय का पर्वतीय प्रदेश अपेक्षाकृत नया है। इस विस्तृत क्षेत्र में अनेक ऊँचे पर्वत और नीची घाटियाँ हैं। इस क्षेत्र के कुछ भागों में बहुत अधिक वर्षा होती है तो कुछ में कम। अतएव इस प्रदेश की भू-रचना और जलवायु के अनुसार इसमें कई प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं। पहाड़ों की तराई में कंकड़-पत्थर मिश्रित बड़े कणों वाली मिट्टी पाई जाती है जिसमें ह्यूमस की कमी से उपज बहुत कम होती है और घने वन और जंगली घासें पाई जाती हैं। कई स्थानों पर चूने की चट्टानों की अधिकता से चूना-पत्थर-मिट्टी (Lime Stone Soil) मिलती है जहाँ पर चीड़ और साल के वन पाये जाते हैं। नीची घाटियों और पठारों पर बारीक, चिकनी और भू-राल मिश्रित काली मिट्टी भी पाई जाती है। ऐसे स्थानों पर चावल, आलू आदि की अच्छी खेती होती है।

(आ) मरुस्थली मिट्टी—राजस्थान के पश्चिम और उत्तर के जिलों तथा पंजाब के दक्षिणी भाग में थार का मरुस्थली क्षेत्र आ गया है। इस क्षेत्र में बड़े कणों वाली बालूरेत की प्रधानता है और वर्षा की कमी से बहुत कम खेती होती है। परन्तु जहाँ मिट्टी के कण बारीक हैं और सिंचाई की सुविधा प्राप्त है अच्छी उपज होती है।

मिट्टियों की समस्याएँ

भारत में मिट्टियों की तीन मुख्य समस्याएँ हैं : (अ) घटती हुई उपजाऊ शक्ति की समस्या, (आ) खाद की समस्या और (इ) भू-क्षरण और संरक्षण की समस्या। हम संक्षेप में इन पर प्रकाश डालते हैं।

(अ) घटती हुई उपजाऊ-शक्ति

बहुधा कहा जाता है कि शताब्दियों के निरन्तर उपयोग तथा विश्राम और खाद की कमी से भारत की भूमि की उपजाऊ शक्ति बहुत घट गई है और हमारे देश में प्रति

एकड़ औसत उत्पत्ति संसार में सबसे कम है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या भारत की भूमि की उपजाऊ शक्ति बराबर घटती जा रही है ? यदि यह सत्य है तो बड़ा भयानक है। विशेषज्ञों में इस प्रश्न पर मतैक्य नहीं है। अधिकांश लोगों का यह मत है कि यद्यपि उर्वरा शक्ति के निरन्तर ह्रास की पुष्टि में निश्चयात्मक तथ्य उपलब्ध नहीं है तथापि यह सत्य है कि हमारे देश में उर्वरा शक्ति का एक अत्यन्त निम्न किन्तु स्थायी स्तर स्थापित हो गया है।

दी रायल कमीशन ऑफ एग्रीकल्चर इन इण्डिया (The Royal Commission of Agriculture in India) ने भी इस बात की जांच की थी और वे इस नतीजे पर पहुँचे कि "जिस भूमि में प्रति-वर्ष खेती की जाती है और फसल काटने के बाद कोई भी खाद नहीं दी जाती, वहाँ फसल उगाने के कारण भूमि में जिन रासायनिक तत्वों की कमी हो जाती है वे प्रकृति से उसे मिल जाते हैं; एक स्थायी दशा पहुँच जाती है और उर्वरता का एक घटिया लेकिन स्थायी दर्जा कायम हो जाता है।"[1] इसका एक कारण यह भी है कि भारतीय किसान शताब्दियों के अनुभव से, फसल के हेर-फेर के सिद्धान्त को जानते हैं और इसका पूरा लाभ उठाते हैं। फसल के हेर-फेर का आशय यह है कि भूमि में एक फसल के बाद दूसरी ऐसी फसल बोई जाए जिसे उन तत्वों की आवश्यकता हो जो पहली फसल के पैदा होने के बाद शेष रह गये हों। इस बीच में वायुमण्डल से भूमि में उन तत्वों की यथासम्भव पूर्ति हो जाती है जो पहली फसल की पैदावार में काम में आये थे। इस प्रणाली को अपनाने से भूमि को परती छोड़ने की आवश्यकता नहीं रहती है। दूसरी बात यह है कि हमारे देश में मिश्रित फसल बोने का रिवाज भी बढ़ रहा है। उदाहरण के लिए गेहूँ या जौ के साथ चना या अरहर, उड़द, मूँग आदि बोये जाते हैं और इन पौधों की पत्तियों के भूमि पर गिरने से तथा इनकी जड़ भूमि में रह जाने से उसमें जो नाइट्रोजन की कमी है उसकी बहुत कुछ पूर्ति हो जाती है। इन्हीं कारणों से हमारी भूमि की उर्वरा शक्ति कायम है। किन्तु हमारे सम्मुख समस्या केवल भूमि की उर्वरा शक्ति के क्षय को रोकने ही की नहीं है किन्तु यह भी है कि मिट्टी के रसायन-शास्त्र और सूक्ष्म जीव तत्वों के विज्ञान की सहायता से भूमि की उर्वरा शक्ति की वृद्धि किस प्रकार की जा सकती है। इसका सम्बन्ध "खाद" और "भू-संरक्षण" से है।

(आ) खाद की समस्या[2]

हम देख चुके हैं कि अच्छी फसल पैदा करने के लिए मिट्टी में कतिपय रासायनिक

1. Sir T. Vijayaraghavacharya : Land And Its Problems, p. 21 योजना आयोग की भी यही राय है (देखिए First Five Year Plan—A Draft Outline).

२. यहाँ पर इसका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है। विशेष विवरण के लिए अ० २० देखिये।

और सजीव तत्वों का होना आवश्यक है। खाद देने का उद्देश्य मिट्टी में आरम्भ से जिन रासायनिक तत्वों की कमी होती है या जिन तत्वों की कमी फसल उगाने से हो जाती है, उनकी पूर्ति करना है। इस प्रकार खाद के द्वारा मिट्टी की उपजाऊ शक्ति कायम रहती है या बढ़ाई जा सकती है।

भारत की मिट्टियों में मुख्य कमी नाइट्रोजन (Nitrogen) अथवा सजीव तत्वों (Organic Matter) की है। इस कमी को पूरा करने के लिए हमारे यहाँ पशुओं के गोबर आदि की खाद देने का रिवाज है। परन्तु अधिकांश किसान ईंधन की कमी से गोबर के कण्डे या उपले जलाते हैं और खाद बनाने के काम में नहीं लेते। यह सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी को भूखा मारने के समान है। क्या आश्चर्य है कि हमारी भूमि की उपजाऊ शक्ति घट कर बहुत कम हो गई है। अतएव भूमि की उपजाऊ शक्ति कों बनाये रखने और बढ़ाने के लिए देश में खाद के उपलब्ध साधनों का सदुपयोग आवश्यक है। तदर्थ निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते हैं—

(१) जलाने के लिए लकड़ी व कोयला काम में लाकर गोबर की खाद बनाई जानी चाहिए। साथ ही खाद बनाने के उत्तम तरीकों का प्रचार किया जाना चाहिए जिससे पशुओं के गोबर-पेशाब का कोई अंग नष्ट नहीं होने पाये।

(२) बस्ती के कूड़ा-करकट, मल-मूत्र और घास-पात को सड़ाकर कम्पोस्ट खाद तैयार की जानी चाहिए। डा० आचार्य का अनुमान है कि हमारे देश में शहरों के कूड़ा-करकट से प्रतिवर्ष ५ करोड़ रुपयों की १ करोड़ टन कम्पोस्ट खाद तैयार की जा सकती है। १९५८-५९ में २३ लाख टन कम्पोस्ट तैयार किया गया।[1]

(३) फसलों को जिन रासायनिक तत्वों की जरूरत होती है उनमें नाइट्रोजन, फासफोरस और पोटाश मुख्य हैं। खेतों में नाइट्रोजन की पूर्ति के लिए अमोनियम सल्फेट, फासफोरस की पूर्ति के लिए फास्फेट और पोटाश की पूर्ति के लिए पोटेशियम नाइट्रेट या खनिज शोरा काम में आता है। देश में अमोनियम सल्फेट की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए भारत सरकार ने बिहार के धनबाद जिले में सिंदरी नामक स्थान पर ७० हजार टन नाइट्रोजन की क्षमता वाला एक बड़ा कारखाना खोला है। दूसरी योजना में इसका विस्तार करने के अतिरिक्त नांगल (पंजाब) और रूड़केला (उड़ीसा) में क्रमशः ७० और ८० हजार टन की क्षमता के दो और कारखाने खोले जा रहे हैं।[२]

(४) रासायनिक खादों के अतिरिक्त फली वाले पौधों की खड़ी फसल को खेत हाँक कर दी जाने वाली हरी खाद, मूँगफली और अरेण्डी आदि की खली की खाद हड्डियों के चूरे की खाद, मछली की खाद, कसाई-घरों से प्राप्त पशुओं के अवशेष

(1) India 1960 , p. 252.

(२) विस्तृत विवरण के लिए "भारत के बड़े पैमाने के उद्योग" अध्याय देखिये।

पदार्थों की खाद और मनुष्यों की विष्टा की खाद भी बनाई जाकर काम में ली जा सकती है।

भारत सरकार की खाद योजनाएँ—दूसरी योजना की अवधि में खेती की उपजा में २८ प्रतिशत वृद्धि के नये लक्ष्य को पूरा करने के लिए भारत सरकार के कृषि मंत्रालय ने देश में खाद की पूर्ति बढ़ाने के लिए तीन योजनाएँ आरम्भ की हैं। इनमें पहली योजना का उद्देश्य गांव मे उपलब्ध साधनों से कम्पोस्ट बनाना है। अनुमान है कि इस योजना से २४०० खण्डों के २,४०,००० गांवों में १६६०–६१ के अन्त तक ११५२ लाख टन अतिरिक्त कम्पोस्ट खाद तैयार होने लगेगी जो सन् १६५६-५७ की पूर्ति की दुगनी होगी। दूसरी योजना के अन्तर्गत हरी खाद की प्रणाली का प्रसार किया जायगा। अनुमान है कि देश में गेहूँ और चावल पैदा करने वाली कुल १० करोड़ एकड़ भूमि से ५॥ करोड़ एकड़ भूमि में हरी खाद दी जा सकेगी। तीसरी योजना का सम्बन्ध देहातों में विष्टा से कम्पोस्ट खाद तैयार करने से है। अनुमान है कि इस कार्यक्रम के अन्तर्गत दूसरी योजना के अन्त तक लगभग २१ लाख टन कम्पोस्ट खाद तैयार होने लगेगी।[1]

(इ) भू-क्षरण और संरक्षण

भू-क्षरण का शाब्दिक अर्थ मिट्टी का एक स्थान से दूसरे स्थान को चले जाना है। इसलिए जब वर्षा की बौछार या बहते पानी के बहाव या हवा के प्रचण्ड झोकों से मिट्टी कटकर या उड़कर एक जगह से दूसरी जगह चली जाती है तो यह क्रिया भू-क्षरण या भूमि का कटाव कहलाती है।

यद्यपि हमको हमारे देश में हो रहे भूमि के कटाव के प्रकार और प्रसार के बारे में पूरी सूचना प्राप्त नहीं है तथापि "अनुमान है कि भूमि के फटने-छटने से भारत में लगभग दो करोड़ एकड़ भूमि खेती के लिए एकदम बेकार हो चुकी है और लगभग १० करोड़ एकड़ भूमि ऐसी दशा में है कि उसके पर्याप्त सुधार की आवश्यकता है।"[2] जहां अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों में भूमि का कटाव रोकने, कटी हुई भूमि को फिर से कृषि योग्य बनाने और भू-संरक्षण के लिए सरकारी और गैर-सरकारी तौर पर कई वर्षों से कार्य हो रहा है, वहाँ हमारे देश में यद्यपि पिछले कुछ वर्षों से सरकार ने इस ओर ध्यान देना आरम्भ किया है, तथापि भारतीय किसान आज भी इस भयंकर विपत्ति के प्रति उदासीन है। यही कारण कि हमारी भूमि की उपजाऊ शक्ति घटकर बहुत कम हो गई है।

भू-क्षरण के कारण—हमारे देश में भूमि के भारी कटाव के मुख्य कारण निम्नांकित हैं—

1, Indian Express, Delhi, Dt. 20-11-56, Page 4, column 7-8.
२. दैनिक हिन्दुस्तान, दिनांक २३—१०—५०।

(१) वनों का नाश—देश की बढ़ती हुई जन-संख्या के लिए खेती के विस्तार तथा जलाने और इमारती लकड़ी की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए पिछले कुछ वर्षों में वनों का अविवेक-पूर्ण नाश किया गया है। इससे भूमि की सतह बिल्कुल नंगी हो गई है और वर्षा की चोटों से तथा पानी के वेग से कट-कट कर बहने वाली मिट्टी की मात्रा बढ़ गई है।

(२) चरागाहों का दुरुपयोग—भारत की भूमि को उत्तरोत्तर बढ़ने वाली जनसंख्या के अतिरिक्त संसार की सबसे अधिक पशु-संख्या के भरण-पोषण का भार भी झेलना पड़ता है। पशुओं के खिलाने के लिए घास की एक एक पत्ती काट ली जाती है या चरा दी जाती है। फलस्वरूप हमारी अधिकांश गोचर भूमि नंगी हो गई है और उसका कटाव हो रहा है।

(३) भूमि का दुरुपयोग—हमारे देश में अनेक आदिवासी या अन्य किसान पहाड़ों की ढालों पर जंगल साफ करके खेती करते हैं और एक स्थान की मिट्टी बह जाने पर दूसरी जगह चले जाते हैं। इस प्रकार जंगलों की सफाई, अनियंत्रित चराई और खाद के अभाव से विस्तृत प्रदेश खेती के अयोग्य हो गये हैं।

(४) सीमित काल में तेज वर्षा—हमारे देश में अधिकांश वर्षा कुछ ही दिनों में हो जाती है और जब नंगी भूमि पर मूसलाधार वर्षा की चोटें लगती हैं तो भूमि कट-कट कर बह जाती है।

(५) प्रचण्ड वायु—पश्चिमोत्तर राजस्थान और पंजाब के दक्षिण-पश्चिम में तेज वायु के साथ उड़कर आने वाली रेत से पट कर भी कई स्थानों पर उपजाऊ भूमि बेकार होगई है। कई स्थानों पर छोटे-बड़े नदी नालों के पेटे मिट्टी और रेत से भर गये हैं जिससे उनका पानी किनारों के ऊपर बाढ़ उत्पन्न करता है और खेती योग्य भूमि की मिट्टी बहा ले जाता है।

(६) समुद्री-कटाव—कभी-कभी समुद्र तट की भूमि समुद्र की बाढ़ से कट कर बह जाती है जैसे केरल के समुद्र-तट पर।

भू-क्षरण से हानियाँ—भू-क्षरण से अनेक हानियाँ होती हैं जिनमें मुख्य निम्नांकित हैं—

(१) भू-क्षरण से ऊपर की उपजाऊ मिट्टी बह जाती है और नीचे की कम उपजाऊ मिट्टी ऊपर आ जाती है जिससे भूमि की उपजाऊ शक्ति घट जाती है। कभी कभी बड़े-बड़े जल-मार्ग बन जाते हैं और विस्तृत क्षेत्र कृषि के योग्य नहीं रहते।

(२) कभी-कभी नीचे के मैदानों की उपजाऊ भूमि ऊँची सतहों की कम उपजाऊ मिट्टी, भूमि के नीचे के भाग की मिट्टियाँ या रेत-कंकड़ आदि से ढक जाती है और कम उपजाऊ हो जाती है।

(३) इसी प्रकार सिंचाई, जल-पूर्ति या जल-विद्युत बनाने के जलाशयों में मिट्टी या रेत भर जाती है।

(४) भू-क्षरण से मिट्टी में पौधों की खुराक बड़ी मात्रा में निकल जाती है जिससे खेती की उपज घट जाती है।

(५) भू-क्षरण से अन्य जीवों के लिए खाद्य-सामग्री और उनके रहने के स्थानों में कमी आ जाती है।

(६) कटी हुई भूमि पर पानी की निकासी की नालियां बनाने की लागत और कठिनाई बढ़ जाती है।

(७) भू-क्षरण से भूमि का दृश्य कम आकर्षक हो जाता है।

(८) कटी हुई भूमि में पानी सोखने की क्षमता कम होती है। इसमें पानी बृथा जाता है और बाढ़ें आने लगती हैं।

(९) भूमि की पानी सोखने की शक्ति घट जाने से भूमि पर बहने वाला पानी पौधों के उपयोग के लिए भूमि के नीचे के भाग में जमा नहीं होता जिससे अनावृष्टि का संकट बढ़ जाता है।

(१०) भू-गर्भ में पानी की सतह नीची चली जाने से झरने तथा कुएँ सूख जाते हैं।

(११) कटी हुई भूमि पर उपज कम होने से भूमि का मूल्य घट जाता है।

(१२) खेती की उपज घट जाने से खाद्यान्नों और कच्चे माल की कीमतें बढ़ जाती हैं।

(१३) उपज घट जाने से किसानों की आमदनी घट जाती है और इसका प्रभाव श्रमिकों, व्यापारियों तथा अन्ततः समस्त देश पर पड़ता है।

उपर्युक्त हानियों को देखते हुए डा० राधाकमल मुकर्जी ने भू क्षरण को "भारतीय कृषि के लिए अकेला सबसे भयंकर खतरा (Greatest Single Menace to Indian Agriculture) कहा है।"

भू-क्षरण-निवारण और भू-संरक्षण—भू-संरक्षण का क्षेत्र भू-क्षरण-निवारण से अधिक व्यापक है। इसमें मिट्टी के कटाव को रोकने के अतिरिक्त, मिट्टी में खाद देने, सिंचाई की व्यवस्था करने और वे सब उपाय समाविष्ट हैं जो भूमि की उर्वराशक्ति बढ़ाने और उसके सर्वोत्तम उपयोग के लिये किये जाने चाहिएँ। इस प्रकरण में हम भू क्षरण-निवारण के उपायों की संक्षेप में चर्चा करेंगे।

(१) पैमाइश—मिट्टी के कटाव को रोकने की दशा में सबसे पहली बात जो आवश्यक है वह यह है कि विस्तृत पैमाइश द्वारा यह मालूम किया जाना चाहिए कि देश में कहाँ-कहाँ पर, कितनी दूर-दूर और किस प्रकार का कटाव हो रहा है जिससे कटाव के प्रकार और प्रसार के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त हो सके और कटाव को

रोकने तथा कटी हुई भूमि को फिर से खेती योग्य बनाने के लिए आयोजित प्रयत्न किये जा सकें।

(२) **वनारोपण**—हम देख चुके हैं कि कटाव रोकने में मिट्टी में नमी और मिट्टी पर पेड़-पौधों की छतरी से बड़ी सहायता मिलती है। अतएव वनों का बिना सोचे-समझे काटना बन्द किया जाना चाहिए और कटाव रोकने तथा ईंधन और इमारती कार्य के लिए लड़की की पूर्ति बढ़ाने के लिये वनों का विस्तार किया जाना चाहिए।

(३) **घास के मैदानों का सु-प्रबन्ध**—भारत में बहुत से चरागाह केवल नाम के चरागाह हैं। उनमें न यथेष्ट चारा मिलता है और न वे भू-क्षरण को रोकते हैं। इसका प्रधान कारण अधिक चराई है। अधिक चराई के खतरे को दूर करने के लिए जहाँ दो या अधिक चरागाह हों वहाँ पर चरागाहों को बदलकर पशु चराने चाहिएँ। ऐसा करने से जब एक चरागाह पर चराई की जायगी तो दूसरे को विश्राम मिल सकेगा, इससे और अधिक अच्छी घास जमेगी और भू-क्षरण रोकने में मदद मिलेगी।

(४) **नालों को बन्द करना**—जिस प्रदेश में मिट्टी कट-कट कर नालियाँ बन गई हैं या दरारें पड़ गई हैं वहाँ उनके मुँह पर मिट्टी या बालू से भरे हुए बोरों की या तारों के जाल की रोक लगानी चाहिए। इससे कुछ समय में बहकर आने वाली मिट्टी के जमा हो जाने से नालियाँ या दरारें अपने आप भर जायेंगी। दरारों वाली भूमि पर कटाव रोकने के लिए जल्दी उगने वाली झाड़ियों, फैलने वाली घास तथा अन्य वनस्पति लगाने से ऐसे बहाव का वेग कम हो सकता है। इसी प्रकार पहाड़ी क्षेत्रों में मिट्टी की रक्षा के लिए बाँध बाँधना चाहिए और नदी-नालों को बाँधकर जल प्रवाह की दिशा पर नियन्त्रण स्थापित किया जाना चाहिये, जिसमें बाढ़ों द्वारा होने वाला विनाश रोका जा सके।

(५) **वायु-क्षरण की रोक**—सूखे क्षेत्रों में वायु द्वारा होने वाले क्षरण को रोकने के लिये रोकें बनाई जानी चाहिएँ, जिनसे टकरा कर वायु में से मिट्टी गिर जाय और उड़कर आगे न जाने पाये। योजना आयोग के अनुसार पिछले ५० वर्षों से राजस्थान का रेगिस्तान एक विशाल उन्नतोदर वृत्त खण्ड के रूप में पटियाला, आगरा, अलीगढ़ और कासगंज की ओर आधा मील प्रतिवर्ष की गति से बढ़ रहा है और प्रतिवर्ष ५० वर्गमील उपजाऊ भूमि को दबा लेता है। विशेषज्ञों की राय है कि सिरोही के पास अरावली की एक छेकड़ में से बालू से लदी हुई हवाएँ सौराष्ट्र और कच्छ से उत्तर-पूर्व को बढ़ती हैं।[1] अतएव इस क्षेत्र में वायु द्वारा किये जाने वाले क्षरण को रोकने के लिए घने वनों की पट्टियाँ उगाई जानी चाहिएँ।

(६) **भूमि को काम में लाने का कार्यक्रम**—भू-क्षरण को रोकने के लिए भूमि के उपयोग का एक अच्छा कार्यक्रम अपनाया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्नांकित

1. The First Five Year Plan—A Draft Outline, P. 134,

बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए :—(अ) जो भूमि खेती के योग्य नहीं हो, जैसे बहुत ढालू भूमि, कटी हुई भूमि या पानी के हीन निकास वाली भूमि या ऐसी भूमि जिस पर बार-बार बाढ़ आती हो या पथरीली भूमि, उस पर वन लगाए जाने चाहिए; (आ) ऐसी भूमि जो अत्यधिक ढाल वाली नहीं हो और जिस पर खूब घास हो सकती हो, उसे स्थायी चरागाह में बदल देना चाहिए; (इ) अन्य भूमियाँ जो बार बार जुताई करने या फसल बोने के योग्य नहीं हैं चारे की फसलें उगाने या अर्द्ध-स्थायी चरागाहों के काम में लेनी चाहियें; (ई) खेती के योग्य किन्तु ढालू भूमि पर नीचे लिखे तरीके से खेती करनी चाहिये।

(७) उचित प्रकार से खेती – भू-क्षरण को रोकने में खेती के उचित तरीकों का बहुत महत्व है। खेती का वह तरीका जो भू-क्षरण को रोकने में सर्वोत्तम सिद्ध हुआ है समोच्च खेती (Contour Farming) के नाम से पुकारा जाता है। समोच्च रेखा (Contour) भूमि की सतह पर एक काल्पनिक रेखा है जो समान ऊँचाई के बिन्दुओं को मिलाती है। अतएव समोच्च खेती का अर्थ ढालू भूमि पर उसके ढाल के आर-पार खेती करना है। इस प्रणाली में यथासम्भव सारी खेती एक ही उँचाई पर की जाती है। इसमें फसलों की कतारें बहते हुए पानी की गति को मन्द करने और क्षरण रोकने में छोटी-छोटी मेड़ों का काम करती हैं। कम ढाल वाली भूमि के लिए इस तरीके से खेती करने से अधिक क्षरण नहीं होने पाता।

परन्तु लम्बे ढलान वाली भूमियों पर क्षरण रोकने के लिये समोच्च रेखा पर खेती ही काफी नहीं होती। ऐसी दशा में समोच्च रेखा पर पट्टीदार खेती (Strip Cultivation) करने की आवश्यकता होती है "इसका अर्थ यह है कि क्षेत्र को विभिन्न चौड़ाई की पट्टियों में उनकी मिट्टी और ढलान के अनुसार विभाजित कर दिया जाता है, और जब कि एक पट्टी में कोई भी कतार वाली फसल लगा दी जाती है; तो अगली में पास-पास उगने वाली फसल होती है। इस प्रकार एक लम्बी ढाल में कितने ही छोटे छोटे टुकड़े बन जाते हैं। इससे पानी रुकता है और मिट्टी को हटाने तथा बहा ले जाने की उसकी शक्ति कम हो जाती है और इस प्रकार भू-क्षरण रुक जाता है।"[1]

समोच्च खेती और पट्टीदार खेती के अतिरिक्त भूमि को एक समान करने और पानी के बहाव के रुख बदलने से भी भू-क्षरण रोका जाता है। चौरस ढलान में थोड़ी-थोड़ी दूर पर मिट्टी की मेंड़ें होती हैं, जिन्हें लम्बे ढाल को, छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित करने के उद्देश्य से ढाल के आर-पार बनाया जाता है। इससे बहते हुए पानी की मात्रा कम हो जाती है। परन्तु सीढ़ीदार खेती के तरीके में वर्षा के दिनों में आवश्यकता से अधिक पानी को निकालने के लिए निकासी का अच्छा प्रबन्ध होना चाहिये।

---

१. भारत में भू-संरक्षण : सं० डी० एम० आनन्द : भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद

ढाल की सीढ़ियों की तरह ही रुख परिवर्तन के बन्धों की रचना इस प्रकार की जाती है कि जिससे ऊपर के क्षेत्र से वह कर आया हुआ पानी रोका जा सके। ऐसें वन्धों पर घास उगा दी जानी चाहिये।

ढालों पर वहते हुये पानी की प्रवृत्ति नीचे के स्थानों पर इकट्ठे होने की होती है और इसके कारण भू-क्षरण होता है। यह ऐसे जलमार्ग बना कर रोका जा सकता है, जिनके किनारों पर घास लगी हो।

साधारणतः समतल खेतों में भी क्षरण रोकने के लिये सुधरे हुये वीज, उत्तम खाद और फसलों के वारी-वारी से बोने की प्रणाली (शस्य चक्र) को अपनाने की आवश्यकता है। खेती के लिये अच्छे किस्म के बीज चुने जाने चाहियें, क्योंकि इनसे भूमि में स्थिरता आती है। खादें भी (विशेषतः हरी खाद) ऊपर की मिट्टी को ज्यों का त्यों करने में वहुत सहायक होती है और इस प्रकार भू क्षरण को रोकने में भी।

भू-क्षरण रोकने में फसलों का वारी वारी से बोना घास तथा दलहनी फसलों के प्रयोग के साथ अधिक प्रभावकारी होता है। गेहूँ और मकई के दो-वर्षीय चक्र के लिये वीच में बोई जाने वाली फसलों के रूप में घास तथा दलहनी फसलें लगभग समतल भूमि और समशीतोष्ण जलवायु में उत्तम मानी गई हैं।

(८) **अन्वेषण**—भूमि-क्षरण और भू-संरक्षण सम्बन्धी समस्याओं पर अन्वेषण करने और आवश्यक संख्या में कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिये व्यवस्था की जानी चाहिये और इस कार्य में प्रचार और प्रदर्शन द्वारा किसानों की रुचि जाग्रत करके उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जाना चाहिये।

(९) **खेती की योजनाएँ**—अन्त में, हमको यह नहीं भूलना चाहिये कि हमारा उद्देश्य केवल भूमि का कटाव रोकना ही नहीं है वल्कि ऐसी व्यवस्था करना है कि हमारे देश की प्रत्येक एकड़ भूमि का सर्वोत्तम उपयोग हो सके। अतएव हमको सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार कार्यक्रम के अन्तर्गत सहकारी आधार पर थोड़े-थोड़े गांवों के लिये सम्मिलित रूप से खेती की योजनाएं (Farm Plans) बनानी चाहियें जिससे हमारे किसानों को यह जानकारी दी जा सके कि उनको आयोजित रूप से कौन-कौन सी फसलें पैदा करनी हैं और चर-भूमि, फसलों के हेर-फेर, खेतों की उपज वढ़ाने, पशुपालन, सिंचाई, वाढ़-नियन्त्रण आदि विषयों में उनको किस योजना को काम में लेना है।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत भू-संरक्षण[1]—भारत में प्रथम पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत व्यवस्थित रूप से भू-संरक्षण का कार्य आरम्भ किया गया था। लगभग २५० कृषि और वन-अधिकारियों को भू-संरक्षण के तरीकों में प्रशिक्षण दिया जा चुका है। १९५२ में जोधपुर में एक मरुस्थल वनारोपण और अन्वेषण

1. Second Five Year Plan, pp. 300—312.

केन्द्र की स्थापना की गई और योजना-काल के उत्तरार्द्ध में पाँच क्षेत्रीय अन्वेषण-प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये।[1] बम्बई, आन्ध्र, उड़ीसा, पं० बंगाल, मद्रास, पंजाब, सौराष्ट्र, तिरुवांकर-कोचीन, अजमेर, कच्छ और मणीपुर के राज्यों में ग्यारह प्रारम्भिक योजनाएँ (Pilot Projects) चलाई गई, जिनमें विशेषज्ञों के निर्देशन में भू संरक्षण के तरीकों का प्रदर्शन किया जाता है। इनमें स्थानीय किसानों का सहयोग प्राप्त किया जाता है। कई स्थानों में निरीक्षण-सर्वेक्षण (Reconnaissance Survey) का कार्य भी किया गया जिससे सब नदी-घाटियों के ऊपरी भागों में तत्काल भू-संरक्षण कार्य की आवश्यकता प्रकट हुई है। भाकरा क्षेत्र में तो १९५१-५२ ही से वनारोपण आदि भू-संरक्षण के कार्य किये जा रहे हैं। अनुमान है कि प्रथम योजना काल में कुल मिलाकर ७,००,००० एकड़ भूमि पर भू-संरक्षण कार्य किया गया है जिसमें से लगभग दो-तिहाई अकेले बम्बई राज्य में हुआ है।

इसी काल में राजस्थान के मरुस्थल का प्रसार रोकने से सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं का विस्तार से अध्ययन किया गया है। पश्चिमी राजस्थान में १५० मील लम्बी सड़कों के किनारे वृक्ष लगाये गये है और १०० वर्ग मील का क्षेत्र चरागाहों के सुधार और परीक्षणात्मक वनारोपण के लिए चुना गया है।

अनुमान है कि दूसरी योजना के अन्तर्गत ३० लाख एकड़ क्षरित भूमि पर भू-संरक्षण कार्य किया जायगा जिसमें २० लाख एकड़ कृषि भूमि, ३,५०,००० एकड़ मरुस्थली और समुद्र-तटीय उड़ने वाले बालू के टीलों से ढकी हुई भूमि, ३,३०,००० एकड़ नदी-घाटियों की भूमि, १,७०,००० एकड़ पर्वतीय भूमि, १,५०,००० एकड़ जल-मार्गों और खड्डों वाली भूमि और १,००,००० एकड़ बंजर भूमि शामिल है।[2]

भू संरक्षण मंडल और कानून—१९५३ में राष्ट्रीय भू-संरक्षण कार्यक्रम संगठित करने के लिए एक केन्द्रीय भू-संरक्षण मंडल की स्थापना की गई और लगभग सब राज्यों में इसी प्रकार के भू-संरक्षण मंडल स्थापित कर दिये गये हैं। प्रथम योजना में राज्यों द्वारा भू-संरक्षण के लिए उपयुक्त कानून बनाने की सिफारिश की गई थी। बम्बई, उत्तर-प्रदेश, सौराष्ट्र आदि राज्यों में ऐसे कानून बना दिये गये हैं और कुछ अन्य राज्यों में ऐसे कानून विचाराधीन हैं। केन्द्रीय मंडल ने इस सम्बन्ध में एक आदर्श विधेयक तैयार करके राज्यों को भेजा है।

भू संरक्षण अन्वेषण, सर्वेक्षण और प्रशिक्षण—हम बतला चुके हैं कि भू संरक्षण का कार्य प्रत्येक क्षेत्र की मिट्टी और जलवायु को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। भारत सरकार ने देहरादून, कोटा, बासद, बिलारी, ओटकमंड और जोधपुर में ६

१. जोधपुर केन्द्र का युनेस्को की सहायता से विस्तार करके इसको केन्द्रीय एरिड जोन रिसर्च इन्स्टीट्यूट बना दिया गया है।

२. संक्षिप्त द्वितीय पंचवर्षीय योजना, पृ० १११।

अन्वेषण-प्रशिक्षण केन्द्र विभिन्न प्रकार की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए खोले हैं। ये केन्द्र भू-संरक्षण के प्रभावकारी और व्यावहारिक तरीकों की खोज कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त कुछ राज्यों ने भी अलग अन्वेषण-केन्द्र खोले हैं। क्षेत्रीय आधार पर निरीक्षण-सर्वेक्षण (Reconnaissance Survey) की भी व्यवस्था की गई है जिसके आधार पर उपयुक्त कार्यक्रम बनाये जा सकते हैं। अनुमान है कि दूसरी योजना के अन्तर्गत भू-संरक्षण कार्यक्रमों के लिए लगभग ४,००० विभिन्न स्तर के विशेषज्ञों की आवश्यकता होगी। इनके प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की गई है।

भू-संरक्षण के प्राविधिक पहलू पर अन्वेषण के साथ ही इसकी मानवी समस्याओं पर ध्यान देना आवश्यक है और ऐसी प्रणालियाँ, प्रक्रियाएँ और संस्थाओं का विकास किया जाना चाहिये जिनके द्वारा संरक्षण के तरीकों का ज्ञान देहाती लोगों तक पहुँचाया जा सके और इनके अपनाने में उनकी सहायता की जा सके। उदाहरणार्थ, मौजूदा बदलते हुए खेतों और चराई के तरीकों को बन्द करने से ग्राम्य-जीवन और अर्थ-व्यवस्था के तरीकों में बड़े परिवर्तन होंगे। अतः भू-क्षरण नियंत्रण कार्यक्रम में शिक्षा और पुनर्वास के कार्यक्रम भी समाविष्ट होने चाहिएँ। योजना आयोग की राय में ये सब कार्य राष्ट्रीय विस्तार सेवा द्वारा किये जाने चाहिएँ। इनके लिए प्राविधिक निर्देशन, निरीक्षण और वित्तीय सहायता मुख्यतः ऋणों के रूप में दी जानी चाहिये। साथ ही ग्राम पंचायतों जैसी स्थानीय संस्थाओं का विकास किया जाना चाहिए जिससे जनता स्वयं इन कार्यक्रमों का उत्तरदायित्व वहन कर सके।

अभ्यास

(१) मिट्टियों का आर्थिक महत्व समझाइये और भारत में पाई जाने वाली मुख्य प्रकार की मिट्टियों का वर्णन कीजिये।

(२) भू-क्षरण के क्या कारण हैं? इससे क्या हानियाँ होती है? भू-क्षरण रोकने के लिये क्या उपाय किये जाने चाहियें।

(३) भारत में भू-संरक्षण पर टिप्पणी लिखिये।

(राजस्थान १९५७, आगरा ५९)

सन्दर्भ ग्रन्थ

(1) Sir T. Vijayaraghavacharya : Land and Its Problems (O. U. P. Bombay).

(2) J. C. Brown and A. K. Dey : India's Mineral Wealth, 3rd. ed. (O. U. P. London, 1955)

(3) डी० एम० आनन्द : भारत में भू-संरक्षण (भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद, दिल्ली, १९५३).

(4) संक्षिप्त द्वितीय पंचवर्षीय योजना (योजना आयोग, दिल्ली, १९५६—पन्द्रहवाँ अध्याय)।

पाँचवाँ अध्याय

भारत की खनिज सम्पत्ति

आकर प्रभवः कोशः

खानें कोश का स्रोत हैं। —कौटिल्य

खनिज सम्पत्ति का महत्व—किसी देश के आर्थिक जीवन में उसकी खनिज सम्पत्ति का बड़ा महत्व है। शान्ति और युद्ध, दोनों ही परिस्थितियों में, खनिज पदार्थ आधुनिक उद्योगों के आधार का काम करते हैं। कोयला, विभिन्न प्रकार के खनिज तेल और आणविक धातुएँ आधुनिक युग में शक्ति के प्रमुख साधन हैं। इसीलिए कोयले को औद्योगिक विकास का पिता माना जाता है। निर्माण-उद्योग, रासायनिक उद्योग, इस्पात और अल्युमिनियम तथा अन्य धात्विक और सामरिक उद्योगों के लिए कच्चा माल भी खानों ही से प्राप्त होता है। विभिन्न प्रकार की मिट्टियाँ और लवण भी जो खेतों को उपजाऊ बनाते हैं हमको खानों से मिलते हैं। खनन-उद्योग में हजारों-लाखों मनुष्यों को रोजगार मिलता है। खनिजों को लाने-लेजाने के लिए परिवहन के साधनों का विकास किया जाता है। खनिज पदार्थ अन्तर्देशीय और विदेशी व्यापार में भी एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। राज-कोश के स्रोत के रूप में सदा ही से खानों का बड़ा महत्व रहा है।

किसी देश का औद्योगिक और आर्थिक विकास वहाँ की खनिज सम्पत्ति की विभिन्नता, प्रचुरता और उत्तमता पर निर्भर करता है। संयुक्त राष्ट्र के एशिया और सुदूर पूर्व के आर्थिक आयोग (Ecafe) ने खनिज साधनों संबंधी अपनी रिपोर्ट में देश के आर्थिक विकास में खनिज सम्पत्ति के महत्व पर अच्छा प्रकाश डाला है। इस रिपोर्ट के अनुसार आर्थिक विकास में खनिज सम्पत्ति का हिस्सा चार बातों पर निर्भर है—

(क) खनिज उद्योग से किस सीमा तक उपयोगी पदार्थ मिलते हैं और औद्योगिक विकास की गति तेज होती है;

(ख) खनिज उद्योग से किस सीमा तक श्रमिकों को रोजगार और प्रशिक्षण मिलता है;

(ग) खनिज उद्योग से किस सीमा तक अन्य उद्योगों के विकास में सहायता मिलती है;

(घ) खनिज उद्योग से किस सीमा तक निर्यात योग्य पदार्थ मिलते हैं जिन विकास के लिए पूँजीगत पदार्थ (मशीनें आदि) मँगाने के लिए विदेशी विनिमय प्राप्त हो सके।

खनिज सम्पत्ति के सम्बन्ध में एक और बात पर ध्यान देना आवश्यक है। यद्यपि खनिज सम्पत्ति एक प्रकृति की देन है तथापि यह अन्य प्राकृतिक देनों की तरह अक्षय नहीं होती है। किसी देश की खानें एक बार खाली हो जाने पर फिर नहीं भरी जा सकती हैं। अतएव खनिज पदार्थों के उपयोग में बड़ी सावधानी रखी जानी चाहिये और खनिजों की यथेष्ट सुरक्षा और सदुपयोग किया जाना चाहिये।

भारत की खनिज नीति

यद्यपि प्राचीन काल से भारत में खान खोदने और धातुओं को गलाने की कला चली आई है तथापि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों तक हमारे देश में आधुनिक व्यवस्थित ढंग से खाने खोदने के बहुत कम प्रयत्न किये गये थे। कुछ लोगों का विश्वास था कि खनिज पदार्थों की दृष्टि से भारत गरीब है। सरकार ने भी खनिजों के विकास की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। परन्तु बाद में खोज से अनेक महत्वपूर्ण खनिजों का पता चला और पूर्वेक्षण के विकास के फलस्वरूप १८९९ में भारत सरकार को पूर्वेक्षण लाइसैन्स और खान खोदने के ठेके देने के लिए नियम बनाने पड़े। परिवहन के साधनों के विकास, प्रथम महायुद्ध के लिए अनेक खनिजों की आवश्यकता और देश में औद्योगिक प्रगति के कारण खनिज पदार्थों के उत्पादन को प्रोत्साहन मिला और लाइसेंस लेने वालों की संख्या २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ३७० से बढ़कर १९३० तक ७०६ हो गई। १९४६ के अन्त तक भारतीय संघ में २०९० खनिज अधिकार प्रदान किये गये। भारत की खानों से निकाले गये खनिज पदार्थों का कुल मूल्य भी १९०८ में १½ करोड़ से बढ़कर १९३८ में ४४ करोड़ रु० हो गया।[1] इन तीस वर्षों में खनिज उद्योग की उल्लेखनीय प्रगति हुई। कोयला, तेल और लोहे के क्षेत्रों का पता लगाया गया। केरल के समुद्र तट की रेत से इल्मेनाइट (Ilmenite) और जिर्कोन (Zircon) निकाला जाने लगा। कोलार की सोने की खानों का विकास हुआ और भारत अभ्रक तथा मैंगनीज (Manganese) का संसार का सबसे बड़ा उत्पादक हो गया। परन्तु हमारे देश में अधिकांश खनिज पदार्थों का कच्ची शक्ल में निर्यात होता था और इनसे बनी हुई वस्तुओं का आयात होता था। हमारी अधिकांश खानें विदेशियों के हाथों में थीं जो भविष्य की परवाह न करते हुए खानों से कम से कम समय में अधिक से अधिक माल निकालने का प्रयत्न करते थे। यद्यपि इससे सरकार को रायल्टी और श्रमिकों को रोजगार मिलता था, तथापि खनिजों के निर्यात से देश को ऐसी हानि होती थी कि जिसकी पूर्ति असम्भव थी।

नई खनिज नीति—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने नई खनिज नीति अपनाई जिसका उद्देश्य खनिजों की रक्षा करना और उनको देश के हित में

1. Brown and Day : Indian's Mineral Wealth, pp. XIII-XV.

प्रयोग करना है। खनिज पदार्थों का पता लगाने के लिए "जिओलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया" का विकास किया गया और खनिज पदार्थों की रक्षा करके, नाश रोकने और कुशल प्राविधिक नियन्त्रण के अधीन काम की व्यवस्था करने के लिए 'ब्यूरो ऑफ माइन्स' की स्थापना की गई। १६४८ में खान तथा खनिज व्यवस्था और विकास अधिनियम बनाया गया तथा शोध कार्य के लिए कई प्रयोगशालाएँ स्थापित की गई।

योजना आयोग ने देश के औद्योगिक और आर्थिक विकास में खनिजों के महत्व को देखते हुए इनकी रक्षा और उपयोग के लिए नई नीति प्रस्तावित की जिसकी मुख्य बातें निम्नांकित है :—

(१) खनिजों की मात्रा और उपयोगिता की पूरी जानकारी प्राप्त करना ;

(२) खान खोदने के तरीकों में सुधार करना जिससे बढ़िया और घटिया सब किस्म के खनिजों का उपयोग हो सके;

(३) सैनिज महत्व के खनिजों के विकास पर विशेष ध्यान देना;

(४) खनिज उद्योगों, खनिजों के व्यापार और मण्डियों से सम्बन्धित आँकड़ों को इकट्ठा करना;

(५) अभ्रक, मेंगनीज आदि कच्ची शक्ल में निर्यात किये जाने वाले खनिजों का यथासम्भव देश में माल तैयार करके निर्यात करना; और

(६) खनिजों के सम्बन्ध में व्यवस्थित अनुसन्धान का प्रबन्ध करना।

उपर्युक्त नीति के अनुसार पहिली योजना में कुछ विशेष महत्वपूर्ण खनिजों के बारे में सुआयोजित सर्वेक्षण और ब्यौरेवार पड़ताल की व्यवस्था की गई। पहली योजना में धातुओं को साफ करने में काम आने वाले खनिज कोयले का भण्डार सुरक्षित रखने की सिफारिश की गई। तदर्थ १६५२ में कोयला खान संरक्षण और सुरक्षा अधिनियम बनाया गया और केन्द्रीय कोयला मण्डल स्थापित किया गया। धातु कार्मिक कोयले का उत्पादन धीरे धीरे कम किया गया और मध्यप्रदेश में मैंगनीज, राजस्थान (जावर) में सीसा, जस्ता और खम्भात में तेल की खोज की गई। स्टेन्डर्ड वेक्यूम आइल कं० से प० बंगाल में पैट्रोल की खोज के लिए समझौता किया गया और जैसलमेर में विभागीय तौर पर तेल की खोज आरम्भ की कई।

दूसरी योजना में खनिज—दूसरी योजना के औद्योगिक विकास के कार्य को पूरा करने के लिए खनिज पदार्थों की मात्रा और गुणों के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करना आवश्यक हो गया। अतएव जहाँ पहली योजना में खनिजों के विकास के लिए ६ करोड़ रु० और बड़े तथा मध्यम आकार के उद्योगों के विकास के लिए १४६ करोड़ रु० रखे गये थे दूसरी योजना में इन कार्यों के लिए क्रमशः ७३ करोड़ रु० और ६१७ करोड़ रु० स्वीकार किये गये। ६० लाख टन इस्पात के लक्ष्य को प्राप्त करने

के लिए बड़ी मात्रा में खनिज लोहा, कोयला, चूने का पत्थर आदि चाहिये। इसी तरह अल्युमिनियम उद्योग के विस्तार के लिए बोक्साइट और सिमेन्ट उद्योग के विस्तार के लिए चूने का पत्थर, जिप्सम और क्ले की आवश्यकता होती है। अतएव और चीजों के अलावा कोयला, तेल, मैंगनीज, क्रोमाइट, जिप्सम, सीसा, जस्ता और रांगा का पता लगाने के लिए पड़ताल की व्यवस्था की गई। इसके लिए "जिओलौजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया" और "इण्डियन ब्यूरो ऑफ माइन्स" का विस्तार किया गया है। नई औद्योगिक नीति के अधीन कोयला और तेल के अतिरिक्त कुछ और महत्वपूर्ण खनिजों को सार्वजनिक क्षेत्र में ले लिया गया है और इनका विकास करने के लिए १५ नवम्बर १९५८ को "राष्ट्रीय खनिज विकास निगम" की स्थापना की गई है।

दूसरी योजना में देश के खनिज तेल के साधनों की खोज और विकास पर भी ध्यान दिया जा रहा है। अगस्त १९५६ में "तेल और प्राकृतिक गैस आयोग" की स्थापना की गई थी जिसको रूस और रूमानिया के विशेषज्ञों की सहायता से १९५७ में ज्वालामुखी (पंजाब) में तेल और गैस और १९५८ में खम्भात (गुजरात) के पास तेल खोज निकालने में सफलता मिली है। इसके अतिरिक्त प० बंगाल में "स्टैण्डर्ड वैक्यूम आइल कं०" और आसाम में "आसाम आइल कं०" के सहयोग से खोज जारी है। इस क्षेत्र के तेल को साफ करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में दो तेल-शोधन के कारखाने गौहाटी और बरूनी में बनाने का निश्चय किया गया है।

भारत के प्रमुख खनिज

ब्राउन और डे ने अपनी पुस्तक (India's Mineral Wealth) में भारत की खनिज सम्पत्ति का वर्णन पाँच भागों में किया है:—(१) खनिज ईंधन, (२) धातुएँ और उनके अयस्क (Ores), (३) इमारती और निर्माण कार्य में प्रयुक्त होने वाले पदार्थ, (४) रत्न अर्थात् कीमती और अर्द्ध-कीमती पत्थर और (५) जल तथा मिट्टियाँ। हम जल और मिट्टियों का वर्णन पिछले दो अध्यायों में कर चुके हैं। इस अध्याय में पहले चार प्रकार के प्रमुख खनिजों का संक्षिप्त विवरण देकर हम यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि वे हमारे आर्थिक और औद्योगिक विकास के लिए कहाँ तक पर्याप्त हैं।

(१) खनिज ईंधन

खनिज ईंधन में कोयला और पेट्रोल मुख्य हैं।

(अ) कोयला—कोयला शक्ति का प्रमुख स्रोत है और इसीलिए इसे औद्योगिक विकास का पिता माना जाता है। यह भारत का सबसे अधिक मूल्यवान खनिज पदार्थ है और इसका निकालना हमारे महत्वपूर्ण उद्योगों में एक है। सामान्यतः कोयले की खानों में और उनके आस-पास ३,२०,००० से अधिक मजदूरों को रोजगार मिलता

है। कोयला निकालने में भारत का स्थान राष्ट्र-मण्डल में दूसरा और समस्त संसार में आठवाँ है।
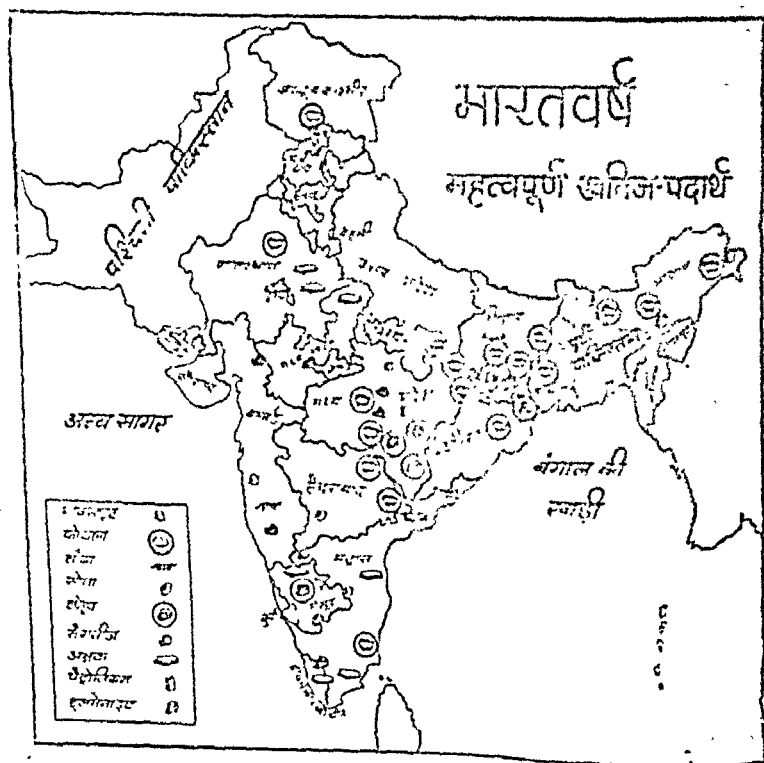
चित्र-संख्या १० —भारतवर्ष में खनिज पदार्थ

भारत में कोयला निकालने का काम १८ वीं शताब्दी के अन्त में आरम्भ हुआ। रेलों के निर्माण से कोयले की माँग बढ़ी। तब से मन्दी के दिनों को छोड़ कर इसका उत्पादन बराबर बढ़ता रहा है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि भारत में साधारण कोयले का भण्डार २००० करोड़ टन और उत्तम कोयले का भण्डार ५०० करोड़ टन है। परन्तु हमारे देश में कोक बनाने योग्य कोयले की कमी है। कोयला क्षेत्र समिति (१९४६) के अनुसार देश में कोक कोयले की मात्रा ७० से ७५ करोड़ टन है, जो उत्पादन की वर्तमान मात्रा को देखते हुए ६५ वर्षों में समाप्त हो सकता है। कुछ विशेषज्ञों का अनुमान इससे दुगना है। फिर भी यह सत्य है कि यदि इस श्रेणी के कोयले की रक्षा नहीं की गई तो हमारे इस्पात उद्योग को धातु-कार्मिक कोयले के लिये विदेशों पर निर्भर रहना होगा।

भारत में प्राप्त होने वाले कोयले का ९८ प्रतिशत से ऊपर प्रायद्वीप की गोंडवाना चट्टान प्रणाली से प्राप्त होता है जिसका अधिकांश भाग पश्चिमी बंगाल, बिहार और उड़ीसा राज्यों के अन्तर्गत आ गया है। कोयले की प्रमुख खानें पश्चिमी बंगाल में रानीगंज, बिहार में झरिया, बोकारो, रामगढ़ और करनपुर तथा उड़ीसा में तालचीर और रामपुर में हैं। इन तीनों राज्यों के अतिरिक्त थोड़ी बहुत मात्रा में मध्य-प्रदेश, आन्ध्र, काश्मीर, मद्रास और राजस्थान में भी लिग्नाइट जाति का घटिया कोयला पाया जाता है।

यद्यपि कोयले का उद्योग हमारे देश का प्रमुख उद्योग है तथापि इसमें कई कमियाँ हैं जिनका निवारण होना चाहिये।

(१) देश में कोक बनाने योग्य कोयले की कमी है। अतएव भारतीय कोयला क्षेत्र समिति के सुझाव के अनुसार इस प्रकार के कोयले का निर्यात बन्द कर दिया गया है और रेलों तथा अन्य उद्योगों में कोक कोयले के स्थान पर अन्य प्रकार के कोयले से काम लेकर इस कोयले को लोहा और इस्पात के उद्योगों के लिए आरक्षित रखने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(२) भारत की अधिकांश कोयले की खानें एक ही प्रदेश में केन्द्रित हैं, इसलिये दूर के स्थानों को कोयला भेजने पर हमारी रेल व्यवस्था पर बड़ा भार पड़ता है और बहुत व्यय होता है। अतएव दूर के स्थानों में विशेष कर दक्षिण और पश्चिम के राज्यों में कोयले की खानों का विकास किया जाना चाहिये।

(३) भारत में कोयले की खानें २००० फुट से अधिक गहरी चली गई हैं और इनमें गर्मी के कारण काम करने में कठिनाई होती है। नीचे के कोयले की सुव्यवस्था के लिए कोयला क्षेत्र समिति ने सिफारिश की है कि राज्य को २५०० फुट से नीचे सब कोयला मुआवजा देकर ले लेना चाहिये।

(४) जहाँ रूस में ऐसी कोयले की खानों का विकास किया जा रहा है जिनमें खान खोदने का सारा काम केवल मशीनों से ही होगा वहाँ भारत में आज भी कोयला काटने के लिए मशीनों का बहुत कम प्रयोग होता है।

(५) हमारे देश में कोयले पर वैज्ञानिक अनुसंधान की भी कमी है। यदि अनुसंधान संस्थाएँ यह काम अपने हाथ में ले लें तो कई महत्वपूर्ण सहायक उपज के पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं।

भारत सरकार उपयुक्त कमियों को दूर करने के लिये प्रयत्नशील है। सन् १९२६ में कोयला श्रेणीकरण मण्डल की स्थापना की गई थी। सन् १९३४ में कोयले को जमा करके रखने के लिये एक कानून बनाया गया था और मण्डल स्थापित किया गया था। सन् १९५२ के कानून के आधीन बनाये गये कोयला मण्डल को कोयले की रक्षा के लिये और भी अधिकार दिये गये हैं। साथ ही कोक कोयले की रक्षा के लिये, कोयला धोने के लिए कारखाने भी खोले गये हैं।

पहली योजना के आरम्भ में कोयले का उत्पादन ३२३ लाख टन था जो बढ़कर सन् १९५५ ई० में ३८२ लाख टन हो गया। अनुमान है कि दूसरी योजना में अपनाये गये उद्योगों, तापीय विद्युत और रेलों के विकास के कार्य-क्रमों को देखते हुए भारत में कोयले की माँग बढ़कर ६ करोड़ टन हो जायगी अर्थात् कोयले के उत्पादन में २·२ करोड़ टन की वृद्धि करनी होगी। इसके लिये मौजूदा खानों से अधिक कोयला निकालना होगा और नये क्षेत्रों में भी काम शुरू करना होगा। फिलहाल यह निश्चय किया गया है कि सार्वजनिक क्षेत्र की खानों से १·२ करोड़ टन और निजी क्षेत्र की खानों से १ करोड़ टन अतिरिक्त कोयला प्राप्त किया जाना चाहिये। कोक बनाने के योग्य कोयले की रक्षा करने के लिये रेलों तथा अन्य उद्योगों को जो अन्य प्रकार के कोयलों से काम चला सकते हैं कोक कोयले के स्थान पर धीरे-धीरे दूसरी किस्म के कोयले का प्रयोग करना चाहिये। सरकार ने कोयला धोने के कारखानों की समिति का यह प्रस्ताव भी मान लिया है कि दूसरी श्रेणी तक के समस्त कोक कोयलों को धोया जाना चाहिये। देश में कोयला धोने के तीन कारखाने मौजूद हैं जो ताता कम्पनी और इण्डियन आइरन एण्ड स्टील कम्पनी को धुला हुआ कोयला देते हैं। रूरकेला और भिलाई के इस्पात के कारखानों के लिये पहिले धुले हुये कोयले की पूर्ति करने के लिए एक कोयला धोने का कारखाना बोकारो या करगली में तथा एक दुर्गापुर के आस-पास बनाने का विचार है। कोयला धोने के और भी कारखाने खोलने के प्रस्ताव विचाराधीन हैं और दूसरी योजना में इनके लिये आवश्यक धनराशि की व्यवस्था की गई है। तृतीय योजना के अन्त तक कोयले का वार्षिक उत्पादन ९७ मिलियन टन करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

(आ) **पैट्रोल**—आधुनिक संसार में औद्योगिक और सामरिक दृष्टि से खनिज तेल का बड़ा महत्व है। तेल से मोटरें, हवाई जहाज, पानी के जहाज, रेलें तथा छोटे-बड़े कारखानों के इन्जन चलाने के अतिरिक्त रोशनी करने, शृङ्गार की चीजे बनाने, नाइलन और रंग-रोगन बनाने का काम होता है। जहाँ तक तेल के सामरिक महत्व का प्रश्न है श्री फील्ड वेल्ड ने अपनी पुस्तक 'आइल एण्ड वार' में बतलाया है कि, "संसार की अधिकतर युद्ध ज्वालाओं के पीछे इन खनिज पदार्थ का ही हाथ है।"

बर्मा और पाकिस्तान के अलग हो जाने के बाद भारत में केवल आसाम राज्य के लखीमपुर जिले में डिग्बोई और सुरमाघाटी में बदरपुर में व्यापारिक मात्रा में तेल निकलता है। इन स्थानों के अतिरिक्त थोड़ी मात्रा में लखीमपुर के माकूम नामडंग क्षेत्र और सुरमाघाटी में पथारिया में भी तेल पाया गया है। डिग्बोई में सन् १८८८ में पहले-पहल तेल के लिए कुए की खुदाई आरम्भ हुई थी और १८९२ में तेल निकलने लगा तब से लेकर १९५० तक इस क्षेत्र से कुल १५·५८ करोड़ गैलन

तेल प्राप्त हुआ और १९५० में समाप्त होने वाले पाँच वर्षों में औसत वार्षिक उत्पादन ६५६ लाख गैलन रहा।[1] बदरपुर क्षेत्र में १९१७ में तेल निकालना आरम्भ हुआ; परन्तु १९३३ में पानी की अधिकता के कारण काम बन्द कर दिया गया। सन् १९५३ में 'आसाम आइल कम्पनी' को डिग्बोई से १८ मील पश्चिम में नहरकटिया में भी तेल मिला है। हाल ही में खम्भात और बड़ौदा के पास भी तेल मिलने की सूचना मिली है।

औद्योगीकरण की प्रगति से हमारी वार्षिक माँग जो १९४७ में २० लाख टन थी आजकल लगभग ६० लाख टन हो गई है और १९६६ तक १४० लाख टन तथा १९७१ तक २५० लाख टन होने का अनुमान है। हमारा वर्तमान वार्षिक उत्पादन ५ लाख टन है जो संसार के कुल उत्पादन का केवल ०·०१ प्रतिशत है और हमारे वार्षिक माँग के केवल ८ प्रतिशत भाग को पूरा करता है। शेष माँग को पूरा करने के लिये भारत को लगभग १०० करोड़ रुपये का तेल प्रतिवर्ष बाहर से मँगाना पड़ता है। तेल की कमी को पूरा करने के लिए भारत सरकार कच्छ, सौराष्ट्र, जैसलमेर, काँगड़ा (ज्वालामुखी), आसाम और बंगाल आदि स्थानों में जहाँ तेल मिलने की सम्भावना है, विशेषज्ञों द्वारा खोज करवा रही है। तीसरी पंचवर्षीय योजना में तेल को प्राथमिकता दी जायेगी और अनुमान है कि हमारा वार्षिक उत्पादन ५ लाख टन से बढ़कर १९६५ तक ४० लाख टन हो जायगा। साथ ही भारत सरकार के प्रोत्साहन से देश में तीन बड़े तेल-शोधन कारखाने विदेशी कम्पनियों द्वारा स्थापित किए जा चुके हैं जिनमें बर्मा शेल और स्टैण्डर्ड आइल कम्पनियों के कारखाने ट्राम्बे में और कॉलटेक्स का विशाखापत्तनम् में बनाए गए हैं। इन कारखानों में क्रूड आइल से पेट्रोल तथा अन्य पदार्थ तैयार किए जाते हैं। एक तेल-शोधन का कारखाना हमारे देश में पहले ही डिग्बोई में था और भारत सरकार सोवियत सहायता से एक और कारखाना बेरूनी (बिहार) तथा एक गोहाटी में चलाने का विचार कर रही है। आशा है कि इन प्रयत्नों के फलस्वरूप तेल के लिए विदेशों पर हमारी निर्भरता बहुत कम हो जायगी। इनके अतिरिक्त चीनी के कारखानों से प्राप्त होने वाले शीरे से सुरासार (Power Alcohol), लकड़ी के कोयले से उत्पादक गैस और घटिया किस्म के पत्थर के कोयले से कृत्रिम पैट्रोल तैयार करके विदेशों पर आत्म-निर्भरता कम करने का प्रस्ताव भी रखा गया है।

२ धातुएँ और उनके अयस्क

ब्राउन और डे ने धातुओं और उनके अयस्कों को निम्नांकित ७ भागों में विभाजित किया है :—

(१) बहुमूल्य धातुएँ;

---

1. Brown and Day : India's Mineral Wealth, p. 100.

(२) अलोह धातुएँ;
(३) लोहा और सम्बन्धित धातुएँ;
(४) इस्पात को कठोर बनाने वाली धातुएँ;
(५) हल्की धातुएँ;
(६) आणविक धातुएँ;
(७) औद्योगिक महत्व की दुर्लभ धातुएँ।

(१) बहुमूल्य धातुएँ—बहुमूल्य धातुओं में सोना और चाँदी अधिक महत्वपूर्ण हैं और हम संक्षेप में इन्हीं का वर्णन करेंगे।

(अ) सोना—भारत में प्राचीन समय से सोना निकालने का काम होता आया है। परन्तु आजकल हमारे देश में निकाले जाने वाले सोने की मात्रा समस्त संसार के उत्पादन का केवल तीन प्रतिशत है। यद्यपि हमारे देश में बहुत कम मात्रा में सोना निकलता है, तथापि हमारे देश में सोने की बहुत बड़ी माँग है और बड़ी मात्रा में देश में सोने का आयात होता है।

भारत में सोने की सबसे बड़ी खानें मैसूर राज्य के कोलार जिले में इसी नाम के स्थान में हैं, जो मद्रास से १२५ मील पश्चिम में और समुद्र तट से २८०० फुट ऊँचाई पर स्थित हैं। हमारे देश में सोने के वार्षिक उत्पादन का ९७ प्रतिशत इन्हीं खानों से प्राप्त होता है। कार्यारम्भ के समय से लेकर मार्च १९५१ तक इस क्षेत्र से कुल १९९·६१ करोड़ रुपयों की कीमत का २,१८,४२,९०२ औंस सोना निकाला गया था। इससे ३७·८२ करोड़ रुपये लाभ के रूप में बाँटे गए और मैसूर राज्य को २३·८१ करोड़ रुपयों की आय हुई।[1] सबसे अधिक उत्पादन (६,१६,७५८ औंस) १९०५ में हुआ। तब से बराबर उत्पादन घटता जा रहा है और आजकल लगभग दो लाख औंस प्रतिवर्ष उत्पादन होता है। उत्पादन घटने का प्रधान कारण यह है कि कोलार की खानें बहुत गहरी (भूमि से लगभग १०,००० फुट और समुद्र तल से लगभग ७,००० फुट) नीचे चली गई हैं और इतनी गहराई में तापक्रम की अधिकता से कार्य करने में बड़ी कठिनाई होती है। फिर भी आशा की जाती है कि कोलार कुछ वर्षों तक सोने का एक महत्वपूर्ण उत्पादक बना रहेगा। कोलार के अतिरिक्त बम्बई के धारवाल, आन्ध्र के अनन्तपुर, बिहार के छोटा नागपुर तथा भूतपूर्व हैदराबाद राज्य के रायचूर, दोआब और गुलबर्ग जिलों में भी सोने की खानें पाई जाती हैं। इनमें केवल हट्टी (हैदराबाद) की खानें ही विशेष आशाप्रद हैं। इसके अतिरिक्त देश के अनेक स्थानों पर नदियों की रेत को धोकर भी बहुत थोड़ी मात्रा में सोना निकाला जाता है; परन्तु हमारे कुल उत्पादन में इसका भाग नगण्य है।

---

1. Brown and Day : India's Mineral Wealth p. 125

(आ) चाँदी—हमारे देश में चाँदी का उत्पादन नगण्य है। कोलार और अनन्तपुर की खानों में सोने के साथ कुछ चाँदी भी मिली हुई मिलती है। इसी प्रकार उदयपुर (राजस्थान) की जावर की खानों में सीसे और जस्ते के साथ क्रमशः २४ और ५ औंस चाँदी प्रति टन मिली हुई होती है जो अलग की जाती है। अनुमान है कि यहाँ एक लाख औंस चाँदी प्रतिवर्ष प्राप्त होती है। हमारे देश में चाँदी का उत्पादन कम और उपयोग अधिक होता है। **हमको बड़ी मात्रा में विदेशों से चाँदी मँगवानी पड़ती है।**

(२) अलोह धातुएँ—अलोह धातुओं में—(अ) ताँबा, (आ) सीसा, (इ) जस्ता और (ई) राँगा मुख्य हैं।

(अ) **ताँबा**—यद्यपि प्राचीन काल में भारत में ताँबा निकालने और गलाने का काम कई स्थानों पर होता था, तथापि आधुनिक काल में यह बहुत ही छोटे पैमाने पर रह गया और आज से ५०–६० वर्ष पूर्व तो यह बन्द सा हो गया था। हमारे देश में ताँबे की खानें बिहार के सिंहभूम, मानभूम और हजारीबाग जिलों में, मध्य-प्रदेश के जबलपुर और नरसिंहपुर, आन्ध्र के नेलौर, मैसूर के चितलदुर्ग, राजस्थान के अलवर और झून-झूनु जिलों में और हिमालय की तराई में अनेक स्थानों पर पाई जाती हैं। पिछले पांच वर्षों में हमारे देश में ताँबे का **उत्पादन लगभग ३५० हजार टन रहा है जो हमारी वर्त्तमान आवश्यकता का १५ प्रतिशत है। अतएव हमको बड़ी मात्रा में विदेशों से ताँबा मँगवाना पड़ता है।** यद्यपि हमारे घरेलू काम-काज में आजकल ताँबे और पीतल के स्थान पर अन्य धातुओं के बने हुए वर्तनों का प्रयोग बढ़ रहा है, तथापि देश में औद्योगिक विकास के साथ ताँबे की माँग अवश्य बढ़ेगी। हमारी वर्तमान और बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए और देश को इस सम्बन्ध में आत्मनिर्भर बनाने के लिए सरकार को सिंहभूम, राजस्थान और सिक्किम की खानों का विकास करना चाहिये।

(आ) सीसा (Lead)—यद्यपि इस शताब्दी के आरम्भ में बिहार के मानभूम क्षेत्र में तथा बाद में मैसूर के मेतड़ी और काश्मीर के कुलू क्षेत्र में सीसा निकालने के प्रयत्न किये गये थे, परन्तु वे सब आर्थिक दृष्टि से निराशाजनक सिद्ध हुए। द्वितीय महायुद्ध के दिनों में राजस्थान में उदयपुर के पास जावर की प्राचीन खानों को पुनः जारी किया गया और सन् १९४५ से 'मेटल कॉरपोरेशन ऑफ इण्डिया लिमिटेड' इन खानों को चला रहा है। सन् १९५३ और १९५४ में इन खानों से दो हजार टन सीसा प्रतिवर्ष निकाला गया था। सीसे की यह मात्रा हमारी **आवश्यकता की पूर्ति के लिए काफी नहीं है और हमको प्रति-वर्ष सात-आठ हजार टन सीसा विदेशों से मँगवाना पड़ता है।**

(इ) जस्ता (Zinc)—हम बतला चुके हैं कि राजस्थान में उदयपुर में

भारत के मैंगनीज के भण्डार के विश्वसनीय आँकड़े प्राप्त नहीं हैं। परन्तु अनुमान है कि उत्तम श्रेणी का मैंगनीज १½ से २ करोड़ टन और साधारण श्रेणी का लगभग ११ करोड़ टन है। मैंगनीज भण्डार की दृष्टि से भारत का नम्बर विश्व में तीसरा है।[1] पिछले ५० वर्षों में मैंगनीज के उत्पादन का वार्षिक औसत लगभग ६ लाख टन रहा है। पहली योजना के अन्त तक यह बढ़कर १५ लाख टन हो गया था। दूसरी योजना के अन्त तक इसका उत्पादन २० लाख टन होजाने की आशा है।

मैंगनीज का अल्पांश हमारे देश में काम आता है और अधिकांश विदेशों को निर्यात होता है। दूसरी योजना की अवधि में उत्पादन के साथ-साथ निर्यात की मात्रा भी ५० प्रतिशत बढ़कर १५ लाख टन हो जाने की आशा है।

इस्पात बनाने के लिए हमारी मैंगनीज की बढ़ती हुई आवश्यकता को देखते हुए उत्तम श्रेणी की यथेष्ट मात्रा का संरक्षण अपेक्षित है और इस ओर प्रयत्न किया जा रहा है। योजना आयोग ने सिफारिश की है कि इस महत्वपूर्ण खनिज के भण्डार का ठीक-ठीक अनुमान लगाया जाना चाहिये और खनिज का निर्यात करने के स्थान पर फेरो-मैंगनीज तैयार करके निर्यात किया जाना चाहिये।

(३) लोहे से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं में रूपक या निकल (Nickel) और कोबाल्ट (Cobalt) उल्लेखनीय हैं। भारत में बिहार के सिंहभूम और राजस्थान की खेतड़ी की खानों में ताँबे के साथ मिला हुआ रूपक पाया जाता है। परन्तु अब तक हमारे देश में इस धातु को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया गया है और हम इसके आयात पर ही निर्भर हैं। कोबाल्ट (Cobalt) जो अनेक मिश्रधातुएँ बनाने के काम आता है खेतड़ी (राजस्थान) और क्योंझर (उड़ीसा) में पाया जाता है। यदि राजस्थान की ताँबे की खानें बड़े पैमाने पर काम करने लगें तो कोबाल्ट भी प्राप्त किया जा सकता है।

(४) इस्पात को कठोर बनाने वाली धातुएँ—इस्पात को कठोर बनाने वाली धातुओं में क्रोमियम, टिटानियम और टंग्स्टन मुख्य हैं।

(अ) क्रोमियम (Chromium)—यह चाँदी के समान चमकीली धातु होती है जो धातु कार्मिक उद्योग में, रिफ्रेक्टरी ईंटें बनाने में, विशेष प्रकार के कठोर इस्पात बनाने में, रसायन बनाने तथा कलई करने के काम में आती है। क्रोमियम का खनिज क्रोमाइट (Chromite) होता है जो भारत के मैसूर राज्य के मैसूर और हसन, बिहार के सिंहभूम, उड़ीसा के क्योंझर और धेन्कानेल; मद्रास के सलेम; आन्ध्र के कृष्णा और बम्बई के रत्नागिरी तथा सावन्तवाड़ी जिलों में पाया जाता है। भारत में इस खनिज का कुल भण्डार १३·२ लाख टन होने का अनुमान है।[2]

(1) India 1960, p. 13.
(2) India 1960, p. 13.

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में इस खनिज का अधिकांश निर्यात किया जाता था। परन्तु इसका सामरिक महत्व देखते हुए सन् १९४८ में इसके निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यह हमारे देश का सौभाग्य है कि जहाँ संसार के अन्य इस्पात बनाने वाले देशों को इस खनिज का आयात करना पड़ता है वहाँ भारत में यह प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। हमारे देश में इस्पात उद्योग की उन्नति के साथ-साथ इस खनिज की माँग बढ़ेगी। अतएव हमको घटिया किस्म के खनिज को काम में लाने की ओर ध्यान देना चाहिए तथा फेरोक्रोम या अन्य तैयार माल के रूप में इसका निर्यात करना चाहिए।

सन् १९५० से आरम्भ होने वाले पांच वर्षों में भारत में क्रमशः १७, ३५, ६५ और ४६ हजार टन क्रोमाइट निकाला गया था।

(आ) टिटानियम (Titanium)—यह चांदी जैसी सफेद, हल्की परन्तु मजबूत और कठोर धातु होती है जिसमें जंग नहीं लगता। यह मुख्यतः इल्मेनाइट (Ilmenite) से निकाली जाती है और विशेष प्रकार के इस्पात तैयार करने के काम आती है। इल्मेनाइट सफेदा और रंग-रोगन बनाने के काम में भी आता है।

भारत में इल्मेनाइट केरल राज्य के समुद्र तट पर बहुतायत से पाई जाने वाली काली रेत में मिलता है। केरल की रेत में ५० से ७० प्रतिशत तक इल्मेनाइट होता है जिसमें से ५५ प्रतिशत टिटानियम निकलता है और उपोत्पत्ति के रूप में मोनेजाइट, जिरकोन आदि प्राप्त होते है। इस प्रकार की रेत मलाबार, रामनाथपुरम् तंजोर और विशाखापत्तनम् में भी पाई जाती है। पिछले पाँच वर्षों में भारत में इल्मेनाइट का उत्पादन २०० से २५० हजार टन के बीच में रहा है। १९३८ तक संसार के कुल उत्पादन का लगभग तीन-चौथाई इल्मेनाइट भारत में निकाला जाता था। आजकल अमेरिका भारत से बाजी मार गया है।

(इ) टंग्स्टन (Tungsten)—यह एक कठोर, भारी धातु होती है जो ३३८२° सैं० तापक्रम पर पिघलती है और धातुओं में सबसे मजबूत मानी जाती है। इसका पतला तार बिजली के बल्ब, ट्यूबें, रेडियो बाल्व आदि बनाने के काम आता है। परन्तु इसका सबसे बड़ा उपयोग मिश्रधातुएँ बनाने में होता है। इस धातु का इतना महत्व है कि यदि कोई राष्ट्र इस धातु से वंचित कर दिया जाय तो उसकी सैनिक शक्ति नष्ट हो जायगी और औद्योगिक जीवन ठंडा पड़ जायगा।

टंग्सटन खनिज वूल्फ्रेम (Wolfram) से बनता है। भारत में वूल्फ्रेम की सबसे बड़ी खानें डिगाना (राजस्थान) में रावत की पहाड़ी पर हैं। परन्तु यहाँ भी यह खनिज सीमित मात्रा में और निम्न श्रेणी का पाया जाता है। इसलिये संकट के समय यह खनिज निकाला जाता है, तथापि सामान्यतः इसका निकालना लाभदायक नहीं होता।

(५) हल्की धातुएँ—हल्की धातुओं में अल्युमिनियम (Aluminium) मैगनेशियम (Magnesium) और वेरिलियम (Berylium मुख्य हैं।

(अ) अल्युमिनियम—यह श्वेत धातु इस्पात और पीतल की अपेक्षा बहुत हल्की होती है और इसकी आसानी से कई चीजें बनाई जा सकती हैं। अल्युमिना (Alumina) या अल्युमीनियम ऑक्साइड जिससे अल्युमीनियम बनाया जाता है, बॉक्साइट (Bauxite) से निकाला जाता है। भारत में कुल मिलाकर २·८ करोड़ टन से अधिक उत्तम श्रेणी के बॉक्साइट का भण्डार होने का अनुमान लगाया जाता है।[1] यह मुख्यतः बिहार, मध्य प्रदेश, बम्बई, मद्रास, मैसूर, उड़ीसा और कश्मीर में पाया जाता है। राजस्थान के बीकानेर, कोटा तथा टोंक जिले में घटिया किस्म का बॉक्साइट मिलता है। सन् १९५० में हमारे देश में बॉक्साइट का उत्पादन ६४ हजार टन था, सन् १९५४ में यह बढ़कर ७५ हजार टन हो गया और सन् १९६०-६१ तक १७५ हजार टन हो जाने का अनुमान है। हमारे देश में पहले पहल सन् १९४४ में भारतीय बॉक्साइट से अल्युमिनियम बनाना आरम्भ हुआ। पहली योजना के आरम्भ में भारत में अल्युमिनियम का उत्पादन लगभग ३½ हजार टन था। सन् १९५५-५६ में यह ७½ हजार टन हो गया और दूसरी योजना के अन्त तक यह २५,००० टन हो जायगा।

(आ) मैगनेशियम—यह श्वेत चमकीली धातु अल्युमीनियम से भी हल्की होती है और बड़ी तेज रोशनी देती हुई जलती है। यह मैगनेसाईट (Magnesite) डोलोमाइट (Dolomite) और ब्रुसाइट (Brucite) खनिजों से निकाली जाती है। भारत में इनकी खानें सलेम (मद्रास), हसन (मैसूर), अलमोड़ा (उत्तर प्रदेश), ईडर (बम्बई), बाघपुर (राजस्थान) और बिहार में पाई जाती हैं।

(इ) बेरिलियम—यह अल्युमिनियम से हल्की और मैगनेशियम से भारी होती है और यह तांबा पीतल तथा लोहे आदि के साथ मिलाकर मिश्रधातुएँ बनाने के काम आती है। बेरिलियम धातु निकालने के लिए बेरिलियम प्रधान कच्चा खनिज है। भारत में बेरिलियम राजस्थान, बिहार तथा आंध्र में मुख्यतः अभ्रक के साथ मिलता है। सन् १९४६ तक इसका अधिकांश निर्यात होता था। परन्तु तब से इसका निर्यात निषेध कर दिया गया है। इसका समस्त भण्डार आणविक शक्ति आयोग ने ले लिया है और इसके आंकड़ों का प्रकाशन बन्द कर दिया गया है।

(६) आणविक धातुएँ—आणविक धातुओं में यूरेनियम (Uranium) थोरियम (Thorium) तथा सिरियम (Cerium) आदि मुख्य हैं।

(अ) यूरेनियम—यह श्वेत चमकीली रेडियोधर्मी धातु होती है जिसमें से अल्फा, बीटा और गामा किरणें निकलती हैं जो आणविक शक्ति के सृजन करने

(1) India 1960, P. 14.

में प्रयोग होती हैं। यह धातु जिन खनिजों में मिलती हैं वे बहुधा विशेष प्रकार की रवेदार आग्नेय चट्टानों में पाई जाती है। इसके अतिरिक्त केरल समुद्र तट की मोनेजाइट रेत में थोड़ी मात्रा में यूरेनियम पाया जाता है। भारत सरकार ने बम्बई के पास ट्राम्बे में एक आणविक भट्टी बनाई है। आशा की जाती है कि दूसरी योजना काल में इससे बिजली तैयार होने लगेगी।

(आ) थोरियम—यह धातु प्रायः यूरेनियम के साथ-साथ ही पाई जाती है। खनिज मोनेजाइट में, जो भारत में केरल, बिहार और मैसूर में पाया जाता है, ये दोनों धातुएँ विद्यमान हैं। अनुमान है कि केरल में मोनोजाइट का भण्डार २० लाख टन है और वार्षिक उत्पादन लगभग ५ हजार टन है। मोनेजाइट का सरकारी कारखाना १९५२ से केरल राज्य में काम कर रहा है।

(इ) सिरियम और दुष्प्राप्य मिट्टियाँ—दुष्प्राप्य मिट्टियों में लगभग १७ तत्व शामिल किये जाते हैं जो प्रायः साथ-साथ मिलते हैं और बड़ी कठिनाई से अलग किये जा सकते हैं। इनका मुख्य स्रोत खनिज मोनेजाइट है जिसका भन्डार भारत में संसार में सबसे अधिक और सबसे उत्तम है।

(७) औद्योगिक महत्व के दुष्प्राप्य तत्व—इन तत्वों में सुरमा (Antimony), संखिया (Arsenic और पारा (Mercury) मुख्य हैं।

(अ) सुरमा—यह धातु इतना कुरकुरा होता है कि अकेला काम में नहीं आता, परंतु सीसे और राँगे के साथ मिलाकर मिश्रधातुएँ बनाने के काम में आता है। इसके अतिरिक्त आँखों में डालने, शोर, माचिसें, रंग-रोगन आदि बनाने के काम में आता है। भारत में पञ्जाब में लाहुल और मैसूर में चितलदुर्ग क्षेत्र में बहुत कम मात्रा में सुरमा पाया जाता है।

(आ) संखिया—यह भी सुरमे की तरह बहुत कुरकरी किन्तु चमकदार धातु होती है। भारत में कुमायूँ की पहाड़ियों, दार्जिलिंग (बङ्गाल) और हजारी बाग (बिहार) में यह धातु पाई जाती है। यह ताँबे के साथ मिलाकर रेल के इंजन और मोटरों के कई भाग बनाने के काम में आती है। लेकिन इसका प्रधान उपयोग कीड़े मारने की दवाइयाँ तैयार करने में किया जाता है।

(इ) पारा—यह सबसे भारी तत्वों से से एक है और ऐसी धातु है जो साधारण तापक्रम में भी द्रव अवस्था में पाई जाती है। यह खनिज सीनाबार (Cinabar) से प्राप्त होती है जो मुख्यतः इटली, स्पेन व अमेरिका में पाया जाता है। भारत में केरल, मध्य प्रदेश के कुछ स्थानों में इस खनिज का पता चला है। परन्तु यह सूचना अधिक विश्वसनीय नहीं है।

(३) इमारती और निर्माण कार्य आदि में काम आने वाले पदार्थ

(अ) इमारती पत्थर—भारत में मिलने वाले इमारती पत्थर का पूरा वर्णन

लगभग असम्भव है। देश में बहुत कम ऐसे स्थान हैं जहाँ इमारती पत्थर उपलब्ध नहीं होते। प्रायद्वीप के पठार में उत्तम श्रेणी का पत्थर मिलता है जिससे दक्षिण के मन्दिर तथा बम्बई राज्य की अजन्ता और अलोरा की गुफाएँ बनी हुई हैं। विन्ध्य प्रणाली में शाहबाद, मिर्जापुर तथा चुनार के पास उत्तम श्रेणी का रेतीला पत्थर (Sandstone) मिलता है जिससे सारनाथ आदि प्राचीन स्तम्भ बने हुए हैं। पूर्वी राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में लाल पत्थर मिलता है जिससे फतेहपुर सीकरी और आगरा की मुगलकालीन इमारतें बनी हुई हैं। पश्चिमी भारत में प्रसिद्ध "पोरबन्दर का पत्थर' प्राप्त होता है जो बम्बई तथा अन्य नगरों में बहुतायत से काम में लिया जाता है। राजस्थान तथा मध्य प्रदेश में कोटा, बूँदी, निम्बाहेड़ा, जोधपुर, जैसलमेर में भी उत्तम श्रेणी का इमारती पत्थर पाया जाता है।

(आ) सड़क बनाने के काम का पत्थर– भारत के कछारी और तटीय मैदानों को छोड़कर सड़कें बनाने और रेल की पटरियाँ बिछाने के काम का पत्थर प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है।

(इ) स्लेटें—भारत में कुमायूँ, काँगड़ा, जम्बा के पहाड़ी इलाकों और हिमाचल प्रदेश में मन्डी जिले में उत्तम श्रेणी की सिलेटें निकलती हैं जो पहाड़ी गाँवों और कस्बों में मकानों पर छतें डालने के काम आती हैं। इसी प्रकार पञ्जाब के गुड़गाँव, बिहार के मुंगेर जिलों में तथा खड़गपुर की पहाड़ियों में भी स्लेटें पाई जाती हैं। पढ़ाई के काम में आने वाली स्लेटें सबसे अधिक आन्ध्र के कुरनूल और नेलोर जिलों में पाई जाती हैं।

(ई) चूने का पत्थर—भारत के अनेक भागों में चूना बनाने का उत्तम पत्थर बहुतायत से निकलता है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थानों पर खड़िया, कङ्कर इत्यादि बहुतायत से पाये जाते हैं। जिन राज्यों में चूने का पत्थर बहुतायत से निकलता है उनमें उड़ीसा, बिहार, मध्य-प्रदेश, आन्ध्र, मैसूर, मध्य-भारत और राजस्थान मुख्य हैं। यह पत्थर चूना और सीमेंट बनाने के अतिरिक्त अनेक घरेलू कामों में भी लिया जाता है।

(उ) जिप्सम (Gypsum)-- सीमेंट बनाने में चूने के पत्थर के अतिरिक्त जिप्सम की भी आवश्यकता होती है। यह खनिज उत्तम खाद का काम भी करता है तथा इससे रासायनिक उर्वरक (अमोनियम सल्फेट), प्लास्टर आफ पेरिस और गन्धक का तेजाब भी बनाया जाता है। भारत के जिन राज्यों में बड़ी मात्रा में जिप्सम पाया जाता है उनमें राजस्थान, पन्जाब, मद्रास, उत्तर प्रदेश, काश्मीर, मध्य प्रदेश और बम्बई मुख्य हैं। भारत में जिप्सम का कुल भण्डार १६२२ लाख टन है जिसमें ३८५ लाख टन जोधपुर और ७६० टन बीकानेर डिवीजन में है। पहली योजना के आरम्भ में जिप्सम का वार्षिक उत्पादन लगभग २ लाख टन था। उर्वरक उद्योग की उन्नति के कारण

यह बढ़कर १९५७ में ९.२ लाख टन हो गया था। दूसरी योजना का लक्ष्य इसे १९.७ लाख टन करना है।[1]

(ऊ) **संगमरमर तथा अन्य सजावट के पत्थर**—भारत में संगमरमर की सबसे प्राचीन और प्रसिद्ध खानें राजस्थान में मकराना नामक स्थान पर स्थित हैं। आगरे का ताजमहल और कलकत्ते का विक्टोरिया स्मारक इसी पत्थर के बने हुए हैं। मकराने के अतिरिक्त राजस्थान में राजनगर (उदयपुर), अलवर तथा जयपुर में भी बड़ी मात्रा में संगमरमर पाया जाता है। सफेद संगमरमर के अतिरिक्त हरा, गुलाबी, काला, पीला आदि विभिन्न रंगों का संगमरमर भी देश के अनेक भागों में पाया जाता है। संगमरमर का सबसे अधिक उत्पादन मकराना (राजस्थान) में होता है। परन्तु परिवहन की अत्यधिक लागत और बिजली के अभाव में इन खानों का समुचित विकास नहीं किया जा सका है।

(ए) **कुम्हारी कला, उष्म-सह पदार्थ और कांच बनाने के काम में आने वाले खनिज**—भारत में प्राचीन समय से उत्तम श्रेणी की कुम्हारी कला चली आई है और देश के अनेक भागों में इस उद्योग के योग्य उत्तम मिट्टियाँ प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। चीनी के बर्तन बनाने के लिये भी उत्तम श्रेणी की चीनी मिट्टी देश के अनेक स्थानों में बहुतायत से मिलती है। उष्म-सह ईंटें, प्याले इत्यादि बनाने के लिए उत्तम मिट्टियाँ भी देश में अनेक स्थानों पर पाई जाती हैं। काँच और काँच के बर्तन बनाने के काम में आने वाली बालू रेत भी भारत में अनेक स्थानों पर बहुतायत से पाई जाती है।

(ऐ) **खेती के काम में आने वाले खनिज**—वनस्पति के लिये जिस खुराक की जरूरत होती है उसमें नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटाश मुख्य हैं। खेत में फसल लगाने के बाद जब इन तत्वों की कमी हो जाती है, तो खाद के द्वारा इनकी पूर्ति की जाती है। नाइट्रोजन की पूर्ति करने के लिए "अमोनियम सल्फेट" मुख्य है। "फासफोरस" की पूर्ति के लिये "सुपरफोस्फेट" काम में आता है। पोटाश की पूर्ति के लिये प्राकृतिक खनिज शोरा (Potassium Nitrate) काम में आता है। कई वर्षों पूर्व भारत को संसार के शोरे की पूर्ति का एक प्रकार से एकाधिकार प्राप्त था। परन्तु पिछले कुछ वर्षों में चिली की प्रतियोगिता से इस व्यवसाय को भारी क्षति हुई है। हमारे देश में शोरा मुख्यतः बिहार में मुजफ्फरपुर, सारन, चम्पारन, दरभंगा, शाहाबाद, गया और मुंगेर जिलों में; उत्तर-प्रदेश के कानपुर, गाजीपुर, इलाहाबाद और बनारस जिलों में; पंजाब के अमृतसर, हिसार, हाँसी आदि क्षेत्रों में और मद्रास तथा बम्बई के कतिपय क्षेत्रों में पाया जाता है। यह खाद के अतिरिक्त काँच बनाने, विस्फोटक पदार्थ बनाने और खाद्य पदार्थों की रक्षा में भी काम करता

1. Indian Information (1-7-59), p. 404.

है। एक समय शोरा बड़ी मात्रा में भारत से निर्यात किया जाता था; लेकिन पिछले कुछ वर्षों से देश में इसका उपयोग बढ़ गया है और निर्यात बहुत कम हो गया है।

(ओ) उद्योगों में काम आने वाले खनिज—उद्योगों में काम आने वाले खनिजों में गंधक, नीला थोथा, हरा थोथा, फिटकरी, नमक और अभ्रक मुख्य हैं। हम यहाँ गंधक और नमक का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

(क) गंधक—यह शोरा बनाने, कीड़े मारने की दवाइयाँ बनाने, रबड़, रेअन तथा रंग, रोगन बनाने के काम आती है। सल्फर-डाई-आक्साइड गंधक का तेजाब बनाने और कागज, चीनी, ऊन, रेशम इत्यादि का रंग उड़ाने आदि औद्योगिक कार्यों में लाया जाता है। वास्तव में औद्योगिक जीवन में गंधक के तेजाब का इतना महत्व है कि किसी देश में होने वाली गन्धक के तेजाब की खपत को देखकर उस देश की औद्योगिक उन्नति का अनुमान लगाया जा सकता है। संसार में जितना गंधक निकलता है उसका ९० प्रतिशत अमेरिका से प्राप्त होता है। पाकिस्तान बन जाने के बाद भारत में आन्ध्र के कृष्णा जिले में और बंगाल की खाड़ी के कुछ द्वीपों में नगण्य मात्रा में गंधक पाई जाती है। अतएव भारत को गंधक का तेजाब बनाने के लिये जिप्सम पर निर्भर करना होगा जो कि बड़ी मात्रा में देश में उपलब्ध है।

(ख) नमक - यह न केवल मनुष्यों तथा पशुओं के लिए आवश्यक माना गया है; परन्तु इसके अनेक औद्योगिक उपयोग भी होते हैं। यह मुख्यतः सोडा एश, सोडियम सल्फेट, कास्टिक सोडा, हाइड्रोक्लोरिक एसिड, सोडियम, क्लोरीन आदि रसायन बनाने के काम आता है। खाद्य पदार्थों को सुरक्षित रखने, चमड़ा, साबुन, रंग-रोगन तथा चीनी के बर्तन बनाने और बर्फ जमाने आदि के काम में भी आता है। यह समुद्र के पानी से, खारे पानी की झीलों से या पहाड़ों से प्राप्त किया जाता है। अंग्रेजी शासन-काल में भारतीय साम्राज्य में प्रतिवर्ष लगभग २० लाख टन नमक की खपत होती थी। जिसमें से १५ लाख टन देश में बनाया जाता था और शेष मध्य पूर्व तथा यूरोप से आयात किया जाता था। अँग्रेजी काल में भारत में बनाये गये नमक पर एक रुपया नौ आने प्रति मन की दर से कर लगाया जाता था और आयातित नमक पर ऊँची दर से कर लगाया जाता था जिससे देश में नमक उद्योग को संरक्षण प्राप्त था। यह कर सन् १९३१ से सन् १९४७ तक जारी रहा और १९४७ में भारत स्वतंत्र होने पर हटा लिया गया। सन् १९४७ में देश के विभाजन से पंजाब के नमक के पहाड़ पाकिस्तान में चले गये। भारत सरकार ने बम्बई, मद्रास तथा सौराष्ट्र में अतिरिक्त नमक बनाकर इस कमी को पूरा किया। सन् १९५० में समाप्त होने वाले चार वर्षों में भारत में नमक का वार्षिक उत्पादन २१ लाख टन था जिसमें बम्बई से २८·९० प्रतिशत, मद्रास से ३२ प्रतिशत, राजस्थान से २१·२ प्रतिशत और सौराष्ट्र से १२·२ प्रतिशत प्राप्त हुआ। इस अवधि में २·६ लाख टन नमक का प्रतिवर्ष आयात हुआ।

इस प्रकार देश में लगभग २३·७ लाख टन नमक की प्रतिवर्ष खपत हुई। अनुमान है कि ४½ लाख टन नमक प्रतिवर्ष औद्योगिक कार्य में काम आया था और शेष खाने के काम में। इस प्रकार हमारे देश में प्रति व्यक्ति नमक की खपत लगभग १२ पाउण्ड प्रतिवर्ष होती थी। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत का उत्पादन संसार के कुल उत्पादन का लगभग पाँच प्रतिशत था। पिछले पाँच-सात वर्षों में नमक की स्थिति में भारी परिवर्तन हो गया है। सन् १९५१ में २६·४ लाख टन और सन् १९५२ में २८·२ लाख टन उत्पादन हुआ जब कि देश में २६·२ लाख टन की खपत होने का अनुमान है। इस प्रकार दो लाख टन नमक निर्यात के लिये प्राप्त हो गया। दूसरे शब्दों में, भारत अब नमक का आयात करने के स्थान पर नमक का निर्यात करने लग गया है। भारत सरकार ने अप्रैल सन् १९४८ में नियुक्त की गई नमक के विशेषज्ञों की समिति की सिफारिश के अनुसार भावनगर में केन्द्रीय नमक अनुसधान संस्था स्थापित की है जिसका उद्घाटन अप्रैल १९५४ में प्रधान मंत्री द्वारा किया गया है।

(औ) विशेष उपयोग वाले खनिज—विशेष उपयोग वाले खनिजों में एसवेसटोस, अभ्रक और मुल्तानी मिट्टी मुख्य हैं।

(क) एसवेसटोस—यह एक न जलने वाला रेशेदार खनिज होता है जो विविध कार्यों में उपयोग किया जाता है। भारत में बिहार, उड़ीसा, मैसूर, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बम्बई, उत्तर प्रदेश और आन्ध्र में मिलता है।

(ख) अभ्रक—यह एक चमकदार पारदर्शक खनिज होता है जो बहुत पतली-पतली परतों में विभाजित किया जा सकता है। इस पर गर्मी और बिजली का कोई प्रभाव नहीं पड़ता इसलिये यह मुख्यतः विद्युत उद्योग में पंखे, हीटर, कुकर, इस्तरियाँ आदि बनाने के काम में लिया जाता है। इसके अतिरिक्त यह भट्टियों में, खिड़कियाँ, सूराख बनाने के काम भी आता है। पीसा हुआ अभ्रक रोगन बनाने; प्लास्टिक और रबड़ की चीजें बनाने, दीवारों पर चिपकाने के कागज बनाने तथा सजावट और चिकित्सा में भी काम आता है। अतएव यह एक बड़ा सैनिक और आर्थिक महत्त्व का खनिज है।

भारत संसार का अभ्रक का सब से बड़ा उत्पादक है और संसार के कुल उत्पादन का ८० प्रतिशत अभ्रक भारत में निकलता है। परन्तु यह हमारे देश में बहुत कम काम आता है और इसका अधिकांश विदेशों को निर्यात किया जाता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हमारे निर्यात का ¾ भाग इंग्लैंड को भेजा जाता था; परन्तु आजकल हमारा सबसे बड़ा ग्राहक अमरीका है। हमारे देश के कुल उत्पादन का लगभग ७० प्रतिशत भाग बिहार राज्य से प्राप्त होता है और शेष राजस्थान, आन्ध्र, मैसूर और मध्य-प्रदेश से आता है।

अभ्रक व्यवसाय में सैकड़ों छोटे-मोटे ठेकेदार हैं जो साधनहीन होने से माल निकालते ही बीच के लोगों को बेच देते हैं और योग्य प्रबन्धक और प्राविधिक विशेषज्ञ

आदि नहीं रख सकते। इस व्यवसाय में लगभग दो लाख श्रमिक लगे हुए हैं जिनके कल्याण के लिये सन् १९४६ में निर्यात होने वाले अभ्रक पर एक विशेष कर लगाया गया है। क्योंकि अभ्रक कांट-छांट के बाद प्राकृतिक रूप में ही काम आता है, इसलिये इसका श्रेणीकरण भी बहुत कठिन होता है। अभ्रक जांच समिति (१९४६) ने अभ्रक की बिक्री की सुव्यवस्था के लिये एक विशेष संगठन बनाने की सिफारिश की है। इससे अभ्रक के श्रेणीकरण को प्रोत्साहन मिलेगा। जो व्यवसाय न केवल देश की समस्त माँग को पूरा कर सकता है, बल्कि विदेशी विनिमय प्राप्त करने का महत्वपूर्ण साधन है उसके संरक्षण और सहायता के लिए राज्य को पूरा प्रयत्न करना चाहिये। भारत में अभ्रक व्यवसाय में एक कमी यह भी है कि खान खोदते समय या काटते समय बड़ी मात्रा में अभ्रक नष्ट होता है। इस प्रकार फेंकी हुई अभ्रक को पीस कर काम में लाया जा सकता है। देश में अभ्रक को काम में लाकर उससे बनाया जाने वाला माल भी तैयार किया जाना चाहिये।

(ग) मुलतानी और अन्य मिट्टियाँ—ये मिट्टियाँ हमारे देश में सिर और कपड़ा धोने तथा खाने और औषधियों के काम में आने के अतिरिक्त रंग-रोगन, साबुन, कागज तथा न जलने वाली ईंटें बनाने के काम में आती हैं। देश के विभाजन के बाद भारत में इनका वार्षिक उत्पादन ४½ हजार टन था जिनमें से कुल ३६ टन मध्य प्रदेश से प्राप्त हुई और शेष सब राजस्थान ने, जिसमें जोधपुर से ६१·४ प्रतिशत बीकानेर से ३६·२ प्रतिशत और शेष जैसलमेर से उपलब्ध हुई।

(४) रत्न अर्थात् कीमती और अर्द्ध-कीमती पत्थर

प्राचीन और मध्यकालीन युगों में भारत संसार का कीमती पत्थरों का मुख्य उत्पादक था। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में विशेषतः महाभारत, शुक्रनीति, सुश्रुत और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हीरे-पन्ने आदि अनेक रत्नों और मणियों का विवरण मिलता है। यही नहीं प्राचीन भारत में इस सम्बन्ध में विस्तृत सूचनायें देने वाले कई विशेष ग्रन्थ भी लिखे गये थे जैसे बुद्ध भट्ट की "रत्न परीक्षा", वाराहमिहिर की "बृहत् संहिता" भोजराज की "युक्ति कल्पतरु" आदि। इन ग्रन्थों में अनेक रत्नों का विस्तृत वर्णन, वर्गीकरण, विशेषताएँ तथा प्राप्ति के स्थानों आदि का पूरा वर्णन मिलता है। भारत में अनेक प्रकार के बहुमूल्य रत्न पाये जाते हैं जिनमें हीरा, माणिक, नीलम, पुखराज, हरितमणी (फिरोजा), मरकत मणि (पन्ना) तामड़ा आदि मुख्य हैं। रत्नों का देश के आर्थिक और औद्योगिक विकास में विशेष महत्व नहीं होने से हमने यहाँ इनका वर्णन नहीं किया है।

भारत की खनिज संपत्ति के उपर्युक्त वर्णन से हमको ज्ञात होता है कि किसी देश के आर्थिक और औद्योगिक विकास के लिए जिन खनिजों की मुख्यतः आवश्यकता होती है उनमें से अधिकांश भारत में यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध है। हमारे खनिज लोहे

के भंडार संसार में सबसे अधिक हैं। मैंगनीज के भंडार की दृष्टि से भारत का नंबर संसार में तीसरा है। इस्पात को कठोर बनाने वाली धातुओं में क्रोमियम और टिटानियम आदि भी भारत में यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध हैं। अल्युमिनियम बनाने के लिए बड़ी मात्रा में बोक्साइड मौजूद है और मोनेजाइट तथा बेरिल आदि, जिनसे आणविक शक्ति प्राप्त होती है यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध हैं। अभ्रक का तो भारत को विश्व में एक प्रकार का एकाधिकार है। जिप्सम भी, जिससे रासायनिक उर्वरक तथा गंधक का तेजाब बनता है, प्रचुर मात्रा में है। हमारी प्रधान कमी खनिज ईंधन विशेषतः धातुकार्मिक कोयला और खनिज तेल के संबन्ध में है। परन्तु जल-विद्युत और आणविक शक्ति के विकास से यह कमी पूरी की जा सकती है। फिर खनिज तेल के नए स्रोतों की खोज की जा रही है और आशाप्रद नतीजे निकले है। घटिया किस्म के कोयले को इस्पात बनाने में काम में लाने के प्रयोग जारी हैं। धातुओं में हमारी मुख्य कमी चाँदी, ताँबा, सीसा, जस्ता, राँगा आदि अलोह धातुओं; निकल, कोवल्ट और टंग्स्टन तथा गन्धक और पारे की है। इन वस्तुओं के लिये हमको आयात पर निर्भर रहना होगा। परन्तु कोई भी देश प्रत्येक चीज में न पूर्णतः स्वावलम्बी हुआ है और न हो ही सकता है। कुल मिलाकर खनिज सम्पत्ति में भारत की स्थिति अनेक देशों से बहुत अच्छी है।

इस सम्बन्ध में योजना आयोग का मत भी उल्लेखनीय है। आयोग के अनुसार भारत में कोयला, खनिज लोहा, खनिज मैंगनीज, अभ्रक, सोना, इल्मेनाइट और इमारती सामग्री के उत्पादन की मात्रा उद्योगों और अर्थ-व्यवस्था के दूसरे क्षेत्रों के लिए वास्तविक महत्व की है। दूसरे खनिज जिनके भारत में अच्छे भण्डार हैं, ये हैं – बोक्साइट, औद्योगिक मिट्टियाँ, स्टीटाइट, क्रोमाइट, आणविक शक्ति वाले खनिज और रिफ्रैक्टरीज तथा अब्रेजिव खनिज। बड़े पैमाने पर औद्योगिक विकास के लिये जिन खनिजों की पूर्ति काफी नहीं है उनमें से ज्यादा महत्वपूर्ण गंधक, ताँबा, रांगा, रूपक या निकल, सीसा, जस्ता, ग्रेफाइट, कोवल्ट, पारा और द्रव ईंधन हैं। इनके अलावा भारत में औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक मूल खनिज और शक्ति के साधन उपलब्ध हैं। हालांकि देश की विशाल जनसंख्या को ध्यान में रखते हुए संसार के महत्वपूर्ण खनिज क्षेत्रों की तुलना में भारत के भण्डार अधिक नहीं हैं।[1]

परीक्षा के प्रश्न

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) भारत में खनिज सम्पत्ति के वितरण का वर्णन कीजिये और देश के औद्योगीकरण में इसका महत्व समझाइये। (१९५३)

---

1. The First Five Year Plan—A Draft Outline (July 1951) Ch. 10, p. 139.

(२) राजस्थान के खनिज और औद्योगिक साधनों पर टिप्पणी लिखिये। इन साधनों का पूरा उपयोग करने के लिए आप सरकार को क्या सुझाव देंगे। (१९५५)

(३) भारत के मुख्य खनिज पदार्थों पर टिप्पणी लिखिये। खनिज साधनों की सुरक्षा की आवश्यकता समझाइये। (१९५६)

(४) राजस्थान का विशेष उल्लेख करते हुये भारत के मुख्य खनिज पदार्थों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये। (१९६० पूरक)

संदर्भ ग्रन्थ

(1) J. C. Brown & A. K. Dey: India's Mineral Wealth, 3rd ed. (O. U. P., London, 1956)

(2) K. C. Ghosh: Economic Resources of India & Pakista (K. P. Basu, Calcutta, 1956)

(३) संक्षिप्त द्वितीय पंचवर्षीय योजना (योजना आयोग, दिल्ली, अ० १८)

छठा अध्याय

भारत की वन-सम्पत्ति

"जो मनुष्य सड़क के किनारे वृक्ष लगाता है वह उतने वर्षो तक स्वर्ग में सुख भोगता है जितने वर्ष वह वृक्ष फलता-फूलता है।" —पद्म पुराण

वनों का महत्व

किसी देश के प्राकृतिक साधनों में वहाँ की प्राकृतिक वनस्पति का महत्वपूर्ण स्थान है। इसलिए आर्थिक विकास की योजनाओं में वनों की रक्षा, विकास और सदुपयोग पर पूरा ध्यान दिया जाता है।

वनों से मिलने वाले लाभों का अध्ययन दो भागों में किया जा सकता है। (अ) प्रत्यक्ष लाभ और (आ) परोक्ष लाभ।

(अ) प्रत्यक्ष लाभ

(१) **वनों की उपज**—वनों की उपज को प्रायः दो भागों में बाँटा जाता है। (क) बड़ी उपज और (ख) छोटी उपज।

(क) **बड़ी उपज**—वनों की बड़ी उपज में वनों से प्राप्त होने वाली (i) व्यापारिक लकड़ी, (ii) साधारण जलाने की लकड़ी और (iii) घास-पात आदि शामिल किये जाते हैं।

(i) प्राकृतिक वनस्पति की विभिन्नता की दृष्टि से भारत बहुत समृद्ध है। भारत के वनों में लगभग ४००० प्रकार की लकड़ियाँ मिलती हैं जिनमें लगभग ४५० प्रकार की व्यापारिक महत्व की हैं। इनमें सागवान, साल, देवदार, चीड़, शीशम, आबनूस, चन्दन, धूप, सुन्दरी, आम, जामुन, नीम, बबूल आदि मुख्य हैं। इन लकड़ियों के विविध उपयोग हैं। खेती के औजारों के लिये बबूल, साल, देवदार; मकानों और रेल के डिब्बों तथा स्पीलरों के लिये साल; मेज-कुर्सियों, सन्दूकों, नावों, वायुयानों तथा अन्य गाड़ियों के लिये सागवान, शीशम, चीड़, स्प्रूस, सरो आम, नीम आदि; प्लाईवुड बनाने के लिये आम, सेमल, आदि; खेल कूद की सामग्री के लिये 'एश' और शहतूत; रेयन के लिये सरो आदि प्रसिद्ध हैं। प्रतिवर्ष लकड़ियों के नये उपयोग निकाले जा रहे हैं। इनके अतिरिक्त वृक्षों से तेल तथा एसीटिक एसिड, एसीटोन, मिथल, एल्कोहोल, सल्फानोमाइड और क्लोरोफार्म आदि महत्वपूर्ण रसायन प्राप्त होते हैं।

(ii) इनके अतिरिक्त भारत के वनों से प्रतिवर्ष ५० लाख टन जलाने की विविध लकड़ियाँ मिलती है। परन्तु यह पूर्ति हमारी ईंधन की माँग को पूरा करने के लिये

काफी नहीं है इसलिये गाँवों में पशुओं के गोबर को सुखाकर जलाया जाता है । यदि वनों के विकास द्वारा यथेष्ट मात्रा में ईंधन प्राप्त होने लगे तो गोबर की खाद देकर खेतों की पैदावार बढ़ाई जा सकती है ।

(iii) वनों की बड़ी उपज में जानवरों के लिये हरी तथा सूखी घास, फलियाँ और पत्तियाँ भी अपना महत्व रखती हैं ।

(ख) छोटी उपज—भारत के वनों की छोटी उपज की विविधता और प्रचुरता भी सराहनीय है । उदाहरणार्थ बाँस, बेंत, रेशे; राल, बेरजा, लाख; चमड़ा रंगने के लिये बबूल और महुआ आदि की छालें, गोंद, कत्था, शहद, हरड़, बहेड़ा, आँवले, तुलसी, सिनकोना, ब्राह्मी आदि जड़ी-बूटियाँ और चन्दन, नीम, तारपीन आदि के तेल हमको वनों से ही मिलते हैं ।

भारत सरकार के महावन-निरीक्षक श्री आर० सी० सोनी के अनुसार वनों से भारत को प्रतिवर्ष ३४ करोड़ ३० लाख रु० की लकड़ी और १२ करोड़ १० लाख रु० की बाँस, बेंत, राल, रेशे और दूसरी चीजें प्राप्त होती है । इस प्रकार देश को वनों से प्रतिवर्ष ४६ करोड़ ४० लाख रु० की आमदनी होती है । और इन पर प्रतिवर्ष १९ करोड़ ४० लाख रु० खर्च होता है । इस प्रकार २७ करोड़ का शुद्ध लाभ होता है । इस राशि को वन के प्रति एकड़ क्षेत्र पर फैलाने से २·६० रु० बैठता है ।

(२) वनाश्रित उद्योग—देश के अनेक उद्योग वनों पर आश्रित हैं । इनमें २,७५० लकड़ी चीरने की मिलें, १३८ दियासलाइयों के कारखाने, ६६ प्लाईवुड के कारखाने, २१ कागज और लुगदी के कारखाने और १७ पैन्सिलों के कारखाने हैं । इनसे तथा कत्था, राल, गोंद, बेंत, आदि वनाश्रित उद्योगों से लगभग १० लाख मनुष्यों को काम मिलता है ।

(३) वनों में अनेक प्रकार के पशु-पक्षी मिलते हैं जिनके लिये भारत जगत-विख्यात है । अनुमान है कि लगभग २ करोड़ २० लाख पशु हमारे वनों में पलते हैं जिनमें हाथी, शेर, चीते, गैंडे, सांभर, कस्तूरी मृग, चीतल आदि मुख्य हैं । वनों की झीलों, तालाबों और नदियों में मछलियाँ और मुर्गाबियाँ भरी रहती हैं । जंगली पशु-पक्षियों का शिकार किया जाता है और इनका मांस, चमड़ा और बाल आदि हमारे अनेक काम में आते हैं ।

(आ) परोक्ष लाभ

भारत की कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था में वनों के परोक्ष लाभ इनके प्रत्यक्ष लाभों से भी अधिक महत्वपूर्ण है । इनमें मुख्य निम्नांकित हैं :—

(४) पेड़-पौधों की जड़ों और पत्तियों से भूमि की उपजाऊ शक्ति बढ़ती है ।

(५) वृक्षों की जड़ें मिट्टी के कणों को पकड़े रहती हैं और वृक्षों की शाखाएँ तथा

पत्तियां भूमि को कटाव से बचने के लिये छतरी का काम करती हैं। इस प्रकार जब भूमि वनस्पति से ढकी रहती है तो मिट्टी का कटाव नहीं होता। इसी प्रकार वन तेज हवाओं या समुद्री पानी के वेग को कम करके मिट्टी की वायु-क्षरण तथा समुद्री-क्षरण से भी रक्षा करते हैं।

(६) वन वर्षा के पानी को एकदम बहने से रोकते हैं। इससे बाढ़ों की भीषणता कम होती है और नदियों में बारह महीनों पानी बना रहता है। यदि वन नहीं हों तो हमारी नदियाँ, झरने, तालाब और कुएँ एक साथ उफन पड़ें और फिर अगली वर्षा तक सूखे पड़े रहें। किसी ने ठीक कहा है कि वन वर्षा की जननी है। पेड़ों की जड़ों के साथ-साथ पानी भूमि के गर्भ में चला जाता है, जहाँ से हम कुएँ खोदकर फिर उसे निकाल सकते हैं।

(७) मरुभूमि में वृक्ष लगे रहते हैं तो रेत नहीं उड़ने पाती और मरुस्थल आगे नहीं बढ़ पाता।

(८) वनों का जलवायु पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ता है। (क) जब जल-भरी हवाएँ वनों के ऊपर होकर जाती हैं तो ठन्डी होकर वर्षा करती हैं। (ख) वृक्षों में नमी और शीतलता बनी रहती है और जलवायु मोतदिल रहती है।

(९) वनों में अनेक सुन्दर, चित्ताकर्षक और स्वास्थ्यवर्धक स्थान पाए जाते हैं

(१०) वन बाहरी आक्रमणों को रोककर देश में शक्ति और सुरक्षा स्थापित करने में सहायता करते हैं जिनके बिना आर्थिक विकास असम्भव है।

(११) वनों से राज्य को अच्छी आमदनी होती है। अनुमान है कि भारत में राज्य को वनों से कुल मिला कर लगभग ६ करोड़ रु० से अधिक आय होती।[1]

भारत का वन-क्षेत्र

विशेषज्ञों की राय है कि उत्तम कृषि और सिंचाई की दृष्टि से किसी देश के समस्त स्थल-क्षेत्र का कम से कम २५% भाग वनों से ढका हुआ होना चाहिये। ये वन देश के विभिन्न भागों में समुचित रूप से फैले हुए होने चाहियें और अनधिकार प्रवेश, दुरुपयोग तथा अति उपयोग से उनकी रक्षा होनी चाहिये।

भारत जैसे कृषि-प्रधान और गरम देश की लगभग एक-तिहाई भूमि में वन होने चाहियें। वास्तव में भारत में २·६६ लाख वर्ग मील क्षेत्र में वन हैं जो कुल क्षेत्रफल का २१·३ % है। फिर वनों का सब राज्यों में समान वितरण नहीं है। वनों का अनुपात पंजाब में ११ % उत्तर प्रदेश में १७% और बिहार में १४% है। केवल आसाम और मध्य प्रदेश में यथेष्ठ वन है। हमारे देश में प्रति व्यक्ति ०·२ हैक्टा एकड़ वन हैं जबकि सोवियत संघ में ३·५ हैक्टा एकड़ और अमेरिका में १·८ हैक्टा एकड़

1. Our Forests : Publication Division, Ministry of I. & B, G, O. I., p. 13.

वन है।[1] ये आँकड़े भी देश में वनों की कमी पूरी तरह नहीं बतलाते। हमारे अधिकांश वन नाममात्र के हैं। कुप्रबन्ध और दुरुपयोग के कारण वे भूमि की रक्षा नहीं कर पाते और बहुत कम इमारती लकड़ी देते हैं। गैर-सरकारी वनों की दशा विशेष रूप से खराब है। फिर कुछ वन मनुष्यों की पहुँच के बाहर हैं या अस्वास्थ्यकर स्थानों में है।

वनों के प्रकार[2]

किसी देश की वनस्पति वहाँ की जलवायु, मिट्टी और भूतकाल में किये गये उपयोग पर निर्भर करती है। भारत में जलवायु और मिट्टियों की विभिन्नता से अनेक प्रकार के वन पाये जाते हैं। जहाँ यथेष्ट वर्षा होती है, ऊँचे, घने और सदैव हरे वन पाये जाते है। जहाँ इतनी अधिक वर्षा नही होती पत्ते गिराने वाले (Deciduous) वन मिलते हैं। जहाँ वर्षा और भी कम होती है, कँटीली झाड़ियों
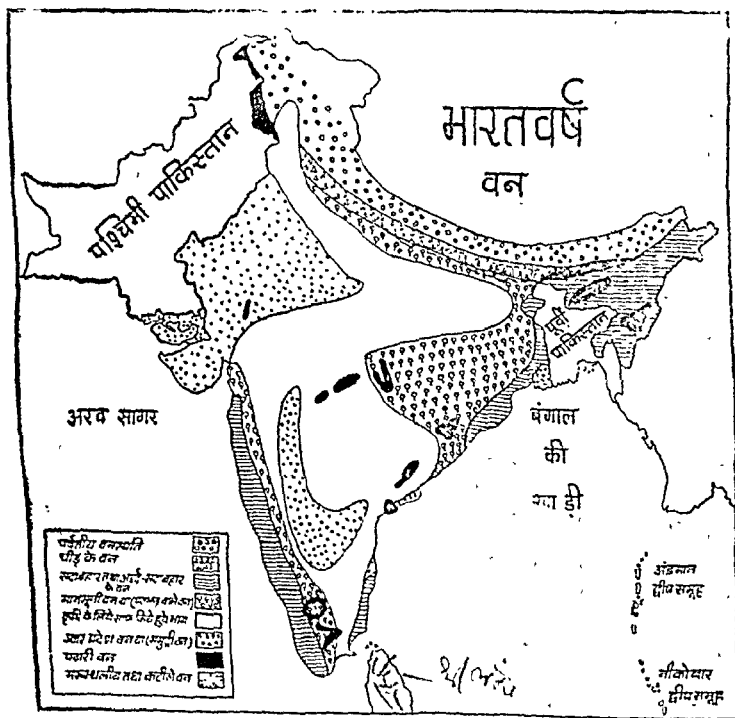
चित्र-संख्या ११—भारत के वन

1. India 1960, p. 254.
2. Our Forests : Publication Division Ministry of I. & B. G. O. I., Ch. II.

के वन होते हैं । तापक्रम के अनुसार वन उष्ण (Tropical), कम उष्ण (Sub-Tropical), सम शीतोष्ण (Temperate) और ऊँचे पर्वतीय (Alpine) होते हैं । इनके अतिरिक्त विशेष प्रकार के वन होते हैं जैसे, समुद्र की रेत पर लगे हुए वन, नदियों के डेल्टाओं की कीचड़ पर लगे हुए वन और नदियों के किनारों के वन। हम नीचे इनमें से मुख्य-मुख्य प्रकार के वनों का संक्षिप्त वर्णन करते हैं —

(१) **नम उष्ण वन** (Moist Tropical Forests)—इस प्रकार के वनों की तीन श्रेणियां होती हैं : (अ) नम उष्ण और सदैव हरे (Tropical, Wet, Evergreen). (आ) उष्ण और आधे सदैव हरे (Tropical, Semi-Evergreen) और (इ) नम, उष्ण, पत्तियाँ गिराने वाले (Tropical, Moist, Deciduous) । हम क्रम से इनका संक्षिप्त वर्णन करते हैं ।

(अ) नम, उष्ण और सदैव हरे वन देश के उष्ण भागों में जहाँ यथेष्ट (१००" से ऊपर) वर्षा होती है, पाये जाते हैं । इन वनों में १५० फुट या अधिक ऊँचे, घने और सदैव हरे वृक्ष पाये जाते हैं । ये वन दक्षिण भारत में पश्चिमी घाट, कन्नड़, तिनिवेली, मैसूर, कुर्ग, त्रावणकोर और अण्डमान में और उत्तर भारत में आसाम, बङ्गाल के उत्तर-पूर्व के पर्वतों और उड़ीसा के समुद्री किनारों पर पाये जाते हैं । इनमें बाँस और बेंत प्रधानता से लगते हैं ।

(आ) उष्ण और कम सदैव हरे वन प्रथम श्रेणी के वनों से मिलते हुए परन्तु कुछ कम ऊँचे, कम घने और सदैव हरे या पत्ते गिराने वाले वृक्षों के होते हैं और इन्हीं क्षेत्रों में पाये जाते हैं ।

(इ) नम, उष्ण और पत्तियाँ गिराने वाले वन कुछ कम वर्षा के क्षेत्रों में पाये जाते हैं। इनके वृक्ष १०० से १२० फुट तक बढ़ते हैं । इस श्रेणी के वन पश्चिमी घाट के पूर्वी ढाल, मध्य प्रदेश, बम्बई, मद्रास तथा मैसूर, कोचीन और त्रावणकोर के पश्चिमी भागों में पाये जाते हैं । इन वनों में सागवान (Teak) और चन्दन के पेड़ बहुतायत से पाये जाते हैं । उत्तर भारत में इस जाति के वन उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, पश्चिमी बंगाल और आसाम में पाये जाते हैं । इन वनों में साल (Sal) के वृक्षों की प्रधानता होती है जो ६० से ९० फुट तक ऊँचे होते है ।

(२) **शुष्क उष्ण वन** (Dry Tropical Forests)—ये वन भी दो प्रकार के होते हैं—(अ) शुष्क उष्ण पत्तियाँ गिराने वाले वन (आ) उष्ण कँटीले वन ।

(अ) शुष्क, उष्ण और पत्तियाँ गिराने वाले वन, दक्षिण और उत्तर भारत दोनों में पाये जाते है । इन वृक्षों की ऊँचाई ५० से ७५ फुट तक होती है । वर्षा ऋतु में ये वृक्ष खूब फैलते हैं परन्तु सूखी ऋतु में इन पर एक भी पत्ती नहीं रहती । वृक्षों

के नीचे छोटे बाँस, झाड़ियाँ और घास भी पाई जाती है। ग्रीष्म ऋतु में इन वनों में वहुधा आग लग जाया करती है। इनमें साल (Sal) के वृक्षों की प्रधानता होती है।

(आ) उष्ण और कँटीले वनों में २० से ३० फुट तक के बबूल आदि काँटेदार वृक्ष पाये जाते है। ये वन मध्य भारत, पंजाब, राजस्थान और उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में पाये जाते है जहाँ १०" से ३०" तक वर्षा होती है।

(३) **पर्वतीय कम उष्ण वन** (Montane Sub-tropical Forests)—ये वन दक्षिण भारत की ऊँची पहाड़ियों और उत्तर भारत में पूर्वी हिमालय और आसाम में पाये जाते हैं, जहाँ ६०" से २००" तक वर्षा होती है और बलूत (Oak) और अखरोट (Chestnut) के वृक्ष पाये जाते हैं। हिमालय के चीड़ (Pine) के वन और खासी, नागा और मणीपुर की पहाड़ियो के वन भी इस श्रेणी में आ जाते है।

(४) **पर्वतीय सम-शीतोष्ण वन** (Montane Temperate Forests)—ये वन भी दक्षिण-भारत की ऊँची पहाड़ियों और पूर्वी हिमालय तथा आसाम की पहाड़ियों पर ६००० से ६५०० फुट तक की ऊँचाई पर पाये जाते हैं जहाँ पर वर्षा का औसत ८०" होता है। हिमालय की समशीतोष्ण जलवायु में पाये जाने वाले कोणधारी (Coniferous) वन जिनमें १०० से १५० फुट तक ऊँचे स्प्रूस, देवदार और चीड़ के वृक्ष होते हैं, इसी श्रेणी में रखे जाते हैं।

(५) **ऊँचे पर्वतीय वन** (Alpine Forests)—ये वन ६५०० से १२००० फुट तक की ऊँचाई पर वहुधा हिमालय पर्वत श्रेणी पर पाये जाते हैं परन्तु ठण्ड के कारण इनकी ऊँचाई ५० या ६० फुट से अधिक नहीं होती है। चौड़ी पत्तियों वाले वृक्षों की ऊँचाई तो २० से ३० फुट तक ही होती है। ये वन सदैव हरे रहते हैं और चराई के लिये उत्तम होते हैं।

(६) **विशेष प्रकार के वन**—

(अ) **तटीय वन** (Beach Forests)—ये वन समुद्र के तट पर पाये जाते हैं जहाँ किनारों पर रेत होती है। यहां की मिट्टी समुद्र की रेत होती है जिसमें चूने के अतिरिक्त अन्य खनिजों का अभाव होता है। यहाँ तेज, नमक से लदी हुई हवायें चलती हैं और वहुधा समुद्री घास, वेलड़ियाँ और झाड़ियाँ या छोटे-छोटे सदैव हरे या पत्तियाँ गिराने वाले वृक्ष पाये जाते हैं।

(आ) **ज्वार भाटा के वन** (Tidal Forests)—ये वन समुद्र के किनारे पर नदियों के डेल्टाओं में ऐसे कीचड़ में पाये जाते है जहाँ पर समुद्र का पानी चढ़ आता है। इनमें सदैव हरे १०० फुट तक ऊँचे पेड़ होते हैं। गंगा, ब्रह्मपुत्र, महानदी, गोदावरी और कृष्णा के डेल्टाओं में ऐसे वन विद्यमान हैं।

(इ) **ताजा पानी के दलदल** (Fresh Water Swamps)—ये नदियों के

डेल्टाओं के ऊपर पाये जाते हैं जहाँ समुद्र का खारी पानी नहीं पहुँचता है। आसाम, बंगाल, उत्तर प्रदेश और मद्रास में ऐसे वन विद्यमान हैं। इनमें सदैव हरे ३० से ६० फुट ऊँचे पेड़ होते हैं। इनमें कभी-कभी बेंत पाई जाती है।

(ई) नदी-तट के वन (Riverain Forests)—ये बड़ी-बड़ी नदियों के किनारे नई कछारी मिट्टी (Alluvium) पर पाये जाते हैं। यहाँ यथेष्ट पानी होता है परन्तु मिट्टी बहुधा खुरदरी होती है और बाढ़ से कटती रहती है। इन वनों में खैर, सीसू आदि के वृक्ष पाये जाते हैं।

वनों का प्रशासन

भारत सरकार का वन-विभाग कृषि सचिवालय के अधीन है। इस विभाग का सबसे बड़ा अफसर महा-वन-निरीक्षक (Inspector General of Forests) होता है। राज्यों में वनों के प्रबन्ध के लिये वृत्त (Circles) बनाये गये हैं जो वन-रक्षक (Conservator of Forests) के अधीन होते हैं। जिस राज्य में तीन या अधिक 'वृत्त' होते हैं उनमें एक मुख्य वन-रक्षक (Chief Conservator of Forests) भी होता है। प्रत्येक 'वृत्त' में कई डिवीजन (Division) और प्रत्येक डिवीजन में कई रेन्जें (Ranges) होती हैं, जो क्रमशः 'डिवीजनल-वन-अधिकारी' और 'रेन्जर' के अधीन होती हैं। प्रत्येक रेन्ज में बीट्स (Beats) होते हैं जिनमें चौकीदार (Guards) होते हैं। इस प्रकार वनों के प्रशासनिक ढाँचे में एक ओर चौकीदार और दूसरी ओर कृषि मंत्री होते हैं।

वन उद्योग

वन-उद्योग की हीन दशा—पाश्चात्य देशों की तुलना में भारत के वन उद्योग की दशा बहुत गिरी हुई है। भारत में वनों की वार्षिक प्रति एकड़ उत्पत्ति ३·० घन फुट है जब कि अमेरिका में १८, जापान में ३७ और फ्रान्स में ५६·८ घन फुट है।[1] हमारे वन उद्योग की हीन दशा के प्रधान कारण निम्नांकित हैं :—

(१) आसाम और मध्य प्रदेश को छोड़कर शेष लगभग सब राज्यों में वनों का क्षेत्रफल न्यूनतम आवश्यक क्षेत्र से कम है और वन क्षेत्र का वितरण बड़ा असमान है।

(२) लगभग ४०% वन ऊँचे पर्वतों पर होने से मनुष्य की पहुँच से परे हैं और जहाँ पहुँच सम्भव है वहाँ भी परिवहन के साधनों की कमी से वनों का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता है।

(३) लगभग ३७% वन निजी सम्पत्ति हैं और साधारणतः बिना विचारे नष्ट किये जाते हैं। शेष ६३% सरकार की सम्पत्ति हैं परन्तु केवल ५०% वन विभागों के

(1) Indian Information, (1-8-1959), p. 385,

नियन्त्रण में है। दुर्भाग्य से कुछ समय पूर्व तक वन विभागों का उद्देश्य भी केवल वनों की रक्षा करना था। वनों का क्षेत्रफल बढ़ाने या इनसे व्यापारिक लाभ उठाने की ओर इनका ध्यान नही गया था।

(४) वन-विज्ञान और वन-रक्षण विद्या के ज्ञान के अभाव में हम वन सम्पत्ति का पूरा लाभ नहीं उठा सके है। आज भी हम अपने वनों में पाई जाने वाली कई प्रकार की लकड़ी के गुणों, महत्व और उपयोगिता के विषय में अनभिज्ञ हैं।

(५) हमारे देश में लकड़ी काटने के तरीके भी बहुत पुराने हैं। इससे बहुत सी लकड़ी व्यर्थ नष्ट हो जाती है।

६) कई राज्यों के वन विभाग अविकसित हैं। संख्या और योग्यता दोनों की दृष्टि से हमारी वन-सेवा पिछड़ी हुई है।

उन्नति के उपाय—वन हमारी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं। हमको इसी रूप में इनकी रक्षा और विकास करना होगा और इसके सर्वोत्तम उपयोग के साधन जुटाने होंगे।

(१) केन्द्रीय वन-मण्डल (Central Board of Forestry) को चाहिये कि प्रादेशिक जाँच करके प्रत्येक प्रदेश के लिए वनों का न्यूनतम प्रतिशत निर्धारित करे और वन-विभागों को इन न्यूनतम प्रतिशतों तक पहुंचाने की योजनाएँ बना कर काम करना चाहिये। सौभाग्य से हमारे देश में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यथेष्ट भूमि हैं और प्राकृतिक दशा तथा जलवायु भी अनुकूल है। जिस भूमि पर खेती नहीं की जाती है या नही की जा सकती है उस पर वन लगाये जाने चाहिएँ। जिस भूमि पर एक समय वन थे परन्तु अब नष्ट हो गये हैं वहाँ फिर से लगाये जाने चाहिएँ। ऊसर, बंजर भूमि पर भी वन लगाने के प्रयत्न किये जाने चाहिएँ। इसी प्रकार तालावों, नहरों और सड़कों के किनारे वृक्ष लगाये जाने चाहिए। जमींदारी और जागीरदारी समाप्त होने पर जो वन-भूमि सरकारी हो गई है उस पर भी वनों का विकास किया जाना चाहिये। निजी भूमि पर वन लगाने के लिये वन-विभागों द्वारा प्रोत्साहन और सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिएँ। इस प्रकार प्रत्येक प्रदेश में न्यूनतम वन-क्षेत्र का उद्देश्य प्राप्त करने का प्रयत्न होना चाहिये।

(२) कई राज्यों में वनों को सुरक्षित (Reserved), रक्षित (Protected) और अरक्षित (Unclassed or Unreserved) श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। वन रक्षा की दृष्टि से केवल प्रथम श्रेणी के वनो का उपयुक्त प्रबन्ध है। शेष दो श्रेणियों के वनों की व्यवस्था सन्तोषप्रद नहीं है। निजी वनो में तो वन रक्षा का नाम ही नहीं है। वन विभागों को 'अरक्षित' वनों के सुप्रबन्ध की व्यवस्था करनी चाहिये और निजी वनों पर भी नियन्त्रण रखना चाहिये।

(३) रेलों, सड़कों और नदियों तथा नहरों में नौ-वहन की उन्नति द्वारा उन वनों का उपयोग करना चाहिये जो इन साधनों के अभाव में उपयोग नहीं हो रहे हैं।

(४) वन-रक्षण, वृक्ष लगाने और वृक्ष काटने के वैज्ञानिक तरीकों का उपयोग किया जाना चाहिये।

(५) वन-विद्या और वन-अनुसंधान की उन्नति की जानी चाहिये। इस दिशा में देहरादून की वन-अनुसंधान-संस्था (Forest Research Institute) का कार्य सराहनीय है। इस संस्था ने लकड़ी की रक्षा करने और बाँसों को कीड़ों और रोगों से बचाने के तरीके निकाले हैं और कागज, प्लाईवुड, तारपीन आदि उद्योगों की स्थापना में सहायता की है। परन्तु इस संस्था के अनुसन्धान के परिणाम जनता तक पहुँचाने के लिये इनको प्रकाशित करने की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये और इस संस्था और उद्योगों में सम्पर्क स्थापित होना चाहिये।

(६) वन-उद्योग के व्यापारिक पहलू की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। इससे सरकार को अधिक आय होगी और देश में रोजगार बढ़ेगा।

(७) वन-विभाग के कर्मचारियों की संख्या और योग्यता में वृद्धि की जानी चाहिये; क्योंकि जमींदारी और जागीरदारी प्रथाओं की समाप्ति से अधिक वन-क्षेत्र सरकारी नियन्त्रण में आ गए हैं और वनों की जाँच पड़ताल और विकास के लिए यथेष्ट संख्या में योग्य कर्मचारियों की आवश्यकता है। राज्यों की वन-सेवा के उच्च कर्मचारियों को प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए भारतीय-वन-महाविद्यालय (Indian Forest College) देहरादून तथा रेन्जरों के प्रशिक्षण के लिए इण्डियन फोरेस्ट रेन्जर कालेज, देहरादून और रीजनल फोरेस्ट कालेज, कोयम्बेटूर कार्य कर रहे हैं। कई राज्यों में भी वन-विद्यालय हैं। इन संस्थाओं का विकास किया जाना चाहिए और इनको एक सूत्र में बांधकर एक वन-विश्वविद्यालय की स्थापना की जानी चाहिए।

(८) वनों के प्रति नया दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। हमको देश की वन सम्पदा को अपने पूर्वजों की धरोहर माननी चाहिए और हमारा कर्तव्य होना चाहिए कि इसको बढ़ा कर अपनी आने वाली पीढ़ियों को देवें। हम केवल इस सम्पत्ति का ब्याज काम में ले सकते हैं, इसके मूल को कम करना आने वाली पीढ़ियों के प्रति अन्याय होगा।

वन-नीति—वनों के प्रति जनता की भावना में परिवर्तन करने और वनों के विकास की दृष्टि से सन् १९४७ में वृक्षारोपण-आन्दोलन चलाया गया था जिसमें राज्यपालों, मुख्य मन्त्रियों तथा देश के अन्य नेताओं ने भाग लिया। सन् १९५० में भारत सरकार के कृषि मन्त्री श्री मुन्शी ने वन महोत्सव आरम्भ किया जो प्रतिवर्ष समारोह-पूर्वक मनाया जाता है। भारत सरकार ने सन् १९५२ में राष्ट्रीय

वन-नीति सम्बन्धी अपने प्रस्ताव में देश में ३५ प्रतिशत भूमि पर वन लगाने का लक्ष्य निर्धारित किया है ।[1] इस वन सम्बन्धी नीति के दो उद्देश्य हैं—

(अ) वन्य साधनों की दीर्घकालीन विकास की व्यवस्था करना और (आ) निकट भविष्य में इमारती लड़की की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरी करना ।

इस नीति के अन्तर्गत निम्नांकित बातों पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है :

(१) भूमि का ऐसा संतुलित और पूरक उपयोग करना जिससे प्रत्येक प्रकार की भूमि से अधिकतम उत्पत्ति मिले और उसका न्यूनतम ह्रास हो;

(२) पर्वतीय क्षेत्रों में बाढ़ रोकना; नदियों के किनारे और ढालू मैदानों में मिट्टी का कटाव रोकना जिससे भूमि की उपजाऊ शक्ति का क्षय नहीं हो;

(३) समुद्री किनारों और मरुभूमि (राजस्थान) की रेत को आगे बढ़ने से रोकना;

(४) यथासम्भव प्राकृतिक और जलवायु सम्बन्धी स्थिति में सुधार करने के लिये नए वन लगाना;

(५) चराई के लिये घास और खेती के औजारों और ईंधन की पूर्ति के लिये लकड़ी की व्यवस्था करना जिससे गोबर खाद के काम आ सके;

(६) सुरक्षा, परिवहन तथा अन्य उद्योगों के लिये व्यापारिक लकड़ी की स्थायी पूर्ति करना;

(७) उपर्युक्त आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ ही साथ वनों से अधिकतम आय प्राप्त करना ।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत वन

पहली पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत वन लगाने, वनों में आने-जाने के लिये सड़कें आदि बनाने तथा छोटे-छोटे बागान लगाने की अनेक योजनाएँ शुरू की गई थीं :—(१) ७५ हजार एकड़ से अधिक भूमि पर फिर से वन अथवा बागान लगाये गए, (२) वनों में तीन हजार मील से अधिक लम्बी सड़कें बनाई गई या उनमें सुधार किया गया और (३) दो करोड़ एकड़ से अधिक गैर-सरकारी वन्य-प्रदेश को सरकार ने अपने नियन्त्रण में ले लिया । (४) पहली योजना का लक्ष्य इमारती लकड़ी की पूर्ति २ या २½ लाख टन बढ़ाना था जो योजना पूर्व वार्षिक पूर्ति का १० प्रतिशत होता है । इस कार्यक्रम के अन्तर्गत दियासलाई बनाने की लकड़ी पर विशेष ध्यान दिया गया और तीन हजार एकड़ बागान प्रतिवर्ष लगाये गये । (५) देहरादून में किये जाने वाले अन्य अनुसंधान कार्यों की भी काफी उन्नति हुई ।

1. Indian Information, Vol. I. No, 5 of 15-11-1958; p. 695.

दूसरी योजना में वनों के सम्बन्ध में जो कार्यक्रम अपनाया गया है उसकी मुख्य बातें निम्नांकित हैं :—

(१) तीन लाख अस्सी हजार एकड़ इलाके के वनों की दशा सुधारना।

(२) वन विस्तार कार्यक्रम के अन्तर्गत नहरों की पटरियों और सड़कों के किनारे-किनारे वन लगाना, वाढ़ों और रेगिस्तान के विस्तार के रोकने के लिए पेड़ लगाना तथा बंजर भूमि में वृक्ष लगाना।

(३) ५० हजार एकड़ इलाके में व्यापारिक महत्व की इमारती लकड़ी के बागान लगाना।

(४) ५० हजार एकड़ अतिरिक्त भूमि में दियासलाई की लकड़ी के बागान लगाना।

(५) १२ हजार एकड़ भूमि में वाटल और सरपत के पौधे लगाना।

(६) वनों में ७, ४०० मील लम्बी सड़कें बनाना या उनमें सुधार करना।

(७) शहतीरों को काटने के नए तरीके अपनाना।

(८) द्वितीय श्रेणी की इमारती लकड़ी को बढ़िया लकड़ी में बदलने के लिये केन्द्र स्थापित करना।

(९) लगभग दो हजार एकड़ भूमि में जड़ी-बूटियों के पौधे लगाना।

(१०) वन्य-साधनों के जाँच की व्यवस्था करना।

इसके अतिरिक्त वनों में काम करने वाले श्रमिकों की भलाई के लिए सहकारी संस्थाएँ स्थापित करने, वन-अनुसंधान का विस्तार करने, और वन-उद्योग की उन्नति के लिए वन-आयोग स्थापित करने का भी विचार है।

केन्द्रीय वन मंडल ने तीसरी योजना में वनों के विस्तार के लिए ११७-करोड़ रु० की योजना तैयार की है जिसमें ६० लाख मनुष्यों को सीधा और २० लाख को परोक्ष रूप से रोजगार मिलेगा। पहली और दूसरी योजनाओं में वनों के विकास पर क्रमशः १३ करोड़ रु० और ४७ करोड़ रु० रखे गए थे।

प्रो० अलक घोष ने सुझाव दिया है कि वनों के प्रशासन, आयोजन और १९५२ की राष्ट्रीय वन नीति को कार्यान्वित करने के लिए तुरन्त एक वन-उद्योग-आयोग (Forestry commission) की स्थापना की जानी चाहिये।[1]

परीक्षा के प्रश्न

राजस्थान विश्वविद्यालय (बी. ए.)

(१) भारत में खेती की खुशहाली में वनों का महत्व स्पष्ट कीजिये। वनों की उपज पर आधारित उद्योगों का उल्लेख कीजिए और उनके विकास के लिए अपनाई गई नीति का वर्णन कीजिये। (१९५४)

1. Indian Economy (1959), p. 133.

(२) भारतीय अर्थ-व्यवस्था में वनों के महत्व का विवेचन कीजिये। वर्तमान सरकार की वन नीति बतलाइये। (१९५९)

आगरा विश्वविद्यालय (बी. ए. व बी. एस-सी.)

(१) भारत की वन सम्पत्ति के अनुमान बतलाइये। इस सम्पत्ति की सुरक्षा और सदुपयोग के लिए सुझाव दीजिये। (१९५७)

संदर्भ ग्रन्थ

1. Our Forests : (Publications Division, Delhi).
2. K. C. Ghosh : Economic Resources of India and Pakistan (K. P. Basu, Calcutta, 1956).
3. संक्षिप्त दूसरी पञ्चवर्षीय योजना : (योजना आयोग, दिल्ली अ० १५)

सातवाँ अध्याय

भारत में शक्ति के साधन

"भौतिक संस्कृति का स्रोत विकसित शक्ति है। हम अब शक्ति के युग में प्रवेश कर रहे हैं और शक्ति का महत्व उत्पादन को अधिक और सस्ता करने में है ताकि हम सबको सांसारिक वस्तुएं अधिक प्राप्त हो सकें।" —हेनरी फोर्ड

शक्ति के साधनों का महत्व

किसी देश के आर्थिक विकास में शक्ति के साधनों का बड़ा महत्व है। जिस देश में प्रचुर मात्रा और कम कीमत में शक्ति के साधन उपलब्ध हों वहाँ तीव्र गति से सर्वाङ्गीण आर्थिक विकास में बड़ी सहायता मिलती है। किन्तु जहाँ शक्ति के साधनों का अभाव हो वहाँ, अन्य बातों के पक्ष में होते हुए भी, आर्थिक विकास में रुकावट पड़ जाती है। जिस देश में शक्ति के साधन उपलब्ध हों वहाँ कृषि, उद्योग, व्यापार और परिवहन सभी की उन्नति की जा सकती है। शक्ति के साधनों की सहायता से यांत्रिक कृषि (Mechanised Agriculture) सम्भव हो सकती है—अर्थात् भूमि को समतल करने, मुलायम करने, हाँकने, बीज बोने, सिंचाई करने, फसल काटने और माल निकालने के लिए शक्ति से संचालित यन्त्रों (Machines) का उपयोग किया जा सकता है। माल तैयार करने के उद्योग-धन्धे (Manufacturing Industries) भी शक्ति के साधनों पर अवलम्बित है। कारखानों का स्थानीयकरण वहीं होता है जहाँ शक्ति के साधन उपलब्ध होते हैं। शक्ति के साधनों से, विशेषकर विद्युत् शक्ति से, गृह-उद्योग के विकास में भी बड़ी सहायता मिलती है। जापान और स्विटजरलैंड में गृह-उद्योगों की सफलता का एक बड़ा कारण उन देशों में प्रचुर मात्रा और कम कीमत पर विद्युत् शक्ति का उपलब्ध होना है। जल, स्थल और नभ के आवागमन के साधनों की उन्नति भी शक्ति के साधनों पर निर्भर करती है। यदि तीव्र, गतिशील, सस्ते और सुरक्षित परिवहन के साधन उपलब्ध हों तो व्यापार का यथेष्ट विकास हो सकता है। यही कारण है कि आर्थिक विकास की योजनाओं में शक्ति के साधनों के विकास को प्राथमिकता दी जाती है।

शक्ति के प्रमुख साधन

भारत में शक्ति के प्रमुख साधन निम्नांकित हैं—

(अ) मानव-शक्ति (Human Power), (आ) पशु-शक्ति (Animal Power), (इ) कोयला (Coal), (ई) लकड़ी (Wood), (उ) खनिज तेल

(Mineral Oils), (ऊ) वायु-शक्ति (Air Power), (ए) विद्युत्-शक्ति विशेषत: जल-विद्युत्-शक्ति (Hydro-electric Power), (ऐ) आणविक शक्ति (Atomic Power)।

(अ) मानव-शक्ति (Human Power)—मनुष्य केवल उपभोक्ता ही नहीं है किन्तु धनोत्पादन का एक अनिवार्य साधन भी है। धनोत्पादन का कोई भी कार्य मनुष्य की सहायता के बिना असंभव है। मनुष्य स्वयं अपनी शक्ति से, औजारों या छोटे यंत्रों की सहायता से धनोत्पादन के कई कार्य करता है। मानव-शक्ति की पूर्ति मनुष्यों की संख्या और दक्षता पर निर्भर करती है। भारत में जन-संख्या की भरमार है। मानव जाति का सातवाँ भाग हमारे देश में रहता है। किन्तु हमारे श्रमिकों में दक्षता का अभाव है। संख्या की बहुलता और जीवन-स्तर के नीचा होने से श्रमिकों का वेतन कम है। इसी कारण धनोत्पादन के कार्यों में मानव-शक्ति का उपयोग किया जाता है। परन्तु ज्यों-ज्यों बड़े पैमाने पर धनोत्पादन की प्रणाली अपनाई जाती है मानव-शक्ति का महत्व घटता जाता है। इसी कारण धनोत्पादन की आधुनिक व्यवस्था में शक्ति के साधन के रूप में मनुष्य का स्थान गौण है।

(आ) पशु-शक्ति (Animal Power)—हमारे देश में मनुष्य संख्या की भाँति पशु संख्या भी अत्यधिक है। बैल, भैंसे, घोड़े खच्चर, गधे, हाथी इत्यादि हल चलाने, गन्ना पेरने, पानी निकालने, गाड़ी हाँकने, बोझा ढोने और सवारी इत्यादि के काम में आते है। परन्तु चारे की कमी, पशु-चिकित्सा के साधनों के अभाव और नस्ल के बिगड़ जाने से हमारे पशुओं की दक्षता भी बहुत कम रह गई है। हमारा आदर्श यह होना चाहिए कि पशु संख्या में कम हों किन्तु दक्षता में अधिक अच्छे हों।

(इ) कोयला (Coal)—कोयला, भाप या विद्युत पैदा करके यन्त्र संचालन के काम आता है। हम खनिज पदार्थों के प्रकरण में देख चुके हैं कि भारत में कोयला अधिकांशत: एक ही प्रदेश में केन्द्रित है। समविभाजन के अभाव में हमारे देश के कई स्थानों में, जो कोयले की खानों से दूर हैं, विशेपकर प्रायद्वीप में, कोयले की बड़ी कमी है। हमारी खानों में भी कोयले की मात्रा सीमित है और सदैव के लिए इन पर निर्भर नहीं रहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त भारतीय कोयला घटिया श्रेणी का है। उष्ण जलवायु के कारण गहरी खानों में काम करने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। कोयला काटने के यन्त्रों का उपयोग भी कम होता है। हमारे कोयले की रक्षा और उपयोग में किफायत की बड़ी आवश्यकता है।

(ई) लकड़ी (Wood)—ईंधन के लिए लकड़ी का उपयोग कच्ची शक्ल में या कोयला बनाकर किया जाता है। कच्ची शक्ल में लकड़ी का उपयोग असुविधा-जनक और मँहगा पड़ता है; क्योंकि यातायात का खर्च बहुत पड़ता है। लकड़ी का सत्व निकालने की क्रिया (Distillation of Wood) को लोकप्रिय बनाना चाहिये

क्योंकि इससे लकड़ी के कोयले के अतिरिक्त काष्ठ-सुरासार (Methyl Alcohol) और काष्ठ तारकोल (Wood tar) आदि गौण उपज (By-Products) के रूप में प्राप्त होते हैं जिनकी बिक्री से लकड़ी के कोयले की उत्पादन लागत में कमी हो जाती है। भारत के जंगलों में बड़ी मात्रा में लकड़ी पाई जाती है; परन्तु इन वनों से उपयुक्त लाभ नहीं उठाया जाता है। हमारे देश में अधिकांश वन पर्वतीय प्रदेशों में हैं। वहाँ परिवहन कठिन और मँहगा रहता है। यदि यह असुविधा उपस्थित नहीं भी हो तो भी जब तक बड़े पैमाने पर वृक्ष लगाने की योजना नहीं अपनाई जाती, हमें सन्देह है कि लकड़ी की पूर्ति इसकी औद्योगिक और घरेलू माँग के बराबर हो सकेगी।

(उ) **खनिज तेल** (Mineral Oil)—इस पर भी खनिज पदार्थों के प्रकरण में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है और उसे दोहराने की आवश्यकता नही है। बर्मा और पाकिस्तान के अलग हो जाने के पश्चात् भारत में केवल आसाम में डिब्रूगढ़ के आस-पास तेल निकलता है जो हमारी आवश्यकताओं के लिये अपर्याप्त है। अतएव हमको बड़ी मात्रा में तेल विदेशों से मँगाना पड़ता है।

(ऊ) **वायु-शक्ति** (Air Power)—वायु भी शक्ति का प्रबल स्रोत है परन्तु अभी तक मनुष्य इस शक्ति का लाभ उठाने में असमर्थ रहा है। हमारे देश में हिमालय के कारण प्रचंड वायु नहीं बहती है। फिर भी वायु-शक्ति मैदानों में भूसा उड़ाने (Winnowing) के काम में आती है और पर्वतीय प्रदेशों में यह पानी निकालने और चक्की चलाने के काम में भी ली जाती है परन्तु धनोत्पादन के काम में इसका महत्व नगण्य है।

(ए) **विद्युत-शक्ति**—आजकल बिजली, शक्ति का एक प्रमुख साधन मानी जाती है। बिजली तैयार करने के लिये भाप से चलने वाले इंजन या तेल से चलने वाले इंजन या पानी से चलने वाले इंजन काम में आते हैं। कोयला और तेल का वर्णन ऊपर हो चुका है। अतः हम इस प्रकरण में पानी की शक्ति से बनने वाली बिजली के लाभों का संक्षिप्त वर्णन करके यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि पिछले कुछ वर्षों में भारत में विद्युत शक्ति का कितना विकास हुआ है और भविष्य में हमारे देश में इसके विकास की क्या सम्भावना है?

जल-विद्युत के लाभ

जल-विद्युत के विकास से निम्नांकित लाभों की आशा की जाती है—

(१) **जल-विद्युत को "सफेद कोयला"** (White Coal) कहते हैं। यह नाम बतलाता है कि कोयले की भांति जल-विद्युत भी शक्ति का एक महत्वपूर्ण साधन है। इससे शक्ति उत्पन्न करने में शक्ति के साथ ही तीव्र गरमी पैदा होती है। किन्तु जल-विद्युत तैयार करने में यद्यपि अधिक शक्ति प्राप्त होती है किन्तु कोई खास गरमी पैदा नहीं

होती है। इसलिए भारत के समान गरम देश में जल-विद्युत ही शक्ति का सर्वोत्तम साधन है।

(२) इस साधन से शक्ति, अन्य साधनों की अपेक्षा, सस्ती उत्पन्न की जा सकती है। ऐसा अनुमान है कि पूर्णतः विकास होने पर जल-विद्युत दो पैसे प्रति इकाई के भाव से प्राप्त की जा सकती है।

(३) कोयला, लकड़ी, तेल इत्यादि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में बड़ी असुविधा और व्यय होते हैं, इसलिए ये वस्तुएँ उत्पत्ति से दूर के स्थानों में बड़ी मँहगी पड़ती हैं। किन्तु जल-विद्युत तारों द्वारा आसानी से और अल्प व्यय में दूर तक ले जाई जा सकती है।

(४) जल-विद्युत का एक बड़ा लाभ यह है कि जल-विद्युत योजनाएँ और सिंचाई, नौका-वहन, बाढ़ नियन्त्रण, मिट्टी की रक्षा, वनों और मछलियों के विकास की योजनाएँ एक ही साथ कार्यान्वित की जा सकती हैं। ऐसी बहु-उद्देश्य योजनाओं से "एक पंथ बहु काज" सिद्ध होते हैं।

(५) जल-विद्युत द्वारा कृषि के यांत्रीकरण (Mechanisation) में सहायता प्राप्त होती है। पानी निकालने इत्यादि के कार्य विद्युत की सहायता से अल्प व्यय में किये जा सकते हैं।

(६) जल-विद्युत की सहायता से उद्योग-धन्धों के विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) और ग्रामीण उद्योगों और गृह-उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है। देहात में कपास ओटने, तेल निकालने, मूँगफली छीलने, आटा पीसने और ईख का रस निकालने इत्यादि के छोटे-छोटे विद्युत द्वारा संचालित कारखाने खोले जा सकते हैं। इस प्रकार भूमि पर भार कम हो सकता है।

(७) इसके फलस्वरूप कारखाना प्रणाली की हानियाँ कम की जा सकती है। औद्योगिक नगरों की अत्यधिक भीड़ घटा कर देहात खाली होने की प्रवृत्ति रोकी जा सकती है। इससे जन-संख्या का अधिक सम-विभाजन और देश का सम-आर्थिक-विकास सम्भव हो सकता है।

(८) जल-विद्युत के विकास से बड़े पैमाने पर काम करने वाले उद्योग-धन्धों को भी लाभ होता है। शक्ति की लागत में कमी हो जाने से माल की कुल उत्पादन लागत भी कम हो जाती है। बम्बई के कारखानों को वहाँ जल-विद्युत का विकास होने से बड़ा लाभ पहुँचा है। यही कारण है कि नये कारखाने वहीं खुल रहे हैं जहाँ जल-विद्युत-शक्ति उपलब्ध है।

(९) जल-विद्युत के विकास से परिवहन और संवाद-वहन के साधनों के विकास में भी सहायता प्राप्त होती है। बिजली से चलने वाली रेलें, ट्रामें इत्यादि बनाई जा सकती हैं। इससे रेलों की गति तेज की जा सकती है और उत्पादन लागत में कमी

की जा सकती है। तारों, बेतार के तारों, रेडियो आदि का भी विकास सम्भव हो जाता है।

(१०) अन्त में ग्रामवासियों को भी सभ्य जीवन की सुविधाएँ, जैसे रेडियो (Radio), बिजली के पंखे (Electric Fans), हिमकारक यन्त्र (Refrigerators) आदि उपलब्ध किये जा सकते हैं।

यद्यपि जल-विद्युत-शक्ति के विकास से कई प्रत्यक्ष और परोक्ष लाभ हैं तथापि इसके उत्पन्न करने में कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं जिनके कारण इसका शीघ्र विकास नहीं हो सकता है। प्रथम, इसके उत्पन्न करने में प्रारम्भिक व्यय बहुत होता है यद्यपि संचालन-व्यय (Working Expenses) कम होता है। दूसरे, हमारे देश में वर्षा केवल तीन मास होती है और ऐसी नदियों का अभाव है जिनमें सदैव प्रचुर मात्रा में पानी बहता रहे। इसलिये सूखी ऋतु में उपयोग के लिए पानी को इकट्ठा करने की आवश्यकता पड़ती है। इसमे भी उत्पादन-लागत में वृद्धि हो जाती है और सस्ती कीमत पर विद्युत की पूर्ति करने में कठिनाई पड़ती है। यह केवल भविष्य ही बतला सकता है कि विज्ञान इन कठिनाइयों पर कब और कहाँ तक विजय पा सकेगा।

जल-विद्युत की सम्भावनाएँ और विकास

भारत में जलविद्युत की सम्भावना—हम ऊपर बतला चुके हैं कि हमारे देश में कोयला, लकड़ी, खनिज तेल और वायु-शक्ति आदि का बड़ा अभाव है। परन्तु यह सौभाग्य का विषय है कि यह अभाव देश के कई भागों में जल-विद्युत शक्ति के विकास से पूरा किया जा सकता है। केन्द्रीय जल और शक्ति आयोग के शक्ति-विभाग ने जल-शक्ति का विस्तृत मूल्यांकन अपने हाथ मे लिया है। इसकी जाँच से पता चला है कि पश्चिमी घाट से पश्चिम दिशा में बहने वाली नदियों, दक्षिण भारत की पूर्व की ओर बहने वाली नदियों और भारत की केन्द्रीय पठार की नदियों से लगभग १४७ लाख किलोवाट शक्ति तैयार की जा सकती है। दूसरे क्षेत्रों में भी इस प्रकार के अध्ययन चालू हैं। अनुमान है कि देश में कुल मिलाकर ४१० लाख किलोवाट पन-बिजली तैयार करने की अनुद्भूत शक्ति है।[1]

शक्ति के विकास के लिये संगठन—जल-विद्युत-शक्ति की विधिवत जाँच-पड़ताल और विकास करने के लिये भारत सरकार ने केन्द्रीय जल और शक्ति आयोग (Central Water and Power Commission) की स्थापना की है। यह आयोग राजकीय सरकारों द्वारा सिंचाई और जल-विद्युत के विकास सम्बन्धी कार्यों का सम-संगठन करता है और उनकी सहायता करता है। बिजली की पूर्ति बढ़ाने और व्यवस्थित करने के लिये संसद ने सन् १९४८ में बिजली (पूर्ति) कानून

---

[1] India 1960, p. 282.

स्वीकार किया। इसके अन्तर्गत समस्त देश के केन्द्रीय-विजली-प्राधिकारी (Central Electricity Authority) और प्रादेशिक संगठन वनाने की व्यवस्था है जिनको राज्य विजली मंडल (State Electricity Boards) कहते हैं। इस कानून के अनुसार सन् १९५० में केन्द्रीय विजली प्राधिकारी की स्थापना की गई है और लगभग सब राज्यों में विजली मण्डल भी बना दिये गये हैं।

भारत में जलविद्युत का विकास—भारत में जल-विद्युत बनाने का कार्य सब से पहले १८९७-९८ में दार्जिलिंग में आरम्भ किया गया था। १८९९ में कलकत्ता में १००० किलोवाट का भाप से चलने वाला विजली-घर बनाया गया। २० वीं शताब्दी के पहले २५ वर्षों में विद्युत उत्पादन की पूर्ति धीमी थी परन्तु तब से अब तक निरन्तर द्रुत गति से उन्नति हुई है। यदि १९३९ को आधार (१००) माना जाय तो मार्च १९५९ में विजली की प्रस्थापित क्षमता, कुल उत्पादन और बिक्री क्रमशः ३२८·३, ५३२·० और ५२६·८ थी। परन्तु इस विकास के बावजूद भी भारत में प्रति व्यक्ति विजली का उत्पादन केवल ३९ किलोवाट घन्टा प्रति व्यक्ति है, जब कि जापान में ८८५, यू० के० में १९१०, कनाडा में ५७८० और नार्वे में ७७४० है।[1] देश के अनेक स्थानों में विजली की माँग बढ़ रही है और शक्ति के अभाव में आर्थिक विकास मन्द पड़ गया है। इसके अतिरिक्त कई विजली घरों की मशीनें पुरानी पड़ गई है और उन्हें तुरन्त बदलने की जरूरत है।

पहली पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत विद्युत-शक्ति का विकास—देश के आर्थिक और औद्योगिक विकास के लिए विद्युत-शक्ति के महत्व को देखते हुये हमारी पहली और दूसरी दोनों योजनाओं में शक्ति के विकास को उच्च प्राथमिकता दी गई है। पहली पंचवर्षीय योजना में शक्ति के विकास के लिये लगभग २६० करोड़ रुपये निर्धारित किये गये थे जो योजना की कुल लागत का ११ प्रतिशत होता है। पहली योजना के शुरू में देश में विजली तैयार करने के केन्द्रों की उत्पादन-क्षमता सब मिलाकर २३ लाख किलोवाट थी। पहली योजना की अवधि में देश में विजली केन्द्रों की प्रस्तावित क्षमता ११ लाख किलोवाट से बढ़कर ३४ लाख किलोवाट हो गई। इसी अवधि में विजली का उत्पादन १९५०-५१ में ६५७·५ करोड़ इकाइयों से बढ़कर १९५५-५६ में ११०० करोड़ इकाइयाँ हो गया। इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में विजली के उत्पादन में ६७ प्रतिशत वृद्धि हुई।

पहली योजना के शुरू में केवल ३६८७ नगरों और गाँवों को विजली मिलती थी। मार्च १९५६ में ऐसे नगरों और गाँवों की संख्या ७४०० हो गई। १९५०-५१ में देश में विजली की प्रति व्यक्ति खपत १४ इकाई थी, जो १९५५-५६ में बढ़कर

(1) India 1960, p. 282.

२५ इकाई तक पहुँच गई। इस प्रकार पहली योजना की अवधि में बिजली की प्रस्तावित क्षमता, उत्पादन और खपत में उल्लेखनीय वृद्धि हुई।

दूसरी योजना में बिजली-सम्बन्धी कार्यक्रम—दूसरी पंचवर्षीय योजना में बिजली के विकास के लिये ४२७ करोड़ रुपये रखे गये हैं जो इस योजना की कुल लागत का ६ प्रतिशत है और इस कार्य के लिये पहली योजना में निर्धारित राशि से १६७ करोड़ रुपये अधिक हैं। दूसरी योजना का लक्ष्य बिजली की प्रस्थापित क्षमता १६५५-५६ में ३४ लाख किलोवाट से बढ़ाकर १९६०-६१ में ६९ लाख किलोवाट कर देना है। इस प्रकार अनुमान है कि अगले पाँच वर्षों में बिजली की स्थापित क्षमता में ३५ लाख किलोवाट की वृद्धि होगी। २९ लाख किलोवाट की वृद्धि सार्वजनिक क्षेत्र में, ३ लाख किलोवाट की वृद्धि बिजली सप्लाई कम्पनियों में और शेष ३ लाख किलोवाट की वृद्धि औद्योगिक संस्थानों में होगी। सार्वजनिक क्षेत्र में होने वाली २९ लाख किलोवाट की वृद्धि में से २१ लाख किलोवाट की वृद्धि पन-बिजली केन्द्रों में और ८ लाख किलोवाट की वृद्धि ईंधन से बिजली तैयार करने के केन्द्रों में होगी, जिनमें से कुछ बिजली डीजल से भी तैयार होगी।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में बिजली तैयार करने की ४४ योजनाएँ शुरू की जाएँगी, जिनमें कुछ नई योजनाएँ होंगी और कुछ वर्तमान केन्द्रों के विकास की योजनाएँ होंगी। इनमें २५ पन-बिजली केन्द्र होंगे और १९ ईंधन से बिजली तैयार करने के केन्द्र।

अनुमान है कि जहाँ १९५५-५६ में कोई ११०० करोड़ इकाई बिजली तैयार हुई थी, वहाँ १९६०-६१ में २२०० करोड़ इकाई बिजली तैयार हो सकेगी। इस प्रकार बिजली की प्रति व्यक्ति खपत जो पहली योजना के अन्त में २५ इकाई थी दूसरी योजना के अन्त में ५० इकाई हो जायगी।

पहली योजना की तरह दूसरी योजना में भी छोटे-छोटे कस्बों और गाँवों में बिजली पहुँचाने की ओर विशेष ध्यान दिया जायगा। ४२७ करोड़ रुपयों की कुल रकम में से ७५ करोड़ रुपये छोटे कस्बों और गाँवों में बिजली लगाने पर खर्च किये जायेंगे। अनुमान है कि दूसरी योजना की अवधि में ऐसे कस्बों और गाँवों की संख्या ७४०० से बढ़कर १८,००० हो जायगी, जिनमें बिजली की व्यवस्था होगी। इस प्रकार दूसरे योजना काल में जिन १०,६०० कस्बों और गाँवों में पहली बार बिजली पहुँच जायगी, उनमें से ८६००, पाँच हजार से कम आबादी वाले गाँव होंगे।

कुछ महत्वपूर्ण योजनाएँ

(१) **भाखड़ा नांगल योजना**—यह भारत की सबसे बड़ी बहु-प्रयोजनीय योजना है। इस योजना में निम्नांकित कार्य शामिल हैं।

(१) पञ्जाव के अम्बाला जिले में रूपर से ५० मील ऊपर सतलज नदी के आर-पार ७४० फुट ऊँचा भाखड़ा बाँध;
(२) बाँध की तलहटी में दो विजली घर;
(३) नांगल बाँध; यह भाखड़ा बाँध से ८ मील नीचे की ओर है;
(४) नांगल हाइडल चेनल;
(५) नांगल हाइडल चेनल पर गंगुवाल और कटोला में दो विजली घर;
(६) नहर प्रणाली (लगभग ६५२ मील मुख्य नहरें और २२०० मील छोटी नहरें।)

अनुमान है कि इस योजना पर कुल १७० करोड़ रुपये खर्च होंगे और योजना पूरी होने पर पञ्जाव तथा राजस्थान में ३६ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी तथा ३,६६,००० किलोवाट बिजली पैदा की जा सकेगी। यह बिजली पञ्जाव और राजस्थान के अतिरिक्त दिल्ली और हिमाचल प्रदेश को भी दी जा सकेगी।

भाँखड़ा बाँध और उसके विजली घरों के अलावा अन्य काम पूरे हो चुके हैं। जनवरी १९५५ से गंगुवाल और जुलाई १९५६ से कोटला के विजली घरों ने कार्य आरम्भ कर दिया है। सिंचाई का कार्य भी आरम्भ हो गया है। १९५७-५८ में भाँखड़ा की नहरों से पंजाब और राजस्थान में १९.६७ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई की गई थी। यदि इस वर्ष भाखड़ा पर दुर्घटना नहीं हुई होती तो बारह महीने सिंचाई होने की आशा थी।

(२) **दामोदर घाटी योजना**—इस बहु-प्रयोजनीय योजना का उद्देश्य बंगाल और बिहार में बहने वाली दामोदर और इसकी सहायक नदियों को नियंत्रित करके इस क्षेत्र को प्रलयंकारी बाढ़ों से बचाना और इसके साधनों का समग्र रूप से विकास करना है। जिस क्षेत्र में दामोदर और इसकी सहायक नदियाँ बहती हैं, वह लगभग ९ हजार वर्ग मील में फैला हुआ है, इसमें लगभग ५ लाख मनुष्य रहते हैं। यह कोयला, लोहा, मेंगनीज, अभ्रक, ताँवा, बोक्साइट, आदि महत्वपूर्ण खनिजों और उद्योगों का घर है। दामोदर घाटी योजना इस पूरे नदी प्रदेश को इकाई मानकर अमेरिका की टिनेसी घाटी योजना की तरह इसके बहुमुखी विकास के लिये चलाई गई है। इस योजना को बनाने का काम दामोदर घाटी आयोग को सौंपा गया है। इस योजना में चार बाँध (तिलैया, माइथन, कोनार और पंचेट पहाड़) होंगे, जिन पर पन बिजली के केन्द्र होंगे; तीन तापीय-बिजली के केन्द्र बोकारो, दुर्गापुर और चन्द्रनगर होंगे जिनकी कुल क्षमता ५,००,००० किलोवाट होगी; बिजली को पहुँचाने के लिये विस्तृत खम्भों और तारों का जाल बिछा होगा और सिंचाई तथा नौका-नयन के लिए नहरें होंगी।

तिलैया बाँध १९५५ में पूरा बन चुका था। **माइथन बाँध** भी १९५७ में पूरा [illegible] बाँध पर ६०,००० किलोवाट क्षमता का जल-विद्युत केन्द्र है जो पूर्णतः

जमीन के नीचे है। यह भी तैयार हो चुका है। कोनार बाँध भी १९५५ में तैयार हो चुका था। पंचेट बाँध का उद्‌घाटन अभी ६ दिसम्बर १९५९ को प्रधान मंत्री ने किया था। यह चारों बाँधों में सब से बड़ा है। इन चारों बाँधों से दामोदर घाटी क्षेत्र की बाढ़ों को रोकने में बड़ी मदद मिलेगी। इन पर कोनार बाँध को छोड़ कर सब के साथ पन-बिजली घर हैं, जिनकी कुल क्षमता १,०४,००० किलोवाट है और इनसे १०,४४,००० एकड़ खरीफ और ३,००,००० एकड़ रबी की फसलों की सिंचाई भी हो सकेगी तथा उद्योगों को पानी मिल सकेगा। इनके अतिरिक्त इस योजना में दुर्गापुर का सिंचाई बाँध भी शामिल है, जिससे १० ४४ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई शुरू हो गई है। इसकी बाँई नहर कलकत्ता और रानीगंज के बीच नौ-वहन के काम आयेगी।

इस योजना के तीन तापीय बिजली घरों में से पहला बोकारो पर १९५३ में पूरा हो गया था। इसकी क्षमता आरम्भ में १,५०,००० किलोवाट थी; जिसमें १९५९ में ७५,००० किलोवाट की वृद्धि कर दी गई है। दुर्गापुर का तापीय-बिजली घर जिसकी क्षमता १,५०,००० किलोवाट है, लगभग पूरा हो चुका है। चन्द्रपुर के तीसरे १,२५,००० किलोवाट क्षमता वाले बिजली घर पर भी कार्य आरम्भ कर दिया गया है। इससे मुख्यतः रेलों के लिए बिजली मिलेगी।

सबसे पहले जब श्री वूट डुइन ने दामोदर योजना का प्रारूप तैयार किया था, इसकी कुल लागत ५५ करोड़ रु० आँकी जाती थी। १९४८ में रुपए के अवमूल्यन, मँहगाई तथा अतिरिक्त कार्यों के शामिल किये जाने से इसकी कुल लागत १०५ करोड़ रु. हो गई है। आशा की जाती है कि इस योजना के पूरी होने पर १३ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई और ६,०४,००० किलोवाट बिजली के अतिरिक्त बाढ़-नियंत्रण और भूमि की कटाव से रक्षा की जा सकेगी तथा जल-यातायात और मछली-पालन सम्भव हो सकेगा।

(३) **हीराकुण्ड योजना**—प्रारम्भ में हीराकुण्ड योजना का प्रमुख उद्देश्य बाढ़ नियन्त्रण था और सिंचाई तथा बिजली इसके गौण उद्देश्य थे। बाढ़ों की समस्या पर १८४२ से ही विचार शुरू हो गया था। १९३७ में श्री मोक्षगुण्ड विश्वेसैरया ने महानदी पर एक जलाशय बनाकर अकाल-ग्रस्त क्षेत्रों को पानी पहुँचाने तथा बाढ़ों को रोकने का सुझाव दिया। १९४६ में केन्द्रीय जलमार्ग, सिंचाई और नौका-नयन आयोग के अध्यक्ष के श्री ए० एन० खोसला ने महानदी पर तीन बाँध बनाने की सिफारिश की, जिनमें से पहला हीराकुण्ड पर बनाया गया है। यह बाँध सम्बलपुर से ९ मील ऊपर महानदी के आर-पार १५० फीट ऊँचा और १५,७४८ फीट लम्बा है तथा इसके दोनों ओर १३ मील लम्बी दीवारें हैं। इससे बने जलाशय में ६६ लाख एकड़ फुट पानी जमा हो सकेगा और यह २८८ वर्ग मील जगह घेरेगा। इस प्रकार यह
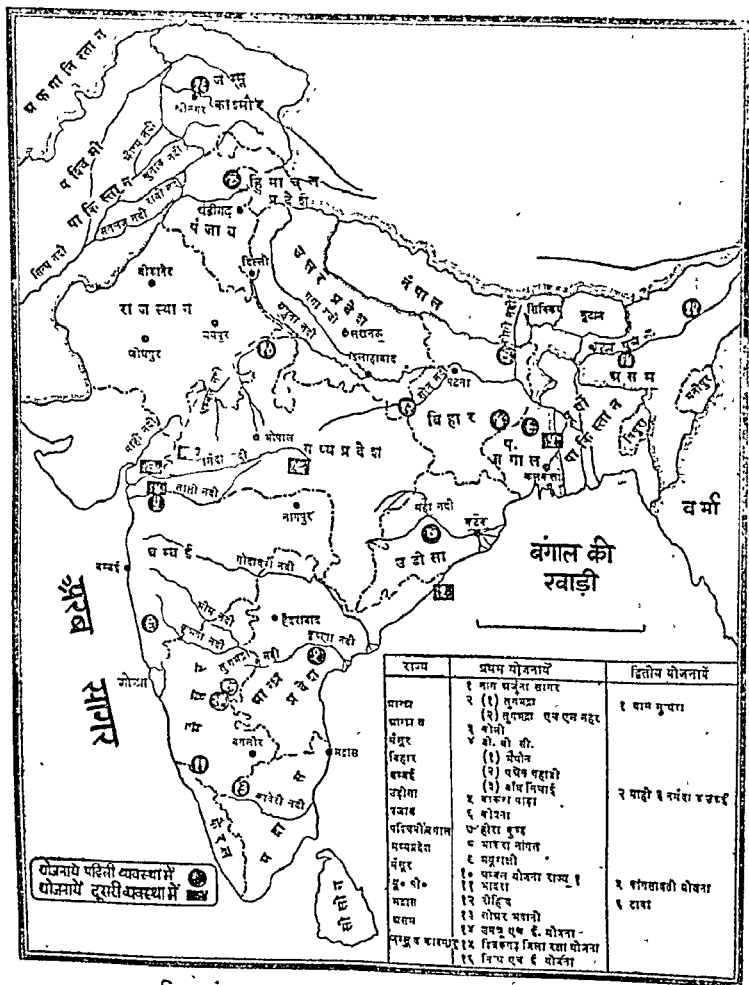
चित्र-संख्या १२—भारत की प्रमुख नदी-घाटी-योजनाएँ

भारत की सबसे बड़ी मनुष्य की बनाई हुई झील होगी। इस बाँध से ६·७ लाख एक: भूमि की सिंचाई हो सकेगी और बाँध की तलहटी में बनाये जाने वाले बिजलीघरों ं १,२३,००० किलोवाट बिजली पैदा करने की क्षमता होगी। इस योजना की संशोधित अनुमानित लागत ७०·७८ करोड़ रुपये है।

मुख्य बाँध और दीवारों का काम लगभग पूरा हो चुका है। सितम्बर १९५४ ं सिंचाई आरम्भ हुई; जनवरी १९५७ से बिजलीघर ने काम शुरू किया और का उद्योगों को बिजली मिलने लग गई है।

महानदी के डेल्टा में १५ करोड़ रुपये की लागत की एक सिंचाई योजना मंजूर की गई, जो १९६० तक पूरी हो जायगी। इसके पूरी होने पर कटक और पुरी जिलों में १८·७ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होने लगेगी।

विजली की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिये शक्ति के विकास की दूसरी मंजिल शुरू कर दी गई है। इसके अन्तर्गत मुख्य बाँध के पास ३७,५०० किलोवाट क्षमता वाले दो और यंत्र लगाये जा रहे हैं और हीराकुण्ड विजलीघर के बचे हुए पानी को काम में लाकर बाँध से १४ मील नीचे चिपलिमा स्थान पर २४,००० किलोवाट क्षमता वाले तीन और यन्त्र लगाये जायेंगे। पूरे बन जाने पर इन दोनों विजलीघरों की क्षमता २,३२,५०० किलोवाट होगी।

(४) **तुङ्गभद्रा योजना**— इस योजना पर आन्ध्र और मैसूर राज्य दोनों मिलकर कार्य कर रहे हैं। इसके अन्तर्गत तुङ्गभद्रा नदी के आर-पार एक बाँध बनाया जा रहा है जो ७९४२ फीट लम्बा और १६२ फीट ऊँचा होगा। यह जलाशय १४६ वर्ग मील में फैला हुआ होगा और इसमें ३० लाख एकड़ फुट पानी जमा हो सकेगा। इससे दो नहरें निकाली जायँगी, जिनसे ८·३ लाख एकड़ भूमि को पानी मिल सकेगा। इस योजना में दो विजली के केन्द्र होंगे, जिनमें आरम्भ में ९-९ हजार किलोवाट के दो यन्त्र लगाये जायेंगे। बाँध के नीचे एक पन-विजली केन्द्र भी होगा जिसमें भी आरम्भ में ९-९ हजार किलोवाट क्षमता के दो यन्त्र लगाये जायेंगे। अनुमान है कि आगे चलकर इन स्टेशनों से १७३ हजार किलोवाट विजली पैदा हो सकेगी, जिससे लगभग १२ लाख घरों में रोशनी हो सकती है। इस योजना की कुल लागत ४७ करोड़ रुपये होने का अनुमान है। मुख्य बाँध बन चुका है और ९००० किलोवाट क्षमता के दो विजली के यन्त्र काम करने लग गये हैं।

(५) **कोसी योजना**—तीन इकाई वाली कोसी योजना मुख्यतः बाढ़ नियंत्रण की योजना है, जिससे अन्य लाभ भी मिल सकेंगे। इस योजना की पहली इकाई में नैपाल में हनुमान नगर से तीन मील ऊपर कोसी नदी के आर-पार एक बाँध बनाया जायगा। दूसरी इकाई में दो कार्यक्रम शामिल हैं :—(१) कोसी नदी के दोनों किनारों पर बाढ़ रोकने के लिये १५२ मील लम्बी पालें बाँधी जायँगी; (२) निर्मली नगर और महादेव मठ गाँव के चारों ओर बाँध बनाये जायँगे तथा कोसी की कतिपय सहायक नदियों पर भी बाँध बनाये जायँगे। तीसरी इकाई में हनुमान नगर बाँध से पूर्वी कोसी नहर निकाली जायगी, जिससे लगभग १४ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी। हनुमान नगर बाँध और नहरों पर काम शुरू हो गया है। बाढ़-नियन्त्रण के लिए बनाई जाने वाली पालों का काम पूरा हो चुका है। इस योजना की लागत ४४·७६ करोड़ रु० आँकी गई है। अक्टूबर १९५९ तक मुख्य नहर का ९४·३% और शाखा नहरों का ७१·९% खुदाई का काम पूरा हो चुका है।

(६) **नागार्जुन सागर योजना**—आन्ध्र राज्य की इस योजना में कृष्णा नदी के आर-पार एक ३०२ फुट ऊँचा और ३६०० फुट लम्बा पक्का बाँध बनाया जायगा और नदी के दोनों ओर स्थित अकाल-ग्रस्त क्षेत्रों की सिंचाई के लिये नहरें बनाई जायेंगी। इस योजना की नींव प्रधान मन्त्री द्वारा ११ दिसम्बर १९५५ को रखी गई थी। इसके पूरा होने पर लगभग ३२ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी, जिसमें से ३·२५ लाख एकड़ कृष्णा नदी के डेल्टा में होगी। इसके अतिरिक्त योजना की तीनों अवस्थाओं में यन्त्रों पर ६० प्रतिशत भार रखने से ७५ हजार किलोवाट पन-बिजली तैयार होने लगेगी। इस योजना की तीनों अवस्थाओं में कुल मिलाकर १३१ करोड़ रुपये खर्च होंगे, जिसमें से ८६ करोड़ पहली अवस्था पर लगने का अनुमान है जो १९६३-६४ तक पूर्ण हो सकेगी।

(७) **कोइना योजना**—इस योजना में बम्बई राज्य में बहने वाली कोइना नदी के आर-पार एक २०८ फुट ऊँचा बाँध बनाया जायगा और एक सुरंग द्वारा नदी के पानी को घुमाकर १५७० फुट ऊँचाई से गिराया जायगा। इस योजना से बिजली बनाने के लिये जमीन के अन्दर एक बिजली-घर बनाया जायगा जिसमें ६०-६० हजार किलोवाट की क्षमता के चार यन्त्र होंगे। अनुमान है कि २·३ लाख किलोवाट बिजली बम्बई और पूना नगर को भेजी जायगी और शेष १० हजार किलोवाट महाराष्ट्र के समीपवर्ती इलाके में काम आयगी। अनुमान है कि इस योजना पर ३८·२८ करोड़ रुपये खर्च होंगे और यह १९६१ तक पूरी हो जायगी।

(८) **रिहन्द योजना**—इस योजना के अन्तर्गत उत्तर-प्रदेश में सोन की सहायक नदी रिहन्द के आर-पार मिर्जापुर से १०० मील दक्षिण की ओर पीपरी नामक छोटे से कस्बे के पास एक २०६५ फुट लम्बा और ३०० फुट ऊँचा सीमेंट का बाँध बनवाया जायगा। इस जलाशय में ८६ लाख एकड़ फुट पानी जमा हो सकेगा, जिससे उत्तर-प्रदेश और बिहार में १९ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई का लाभ मिलने लगेगा। एक २½ लाख किलोवाट प्रस्थापित क्षमता वाला बिजली-घर भी बनाया जा रहा है। अनुमान है कि इस योजना की कुल लागत ४६·०५ करोड़ रुपये होगी। इसमें से २६ करोड़ रुपये भारत सरकार दूसरी योजना के अन्तर्गत खर्च करेगी। इस योजना के लिये १५ करोड़ रुपये की विदेशी सहायता भी मिलने की आशा है; जिसमें से ३·७० करोड़ रुपये अमेरिका ने देना स्वीकार किया है। अनुमान है कि बाँध और बिजली-घर का निर्माण १९६१ तक पूरा हो जायगा।

(९) **भाद्रा जलाशय योजना**—यह बहु-प्रयोजनीय योजना है। इसके अन्तर्गत मैसूर राज्य में भाद्रा नदी के आर-पार एक बाँध का निर्माण किया जायगा, जिससे २·४५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी और ३३,२०० किलोवाट बिजली पैदा करने की क्षमता होगी। इस योजना की संशोधित लागत ३३·५३ करोड़ रुपये

होगी। बाँध का काम प्रगति पर है और आशा की जाती है कि यह योजना १९६१ तक पूरी हो जायगी।

(१०) फक्रापर योजना इस योजना की वित्तीय व्यवस्था बम्बई सरकार कर रही है। इसको ताप्ती घाटी के विकास की ओर पहला कदम माना जा सकता है। इसके अन्तर्गत ताप्ती नदी के आर-पार २०३८ फुट लम्बा और ४५ फुट ऊँचा बाँध जून १९५३ में बन चुका है। नहरों की खुदाई दो वर्ष में पूरी करने की योजना है। इस योजना की अनुमानित लागत ६२६ लाख रुपये है। इस योजना के पूरी हो जाने पर सूरत जिले में ६½ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी। सूचना मिली है कि ३५० मील लम्बी नहर खोदी जा चुकी है और ४० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई शुरू हो गई है।

(११) **मचकुन्ड योजना**—इस पन-बिजली योजना पर आन्ध्र प्रदेश और उड़ीसा की सरकारें मिलकर काम कर रही हैं। इसमें मचकुन्ड नदी के पानी से जल-विद्युत तैयार की जा रही है जो दोनों राज्यों के बीच सीमा बनती है। जालापुट के पास मचकुन्ड नदी के आर-पार १७६ फुट ऊँचा और १३४५ फुट लम्बा बाँध बनाया जा चुका है, जिसमें ६,२५,००० एकड़ फुट पानी जमा हो सकेगा। बिजली बनाने के लिये १७-१७ हजार किलोवाट के तीन यन्त्र और २१,२५० किलोवाट प्रत्येक के तीन यन्त्र स्थापित किये जा चुके हैं और कुल मिला कर १,१४,७५० लाख किलोवाट बिजली की प्रस्थापित क्षमता है।

(१२) **मयुराक्षी योजना**—पश्चिमी बंगाल सरकार की यह महत्वपूर्ण योजना मुख्यतः सिंचाई योजना है; यद्यपि इसमें ४ हजार किलोवाट का विद्युत-यन्यन्त्र भी शामिल है। यह बिजली पश्चिमी बंगाल के बीर भूमि और मुर्शिदाबाद जिलों में और बिहार के सन्थाल परगनों में दी जायगी। पश्चिमी बंगाल में सूरी के पास तिलपाड़ा बाँध में मयुराक्षी नदी के आर-पार पानी फेरने के लिये बाँध १९५१ में बन चुका था। मयुराक्षी योजना का सबसे महत्वपूर्ण बाँध १५५ फुट ऊँचा और २१७० फुट लम्बा मसंजोर बाँध है, जिसको कनाडा बाँध के नाम से पुकारा जाता है। यह निर्धारित तिथि से छः महीने पहले जून १९५५ में बनकर तैयार हो गया। इस बाँध में पाँच लाख एकड़ फुट पानी जमा हो सकता है और इससे एक लाख एकड़ भूमि की फसल की सिंचाई हो सकती है। बांध के दोनों ओर से निकाली जाने वाली नहरों से ७·२ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी। बिजली-घर में २००० किलोवाट का पहला यन्त्र दिसम्बर १९५६ में और दूसरा फरवरी १९५७ में लग चुके है।

(१३) **राजस्थान की योजनाएँ**— राजस्थान से सम्बन्धित चार प्रमुख योजनाएँ हैं :—(१) भाखड़ा नांगल; (२) चम्बल; (३) जवाई और (४) राजस्थान नहर। इनमें से पहली दो बहु-प्रयोजनीय और बहु-राज्यीय योजनाएँ हैं और तीसरी एक प्रयोजनीय

सिंचाई और राज्जीय (पूर्णतः राजस्थान की) योजना है। हम राजस्थानी विद्यार्थियों के लिए इन योजनाओं का संक्षिप्त विवरण देते हैं। विस्तृत विवरण के लिये पाठक लेखक की "राजस्थान का आर्थिक विकास" देखें।

(१) भाखड़ा नांगल—हम ऊपर बतला चुके हैं कि यह राष्ट्र की सबसे बड़ी योजना है। राजस्थान का इसमें १५·२ % भाग है। अनुमान है कि इस योजना से राजस्थान को इतना पानी मिल सकेगा कि गंगानगर जिले की १० लाख एकड़ भूमि कृषि योग्य हो सकेगी और ६ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी। राजस्थान को अपने हिस्से का पानी अपनी सीमा पर मिलेगा। इसको काम में लाने के लिये राज्य में छोटी-बड़ी मिलाकर एक हजार मील लम्बी नहरें बनाई जा रही हैं। मुख्य-मुख्य शाखा-नहरों की तलहटियाँ पक्की बनाई जा रही है; जिससे कीमती पानी रेत के द्वारा न सोखा जा सके। नहरों की खुदाई और बँधाई के साथ ही साथ गाँव बसाने, मण्डियाँ और सड़कें बनाने का कार्य भी प्रगति पर है। इससे सीमित सिंचाई शुरू हो गई है। और यदि भाखड़ा दुर्घटना नहीं होती तो १९५९-६० से साल भर सिंचाई होने की आशा थी।

इस योजना से सिंचाई के अतिरिक्त बड़ी मात्रा में बिजली पैदा होगी। नांगल का बिजली घर तैयार हो गया है और राजस्थान को बिजली मिलने लग गई है, जो १९६२ तक बढ़कर १५,००० किलोवाट हो जायगी। राजस्थान को श्रीगंगा नगर और राजगढ़ में बिजली मिलेगी और यहाँ से ४१ नगरों और मार्ग के देहाती गाँवों में बिजली पहुँचाई जायगी। अनुमान है कि औद्योगिक कार्यों के लिये १ आना प्रति इकाई के भाव पर बिजली मिल सकेगी।

राजस्थान की इस योजना के सिंचाई सम्बन्धी भाग पर लगभग, २२ करोड़ रुपये, जल विद्युत सम्बन्धी भाग पर लगभग १० करोड़ और स्थानीय विकास कार्यों पर लगभग १२१ लाख रु० लगेंगे। इस कार्य के लिये अधिकांश रुपया राज्य को भारत सरकार से ऋण के रूप में मिलेगा।

(२) चम्बल योजना—चम्बल राजस्थान की सबसे बड़ी और एक-मात्र अविरल बहने वाली नदी है। चम्बल विकास योजना पर राजस्थान और मध्य-प्रदेश राज्य मिलकर कार्य कर रहे है। इस योजना के अन्तर्गत चम्बल नदी पर चार बाँध बनाये जायेंगे। (१) गाँधी सागर बाँध—यह भानपुरी (मं० प्र०) से दस मील उत्तर-पश्चिम और चौरासीगढ़ से ५ मील नीचे बनाया जा रहा है। इसकी लम्बाई १५७५ फुट और ऊँचाई २०० फुट होगी और इनमें ६८ लाख एकड़-फुट पानी समा सकेगा। (२) राणा प्रताप सागर बाँध—यह पहले बाँध से २१ मील नीचे चूलिया झरने पर बनाया जायगा। इसकी लम्बाई ३८२० फुट और ऊँचाई १२२·५ फुट होगी। इसमें २३·५ लाख एकड़-फुट पानी आ सकेगा। (३) कोटा

बाँध—यह कोटा नगर से १० मील दक्षिण में बनाया जायगा। इसकी लम्बाई २४४० फुट और ऊँचाई १४५ फुट होगी। (४) कोटा-सिंचाई बाँध—यह ११६० फुट लम्बा और ८३·५ फुट ऊँचा होगा और कोटा नगर से ५ मील उत्तर में बनाया जायगा। पहले तीन बाँधों के साथ पन-बिजली स्टेशन भी बनाये जायेंगे। इस योजना की पहली अवस्था में गांधी-सागर बाँध, बाँध का बिजलीघर, कोटा-सिंचाई बाँध और नहरों का काम हाथ में लिया गया है। आशा है कि यह कार्य १९६३·६४ तक पूरा हो जायगा और बिजलीघर अगस्त १९६० तक काम करना प्रारम्भ कर देगा। अनुमान है कि इस योजना की पहली अवस्था पर कुल मिलाकर ६३·५९ करोड़ रुपये खर्च होंगे। अनुमान है कि योजना पूर्ण हो जाने पर ११ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी और २ लाख १० हजार किलोवाट बिजली पैदा हो सकेगी। इससे राजस्थान के कोटा, बूँदी, भरतपुर और सवाई माधोपुर जिलों में सिंचाई हो सकेगी और दक्षिणी-पूर्वी भाग को बिजली मिल सकेगी। अनुमान है कि सिंचाई की दर ९।।–) प्रति एकड़ और बिजली ८ पाई प्रति यूनिट मिल सकेगी। इस योजना से ३० हजार श्रमिकों को ५–६ वर्षों तक काम मिलेगा और ४,७५,००० टन अतिरिक्त खाद्यान्न उत्पन्न होगा।

(३) जवाई योजना—जवाई नदी मारवाड़ की प्रसिद्ध लूनी नदी की सहायक है। यह जोधपुर डिवीजन के दक्षिण में बहती है। इस पर पश्चिमी रेलवे के एरिनपुरा रोड स्टेशन से १½ मील और सुमेरपुर से ५ मील ऊपर एक ३०३० फुट लम्बा और ११४ फुट ऊँचा बाँध बनाया गया है। इससे लगभग १,१०,००० एकड़ बैरानी (असिंचित) भूमि पर खेती और प्रतिवर्ष औसतन ५०,००० से ६०,००० एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। इस योजना पर कुल लगभग ३२३ लाख रु० व्यय होने का अनुमान है। एक समय इस योजना से सिंचाई के अतिरिक्त ४००० किलोवाट शक्ति भी पैदा होने की आशा थी। परन्तु यह उद्देश्य अब स्थगित कर दिया है और जवाई योजना से अभी केवल सिंचाई का ही लाभ मिल रहा है। इसी वर्ष से जवाई बाँध से जोधपुर नगर को पानी भी मिलने लग गया है।

(४) राजस्थान नहर—राजस्थान नहर उस नहर का नाम है, जो पञ्जाब में सतलज नदी के आर-पार सतलज और व्यास के सङ्गम से कुछ नीचे बनाए जाने वाले हरिके बाँध से आरम्भ होकर राजस्थान में जैसलमेर जिले के रामगढ़ गाँव के पास समाप्त होगी। यह भारत ही नहीं, संसार की सबसे लम्बी सिंचाई नहर होगी। इसकी लम्बाई ४२५ मील, चौड़ाई १३४ फुट और गहराई २१ फुट होगी। इसके उद्गम स्थान पर १८,५०० क्यूसेक से लेकर नीचे चलकर ६००० क्यूसेक पानी बहेगा। इस नहर से लगभग १६ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होने का अनुमान है। इसकी कुल

लागत ६६ करोड़ रु० बैठने का अनुमान है।[1] रेगिस्तान की रेत में पानी को सोखने से बचाने के लिए समस्त मुख्य नहर (हनुमानगढ़ से रामगढ़ तक लगभग ३०२ मील) अन्दर से पक्की बनाई जाएगी। नहर के दाहिनी ओर भारत-पाकिस्तान सीमा की ओर ढाल होने से आसानी से सिंचाई हो सकेगी। परन्तु बाँई ओर भूमि की सतह ऊँची होने से पानी को ऊपर उठाना होगा। अनुमान है कि पानी ऊपर उठाने के लिए बिजली भी नहर के पानी से पैदा की जा सकेगी। आगे चलकर इस नहर को उत्तर में यमुना और दक्षिण में लूनी नदी से मिलाकर दिल्ली से कांडला तक जल-मार्ग बनाने का भी प्रस्ताव है।

चित्र-संख्या १३—राजस्थान नहर

राजस्थान नहर के निर्माण के लिए एक अलग मंडल बनाया गया है, जिसकी संचालन समिति के अध्यक्ष केन्द्रीय मंत्री और सचिव, जल तथा शक्ति आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री कुँवरसेन हैं।

आरम्भ में राजस्थान नहर में रावी और व्यास का ऊपर का पानी दिया जायगा। आगे चलकर इन नदियों पर बाँध बनाये जायेंगे। आशा है कि ऊपर के पानी से बीकानेर, जैसलमेर और श्रीगंगानगर के जिलों में १६·८४ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी जिससे १५·६ करोड़ रु० की कीमत का ५·७ लाख टन अतिरिक्त अनाज पैदा होने लगेगा।

आणविक शक्ति

हम खनिज पदार्थों के अध्याय में बतला चुके हैं कि भारत में यथेष्ट मात्रा में आणविक धातुएँ उपलब्ध हैं। भारत सरकार ने आणविक शक्ति के विकास के लिए "आणविक शक्ति आयोग" की स्थापना की है। सरकार ने महाराष्ट्र में बम्बई और अहमदाबाद के बीच तारापुर में पहला आणविक बिजलीघर बनाने का निश्चय किया है। तीसरी योजना में १५०–१५० मेगावाट क्षमता के दो और

(1) Indian Information (1. 4. 1959). p. 173.

आणविक बिजलीघर और दो अन्तर्विश्वविजय आणविक केन्द्र बनाने का विचार है। आशा है इससे देश में वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ शक्ति की पूर्ति भी बढ़ेगी।[1]

परीक्षा के प्रश्न

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०

(१) आर्थिक विकास में जल-शक्ति का महत्व बतलाइये। मुख्य-मुख्य जल-विद्युत योजनाओं का उल्लेख कीजिए। क्या राजस्थान में जल-शक्ति के विकास की कोई सम्भावना है ? (सन् १६५१, १६५४)

(२) भारत के आर्थिक विकास में बहुउद्देशीय नदी-घाटी योजनाओं का स्थान, विशेष रूप से बड़ी नदियों के सम्बन्ध में, समझाइये। आज दिन तक इस सम्बन्ध में भारत में हुई प्रगति और योजनाओं का वर्णन कीजिए। (१६५५)

(३) भारत में जल-शक्ति के विकास का महत्व समझाइये और जल विद्युत के विकास का वर्णन कीजिए। (१६५७)

(४) भारत की बहुउद्देशीय योजनाओं के नाम लिखिए और भाखड़ा नांगल योजना, दामोदर घाटी योजना तथा चम्बल योजना का विस्तृत वर्णन कीजिए। (१६६० पूरक)

(५) नदी घाटी योजनाओं पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (१६६०)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए० और बी० एस० सी०

(१) भारत की नदी घाटी योजनाओं का वर्णन कीजिए। (क) कृषि और (ख) उद्योगों पर उनके प्रभाव का वर्णन कीजिए। (१६५५)

(२) जल विद्युत विकास के सम्बन्ध में भारत की वर्तमान स्थिति क्या है ? देश में जल-विद्युत-शक्ति के विकास के लिए हाल में अपनाई गई कुछ योजनाओं का उल्लेख कीजिए। (१६५७)

(३) भारत की जल-विद्युत-शक्ति के महत्व के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ? बहुउद्देशीय योजनाएँ जो सरकार ने चलाई हैं उनके विषय में विस्तारपूर्वक लिखिए। (१६५८)

---

(1) Indian Express (12-8-60), p. 1 and 7.

आठवाँ अध्याय

भारत का पशुधन

यूरोप में कल के हलों से काम होता है सही,
जुत क्यों न जाती हो अरब में ऊँट के हल से मही।
गोवंश पर ही किन्तु है यह देश अवलम्बित सदा,
पर दीन भारत! हाय! तेरे भाग्य में है क्या बदा?
हा! शोचनीय किसे नहीं गोवंश का यह ह्रास है,
इस पाप से ही बढ़ रहा क्या अब हमारा त्रास है?"

—भारत भारती

पशुओं सम्बन्धी आँकड़े

भारत की गिनती संसार के सबसे अधिक पशुओं वाले देशों में की जाती है। १९५६ की पशुगणना के अनुसार भारत में सब प्रकार के पालतू पशुओं की संख्या लगभग ३०.६५ करोड़ है। इनमें लगभग १५ करोड़ ८७ लाख गाय-बैल और ४.४८ करोड़ भैंस जाति के पशु हैं जो समस्त संसार के इस जाति के पशुओं की संख्या का लगभग एक-चौथाई भाग है। इनके अतिरिक्त लगभग ९ करोड़ ४६ लाख भेड़ बकरियाँ और लगभग ८३ लाख घोड़े, खच्चर, गधे और ऊँट इत्यादि हैं।[1] इस प्रकार प्रति व्यक्ति और प्रति एकड़ कृषित भूमि दोनों ही के हिसाब से भारत की पशु-संख्या संसार के अधिकतर देशों से अधिक है।

अनुमान है कि हमको हमारे पशुओं से प्रतिवर्ष ३०० हजार करोड़ रुपये का धन मिलता है। इसमें १०२० करोड़ रुपये का दूध और मांस, २३४ करोड़ रुपये का घी, ४० करोड़ का मक्खन, १००० करोड़ की खाद, ४७ करोड़ की खालें, ३०० करोड़ का खेती का काम और १६०० करोड़ रुपये का भारवाहक कार्य सम्मिलित है। "इस प्रकार हमें इन पशुओं से देश के चार बड़े उद्योग-चीनी, लोहा, सूती कपड़ा और कोयले के वार्षिक लाभ से चौगुना लाभ होता है।"[2]

यद्यपि हमारे देश में गाय-बैलों के अतिरिक्त अनेक अन्य जातियों के उपयोगी पशु हैं तथापि संख्या और महत्व की दृष्टि से गो-वंश ही प्रधान है। अतएव हम इस अध्याय में विशेष रूप से गो-धन की समस्याओं का विवेचन करेंगे।

---

1. India 1960, p. 256.
2. योजना, ४ अगस्त १९५७।

गो-धन का महत्व

भारत एक कृषि-प्रधान देश है। हमारी समस्त जन-संख्या का लगभग दो-तिहाई भाग कृषि से जीवन निर्वाह करता है और हमारी राष्ट्रीय आय का लगभग आधा भाग कृषि से प्राप्त होता है। कृषि-प्रधान भारत के लिए पशुधन का बड़ा महत्त्व है। पशुओं में सबसे अधिक महत्त्व गोवंश का है। भारतीय कृषि बैलों पर इतनी आश्रित है कि कृषि का कोई भी प्रमुख कार्य उनकी सहायता के बिना नहीं किया जा सकता। बैलों का उपयोग हल चलाने, भूमि को समतल बनाने, बीज बोने, कुओं से सिंचाई के लिए पानी निकालने, फसलों को गाहने आदि सभी कृषि-क्रियाओं में किया जाता है। इसके अतिरिक्त चरी काटने की मशीन चलाने, गाड़ी खींचने और बोझा ढोने में भी बैल काम आते हैं। यद्यपि कभी-कभी भैंसे, ऊँट और घोड़े, खच्चर आदि पशु भी इन कार्यों के लिए उपयोग किये जाते हैं तथापि कृषि-कार्यों में बैलों की प्रधानता है। इसीलिए कहावत प्रसिद्ध है कि "न गाय न अनाज" अर्थात् यदि गाय नहीं होगी तो अन्न भी नहीं होगा।

कृषि के अतिरिक्त भी गो-वंश का बड़ा महत्व है। गाय और भैंस दूध देती हैं। इनका गोबर खाद और ईंधन के काम आता है। इनका मांस खाया जाता है। मृत्यु के पश्चात् भी ये मनुष्य की सेवा करती है। इनके चमड़े से अनेक वस्तुएँ बनती हैं। इनके सींगों के बटन और कंघे आदि बनाये जाते हैं। इनकी हड्डियाँ भी खाद और फासफोरस आदि रसायन बनाने के काम आती हैं। संक्षेप में इनके शरीर का प्रत्येक अवयव मनुष्य के लिए उपयोगी है।

गो-वंश की सर्वांगीण उपयोगिता को देखते हुए कोई आश्चर्य नहीं कि प्राचीन काल में गाय की सेवा और रक्षा करना भारतवासियों के धर्म और विश्वास का एक अंग बन गया था। परन्तु आजकल गो-सेवा का ढोंग-मात्र रह गया है। ऐसा लगता है कि जिस तरह वे पुराने दिन चले गये हैं, ठीक उसी तरह यह सेवा की भावना भी जाती रही।

गो-वंश की हीन दशा

आजकल हमारे पशु अविकसित दशा में हैं और प्रति पशु पीछे हमारा उत्पादन संसार में सब देशों से नीचा है। उदाहरणार्थ, हमारे देश में प्रति गाय दूध का वार्षिक उत्पादन केवल ४१३ पौंड है जब कि डेनमार्क में यह ७००५ पौंड हैं और सब उन्नत देशों में यह २००० से ७००० पौंड तक होता है। परन्तु हमारे पशुओं में अधिक उत्पादन की शक्ति निहित है और उसे प्रकट रूप में लाना हमारी प्रधान समस्या हैं।

हीन दशा के कारण—हमारे पशुधन की दुर्दशा के मुख्य कारण निम्नांकित हैं :–

(१) कुपोषण—हमारे देश की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई जन-संख्या के भरण-पोषण के लिए कृषित क्षेत्र का विकास आवश्यक हो गया है। इससे चरागाहों के क्षेत्र में कमी हो गई है और कुछ भूमि चारे वाली फसल के स्थान पर अनाज, कपास, पटसन या तम्बाकू आदि उत्पन्न करने के काम आने लगी है। कृषि के विकास से जहाँ एक ओर पशुओं की माँग बढ़ती है वहाँ दूसरी ओर चरागाहों और चारे वाली फसलों की कमी होती जाती है। इससे अधिक पशुओं को कम चारे पर रखना पड़ता है। फलस्वरूप पशु आधे भूखे रहते हैं और दुबले-पतले, छोटे तथा शक्तिहीन हो जाते हैं और उनकी दूध देने की तथा भारवहन-क्षमता घट जाती है। अध्ययन से पता चलता है कि देश में पशुओं की संख्या चारे की पूर्ति को देखते हुए बहुत अधिक है। "सामान्यतः विचार है कि सूखे चारे की दृष्टि से देश में पशुओं की संख्या कम से कम एक-तिहाई अधिक है और हरे चारे की दृष्टि से स्थिति और भी खराब है।"[1] अब तक पशुओं का भरण-पोषण चरागाहों की घास तथा अनाज की खेती से प्राप्त होने वाले भूसा आदि अन्य ऐसी चीजों के सहारे होता रहा है। भविष्य में पशुधन की उन्नति मिश्रित कृषि-व्यवस्था के विकास पर बहुत कुछ निर्भर करेगी और खेती के पुनर्गठन की योजनाएँ बनाते समय इस बात पर विशेष ध्यान देना होगा।

(२) कुव्यवस्था—पशुओं की संख्या बढ़ने और उनके मालिकों की आर्थिक दशा खराब होने से न केवल पशुओं को पूरी खुराक नहीं मिलती बल्कि पशुओं की नस्ल सुधार और पालन-पोषण की सुव्यवस्था भी नहीं होने पाती है। गायों और भैंसों को दूध निकालने के पश्चात् गाँव के बाहर चरने को निकाल दिया जाता है जहाँ पर चरने वाले निम्नकोटि के बैलों से गायों का अव्यवस्थित संयोग होता है। इससे गो धन की नस्ल बहुत गिर गई है।

(३) रोग और महामारियाँ—हमारे देश में पशुओं के रोगों की रोक-थाम और चिकित्सा के साधनों का भारी अभाव है। फलतः अनेक प्रकार के संक्रामक तथा अन्य रोगों से पशुओं को भारी हानि होती है। बहुतेरे पशु मर जाते हैं और बहुतेरे कमजोर पड़ जाते हैं।

(४) फालतू पशु—पिछले कुछ वर्षों से देश में फालतू और बेकार पशुओं की संख्या बढ़ती हुई मालूम देती है। अकाल और महामारियों के नियन्त्रण और पशुओं के वध का पूर्णतया निषेध करने की जो कार्यवाही की गई है उससे इस प्रवृत्ति को और प्रोत्साहन मिलने की सम्भावना है। फालतू पशुओं की व्यवस्था की ओर उनके मालिक प्रायः उदासीन रहते हैं। इससे संक्रामक रोगों के फैलने और नस्ल बिगड़ने का भय रहता है। अतएव इनकी सुव्यवस्था भी आवश्यक है।

१. संक्षिप्त द्वितीय पंचवर्षीय योजना पृष्ठ १०५।

गो-धन का सुधार

गोधन के सुधार के लिये उपरोक्त सभी कारणों का निराकरण करना होगा। इसके लिये एक चतुर्मुखी योजना अपनानी होगी जिसके अन्तर्गत (१) चरागाहों और चारे की फसलों का विकास; (२) पशुओं की नस्लों का सुधार; (३) पशुओं के रोगों की रोक-थाम और चिकित्सा और (४) पशुपालन की उत्तम व्यवस्था—ये चार अंग होने चाहियें।

(१) **चारे का प्रश्न**—हम देख चुके हैं कि हमारे पशुधन की वर्तमान दुर्दशा का सबसे प्रधान कारण उनका कुपोषण है। हमारे देश में जितना चारा पैदा होता है वह कुल पशुओं के दो-तिहाई के लिये भी काफी नहीं है। अनुमान है कि अच्छी खुराक से दूध के उत्पादन में ३०% वृद्धि हो सकती है और बैलों की कार्यशक्ति भी काफी बढ़ सकती है। **अतएव उन्नति की दशा में पहला कदम चारे के उत्पादन में वृद्धि और वर्तमान उत्पादन की उचित सुरक्षा होनी चाहिए। इस दशा में निम्नांकित सुझावों पर अमल किया जाना चाहिए।**

(अ) सिंचित क्षेत्रों में किसानों को चारा और चारे के काम में आने वाली फसल लगाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त साल भर हरी रहने वाली घास भी लगाई जा सकती है। अन्य फसलों के साथ ही साथ पत्ती वाली फसलें भी लगाई जा सकती है। इस प्रकार कृषि के साथ पशु-पालन का अच्छा सम्मिश्रण हो सकता है।

(आ) सूखे प्रदेशों में चराई का महत्व बना रहेगा। परन्तु अत्यधिक चराई हानिकारक होती है। वर्तमान चरागाहों से पूरा लाभ उठाने के लिये नियन्त्रित चराई की पद्धति को अपनाना होगा। साथ ही स्थानीय परिस्थिति के अनुकूल नई प्रकार की अनुभवसिद्ध घासें जैसे नेपियर घास के उपयोग से वर्त्तमान चरागाहों पर घास की उत्पत्ति बढ़ानी होगी।

(इ) जहाँ तक अतिरिक्त चरागाहों का प्रश्न है खेती की उन्नति से सीमांत भूमि चरागाहों के लिये प्राप्त हो सकेगी। भारत में लगभग ५·६ करोड़ एकड़ कृषि योग्य परन्तु अकृपित भूमि है। इसका एक भाग घास उत्पन्न करने के काम में लिया जा सकता है। विज्ञान की सहायता से ऊबड़-खाबड़, ऊजड़ और कृषि के लिये अयोग्य भूमि के विस्तृत क्षेत्र भी घास उत्पन्न करने के काम में आ सकते हैं। भारत में लगभग १२ करोड़ एकड़ भूमि वनों से ढकी हुई है। वनों के सुप्रबन्ध से चारे का प्रश्न हल करने में बड़ी सहायता मिल सकती है। उपयुक्त स्थानों पर वृक्ष लगाये जा सकते हैं, जिनकी पत्तियाँ और फलियाँ पशुओं के खाने के काम में आ सकती हैं।

(ई) घास संग्रह करने और साइलेज तैयार करने के तरीकों में सुधार करने से भी पशुओं की खुराक की समस्या हल करने में सहायता मिल सकती है।

(उ) हमने अब तक केवल चारे के प्रश्न पर विचार किया है। चारे से पशुओं को केवल कार्बोज (Carbo-hydrates) प्राप्त होते हैं। पशुओं के सुपोषण के लिये कार्बोज के अतिरिक्त पुत्तनकों (Proteins) की भी आवश्यकता होती है। पशुओं के लिये पुत्तनकों या प्रोटीन्स की पूर्ति खली, तेलहन, चना आदि खिला कर की जा सकती है। परन्तु हमारे देश में इन वस्तुओं की बड़ी कमी है। अनुमान है कि भारत में कुल जितने पशु हैं, उनके केवल २८% के लिए ही ये वस्तुएं उपलब्ध हो सकती है। पशुओं के मालिकों को पशुओं के पोषण के लिए आवश्यक तत्वों का पूरा ज्ञान भी नहीं है। अतएव विभिन्न स्थानीय साधनों को ध्यान में रखते हुए पशुओं के लिए उपयुक्त 'खुराक' का ज्ञान जनता को दिया जाना चाहिए।

(ऊ) फालतू पशुओं की बढ़ती हुई संख्या के कारण चारे की समस्या और भी गम्भीर होती जा रही है। इनकी व्यवस्था के लिये गो-सदनों की स्थापना की जानी चाहिये जहाँ पर कम खर्च पर फालतू पशुओं को बस्तियों से दूर रखा जा सके। पहली योजना में ३,२०,००० फालतू पशुओं के लिये १६० गो-सदन स्थापित करने का लक्ष्य था; परन्तु केवल २२ गो-सदन ही स्थापित हो सके हैं। दूसरी योजना की अवधि में ६० गो-सदन स्थापित करने का कार्यक्रम है जिनमें ३०,००० फालतू पशु रह सकेंगे। स्वयं-सेवी संस्थाओं और जनता को इस कार्य में आगे आना चाहिये।

(२) नस्ल-सुधार— प्रजनन द्वारा पशु को एक निश्चित मात्रा में अपने जनक की उत्पादन सामर्थ्य प्राप्त होती है। आप किसी पशु को कितना भी खिलायें, किन्तु उसका उत्पादन वही रहेगा जो उसके वंश के हिसाब से होता है। हम देख चुके हैं कि हमारे देहातों में चलने वाले अव्यवस्थित संयोग के कारण हमारे गो-धन की नस्ल बहुत ही गिर गई है। नस्ल सुधारने के लिए एक ओर बुरी नस्ल के बैलों को बधिया करना होगा और दूसरी ओर पर्याप्त संख्या में अच्छी जाति के साँड़ों की व्यवस्था करनी होगी। अनुमान है कि सारे देश के लिए लगभग ६० लाख ऐसे साँड़ चाहियें, जब कि हमारे पास ३०,००० से अधिक ऐसे साँड़ नहीं हैं। इस कमी को पूरा करने के लिए कृत्रिम-गर्भाधान पद्धति (Artificial Insemination) का प्रचार करना होगा। साथ ही सरकारी फार्मों पर अधिकाधिक संख्या में अच्छी जाति के साँड़ तैयार करके गाँवों में बाँटना होगा। इस कार्य में जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिए पशु-प्रदर्शनियाँ या पशु-मेले भी आयोजित करने चाहियें, जिनमें उत्तम जाति के पशुओं के मालिकों को पारितोषिक दिये जाने चाहिएँ। इन सब कार्यों में यद्यपि काफी समय लगेगा तथापि इसका लाभ भी महत्वपूर्ण होगा। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि यदि चुनी हुई गायों और चुने हुए साँड़ों का व्यवस्थित संयोग कराया जाय तो दूध का उत्पादन २५ वर्षों में ही चौगुना हो सकता है।

योजना आयोग ने पशुधन सुधार के लिए केन्द्रीय ग्राम योजना बनाई है। इस

योजना के अनुसार कुछ चुने हुए इलाकों पर, जिनमें तीन साल से अधिक आयु वाली लगभग पाँच हजार गायें हैं, ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इन इलाकों में घटिया किस्म के साँड़ों को वधिया कर दिया जाता है, कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र स्थापित किये जाते हैं, लोगों को बछड़े पालने के लिये सरकारी सहायता दी जाती है, चारे के साधनों का विकास किया जाता है और पशु-पालन उद्योग की वस्तुओं की बिक्री के लिए सहकारी ढंग की व्यवस्था की जाती है। पहली योजना में ६०० केन्द्र ग्राम और १५० कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र स्थापित किये गये। दूसरी योजना की अवधि में १२५८ केन्द्र ग्राम, २४५ कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र और २५४ विस्तार केन्द्र खोले जायेंगे।

(३) **रोगों की रोक-थाम**—भारत में अनेक प्रकार के संक्रामक तथा अन्य रोगों से प्रतिवर्ष बड़ी संख्या में पशु मरते हैं या कमजोर पड़ जाते है। राज्यों में पशुओं के रोगों की रोकथाम और चिकित्सा का कार्य पशु-चिकित्सा विभागों द्वारा होता है। परन्तु ये इतने विकसित नहीं हैं कि सारा काम सम्हाल सकें। अनुमान है कि **लगभग २५,००० पशुओं के पीछे कम से कम एक पशु-चिकित्सालय तो होना ही चाहिये।** इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये पहले योजना-काल में पशु-चिकित्सालयों की संख्या २००० हजार से बढ़ाकर २६५० कर दी गई है। दूसरी योजना में १९०० पशु-चिकित्सालय और खोले जायेंगे। इसके अतिरिक्त दूसरी योजना की अवधि में देश को पोकनी (Rinderpast) नामक पशु-महामारी से मुक्त करने के लिए भी कार्यक्रम तैयार किया गया है। हमारे देश में १०० में से ६० पशुओं की मृत्यु इसी रोग से होती है।

भारत में पशु-चिकित्सा के लिये डाक्टरों की बड़ी कमी है। अनुमान है कि दूसरी योजना की अवधि में हमको ५,००० डाक्टरों की आवश्यकता होगी। इसके लिए मध्य भारत, उड़ीसा, आन्ध्र और केरल राज्यों में कॉलेज खोले गये हैं और पुराने कॉलेजों में दिन में दो बार पढ़ाई की व्यवस्था की गई है। इन कॉलेजों में चार वर्ष की पढ़ाई के बाद ग्रेज्यूएट (B. V. Sc. & A. H.) की डिग्री मिलती है। इसके आगे पढ़ाई के लिए एक कॉलेज इज्जतनगर (बरेली) में खोला जा रहा है। फिलहाल काम चलाने के लिए दस केन्द्रों में इसी वर्ष से छोटा पाठ्यक्रम भी चालू किया है। राज्य सरकारें भी पशुओं के विकास के लिए कर्मचारियों को विशेष विषयों की शिक्षा देने का प्रबन्ध कर रही हैं। पशु-पालन सम्बन्धी अनुसंधान के लिए भी राष्ट्रीय, प्रादेशिक और राज्य स्तर पर एक योजना तैयार की गई है। अब देश के विभिन्न भागों से कई शोध केन्द्रों में काम हो रहा है। कई शोध-संस्थाएँ अनुसंधान के साथ ही साथ पशु-चिकित्सा की शिक्षा भी प्रदान कर रही हैं।

(४) **उचित व्यवस्था**—चराई, नस्ल-सुधार और रोगों की रोकथाम के अतिरिक्त उत्तम व्यवस्था भी पशु-उन्नति के कार्य में प्रधान कार्य होना चाहिए। जैसा कि श्री दातार सिंह ने कहा है, गाय एक जीती-जागती मशीन है और उससे अधिक से

अधिक प्राप्त करने के लिए उसकी आवश्यकताओं पर सतत् ध्यान देना आवश्यक है। पशुओं को कम से कम पर्याप्त मात्रा में शुद्ध जल और यथेष्ट चारा, उनके रहने के लिए साफ और आरामदायक स्थान और उनकी देख-भाल के लिए न्यूनतम परिश्रम आवश्यक माने गये हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए हमारे अधिकांश पशु-पालक साधनहीन हैं। वे प्रायः नहीं जानते कि पशु के आराम और साधारण कल्याण के लिए किन-किन बातों की आवश्यकता होती है। अतएव इस क्षेत्र में लोगों में फैले हुए अज्ञान और नाजानकारी को दूर करने की आवश्यकता है ताकि वे विज्ञान द्वारा सिद्ध उपायों को जानें और काम में लेवें। साथ ही सहकारी बिक्री संस्थाओं का संगठन करके दूध और दूध से प्राप्त वस्तुओं की बिक्री का सुप्रबन्ध होना चाहिये, जिससे पशु-पालन आर्थिक दृष्टि से लाभदायक व्यवसाय बन सके और लोगों को पशु सुधार की ओर आर्थिक प्रयोजन मिले। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इस पहलू पर भी जोर दिया गया है और शहरों में दूध वितरण के लिए ३६ दूध पूर्ति-संघ, १२ मक्खन बनाने के सहकारी कारखाने और दूध-चूर्ण बनाने के ७ कारखाने स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। ये कारखाने गाँवों में स्थापित किये जायँगे और इनमें मक्खन, घी और मक्खन निकाले हुए दूध का चूर्ण तैयार किया जायगा। गाँवों में इकट्ठा किया हुआ दूध शहरों में दूध-मंडलों जैसे समुचित प्राधिकारियों की देख-रेख में वितरित किया जायगा। बम्बई में आरे नामक स्थान पर एक बड़ी दूध-बस्ती स्थापित की गई है और कलकत्ता में भी एक ऐसी ही बस्ती हरिनघाटा में बनाई जा रही है। आशा है इन प्रयत्नों के फलस्वरूप शहरी इलाकों में दूध की समस्या कुछ हद तक हल हो जायगी।

अभ्यास के प्रश्न

(१) भारत में गो-वंश का महत्व समझाइये। हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में गो-वंश के सुधार की क्या व्यवस्था की गई है ?

(२) हमारे पशु-धन की हीन दशा के कारण समझाकर लिखिए। आपकी राय में भारत में पशु-धन के सुधार के लिये क्या किया जाना चाहिये।

संदर्भ ग्रन्थ

(1) India 1960 (Publications Division, Delhi), pp. 256-58.

(2) संक्षिप्त द्वितीय पंचवर्षीय योजना अ. १४।

नवाँ अध्याय

प्राकृतिक साधनों का सारांश व उनके विदोहन में असफलता

"सम्पन्नता के बीच गरीबी"

प्रायः कहा जाता है कि प्रकृति ने उदारता-पूर्वक भारत को अपने उपहार प्रदान किए हैं, परन्तु भारतवासी उनसे समुचित लाभ नहीं उठा सके हैं। परिणामस्वरूप भारत प्राकृतिक दृष्टि से सम्पन्न होते हुए भी यहाँ के निवासी निर्धन और गरीब हैं। हम इस अध्याय में यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि यह कथन कहाँ तक सही है।

प्राचीन काल से प्रकृति और मनुष्य, धनोत्पादन के प्रमुख साधन माने गये हैं। जिन देशों में प्राकृतिक साधनों की विपुलता है और मनुष्य ने उनका समुचित उपयोग किया है वे आज आर्थिक उन्नति के शिखर पर हैं। दूसरी ओर जिन देशों में प्राकृतिक साधनों का अभाव है या यथेष्ट मात्रा में प्राकृतिक साधन होने पर भी मनुष्य ने उनका समुचित उपयोग नहीं किया है, वे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए और दरिद्र हैं।

आकार और स्थिति—हमने पिछले ६ अध्यायों में भारत के प्राकृतिक साधनों का वर्णन किया है। हमने देखा कि आकार और स्थिति की दृष्टि से भारत का दुनियाँ के देशों में ऊँचा स्थान है। वर्तमान भारतीय संघ का क्षेत्रफल लगभग १२·५ लाख वर्ग मील है जो ब्रिटेन का लगभग १४ गुना और जापान का ६ गुना होता है। वैसे भारत आकार की दृष्टि से दुनियाँ का सातवाँ सबसे बड़ा देश है। प्रकृति ने भारत को भौगोलिक एकता प्रदान की है और इसको शेप एशिया से पर्वतों और समुद्रों द्वारा अलग कर दिया है। भारत पूर्वीय गोलार्द्ध के बिल्कुल बीच में आगया है अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से दूसरे देशों की तुलना में भारत की स्थिति बहुत अनुकूल है। विस्तृत समुद्र तट होने से भारत के लिये समुद्री मार्ग से होने वाले व्यापार का विशेप महत्व है। परन्तु बन्दरगाहों और जहाजरानी के अभाव में भारतवासी अपने देश की अनुकूल स्थिति का यथेष्ट लाभ नहीं उठा सके हैं और आज भी भारत के विदेशी व्यापार का बड़ा भाग विदेशियों के हाथ में है।

जलवायु और जल-साधन—जलवायु की दृष्टि से भी भारत की स्थिति अच्छी है। भारत में समग्र रूप से अर्ध-अयनवृतीय मानसून शैली की जलवायु पाई जाती है। प्रायः गर्म जलवायु निरंतर कठोर परिश्रम के लिए अनुकूल नहीं मानी जाती है। देश में वर्षा का वितरण समान नहीं होने से भारत की कृपि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था अस्थिर रहती है परन्तु सिंचाई के साधनों के विकास द्वारा वर्षा की अस्थिरता कम की जा सकती है। सौभाग्य से भारत में बारह महीने बहने वाली कई नदियाँ हैं जिनका पानी

सिंचाई के काम में लाया जा सकता है। परन्तु अनेक कारणों से देश में सिंचाई के साधनों का यथेष्ट विकास नहीं हो पाया है। अनुमान है कि भारत में १,३५,६,० लाख एकड़ फुट जल साधन है जिसमें लगभग ४५०० लाख एकड़-फुट का सिंचाई के लिए उपयोग किया जा सकता है। पहली पंचवर्षीय योजना आरम्भ होने के समय (१९५१) तक ८८० लाख एकड़ फुट यानी कुल साधनों के ६·५ प्रतिशत और काम लायक साधनों के १९·५ प्रतिशत का उपभोग किया जा रहा था।[1] यद्यपि १९५६-१९५७ में में समाप्त होने वाले ६ वर्षों में असली सिंचित क्षेत्र में ४२ लाख एकड़ की वृद्धि हुई तथापि आज भी कुल कृषित क्षेत्र के केवल १० प्रतिशत को सिंचाई की सुविधाएं प्राप्त हैं।[2] दूसरे शब्दों में सदुपयोग के अभाव में आज भी हमारी नदियों का पानी सिर्फ बहकर समुद्र में चला जाता है और बाढ़ें तथा भूमि का कटाव करता है।

मिट्टियाँ—एक खेतिहर देश की आर्थिक समृद्धि मूलतः वहाँ की मिट्टी की उपजाऊ शक्ति पर निर्भर करती है। भारत के समतल मैदानों, पठारों तथा नदी घाटियों में विभिन्न प्रकार की उपजाऊ मिट्टियाँ पाई जाती हैं, परन्तु शताब्दियों के निरन्तर उपयोग तथा विश्राम और खाद की कमी से भारत की भूमि की उपजाऊ शक्ति बहुत घट गई है और फलस्वरूप भारत में प्रति एकड़ औसत उपज संसार में सबसे कम पाई जाती है। देश में गोबर की खाद, कम्पोस्ट खाद और रासायनिक उर्वरक तैयार करने के लिए यथेष्ट सामग्री मौजूद है, परन्तु अधिकांश गोबर उपलों के रूप में जला दिया जाता है और खाद बनाने के काम में नहीं लाया जाता। इसी प्रकार अन्धविश्वास के कारण मल-मूत्र, कूड़ा-करकट या विष्ठा से बनी हुई कम्पोस्ट खाद का बहुत कम उपयोग किया जाता है। पिछले कुछ वर्षों से देश में कम्पोस्ट और रासायनिक उर्वरकों की माँग काफी बढ़ गई है, परन्तु इनकी पूर्ति आज भी माँग के मुकाबले में बहुत कम है।

मिट्टियों के अध्याय में हमने बतलाया कि बिना सोचे समझे वनों को काटने से अधिकांश भूमि नंगी हो गई है और भूमि के कटाव के कारण बड़ी मात्रा में भूमि कृषि के योग्य नहीं। अतएव भूमि के कटाव को रोक कर भूमि की उपजाऊ शक्ति को बढ़ाने की आवश्यकता है।

खनिज—खनिज सम्पत्ति की दृष्टि से भी भारत की स्थिति अच्छी है। भारत में खनिज लोहे का भण्डार संसार में सबसे अधिक है। मैंगनीज के भण्डार की दृष्टि से भी भारत का नम्बर संसार में तीसरा है। इस्पात को कठोर बनाने वाली धातुओं में क्रोमियम, टिटानियम आदि भी भारत में यथेष्ट मात्रा में पाये जाते हैं। अल्युमिनियम बनाने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में बॉक्साइट मौजूद है और मोनेजाइट तथा बेरिल

1. India, 1956, p. 280.
2. India, 1956, p. 246.

आदि, जिनसे आणविक शक्ति प्राप्त होती है, काफी मात्रा में पाये जाते हैं। अभ्रक का तो भारत को विश्व में एक प्रकार का एकाधिकार प्राप्त है। जिप्सम भी, जिससे रासायनिक उर्वरक और गन्धक का तेजाब बनाया जाता है, बड़ी मात्रा में पाया जाता है। बड़े पैमाने पर औद्योगिक विकास के लिए जिन खनिजों की पूर्ति काफी नहीं है उनमें अधिक महत्वपूर्ण गन्धक, तांबा, रांगा, निकल, सीसा, जस्ता, ग्रे-फाइट, कोबल्ट, पारा और खनिज तेल हैं। इनके अलावा भारत में औद्योगिक विकास के लिये मूल खनिज और शक्ति के साधन उपलब्ध हैं। परन्तु हम अपने खनिजों का पूरा लाभ नहीं उठा पाये हैं। स्वाधीनता मिलने तक हमारे देश के अधिकांश खनिज पदार्थों का कच्ची शक्ल में निर्यात होता था और इनसे बनी हुई वस्तुओं का आयात किया जाता था। हमारी अधिकांश खानें विदेशियों के हाथ में थी जो भविष्य की परवाह न करते हुए खानों से कम से कम समय में अधिक से अधिक माल निकालने का प्रयत्न करते थे। आज भी हमारा खान खोदने का तरीका अदक्ष है और हमें अपने देश की खनिज सम्पत्ति के बारे में पूरा ज्ञान नहीं है।

वन-सम्पत्तिः—भारत में २.६६ लाख वर्गमील क्षेत्र में वन लगे हुए हैं जो देश में भूमि के कुल क्षेत्रफल का २१.३% होता है। परन्तु वनों का सब राज्यों में समान वितरण नहीं है। वनों का बड़ा भाग पहाड़ों पर होने से मनुष्यों के पहुँच के बाहर हैं। शेष वनों का भी सुप्रबन्ध नहीं किया जाता। हमारा लकड़ी काटने का तरीका बहुत पुराना है तथा वन-रक्षण विद्या के ज्ञान का भी हम में अभाव है। यही कारण है कि हमारे वनों की वार्षिक प्रति एकड़ उत्पादिता अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है।

पशुधन—भारत की गिनती संसार में सबसे अधिक पशुवाले देशों में की जाती है। चारे की कमी, अव्यवस्थित संयोग और रोगों तथा महामारियों के कारण हमारे पशु-धन की दशा बहुत खराब है। अनुत्पादक पशुओं की संख्या भी बहुत है। हमारा आदर्श यह होना चाहिये कि पशु संख्या में चाहे कम हों, किन्तु दक्षता में अधिक अच्छे हों।

शक्ति के साधन—औद्योगिक विकास के लिये शक्ति के साधनों के रूप में कोयला, खनिज तेल या विद्युत शक्ति की आवश्यकता होती है। भारत में खनिज कोयले की विशेष कमी नहीं है, परन्तु अधिकांश कोयला घटिया दर्जे का है और धातु कार्मिक कोयले का अभाव है। जहाँ तक खनिज तेल का सम्बन्ध है, भारत की स्थिति वास्तव में खराब है और हमें बड़ी मात्रा में विदेशों से तेल का आयात करना पड़ता है। परन्तु पन-बिजली के विकास से यह कमी पूरी की जा सकती है। विशेषज्ञों का अनुमान है, भारत में कुल मिलाकर ४१० लाख किलोवाट पन-बिजली तैयार करने की अनदभुत शक्ति है। पहली योजना के प्रारम्भ में देश में बिजली तैयार करने के केन्द्रों की

उत्पादन क्षमता कुल मिलाकर तेइस लाख किलोवाट थी। अतएव हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में जल-विद्युत का विकास करके शक्ति की कमी को दूर करने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

इस प्रकार यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि प्रकृति ने भारत को उदारता पूर्वक अपने उपहार प्रदान किए हैं; परन्तु भारतवासी उनका पूरा लाभ नहीं उठा सके हैं। जहाँ तक भारतवासियों की दरिद्रता का प्रश्न है यह किसी से छिपी नहीं है। हमारी दरिद्रता का सबसे बड़ा प्रतीक हमारे देश में प्रति व्यक्ति आय का कम होना है। अनुमान लगाया गया है सन् १९५५ में भारत में प्रति व्यक्ति औसत आय २५२) रु० थी जब कि लंका में ७५५), जापान में १०१०), पश्चिमी जर्मनी में २,६८३), इङ्गलैण्ड में ३,९८१) और अमेरिका में ९३५१) थी। प्राकृतिक सम्पन्नता के बीच मानव-दरिद्रता के मुख्य कारण निम्नांकित है—

(१) प्राकृतिक साधनों के उपयोग का अभाव या अदक्ष उपयोग।

(२) तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या।

(३) कृषि पर अत्यधिक आश्रितता।

(४) प्रति व्यक्ति कृषित क्षेत्र में कमी।

(५) औद्योगिक विकास का अभाव।

(६) आधुनिक विज्ञान और प्राविधिक ज्ञान की कमी।

(७) प्रतिकूल सामाजिक और राजनैतिक वातावरण।

स्पष्ट है कि जब तक अनुपयुक्त पड़े हुए साधनों का पूरा-पूरा उपयोग नहीं किया जाता भारतवासियों के जीवन स्तर में यथेष्ट उन्नति नहीं की जा सकती। हमारी पंच-वर्षीय योजनाओं में आर्थिक विकास की इस मूल समस्या पर ध्यान दिया गया है और धीरे-धीरे हम अपने प्राकृतिक साधनों का सदुपयोग करके अपने जीवन-स्तर को बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

परीक्षा के प्रश्न

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी. ए.

(१) 'भारत गरीब लोगों से बसा एक सम्पन्न देश है।' सविस्तार विवेचना कीजिए। (१९५१)

संदर्भ ग्रन्थ

(1) The First Five Year Plan, A Draft Out Line, Chapter I;

(2) जथार एण्ड बैरी : भारतीय अर्थ-शास्त्र, हिन्दी संस्करण, अध्याय २।

खण्ड ३—मानवीय साधन और श्रम समस्याएँ

"किसी देश का धन मुख्यतः उसके निवासियों की योग्यता में निहित है। जिस देश में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता है किन्तु जहाँ के निवासी आलसी और पिछड़े हुए हैं, उस देश की तुलना में जहाँ प्राकृतिक साधन कम हैं परन्तु जहाँ के निवासी स्फूर्तिवान हैं, दरिद्र होगा। जिस कारण से श्रम की दक्षता बढ़ती है, राष्ट्रीय आय बढ़ती है; और जिससे दक्षता घटती है, राष्ट्रीय आय कम होती है।" —लिपसन

अध्याय १० से १५

[अध्याय १०—भारत की जन-संख्या; ११—भारत में श्रमिक दक्षता; १२—भारत के सामाजिक रीति-रिवाज़; १३—भारत में श्रमिक-संघ, १४—श्रम-विधान; १५—भारत में श्रम-कल्याण कार्य]

दसवाँ अध्याय

भारत की जन-संख्या

"पुत्र के जन्म से मनुष्य को सब लोकों पर विजय प्राप्त होती है, पौत्र के जन्म से वह अमर हो जाता है और तत्पश्चात् प्रपौत्र के जन्म से उसको सूर्यलोक मिलता है।"

—मनुस्मृति

"भारत की आबादी नियंत्रित करना राष्ट्रीय कल्याण और राष्ट्रीय योजना की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।"

—योजना आयोग

किसी देश के आर्थिक जीवन पर वहाँ के निवासियों की संख्या और दक्षता का गहरा प्रभाव पड़ता है। आर्थिक विकास का उद्देश्य मनुष्य के जीवन को आर्थिक दृष्टि से सुखी और सम्पन्न बनाना है। प्रत्येक देश के रहने वाले अपने प्राविधिक ज्ञान और पूँजी की सहायता से अपने देश के प्राकृतिक साधनों का उपयोग करके धन का उत्पादन करते हैं। यदि जनसंख्या बहुत कम हुई तो देश में श्रमिकों की कमी होने से प्राकृतिक साधनों का पूरा उपयोग नहीं किया जा सकता और मण्डी के सीमित होने से श्रम-विभाजन और बड़े पैमाने के लाभ नहीं उठाये जा सकते। इसके विपरीत जन-संख्या के अत्यधिक होने से देश में बे-रोजगारी और अर्द्ध-रोजगारी, कम आमदनी और नीचे जीवन-स्तर की समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। अतएव अधिकतम आर्थिक कल्याण की दृष्टि से देश की जन-संख्या न बहुत कम और न बहुत ज्यादा ही होनी चाहिये बल्कि इतनी होनी चाहिये कि प्रतिव्यक्ति अधिकतम उत्पादन और आय प्राप्त हो सके। ऐसी जन-संख्या उत्तम जनसंख्या "(Optimum Population) कहलाती है।

जन-संख्या की वृद्धि और आर्थिक विकास—पिछली दो शताब्दियों में संसार की जन-संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। ईसा मसीह के जन्म से लेकर १७५० तक संसार की जन-संख्या में प्रति शताब्दी लगभग ६ प्रतिशत वृद्धि होने का अनुमान लगाया जाता है जब कि १७५० से १९५० के बीच संसार की जन-संख्या में वृद्धि की दर प्रति शताब्दी ८५ प्रतिशत रही है। वास्तव में संसार की जन-संख्या जो ईसा के जन्म के समय लगभग २५ करोड़ थी, १७५० में लगभग ७० करोड़ होगई और १९५० में लगभग २४० करोड़ होगई।

जन-संख्या में परिवर्तन जन्म-दर और मृत्यु-दर के सम्बन्ध पर निर्भर करते हैं। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व जन-संख्या और इसकी वृद्धि की दर कम होने का कारण यह है कि मध्यकालीन समाजों में जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनों काफी ऊँची थीं और दोनों

का अन्तर बहुत कम था। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात जीवन-स्तर उन्नत होने से मृत्युदर काफी कम होगई; परन्तु जन्म-दर में विशेष कमी नहीं हुई। आर्थिक उन्नति के फलस्वरूप खाद्यान्नों की पूर्ति बढ़ने और जन-स्वास्थ्य तथा चिकित्सा की सुविधाएँ बढ़ने से मृत्यु दर घट जाती है। परन्तु जन्म-दर घटने में देरी लगती है, क्योंकि रूढ़िग्रस्त और पिछड़े हुये समाजों में यौन-व्यवहार में परिवर्तन होने और सन्तति-निग्रह के प्रचार में देरी लगती है। आगे चलकर जब औद्योगीकरण के फलस्वरूप गाँवों को छोड़ कर शहरों में रहने की प्रवृत्ति बढ़ती है तो अधिक सन्तान भारस्वरूप बन जाती है। धीरे धीरे सामाजिक रीति-रिवाजों और अन्धविश्वासों के बन्धन ढीले पड़ने लगते हैं और जन्म-दर भी घटने लगती है। फिर कुछ समय के लिए जन्म-दर और मृत्यु दर दोनों साथ-साथ घटने लगती है और जन-संख्या में वृद्धि की एक स्थिर दर कायम हो जाती है।

हम आगे चलकर देखेंगे कि भारत में पिछले ४० वर्षों में चिकित्सा के साधनों में सुधार और चिकित्सा-शास्त्र में प्रगति तथा संक्रामक रोगों पर नियंत्रण के फलस्वरूप भारत में मृत्यु दर घट गई है; परन्तु हमारी जन्म-दर आज भी पूर्ववत् ऊँची है। फलस्वरूप पिछले ४० वर्षों में भारत की जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। भविष्य में आर्थिक विकास के कारण मृत्यु दर में और कुछ कमी होने की आशा है। परन्तु सामाजिक रूढ़ियों और परम्परागत विश्वासों के कारण सम्भव है कुछ वर्षों तक भारत में जन्म दर ऊँची ही बनी रहेगी या कुछ बढ़ भी सकती है। फलस्वरूप निकट भविष्य में जन्म-संख्या में वृद्धि की गति और तेज होने की आशा है। परन्तु आगे चलकर तेजी से आर्थिक विकास होने पर रुचियें और विश्वास बदलेंगे और परिवार-नियोजन के प्रचार के साथ जन्म-दर घटने की आशा की जा सकती है।

हमने अब तक जनसंख्या की वृद्धि की दर पर आर्थिक विकास के प्रभाव का विचार किया है। परन्तु जन-संख्या की वृद्धि का आर्थिक विकास की गति पर प्रभाव पड़ता है, यदि आबादी बढ़ने के साथ-साथ पूँजी संचय और उत्पादन के नये तरीके अपनाने की इच्छा भी बढ़ती जाती है तो बढ़ती हुई जनसंख्या को रोजगार मिलता रहता है और जनसंख्या के बढ़ने से आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है। 'नये' मुल्कों में जब पुराने मुल्कों के आदमी आकर बस जाते हैं और अपने साथ अपनी बचाई हुई पूँजी भी ले आते हैं तथा प्रचुर मात्रा में प्राकृतिक साधन उपलब्ध होते हैं तो जनसंख्या के बढ़ने से आर्थिक विकास की गति और तेज हो जाती है। परन्तु यदि पूँजी के संचय की वर्तमान दर बढ़ती हुई जनसंख्या को रोजगार देने के लिये काफी नहीं हुई तो बे-रोजगारी और अर्द्ध रोजगारी की समस्या उत्पन्न हो जाती है। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए घने आबाद देशों में प्रायः ऐसा ही होता है। इन देशों में पूँजी इतनी कम होती है कि मौजूदा आबादी को भी पूरा रोजगार नहीं मिल सकता और

जनसंख्या की वृद्धि से बेरोजगार और कम-रोजगार पाये हुये लोगों की संख्या बराबर बढ़ती रहती है। अतएव इन देशों में एक ओर उत्पादन के नये तरीके अपनाकर बचत और पूँजी-संचय बढ़ाने की आवश्यकता होती है और दूसरी ओर परिवार-नियोजन द्वारा जन्म-दर को घटाकर जन-संख्या पर नियन्त्रण करना होता है।

भारत में जनसंख्या का आकार और वृद्धि

सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत (सिक्किम और चन्द्रनगर सहित; परन्तु जम्मू-काश्मीर तथा आसाम के कबाइली इलाकों को छोड़कर) की कुल जन-संख्या ३५,६८,७९,३९४ थी। अनुमान है कि एक १ मार्च १९५१ को जम्मू और काश्मीर की जनसंख्या ४४·१ लाख और आसाम के कबाइली इलाकों की लगभग ५·६ लाख थी। इस प्रकार जम्मू और काश्मीर तथा आसाम के कबाइली इलाकों सहित भारतीय संघ की कुल जनसंख्या ३६ करोड़ से ऊपर हो जाती है। संयुक्त-राष्ट्र-संघ की एक रिपोर्ट के अनुसार १९५० में विश्व की जनसंख्या लगभग २४० करोड़ थी। इस **प्रकार भारत की जनसंख्या समस्त संसार की जनसंख्या की ⅐ हुई अर्थात् विश्व में प्रत्येक सातवाँ मनुष्य भारतीय है।** जन-संख्या के आकार की दृष्टि से भारत, चीन को छोड़कर, संसार में सबसे बड़ा देश है। हमारी जनसंख्या सोवियत सङ्घ (२१ करोड़),

चित्र-संख्या १४—विश्व की जन-संख्या में भारत की जन-संख्या

उत्तरी अमेरिका (२२ करोड़), अफ्रीका (२० करोड़), दक्षिणी अमेरिका (११ करोड़), ओशनिया (१·३ करोड़) से अधिक है और सोवियत संघ को छोड़कर शेष यूरोप की जनसंख्या (३९·६ करोड़) के लगभग बराबर है। यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि भारत की कुल जनसंख्या विश्व की कुल जनसंख्या की लगभग १५ प्रतिशत है तथापि भारत का कुल क्षेत्रफल विश्व के कुल क्षेत्रफल का केवल २·५ प्रतिशत है।

नीचे के कोष्ठक में भारतीय संघ की वर्तमान सीमाओं की जन-संख्या के पिछले पचास वर्षों के आँकड़े दिये जाते हैं, जिससे हमारे देश में वर्तमान शताब्दी में जन-संख्या की वृद्धि की गति ज्ञात होती है।

भारत में जन-संख्या की वृद्धि[1]

वर्ष	जनसंख्या (लाख)	वास्तविक वृद्धि या कमी (लाख)	प्रतिशत वृद्धि या कमी
१९०१	२३५५·०	—	—
१९११	२४९०·५	१३५·५	+५·८
१९२१	२४८१·८	—८·७	—०·३
१९३१	२७५५·२	२७३·४	+११·०
१९४१	३१४८·३	३९३·१	+१४·३
१९५१	३५६८·३	४२०·०	+१३·४

उपर्युक्त कोष्ठक से ज्ञात होगा कि गत पचास वर्षों में हमारी जन-संख्या लगभग ५२% बढ़ गई है। इस शताब्दी के प्रथम दो दशकों में वृद्धि की दर कम थी, परन्तु सन् १९२१ से वृद्धि की दर काफी ऊँची रही है। इस प्रकार सन् १९२१ महान भाजक (Great Divide) माना गया है। १९२१ से पहिले भारत में जनसंख्या की वृद्धि की दर कम थी। क्योंकि यद्यपि भारत की जन्म दर ऊँची थी तथापि अकाल और महामारियों के कारण मृत्यु दर भी काफी ऊँची थी। परन्तु १९२१ के बाद चिकित्सा शास्त्र की प्रगति और देश में चिकित्सा की सुविधाओं में सुधार तथा संक्रामक रोगों के नियन्त्रण के फलस्वरूप जहाँ हमारी मृत्यु-दर काफी घट गई है वहाँ हमारी जन्म-दर आज भी पूर्ववत् ऊँची है। अतएव १९२१ के बाद जनसंख्या बड़ी तेजी से बढ़ी है।

सन् १९४१ से १९५१ के १० वर्षों में जनसंख्या की वृद्धि जिस दर से हुई है अगर उसी दर से हमारी जनसंख्या बढ़ती रही तो श्री गोपालास्वामी के अनुमानों के अनुसार भारत की जनसंख्या १९६० में ४१ करोड़, १९७१ में ४६ करोड़ और १९८१ में ५२ करोड़ हो जाएगी। डॉ० चन्द्रशेखर ने अनुमान लगाया है कि वर्तमान वृद्धि की दर के अनुसार भारतीय सङ्घ की जनसंख्या इस शताब्दी के अन्त तक १ अरब हो सकती है।

1. Hindustan Times, 15-२-1951.

वास्तव में मृत्यु-दर के धीरे-धीरे कम होने और जन्म-दर के पूर्ववत् ऊँची बनी रहने से जनसंख्या में वृद्धि की दर पूर्वापेक्षा बढ़ने का अनुमान है। योजना-आयोग ने अनुमान लगाया था कि १·२५ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि की दर से दूसरी योजना की अवधि में भारत की जनसंख्या में प्रति वर्ष ½ करोड़ वृद्धि होगी और १९५१-१९६१ की दस वर्षों की अवधि में जनसंख्या में १२·५ प्रतिशत वृद्धि हो जायगी। जनसंख्या के नये अध्ययनों से प्रगट हुआ है कि योजना-आयोग ने वृद्धि की दर कम आंकी है। प्रिंस्टन विश्वविद्यालय के प्रो० कोले और प्रो० हूवर के अनुसार दूसरी योजना की अवधि में पहली योजना की अवधि की अपेक्षा मृत्यु-दर १००० पीछे ५ कम हो सकती है। इस आधार पर इन विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि दूसरी योजना-काल में जनसंख्या में वृद्धि की दर २ प्रतिशत प्रति वर्ष हो सकती है और जनसंख्या में वास्तविक वृद्धि प्रति वर्ष ५० लाख की जगह ८० लाख होने का अनुमान है। तीसरी योजना के प्रारम्भिक मसौदे में योजना आयोग ने इन अनुमानों को सही माना है। इस प्रकार भारत की वर्तमान जनसंख्या निःसंदेह ४० करोड़ से ऊपर है।

कुछ लोगों का कहना है हमारी जनसंख्या की वृद्धि की दर अन्य देशों से अधिक नहीं है। परन्तु हमको यह नहीं भूलना चाहिये कि इस साधारण वृद्धि की दर से भी हमारे देश में प्रति दशक ८ करोड़ आबादी बढ़ सकती है जो सोवियत संघ को छोड़कर किसी भी योरपीय देश की समस्त आबादी से अधिक है।

जनसंख्या के बढ़ने से सबसे प्रमुख समस्या खाद्यान्नों की पूर्ति की पैदा होती है। अनुमान है कि भारत में खाद्यान्नों की पूर्ति मुश्किल से ३० करोड़ लोगों के लिए काफी होती है जबकि हमारे देश की जनसंख्या ४० करोड़ से ऊपर है। दूसरे शब्दों में, देश की अधिकांश जनसंख्या भुखमरी से पीड़ित रहती है। जनसंख्या के तेजी से बढ़ने के कारण भुखमरी की समस्या और भी विकट हो सकती है। इसको रोकने के केवल दो उपाय हैं—(१) कृषि के विस्तार और उन्नति के द्वारा खाद्यानों की पूर्ति बढ़ाई जा सकती है और (२) परिवार-नियोजन के द्वारा खाद्यान्नों की माँग पर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। कई विशेषज्ञों की राय है कि हम केवल खेती के विस्तार और उन्नति के द्वारा तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये यथेष्ट अन्न उत्पन्न नहीं कर पायेंगे। अतएव यदि हम भुखमरी से बचना चाहते हैं तो खाद्यान्नों की उत्पत्ति बढ़ाने के साथ ही साथ परिवार-नियोजन द्वारा जनसंख्या पर नियंत्रण करना आवश्यक होगा।

जनसंख्या का घनत्व

जन-संख्या के घनत्व (Density of Population) से हमारा अभिप्राय प्रतिवर्गमील निवासियों की संख्या से है।—यदि किसी देश या क्षेत्र की कुल जन-संख्या को वहाँ के क्षेत्रफल (वर्गमीलों में) से विभाजित कर दिया जाये तो वहाँ की जन-संख्या का घनत्व ज्ञात हो जाता है। हमने देखा कि भारत की जनसंख्या बराबर

बढ़ती जा रही है । परन्तु देश का क्षेत्रफल लगभग स्थिर है। फलस्वरूप भारत भारत में जन-संख्या का घनत्व भी बढ़ रहा है ।[1] परन्तु केवल जन-संख्या के घनत्व के आधार पर हम नहीं कह सकते कि किसी देश में जनाधिक्य (Over-Population) है या जनाभाव (Under-Population) । निम्नलिखित कोष्ठक से ज्ञात होता है कि इङ्गलैन्ड आदि देशों में जन-संख्या का घनत्व भारत से अधिक है, परन्तु इससे यह परिणाम निकालना सही नहीं होगा कि उन देशों में जनाधिक्य है या भारत में जनाभाव है ।

जन-संख्या का घनत्व[2]

देश का नाम	जन संख्या का घनत्व	देश का नाम	जन संख्या का घनत्व
जापान	५७६	अमेरिका के संयुक्त राज्य (U.S.A.)	५०
संयुक्तराज्य (U.K.)	५३६	सोवियत संघ (U.S.S.R.)	२३
भारत	३१२	ब्राजील	१५
फ्रांस	१६३		
चीन	१२३		

निम्नांकित सारिणी में भारत के विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों में जन-संख्या का घनत्व दिया जाता है[3] :—

राज्य	जन-संख्या का घनत्व
(१) आन्ध्र प्रदेश	२६५
(२) आसाम	१०६
(३) बिहार	५७७
(४) बम्बई	२५३
(५) जम्मू और काश्मीर	५१
(६) केरल	६०३
(७) मध्यप्रदेश	१५२
(८) मद्रास	५६८
(९) मैसूर	२६२
(१०) उड़ीसा	२४३
(११) पंजाब	३४३

1. भारत में जन-संख्या का घनत्व १६२१, १६३१, १६४१ और १६५१ में क्रमशः १६३, २१३, २४६ और २८७ पाया गया है। (India 1960, p. 43)

2. India 1953, p. 6 से संग्रहीत।

3. India 1960, p. 15 से संग्रहीत।

(१२) राजस्थान	१२१
(१३) उत्तर प्रदेश	५५७
(१४) पं० बंगाल	७७५
क्षेत्र	
(१) अन्डमन और निकोबार	१०
(२) दिल्ली	३०४४
(३) हिमालय प्रदेश	१०२
(४) लकादिवे, मिनिकोई और आमिनदिवी	१६१२
(५) मणीपुर	६७
(६) त्रिपुर	१५८
भारत	३१२[1]

उपर्युक्त कोष्ठक से ज्ञात होता है कि भारत में जन-संख्या के घनत्व का औसत ३१२ है, परन्तु घनत्व भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न है। एक ओर अण्डमन में यह केवल १० है तो दूसरी ओर दिल्ली राज्य में ३०४४ है। जन-संख्या के घनत्व पर जिन बातों का प्रभाव पड़ता है, उनमें से मुख्य निम्नांकित हैं :—

(१) भूमि का धरातल—जन-संख्या के घनत्व की दृष्टि से भूमि के धरातल का बड़ा महत्व है। जहाँ भूमि समतल होती है, प्रत्येक इञ्च भूमि पर खेती की जा सकती है और बहुत घनी जन-संख्या का निर्वाह हो सकता है; जैसे, बङ्गाल और विहार में। यदि सतह ऊबड़-खाबड़ हो या पर्वतों और घाटियों से भरी हुई हो तो खेती में कठिनाई होती है और जन-संख्या का घनत्व अपेक्षाकृत घट जाता है; जैसे—बम्बई राज्य में।

(२) मिट्टी—यदि उपजाऊ भूमि के साथ ही पर्याप्त मात्रा में वर्षा भी होती हो तो भूमि की उर्वरता का भी जन-संख्या के घनत्व पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। परन्तु केवल मिट्टी के गुणों का भारत में जन-संख्या के घनत्व पर प्रभाव अधिक महत्व-पूर्ण नहीं है। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े राज्यों के आधार पर विचार करने से मिट्टियों के अन्तर बहुत सूक्ष्म हो जाते हैं।

(३) वर्षा—भारत में "जन-संख्या के इष्टतम घनत्व" के लिये लगभग ४० इञ्च वार्षिक वर्षा की आवश्यकता होती है, जिसका वितरण भी उपयुक्त हो। यदि वर्षा इस औसत से कम हो या वर्षा का वितरण ठीक न हो तो जन-संख्या का घनत्व घट जाता है। परन्तु सीमा से अधिक वर्षा भी लाभदायक न होकर वास्तव में हानिकारक

1. India 1960 में सिक्किम के क्षेत्रफल और जन-संख्या के सहित भारत में जन-संख्या का घनत्व २८७ बतलाया गया है। (देखिये पृ० १५)

सिद्ध होती है। जहाँ समतल भूमि, उपजाऊ मिट्टी और पर्याप्त वर्षा तीनों मिल जाती है, वहाँ जन-संख्या का घनत्व बहुत बढ़ जाता है; जैसे, दक्षिण-पूर्वी समुद्र तट पर।

(४) सिंचाई—सिंचाई का प्रभाव भी वर्षा के समान ही होता है। वर्षा की कमी को सिंचाई द्वारा पूरा किया जाता है, परन्तु समस्त देश की दृष्टि से सिंचाई का घनत्व पर प्रभाव अधिक महत्वपूर्ण नहीं है।

(५) जलवायु—जन-संख्या के घनत्व पर जलवायु का भी प्रभाव पड़ता है। कहीं-कहीं खराब जलवायु के कारण अन्य लाभों का निराकरण हो जाता है और हमें बहुत कम घनत्व दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणवत्—आसाम में अस्वास्थ्यकर जलवायु के कारण घनत्व बहुत कम है।

(६) जन धन की सुरक्षा—जन-संख्या के घनी होने के लिए जन-धन की सुरक्षा की बड़ी आवश्यकता होती है। जिस स्थान में जन-धन की सुरक्षा नहीं होती, वहाँ से मनुष्य ऐसी जगह चले जाते हैं, जहाँ इनका समुचित प्रबन्ध हो। जैसे देश-विभाजन के पश्चात् पूर्वी बंगाल, सिन्ध और पश्चिमी बंगाल के दंगाई क्षेत्रों को छोड़कर बहुत से हिन्दुओं ने पश्चिमी बंगाल, पञ्जाब, उत्तर-प्रदेश, देहली या राजस्थान में शरण ली है।

(७) जीवन-स्तर - बहुधा लोग ऐसे स्थान पर रहना पसन्द करते हैं, जहाँ का जीवन-स्तर इतना ऊँचा होता है ताकि सभ्य जीवन की सुविधाओं का पर्याप्त आनन्द उठाया जा सके। एक देश से दूसरे देश के प्रवास बहुधा इसी कारण होते हैं। यही कारण है कि कई यूरोपवासी अमरीका और आस्ट्रेलिया में जाकर बस गये हैं या हमारे देश में कई देहाती लोग औद्योगिक और व्यावसायिक नगरों में जाकर रहने लगे हैं।

(८) आर्थिक-साधन—जिस स्थान पर आर्थिक साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हों; वहाँ अन्य स्थानों की अपेक्षा, जहाँ इनका अभाव हो, जन-संख्या अधिक होती है। उदाहरणतः राजस्थान में साधनों के अभाव से जन-संख्या बहुत कम है। बिहार और बंगाल में अन्य साधनों की अपेक्षा कोयले और लोहे की खानों के निकट जन-संख्या की अधिकता है।

(९) आर्थिक विकास की अवस्था—जैसे-जैसे देश का आर्थिक विकास होता है वैसे-वैसे जन-संख्या का घनत्व भी बढ़ता जाता है; क्योंकि विकसित आर्थिक दशा में अधिक जन-संख्या का निर्वाह सम्भव हो जाता है। यही कारण है कि शिकार की अवस्था से पशु-पालन अवस्था में जन-संख्या अधिक थी। कृषि और ग्रामोद्योग अवस्था में यह और भी अधिक हो गई और वर्तमान समय में औद्योगिक अवस्था में जन-संख्या कृषि अवस्था से भी अधिक घनी है।

रहन-सहन के ढङ्ग—१९५१

(अ) गाँव और कस्बे

निम्नांकित कोष्ठक में भारत की जन संख्या का गांवों और कस्बों के आधार पर विभाजन दिया गया है[1] —

नाम स्थान	संख्या का स्थान	जन-संख्या	कुल जन-संख्या का प्रतिशत
गाँव	५५८०८९	२९५० लाख	८२·७
कस्बे	३०१८	६१९ ,,	१७·३
कुल	५६११०७	३५६९ ,,	१००·०

उपर्युक्त कोष्ठक से ज्ञात होता है कि सन् १९५१ में भारत में मनुष्यों के रहने के कुल ५,६१,१०७ स्थान थे जिनमें ५,५८,०८९ गाँव थे और ३०१८ कस्बे थे। देश की कुल ३५६९ लाख जन-संख्या में से २९५० लाख अर्थात् कुल जन-संख्या का ८२·७% गाँवों में रहते थे और शेष ६१९ लाख अर्थात् १७·३% कस्बों में रहते थे। दूसरे शब्दों में, देश की कुल जन-संख्या का छठा भाग कस्बों में रहता था।

यदि हम जन-संख्या के उपर्युक्त वितरण की भूतकाल से तुलना करें तो ज्ञात होगा कि हमारे देश में इस शताब्दी के प्रारम्भ ही से देहात में रहने वालों का अनुपात घट रहा है और कस्बों में रहने वालों का अनुपात बढ़ रहा है।[2]

जन-संख्या का अनुपात	१९०१	१९११	१९२१	१९३१	१९४१	१९५१
गाँवों में	९०·१	९०·६	८८·७	८७·९	८६·१	८२·७
कस्बों में	९·९	९·४	११·३	१२·१	१३·९	१७·३

उपर्युक्त कोष्ठक से ज्ञात होता है कि भारत में शहरी जनता का अनुपात १९४१ की अपेक्षा ३·४% और १९०१ की अपेक्षा ७·४% अधिक है। इस प्रवृत्ति के चार मुख्य कारण हैं:—(१) देश के औद्योगीकरण, जिससे जन-संख्या का केन्द्रीयकरण होता है; (२) मध्य श्रेणी के लिये कस्बों के जीवन का आकर्षण; (३) कस्बों में शिक्षा और चिकित्सा के साधनों का उपलब्ध होना; (४) देश-विभाजन, जिससे पाकिस्तान को ९२% और भारत को ८६% देहाती जनता मिली।

यद्यपि भारत में शहरी आबादी का अनुपात बढ़ रहा है तथापि अन्य देशों की अपेक्षा यह अब भी बहुत कम है। जबकि भारत में शहरी आबादी का अनुपात १७·३% है, फ्रांस, कनाडा, अमेरिका के संयुक्त राज्यों और इंगलैंड में क्रमशः ४९%, ५३·७%, ५९·२% और ८०% है। यह हमारी पिछड़ी हुई आर्थिक दशा और कृषि-प्रधानता का द्योतक है।

1. Census of India (1951), Vol. I. Part I A.
2. Census of India (1951), Vol. I, Part I A.

(आ) मकान और परिवार

सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार भारत में 'रहने के मकानों' (Occupied Houses) की कुल संख्या ६४४ लाख थी जिनमें ५४१ लाख गाँवों में और १०३ लाख कस्बों में थे। इस हिसाब से हमारे कस्बों में प्रत्येक मकान में ६ मनुष्यों और गाँवों में दो घरों में ११ मनुष्यों की संख्या आती है।

गणना में परिवारों (Households) के विषय में भी सूचना इकट्ठी की गई थी। परिवार (Households) से तात्पर्य ऐसे समूह से है जो एक साथ रहते हैं और एक स्थान पर भोजन करते हैं। इस गणना से मालूम हुआ कि गाँवों में प्रति १०० मकानों में ११२ परिवार रहते हैं, जबकि कस्बों में प्रति १०० मकानों में १२४ परिवार रहते है। **गाँवों में प्रति सौ परिवार में ४६१ मनुष्य हैं जबकि कस्बों में प्रति सौ परिवार में ४७१ मनुष्य हैं।**

आकार की दृष्टि से परिवारों को चार श्रेणियों में बाँटा गया था, यथा—छोटे (जिनमें तीन या कम सदस्य हों), मध्यम (जिनमें ४ या ५ सदस्य हों,), बड़े (जिनमें ७, ८ या ९ सदस्य हों), और बहुत बड़े (जिनमें १० या अधिक सदस्य हों)। पार्श्ववर्ती कोष्ठक से ज्ञात होगा कि एक प्रतिनिधि गाँव और प्रतिनिधि कस्बे में सौ परिवारों में से कितने किस श्रेणी के हैं। कोष्ठक से स्पष्ट है कि गाँव में ३३% परिवार ऐसे हैं जिनमें तीन या कम सदस्य हैं। इससे प्रकट होता है कि "संयुक्त परिवार प्रणाली" अब बहुत कमजोर हो गई है।

परिवार की श्रेणी	परिवारों का प्रतिशत	
	गाँव में	कस्बे में
छोटे	३३	३८
मध्यम	४४	४१
बड़े	१७	१६
बहुत बड़े	६	५
	कुल १००%	१००%

Source : Census of India (1951), Vol. I, Part I A, p. 50.

(ई) लिंग अनुपात

साधारणतः आशा की जाती है कि पुरुषों और स्त्रियों का अनुपात सर्वत्र समान होता है। गणना से ज्ञात होता है कि प्रायः ऐसा नहीं है और देश के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न असमानता है। १९५१ की गणना से पता चलता है कि हमारे देश में लिंग अनुपात ९४७ है अर्थात् प्रति १००० पुरुषों के पीछे ९४७ स्त्रियाँ हैं। साधारणतः लिंग अनुपात गाँवों की अपेक्षा कस्बों में कम है। समस्त देश के लिए गाँवों में यह अनुपात [illegible] है और [illegible] में ८६० है। बड़े नगरों में यह अनुपात और भी कम है।

पाश्चात्य देशों में प्रायः स्त्रियों का अनुपात पुरुषों से अधिक पाया जाता है। अतएव बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में यह विश्वास किया जाता था कि भारत में स्त्रियों के अभाव का कारण यह है कि स्त्रियों की पूरी गणना नहीं कराई जाती है। परन्तु यह बात नहीं है। हमारी गणना प्रणाली में यह दोष नहीं है। पिछली सब गणनाओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि भारत में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से कम है। निम्नांकित कोष्ठक से यह निष्कर्ष सिद्ध होता है।

वर्ष	१९२१	१९३१	१९४१	१९५१
लिंग अनुपात	९५६	९५१	९४६	९४७

Source : Census of India (1951), Vol I, Part I A, P. 57.

औद्योगिक शहरों या अन्य स्थानों में जहाँ अन्य स्थानों से मनुष्य आकर बसते हैं, पुरुषों की अधिकता स्वाभाविक है क्योंकि पहले पुरुष काम पर लगते हैं, तब बाद में स्त्रियों को ले जाते हैं। परन्तु इस प्रवृत्ति से समस्त देश में स्त्रियों का अभाव समझ में नहीं आ सकता। समस्त देश में स्त्रियों की कमी के दो कारण हैं—(१) नव-जात शिशुओं में बच्चियों की अपेक्षा बच्चे अधिक होते हैं, और (२) बहुत छोटी और बहुत बड़ी उम्र में मृत्यु-दर पुरुषों में अधिक और स्त्रियों में कम पाई जाती है; परन्तु बीच की उम्र में स्त्रियों में मृत्यु-दर अधिक है।

(ई) अवस्था भेद

निम्नांकित कोष्ठक में अवस्था-भेद के आधार पर भारत की जन-संख्या के विभिन्न अवस्था-वर्गों के अनुपात दिये गये हैं :—

	अवस्था वर्ग	प्रतिशत	
शिशु	० से ४ वर्ष	१३·५	३८·३%
लड़के और लड़कियाँ	५ से १४ ,,	२४·८	
युवक और युवतियाँ	१५ से २४ ,,	१७·४	३३·०%
	२५ से ३४ ,,	१५·६	
बीच की अवस्था के स्त्री-पुरुष	३५ से ४४ ,,	११·९	२०·४%
	४५ से ५४ ,,	८·५	
बड़ी अवस्था के स्त्री पुरुष	५५ से ६४ ,,	५·१	८·३%
	६५ से ७४ ,,	२·२	
	७५ और अधिक ,,	१·०	
		१००·०	

Source : Census of India (1951), Vol. I. part I A, p. 65.

उपर्युक्त कोष्ठक से स्पष्ट है कि भारत में प्रति १००० व्यक्तियों में से ३८३, पन्द्रह वर्ष से कम अवस्था वाले हैं और केवल ८३ ऐसे हैं, जिनकी अवस्था ५५ वर्ष या

अधिक है। यदि हम अपने देश की अन्य देशों से तुलना करें तो ज्ञात होता है कि भारत उन देशों में से है जहाँ शिशुओं का अनुपात अधिक और वृद्धों का अनुपात कम है। उदाहरण के लिए, यदि हम भारत की तुलना अमेरिका के संयुक्त राज्यों से करें तो ज्ञात होगा कि भारत में चार वर्ष तक के शिशुओं का अनुपात १३.५% है, जब कि अमेरिका में यह केवल १०.८% है। लड़के और लड़कियों का अनुपात अमेरिका में केवल १६.३% है, जबकि भारत में २४.८ है। इसी प्रकार युवकों और युवतियों का अनुपात हमारे यहाँ ३३% है और अमेरिका में ३०.४% है। परन्तु बीच की अवस्था के स्त्री-पुरुषों का अनुपात भारत (२०.४%) की अपेक्षा अमेरिका (२५.६%) में अधिक है। बड़ी अवस्था के स्त्री पुरुषों का अनुपात तो अमेरिका में (१६.६%) भारत के अनुपात (८.३%) का लगभग दुगना है।[1]

इस तुलना का क्या महत्व है? यदि हम पहले दो अवस्था-वर्गों को एक साथ लें तो हमको ज्ञात होगा कि प्रति १००० व्यक्तियों में से, १५ वर्ष तक की अवस्था वालों की संख्या भारत में ३८३ है, जबकि अमेरिका में २७१ है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि भारत और अमेरिका में प्रत्येक विवाहित दम्पत्ति अपने बाल-बच्चों के पालन-पोषण पर बराबर-बराबर साधन लगावें तो औसत भाग जो एक भारतीय बच्चे को मिलेगा, वह एक अमरीकी बच्चे से बहुत कम होगा, क्योंकि बराबर साधनों को अधिक बच्चों में बाँटना होगा। वास्तव में एक औसत भारतीय दम्पत्ति की आय बहुत कम है। स्पष्ट है कि एक भारतीय बच्चा भोजन, वस्त्र, निवास, चिकित्सा आदि सभी बातों में अमरीकी बच्चे की अपेक्षा बहुत कम पाता है।

(उ) वैवाहिक स्थिति

१९५१ की जन-गणना से ज्ञात होता है कि भारत में कुल जन-संख्या का ४४.१% अविवाहित हैं। पुरुषों और स्त्रियों की अलग-अलग गणना की जाय तो ज्ञात होता है कि अविवाहित पुरुषों का अनुपात ४९.१% और अविवाहित स्त्रियों का अनुपात ३८.८% (अर्थात् मोटी तौर पर दो में से एक पुरुष अविवाहित है और पांच में से दो स्त्रियाँ अविवाहिता हैं)। स्पष्ट है कि ५०.९% पुरुष विवाहित या विधुर हैं और ६१.२% स्त्रियाँ विवाहिता या विधवा हैं। अनुमान है कि पुरुषों में ४५.८% विवाहित और ५.१% विधुर हैं; और स्त्रियों में ४८.४% विवाहित और १२.८% विधवाएँ हैं। हमारे देश में विवेच्छेदित (Divorced) व्यक्तियों की कुल संख्या १,४४,७८६ अर्थात् कुल जन-संख्या का ०.४% है। इसलिए इनको विधुरों या विधवाओं के साथ गिना गया है।

भारत में वैवाहिक स्थिति के सम्बन्ध में दो और बातें उल्लेखनीय हैं—(१) बाल-विवाह-निषेध कानून के होते हुए भी अनेक बालक और बालिकाएँ विवाहित

1. Census of India (1951), Vol. I. Part I A.

हैं, (२) पिछले कुछ वर्षों में विधवाओं का अनुपात गिर गया है । सन् १९३१ में भारत में १६·१% विधवाएँ थीं, जबकि १९५१ में १२·८% विधवाएँ हैं । विधवाओं के अनुपात में कमी पतियों के दीर्घायु होने या पुनर्विवाह की प्रवृत्ति के बढ़ने से हो सकती है । गणना आयुक्त की राय में पहला कारण अधिक कार्य कर रहा है ।

(ऊ) जन्म-दर और मृत्यु-दर

किसी देश की जन्म-मृत्यु, स्वास्थ्य और औसत आयु आदि महत्वपूर्ण तथ्यों से सम्बन्धित आँकड़ों को अंग्रेजी में 'वाइटल स्टेटिसटिक्स, (Vital Statistics) कहते हैं । इस प्रकरण में हम इन विषयों पर प्रकाश डालेंगे ।

निम्नांकित सारिणी में भारत में प्रति एक हजार मनुष्यों के पीछे जन्म और मृत्यु दरें पिछले ५० वर्षों के लिए दस वर्षीय औसत के हिसाब से दी गई हैं :—

दशक	पंजीयत		जन-गणना के आधार पर	
	जन्म-दर	मृत्यु-दर	जन्म-दर	मृत्यु-दर
१९०१—१०	३७	—	४८·१	४२ ६
१९११—२०	३७	३४	४९·२	४८·६
१९२१—३०	३४	२६	४६·४	३६·३
१९३१—४०	३४	२३	४५·२	३१·२
१९४१—५०	२८	२०	३९·९	२७·४

Source : India 1960, p. 39.

कई वार जन्म और मृत्यु पंजीयत रजिस्टर में दर्ज नहीं कराए जाते, इसलिए पंजीयत आँकड़ों और जन-गणना से प्राप्त आँकड़ों में अन्तर पाया जाता है । परन्तु इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि हमारे देश में पिछले पचास वर्षों में जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनों में कमी हुई है । यह भी स्पष्ट है कि जन्म दर की अपेक्षा मृत्यु-दर में अधिक कमी हुई है । फिर भी यह उल्लेखनीय है कि आज भी हमारे यहाँ जन्म दर और मृत्यु दर अन्य देशों की तुलना में बहुत ऊँची हैं ।

भारत में १९४१-५० के दशक में प्रति एक हजार मनुष्यों के पीछे प्रति वर्ष जन्म-दर ४०, मृत्यु-दर २७ और प्राकृतिक वृद्धि दर १३ रही है ।[1] पार्श्ववर्ती चित्र में भारत, अमरीका और इङ्गलैंड की जन्म-दर और मृत्यु दरों की तुलना की गई है । चित्रों से स्पष्ट है कि भारत में जन्म-दर और मृत्यु दर दोनों अपेक्षाकृत अधिक हैं । हमारे देश में स्त्रियों और शिशुओं की मृत्यु-दर विशेष है और हम इनके कारणों पर प्रकाश डालते हैं ।
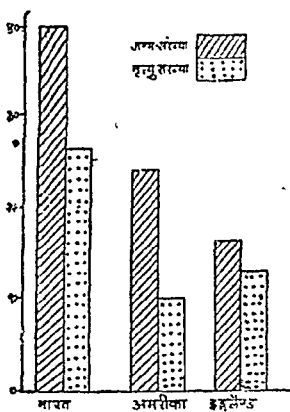
चित्र-संख्या—१५
भारत, अमरीका और इङ्गलैंड की जन्म और मृत्यु दरें

1. Census of India (1951), Vol. I, Part I A, p. 76.

स्त्रियों की मृत्यु दर—हमारे देश में स्त्रियों की मृत्यु-दर बहुत अधिक है और स्त्रियों की औसत आयु पुरुषों से कम है, इसके मुख्य कारण ये हैं :—

(१) हमारे देश में कुछ सामाजिक रीति-रिवाज ऐसे हैं, जिनका स्त्रियों के स्वास्थ्य पर भयानक कुप्रभाव पड़ता है। हमारी स्त्रियों का कार्य क्षेत्र घर की चाहर-दीवारी में सीमित रहता है। उन्हें जनाने या पर्दे में बन्द रहना पड़ता है। उन्हें ताजी हवा, सूरज की रोशनी तथा व्यायाम उपलब्ध नहीं होते, जिससे उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है।

(२) जन-साधारण की दरिद्रता के कारण उनका पर्याप्त पोषण और शरीराच्छादन भी असम्भव है। इसलिए जब स्त्रियों का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और ये रोग-ग्रस्त हो जाती हैं तो रोगों के निदान और उपचार के साधन उपलब्ध नहीं होने से उनकी असामयिक मृत्यु हो जाती है।

(३) हमारे देश में स्त्री-जीवन को पुरुष-जीवन की अपेक्षा बहुत कम महत्व दिया जाता है। शिशु काल ही से बालिकाओं के पालन-पोषण की उपेक्षा की जाती है। उनकी शिक्षा-दीक्षा और विकास के प्रति उदासीनता रहती है।

(४) बाल-विवाह की रीति के कारण लड़कियों का रजोदर्शन के पूर्व ही विवाह कर दिया जाता है। वे अपरिपक्व अवस्था में विवाहित होने के कारण निर्बल और रोगग्रस्त हो जाती हैं। स्नायु दुर्बलता, राज्यक्ष्मा और अनेक प्रकार के रोग युवावस्था ही में उनका जीवन समाप्त कर देते हैं।

(५) हमारे देश में स्त्रियों पर अत्यधिक बच्चे पैदा करने का भार पड़ता है, जिससे वे निर्बल पड़ जाती हैं। हम देख चुके हैं कि हमारे देश में प्रति १००० मनुष्यों पीछे प्रतिवर्ष ४० बच्चे पैदा होते हैं। इन ४० में से ८ पहले बच्चे होते हैं, और १६ पहले या दूसरे होते हैं; २३ पहले, दूसरे या तीसरे होते हैं; और ४० में से १७ चौथे या बाद के बच्चे होते हैं।[1] यदि जिन माताओं के तीन बच्चे हो चुके हैं, उनके द्वारा पैदा किये हुए और बच्चों को हम "अविवेकपूर्ण मातृत्व" (Improvident Maternity) कहें तो हमको ज्ञात होगा कि भारत में यह प्रवृत्ति ४२.८%, अमेरिका में १९.२%, इङ्गलैण्ड में १४.३ %, और जर्मनी में १२.३% है।[2]

(६) हमारी दाइयाँ अशिक्षित, उनके तरीके गन्दे और खतरनाक और हमारे जापों के स्थान अस्वच्छ होते हैं। इसका प्रभाव युवा माताओं के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा होता है। कुछ माताओं का जापे ही में देहान्त हो जाता है और कितनी ही रोग-ग्रस्त हो जाती हैं।

(७) कारखानों में काम करने वाली स्त्रियों को प्रसव काल तक काम करना पड़ता है और माता बनने के पश्चात् भी अधिक समय तक विश्राम उपलब्ध नहीं

1. Census of India (1951), Vol I, Part 1 A. p. 87.
2. India 1950, p. 40.

होता। इससे उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। एक बार प्रसिद्ध व्यङ्ग-चित्रकार शंकर ने अपने व्यङ्ग-चित्र में दिखलाया था कि खान में काम करने वाली एक स्त्री जब खान से बाहर निकलती है तो टोकरी में खनिज के स्थान पर एक बच्चे को लेकर निकलती है। वास्तविक दशा इससे अधिक भिन्न नहीं है।

शिशुओं की मृत्यु-दर—स्त्रियों की मृत्यु-दर की भाँति हमारे देश में शिशुओं की मृत्यु-दर भी बहुत अधिक है। भारत में शिशुओं की मृत्यु-दर संसार में सबसे अधिक है और हमारे देश के नगरों में यह देहात से भी अधिक है। १९४९ में हमारे देश में शिशुओं की मृत्यु-दर १५८ प्रति हजार थी। इङ्गलैंड में ६०; अमेरिका के संयुक्त राज्यों में ६५; आस्ट्रेलिया में ४१; न्यूजीलैण्ड में ३५ प्रति हजार है। हमारे देश में लगभग २५% शिशु एक वर्ष की आयु तक पहुँचने के पहले ही समाप्त हो जाते हैं और लगभग ४४% पाँच वर्ष की आयु तक पहुँचने के पहले ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। शक्ति और साधनों के इससे अधिक भयानक सर्वनाश की कल्पना करना कठिन है। संतोष का विषय है कि साधारण मृत्यु-दर और स्त्रियों की मृत्यु-दर और शिशु-मृत्यु दर तीनों कुछ वर्षों से कम होती जा रही हैं, लेकिन इस दिशा में तुरन्त और अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। निम्नांकित कोष्ठक में पिछले ३५ वर्षों के शिशु-मृत्यु-दर के आँकड़े दिये जाते हैं। इनसे स्पष्ट है कि हमारे देश में शिशु-मृत्यु-दर घट रही है।

भारत में शिशु मृत्यु-दर

वर्ष	शिशु मृत्यु-दर	वर्ष	शिशु मृत्यु-दर
१९२१	१९८	१९३८	१६७
१९२२	१७५	१९३९	१५६
१९२३	१७६	१९४०	१६०
१९२४	१८९	१९४१	१५८
१९२५	१७४	१९४२	१६३
१९२६	१८९	१९४३	१६५
१९२७	१७९	१९४४	१६९
१९२८	१७३	१९४५	१५१
१९२९	१७३	१९४६	१३६
१९३०	१८९	१९४७	१४६
१९३१	१७९	१९४८	१३१
१९३२	१६९	१९४९	१२३
१९३३	१७१	१९५०	१२७
१९३४	१८७	१९५१	१२४
१९३५	१६४	१९५२	११६
१९३६	१६२	१९५३	११८
१९३७	१६२	१९५४	११३

Source : India 1953, p. 7 and India 1957, p. 7.

शिशु मृत्यु-दर के कारण :—

(१) शिशुओं की मृत्यु के कारण लगभग वे ही हैं जो स्त्रियों के मरण के हैं। यदि माताएँ निर्बल होती हैं तो उनकी सन्तान और भी अधिक अशक्त होती है। निर्बल माताओं की संतान जन्म के पश्चात् शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होती है।

(२) हमारी माताएँ अशिक्षित होती हैं। वे मातृत्व की कला के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ होती हैं। शिशुओं का उपयुक्त पोषण नहीं होने से उन्हें अनेक प्रकार के रोग घेर लेते हैं और उनका प्राणान्त कर देते हैं।

(३) प्रसूति-गृह की गन्दगी, दाइयों की अशिक्षा और असावधानी आदि के कारण कई शिशु जन्म लेते ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं या रोग-ग्रस्त हो जाते हैं।

(४) जन-साधारण की दरिद्रता के कारण बच्चों के पालन-पोषण की उचित व्यवस्था नहीं की जा सकती है। उनके लिये पर्याप्त दूध, वस्त्र और उपयुक्त चिकित्सा तथा औषधियाँ उपलब्ध नहीं होती है।

(५) कभी-कभी जीवन-निर्वाह के लिए माताओं को कारखानों, खानों तथा खेतों पर काम करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। प्रसवकाल के पूर्व और पश्चात् उन्हें पर्याप्त विश्राम नहीं मिलता है। वे शिशुओं के पालन-पोषण की ओर ध्यान नहीं दे सकती हैं।

(६) जो स्त्रियाँ बाहर काम पर नहीं जाती हैं, उन्हें भी घरेलू धन्धों से फुरसत नहीं मिलती है। बच्चों की बला से छुटकारा पाने के लिए कई माताएँ उन्हें हानिकारक औषधियाँ; जैसे अफीम आदि खिलाना आरम्भ कर देती हैं। इससे उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और वे असामयिक मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

जीविकोपार्जन के ढंग—१९५१

सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार भारत की समस्त जन-संख्या को कृषक और गैर-कृषक—दो बड़े भागों में बाँटा गया है। दोनों भागों को चार-चार उपविभागों में बाँटा गया है। कृषक-वर्ग के निम्नांकित चार उपविभाग किये गये हैं :—

(१) पूर्णतः या मुख्यतः अपनी ही भूमि पर खेती करने वाले कृषक (किसान भू-स्वामी) और उनके आश्रित मनुष्य; जिस भूमि पर खेती करने वाले का स्थायी पैतृक अधिकार हो, वह "अपनी ही भूमि" (Owned Land) मानी गई है।

(२) पूर्णतः या मुख्यतः दूसरों की भूमि पर खेती करने वाले कृषक (आसामी), जिनको भूमि पर पैतृक अधिकार प्राप्त नहीं है। परन्तु जो खेतीहर मजदूर नहीं हैं, क्योंकि खेती सम्बन्धी निर्णय वे स्वयं करते हैं और उनके आश्रित व्यक्ति।

(३) 'खेतीहर मजदूर' अर्थात् भूमि-रहित व्यक्ति जो किसानों द्वारा मजदूरी पर काम करने को रखे जाते हैं और उनके आश्रित व्यक्ति।

(४) भू-स्वामी जो खेती नहीं करते; अर्थात् भूमि से लगान पाने वाले और उनके आश्रित।

गैर-कृषक वर्ग में निम्नांकित व्यवसायों में लगे हुए व्यक्ति और उनके आश्रित व्यक्ति सम्मिलित हैं।

(५) कृषि के अतिरिक्त अन्य उत्पादन।

(६) वाणिज्य।

(७) परिवहन।

(८) अन्य वृत्तियाँ और विविध कार्य।

प्रत्येक व्यावसायिक वर्ग को निम्नांकित तीन वर्गों में बाँटा गया है :— (१) स्वावलम्बी व्यक्ति; (२) आश्रित जो उपार्जन नहीं करते; (३) उपार्जन करने वाले आश्रित।

निम्नांकित कोष्ठक में भारत में सन् १९५१ में विभिन्न वर्गों के मनुष्यों की संख्या दी जाती है :—

वर्ग का नाम	जन-संख्या	प्रतिशत
कृषक-वर्ग	२४,९०,७४,९०१	६९·८
(१) किसान भू-स्वामी	१६,७३,२६,५७८	४६·९
(२) किसान आसामी	३,१६,४८,०७३	८·८
(३) खेतिहर मजदूर	४,४८,०९,०१९	१२·६
(४) भू स्वामी जो खेती नहीं करते	५३,३१,१३१	१·५
गैर कृषक-वर्ग	१०,७५,५३,४११	३२·२
(५) गैर-कृषि उत्पादन	३,७६,७१,९०२	१०·५
(६) वाणिज्य	२,१३,११,८९८	६·०
(७) परिवहन	५६,२०,७११	१·६
(८) अन्य प्रवृत्तियाँ तथा विविध कार्य	४,२९,४८,८९४	१२·१
	३५,६६,२८,३१२	१०००·०

Source : Census of India (1951), Vol. I. Part I-A.

उपर्युक्त कोष्टक से स्पष्ट है कि हमारे देश की कुल जन-संख्या का लगभग ७०% भाग कृषि पर आश्रित है। गैर-कृषि उत्पादन (उद्योग-धन्धे आदि) पर आश्रित व्यक्तियों का अनुपात केवल १०·५% है। गैर-कृषि उत्पादन में लगे हुये मनुष्यों में लगभग ५ प्रतिशत छोटे उद्योगों में और १ प्रतिशत बड़े उद्योगों में लगे हुये हैं। यदि हम इन आंकड़ों की तुलना दूसरे देशों के आँकड़ों से करें तो हमको ज्ञात होगा कि समस्त सभ्य देशों में भारत में कृषि पर आश्रित मनुष्यों का अनुपात सबसे अधिक है

और उद्योग-धन्धों, विशेषतः बड़े पैमाने के उद्योगों पर आश्रित मनुष्यों का अनुपात सब से कम है। यह हमारी अर्थ-व्यवस्था के पिछड़ेपन और इसके ढाँचे में भारी असन्तुलन का द्योतक है। भारत में दस में से सात मनुष्य खेती पर आश्रित हैं और जन-संख्या के बढ़ने से खेती पर भार निरन्तर बढ़ता जा रहा है। फलस्वरूप प्रति व्यक्ति कृषित क्षेत्र की मात्रा घटती जा रही है और खेतों के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े हो गये हैं। खेतों के छोटे आकार, खेती के पुराने तरीकों और सिंचाई आदि स्थायी सुधारों की कमी से खेती पर आश्रित मनुष्यों की आमदनी बहुत कम है। भारत के अधिकांश किसानों के खेतों की उपज केवल जीवन-निर्वाह-मात्र के लिए काफी होती है और वे बचत एवं विनियोग करने की स्थिति में नहीं हैं। दूसरी ओर शहरी औद्योगिक क्षेत्र में लोगों की आमदनी अच्छी है और इनकी खाद्यान्नों की मांग गांवों की बची हुई उपज से पूरी नहीं हो पाती। इस प्रकार देश में बराबर खाद्य संकट बना रहता है। अतएव पंच-वर्षीय योजनाओं द्वारा एक ओर खेती की ऊपज और किसानों की आमदनी बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है तो दूसरी ओर उद्योग-धन्धों का विकास करके खेती पर जन-भार घटाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

निम्नांकित कोष्ठक में पारिवारिक आर्थिक दर्जे (Household Economic Status) के आधार पर १९५१ के भारत की जन-संख्या के विभाजन के आंकड़े दिये गये हैं।[1]

दर्जे का नाम	कुल संख्या	प्रतिशत
(१) स्वावलम्बी व्यक्ति	१०४४ लाख	२९·३
(२) कमाने वाले आश्रित	३७९ ,,	१०·६
(३) बिना कमाने वाले आश्रित	२१४३ ,,	६०·१
कुल :—	३५६६ लाख	१००·००

उपर्युक्त कोष्ठक से स्पष्ट है कि भारत में "एक औसत व्यक्ति अपनी आमदनी से अपने अतिरिक्त कम से कम दो व्यक्तियों का पालन करता है और प्रत्येक तीन स्वावलम्बी व्यक्तियों में से एक ऐसा है जो इनके अतिरिक्त एक कमाने वाले आश्रित का अंशतः पालन भी करता है। इस प्रकार के अन्य देशों के आँकड़ों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि भारत में आश्रितों का भार (Burden of dependency) अपेक्षाकृत अधिक है।

1. जालंधर कार्यालय में आग लग जाने से २५१०८२ मनुष्यों की पर्चियाँ जल गई थीं अतएव इस कोष्ठक का जोड़ कुल जनसंख्या के जोड़ से २५१०८२ कम है।
(Census of India, 1951. Vol I. Part I–A Report p. 110)

भारत में जनाधिक्य की समस्या

क्या भारत में जनाधिक्य है ? यह एक बड़ा विवादग्रस्त प्रश्न है। अनेक विद्वानों ने इस समस्या के पक्ष और विपक्ष में सकारण दलीलें प्रस्तुत की हैं। हम पहिले संक्षेप में जनाधिक्य का अर्थ समझाकर यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि भारत में किस सीमा तक और किस रूप में जनाधिक्य पाया जाता है। तत्पश्चात् जनाधिक्य के विरोध में दी गई दलीलों का संक्षेप में विवेचन करेंगे और अन्त में जनाधिक्य का उपचार बतलाकर भारत सरकार की जन-संख्या सम्बन्धी नीति पर अपने विचार प्रकट करेंगे।

जनाधिक्य का अर्थ—जनाधिक्य की परिभाषा इष्टतम या आदर्श जनसंख्या (Optimum population) की परिभाषा से निकाली जाती है। विशुद्ध आर्थिक दृष्टि से इष्टतम उस जनसंख्या को कहते हैं जिसके होने से देशवासियों को प्रति व्यक्ति अधिकतम वास्तविक आय और अधिकतम आर्थिक कल्याण प्राप्त होसके। किसी देश में **यदि जन-संख्या इष्टतम विन्दु से आगे निकल जाती है** तो जनाधिक्य (Over population) पाया जाता है। जनाधिक्य के मोटे तौर से दो रूप देखने को मिलते हैं, (१) *जनाधिक्य एक प्रवृत्ति के रूप में पाया जा सकता है या* (२) एक स्थिति के रूप में। जब किसी देश की जन-संख्या इस गति से बढ़ती है कि उससे प्रति व्यक्ति आय कम होने लग जाती है तो कहा जाता है कि देश में जनाधिक्य की प्रवृत्ति है। जब देश की जनसंख्या घटने पर प्रति व्यक्ति आय बढ़ने की आशा होती है तो जनाधिक्य की स्थिति पाई जाती है। बहुधा जनाधिक्य के दोनों रूप एक साथ ही पाये जा सकते हैं और कई विद्वानों की राय में आजकल भारत में पाये जाते है।

जनाधिक्य के लक्षण :—इष्टतम जनसंख्या की परिभाषा के आधार पर जनाधिक्य की परिभाषा करना आसान है; किन्तु व्यावहारिक जीवन में इसको लागू करने में बहुत कठिनाई होती है। पहली बात तो यह है कि किसी देश के लिये इष्टतम जनसंख्या सदा के लिए निश्चित नहीं होती। नए प्राकृतिक साधनों के पता लगने और उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन होने के साथ-साथ इष्टतम जनसंख्या भी बदलती जाती है। इसलिए यह कहना मुश्किल हो जाता है कि किसी देश के लिए किसी समय में इष्टतम जनसंख्या क्या होगी। जब इष्टतम जनसंख्या ज्ञात नहीं की जाती तो जनाधिक्य भी ज्ञात नहीं हो सकता। जनाधिक्य को ज्ञात करने में दूसरी कठिनाई यह होती है कि राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय के विश्वसनीय आँकड़े नही मिलते और यह कहना मुश्किल हो जाता है कि वास्तविक प्रतिव्यक्ति आय बढ़ रही है या घट रही है। इसलिये जनाधिक्य की समस्या पर विचार करने के लिए हमें माल्थस के सिद्धान्त का सहारा लेना पड़ता है।

यद्यपि माल्थस के विचार आजकल पुराने माने जाते हैं तथापि माल्थस का यह अनुमान कि यदि मानव-प्रजनन-शक्ति अबाध रूप से काम करे तो खाद्यान्नों की पूर्ति जन संख्या के मुकाबले दौड़ में पीछे रह जाती है, मूलतः सही है। दूसरे शब्दों में, जब

बिना किसी प्रतिबन्ध के सन्तानोत्पत्ति की जाती है तो देश में धन की उत्पादन की तुलना में जनसंख्या आगे बढ़ सकती है। अतएव किसी पुराने देश के सम्बन्ध में जहां उत्पादन के तरीके बहुत पिछड़े हुये होते हैं, यह सिद्ध कर दिया जाय कि वहाँ जनसंख्या की वृद्धि पर किसी प्रकार के निवारक प्रतिबन्ध नहीं हैं तो वहाँ जनाधिक्य का अनुमान लगाया जा सकता है। ऊँची जन्म दर और ऊँची मृत्यु दर, विशेषतः ऊँची शिशु मृत्यु-दर, गरीबी, बेरोजगारी, खाद्यान्नों की कमी और नैसर्गिक प्रतिबन्धों का प्रचलित होना जनाधिक्य के लक्षण माने जाते हैं। यह लक्षण न्यूनाधिक रूप में भारत में मौजूद है। भारत में मृत्युदर, विशेषकर शिशुओं और स्त्रियों की मृत्यु-दर बहुत अधिक है, लेकिन जन्म-दर उनसे भी अधिक है। प्राचीन काल में जन-संख्या पर जो सीमाएँ थी वे भी अब नहीं रही हैं। आश्रम धर्म के अनुसार २५ वर्ष के ब्रह्मचर्य के बाद २५ वर्ष गृहस्थ रह कर सन्तान पैदा करने की आज्ञा थी। परन्तु आजकल ब्रह्मचर्याश्रम का स्थान बाल-विवाह ने लेलिया है और शादी के वक्त से मृत्यु तक गृहस्थाश्रम चलता है। पुरुषों के लिये पुनर्विवाह की व्यवस्था पहले ही से थी। अब तो सुधार के वेग में स्त्रियों में भी पुनर्विवाह होने लगे है। बाल-विवाह निरोधक कानून केवल कानून के ग्रन्थों में हैं। इस पर व्यवहार नहीं होता है। विवाह के पश्चात् संयम का नाम भी नहीं है। प्रत्येक हिन्दू के लिए विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करना एक धार्मिक कर्त्तव्य है; लड़कियों का विवाह छोटी उम्र में (रजोदर्शन होने से पूर्व ही) करना धार्मिक कर्त्तव्य है। मुसलमानों में भी बाल-विवाह की प्रणाली है। निर्धनता के कारण घर का धन्धा चलाने के लिए बहू का होना आवश्यक हो जाता है। बच्चों के पालन-पोषण में अधिक खर्च नहीं होता और छोटी उम्र में वे कमाने लग जाते हैं। अशिक्षा और अदूरदर्शिता के कारण बच्चों को पढ़ाने-लिखाने का उत्तरदायित्व प्रतीत नहीं होता है। संतति-निग्रह के उपायों का ज्ञान और प्रचार नहीं है। गर्भपात और शिशुहत्या के रिवाजों से भी जन-संख्या सीमित रहती थी, किन्तु ज्ञान और सभ्यता के विकास से इन घृणित और अनैतिक प्रथाओं का प्रभाव भी नगण्य हो गया है।

सारांश यह है कि निवारक प्रतिबन्धों के अभाव में जन्म-दर (Birth rate), बहुत अधिक है और भारत के निवासियों को विदेशों में जाकर बसने की सुविधाएँ नहीं हैं। फलस्वरूप जन-संख्या तेजी से बढ़ रही है।

अब राष्ट्रीय आय की ओर देखिए। लगभग ७० प्रतिशत जन-संख्या जीविकोपार्जन के लिए कृषि पर अवलम्बित है; जहाँ भूमि की परिमितता और गहरी खेती के कारण क्रमागत-ह्रास की प्रवृत्ति है। कृषि-सुधार के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं और प्रगति घोंघे की रफ्तार से है। उद्योग, वाणिज्य और व्यवसाय अविकसित दशा में हैं। यद्यपि पिछले ५-७ वर्षों में आर्थिक आयोजन के फलस्वरूप हमारी राष्ट्रीय आय और प्रति-व्यक्ति आय बढ़ी है, तथापि जन-संख्या की निरन्तर वृद्धि से जीवन-स्तर विशेष उन्नत नहीं

हुआ है और देश में व्यापक बेकारी फैली हुई है। समय-समय पर देश में भारी अन्न-संकट पैदा हो जाता है और देशवासियों का बड़ा भाग सदा भुखमरी के किनारे पर रहता है।

अब नैसर्गिक प्रतिबन्धों को लीजिये। हमारे देश में प्लेग, हैजा, चेचक आदि महामारियों का भयंकर प्रकोप है। दुर्भिक्ष और बाढ़ें बार-बार अपना प्रलयंकारी प्रभाव दिखलाते हैं। भूचाल भी मृत्यु-दर में वृद्धि करते हैं। युद्ध और दंगों के कारण मरने वालों की संख्या भी कम नहीं है। इसके अतिरिक्त भी मृत्यु-दर (विशेषकर स्त्रियों और शिशुओं में) संसार में सबसे अधिक है।

इस प्रकार जनाधिक्य के प्रायः सभी लक्षण (Symptoms) भारत में विद्यमान हैं। माल्थस का सिद्धांत यहाँ काम कर रहा है। वर्तमान दशा और भविष्य में आर्थिक विकास की सम्भावना को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि हमारे देश का कल्याण इसी में है कि हम एक ओर संतानोत्पत्ति कम करें और कृषि की उन्नति एवं औद्योगिक विकास के द्वारा देश की राष्ट्रीय आय और जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करें।

जिन विद्वानों ने भारत में जन-संख्या की समस्या का अध्ययन किया है उनमें से अधिकांश ने यही मत प्रगट किया है कि देश में जनाधिक्य है। डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने अनुमान लगाया है कि साधारण फसल से वर्ष के १२ प्रतिशत जनता के लिए अनाज की कमी रहती है। श्री० पी० के० वतल ने हिसाब लगाया है कि १९१३-१४ और १९३५-३६ के बीच में भारत की जनसंख्या में एक प्रतिशत वार्षिक वृद्धि हुई जबकि फसलों की उपज सिर्फ ०.६५ प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ी। डॉ० ज्ञानचन्द ने यह सिद्ध किया है कि वर्तमान शताब्दी के पहिले २५ वर्षों में जनसंख्या २१ प्रतिशत बढ़ी जबकि कृषित क्षेत्र केवल ११ प्रतिशत बढ़ा। प्रो० अलख घोष का भी यही मत है। उनके अनुसार "माल्थस के परम्परागत विचारों के अनुसार भारत में जनाधिक्य के लक्षण नजर आते १९२१ और १९५१ के बीच भारत की जनसंख्या में ८८ प्रतिशत वृद्धि हुई है जब कि हैं। कृषित क्षेत्र में सिर्फ ५ प्रतिशत वृद्धि हुई है।"[1]

भारत सरकार के योजना आयोग ने भी इस समस्या पर विचार करके यह मत प्रगट किया है कि "हालांकि यह कहना कठिन है कि भारत के लिये इष्टतम जनसंख्या कितनी होनी चाहिये और हालांकि आधुनिक विज्ञान और प्राद्योगिक ज्ञान से किसी देश की उत्पादन क्षमता काफी बढ़ाई जा सकती है फिर भी यह स्पष्ट है कि वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए जनसंख्या की वृद्धि से भारत की अर्थ-व्यवस्था को बल नहीं मिलता बल्कि यह कमजोर होती है।"[2]

---

(1) Indian Economy (1959) p. 143.
(2) First Five Year Plan—A Draft Outline, p. 16.

जनाधिक्य के विरोध में दलीलें—यद्यपि आजकल प्रायः यह स्वीकार किया जाता है कि भारत में जनाधिक्य की स्थिति है फिर भी कुछ लोग इस मत से सहमत नहीं है। हम नीचे विरोधी पक्ष की दलीलों का संक्षेप में विवेचन करते हैं।

(१) जनाधिक्य के विरोध में एक दलील यह दी जाती है कि भारत में जनसंख्या की वृद्धि की गति अन्य देशों की तुलना में कम है। परन्तु जनाधिक्य की बात को काटने के लिए यह दलील काफी नहीं है। यदि यह सिद्ध किया जाय कि जनसंख्या के मुकाबले उत्पादन में वृद्धि अधिक हुई है और यदि जनसंख्या की वृद्धि की गति कम होती तो प्रति व्यक्ति आय भी कम नजर आती तभी यह माना जा सकता है कि भारत में जनाधिक्य नहीं है। फिर हमें यह भी देखना होगा कि जनसंख्या की वृद्धि की गति कम होने के कारण, निवारक प्रतिबन्ध या नैसर्गिक प्रतिबन्ध हैं। हम जानते हैं कि भारत में निवारक प्रतिबन्धों का प्रायः अभाव रहा है और यदि भूतकाल में जनसंख्या के बढ़ने की गति कम रही है तो यह मृत्यु-दर के अधिक होने से है, न कि जन्म-दर के कम होने से।

(२) जनाधिक्य के विरोध में दूसरी दलील यह दी जाती है कि भारत में पिछले कुछ वर्षों से राष्ट्रीय आय में धीरे-धीरे वृद्धि हुई है। यदि जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ राष्ट्रीय आय भी उसी गति से बढ़ रही है तो फिर जनाधिक्य का प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन हम बतला चुके हैं कि इस दलील को जाँचने के लिए भारत की राष्ट्रीय आय के विश्वसनीय आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि पहली पंचवर्षीय योजना के आरम्भ होने तक प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बढ़ने के बजाय घट रही थी। यदि यह मान लिया जाए कि प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बढ़ी है तो कम से कम इतना तो जरूर मानना होगा कि यदि जनसंख्या कम बढ़ी होती तो शायद राष्ट्रीय आय में यथेष्ट सुधार नजर आ सकता था।

(३) कभी-कभी यह कहा जाता है कि भारत के औद्योगिक क्षेत्रों में दक्ष श्रमिकों का अभाव यह सिद्ध करता है कि भारत में जनाधिक्य नहीं है। परन्तु यह दलील भी थोथी है। यह सच है कि कभी-कभी प्रशिक्षित श्रमिकों की कमी नजर आती है फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि साधारण लोगों की व्यापक बेरोजगारी जनाधिक्य को प्रगट करती है।

जनाधिक्य के उपचार—जनाधिक्य की समस्या का सामना करने के लिए हमको दो मोर्चों पर युद्ध करना होगा। एक ओर हमको तेजी से देश का आर्थिक विकास करना होगा जिससे देश में उत्पादन और आय बढ़ेगी और जन-साधारण का जीवन-स्तर ऊँचा उठेगा, दूसरी ओर परिवार-नियोजन द्वारा हमको जनसंख्या पर नियंत्रण करना होगा।

(क) आर्थिक विकास—भारत प्राकृतिक और मानवीय साधनों की दृष्टि से सम्पन्न देश है। परन्तु हमने अब तक इनसे पूरा लाभ नहीं उठाया है। पिछले १० वर्षों से भारत सरकार पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा इस ओर प्रयत्न कर रही है। जन-साधारण की आय और जीवन-स्तर बढ़ाने के लिए दो बातें जरूरी हैं—(१) हमें कृषि की उन्नति और उद्योगों के विकास द्वारा धनोत्पादन में वृद्धि करना चाहिये जिससे राष्ट्रीय आय में यथेष्ट वृद्धि हो। (२) हमें धन और सम्पत्ति के वितरण में जो भारी विषमता मौजूद है उसे दूर करना चाहिये। इसके लिए हमें प्रगतिशील राजस्वनीति अपनानी होगी और समाज के सभी वर्गों को, विशेषकर पिछड़े हुए वर्गों को, रोजगार और विकास के समान अवसर प्रदान करने होंगे। हमारे देश की पंचवर्षीय योजनाओं में इन दोनों उद्देश्यों को सामने रक्खा है। हम बतला चुके हैं कि आर्थिक विकास के द्वारा जीवन-स्तर ऊँचा होने पर आरम्भ में मृत्यु-दर घटेगी जिससे जनसंख्या की वृद्धि की दर थोड़े अरसे के लिए बढ़ सकती है। परन्तु आगे चलकर उन्नत जीवन-स्तर व्यतीत करने के आदी हो जाने पर लोग जानबूझकर संयम या परिवार नियोजन द्वारा जन्म-दर घटायेंगे। फलस्वरूप जनसंख्या की वृद्धि की दर अपने आप कम हो जाएगी।

(क) जनसंख्या पर नियन्त्रण—कुछ लोगों का ख्याल है कि भारत में अनुपयुक्त प्राकृतिक साधन इतनी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं कि हमें जनसंख्या पर नियंत्रण करने की आवश्यकता नही है। परन्तु जो लोग यह कहते हैं वे सम्भाविता और वास्तविकता के अन्तर को भूल जाते हैं। यह विचार कर चलना कि हमारे आर्थिक विकास के स्वप्न पूरे हो चुके हैं और हमें जनसंख्या पर नियंत्रण रखने की आवश्यकता नहीं है, भारी भूल होगी। वास्तव में हम कितनी भी तेजी से आर्थिक विकास करें यदि जनसंख्या बिना रोके बढ़ती रही तो हमारी जनसंख्या जीवन-निर्वाह के साधनों से अधिक बढ़ जायगी तो भुखमरी, युद्ध तथा महामारियों के रूप में नैसर्गिक प्रतिबन्ध अपने विनाशकारी रूप में सर्वत्र दिखलाई पड़ेंगे। अतएव आर्थिक विकास के साथ-साथ जनसंख्या पर नियंत्रण भी आवश्यक है। इस सम्बन्ध में भारत में योजना आयोग ने देश के सम्मुख पहली पंचवर्षीय योजना प्रस्तुत करते समय बिल्कुल सही कहा था कि "यदि जन्म-दर को घटाकर जनसंख्या की वृद्धि की गति कम करने के लिए कदम नहीं उठाये गये तो हमें उपभोग के मौजूदा स्तर को बनाये रखने के लिए उत्तरोत्तर अधिक प्रयत्न करने पड़ेंगे। पहली पंचवर्षीय योजना के प्रयत्नों के बावजूद भोजन और वस्त्र जैसी आवश्यक वस्तुओं के उपभोग का स्तर, १९५५–५६ में जाकर युद्ध पूर्व स्तर पर पहुँचेगा। अतएव आर्थिक योजना की सफलता के लिए जनसंख्या को नियंत्रित करना आवश्यक है।"[1]

1. First Five Year Plan - A Draft Outline, p. 16.

कभी-कभी जनसंख्या के नियंत्रण के तरीकों के बारे में भी विवाद उठाया जाता है। नि.संदेह नैतिक संयम जनसंख्या के नियंत्रण का सर्वोत्तम और सुरक्षित-उपचार है। परन्तु आज के जमाने में आजन्म संयम न सभी के लिए सम्भव ही है और न सर्वथा दोषरहित ही है। अतएव जहाँ जनसख्या के नियंत्रण के लिए छोटी उम्र में विवाह वन्द किया जाकर विवाहित जीवन में भी सयम रखने का प्रयत्न किया जाना चाहिये वहाँ विवाहितों के लिये इच्छित संतान की प्राप्ति के पश्चात् विवाहित-जीवन में संतति-निग्रह के कृत्रिम उपायों को अपनाना भी आवश्यक है। परिवार नियोजन का यही उद्देश्य है कि प्रत्येक संतान इच्छित होनी चाहिये। परन्तु संतानोत्पत्ति की इच्छा नहीं होने पर संतति-निग्रह के उपाय अवश्य अपनाये जाने चाहियें।

परिवार-नियोजन के अतिरिक्त जनसंख्या के उचित वितरण द्वारा भी जनाधिक्य की समस्या हल करने में सहायता मिल सकती है। यद्यपि संसार में आज भी अनेक ऐसे देश हैं जहाँ प्रचुर मात्रा में प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं और जनाभाव के कारण उनका पूरा उपयोग नहीं किया जा सकता तथापि संकीर्ण राष्ट्रीयता और वर्ण-भेद के इस जमाने में यह आशा करना कि बड़ी मात्रा में भारतवासी विदेशों में जाकर बस सकते हैं, गलत होगा। अपने ही देश में जहाँ जनभार अधिक है वहाँ से हटा कर लोग ऐसे स्थानों में बसाये जा सकते हैं जहाँ अधिक श्रम की आवश्यकता है या होगी।

भारत की जन-संख्या सम्बन्धी नीति

भारत की जन-संख्या में निरन्तर वृद्धि से जन-संख्या के नियन्त्रण के लिए परिवार आयोजन (Family Planning) की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। १९५१ की जन-गणना के आयुक्त ने देश के साधनों और जन-संख्या में सन्तुलन के लिए खेती की उपज बढ़ाने और "अविवेक पूर्ण मातृत्व" का अनुपात घटाने की सिफारिश की थी।

योजना आयोग ने भी बड़े पैमाने पर परिवार आयोजन अपनाने पर जोर दिया है, तदर्थ उसने एक व्यापक कार्यक्रम स्वीकार किया है जिसमें परिवार आयोजन सेवा, प्रशिक्षण, शिक्षा और अनुसन्धान शामिल हैं।

पहली योजना में इस कार्य के लिए ६५ लाख रु० की व्यवस्था थी, परन्तु कार्य देरी से आरम्भ होने से केवल २१ देहाती और १२६ शहरी केन्द्र खोले गये और केवल १८ लाख रु० खर्च हुए। दूसरी योजना में इस कार्य के लिए ४९७ लाख रु० रखे गये हैं और ५०० शहरी और २००० देहाती केन्द्र खोलने की योजना है। अक्तूबर १९५९ तक ६९१ देहाती और ३०९ शहरी यानी कुल १००० केन्द्र खोले जा चुके हैं।

संघीय स्वास्थ्य मंत्रालय ने जन-संख्या (Demographic) सलाहकार समिति बनाई है और दूसरी योजना में जन-संख्या की समस्याओं में अनुसन्धान और प्रशिक्षण के लिए २० लाख रु० की व्यवस्था की गई है।

विवेकपूर्ण जन-संख्या नीति:— हम बतला चुके हैं कि भारत में आर्थिक आयोजन की सफलता के लिए जनसंख्या का नियंत्रण जरूरी है। तदर्थ हमको आर्थिक योजनाओं के अन्तर्गत साधनों के उपयोग और विकास की दर और जन-संख्या की वृद्धि की दर में तालमेल बैठाना होगा। वास्तव में हमको आर्थिक योजनाएं बनाते समय मौजूदा जन-संख्या और भावी जन-संख्या दोनों का ध्यान रखना चाहिए। जन-संख्या के प्रभावी नियंत्रण के लिए परिवार-नियोजन कार्यक्रम को सामुदायिक विकास कार्यक्रम के साथ मिलाकर विशेषतः देहातों में और स्त्रियों में इसका प्रचार करना चाहिए। प्रौढ़ शिक्षा और महिला-शिक्षा के विस्तार से भी इस कार्य में सहायता मिल सकती है क्योंकि पढ़ी लिखी स्त्रियां अधिक बच्चों की माता बनना नहीं चाहतीं साथ ही सन्तति-निग्रह के आसान और सस्ते उपायों की खोज और प्रचार करना चाहिये जिन्हें देहाती अनपढ़ और गरीब लोग भी आसानी से काम में ले सकें।

परीक्षा के प्रश्न

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी. ए.

(१) भारत के राज्यों में जन-संख्या के घनत्व में अन्तर के कारण बतलाइए। विवेचन कीजिए कि क्या जन-संख्या का देहाती क्षेत्रों से शहरों में जाना वांछनीय है। (१९५३)

(२) भारत में जन-संख्या के मौजूदा व्यावसायिक वितरण का विवेचन कीजिए। भविष्य के लिए आप कैसी प्रवृत्ति का सुझाव देंगे ? (१९५४)

(३) भारत में जन-संख्या के व्यावसायिक वितरण की समीक्षा कीजिए। यह हमारी गरीबी के लिए कहाँ तक जिम्मेदार हैं। (१९५६–५८)

(४) भारत में जन-संख्या की समस्या पर विचार कीजिए और बतलाइए कि हमारे देश के लिए उपयुक्त जन-संख्या की नीति क्या होनी चाहिए ? (१९५७)

(५) "परिवार नियोजन" पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

आगरा विश्वविद्यालय, बी. ए. और बी. एस सी.

(१) क्या आपके विचार से भारत में जनाधिक्य है ? यदि ऐसा है तो आप यह नतीजा किन बातों के आधार पर निकाल सकते है। (१९५४)

(२) भारत में जन-संख्या के व्यावसायिक वितरण के आर्थिक महत्व की समीक्षा कीजिए। भारत में देहाती अर्द्ध रोजगारी दूर करने के उपाय बतलाइए। (१९५५)

(३) भारतीय जन-संख्या की मुख्य समस्या पर अपने विचार प्रकट कीजिए। (१९५६)

(४) भारतीय जन-संख्या की तीव्र वृद्धि आर्थिक विकास में बाधक है। इस बात से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

(५) भारत की जन-संख्या की प्रमुख विशेषताओं की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। हमारी पंचवर्षीय योजनाएँ इसके उद्यम-सम्बन्धी वितरण को कहाँ तक प्रभावित कर सकती हैं ? (१९५९)

दिल्ली विश्वविद्यालय, बी, ए.

(१) भारत में व्यावसायिक वितरण का आर्थिक महत्व समझाइए। भारत में देहाती अर्द्ध-रोजगार दूर करने के उपाय बतलाइए। (१९५६)

(२) क्या भारत में जनाधिक्य है ? इस समस्या को हल करने के लिए आप क्या सुझाव देंगे ? (१९५२)

संदर्भ ग्रन्थ

(1) Gyan Chand : Some Aspects of the Population Problem in India (Patna University, Patna, 1956).

(2) Census of India, 1951, Reports and Papers (Manager of Publications, Delhi).

(3) Coale and Hoover : 'Population Growth and Economic Development in Low-Income Countries.'

(4) Kingsley Davis : "Population of India and Pakistan," Princeton, 1951.

(5) The First Five Year Plan—A Draft Outline Ch. I.

(6) The Third Five Year Plan—A Draft Outline, Ch. I.

ग्यारहवाँ अध्याय

भारत में श्रमिक दक्षता

"किसी भी भाँति की शिक्षा या उचित शिक्षा के अभाव से भारतीय श्रमिक केवल अकुशल और अविश्वसनीय ही नहीं हो जाता वरन् उसकी आत्मोन्नति की सारी अभिलाषा ही मर जाती है।" जथार और वेरी

कुछ विद्वानों के मत

पाश्चात्य लेखक प्रायः भारतीय श्रमिकों की अदक्षता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हैं। उदाहरण के लिए सर अलेक्जेन्डर मैक रोबर्ट (Sir Alexander Mc Robert) ने कहा है कि इङ्गलैंड का एक श्रमिक एक भारतीय श्रमिक से साढे तीन या चार गुना दक्ष होता है। सर क्लीमेन्ट सिम्पसन (Sir Clement Simpson) कहते हैं कि भारत की सूती मिल के २.६७ श्रमिक इङ्गलैंड के एक श्रमिक के बराबर काम करते हैं। हम स्वीकार करते हैं कि इङ्गलैंड के श्रमिकों की तुलना में भारत के श्रमिक कम दक्ष होते हैं, परन्तु हम दावे के साथ कहते हैं कि उपर्युक्त लेखकों का मत पक्षपातपूर्ण और अतिशयोक्तिपूर्ण है। डॉ. गिलबर्ट स्लेटर (Dr. Gilbert Slater) ने भी उपर्युक्त मत में अतिशयोक्ति स्वीकार की है। उन्होंने बतलाया है कि इङ्गलैंड की अपेक्षा भारत की मिलों में एक मशीन पीछे अधिक श्रमिक लगाने का कारण यह है कि भारत में मजदूरी की दरें नीची होने से अतिरिक्त श्रमिकों को रखने से प्राप्त उत्पादन में वृद्धि का मूल्य, उनको दी गई मजदूरी की रकम से अधिक होता है। परन्तु इङ्गलैंण्ड में मजदूरी ऊँची होने से श्रमिकों के लगाने में किफायत आवश्यक हो जाती है। इसके अतिरिक्त भारत में समान समय में कम उत्पादन होने के कारण अंशतः (क) घटिया प्रबन्ध, (ख) घटिया रुई, जिसका तागा बार-बार टूटता है, और (ग) मेहनत बचाने के साधनों (Labour Saving Devices) या स्वचालित मशीनों का अभाव है।

हम नीचे भारत के उद्योग-धन्धों में काम करने वाले श्रमिकों में दक्षता की कमी के मुख्य कारणों पर प्रकाश डाल कर यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि इनका निराकरण कर हमारे श्रमिकों की दक्षता बढ़ाने के लिए क्या किया जाना चाहिये।

भारतीय श्रमिकों में दक्षता की कमी के कारण—भारत में श्रमिकों में कार्यशक्ति की कमी के मुख्य कारण निम्नांकित हैं :—

(१) जातीयता—पाश्चात्य लेखकों का मत है कि अधिकांश भारतीय श्रमिक

ऐसे पूर्वजों की संतान हैं, जिनमें औद्योगिक क्षमता का अभाव था। यह मत पक्षपातपूर्ण और असत्य है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल में भारत औद्योगिक दृष्टि से बढ़ा-चढ़ा था और अब भी यदि अवसर प्रदान किये जायें तो हमारे देश में दक्ष श्रमिक तैयार किये जा सकते हैं। तातानगर का उदाहरण हमारे सम्मुख विद्यमान है। भारतीय श्रमिकों में दक्षता के अभाव का कारण उनकी जातीयता (Race) नहीं, वरन् हमारे देश में अनुकूल वातावरण का अभाव है।

(२) **गरम जलवायु**—पाश्चात्य लेखक भारत के श्रमिकों में दक्षता की कमी का दूसरा कारण हमारे देश के गरम जलवायु को बतलाते हैं। यह धारणा अंशतः सत्य है, परन्तु अकाट्य नहीं है। यद्यपि हमारे देश का जलवायु गरम है, तथापि हमारे श्रमिक इस गरम जलवायु में भी बराबर कठिन परिश्रम करने के आदी हैं। एक भारतीय कृषक ज्येष्ठ और आषाढ़ की कड़ी धूप में नंगे बदन दिन भर हल चलाता है, परन्तु एक अँग्रेज के लिये क्या ऐसा करना सम्भव है? सम्भवतः वह इस कठिन धूप में एक घण्टे से अधिक काम नहीं कर सकेगा। इसके अतिरिक्त कारखाने की आभ्यान्तरिक जलवायु का जहाँ तक प्रश्न है, वह बिजली के पंखों, हिमकारक यन्त्रों (Refrigerators), नमीकरण यन्त्रों (Humidifiers) इत्यादि कृत्रिम साधनों द्वारा नियन्त्रित की जा सकती है।

(३) **नीचा जीवन-स्तर**—हमारे देश के श्रमिकों में दक्षता के अभाव का एक प्रमुख कारण यह है कि उनका जीवन-स्तर बहुत नीचा है। शिक्षा और मनोरंजन आदि सभ्य जीवन की सुविधाओं की बात तो दूर रही; उन्हें अपना भोजन, वस्त्र और निवास-स्थान की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के भी पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं हैं। फलस्वरूप उनके शरीर दुर्बल और मस्तिष्क अविकसित हैं। दक्षता के अभाव से उन्हें पारिश्रमिक कम मिलता है और पारिश्रमिक की कमी से उनका जीवन-स्तर नीचा है। फलस्वरूप उनकी दक्षता भी कम है। यह एक दूषित वृत्त (Vicious Circle) है जिसको तोड़ने के लिए उनको शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शुद्ध जल, पौष्टिक भोजन, स्वास्थ्यवर्धक निवास-स्थान और 'सामाजिक सुरक्षा' (Social Insurance) की सुविधाएँ अधिक मात्रा में प्राप्त होनी चाहियें।

(४) **शारीरिक दुर्बलता**—हमारे श्रमिकों का जीवन-स्तर इतना नीचा है कि उन्हें खाने के लिये रूखा-सूखा भोजन मिलता है; पहनने को फटे-पुराने और गन्दे कपड़े मिलते हैं और रहने के लिए गन्दी और अन्धेरी कोठरियाँ मिलती हैं। शिक्षा के अभाव में उन्हें स्वास्थ्य के नियमों का ज्ञान नहीं है। यदि बीमार हो जायँ तो चिकित्सा की कोई सुविधाएँ नहीं हैं। फलस्वरूप उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और उनकी शारीरिक शक्ति बहुत कम हो जाती है। अधिकांश भारतीय श्रमिकों के शरीर दुर्बल, हड्डियाँ निकली हुई, आँखें, गाल और छाती बैठी हुई होती हैं और वे चलते-फिरते अस्थिपंजर

के समान दृष्टिगोचर होते हैं। वे अधिक समय तक लगातार कठिन परिश्रम नहीं कर सकते हैं। उनकी शारीरिक दुर्बलता के कारण उनकी दक्षता बहुत कम होती है। इसको दूर करने के लिए उनमें स्वास्थ्य-शिक्षा का प्रचार और उनके जीवन-स्तर में वृद्धि की आवश्यकता है।

(५) **साधारण बुद्धि का अभाव**—भारतीय श्रमिकों में दक्षता की कमी का एक कारण उनमें साधारण बुद्धि की कमी है। उन्हें नई बात को समझने में देर लगती है। उनकी बराबर निगरानी करनी होती है। उनमें नये आविष्कार करने की योग्यता नहीं है। इस सबका कारण यह है कि वे शताब्दियों से अशिक्षा और अन्ध-विश्वास के अन्धकार में दबे रहे हैं। भारतीय श्रमिकों की मानसिक शक्तियों के विकास के लिए उनमें शिक्षा का प्रसार बहुत आवश्यक है।

(६) **शिक्षा का अभाव**—लगभग २०० वर्षों तक 'सभ्य' अँग्रेजी राज्य के पश्चात् हमारे देश में आज भी केवल १३·६% मनुष्य ऐसे हैं जो साक्षर कहे जाते हैं। जब साधारण शिक्षा ही की यह दशा है तो प्राविधिक शिक्षा (Technical Education) की आशा करना ही व्यर्थ है। **साधारण शिक्षा के अभाव में श्रमिकों की मानसिक और नैतिक शक्तियों का विकास नहीं होता है और प्राविधिक शिक्षा के अभाव में वे अपने व्यवसाय के मूल-सिद्धान्तों के ज्ञान (Theoretical Knowledge) और 'व्यावहारिक-शिक्षण' (Practical Training) से अनभिज्ञ रहते हैं। फलस्वरूप उनकी दक्षता बहुत कम होती है।** साधारण शिक्षा के प्रसार के लिए प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य किये जाने और प्रौढ़ शिक्षा के प्रचार की आवश्यकता है। प्राविधिक शिक्षा के लिए बड़ी संख्या में विशेष संस्थाएँ खोली जानी चाहिएँ। कारखानों के साथ शिक्षण-विभाग (Training Section) स्थापित किये जाने चाहिएँ। विदेशों से विशेषज्ञों को बुलाकर देश में नवयुवकों को शिक्षा दिलाई जानी चाहिये और होनहार युवकों को 'उच्च-प्रशिक्षण' (Advanced Training) के लिए विदेशों में भेजा जाना चाहिये।

(७) **नैतिक गुण**—भारतवासी स्वभावतः सन्तोषी होते हैं। वर्तमान हीनदशा से स्वस्थ असंतोष की भावना का, जो उन्नति का मूल कारण है, उनमें अभाव है। **जो कुछ मिलता है उसीमें सब्र है। वे अपने को उसीके योग्य मानते हैं और प्रगति का प्रयत्न ही नहीं करते।** यदि हमारे श्रमिकों के पारिश्रमिक में वृद्धि की जाय तो वे काम से गैरहाजिर होने लगते है, क्योंकि वे समझते हैं, कि उन्हें अधिक रुपए से क्या करना है। इसी प्रकार मासिक हिसाब चुकाये जाने की तारीख के बाद बहुधा एक आधे दिन की अनुपस्थिति हो ही जाती है। शिक्षा और प्रचार द्वारा उनमें वर्तमान हीन-दशा से उठने की चेष्टा उत्पन्न की जानी चाहिये।

(८) **काम के घण्टे**—हम वतला चुके हैं कि अधिक समय तक काम करने से श्रमिकों की कुशलता का ह्रास होता है। हमारे देश में सन् १८८१ में सबसे पहला "कारखाना कानून" बनाया गया। इसमें कई परिवर्तन किये गये। सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन १९३४ के कारखाना कानून और १९४८ के कारखाना कानून द्वारा किये गये। १९४८ के कानून के अनुसार प्रौढ़ श्रमिकों के लिये काम के घन्टे ९ प्रतिदिन और ४८ प्रति सप्ताह और बच्चों के लिए ४½ प्रतिदिन निर्धारित किये गये हैं। परन्तु यह कानून छोटे कारखानों में लागू नहीं है।

(९) **कारखानों की दशा**—कारखानों में ताजी हवा, रोशनी, स्वच्छ जल और सफाई की कमी से भी श्रमिकों का स्वास्थ्य विगड़ जाता है और दक्षता घट जाती है। १९४८ के कारखाना कानून के अधीन श्रमिकों के स्वास्थ्य, सुरक्षा और कल्याण के लिए व्यवस्था की गई है। १९४९,५०,५३ और ५४ के संशोधनों द्वारा काम की दशा में और भी सुधार करने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु छोटे कारखानों में अब भी **काम की दशा अच्छी नहीं है। यह भी एक कारण है जिसका हमारे श्रमिकों की दक्षता पर कुप्रभाव पड़ता है। ये कानून छोटे कारखानों पर भी लागू किए जाने चाहियें।**

(१०) **श्रमिक प्रवसन**—भारतवर्ष में पाश्चात्य देशों की भाँति स्थायी औद्योगिक श्रमिक वर्ग नहीं है। हमारे कारखानों में काम करने वाले श्रमिक बहुधा देहात से आते हैं और देहात से अपना सम्बन्ध कायम रखते हैं, जहाँ उनका घर, उनका खेत और उनका परिवार होता है। समय-समय पर वे देहात को जाते हैं और यद्यपि वह जितनी वार जाना चाहते हैं नहीं जा सकते, फिर भी वृद्धावस्था के कारण अवकाश-ग्रहण (Super-annuation) के पश्चात् अवश्य ही देहात में जाकर वस जाते हैं। वास्तव में उन्हें शहरी जिन्दगी से कोई लगाव या आकर्षण नहीं है। वे तो परिस्थिति से मजबूर होकर ही वहाँ जाते हैं, क्योंकि देहात में जीविकोपार्जन कठिन होता है। यदि वे देहात में पर्याप्त भोजन और वस्त्र की प्राप्ति कर सकें तो बहुत कम औद्योगिक श्रमिक ऐसे होंगे जो शहर में ठहरेंगे। कोई-कोई तो जब खेतों पर काम नहीं होता, तब शहरों में काम करने को चले जाते हैं और फसल के समय लौट आते हैं। श्रम-आयोग (Labour Commission) ने इस प्रथा को वर्त्तमान परिस्थितियों में लाभदायक वतलाया है, क्योंकि जलवायु परिवर्तन से श्रमिकों के स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। परन्तु इस प्रथा की एक हानि यह है कि स्थायी रूप से नहीं रहने के कारण श्रमिक पर्याप्त प्राविधिक दक्षता (Technical Efficiency) प्राप्त नहीं कर सकते हैं। औद्योगिक केन्द्रों में श्रमिक स्थायी निवास करें, इसके लिए आवश्यक है कि शहरी जिन्दगी, स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुधार करके, उनके लिए आकर्षक बनाई जानी चाहिए।

(११) व्यवस्थापकों में दक्षता का अभाव—अन्त में भारतवर्ष में श्रमिकों की दक्षता की कमी का एक कारण हमारे देश में दक्ष और योग्य व्यवस्थापकों का अभाव है। फलस्वरूप हमको बड़े-बड़े कारखानों के लिए विदेशों से प्रबन्धक मँगाने पड़ते हैं या उद्योगों का प्रबन्ध अधिकांशतः विदेशी प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं (Managing Agents) को सौंपना पड़ता है। परन्तु विदेशी प्रबन्धक उच्च वेतन की शर्तबन्दी के पश्चात् काम पर अधिक ध्यान नहीं देते हैं। हमारे देश की जलवायु उनके लिए अनुपयुक्त है और वे हमारी भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण हमारे श्रमिकों से भली प्रकार व्यवहार नहीं करते हैं। हमारे श्रमिकों को नवीनतम यंत्र उपलब्ध नहीं किये जाते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि होनहार भारतीय नवयुवकों को यही अथवा विदेश में शिक्षा दी जा करके उन्हीं को प्रबन्धक नियुक्त किया जाना चाहिये।

परीक्षा के प्रश्न

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०

(1) Why is it that Indian labour is not as efficient as American or British labour? Suggest remedies for improving the efficiency of Indian labour, (1951)

संदर्भ ग्रन्थ

(१) जे० बी० जथार तथा एस० जी० बेरी : भारतीय अर्थशास्त्र Indian Economics का हिन्दी रूपांतर खण्ड २, अ० ३ (१९५६ राज कमल प्रकाशन, दिल्ली)।

(२) जे० बी० जथार तथा के० जी० जथार: भारतीय अर्थशास्त्र अ० १५ (१९५७) (ऑक्सफॉर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई)

बारहवाँ अध्याय

भारत की समाज व्यवस्था, उत्तराधिकार नियम और धर्म

"हिन्दुओं के लिए उनका जाति संगठन ही उनका सम्मेलन केन्द्र है, उनका श्रमिक संघ है, हितकारिणी समिति है और वही उनकी जन-हितैषी सभा भी है।"

(एस० लो)

सामाजिक परिवेश और आर्थिक विकास—किसी देश की समाज व्यवस्था और उत्तराधिकार के नियमों तथा धार्मिक विश्वासों का वहाँ के आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। भारत जैसे कृषि-प्रधान, घने आबाद और पिछड़े हुए देश का आर्थिक विकास करने के लिए एक ओर खेती की पैदावार बढ़ानी होती है और दूसरी ओर अतिरिक्त आबादी को खेती से हटाकर उद्योग-धन्धों में लगानी पड़ती है। प्रायः यह देखा जाता है कि धार्मिक अंधविश्वासों से खेती में नए तरीके अपनाने में कठिनाई होती है और जाति-बंधनों और संयुक्त परिवार प्रणाली जैसी सामाजिक संस्थाएँ श्रमिकों की व्यावसायिक और भौगोलिक गतिशीलता में बाधा उपस्थित करती हैं। हम इस अध्याय में जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली, उत्तराधिकार के नियम तथा धार्मिक विश्वासों का संक्षिप्त परिचय देकर यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि ये हमारे आर्थिक विकास में किस सीमा तक सहायक या बाधक सिद्ध हुए हैं।

वर्ण-व्यवस्था या जाति-प्रथा

वर्ण-व्यवस्था या जाति-प्रथा भारतीय समाज की सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। वैसे तो संसार के सभी देशों में सामाजिक वर्ग-विभाजन पाया जाता है, परन्तु वह इतना कठोर नहीं है जितना कि भारत में है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन-व्यवसाय चुनने और एक वर्ग से दूसरे वर्ग में जाने की स्वतन्त्रता होती है। अन्तर्वर्गीय खान-पान और विवाह सम्बन्धों पर विशेष प्रतिबन्ध नहीं होते। परन्तु भारत में प्रत्येक व्यक्ति को जिस जाति में वह जन्म लेता है उसी में रहना पड़ता है। वह अपने से नीची जाति वालों के साथ विवाह सम्बन्ध और खान-पान नहीं कर सकता। उसका व्यवसाय, खान-पान, रहन-सहन, वेष-भूषा आदि उस जाति में प्रचलित रीति-रिवाजों या नियमों के अनुसार निर्धारित होते हैं और जाति के नियमों का उल्लंघन करने पर उसको दंड दिया जाता है अथवा जाति से अलग कर दिया जाता है।

जातियों के भेद—कहते हैं कि आरम्भ में चार प्रमुख वर्ण थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय,

वैश्य और शूद्र। परन्तु अनेक कारणों से वर्ण-भेद बढ़ता रहा और आजकल जातियों अथवा उपजातियों की संख्या २००० से भी अधिक है। जातियों के तीन मुख्य भेद हैं :—(क) व्यावसायिक जातियाँ, जैसे—नाई, धोबी, कुम्हार, बढ़ई और सुनार आदि; (ख) आनुवंशिक जातियाँ, जैसे—जाट, गूजर, मेव, कोली और कहार आदि; (ग) धार्मिक जातियाँ, जैसे—बम्बई की लिंगायत जाति।

वर्ण-व्यवस्था के लाभ—वर्ण-व्यवस्था या जाति-प्रथा के मुख्य लाभ और उपलब्धियाँ निम्नांकित हैं :—

(१) **श्रम विभाजन**—प्रायः व्यवसाय वंशानुगत होते हैं। इससे पुत्र को घर के सुखद वातावरण और पिता के वात्सल्ययुक्त संरक्षण में व्यवसाय का प्रशिक्षण मिल जाता है और पिता को विश्वसनीय सहायक मिल जाता है। इससे श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त होते हैं। परन्तु जब कोई दूसरा व्यवसाय अपनाना वर्जित और दण्डनीय हो जाता है तो अपना व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है।

(२) **व्यावसायिक हितों की रक्षा**—जाति-संगठनों ने मध्यकालीन व्यापार-संघों की तरह अपने जाति-बन्धुओं के लिए अपनी जाति के परम्परागत व्यवसाय को सिखाने, पारिश्रमिक और लाभ को नियमित करने, बाह्य प्रतिस्पर्धा से उनकी रक्षा करने, आपसी विवादों के निपटारे के लिए पंच-फैसलों की व्यवस्था करने और जाति-हितैषी कार्य करने में महत्वपूर्ण योग दिया है। परन्तु कालान्तर में जातियों की संख्या बढ़ने और उनमें पार्थक्य की भावना के जोर पकड़ने से उनकी कला के विकास और रक्षा करने की क्षमता जाती रही।

(३) **संस्कृति की रक्षा**—जाति-प्रथा के पक्ष में यह भी कहा जाता है कि सभ्यता के संक्रमण-काल में इसने अपनी जाति विशेष की संस्कृति की रक्षा में महत्वपूर्ण योग दिया होगा। "सम्भवतः इस व्यवस्था ने हिन्दू-समाज को स्वयं अक्षुण्ण बने रहकर राजनीतिक आक्रमणों के आघातों को सहने की शक्ति भी दी।"[1]

(४) **जन्म से निश्चित व्यवसाय**—यह भी कहा जाता है कि जाति-प्रथा ने भारतीय समाज को आधारभूत स्थिरता और सन्तोष प्रदान किया है। इस प्रथा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का जीवन-व्यवसाय जन्म से निश्चित हो जाता था और उसको आजकल की तरह अपना व्यवसाय चुनने की उलझन नहीं झेलनी पड़ती थी।

जाति-प्रथा के दोष—जाति-व्यवस्था आरम्भ में कितनी ही उत्तम क्यों न रही हो, कालान्तर में इसमें अनेक दोष पैदा हो गये; जिनमें मुख्य निम्नांकित हैं :—

(१) **राष्ट्रीय एकता में बाधक**—जाति-प्रथा ने भारतीय समाज को ऐसे अलग-अलग वर्गों में बाँट दिया है जिसमें खान-पान और विवाह सम्बन्ध वर्जित हैं। इस

---

१. भारतीय अर्थ-शास्त्र : जथार तथा बेरी, भाग १, पृ० ९६ (हिन्दी रूपान्तर)।

प्रकार जाति-प्रथा देश की विभिन्न जातियों के निर्बाध मिलन और राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक रही है।

(२) सजातीय विवाह से अवनति—जाति-प्रथा के पक्ष में प्रायः यह बात कही जाती है कि इसने उच्च कुलों की विशुद्धता को अक्षुण्ण रखा है। परन्तु प्राणी-शास्त्र के अनुसार सजातीय अभिजनन से उच्च-कुलागत मूल-गुणों का ह्रास होता है। साथ ही कई जातियों में स्त्री-पुरुषों की संख्या में असमानता होने से दहेज, बाल-हत्या आदि कई सामाजिक बुराइयाँ पैदा हो गई हैं।

(३) व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता में बाधक—जाति-प्रथा के अनुसार किसी व्यक्ति का व्यवसाय उसकी प्रवृत्ति और योग्यता पर निर्भर नहीं करता, बल्कि जन्म पर निर्भर करता है। इससे कई योग्य मनुष्यों को अपनी शक्तियों के पूर्ण विकास का अवसर नहीं मिलता और समाज को उनसे पूरा-पूरा लाभ नहीं मिलता।

(४) श्रम की गतिशीलता में बाधक—जाति-प्रथा के अन्तर्गत व्यवसाय परिवर्तन और स्थान-परिवर्तन कठिन होता है। इससे प्रतियोगिता-हीन दल (Non-competing Groups) पैदा हो जाते हैं और श्रमिकों को सीमान्त उत्पादिता के अनुसार काम पर नहीं लगाया जा सकता।

(५) बड़े पैमाने पर उत्पादन में बाधक—बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिए श्रम और पूँजी आदि उत्पादन के साधनों को एक जगह इकट्ठा करना होता है। यदि उत्पादन के विभिन्न साधन अलग-अलग जातियों के पास हों तो उनको एक स्थान पर इकट्ठा करने में कठिनाई होती है। जाति-प्रथा से सूक्ष्म श्रम-विभाजन में भी कठिनाई होती है और अलग-अलग जातियों के खान-पान, रहन-सहन के तरीकों में भिन्नता होने से अनेक प्रकार की वस्तुओं का छोटे पैमाने पर उत्पादन करना पड़ता है।

(६) शारीरिक श्रम में अरुचि—जाति-प्रथा से उच्च जातियों के सदस्यों में शारीरिक श्रम के प्रति अरुचि पैदा हो जाती है। इससे देश में वर्ग-विषमता बढ़ती है।

(७) ऊँच-नीच और छुआछूत की भावना—जाति-प्रथा, मानव-समानता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करती। इससे समाज में ऊँच-नीच और छुआछूत का घातक विष फैल जाता है।

जाति-प्रथा में परिवर्तन—वैसे तो देश में समय-समय पर कई ऐसे आन्दोलन चले हैं, जिन्होंने ऊँच-नीच और छुआछूत का विरोध किया है। परन्तु उनका प्रभाव अधिक स्थायी और व्यापक नहीं हुआ। पिछले कुछ वर्षों में रेलों, कारखानों और सरकारी शिक्षालयों की उन्नति और विस्तार, आर्थिक परिस्थिति के दबाव तथा वैधानिक सुधारों और राजनैतिक जागृति के परिणाम-स्वरूप जातीय-भेद की दीवारें काफी कमजोर हो गई हैं। अधिकाधिक संख्या में लोग अपने परम्परागत व्यवसायों को छोड़कर नए व्यवसाय अपनाने लगे हैं। कई उच्च जाति के लोग भी आर्थिक परिस्थिति के दबाव

से ऐसे काम करने लगे हैं जो अब तक केवल निम्न जातियों वाले करते थे। स्कूलों, कालेजों, रेलों और कारखानों में साथ-साथ बैठने-उठने, खाने-पीने और काम करने से भी ऊँच-नीच और छूआछूत का भेद कम होना स्वाभाविक है। राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी के चलाये गये अस्पृश्यता-निवारण और हरिजन-उद्धार आन्दोलन से भी जाति-भेद मिटाने में सहायता मिली है। भारत का नया संविधान तो किसी प्रकार का कुल, जाति या योनि का भेद-भाव स्वीकार ही नहीं करता।

कानून की निगाह में सब बरावर है। पिछड़ी जातियों के कल्याण के लिए शासन विशेष रूप से प्रयत्नशील है। अन्तर्जातीय विवाहों को कानूनी मान्यता दे दी गई है। औद्योगिक विकास ने कई नए पेशों को जन्म दिया है जिनके लिए अलग जातियाँ नहीं हैं। पाश्चात्य विचारों के प्रभाव-स्वरूप जात-पाँत विवेकहीन मानी जाने लगी है। हिन्दू धर्म छोड़ कर ईसाई या मुसलमान बनकर जात-पाँत के बन्धनों से छूटने की प्रवृत्ति ने भी जातपाँत की कठोरता कम करने में मदद की है। पिछड़ी जातियाँ भी अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो रही हैं और उच्च जातियों का रुख भी बदल रहा है। परन्तु जाति-प्रथा अभी कायम है। कई जातियों वाले ऊपर से अपने तक तो समानता लाना चाहते है, परन्तु अपने से नीचे वालों को अपने बराबर मानने को तैयार नहीं है। अन्तर्जातीय विवाह और खान-पान अभी तक सीमित हैं। पिछड़ी हुई जातियों के लिए विधान-सभाओं में सीटें आरक्षित रखने, सरकारी नौकरियों और विशेष शिक्षा-संस्थाओं में प्रवेश के समय उनको रियायतें देने से पिछड़ी जाति वालों के निहित स्वार्थ बन गये हैं। जाति-प्रथा का ज़हर मुसलमानों, ईसाइयों और सिखों में भी फैल गया है। फिर भी जाति-गत बन्धन और असमानताएँ पूर्वापेक्षा धीरे-धीरे कम हो रही हैं और जाति-प्रथा का रूप बदल रहा है।

संयुक्त परिवार प्रणाली

भारतीय समाज की दूसरी विशेषता संयुक्त परिवार प्रणाली है। पाश्चात्य देशों में परिवार का अर्थ पति, पत्नी और उनके छोटे बच्चों से होता है। बड़े होने पर लड़कियाँ अपने पति के घर चली जाती हैं और लड़के अपना अलग घर बसा लेते हैं। परन्तु भारत में कभी-कभी तीन-चार पीढ़ियों तक लोग एक साथ रहते हुए पाये जाते हैं और उनका काम-काज, पूजा-पाठ, खाना-पीना और सोना-बैठना सब साथ-साथ होते हैं।

संयुक्त-परिवार में प्रायः परिवार का सबसे बड़ा पुरुष परिवार का प्रमुख या कर्त्ता माना जाता है और वह परिवार की सम्पत्ति और सदस्यों की देख-रेख करता है। परिवार के सब सदस्य उसकी आज्ञा मानते हैं। वे अपनी-अपनी योग्यतानुसार कमाते हैं और उनकी एकत्रित आय प्रधान द्वारा उनकी आवश्यकता के अनुसार निकाली या खर्च की जाती है।

संयुक्त परिवार प्रणाली के लाभ—इस प्रणाली के पक्ष में निम्नांकित बातें कही जाती हैं।

(१) श्रम विभाजन के लाभ—संयुक्त परिवार के प्रत्येक सदस्य को अपनी योग्यतानुसार कार्य करने को दिया जाता है। परिवार की स्त्रियाँ, बच्चे, बूढ़े और अशक्त भी घर के काम में पुरुषों की सहायता करते हैं। खेती और घरेलू धन्धों के चलाने में इससे मदद मिलती है।

(२) जीवन-निर्वाह का आश्वासन—संयुक्त परिवार में प्रत्येक सदस्य को जीवन-निर्वाह का आश्वासन रहता है जो आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक है। बिना माँ-बाप के बच्चों, विधवाओं, बूढ़ों और अशक्तों—सभी को परिवार में प्रश्रय मिलता है। इस प्रकार यह प्रणाली आधुनिक व्यापक सामाजिक सुरक्षा (Comprehensive Social Security) का प्राचीन रूप है।

(३) उपभोग में किफायत—संयुक्त परिवार में खाने-पीने, पहनने और रहने आदि के खर्चे में बहुत किफायत होती है और कम खर्चे में बड़े-बड़े परिवारों का आसानी से काम चल जाता है।

(४) संयुक्त सम्पत्ति—इस प्रणाली में समस्त परिवार की सब सम्पत्ति शामिल रहती है। भूमि का अधिक उपविभाजन और अपखण्डन नहीं होने पाता और पूँजी का अच्छे से अच्छा आर्थिक प्रयोग संभव हो जाता है।

(५) नैतिक लाभ—संयुक्त परिवार प्रणाली में आत्म संयम, स्वार्थ-त्याग, आज्ञाकारिता और शील आदि गुणों का विकास होता है। परन्तु कभी-कभी नैतिक लाभ के स्थान पर द्वेष, वैमनस्य और कलह तथा अनाचार भी पैदा हो सकते हैं।

संयुक्त परिवार प्रणाली के दोष—प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनुकूल होने पर भी आज की परिवर्तित परिस्थितियों ने इस प्रथा के अनेक दोषों को उभार दिया है, जिनमें मुख्य निम्नांकित है :—

(१) प्रयत्न और प्रतिफल में अन्तर—जब मनुष्य को विश्वास होता है कि उसको अपने परिश्रम का पूरा प्रतिफल मिलेगा तो वह अपनी शक्ति-भर प्रयत्न करता है। संयुक्त परिवार प्रणाली में प्रायः "एक कमाता है और अनेक खाते है"। इससे एक ओर कमाने वाले पर अत्यधिक भार पड़ता है और कार्य करने की शक्ति व इच्छा शिथिल हो जाती है। दूसरी ओर चाहे कोई काम करे या न करे, परिवार के प्रत्येक सदस्य का जीवन-निर्वाह तो होता ही है। इससे कई ऐसे आलसी और अनुत्पादक लोग पैदा हो जाते हैं जिनमें न स्वाभिमान होता है और न उत्तरदायित्व की भावना ही।

(२) साहसोद्यम का अभाव—संयुक्त परिवार के सदस्यों में साहसोद्यम का अभाव पाया जाता है और कुलपति के अतिरिक्त शेष सदस्यों का काम प्रायः आज्ञा पाना

और पालन करना होता है और कुलपति भी परिवार के प्रति अपने उत्तरदायित्व के विचार से जोखिम उठाने से हिचकता है।

(३) **श्रम की गतिशीलता का अभाव**—पारिवारिक स्नेह के कारण अधिकांश सदस्यों की घर पर रहने की इच्छा बलवती होती है और वे घर छोड़ कर अन्यत्र जाना पसन्द नहीं करते। इससे श्रमिकों में गतिशीलता घट जाती है।

संयुक्त परिवार प्रणाली का ह्रास—आज देश में संयुक्त परिवार प्रणाली इतनी प्रचलित नहीं है, जितनी की पुरानी पाठ्य-पुस्तकों में बतलाई जाती है। हम दसवें अध्याय "भारत की जन-संख्या" में बतला चुके हैं कि १९५१ की जन-गणना के अनुसार हमारे देश में एक औसत परिवार में सदस्यों की संख्या पाँच से कम है। स्पष्ट है कि संयुक्त-परिवार प्रणाली आजकल बहुत कमजोर पड़ गई है। इसके कई कारण हैं—परिवहन और संचार के साधनों के विस्तार से श्रम की गतिशीलता में वृद्धि; परम्परागत पारिवारिक व्यवसाय का ह्रास होने से जीविकोपार्जन के लिए नए स्थानों या नए व्यवसायों में जाने की आवश्यकता; पाश्चात्य सभ्यता की देन के रूप में व्यक्तिवाद का विकास; पारिवारिक कलह और अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष की तीव्रता में वृद्धि आदि। हमें संयुक्त परिवार प्रथा के ह्रास का रंज नहीं है। परन्तु हम पूर्णरूपेण आत्म-केन्द्रित व्यक्तिवाद के पक्ष में भी नहीं हैं। हम चाहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने की स्वतन्त्रता हो, परन्तु उसे स्वार्थरत होकर दीन-हीन सम्बन्धियों के प्रति अपना उत्तरदायित्व नहीं भूलना चाहिये।

उत्तराधिकार के नियम

किसी देश में प्रचलित उत्तराधिकार के नियमों का उसके आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। भारत में हिन्दुओं में उत्तराधिकार की दो मुख्य प्रणालियाँ हैं। (१) **मिताक्षर प्रणाली**—यह बंगाल को छोड़कर शेष भारत में प्रचलित है। इसके अनुसार पूर्वजों की सम्पत्ति पर पिता और पुत्रों का संयुक्त अधिकार होता है। पिता अपने पुत्र या पुत्रों की अनुमति के बिना सम्पत्ति को नहीं बेच सकता और पुत्र अपने पिता के जीवन-काल में ही सम्पत्ति का बँटवारा करा सकता है। परन्तु **यह नियम पिता की अपनी कमाई हुई सम्पत्ति पर लागू नहीं होता और यह उसकी निजी सम्पत्ति मानी जाती है।** परन्तु कमाने वाले के मरने के बाद यह भी संयुक्त रूप से अधिकृत सम्पत्ति हो जाती है। (२) **दायभाग प्रणाली**—यह बंगाल में प्रचलित है। इसके अनुसार पिता की मृत्यु के पश्चात् ही पुत्रों का सम्पत्ति पर अधिकार होता है। पिता अपने जीवन-काल में सम्पत्ति का एकान्त अधिकारी होता है और वह इसे बिना पुत्र की अनुमति के भी बेच सकता है। स्पष्ट है कि मिताक्षर प्रणाली के अनुसार पुत्र अपने पिता के जीवित रहते हुए भी और दायभाग में पिता के मरने पर संयुक्त परिवार से अलग होकर अपने पूर्वजों की सम्पत्ति का बँटवारा करा सकता है। अब तक तो

पिता की सम्पत्ति में केवल पुत्रों को ही अधिकार मिलता था; परन्तु हाल ही में बनाये गये 'हिन्दू उत्तराधिकार नियम' के अनुसार पुत्रियों को भी पुत्रों के समान ही पिता की सम्पत्ति में अधिकार दे दिया गया है। मुसलमानों के उत्तराधिकार नियम भी बहुत कुछ हिन्दुओं के नियमों से मिलते-जुलते हैं। मुसलमानों में पैतृक और स्वार्जित-सम्पत्ति पर किसी व्यक्ति का अधिकार केवल उसके जीवन-पर्यन्त ही रहता है और उसके मरने के पश्चात वह अधिकार हिन्दू कानून की अपेक्षा अधिक विविध प्रकार के उत्तराधिकारियों को प्राप्त हो जाता है। स्पष्ट है कि हिन्दुओं की ही तरह मुसलमानों में भी वयोज्येष्ठता का कोई अधिकार नहीं है।

उत्तराधिकार नियमों के गुण—हमारे देश में प्रचलित उत्तराधिकार के नियमों के पक्ष में यह कहा जाता है कि वयोज्येष्ठता के नियम का अभाव समानता और सबके प्रति न्याय की भावना का सूचक है। इनसे समाज के प्रत्येक सदस्य को आर्थिक जीवन आरम्भ करने के लिए एक सहारा मिल जाता है और आर्थिक विषमता नहीं बढ़ने पाती। इनसे गाँवों में स्वतन्त्र और स्वाभिमानी किसान-भूस्वामी वर्ग और नगरों में प्रभावशाली मध्य वर्ग का विकास होता है जो आकस्मिक परिवर्तनों का विरोध करते हैं और समाज को स्थायित्व प्रदान करते हैं।

उत्तराधिकार नियमों की हानियाँ—

(१) ये नियम अधिक मात्रा में पूँजी के संचय में बाधा डाल कर बड़े पैमाने के उत्पादन के मार्ग में रुकावट डालते हैं। परन्तु यह दोष ज्वाइन्ट-स्टाक कम्पनियों का संगठन करके दूर किया जा सकता है।

(२) इन नियमों के कारण खेत बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों मे बँट गये हैं और आगे और भी अधिक छोटे टुकड़े होने की संभावना बढ़ गई है। चकबन्दी और सहकारी खेती से इस दोष का निवारण सम्भव है।

(३) उत्तराधिकार के नियम के अनुसार सम्पत्ति के, विशेषतः भूमि के बँटवारे के वक्त प्रायः उत्तराधिकारियों में झगड़े होते हैं जिससे मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है और किसानों की दरिद्रता और कर्जदारी में वृद्धि होती है।

धर्म और आर्थिक विकास

प्रायः कहा जाता है कि धर्मपरायणता भारत के आर्थिक विकास में बाधक रही है; क्योंकि इसके कारण भारतवासियों ने भौतिक सुख और सम्पन्नता की ओर से मुख मोड़कर आध्यात्मिक उन्नति की ओर अपना ध्यान दिया है। परन्तु हम भारत के इतिहास का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि प्राचीन काल में धर्म, आर्थिक विकास में बाधक नहीं था और न आज ही है। यह ठीक है कि मानसिक और नैतिक प्रति-क्रियाओं के काल में भारत में अनेक ऐसे साधु महात्माओं का जन्म हुआ जिन्होने मानव जीवन

के चरम लक्ष्य की प्राप्ति में भौतिक वस्तुओं का विशेष स्थान नहीं माना। परन्तु साधारणतः हमारे देश में धन को मानव कल्याण का एक मुख्य साधन माना गया है। धर्म-शास्त्रों की आज्ञा है कि मनुष्य को अपने जीवन के पहले २५ वर्षों में विद्याध्ययन करना चाहिये और अगले २५ वर्षों में धनोपार्जन करना चाहिये। महाभारत के शांति पर्व में कई स्थानों पर जीवन में धन का महत्व बतलाया गया है। उसमें लिखा है कि जो मनुष्य किसी दूसरे का धन हरण करता है तो वह उसका धर्म भी हर लेता है। दरिद्रता को पाप माना गया है। यही नहीं, भारत में ऐसे विचारकों का भी जन्म हुआ है जिन्होंने 'खाओ पीओ और मौज उड़ाओ' का आदर्श अपनाया है। उदाहरण के लिए चार्वाक-दर्शन में बतलाया गया है कि जब तक जीवित है आनन्द से रहना चाहिये और कर्ज लेना पड़े तो भी घी पीना चाहिये। स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म में धन की उपेक्षा नहीं की गई है। यही कारण है कि प्राचीन काल में भारत, भौतिक दृष्टि से बढ़ा-चढ़ा था। भारत में गणित, खगोल शास्त्र और चिकित्सा शास्त्र की यथेष्ट उन्नत्ति हुई थी और भारत अपनी हस्तकलाओं के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध था। लगभग १७ वीं शताब्दी के आरम्भ तक भारत की आर्थिक स्थिति अन्य देशों से उन्नत थी।

वर्तमान काल में भी मारवाड़ी, भाटिया, मेमन, बोहरा और खोजा आदि कई जातियों के लोग, जिनके धार्मिक आचार-विचारों पर पाश्चात्य विचारों का बहुत कम असर पड़ा है, व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्र में अग्रणी पाये गये हैं। अतएव धर्म को आर्थिक विकास में मुख्य बाधक नहीं माना जा सकता।

भारत के विकास में मुख्य बाधा, अनुकूल वातावरण न होने से पैदा हुई है। मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् कई वर्षों तक शांति और सुरक्षा के अभाव में लोगों में अधिक परिश्रम करने और बचत करने की प्रवृत्ति नहीं रही। अकाल और महामारियों जैसे प्राकृतिक प्रकोपों का भी ऐसा ही प्रभाव पड़ा, क्योंकि भुखमरी और बेकारी न केवल लोगों को जान से मार डालती है वरन उससे भी ज्यादा लोगों को शारीरिक, और नैतिक दृष्टि से कमजोर बनाती है। गरीबी के कारण कई ऐसे कुचक्र पैदा हो जाते हैं जिससे आर्थिक विकास रुक जाता है। इनमें से कुछ का वर्णन हम दूसरे अध्याय में कर चुके हैं और उन्हें यहाँ पुनः दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

जो पाश्चात्य लेखक भारतवासियों की धर्मपरायणता और भगवान भरोसे रहने की प्रवृत्ति को आर्थिक विकास में बाधक मानते हैं उन्हें यह नहीं भूलना चाहिये कि संसार के सभी धर्मों में ईश्वर इच्छा के सामने झुकने की शिक्षा दी गई है। इस्लाम शब्द का तो अर्थ ही ईश्वर के सम्मुख आत्म-समर्पण है। ईसाई धर्म में भी ईश्वर-इच्छा को बलवान माना है। यही कारण है कि कार्ल मार्क्स ने सभी धर्मों को अफीम के समान मानकर इनको न मानने की बात कही है। अतएव हिन्दू धर्म पर ही, विशेषरूप से आर्थिक विकास में बाधक होने का दोषारोपण नहीं किया जा सकता है।

परीक्षा के प्रश्न

University of Rajasthan, B. A.

(1) Discuss the economic advantages and disadvantages of joint family system. Why is this system breaking up in India? (1957)

(2) Discuss the influence of social conditions on the economic life of India. (1960)

Agra University, B. A. & B. Sc.

(1) Discuss the economic consequences of the caste system. Do you think there is any justification for its continuance in the present conditions? (1954)

(2) Discuss how the economic development of India has been conditioned by its social environment. (1957)

Delhi University, B. A.

(1) In what manner do the important social and religious institutions help or hinder the economic progress of the people of India? Give examples. (1952)

संदर्भ ग्रंथ

(1) G. B. Jathar & K. G. Jathar : Indian Economics (1957), (O. U. P., Bombay) Ch 4.

(2) Kingsley Davis : The Population of India & Pakistan, Ch. 18.

(3) जथार और बेरी : भारतीय अर्थशास्त्र (हिन्दी रूपान्तर १९५६, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, खण्ड १, अध्याय ४)

तेरहवाँ अध्याय

भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन

"हमारे औद्योगीकरण की गति धीमी होने के कारण यद्यपि यहाँ श्रम-समस्या यूरोपीय देशों के समान कठिन नहीं है, परन्तु उनके जैसी होने में अब देर भी नहीं है।"
—जथार और बेरी

श्रमिक संघ और उनके कार्य

सिडनी और बीट्रिस वेब के अनुसार श्रमिक संघ (Trade Union) **श्रमिकों के ऐसे स्थायी सङ्गठन को कहते हैं जिसका उद्देश्य काम की दशाओं को बनाये रखना और सुधारना होता है।** आजकल श्रमिक-संघों का कार्य-क्षेत्र केवल श्रमिकों की काम की दशाओं से ही सम्बन्धित नही रह गया है, किन्तु उनके जीवन के प्रत्येक पहलू आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक—तक फैल गया है।

वेब दम्पत्ति के अनुसार श्रमिक-संघ लोकतंत्र को उद्योगों में फैलाने का साधन है। श्रमिक संघ के मोटी तौर से दो मुख्य कार्य होते हैं। (१) मजदूरी बढ़ाने और काम के घंटे कम करने तथा काम की दशाओं में सुधार करने का प्रयत्न करना ; और (२) श्रमिकों के कल्याण के लिए रचनात्मक सेवा-कार्य करना। श्रमिकों के संगठित होकर सामूहिक मोल भाव करने से उनकी सौदा करने की शक्ति बढ़ जाती है। उनमें आत्म-विश्वास, आत्म-सम्मान और सुरक्षा की भावना पैदा होती है। उनमें अनुशासन और ईमानदारी की भावना बढ़ती है और उद्योगों के प्रवन्ध साझी के रूप में श्रमिकों को हिस्सा मिलने का अवसर मिलता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए श्रमिक-संघ पारस्परिक सुरक्षा (Mutual Insurance) का काम करते हैं, सामूहिक मोल भाव करते हैं और श्रमिकों के हित में कानून पास करवाते हैं। मार्क्स और एँजिल ने श्रमिक संघ, को पूँजीवाद को उखाड़ फेंकने और वर्ग-हीन समाज स्थापित करने का साधन माना है। इसके लिए उनका सबसे शक्तिशाली अस्त्र 'आम हड़ताल' माना गया है।

भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन—पाश्चात्य देशों में औद्योगिक क्रांति और कार-खाना प्रणाली के फलस्वरूप जब श्रमिकों की दशा बहुत बिगड़ गई तो उनकी दशा सुधारने के लिए श्रमिक-संघों की स्थापना की गई। भारत में औद्योगीकरण देरी से आरम्भ हुआ। अतएव हमारे देश में श्रमिक संघ आन्दोलन का विकास भी देरी से हुआ। कहते हैं कि सबसे पहले सोरावजी शाह पुरजी के नेतृत्व में सन् १८७५ में बम्बई के श्रमिकों की शोचनीय दशा के विरोध में आन्दोलन शुरू हुआ। १८९० में श्री नारायण मेघजी

लोखण्डे ने "वम्बई मिल मजदूर संघ" की स्थापना की। परन्तु यह कोई सुसंगठित संस्था नहीं थी। इसके पास न कोई कोष था, न सदस्यों की सूची थी और न संस्था का विधान आदि ही था। कलकत्ता में मजदूरों में व्यावहारिक धर्म का प्रचार करने तथा कल्याण कार्य करने के लिए ब्रह्म समाज ने १८७८ में "मजदूर मिशन" चलाया और श्री शशिपदा वैनर्जी ने श्रमिक-कल्याण के लिये "वड़ानगर इन्स्टीट्यूट" चलाई। सन् १९११ में वम्बई में "कामगर हितवर्धिनी सभा" की स्थापना की गई। यद्यपि ये संस्थाएँ श्रमिक कल्याण के लिए चलाई गई थीं और वास्तविक अर्थ में श्रमिक-संघ नहीं थीं तथापि इनके कारण श्रमिकों को राजनैतिक आन्दोलन चलाने और सामूहिक सौदा करने की कला में प्रशिक्षण मिला।

भारत में श्रमिक-संघ आन्दोलन का वास्तविक प्रारम्भ प्रथम महायुद्ध के दिनों में हुआ। इसके कई कारण थे। युद्धकाल में मँहगाई के कारण श्रमिकों में असंतोष था। देश में राजनैतिक जाग्रति और रूसी क्रांति के समाचारों से भी श्रमिकों में उत्साह था। जेनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ की स्थापना हो चुकी थी और इस संस्था में भारत को अपना प्रनिनिधि भेजना था।

श्री वाडिया ने मद्रास में और पंजाव केसरी लाला लाजपतराय ने पंजाव में श्रमिक-संघ स्थापित किये। १९२० में आॅल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के नाम से श्रमिकों का प्रथम अखिल भारतीय संगठन स्थापित किया गया। परन्तु अव भी श्रमिक-संघों को कानूनी मान्यता प्राप्त नहीं थी। श्रमिक-संघों की सम्पत्ति जब्त की जा सकती थी और इनके नेताओं को दण्ड दिया जा सकता था। अधिकांश श्रमिक-संघ, स्थायी संगठन न होकर "हड़ताल समितियों" की तरह थे और हड़ताल खतम होने पर ठंडे पड़ जाते थे।

अखिल भारतीय ट्रेड युनियन कांग्रेस की स्थापना से श्रमिक आन्दोलन को बहुत बल मिला और १९२०-२५ के वीच में श्रमिक-सघों की संख्या चौगुनी हो गई। १९२६ में पहला श्रमिक संघ कानून वनाया गया जिससे रजिस्टर्ड श्रमिक संघों को कानूनी मान्यता मिली और हड़ताल करने का अधिकार भी मिल गया। इसी समय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में साम्यवादियों का प्रभाव वढ़ गया और नेताओं में फूट पड़ जाने के कारण वे नरम दल और गरम दल में वँट गये। सरकार ने श्रमिक संघों के प्रति दोहरी नीति अपनाई। एक ओर साम्यवादियों को दवाया गया और दूसरी ओर श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए १९२८ में शाही कमीशन की स्थापना की गई जिसे ह्विटले कमीशन (Whitley Commission) कहते हैं। सन् १९२९ में नरम दल वाले श्री एन० एम० जोशी के नेतृत्व में ट्रेड यूनियन कांग्रेस से निकल गए और उन्होंने अलग ट्रेड यूनियन फेडरेशन वना लिया। १९३१ में ट्रेड यूनियन कांग्रेस में और फूट पड़ गई और देश पांडे तथा रनदिवे के नेतृत्व में "लाल ट्रेड यूनियन [illegible]" [illegible] आॅल

इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अलग हो गए। इस प्रकार 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस," ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन फेडरेशन," "लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस" के अलावा "इण्डियन रेलवेमेन्स फेडरेशन" और "अहमदाबाद मिल मजदूर संघ" आदि कई अलग-अलग संगठन कायम हो जाने से मजदूर आन्दोलन को धक्का लगा।

सन् १९३१ में रेलवेमेन्स फेडरेशन ने समझौते का प्रयत्न किया; सन् १९३२ में एक एकता समिति बनाई गई और १९३३ में एकता सम्मेलन हुआ; परन्तु विशेष सफलता नहीं मिली। आखिर १९३४ में समझौता हुआ और लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस तोड़ दी गई। सन् १९३८ में श्री वी० वी० गिरी के प्रयत्नों से ट्रेड यूनियन फेडरेशन और ट्रेड यूनियन कांग्रेस में भी एकता हो गई और १९४० में फेडरेशन भी तोड़ दिया गया।

दूसरे महायुद्ध के समय श्रमिक आन्दोलन ने फिर जोर पकड़ा। मँहगाई के कारण मजदूरी बढ़ाने और मँहगाई भत्ता देने की माँग की गई। काम के घंटे बढ़ाने और अतिरिक्त समय काम करने के लिये श्रमिकों को रिआयतें दी गईं। सरकार ने त्रिदलीय-वार्ताएँ आरम्भ कीं जिससे भी श्रमिक आन्दोलन को मान्यता मिली। परन्तु सरकार को युद्ध में सहयोग देने के प्रश्न पर पुनः मतभेद हो गया। जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण करने के पश्चात् श्री एम० एन० राय ने सरकार को युद्ध संचालन में सहयोग देने के लिए ट्रेड यूनियन कांग्रेस छोड़कर "इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर" की स्थापना की जिसको सरकार से श्रमिकों में कार्य करने के लिए उदार सहायता प्रदान की गई।

युद्धोत्तर काल में मँहगाई के कारण श्रमिकों में असंतोष बहुत बढ़ गया। सन् १९४५-४७ के बीच अनेकों हड़तालें हुईं जिनमें लाखों श्रमिकों ने भाग लिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं ने सन् १९४७ में "राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस" (इन्टक) की स्थापना की और जो श्रमिक संघ समाजवादियों के प्रभाव में थे उन्होंने मिलकर "हिन्दू मजदूर पंचायत" बना ली। दिसम्बर १९४७ में सरकार, श्रमिकों और नियोक्ताओं के प्रतिनिधियों के बीच औद्योगिक शान्ति कायम करने के लिए एक समझौता हुआ और तत्पश्चात् कुछ वर्षों तक कोई बड़ी हड़ताल नहीं हुई। दिसम्बर १९४९ में "हिन्दू मजदूर पंचायत" और "इण्डियन फेडरेशन आफ लेबर" के प्रतिनिधियों ने कलकत्ते में एक सम्मेलन किया और दोनों ने मिलकर "हिन्दू मजदूर सभा" बना ली। इसी वर्ष श्रमिक आन्दोलन में पुनः एकता स्थापित करने की दृष्टि से प्रोफेसर के० टी० शाह के प्रयत्नों से "युनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस" के नाम से एक अलग अखिल भारतीय श्रमिक संघ स्थापित किया गया। इस प्रकार देश में चार अखिल भारतीय श्रमिक संघ बन गए। अगले पृष्ठ पर अंकित तालिका में इन अखिल भारतीय संगठनों से सम्बद्ध श्रमिक-संघों और सदस्यों की संख्या बतलाई गई है :—

	सम्बद्ध श्रमिक संघों की संख्या	सदस्यता
(१) भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन काँग्रेस	७२७	६,१०,२२१
(२) हिन्दू मजदूर सभा	१५१	१,९२,६४२
(३) ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन काँग्रेस	८०७	५,३७,५६७
(४) यूनाइटेड ट्रेड यूनियन काँग्रेस	१८२	८२,००१
योग :—	१,८६७	१७,२२,७३१

Source :—India 1960, p. 383.

पिछले कुछ वर्षों में मँहगाई और राष्ट्रीय सरकार की उदार श्रम-नीति के कारण भारत में श्रम आन्दोलन को काफी बल मिला है। सन् १९४७ में ट्रेड यूनियन कानून संशोधन किया गया और कुछ शर्तें पूरी करने की दशा में रजिस्टर्ड श्रमिक-संघों को मान्यता देना आवश्यक कर दिया गया। कुछ विषयों में सरकारी नीति अन्तिम रूप से तय होने तक इस कानून पर अमल रोक दिया गया है। इस समय रेलों, डाक व तार विभाग, कोयले की खानों, लोहा और इस्पात के कारखानों और सूती मिलों में काम करने वाले श्रमिकों में शक्तिशाली संगठन है। अन्य उद्योगों के श्रमिक भी संगठित हो रहे हैं, परन्तु अभी तक उनके संगठन इतने शक्तिशाली नहीं हैं।

भारत में श्रमिक-संघ आन्दोलन के मार्ग में कठिनाइयाँ

यद्यपि हमारे देश में श्रमिक-संघवाद ने काफी उन्नति की है, तथापि अन्य प्रगतिशील देशों की तुलना में यह अब भी कमजोर है। इस कमजोरी के अधिकांश कारण आन्तरिक हैं, यद्यपि कुछ वाह्य कठिनाइयाँ भी श्रमिक आन्दोलन के मार्ग में हैं।

[क] आन्तरिक कारण—

(१) सीमित सदस्यता—श्रमिक-संघवाद अधिकांशत: औद्योगिक नगरों में सीमित है और यहाँ भी श्रमिक-संघों के सदस्यों की संख्या श्रमिकों की कुल संख्या के अनुपात में बहुत कम है। वास्तव में सक्रिय सदस्यों की संख्या प्रकाशित आँकड़ों से कम है और नाममात्र के सदस्य ज्यादा हैं।

(२) छोटे श्रमिक-संघ—भारत में श्रमिक-संघों का आकार बहुत छोटा है। छोटे संघों के पास धन और संगठन का अभाव होता है और वे नियोक्ताओं तथा शासन को प्रभावित नहीं कर सकते।

(३) सीमित साधन—भारत में अधिकांश श्रमिक-संघों के साधन इतने कम होते हैं कि वे संगठन व अन्वेषण के लिए अधिकारी नौकर नहीं रख सकते, रचनात्मक

कल्याण-कार्य नहीं कर सकते और हड़ताल के दिनों में अपने सदस्यों की सहायता नहीं कर सकते।

(४) **श्रमिकों की प्रवास-वृत्ति**—हमारे देश में स्थायी औद्योगिक श्रमिक वर्ग का अभाव है। हमारे अधिकांश श्रमिक देहात के रहने वाले होते हैं जो रोजगार के लिए नगरों में चले आते हैं और पुनः अपने गाँव को चले जाते हैं। ये लोग श्रमिक-संघों में रुचि नहीं लेते।

(५) **दरिद्रता**—अधिकांश श्रमिकों को मजदूरी इतनी कम मिलती है कि वे श्रमिक संघों का चन्दा भी नहीं दे सकते।

श्रमिक-संघवाद की कठिनाइयाँ

[क] आन्तरिक कारण

(१) सीमित सदस्यता;
(२) छोटे श्रमिक-संघ;
(३) सीमित साधन;
(४) श्रमिकों की प्रवास प्रवृत्ति;
(५) दरिद्रता;
(६) अवकाश का अभाव;
(७) अशिक्षा;
(८) विविधता;
(९) फूट;
(१०) बाहरी नेतृत्व;
(११) राजनैतिक प्रभाव;
(१२) विध्वंसात्मक प्रवृत्ति।

[ख] बाह्य कारण :

(१३) भरती का गलत तरीका;
(१४) नियोक्ताओं का विरोध;
(१५) सरकारी रवैया।

(६) **अवकाश का अभाव**—श्रमिकों को कारखानों में इतने अधिक समय तक काम करना पड़ता है कि वे थक जाते हैं। उनको घर आने पर भी आराम नहीं मिलता। प्रायः उनके घर भी कारखानों से काफी दूर होते है। अतएव उनके पास संघ के कार्यों के लिए समय और शक्ति ही नहीं होती।

(७) **अशिक्षा**—अशिक्षा के कारण भारत के अधिकांश श्रमिक श्रमिक-संघों की आवश्यकता और महत्व नहीं समझ पाते। ज्ञान और रुचि के अभाव में वे बाहरी नेताओं पर निर्भर हो जाते हैं।

(८) **विविधता**— श्रमिकों में जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्र की भिन्नता पाई जाती है और वर्ग चेतना का अभाव है जिससे एकता नही पैदा हो पाती।

(९) **फूट**—श्रमिक-संघों में आपसी फूट पाई जाती है। प्रायः एक ही प्रतिष्ठान या उद्योग में भिन्न और विरोधी आदर्शों में विश्वास रखने वाले दो या अधिक संघ होते हैं जो आपस में लड़ा करते हैं।

(१०) **बाहरी नेतृत्व**—श्रमिक संघों के नेता अधिकतर वकील, डाक्टर या सामाजिक और राजनैतिक कार्य-कर्ता होते हैं जिनको उद्योग का प्राविधिक ज्ञान नहीं होता और श्रमिकों के प्रति सहानुभूति नहीं होती। कुछ तो इतने व्यस्त होते हैं कि

संघ को राजनैतिक उद्देश्य के लिए विशेष कोष इकट्ठा करने का अधिकार है। श्रमिक-संघों के सदस्यों की संख्या कम से कम ७ होनी चाहिये। श्रमिक-संघों के लिए रजिस्ट्री करना अनिवार्य नहीं है; परन्तु रजिस्टर्ड श्रमिक-संघों को विशेष अधिकार प्रदान किए गए है। एक रजिस्टर्ड-संघ के पदाधिकारियों पर, जो संघ के वैधानिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करते हों षडयंत्र करने के लिए मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। इसी प्रकार किसी पदाधिकारी या सदस्य पर नौकरी करने का समझौता तोड़ने के लिए किसी दीवानी अदालत में दावा नहीं किया जा सकता।

हम बतला चुके हैं कि श्रमिक-संघ कानून ने श्रमिक-संघों को कानूनी मान्यता प्रदान की और हिसाब की अनिवार्य जांच की व्यवस्था की जिससे श्रमिक संघों द्वारा अपने कोष का दुरुपयोग नहीं किया जा सके। परन्तु इससे श्रमिकों के आन्दोलन को विशेष बल नहीं मिला, क्योंकि नियोक्ता के लिए रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियन को मान्यता देना आवश्यक नहीं था। इस कानून की एक और कमजोरी यह थी कि इसके अधीन एक ही उद्योग में कई श्रमिक संघ अलग-अलग रजिस्ट्री करा सकते थे और यह मालूम करने में कठिनाई होती थी कि कौन सा संघ वास्तव में श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करता है।

सन् १९४७ का श्रमिक संघ कानून—श्रमिक संघ आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने के लिए भारत सरकार ने १९४६ में १९२६ के श्रमिक संघ कानून में संशोधन करने की दृष्टि से एक बिल तैयार किया जिसमें प्रतिनिधि श्रमिक संघों को अनिवार्य रूप से मान्यता देने की व्यवस्था की गई। इसमें यह भी व्यवस्था की गई कि यदि नियोक्ता मान्यता प्राप्त श्रमिक-संघ के प्रतिनिधियों से बातचीत करने से इन्कार करे तो उस पर एक हजार रुपये तक जुर्माना किया जा सकता है। मान्यता प्राप्त श्रमिक संघ को काम की दशा, मजदूरी की दर तथा काम के घण्टों के बारे में नियोक्ता से बातचीत करने का अधिकार दिया गया तथा कारखानों में जहाँ इसके सदस्य काम करते हों सूचना पत्र लगाने का भी अधिकार दिया गया। साथ ही मान्यता प्राप्त श्रमिक-संघों पर श्रमिक-संघों के रजिस्ट्रार के पास वार्षिक ब्यौरा भेजने और अनियमित हड़ताल को बन्द करने का उत्तरदायित्व डाला गया। इसमें यह भी व्यवस्था की गई कि यदि कोई श्रमिक संघ अनुचित कार्यवाही करे या श्रमिकों का प्रतिनिधि न रहे तो उसकी मान्यता रद्द की जा सकती है। इस कानून के अन्तर्गत सरकारी नौकरों के श्रमिक संघों में बाहर के लोग कार्यकारिणी के सदस्य नहीं बन सकते और दूसरे श्रमिक संघों में बाहर वालों की संख्या चार या कुल संख्या की आधे से अधिक नहीं हो सकती। यह विधेयक नवम्बर १९४७ में स्वीकार कर लिया गया; परन्तु कुछ कठिनाइयों के कारण इस पर अमल रोक दिया गया।[1] पहली कठिनाई यह है कि जब एक ही उद्योग में कई श्रमिक-संघ

1. Dhires Bhattacharya : India's Economy (1959), p. 179.

काम करते हों तो उनमें से श्रमिकों का वास्तविक प्रतिनिधित्व कौन करता है यह तय करना मुश्किल हो जाता है और इसके बिना नियोक्ता को मान्यता देने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। अनिवार्य रूप से मान्यता देने के मार्ग में दूसरी कठिनाई श्रमिक संघों की कार्यकारिणियों में वाहर वालों की प्रधानता से उत्पन्न होती है। नियोक्ता लोग अपने कारखानों में काम करने की दशा में वाहर वालों से वातचीत करना पसन्द नहीं करते। आशा है शीघ्र ही इन कठिनाइयों का उचित हल निकाला जा सकेगा।

परीक्षा के प्रश्न

University of Rajasthan, B. A.

1. Survey briefly the development of trade union movement in India. What are the main obstacles to its healthy growth ?
(1953, Similar in 1959)

2. Look into the working of trade unions in India and offer your suggestions to improve their status and efficiency. (1955)

सन्दर्भ ग्रन्थ

(1) V. V. Giri : Labour Problem in Indian Industry (Asia Publishing House, Bombay, 1958).
(2) D. Bhattacharya : Understanding India's Economy (Progressive Publishers, Calcutta, 1959) Ch. 10.
(3) A. Ghosh : Indian Economy (The World Press Ltd., Calcutta, 1959) Ch. 22.
(4) India 1960 : (Publications Division, Delhi, 1960), Ch. 28.

चौदहवाँ अध्याय

भारत में श्रम-विधान

किसी भी देश में औद्योगिक विकास के साथ-साथ श्रम-विधान (Labour Legislation) की आवश्यकता बढ़ती जाती है। श्रमिकों की कार्यकुशलता बढ़ाने एवं उन्हें मालिकों के शोषण से बचाने के लिए कानून बनाने पड़ते हैं। श्रम-कल्याण के लिए भी कानून पास करने होते हैं। इस प्रकार औद्योगिक समाज में श्रम-विधान का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

भारत में प्रारम्भ में विभिन्न उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न समयों में श्रम-कानून बनाये गये।[1] श्रम-विधान में एक नीति नहीं बरती गई। १९५० के संविधान के अन्तर्गत निम्न विषय विधान की दृष्टि से केन्द्रीय व राज्यीय दोनों क्षेत्र में आते है :—

(अ) मजदूर संघ, औद्योगिक व श्रम-संघर्ष,

(आ) सामाजिक सुरक्षा व सामाजिक बीमा, रोजगार व बेकारी।

(इ) श्रम-कल्याण जिसमें काम की दशाएँ, प्रॉविडेन्ड फण्ड, मालिक का दायित्व, मजदूरों की क्षतिपूर्ति, वृद्धावस्था में पेंशन व मातृत्व लाभ शामिल हैं।

(ई) श्रमिकों को व्यावसायिक व टैक्नीकल प्रशिक्षण।

(उ) शरणार्थियों की सुविधा व पुनः बसाने से सम्बन्धित कार्य।

निम्न विषय केन्द्रीय क्षेत्र में रखे गये :—

(अ) खानों व तेल के क्षेत्रों में श्रमिकों की सुरक्षा व नियमन।

(आ) केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों से सम्बन्धित औद्योगिक झगड़े।

राज्यों की सूची में अयोग्य व बेकारों को सुविधा प्रदान करने का विधान रखा गया।

श्रम-विधान का संक्षिप्त इतिहास

प्रथम महायुद्ध से पूर्व श्रम-विधान की स्थिति अस्त-व्यस्त व धीमी थी। १८४९ व १८६० के श्रम-कानूनों में मजदूरों के हितों की रक्षा करने के बजाय उनके द्वारा समझौता तोड़ने पर भारी सजा की व्यवस्था थी। १९वीं शताब्दी के अन्त में कारखानों में मजदूरों की दशा ठीक करने के लिए कानून बने। १८११ व १८९१ के फैक्टरी

---

1. Our Economic Problem—Wadia and Merchant, 6th Edition, 1959. p. 440.

एक्ट इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। इनमें स्त्रियों व बच्चों के काम के घंटे आदि निर्धारित किये गये। १९०१ में पहला खान-अधिनियम बना।

बाद में कारखाना-श्रम-आयोग, १९०७ के सुझावों पर १९११ में फैक्टरी एक्ट पुनः बनाया गया। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद से श्रम-विधान ने फिर से जोर पकड़ा और निम्न अधिनियम बने; भारतीय खान-अधिनियम, १९२३; मजदूर क्षतिपूर्ति अधिनियम, १९२३; दी ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट, १९२९ व भारतीय ट्रेड यूनियन अधिनियम, १९२६। रॉयल कमीशन, १९२९ की सिफारिशों के आधार पर १९३१ से श्रम-कानून पास किये जाने लगे। नया फैक्टरी एक्ट १९३४ में बना जिसमें काम के घंटे प्रतिदिन १० व सप्ताह में ५४ स्थायी उद्योगों में व प्रतिदिन ११ और सप्ताह में ६० मौसमी उद्योगों में निश्चित किये गये। मजदूरी भुगतान अधिनियम १९३७ में बना। १९३७ में प्रान्तीय स्वायत्त-शासन लागू होने से प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रीमंडल बने और श्रम-विधान को प्रोत्साहन मिला, लेकिन इन्होंने नवम्बर, १९३९ में इस्तीफा दे दिया जिससे इस दिशा में विशेष प्रगति न हो सकी।

विभिन्न प्रान्तों में श्रम-विधान में काफी अन्तर उत्पन्न हो गया। अतः केन्द्रीय सरकार द्वारा एकता स्थापित करना आवश्यक हो गया। भारत सरकार ने श्रम-मंत्रियों का सम्मेलन जनवरी, १९४० में बुलाया और १९४१ व १९४२ में पुनः अधिवेशन किये गये। अगस्त, १९४२ में प्रथम त्रिदलीय श्रम-सम्मेलन किया गया जिसमें सरकारों के प्रतिनिधि, एवं मालिकों व मजदूरों के प्रतिनिधि शामिल हुए।

इसमें एक स्थायी-श्रम-संगठन बना जिसके ३ उद्देश्य रखे गये। (१) श्रम-विधान में एकता लाना; (२) औद्योगिक झगड़ों को निपटाने की पद्धति निर्धारित करना और (३) समस्त देश को प्रभावित करने वाले औद्योगिक हित के मामलों पर विचार-विमर्श करना। इस संगठन की एक स्टेंडिंग कमेटी है जिसमें १० सरकारी, ५ मालिकों के एवं ५ मजदूरों के प्रतिनिधि हैं। भारत सरकार इस कमेटी की सभा कभी भी बुला सकती है। इस संगठन का एक सम्मेलन भी लगभग प्रति वर्ष होता है जिसमें २२ सरकारी प्रतिनिधि (सभापति को छोड़ कर) और मालिकों व मजदूरों में से प्रत्येक के ११ प्रतिनिधि भाग लेते हैं।

त्रिदलीय श्रम-सम्मेलन ने १९४३ में मजदूरों की विभिन्न समस्याओं की जाँच करने के लिए श्री डी० वी० रेगे की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसकी रिपोर्ट १९४६ में प्रकाशित हुई। रेगे समिति के सुझावों के अनुसार श्रम-विधान में परिवर्तन चालू किये गये।

१९४७ के बाद श्रम-विधान—

स्वतंत्रता के आगमन से श्रम-विधान को नई प्रेरणा मिली। श्री जगजीवन राम की देख-रेख में श्रम-विभाग ने एक पंच-वर्षीय श्रम-कार्यक्रम बनाया जिसमें समस्त देश

के लिए एक सी श्रम-नीति अपनाने पर जोर दिया गया। मजदूरों की सामाजिक सुरक्षा, औद्योगिक शान्ति व उचित मजदूरी आदि से सम्बन्धित कार्यों को भी आगे बढ़ाने पर बल दिया गया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद निम्न श्रम कानून बने हैं। फैक्टरी एक्ट, १९४८; औद्योगिक झगड़ा कानून, १९४७; ट्रेड यूनियन एक्ट, १९४७; कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, १९४८; न्यूनतम मजदूरी कानून, १९४८; बागान श्रम-अधिनियम, १९५१; कर्मचारी प्रॉविडेन्ट फन्ड, १९५२ व खान-अधिनियम, १९५२। इन अधिनियमों के द्वारा मजदूरों की काम की दशाएँ, मजदूरी, सामाजिक सुरक्षा व श्रम-कल्याण आदि में सुधार की व्यवस्था की गई है। मालिक-मजदूरों के झगड़े निपटाने की पद्धति का विकास किया गया है और श्रम-संघों को मान्यता दी गई है।

इस अध्याय में काम की दशाओं, मजदूरी व औद्योगिक झगड़ों से सम्बन्धित कानूनों का विवेचन किया गया है और अगले अध्याय में श्रम-कल्याण व सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी व्यवस्था का वर्णन किया जायगा।

कारखाना कानून, (Factory Act, 1948)

पहले कहा जा चुका है कि कारखानों में मजदूरों की दशा सुधारने के लिए प्रथम कारखाना कानून, १८८१ में पास किया गया। यह १८९१, १९११, १९२२ व १९३४ में संशोधित किया गया। अन्त में चालू कानून में आमूल-चूल परिवर्तन करने के लिए १९४८ में नया फैक्टरी एक्ट बनाया गया जिसमें मजदूरों के स्वास्थ्य, सुरक्षा व कल्याण, काम के घंटे एवं काम की दशाएँ निर्धारित की गईं। कारखाना कानून, १९४८ की मुख्य बातें नीचे दी जाती हैं।

क्षेत्र—यह अधिनियम उन कारखानों पर लागू होगा जहाँ १० या १० से ज्यादा मजदूर काम करते हैं एवं शक्ति का प्रयोग होता है अथवा २० या २० से ज्यादा मजदूर काम करते हैं लेकिन शक्ति का प्रयोग नहीं होता है। इस कानून में स्थायी और मौसमी उद्योगों का भेद समाप्त कर दिया गया है।

स्वास्थ्य, सुधार व कल्याण—१९४८ के कानून में धूल व धुँआ दूर करने, व्यर्थ पदार्थों को हटवाने, तापक्रम का नियंत्रण करने, गर्मियों में ठंडे पानी की पूर्ति करने एवं पानी के स्थानों को साफ रखने की व्यवस्था की गई है। कानून बनने के बाद स्थापित किये गये कारखानों में प्रति मजदूर न्यूनतम स्थान ४०० घन फुट होना आवश्यक होगा।

अधिनियम में मजदूरों के लिए आवश्यक सुरक्षा की भी व्यवस्था की गई है जैसे आँखों की रक्षा, खतरनाक धुओं से रक्षा आदि। कोई भी श्रमिक इतना बोझा नहीं उठायेगा जिससे कि उसे चोट पहुँचे।

अधिनियम में कपड़ा धोने की सुविधायें, प्राथमिक चिकित्सा का सामान, भोजन-गृह, विश्राम-गृह व शिशु-गृहों की व्यवस्था भी है। मजदूरों के बैठने का प्रबन्ध करने के लिए भी व्यवस्था की गई है।

रोजगार—१९३४ के अधिनियम के अनुसार बच्चों की नौकरी की आयु कम से कम १२ थी और १५ से १७ वर्ष की उम्र तक के वयस्क बच्चों की श्रेणी में ही आते थे (यदि उन्हें वयस्क होने का प्रमाण पत्र नहीं मिलता)। १९४८ के अधिनियम में न्यूनतम उम्र १४ रखी गई है और ऊपरी उम्र की सीमा १७ से १८ कर दी गई है।

काम के घण्टे—वयस्कों के लिए काम के घण्टे प्रतिदिन ९ व सप्ताह में ४८ रखे गये हैं और काम का फैलाव १०½ घण्टे प्रतिदिन का हो सकेगा। बच्चों व तरुणों के लिए काम के घण्टे ५ से घटा कर ४½ प्रतिदिन कर दिये गये हैं। स्त्रियों व बच्चों से शाम को ७ बजे से लेकर सुबह ६ बजे तक काम नहीं लिया जा सकेगा। अधिक समय तक काम लेने पर कर्मचारियों को उनकी सामान्य मजदूरी का दुगुना भुगतान करना होगा।

मजदूरी सहित छुट्टियाँ—साप्ताहिक छुट्टियों के अतिरिक्त १२ महीने लगातार काम करने पर मजदूरी सहित छुट्टियों की व्यवस्था इस प्रकार से होगी—वयस्क को २० दिन काम करने पर १ दिन (कम से कम १० दिन), बच्चों को १४ दिन काम करने पर १ दिन (कम से कम १४ दिन) की वेतन सहित छुट्टी मिलेगी।

कारखानों के मैनेजरों को मृत्यु या भयानक शारीरिक चोट सम्बन्धी विशेष दुर्घटनाओं की सूचना देनी होगी। व्यावसायिक बीमारी की भी सूचना देनी होगी।

इस अधिनियम का प्रशासन राज्य सरकारों के जिम्मे होगा। केन्द्रीय सरकार ने सलाह देने के लिए मुख्य सलाहकार, फैक्टरीज़, का दफ्तर खोला है। यह विभाग पुस्तिकाएँ प्रकाशित करके मजदूरों की जानकारी बढ़ाता है और कारखानों के निरीक्षकों को शिक्षा प्रदान करता है।

१९४८ के अधिनियम ने मजदूरों के लिए स्वास्थ्य व सुरक्षा एवं श्रम-कल्याण की सुविधाएँ बढ़ा कर भारत के कारखानों से सम्बन्धित विधान के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा है।[1] इस विधान से श्रम की कार्यकुशलता बढ़ेगी। प्रो० अलक घोष ने सुझाव दिया है कि केन्द्रीय सरकार को इस अधिनियम के प्रशासन की जिम्मेदारी भी अपने ऊपर लेनी चाहिए और इसके लिए मुख्य सलाहकार, फैक्ट्रीज, के दफ्तर को बढ़ाना चाहिए। ऐसा करने से अधिनियम सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया जा सकेगा। उनका दूसरा सुझाव यह है कि एक अलग अधिनियम बीड़ी, अभ्रक, चपड़ा, गलीचा-बुनाई-उद्योग एवं अन्य ऐसे उद्योगों पर लागू किया जाय जहाँ मजदूरों का अत्यधिक

1. Indian Economy—Alak Ghosh, p. 334.

शोषण होता है। यदि इन दोनों सुझावों के अनुसार कार्य किया जाय तो श्रमिकों को लाभ होगा और उनकी स्थिति सुधरेगी।

बागान श्रम-विधान—पहले बागानों में श्रमिकों को भेजने व उनकी भर्ती के म्बन्ध में अनुचित ढंग चलते थे। मजदूरों को विशेष समझौते के अनुसार काम करना ड़ता था और इसके तोड़ने पर उन्हें सजा दी जाती थी। आसाम श्रम व प्रवास कानून, ९१५ ने ठेकेदारों द्वारा भर्ती करने की प्रणाली का दमन किया। लेकिन बागानों के मिकों की दशा सुधारने के असली प्रयत्न का प्रारम्भ बागान श्रम-अधिनियम, १९५१ पास होने से माना जायगा। यह अधिनियम चाय, कहवा, रबड़ व सिनकोना के ागानों पर लागू होता है। इसमें वयस्कों के लिए ५४ घण्टे प्रति सप्ताह एवं बच्चों व रुणों के लिए ४० घण्टे प्रति सप्ताह काम करने की व्यवस्था की गई है। १२ वर्ष से म उम्र के बच्चों को काम पर नहीं रखा जा सकेगा। बच्चे व स्त्रियाँ रात में काम ही कर सकेंगे। बागान के मालिक अपने क्षेत्र के श्रमिकों के लिए मकान व दवा का न्तजाम करेंगे।

खान अधिनियम—पहला खान अधिनियम १९०१ में पास किया गया था। भारतीय खान-अधिनियम, १९२३ आगे जाकर १९३५ में संशोधित हुआ जिसके अनुसार सतह पर काम के अधिकतम घण्टे ५४ (प्रति सप्ताह) और १० (प्रतिदिन) निर्धारित किये गये। जमीन के नीचे काम करने के अधिकतम घण्टे ९ प्रतिदिन रखे गये। नौकरी पर रखने की कम से कम उम्र १५ निर्धारित की गई। खान अधिनियम, १९५२ के अनुसार काम के घण्टे प्रति सप्ताह ४८, प्रतिदिन ९ (सतह पर), ८ (नीचे) कर दिये गये हैं।

१९५२ में कोयला खान (रक्षा व सुरक्षा) अधिनियम पास हुआ जिसके अनुसार कोयले की भविष्य के लिए रक्षा एवं खान खोदने वालों की सुरक्षा की व्यवस्था की गई। इन कार्यों का सम्पादन करने के लिए कोयला बोर्ड बनाया गया।

१९४७ में कोयला खान-श्रम-कल्याण कोष अधिनियम पास किया गया जिसके अनुसार कोयले के उत्पादन पर कर (cess) लगा कर एकत्र की गई रकम मजदूरों के मकान, पीने के पानी, शिक्षा, मनोरंजन, दवा व यातायात की सुविधा बढ़ाने पर व्यय की जायगी। यह अधिनियम १९४९ में संशोधित किया गया।

न्यूनतम मजदूरी विधान (Minimum wage legislation)

मजदूरों की कार्यकुशलता में वृद्धि करने के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करना आवश्यक होता है। बहुत कम मजदूरी मिलने से रहन-सहन का स्तर नीचा होता है जिसमें कार्यकुशलता भी कम होती है। भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, १९४८ में पास किया गया। इसकी मुख्य बातें ये हैं :—

(१) यह जम्मू-काश्मीर को छोड़कर समस्त भारत पर लागू होगा। इस अधिनियम के अन्तर्गत उन उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने की व्यवस्था की गई है जिनमें मजदूरों के शोपण की ज्यादा सम्भावनाएँ हैं। अधिनियम में ऐसे उद्योगों की एक सूची दी गई है जिनमें यह लागू होगा। उन उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी निश्चित नहीं की जायगी जिनमें मजदूरों की कुल संख्या सारे राज्य में १,००० से भी कम है। १९५७ के संशोधन के अनुसार यह शर्त ढीली कर दी गई है।

(२) अधिनियम में (अ) न्यूनतम (समय के अनुसार) मजदूरी की दर, (आ) न्यूनतम (काम के अनुसार) मजदूरी की दर, (इ) समय के अनुसार गारन्टी की हुई दर, (ई) अधिक समय तक काम करने की दर निश्चित करने की व्यवस्था की गई है। विभिन्न श्रेणी के मजदूरों के लिए विभिन्न व्यवसायों में ये दरें भिन्न-भिन्न होंगी।

(३) राज्यों में सलाहकार बोर्ड बनेंगे जो न्यूनतम मजदूरी की दरें निश्चित करने में मदद करेंगे। एक केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड भी स्थापित होगा जो अन्य राज्यीय बोर्डों के काम में ताल-मेल बैठायेगा।

सभी राज्यों की सरकारों ने कई उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी की दरें निश्चित की हैं। गलीचा बनाने का उद्योग, चावल व आटा पीसने की चक्कियाँ, तम्बाकू उत्पादन, बागान, लाख निर्माण उद्योग, चमड़ा रँगने का उद्योग व सार्वजनिक मोटर यातायात में विशेषतया न्यूनतम मजदूरी की दरें लागू की गई हैं।

१९५७ में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, १९४८ में संशोधन करके न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने की तारीख ३१ दिसम्बर, १९४९ तक रखी गई। एक केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड व राज्यों में सलाहकार अधिकारी नियुक्त हुए हैं। १९४८ का अधिनियम कई उद्योगों पर लागू नहीं किया गया था। सलाहकार बोर्ड व समितियों को स्थायी बनाने की आवश्यकता है। न्यूनतम मजदूरी अधिनियम को लागू करने के लिए प्रत्येक उद्योग के लिए एक स्थायी न्यूनतम मजदूरी बोर्ड स्थापित किया जाना चाहिए। यह बोर्ड न्यूनतम मजदूरी निश्चित करेगा और इसमें समय समय पर संशोधन करेगा। भारत में एक राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी की दर की भी आवश्यकता है जो तमाम धन्धों पर लागू की जा सके।[1]

मजदूरी बोर्ड (Wage Boards)—भारत सरकार ने सूती वस्त्र, चीनी व सीमेंट उद्योगों के लिए केन्द्रीय मजदूर बोर्ड बनाये हैं जिनका काम 'उचित मजदूरी' (Fair wages) के सिद्धान्त के आधार पर मजदूरी का ढाँचा निश्चित करना है। 'उचित मजदूरी' 'न्यूनतम मजदूरी' से अधिक होती है और 'निर्वाह मजदूरी' (Living wage) से कम होती है। 'उचित मजदूरी' का सम्बन्ध मजदूर की कार्य-क्षमता से होता है जब

1. Indian Economy—Alak Ghosh, p. 340.

कि निर्वाह मजदूरी का सम्बन्ध मजदूर की सामान्य आवश्यकताओं से होता है जो उसे सभ्य समाज में रहते हुए पूर्ण करनी होती हैं।

भारत में 'उचित मजदूरी' (Fair wages) निश्चित करने के सम्बन्ध में अभी तक कोई अधिनियम नहीं बन पाया है। हमें 'न्यूनतम मजदूरी' अधिनियम को सर्वत्र लागू करने के बाद 'उचित मजदूरी' अधिनियम की तरफ बढ़ना चाहिए।

औद्योगिक झगड़े (Industrial Disputes)

औद्योगिक उत्पादन में निरंतर वृद्धि के लिए औद्योगिक शान्ति की आवश्यकता होती है। मजदूरों द्वारा हड़ताल एवं मालिकों द्वारा तालाबन्दी करने से उत्पादन को क्षति पहुँचती है जिससे देश में उपभोक्ता-वर्ग को भी हानि होती है। भारत में इस समय औद्योगिक शान्ति की अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि देश तेजी से आर्थिक-विकास के पथ पर आगे बढ़ना चाहता है। नीचे औद्योगिक झगड़ों की आधुनिक प्रवृत्तियों व कारणों पर प्रकाश डालने के बाद इनको रोकने व निपटाने की वैधानिक पद्धतियों का वर्णन किया जायगा।

औद्योगिक झगड़ों की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

द्वितीय महायुद्ध की अवधि में औद्योगिक झगड़ो से काम के दिनों की विशेष क्षति नहीं हुई। १९४३, १९४४ व १९४५ में क्रमशः २.३, ३.४ व ४.१ मिलियन दिनों की क्षति हुई। इन वर्षों में वस्तुओं के मूल्य बढ़े लेकिन साथ में मजदूरी भी बढ़ी। अतः मजदूरों का असन्तोष बढ़ नहीं पाया। इन्हीं वर्षों में भारत सुरक्षा कानून की धारा ८१-ए का हड़तालों के दमन में प्रयोग हो सकता था। इसलिए मजदूर असन्तुष्ट होने पर भी चुप रहे। महायुद्ध के वर्षों में औद्योगिक सम्बन्ध ठीक रहे लेकिन युद्ध समाप्त होते ही मजदूरों ने अपनी स्थिति सुधारने और मजदूरी बढ़वाने के लिए हड़तालें चालू कर दीं जिससे १९४६ व १९४७ में क्रमशः १२.७ व १६.८ मिलियन दिनों की हानि हुई। इस स्थिति को सुधारने के लिए भारत सरकार ने दिसम्बर, १९४७ में औद्योगिक शान्ति-समझौता करवाया जिसका आगे जाकर अच्छा प्रभाव पड़ा। १९५० में बम्बई में सूती वस्त्र उद्योग की हड़ताल के कारण १०.३ मिलियन दिनों की हानि हुई और कुल १२.८ मिलियन दिनों का नुकसान हुआ। १९५१-५४ की अवधि में स्थिति सुधरी और प्रतिवर्ष ३-४ मिलियन दिनों की क्षति हुई। उसके बाद स्थिति इस प्रकार रही :—

		(मिलियन दिनों की क्षति)
१९५५	....	५.७
१९५६	....	७.०
१९५७	....	६.४
१९५८	....	७.८
१९५९ (अक्टूबर)	....	४.७

१९५५ में कानपुर में आधुनिकीकरण के प्रश्न पर वस्त्र-उद्योग में हड़ताल होने से १'८ मिलियन मनुष्य-दिनों की हानि हुई।

औद्योगिक झगड़ों के प्रमुख कारण

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में मालिक-मजदूरों के हितों में अन्तर्निहित विरोध होने से संघर्ष होना अस्वाभाविक नहीं है। मालिक अधिक मुनाफा चाहते हैं और मजदूर अधिक मजदूरी चाहते हैं। मालिकों की मनोवृत्ति प्रायः कम मजदूरी देकर अधिक मुनाफा अर्जित करने की होती है। श्रम उत्पत्ति का एक साधन-मात्र माना जाता है। मालिकों का, मजदूरों के प्रति मानवीय दृष्टिकोण न होकर आर्थिक ही रहता है। इस परिस्थिति में अशान्ति का पनपना स्वाभाविक ही है।

औद्योगिक झगड़ों के उपर्युक्त आधारभूत कारण के अलावा अन्य कारण भी गिनाये जा सकते हैं। जैसे मजदूरी व बोनस के प्रश्न, काम के घंटे, छुट्टियों की माँग, उद्योग का आधुनिकीकरण, मजदूरों की छँटनी व कुछ मजदूरों को पुनः काम पर लगाये जाने की माँग आदि। कभी-कभी राजनीतिक कारणों से भी हड़तालें हो जाती हैं लेकिन औद्योगिक झगड़ों के प्रमुख कारण मजदूरी से ही सम्बन्धित होते हैं। आजकल बोनस व कर्मचारियों के प्रश्नों को लेकर भी संघर्ष हो जाता है। रॉयल श्रम आयोग, १९३१ के मतानुसार, "उद्योग से असम्बन्धित कारणों का हड़तालों में हाथ, जितना प्रायः सोचा जाता है, उससे बहुत कम होता है·······यद्यपि मजदूर ऐसे व्यक्तियों से प्रभावित होते हैं जो राष्ट्रीयता, साम्यवादी अथवा व्यावसायिक हितों की पूर्ति करना चाहते हैं तथापि शायद ही कोई महत्वपूर्ण हड़ताल कभी हुई हो जिसके पीछे पूर्णतया या प्रमुखतया आर्थिक कारण नहीं रहे हों।"[1]

भारत में मिल-मालिक हड़तालों के लिए भड़काने वालों को उत्तरदायी ठहराते हैं। लेकिन यह पूर्णतया सही नहीं है। यदि मजदूर संघ में कोई मजदूर विशेष दिलचस्पी दिखाता है तो उसे मालिक काम से अलग कर देते हैं। परिणामस्वरूप वह 'बाहरी' बन जाता है। अतः मालिकों का असहानुभूति-पूर्ण व्यवहार व दमन की नीति भी मजदूरों में असंतोष उत्पन्न करती है। इस प्रकार औद्योगिक अशान्ति के अनेक कारण हो सकते हैं। समस्त औद्योगिक वातावरण ही इसके लिए उत्तरदायी माना जाना चाहिए।

औद्योगिक झगड़ों को रोकने व निपटाने की पद्धति

वैधानिक स्थिति—औद्योगिक झगड़ों का निपटारा करने के लिए १९२९ में 'इन्डियन ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट' (Trade Disputes Act, 1929) बनाया गया

---

1. Our Economic Problem—Wadia and Merchant से उद्धृत p. 430-431.

जिसमें सार्वजनिक सेवा सम्बन्धी कार्यों एवं अन्य उद्योगों में भेद किया गया। सार्वजनिक लाभ के कार्यों में जैसे रेल, तार-डाक, बिजली व पानी आदि में हड़ताल से पूर्व १४ दिन की अग्रिम सूचना देना अनिवार्य किया गया। अन्य उद्योगों के लिए झगड़ों को निपटाने के लिए एक निश्चित मशीनरी घोषित की गई। अस्थाई जांच-अदालतों (Adhoc Courts of Enquiry) या समझौता बोर्ड (Board of Conciliation) स्थापित करने की व्यवस्था की गई। जाँच अदालत में १ या अधिक स्वतन्त्र व्यक्ति होते थे जो अपनी रिपोर्ट पेश करते थे। समझौता बोर्ड का काम दोनों पक्षों को नजदीक लाना और समझौता कराना होता था और इसमें असफलता मिलने पर सरकार को सूचना देनी पड़ती थी।

ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट, १९२९ ने अनिवार्य पंच-निर्णय (Compulsory Arbitration) की व्यवस्था नहीं की। केवल विरोधी पार्टियों में समझौता करने की ही कोशिश की जाती थी। इस अधिनियम के अनुसार उन हड़तालों व तालाबन्दियों को गैर-कानूनी घोषित किया गया जिनका उद्देश्य औद्योगिक झगड़े के अलावा कुछ और ही होता अथवा जो समाज के लिए बहुत हानिप्रद सिद्ध होती।

इस अधिनियम से विशेष लाभ नहीं हो सका क्योंकि व्यवहार में जाँच पर ज्यादा जोर दिया गया और समझौता बोर्ड कम स्थापित किये गये। इसमें स्थायी औद्योगिक अदालत के लिए भी व्यवस्था नहीं की गई थी।

बम्बई राज्य औद्योगिक झगड़ों को निपटाने के कानूनों की दृष्टि से सब राज्यों से आगे रहा है। इस राज्य में १९३४, १९३८ व १९४६ में इस सम्बन्ध में कानून बनाये गये। मालिकों द्वारा श्रम-संघों को मान्यता देने की व्यवस्था की गई। शुरु में समझौतों पर जोर दिया गया और बाद में १९४६ के विधान में अनिवार्य पंच निर्णय (Compulsory Arbitration) की भी व्यवस्था की गई। बम्बई के कानून ने एक वृहद् अखिल भारतीय विधान के लिए रास्ता साफ कर दिया।

इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट, १९४७—यह फरवरी १९४७ में पास किया गया। इसमें निम्न संस्थाओं की व्यवस्था की गई :—

(अ) कार्य समितियाँ (Works Committees)—प्रत्येक कारखाने में, जहाँ १०० से अधिक व्यक्ति काम करते हों, वहाँ एक कार्य-समिति बनाई जाय जो मालिकों व मजदूरों के दैनिक मतभेदों को दूर करने में मदद करे।

(आ) समझौता अधिकारी (Conciliation officers)

(इ) समझौता बोर्ड और जांच अदालतें (Conciliation Boards and Courts of Enquiry)

(ई) स्थायी औद्योगिक अदालतें (Permanent Industrial Tribunals) इसमें उच्च न्यायालय के न्यायाधीश होंगे। यदि समझौता अधिकारियों व बोर्डों के

प्रयत्न विफल हो जाँय तो मामला औद्योगिक अदालत को दिया जायगा। सरकार इस अदालत का निर्णय पूर्णतया अथवा कुछ अंशों में लागू कर सकने का अधिकार रखेगी। इस प्रकार इस अधिनियम में अनिवार्य पंच निर्णय की व्यवस्था कर दी गई। इस अधिनियम में १९५१ में संशोधन किया गया जिससे इसके क्षेत्र में वे इकाइयाँ भी आगईं जिनमें भविष्य में झगड़ा होने की सम्भावना है।

१९४७ के अधिनियम ने अनिवार्य पंच-निर्णय (Compulsory Arbitration) को अपनाकर सरकार ने उचित कदम नहीं उठाया है क्योंकि इससे मजदूरों का हड़ताल करने का अधिकार छीना गया है। औद्योगिक शान्ति स्थापित करने के लिए समझौतों पर ज्यादा बल दिया जाना चाहिए। मजदूरों की दशा सुधारी जानी चाहिए।

औद्योगिक झगड़े (श्रम-अपील-अदालत) अधिनियम, १९५०—इसके अन्तर्गत 'अपील अदालत' की स्थापना की व्यवस्था की गई है जो औद्योगिक अदालतों व मजदूरी बोर्डों के फैसलों पर अपीलें सुनेगी। अपील अदालत की स्थापना आवश्यक हो गई क्योंकि औद्योगिक अदालतें विभिन्न राज्यों में विरोधी निर्णय देने लगीं। 'अपील अदालत' मजदूरी, बोनस, ग्रेच्यूटी-भुगतान व छँटनी आदि के मामलों पर अपील सुनने के लिए बनाई गई।

१९५२ व १९५३ में श्री गिरि ने 'अपील अदालत' की स्थापना का विरोध किया। इन्होंने ऐच्छिक समझौता व ऐच्छिक पंच निर्णय पर बल दिया। अनिवार्य पंच-निर्णय का प्रयोग सार्वजनिक उपयोग के उद्योगों में सीमित करने का सुझाव दिया गया। श्री गिरि ने 'सामूहिक मोलभाव' (Collective Bargaining) की नीति पर जोर दिया जिसमें मालिकों के संगठन मजदूरों के संगठन से विचार-विमर्श करके प्रश्नों का हल निकालेंगे।

जब तक औद्योगिक अदालतें रखी जाती हैं तब तक 'अपील अदालत' का रहना लाभप्रद ही होगा।

औद्योगिक झगड़ा अधिनियम, १९५६ (Industrial Disputes Act, 1956)—१९५० में संसद में एक श्रम-सम्बन्ध बिल (Labour Relations Bill) पेश किया गया लेकिन वह पास नहीं हो सका। इसलिए इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट १९४७ में संशोधन किया गया और इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स (अमेंडमेण्ट व मिसलेनियस प्रॉविजन्स) एक्ट, १९५६ में पास किया गया। यह अधिनियम भी 'गिरि दृष्टिकोण' के अनुसार नहीं है। इसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

(१) ५०० रु० प्रति माह पाने वाले तमाम व्यक्ति 'मजदूर' कहलायेंगे। टैक्नीकल कर्मचारी व प्रबन्ध करने वाले कर्मचारी भी इस परिभाषा के अनुसार मजदूर हो जाते हैं।

(२) 'श्रम अपील अदालत' समाप्त हो जायगी।

(३) अधिनियम के अन्तर्गत निम्न तीन प्रकार की अदालतें स्थापित होंगी :—

(अ) श्रम अदालतें (Labour Courts) - ये मजदूर के हटाने से सम्बन्धित झगड़ों, हड़ताल की वैधानिकता आदि के मामलों पर फैसला देंगी।

(आ) औद्योगिक अदालतें (Industrial Tribunals) :—इनके अन्तर्गत मजदूरी, काम के घंटे, बोनस, छटनी व अभिनवीकरण आदि प्रश्न आयेंगे।

(इ) राष्ट्रीय अदालतें—(National Tribunals) : ये राष्ट्रीय महत्व के प्रश्नों पर विचार करेंगी।

इस प्रकार तीन संस्थाएँ होंगी। इस अधिनियम के अनुसार मालिक, मजदूर को झगड़े से असम्बन्धित खराब आचरण करने पर छोड़ सकेगा। सरकार को औद्योगिक फैसले में परिवर्तन करने का अधिकार होगा।

औद्योगिक अनुशासन-संहिता (Code of Industrial Discipline)

१९५७ में भारतीय श्रम सम्मेलन की स्टैंडिंग समिति ने औद्योगिक अनुशासन की संहिता तैयार की जिससे भारत में औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार होगा। इस संहिता को लागू करने एवं इसका मूल्यांकन करने के लिए १९५८ में व्यवस्था की गई है। आशा है भविष्य में औद्योगिक शान्ति स्थापित हो सकेगी। प्रबन्ध में मजदूरों के भाग लेने के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। सामूहिक विचार-विमर्श व समझौते की नीति का प्रचार होने से औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार होगा। न्यूनतम मजदूरी कानून, सामाजिक सुरक्षा एवं श्रम-कल्याण कार्यों का विस्तार होने से मजदूर-वर्ग को संतोष प्राप्त होगा और वह उत्पादन बढ़ाने में अधिक सहयोग दे सकेगा।

परीक्षा के प्रश्न

University of Rajasthan, B. A.

1. Briefly describe the measures taken in our country in recent years to improve the working conditions in factories (1958)

2. Write a note on the working conditions in Factories in India. What has the Government done to improve these in recent years? (1956).

3. Discuss the causes of industrial disputes in India. What measures have been adopted in recent years to promote industrial peace in the country? (1960)

सन्दर्भ ग्रन्थ

(1) Labour Legislation in India, 1957 (I. L. O. India Branch, New Delhi).

(2) Our Economic Problem—Wadia and Merchant, 1959, Ch. XXII.

पंद्रहवाँ अध्याय

भारत में श्रम-कल्याण कार्य

परिभाषा :— विभिन्न देशों में 'श्रम-कल्याण' के अलग अलग अर्थ लगाये गये हैं। सबसे विस्तृत अर्थ में 'श्रम-कल्याण' में श्रम की तमाम परिस्थितियाँ आ जाती हैं और इसमें श्रम विधान व सामाजिक बीमा भी शामिल माने जाते हैं। एक परिभाषा के अनुसार श्रम-कल्याण कार्य में 'एक मालिक के स्वैच्छिक प्रयत्न शामिल होते हैं जो वह चालू औद्योगिक प्रणाली में, कानून, उद्योग के रिवाजों व बाजार की परिस्थितियों के अतिरिक्त, अपने मजदूरों या कर्मचारियों की काम करने, रहने व सांस्कृतिक दशाओं की स्थापना के लिए करता है।'[1] इस परिभाषा में श्रम-कल्याण में मालिकों के 'स्वैच्छिक प्रयत्न' ही शामिल किये गये हैं। अतः भारत जैसे देशों में श्रम-कल्याण की यह परिभाषा नहीं मानी जा सकती क्योंकि यहाँ इस सम्बन्ध में वैधानिक व्यवस्था की गई है। रॉयल श्रम आयोग के अनुसार 'कल्याण' शब्द की परिभाषा लोचदार होगी ताकि विभिन्न देशों में वहाँ के सामाजिक रिवाजों, औद्योगीकरण की दशा व मजदूरों के शैक्षणिक विकास के अनुसार इसके विभिन्न अर्थ लगाये जा सकें। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के जून, १९४७ के ३० वें अधिवेशन में श्रम-कल्याण के अन्तर्गत निम्न सेवाएँ व सुविधाएँ शामिल की गई :—भोजन गृह, आराम व मनोरंजन की सुविधाएँ, सफाई व दवा की व्यवस्था, घर से काम के स्थान तक यात्रा का प्रबन्ध, मकानों का इन्तजाम व अन्य उसी प्रकार की सेवाएँ।

इस प्रकार श्रम कल्याण कार्यो में मालिकों, सरकारों व अन्य स्वैच्छिक संगठनों द्वारा किये गये वे सब कार्य शामिल होते हैं जिनसे मजदूरों की दशा सुधरती है। ये कार्य कारखानों के अन्दर हो सकते हैं अथवा बाहर हो सकते हैं, स्वेच्छा से किये जा सकते हैं अथवा कानून के दबाव से किये जा सकते हैं।

भारत में श्रम-कल्याण कार्यो की आवश्यकता[2]

श्रम-कल्याण कार्यो से औद्योगिक शान्ति स्थापित होती है और श्रम की कार्यक्षमता बढ़ने से उत्पादन बढ़ता है। भारत में निम्न कारणों से श्रम कल्याण कार्यो का विशेष महत्व है :—

1. Encyclopaedia of Social Sciences, Vol. 15, P. 395.

2. Recent Developments in certain aspects of Indian Economy-IV (I. L. O., India Branch, New Delhi, 1959) p. 88-89.

(१) श्रमिक की प्रवासी प्रवृत्ति :—भारत में अन्य देशों की तरह एक स्थायी मजदूर वर्ग उत्पन्न नहीं हुआ है। यहाँ के मजदूर दिल से 'किसान' होते हैं और मौका मिलने पर गाँवों में वापिस जाना चाहते हैं। उनका गाँवों से सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता है। इसलिए औद्योगिक केन्द्रों में उनके लिए भोजन, मकान व मनोरंजन की सुविधाएँ बढ़ाकर आकर्षण उत्पन्न किया जाना आवश्यक है। ऐसा करने से मजदूर अपने आपको औद्योगिक वातावरण के अनुकूल बना सकेंगे।

(२) सुदूर स्थानों में कल्याण-कार्य आवश्यक :—उन बागानों, खानों व अन्य छोटे उद्योगों में, जो एकान्त स्थानों में स्थित हैं, विशेष कल्याण कार्य की आवश्यकता होती है। वहाँ आयात व दैनिक उपभोग की वस्तुओं की व्यवस्था करनी होती है।

(३) श्रम-संघों का धीमा विकास :—भारत में श्रम-संघों ने मजदूरों के कल्याण के लिए विशेष कार्य नहीं किया है, इसलिए कल्याण-कार्य सरकार व मालिकों द्वारा किये जाने चाहिएँ।

(४) निम्न जीवन-स्तर :—भारतीय मजदूर का जीवन-स्तर बहुत नीचा होता है इसलिए कल्याण कार्यों के द्वारा उसके लिए पौष्टिक भोजन, अच्छा मकान, शिक्षा व चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है। कल्याण कार्यों के अभाव में उसे ये सुविधाएँ नहीं मिल सकेंगी।

श्रम-कल्याण में भाग लेने वाली संस्थाएँ व कानूनी व्यवस्था

भारत में श्रम-कल्याण के लिए निम्न सुविधायें हैं—वैधानिक, केन्द्रीय व राज्य सरकारों के कार्य, मालिकों की ऐच्छिक क्रियायें, मजदूर-संघो व अन्य स्वेच्छिक संस्थाओं द्वारा किये गये कल्याण कार्य।

श्रम-कल्याण से सम्बन्धित कानून—सर्वप्रथम कारखाना कानून, १९३४ में श्रम-कल्याण की व्यवस्था की गई। बाद में १९४८ के कानून में ये सुविधायें बढ़ाई गईं। इसमें भोजन-गृह, शिशु-गृह, आराम-गृह, नहाने-धोने की सुविधाएँ, प्रारम्भिक सहायता का सामान आदि की व्यवस्था की गई। इस कानून में मजदूरों के बैठने का इन्तजाम करने के लिए भी जोर दिया गया। श्रमिकों के कपड़े रखने के उपयुक्त स्थानों की व्यवस्था भी की गई। ५०० या अधिक मजदूरों के कारखानों में कल्याण-अधिकारी (Welfare Officers) नियुक्त करना आवश्यक कर दिया गया।

खान अधिनियम, १९५२ में भी खानों में काम करने वाले मजदूरों के लिए विभिन्न सुविधायें प्रदान करने की व्यवस्था की गई। जहाँ स्त्रियाँ काम करती हैं वहाँ शिशु-गृह (Creches) स्थापित करना आवश्यक बना दिया गया।

कोयला खान श्रम-कल्याण फण्ड अधिनियम, १९४७—कोयले की खान में काम करने वाले मजदूरों के लाभ के लिए उपर्युक्त अधिनियम, १९४७ में बनाया गया। इसके अन्तर्गत एक कोष स्थापित किया गया जिसमें रकम, खान से कोयला निकालकर बाहर भेजते समय उस पर कर लगाने से प्राप्त होगी। इस कोष की धनराशि श्रमिकों

के लिए मकान की तथा दवा, पानी, शिक्षा, मनोरंजन आदि की व्यवस्था करने के लिए खर्च की जायगी। इस समय कोष की सहायता से २ केन्द्रीय अस्पताल, ६ प्रादेशिक अस्पताल (मातृत्व सहित) और बच्चों के कल्याण केन्द्र, २ दवाखानें और २ टी० वी० क्लिनिक चल रहे हैं। कोष की तरफ से प्रौढ़ शिक्षण केन्द्र, स्त्रियों के कल्याण-केन्द्र, बच्चों के पार्क आदि चल रहे हैं। कोष ने मकानों के निर्माण को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। अब तक कोष की आमदनी १,७६,५५,४८४ रु० और कुल व्यय १,७०,००,००० हुआ है।[1]

अभ्रक खान श्रम-कल्याण कोष अधिनियम, १९४६—उपर्युक्त अधिनियम से मिलता-जुलता अधिनियम अभ्रक की खानों के मजदूरों के लाभार्थ बनाया गया है। इसके कोष के लिए भारत से अभ्रक के निर्यात पर कर (Cess) लगाकर धनराशि एकत्र की जायगी। अभ्रक की खान में काम करने वाले मजदूरों को इस कोष से विभिन्न प्रकार की सुविधायें मिलेंगी। कोष की तरफ से करमा (बिहार) में एक अस्पताल चल रहा है। तीन अस्पताल आन्ध्र-प्रदेश, बिहार व राजस्थान (गंगापुर) में बन रहे हैं। कई दवाखानें चल रहे हैं। कई प्राथमिक पाठशालाएँ चल रही हैं। १९५९-६० में आन्ध्र-प्रदेश, बिहार व राजस्थान को क्रमशः ४,१०·४२ व ४·३७ लाख रु० व्यय करने के लिए दिये गये।[2]

बागान श्रम-अधिनियम, १९५१ के अन्तर्गत बागान के मालिकों को अपने श्रमिकों के लिए मकान व अस्पताल की व्यवस्था करनी होती है। कई स्थानों पर शिक्षा, मनोरंजन व दस्तकारी की शिक्षा की भी व्यवस्था की गई है।

उपर्युक्त केन्द्रीय विधान के अतिरिक्त बम्बई व उत्तर-प्रदेश में भी श्रम-कल्याण के लिए कोषों की स्थापना की गई है। बम्बई श्रम-कल्याण कोष अधिनियम १९५३ में पास किया गया। इसके अन्तर्गत एक कोष स्थापित किया गया है जो राज्य में श्रम-कल्याण की वृद्धि करेगा। इस कोष में रकम कर्मचारियों के जुर्मानों, ऐच्छिक अनुदान, किसी संस्था के श्रम-कल्याण-कोष को हस्तान्तरित करके व बिना चुकाई हुई एकत्र रकम से प्राप्त होगी। इस कोष की रकम शिक्षा, मनोरंजन, व घरेलू उद्योगों पर व्यय की जायगी।

उत्तर-प्रदेश में भी ऐसा ही अधिनियम १९५६ में बनाया गया।

सरकारों द्वारा किये गये कल्याण-कार्य—द्वितीय महायुद्ध के बाद केन्द्रीय व राज्य सरकारों ने मजदूरों के कल्याण-कार्य में विशेष रुचि लेना प्रारम्भ किया। केन्द्रीय सरकार ने खानों व तेल-क्षेत्रों के मजदूरों एवं केन्द्रीय कारखानों के मजदूरों के लिए कुछ सुविधायें प्रदान की हैं। सिंदरी के खाद के कारखाने, चितरंजन लोकोमोटिव

1. India 1960, p. 385.
2. India 1960, p. 385.

वर्क्स एवं मद्रास की इन्टीग्रल कोच फैक्टरी में मजदूरों के लिए मकान, भोजनागार व मनोरंजन की सुविधायें दी गई हैं। केन्द्रीय सरकार ने रेल मजदूरों के बच्चों के लिए शिक्षा की व्यवस्था की है।

राज्यों में विशेषतया बम्बई व उत्तर प्रदेश की सरकारें श्रम-कल्याण कार्य में आगे रही हैं। बम्बई में ४ श्रेणी के कल्याण केन्द्र चल रहे है। इन केन्द्रों में मनोरंजन, शिक्षा व स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य चलाये जाते है।

उत्तर प्रदेश में १९५५ में ४५ श्रम-कल्याण केन्द्र विभिन्न औद्योगिक क्षेत्रों में चल रहे थे। यहाँ भी केन्द्र चार भागों में बांटे गये हैं।

मालिकों द्वारा कल्याण-कार्य—श्रम-कल्याण कार्यो को सुचारु रूप से चलाने में मालिकों का स्थान महत्वपूर्ण होता है। भारत में मिल मालिकों को कानून के अन्तर्गत मजदूरों के कल्याण के लिए कई कार्य करने पड़ते हैं। ज्यादातर उद्योगपति कल्याण कार्यो पर किया गया व्यय बोझा समझते हैं और इनमें विशेष रुचि नही दिखाते हैं। लेकिन कुछ मालिकों के कार्य सराहनीय भी रहे हैं। बकिंघम कर्नाटक मिल्स, मद्रास, दिल्ली क्लाथ व जनरल मिल्स, दिल्ली, एक्सप्रेस मिल, नागपुर, टाटा आइरन और स्टील कम्पनी, जमशेदपुर और ब्रिटिश इन्डिया कॉरपोरेशन, कानपुर ने अपने मजदूरों के लिए स्वास्थ्य, शिक्षा, मकान, मनोरंजन आदि की सुविधाएँ प्रदान की है। इन्डियन जूट मिल्स एसोसियेशन (I. J. M. A) कलकत्ता ने ५ कल्याण केन्द्र खोले हैं। इनमें विभिन्न शैक्षणिक व सांस्कृतिक कार्य चलाये जाते हैं।

कई मालिकों द्वारा प्रदान की गई सुविधाओं के स्तर कानूनी आवश्यकताओं से काफी अच्छे है। आजकल कैण्टीन व शिशु-गृह की उचित व्यवस्था पाई जाती है।

मजदूर संघों द्वारा कल्याण-कार्य—भारत में मजदूर-सघों ने श्रम-कल्याण कार्यो में विशेष प्रगति नहीं की है। अहमदाबाद के टेक्सटाइल लेबर एसोसियेशन ने मजदूरों के लाभार्थ कई सामाजिक व कल्याण-कार्य किये हैं। मजदूरों के सांस्कृतिक उत्थान के प्रयत्न किये गये हैं। बच्चों की शिक्षा की भी व्यवस्था की गई है।

निष्कर्ष

भारत में श्रम-कल्याण कार्य में विविधता पाई जाती है। एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में, एक उद्योग से दूसरे उद्योग में एवं एक उद्योग की विभिन्न इकाइयों में कल्याण-कार्य में अन्तर पाया जाता है। कल्याण-कार्यो की सफलता पर्याप्त कोषों पर निर्भर करती है। भारत में श्रम-कल्याण-कार्य को आगे बढ़ाने के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) फैक्टरी एक्ट, १९४८ की श्रम-कल्याण सम्बन्धी धाराओं का पूरा पूरा पालन किया जाय।

(२) विभिन्न उद्योगों में विभिन्न प्रकार के कल्याण-कार्यो को प्राथमिकता दी जाय जैसे बागान मजदूरों को विशेषतया मकानों की सुविधा, खान-मजदूरों को मकान, शिक्षा व दवा की सुविधा एवं जहाँ स्त्रियाँ काम करती हैं, वहाँ शिशु-गृहों की स्थापना पर विशेष बल दिया जाय। इस सम्बन्ध में जाँच की आवश्यकता है।

(३) मजदूरों को कल्याण-समितियों में अधिक से अधिक भाग लेने का अवसर दिया जाय ताकि कल्याण कार्यों में तेजी से प्रगति हो सके।

(४) कल्याण-अधिकारियों (Welfare Officers) का चुनाव सावधानी से किया जाय। वे व्यक्ति ही लिये जाँय जो मजदूरों का विश्वास प्राप्त कर सकें और अच्छे प्रशासक हो सकें। उन्हें मजदूरों के कल्याण में वास्तविक रुचि व उत्साह होना चाहिए।

(५) कोयला व अभ्रक खानों के कोषों की तरह अन्य कोष भी स्थापित किये जाँय

(६) सरकारों द्वारा कल्याण-केन्द्रों की संख्या बढ़ाई जाय।

(७) मजदूरों की सहकारी समितियाँ बनाई जाँय और सहकारी आधार पर मकान-निर्माण, साख व उपभोग की वस्तुएँ प्राप्त करने की व्यवस्था की जाय।

(८) मालिकों द्वारा अनिवार्य रूप से प्रदान की जाने वाली सुविधाओं व कल्याण-कार्यों को पूर्णतया स्पष्ट किया जाय और उनको अपनी जिम्मेदारी निभाने के लिए प्रेरित किया जाय।

(९) श्रम-संघों को भी कल्याण-कार्यो में अधिक रुचि दिखानी चाहिए।

(१०) सरकारी उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों के लिए कल्याण-कार्यो की उचित व्यवस्था करके उद्योगपतियों के समक्ष आदर्श उपस्थित किया जाय।

परिशिष्ट

भारत में सामाजिक सुरक्षा

सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत वह सुरक्षा आती है जो एक समाज अपने सदस्यों को कुछ जोखिमों के विरुद्ध एक उपयुक्त संगठन द्वारा प्रदान करता है। बीमारी, काम के अयोग्य हो जाना, मातृत्व, बुढ़ापा व मृत्यु आदि जोखिमें ऐसी हैं जिनसे अकेला आदमी अपने सीमित व अल्प साधनों से मुकाबला नहीं कर सकता है। अतः समाज का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपने सदस्यों को इन जोखिमों से बचावे और उनकी मदद करे।

सामाजिक सुरक्षा (Social Security) एक व्यापक धारणा है। इसमें सामाजिक बीमा (Social Insurance) और सामाजिक सहायता (Social Assistance) दोनों आ जाते हैं।[1] सामाजिक बीमा का लाभ तो उन व्यक्तियों को

1. Indian Economics—K. K. Dewett and G. C. Singh, 1959, p, 363.

मिलता है जो प्रीमियम या शुल्क चुकाते हैं लेकिन सामाजिक सहायता निःशुल्क मिलती है। अतः सामाजिक सुरक्षा सामाजिक बीमा से ज्यादा व्यापक होती है। इसमें दुर्घटना को रोकने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार सामाजिक सुरक्षा एक विस्तृत व समग्र दृष्टिकोण है जो चोट या बीमारी को रोकने, आय का समान बंटवारा करने एवं तमाम किस्म की आवश्यकताओं से स्वतंत्रता दिलाने में सहायक होता है।[1]

सामाजिक सुरक्षा की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार इसका क्षेत्र काफी व्यापक हो जाता है। इसके अन्तर्गत एक तरफ बेरोजगारी, बीमारी एवं वृद्धावस्था का सामाजिक बीमा आ जाता है तो दूसरी तरफ अस्पताल, मातृत्व, बच्चों का कल्याण एवं दवा की सुविधाएँ भी आ जाती हैं, जो मुफ्त में उपलब्ध होती हैं।

भारत में अभी तक सामाजिक सुरक्षा का पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है। ब्रिटिश काल में तो मजदूर क्षतिपूर्ति अधिनियम, १६२३ व कुछ मातृत्व-लाभ-अधिनियम ही सामाजिक सुरक्षा में आते थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, १६४८ और कर्मचारी प्रॉविडेन्ट फण्ड अधिनियम, १६५२ और जुड़े हैं। इन अधिनियमों का विवरण व इनके अन्तर्गत हुई प्रगति का उल्लेख नीचे किया जाता है।

मजदूर क्षतिपूर्ति-अधिनियम, १६२३ (Workmen's Compensation Act of 1923,—स्वतंत्रता से पूर्व सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में मजदूर क्षतिपूर्ति अधिनियम, १६२३ ही मुख्य था। इसके अन्तर्गत मालिक को मजदूर के काम करते हुए चोट आजाने पर मुआवजा देना पड़ता था। मुआवजा औसत मासिक मजदूरी के अनुसार निकाला जाता था और चोट की प्रकृति के अनुसार निर्धारित होता था। १६४६ के एक संशोधन के अनुसार यह ३०० रु० तक की मजदूरी पाने वालों से ४०० रु० तक की मजदूरी पाने वालों पर लागू कर दिया गया। १६५६ के संशोधन से यह अधिनियम ज्यादा व्यापक हो गया है। इसका क्षेत्र बढ़ा दिया गया है।

मातृत्व लाभ के सम्बन्ध में लगभग सारे राज्यों में विधान बन गये हैं। खान मातृत्व-सहायता अधिनियम, १६४१, कर्मचारी राज्य बीमा-अधिनियम, १६४८ व बागान श्रम-अधिनियम, १६५१ में भी मातृत्व सहायता की व्यवस्था की गई है। विभिन्न राज्यों में सहायता का स्तर एक सा न होने से एक केन्द्रीय विधान की आवश्यकता प्रतीत हो रही है जो एक सा स्तर लाने में सफल हो सके।[2]

अदारकर की स्वास्थ्य बीमा योजना (Adarkar's Health Insurance Scheme—१६४३ में प्रो० बी० पी० अदारकर को सरकार द्वारा औद्योगिक मजदूरों के लिए स्वास्थ्य बीमा की योजना तैयार करने के लिए नियुक्त किया गया। प्रो० अदारकर ने अपनी योजना को शुरू में वस्त्र उद्योग, इन्जीनियरिंग व खनिज और धातु

---

1. Indian Economy—Alak Ghosh, 1959, p. 344.
2. India 1960, p. 385.

उद्योगों में लागू करने का सुझाव दिया। इन्होंने सरकार द्वारा योजना में भाग लेना आवश्यक बताया। १६४५ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के विशेषज्ञों ने अदारकर योजना की जाँच की और इसमें मातृत्व सहायता व मजदूर क्षतिपूर्ति भी मिला देने का सुझाव दिया। अदारकर योजना व विशेषज्ञों के सुझावों के आधार पर ही एक बिल रखा गया जो पास होने पर कर्मचारी राज्य बीमा-अधिनियम, १६४८ कहलाया।

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, १६४८—यह मौसमी उद्योगों को छोड़कर अन्य शक्ति का उपयोग करने वाले और २० व अधिक मजदूरों को काम देने वाले उद्योगों पर लागू होगा। यह जम्मू-कश्मीर को छोड़ कर शेष भारत में लागू होगा।

इस अधिनियम के अन्तर्गत ५ किस्म के लाभ मिल सकेंगे—बीमारी, मातृत्व, काम के अयोग्य हो जाना, आश्रितों की व दवा की सुविधाएं। इस कार्यक्रम में काम करते समय की चोट (व्यावसायिक रोग संहिता), मातृत्व व बीमारी की जोखिमें शामिल होंगी।

इस योजना में मजदूर व मालिक अपना अपना हिस्सा देंगे। राज्य की तरफ से प्रथम ५ वर्षों के प्रशासनिक व्यय का २/३ भाग दिया जायगा।

यह योजना कर्मचारी राज्य बीमा-निगम की देख-रेख में चलेगी। निगम की एक स्टैंडिंग समिति होगी और एक दवा सहायता-समिति होगी। मालिक व मजदूरों के हिस्सों के अलावा कोष में केन्द्रीय व राज्य सरकारें अनुदान या भेंट-स्वरूप रकम प्रदान करेंगी। शुरू में बीमा योजना कानपुर व दिल्ली में लागू करने का निश्चय किया गया; लेकिन विरोध होने से १६५१ में एक संशोधन करना पड़ा जिसके अनुसार यह तय हुआ कि देश के सभी भागों में मालिक अपना हिस्सा देना प्रारम्भ करें और जहाँ यह योजना लागू की गई है वहाँ ऊँची दर से शुल्क देवें।

इस योजना के अन्तर्गत ४०० रु० तक की मासिक तनख्वाह पाने वाले मजदूर व क्लर्क शामिल हो गये हैं। अब तक १४ लाख ४३ हजार व्यक्ति इसके नीचे आ चुके हैं। १६५८-५६ के अन्त तक बीमा कराने वालों को लाभ के बतौर २.४५ करोड़ रु० दिये जा चुके थे। यह रकम बीमारी, मातृत्व, अयोग्यता व आश्रितों के लिए दी गई।

कर्मचारी राज्य बीमा योजना सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कदम है। लेकिन अभी तक यह सभी व्यक्तियों व जोखिमों को शामिल नहीं कर सकी है। भविष्य में इसके अन्तर्गत बेरोजगारी का बीमा, बुढ़ापे की सुरक्षा व अपाहिज होने के प्रति सुरक्षा लाने की आवश्यकता है।

भारत में अभी तक बेरोजगारी बीमा नहीं है। सिर्फ औद्योगिक संघर्ष-कानून, १६५३ के अन्तर्गत बेरोजगारी लाभ की व्यवस्था छँटनी आदि के समय की गई है।

1. India 1960, p. 384.

कर्मचारी प्रॉविडेन्ट फण्ड अधिनियम, १९५२ (The Employers Provident Fund Act, 1952.—यह अधिनियम शुरू में ६ बड़े उद्योगों पर लागू किया गया लेकिन अब तक यह ३३ अन्य उद्योगों पर लागू किया जा चुका है। बागान, खान, माचिस उद्योग, सड़क मोटर यातायात व बिस्कुट उद्योग इसके अन्तर्गत आ चुके हैं। यह कानून उन कारखानों पर लागू होता है जो ३ वर्ष से चालू हैं और ५० या ज्यादा मजदूरों को काम देते है। जो मजदूर १ साल तक लगातार काम कर चुकते हैं और मासिक ५०० रु० तक सबकुछ मिलाकर पाते हैं, उन्हें अपनी बेसिक मजदूरी का ६¼% अनिवार्य रूप से प्रॉविडेन्ट फण्ड में देना पड़ता है। ऐसे मजदूरों के लिए मालिक भी उतनी ही रकम फण्ड में जमा कराता है। सितम्बर १९५९ के अन्त में ७,५०२ संस्थाओं में प्रॉविडेन्ट फण्ड थे जिनमें २५·२५ लाख व्यक्ति चन्दा देने वाले थे। फण्डों में कुल जमा की रकम १५१·८ करोड़ रु० थी।[1]

सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम को व्यापक बनाने के सुझाव—हम ऊपर देख चुके हैं कि भारत में इस समय अलग अलग अधिनियमों के अन्तर्गत सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था चल रही है। इससे दिक्कतें बढ़ती हैं। किफायत व कुशलता के लिए एक संगठन के नीचे सारा काम चलने से बहुत लाभ प्राप्त होगा। 'सामाजिक सुरक्षा पर अध्ययन दल' ने, जो श्री वी० के० मेनन की अध्यक्षता में नियुक्त हुआ था, अपनी दिसम्बर, १९५८ की रिपोर्ट में एक केन्द्रीय संगठन की स्थापना का सुझाव दिया है ताकि कर्मचारी राज्य बीमा योजना व कर्मचारी प्रॉविडेन्ट फण्ड योजना का एकीकरण किया जा सके। इस एकीकरण से मालिकों व मजदूरों पर थोड़ा वित्तीय भार बढ़ेगा। दोनों को ६¼% की जगह ८⅓% देना होगा। अध्ययन-दल ने ग्रेच्यूटी प्रदान करने का सुझाव भी दिया है। आशा है मेनन समिति के सुझाव भविष्य में लागू किये जायेंगे। ऐसा करने पर हम एकीकृत सामाजिक सुरक्षा के कार्यक्रम को अपना सकेंगे।

परीक्षा के प्रश्न

1. Give a brief account of chief legislative measures adopted to promote the welfare of industrial labour in India. (Lucknow, 1955)

2. Write a note on 'Social Security' measures in India.

सन्दर्भ ग्रंथ

(1) India 1960, p. 384-385.

(2) Recent Developments in certain aspects of Indian Economy-IV (I. L. O., India Branch, New Delhi, 1959) p. 85-101.

(3) Indian Economy—Alak Ghosh, ch. 24.

---

1. India 1960, p. 384.

खण्ड ४
ग्रामीण अर्थशास्त्र व सहकारिता

(अध्याय १६ से अध्याय २६ तक)

सोलहवाँ अध्याय

भारत में कृषि का महत्व और पैदावार

भारत में कृषि का महत्व

भारत एक कृषि-प्रधान देश है। अनेक दृष्टियों से हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि का बड़ा महत्व है।

(१) जीवन-निर्वाह—सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार भारत की कुल जन-संख्या का लगभग ७० प्रतिशत अपने जीवन-निर्वाह के लिए खेती पर आश्रित है, जब कि गैर-कृषि उत्पादन पर आश्रित जन-संख्या केवल १०·५ प्रतिशत है। दूसरे शब्दों में, हमारे देश में छोटे-बड़े सब प्रकार के उद्योगों पर कुल मिलाकर जितनी जन-संख्या आश्रित है, उसकी सात गुनी जन संख्या केवल कृषि पर आश्रित है।

(२) रोजगार—राष्ट्रीय आय समिति की अन्तिम रिपोर्ट के अनुसार[1] १९५०-५१ में भारत में कुल कार्यशील जन-संख्या १४·३ करोड़ थी, जिसमें से लगभग १०·३ करोड़ अर्थात् कुल कार्यशील जनता का ७२·४ प्रतिशत कृषि और तत्सम्बन्धित कार्यों में लगी हुई थी। शेष में से १०·६ प्रतिशत खानों, कारखानों और दस्तकारियों में, ७·७ प्रतिशत वाणिज्य, परिवहन और संचार में तथा ९·३ प्रतिशत अन्य सेवाओं में लगी हुई थी। स्पष्ट है कि देश की कर्मशील जन-संख्या को रोजगार देने की दृष्टि से भी कृषि का स्थान सर्वप्रथम है।

(३) उत्पादन—भारत में उत्पादन की दृष्टि से भी कृषि का सबसे ऊँचा स्थान है। १९५४-५५ में हमारी कुल राष्ट्रीय आय ९९१० करोड़ रु० थी, जिसमें खेती की उपज का मूल्य ४५८० करोड़ रु० था[2]; अर्थात् हमारे देश में प्रतिवर्ष कुल जितना धनोत्पादन होता है उसका ४६·२ प्रतिशत या लगभग आधा कृषि से प्राप्त होता है।

(४) उद्योगों के लिए कच्चा माल—कृषि भारत का प्रमुख राष्ट्रीय उद्योग ही नहीं है, यह हमारे छोटे बड़े सभी प्रमुख उद्योगों के लिए कच्चे माल की पूर्ति का साधन भी है। हमारी सूत और कपड़े की मिलों के लिए कपास, हमारी पटसन की

---

1. Final Report of the National Income Committee (1954), p. 23.
2. Estimates of National Income, 1948-49 to 1954-55, (C. S. O. Govt. of India).

मिलों के लिए पटसन और हमारे चीनी के कारखानों के लिए गन्ना खेती ही से मिलता है।

(५) शहरी जनता के लिए खाद्यान्नों की पूर्ति—पिछले कुछ वर्षों से हमारे देश मे शहरो की आबादी तेजी से बढ़ रही है। हमारी बढ़ती हुई शहरी जनता के लिए खाद्यान्नों की पूर्ति का साधन भी कृषि ही है।

(६) निर्यात व्यापार—भारत के निर्यात व्यापार में भी कृषि का बड़ा महत्व है। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों से देश में औद्योगीकरण की प्रगति के कारण हमारे निर्यात व्यापार में आजकल तैयार माल का महत्व बढ़ गया है, फिर भी हमारे निर्यात व्यापार में खाद्य और पेय पदार्थों तथा तम्बाखू का भाग २८ प्रतिशत और कच्चे माल तथा उपज का भाग २८ प्रतिशत है। दूसरे शब्दों में, हमारे निर्यात के मूल्यों का लगभग ५६ प्रतिशत प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से खेती से प्राप्त होता है।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय महत्व—समस्त संसार की उत्पत्ति और संसार के उद्योग धन्धों के लिए कच्चे माल की पूर्ति की दृष्टि से भी भारतीय कृषि का प्रमुख स्थान है और यह तनिक भी असम्भव नहीं कि यह निकट भविष्य ही में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर सकती है। आज भी भारत को लाख की उत्पत्ति में एकाधिकार-सा प्राप्त है और मूँगफली तथा चाय की उत्पत्ति में भी भारत संसार में सर्वप्रथम है। चावल, पाट, तम्बाखू, ईख, तिल, एरंड और रुई की उत्पत्ति में भी भारत का संसार में दूसरा स्थान है।

इतना होने पर भी भारत में जनता के लिए अन्न और भारतीय सूती वस्त्र तथा पटसन उद्योगों के लिए कच्चे माल की कमी है। इसका कारण यह है कि हमारी खेती की उपज अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है। इसलिए भारतीय कृषि एक पिछड़ा हुआ और गया-बीता उद्योग है और भारतीय किसान दरिद्र तथा ऋणग्रस्त हैं।

भूमि का उपयोग

भारत की अर्थ-व्यवस्था में कृषि की प्रधानता और अनाज तथा कच्चे माल की कमी को पूरा करने की आवश्यकता को देखते हुये भूमि और श्रम के सदुपयोग का बड़ा महत्व है। हमको खेती के विस्तार और खेती के तरीकों में सुधार करके भूमि की उपज इतनी बढ़ानी चाहिये कि हम अपनी आवश्यकताओं को पूरा करके यथेष्ट मात्रा में निर्यात कर सकें।

भारत का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल ८०·६३ करोड़ एकड़ है। इसमें से ७२·१० करोड़ एकड़ या कुल क्षेत्रफल के ८९·४ प्रतिशत के भूमि के उपयोग के आँकड़े प्राप्त है।

	(करोड़ एकड़ों में)	
	१९५०-५१	१९५६-५७
(१) कुल भौगोलिक क्षेत्रफल	८०·६३	८०·६३
(२) कुल क्षेत्र जिसके आँकड़े प्राप्त हैं	७०·२५	७२·१०
(३) वन	१०·००	१२·५६
(४) खेती के लिए अप्राप्य		
(क) खेती के अलावा दूसरे कार्यों में प्रयुक्त भूमि	२·७७	३·३१
(ख) ऊसर और खेती के अयोग्य भूमि	८·९७	८·३१
योग	११·७४	११·६२
(५) परती के अलावा दूसरी अकृपित भूमि		
(क) स्थायी चरागाह और गोचर भूमि	१·६५	३·०१
(ख) पेड़ों और कुञ्जों से ढकी हुई भूमि	४·९०	१·४५
(ग) कृषि-योग्य बंजर भूमि	५·६७	५·३१
योग	१२·२२	९·७७
(६) परती भूमि		
(क) चालू परती भूमि	२·६४	२·९७
(ख) अन्य	४·३१	२·८८
योग	६·९५	५·८५
(७) विशुद्ध कृषित क्षेत्र	२९·३४	३२·२५
(८) कुल कृषित क्षेत्र	३२·५९	३६·८५
(९) एक से अधिक बार कृषित क्षेत्र	३·२५	४·६०

Source : India. 1960. p. 2l6.

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल ८०·६३ करोड़ एकड़ है जिसमें से ७२.१० करोड़ एकड़ के उपयोग के आँकड़े उपलब्ध हैं। शेष ८.५३ करोड़ एकड़ में पहाड़, रेगिस्तान या ऐसे वन हैं जो मनुष्य की पहुँच के बाहर हैं। ७२·१० करोड़ एकड़ में से जिसके उपयोग के आँकड़े प्राप्त हैं ३२·२५ करोड़ एकड़ पर वास्तव में खेती की जाती है। इस क्षेत्र में भारत की खेती में लगी हुई कार्यशील जन-संख्या १०.३७ करोड़ का भाग देने से प्रति कार्यशील जन-संख्या पर

करीब ३ एकड़ कृपित भूमि आती है और इस क्षेत्र में भारत की कुल जन-संख्या लगभग ४० करोड़ का भाग देने से प्रति व्यक्ति लगभग ०.७५ एकड़ कृपित भूमि आती है।

भूमि का शेप क्षेत्रफल या तो खेती के लिए अप्राप्य है या कृषि-योग्य होने पर भी उस पर खेती नहीं की जाती है। इसमें से वनों का क्षेत्रफल लगभग १२.५६ करोड़ एकड़ है और ११.६२ करोड़ एकड़ खेती के अलावा दूसरे काम में लिया जाता है या ऊसर और खेती के अयोग्य है। परती के अलावा दूसरी अकृपित-भूमि जिस पर खेती का विस्तार किया जा सकता है ६.७० करोड़ एकड़ है परन्तु इसमें से लगभग ३ करोड़ एकड़ पर स्थायी चरागाह, १.४५ करोड़ एकड़ पेड़ों से ढकी हुई है और ५.३१ करोड़ एकड़ कृषि-योग्य बंजर है। कुल परती भूमि यानी वह भूमि जिसको विश्राम देने और पुनः उपजाऊ शक्ति प्राप्त करने के लिए बिना खेती के छोड़ दिया जाता है लगभग ५.८५ करोड़ एकड़ है जिसमे से २.६७ करोड़ एकड़ चालू परती है। चालू परती का क्षेत्रफल खेती के तरीकों और सुविधा के अनुसार बदलता रहता है। जिस वर्ष वर्षा समय पर और यथेष्ट मात्रा में हो जाती है परती कम छोड़ी जाती है। परन्तु वर्षा समय पर नही होने या कम होने पर परती ज्यादा छोड़ी जाती है।

मोटे तौर पर भारत में भूमि का उपयोग आज भी लगभग वैसा ही है जैसा लगभग चालीस वर्षों पहले था। हम बतला चुके है कि परती भूमि का क्षेत्रफल वर्षा की मात्रा और समय पर निर्भर करता है और इसमें प्रति वर्ष थोड़ा हेर-फेर होता रहता है। खेती के लिए अप्राप्य भूमि का क्षेत्रफल भी लगभग उतना ही है जितना पहले था। परन्तु पिछले कुछ वर्षों में, विशेपतः जब से देश के आयोजित आर्थिक विकास का कार्य आरम्भ किया गया है, वन क्षेत्र का विस्तार हुआ है और देश की बढ़ती हुई जन-संख्या के लिए खाद्यान्नों और देश के उद्योगों के लिए कच्चे माल की पूर्ति बढ़ाने के लिए पहले अकृपित किन्तु कृपि-योग्य भूमि पर खेती की जाने लगी है और चरागाहों का विस्तार किया गया है। फलस्वरूप १९५०-५१ और १९५८-५९ के बीच वन-क्षेत्र १० करोड़ एकड़ से बढ़कर १२.५६ करोड़ एकड़ यानी लगभग २५ प्रतिशत, चरागाहों का क्षेत्रफल १.६५ करोड़ एकड़ से बढ़कर ३.०१ करोड़ एकड़ या लगभग ८२ प्रतिशत बढ़ा है और पेड़ों तथा कुन्जों से ढकी हुई भूमि का क्षेत्रफल ४.९० करोड़ एकड़ से घटकर केवल १.४५ करोड़ एकड़ रह गया है। इसी अवधि में विशुद्ध कृपित क्षेत्र २९.३४ करोड़ एकड़ से बढ़कर ३२.२५ करोड़ एकड़ होगया है। कृपि योग्य बंजर भूमि को खेती योग्य बनाने में १९४८ में स्थापित केन्द्रीय ट्रेक्टर संगठन (C·T·O·) ने उल्लेखनीय कार्य किया है। इस संगठन ने अब तक १६.७९ लाख एकड़ भूमि को कांस या वनों से साफ करके खेती के योग्य बनाने में मदद दी है।[1] परन्तु अब इस प्रकार खेती के विस्तार की ज्यादा संभावना नहीं है और हमको खेती

(1) India 1960, p. 252.

की उपज बढ़ाने के लिए सिंचाई का विस्तार करके और अच्छे बीजों, खादों, औजारों की पूर्ति बढ़ा कर फसलों की पैदावार बढ़ानी होगी और जिस भूमि पर एक फसल बोई जाती है उस पर दो या ज्यादा फसलें बोनी होंगी। हम इस समस्या पर नीचे थोड़ा विस्तार से विचार करेंगे।

गहरी और विस्तृत खेती

खेती की उपज बढ़ाने के दो तरीके हैं, जिनको अर्थशास्त्र में 'गहरी' या श्रम-प्रधान खेती (Intensive Cultivation) और 'विस्तृत' या भू प्रधान खेती (Extensive Cultivation) के नाम से पुकारा जाता है। **जब भूमि के क्षेत्रफल को बढ़ाये बिना अच्छे बीजों, अच्छी खाद, अच्छे औजारों, अधिक परिश्रम और सुधरे हुये वैज्ञानिक तरीकों की सहायता से उपज बढ़ाई जाती है तो यह 'गहरी' खेती कहलाती है। जब नई भूमि जिस पर पहले खेती नहीं की जाती थी जोत कर खेती की उपज बढ़ाई जाती है तो यह 'विस्तृत' खेती कहलाती है।**

प्रायः खेती की उपज बढ़ाने के दोनों तरीके साथ साथ काम में लाये जाते हैं। *जब जन-संख्या के बढ़ने या नई मण्डियों के उपलब्ध होने के कारण खेती की पैदावार* की माँग बढ़ती है तो एक ओर अधिक पूँजी और श्रम लगाकर विज्ञान की सहायता से पुराने खेतों की पैदावार बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। दूसरी ओर जिस भूमि पर अब तक खेती नहीं की जाती थी उस पर भी हल जोत कर फसल प्राप्त की जाती है। प्राय: भारत, चीन, जापान आदि पुराने देशों में जहाँ जन-संख्या अधिक और कृषि योग्य भूमि की कमी होतीं है 'गहरी खेती' के उपायो को अधिक काम में लाया जाता है और अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों में जहाँ श्रमिकों की कमी और कृषि योग्य भूमि की मात्रा अधिक होती है 'विस्तृत खेती' का सहारा लिया जाता है।

भारत में भी खेती की उपज बढ़ाने के लिए इन दोनों तरीकों को काम में लाया जारहा है। परन्तु भारत एक प्राचीन देश है। यहाँ की जनसंख्या अपेक्षाकृत अधिक है और देश की कार्य-शील जनता का बड़ा भाग (लगभग ७२·४ प्रतिशत) खेती में लगा हुआ है और कुल जनसंख्या में लगभग तीन चौथाई जीविकोपार्जन के लिए खेती पर आश्रित है। इसलिए भारत में खेती का विस्तार काफी बढ़ गया है। परती भूमि के अलावा बहुत कम कृषि योग्य भूमि ऐसी है जिस पर खेती नहीं की जाती। यद्यपि कुछ सीमा तक जंगलों को काटकर, दलदल का पानी निकालकर और ऊसर भूमि को सिंचाई का विस्तार तथा रासायनिक खादों का प्रयोग करके कृषि योग्य बनाया जा सकता है। फिर भी भारत में इस दिशा में बहुत कम विस्तार का क्षेत्र है। फिर हमारे यहाँ वनों और चरागाहों की कमी होने से वन क्षेत्र और गोचर भूमि का क्षेत्र भी बढ़ाने की आवश्यकता है। बहुत कम उपजाऊ भूमि पर खेती करने से उपज इतनी कम होती है कि लागत भी नहीं निकल पाती। इन सब बातों को देखते हुए हमें यह स्वीकार

करना होगा कि भारत में कृषित क्षेत्र का विस्तार करके खेती की उपज बढ़ाने के लिए क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। अतएव हमें खेती की दशा सुधारने के लिए मुख्यतः जमीन की पैदावार बढ़ाना होगा।

भारत में गहरी खेती की आवश्यकता—पिछले कई वर्षों से भारत में गहरी खेती के द्वारा खेती की उपज बढ़ाने का प्रयत्न किया जारहा है इसके कई कारण हैं,—

(१) पिछले ४० वर्षों में जनसंख्या के तेजी से बढ़ने से भूमि पर आश्रित लोगों की संख्या दिनों-दिन बढ़ती जारही है।

(२) गत २०० वर्षों में हमारे देश में कुटीर उद्योग-धन्धों की अवनति होने से भूमि पर आश्रित लोगों की संख्या और भी बढ़ गई है।

(३) बर्मा और पाकिस्तान के अलग हो जाने के पश्चात् हमें भीषण अन्न संकट का सामना करना पड़ रहा है और हमारी सूती कपड़े और जूट की मिलों के लिए यथेष्ट मात्रा में बढ़िया रुई और जूट की कमी आ गई है। इस प्रकार तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये खाद्यान्नों की पूर्ति बढ़ाने के अतिरिक्त हमारे देश के उद्योगों के लिए कच्चा माल विशेषतः बढ़िया रुई, जूट और गन्ना इत्यादि की उपज बढ़ाने की आवश्यकता है।

(४) भारत में कई ऐसी फसलें पैदा की जाती हैं जिनकी विदेशों में माँग है। इन फसलों की पैदावार विदेशों में भेजकर हम आवश्यक कच्चा माल और मशीनें आदि मँगवाने के लिए विदेशी मुद्रा प्राप्त कर सकते हैं। हमें अपनी खेती की उपज बढ़ाने के लक्ष्य निर्धारित करते समय इस बात पर भी पूरा ध्यान देना चाहिये।

गहरी खेती की कठिनाइयाँ—हम बतला चुके हैं कि भारत में खेती की पैदावार बढ़ाने के लिए गहरी खेती की ही अधिक सहायता लेने की आवश्यकता है; लेकिन गहरी खेती के उपायों को अपनाने के मार्ग में कई रुकावटें हैं। पहली बात तो यह है कि हमारे किसान कृषि-सुधार के उपायों से अनभिज्ञ हैं। दूसरी बात यह है कि वे दरिद्रता के कारण अच्छे बीज, अच्छी खाद और अच्छे औजार आदि खरीदने में असमर्थ हैं। तीसरे, सरकारी प्रदर्शक अकुशल हैं। वे किसानों को नये उपायों की उत्तमता को समझाने में असफल रहे हैं। चौथे, खेतों के छोटे-छोटे और बिखरे हुए होने के कारण कृषि में कई सुधार, जैसे यन्त्रों का उपयोग आदि कार्यान्वित नहीं किये जा सकते है। पाँचवाँ, गहरी खेती के खर्चीले प्रयोगों की सफलता के लिए सिंचाई के साधनों का होना आवश्यक है। लेकिन हमारे देश में इनका अभाव है। अन्तिम, गहरी खेती के उपायों को अपनाने के लिए उधार पूँजी से काम लिया जा सकता है। किन्तु हमारे यहाँ ऐसी संस्थाओं का अभाव है जो उचित ब्याज पर किसानों को पूँजी उधार दे सकें। इसी प्रकार उत्पादित वस्तुओं की बिक्री की व्यवस्था खराब होने के कारण किसान उत्पत्ति में वृद्धि करने के लिए जो भी प्रयत्न करता है, उसका पूर्ण लाभ उसको

प्राप्त नहीं होता है; बल्कि बीच के आदमियों (दलालों, आढ़तियों आदि) के पास चला जाता है। इसलिए किसान को कृषि-सुधार में कोई भी विशेष रुचि नहीं होती है। जब तक उपर्युक्त बाधाएँ दूर नहीं की जातीं, हमारे देश में "गहरी खेती" की विशेष प्रगति की आशा करना निरर्थक है।

गहरी खेती के विकास के उपाय—पिछले कुछ वर्षो में, विशेषतः जब से देश में आयोजित आर्थिक विकास के प्रयत्न आरम्भ किये गये हैं, खेती की उन्नत्ति की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में खेती की उन्नति के लिए सिंचाई, शक्ति और परिवहन के विकास के अलावा मुख्यतः सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विकास योजनाओं को लागू किया गया है। इनका सविस्तार विवेचन हम आगे करेंगे। यहाँ यह बतला देना काफी होगा कि इसके लिए जो कार्यक्रम अपनाये गए हैं उनमें भूमि सुधार, सिंचाई के साधनों का विकास, अच्छे बीजों, खादों, औजारों तथा खेती के सुधरे हुए तरीकों का प्रयोग, पशु सुधार, शाक, फलों आदि की खेती का विस्तार और वृक्षारोपण मुख्य हैं। एक ओर सिंचाई के छोटे साधनों के विकास के लिए कुओं, तालाबों, छोटे बन्धों, नहरों, नल कूपों का निर्माण और मरम्मत और ऊसर, बंजर भूमि के पुनरोद्धार तथा सफाई का कार्य हाथ में लिया गया है और दूसरी ओर रासायनिक उर्वरकों, कम्पोस्ट तथा अन्य खादों, सुधरे हुए बीजों आदि की पूर्ति बढ़ाई जारही है तथा कीड़ों, बीमारियों और टिड्डियों से फसलों की रक्षा करने के प्रयत्न किये जाते हैं। सन् १९५८-५९ से ही कई राज्यों में रबी और खरीफ की फसलों की उपज बढ़ाने के लिए विशेष आन्दोलन आरम्भ किये गए हैं। इनके अन्तर्गत किसानों के समय पर और यथेष्ट मात्रा में उत्पादन के साधनों की पूर्ति की जाती है और कम्पोस्ट बनाने के खड्डे खोदने तथा खेती के विस्तार के प्रयत्न किये जाते हैं। आशा की जाती है कि इन प्रयत्नों से खेती की उपज बढ़ने में काफी मदद मिलेगी।

भारत की प्रमुख फसलें

भारतीय खेती की उपज की दो मुख्य विशेषताएँ हैं—(१) **फसलों की विविधता :** जलवायु की विभिन्नता के कारण भारत में लगभग सभी प्रकार की फसलें पैदा होती हैं (२) **खाद्य फसलों की प्रधानता :** कुल कृषित क्षेत्र के तीन-चौथाई भाग पर खाद्य-फसलें पैदा की जाती हैं और शेष भाग पर अन्य फसलें। कुल बोए गए क्षेत्र में मुख्य फसलों का अनुपात इस प्रकार है, चावल २२·९ प्रतिशत गेहूँ, ७·५ प्रतिशत, अन्य अनाज ?०·४ प्रतिशत, दालें [illegible]·२ प्रतिशत, मूँगफली ३·४ प्रतिशत, अन्य तेलहन ५·२ प्रतिशत, गन्ना ९·५ प्रतिशत, कपास ४·६ प्रतिशत, खाद ०·५ प्रतिशत, और शेष ६·६ प्रतिशत, क्षेत्र पर अन्य फसलें।[1]

---

1. G. B. Jathar and K. G. Jathar : Indian Economics (1957), p. 40.

निम्नांकित तालिका में १९५८-५९ में भारत की प्रमुख फसलों के क्षेत्रफल और उपज के आँकड़े दिये जाते हैं[1] :—

	क्षेत्रफल (हजार एकड़ों में)	उपज (हजार टनों में)
चावल	८,१५,९०	२,९७,२१
ज्वार	४,२६,०८	८६,८९
बाजरा	२,७९,०५	३७,९१
मकई	१,०३,१४	२९,९०
रागी	५९,३०	१७,२२
छोटे अनाज	१,२१,५६	२०,४८
गेहूँ	३,०९,६६	९६,९४
जौ	८१,६४	२६,४०
कुल अनाज	२१,९६,३३	६,१२,९५
चना	२,४८,४०	६८,२६
अन्य दालें	३,४१,३०	५३,८२
कुल खाद्यान्न	२७,८६,०३	७,३५,०३
आलू	८,२२	२३,१९
ईख	४८,३६	७,०९,१५
तम्बाकू	८,९६	२,६३
मूँगफली	१,४४,८१	४८,१६
तिल	५३,३२	४,९३
राई व सरसों	६२,८८	१०,६९
एरंड	११,९३	१,१३
अलसी	३७,०८	४,३०
कपास (रुई)	१,९८,२५	४७,०५ हजार गाँठें
पाट	१८,८७	५१,७८ „ „
चाय	७,८८	६,८५ लाख पौंड
कहवा	२,४०	८८ „ „
रबड़ (५६-५७)	१,८४	४९ „ „
नारियल (५६-५७)	१५,८२	४२१·७ करोड़

अब हम भारत की प्रमुख फसलों का संक्षिप्त विवरण देते हैं। हम पहले (अ) खाद्य फसलें लेंगे, और बाद में (आ) अखाद्य फसलें[2]। अखाद्य फसलों के तीन

1. India 1960, p. 247-249.

२. कभी-कभी फसलों को (क) खाद्य उपज, और (ख) व्यापारिक उपज इन दो भागों में बाँटा जाता है। परन्तु यह वर्गीकरण ठीक नहीं है! कभी-कभी खाद्यान्नों की खेती भी मंडी में बेचने के व्यापारिक उद्देश्य से की जाती है और कपास आदि की खेती घरेलू उपभोग के लिए की जाती है।

उपविभाग करेंगे (क) तिलहन, (ख) रेशेदार पदार्थ, और (ग) पेय और औषध फसलें।

(अ) खाद्य फसलें

हम बतला चुके हैं कि भारत में कुल कृषित क्षेत्र के लगभग ७५ प्रतिशत भाग पर खाद्यान्नों की खेती होती है। निम्नांकित चित्र में विभिन्न खाद्यान्नों से बोई हुई भूमि के प्रतिशत दिखलाये गये हैं।

नीचे हम प्रमुख खाद्य फसलों का संक्षिप्त विवरण देते हैं :—

चित्र-संख्या १६— खाद्यान्नों का प्रतिशत

(१) चावल—चावल हमारे देशवासियों का मनोनीत भोजन है। भारत में कुल खाद्यान्नों से बोये गये क्षेत्रफल के ३५ प्रतिशत पर चावल बोया जाता है। हम चीन के बाद संसार में चावल के सबसे बड़े उत्पादक हैं। सन् १९५७-५८ में भारत में ८१५·९० लाख एकड़ भूमि पर चावल बोया गया था और कुल २९७·२१ लाख टन चावल पैदा हुआ था। हमारे देश में चावल की प्रति एकड़ उत्पत्ति का औसत लगभग ७९१ पौण्ड है। चावल के लिए गरम और तर जलवायु, उपजाऊ मिट्टी और सस्ते मजदूरों की आवश्यकता होती है। भारत में चावल की खेती पश्चिमी बंगाल, आन्ध्र प्रदेश, मद्रास, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, और आसाम में अधिक होती है।
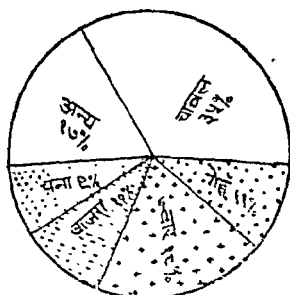
साथ के कोष्ठक में भारत के विभिन्न राज्यों में चावल से बोई हुई भूमि के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिये गये हैं।

चावल

राज्य का नाम	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
बिहार	१८	१९
मद्रास	१४	१७
पं० बंगाल	१३	१३
उड़ीसा	१३	९
उत्तर प्रदेश	१२	११
मध्य प्रदेश	१२	११
आसाम	५	७
अन्य	१३	१३
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas, p. 19.

यद्यपि पिछले २० वर्षों में हमारे देश में चावल से बोई हुई भूमि का क्षेत्रफल बढ़ा है, तथापि चावल की कुल उत्पत्ति हमारी माँग की अपेक्षा कम है। इसलिए प्रतिवर्ष बड़ी मात्रा में बर्मा, स्याम और हिन्द-चीन आदि से चावल मँगाना पड़ता है। नई भूमि में खेती करके, उत्तम खाद और उत्तम बीजों का प्रयोग करके तथा कीड़ों से फसलों की रक्षा करके चावल की उत्पत्ति बढ़ाने के प्रयत्न किये गये हैं। साथ ही, पिछले चार-पाँच वर्षों से

चावल की खेती की जापानी प्रणाली का प्रचार किया जा रहा है। इस प्रणाली के उपयोग से औसत प्रति एकड़ उत्पत्ति लगभग २० मन हो जाती है, जबकि देशी तरीके से चावल बोने पर उत्पत्ति केवल १३-१४ मन होती है। दूसरी पंचवर्षीय योजना में ८० लाख एकड़ भूमि पर जापानी तरीके से चावल की खेती करने का लक्ष्य अपनाया गया है।

(२) गेहूँ—गेहूँ भी भारत का लोकप्रिय भोजन है। भारत में खाद्यान्नों से बोये गये क्षेत्रफल के ११ प्रतिशत पर गेहूँ बोया जाता है। सन् १९५७-५९ में ३०९'६६ लाख एकड़ भूमि पर गेहूँ की खेती की गई थी, और ९६'९४ लाख टन गेहूँ की पैदावार हुई थी। देश में गेहूँ की प्रति एकड़ औसत उत्पत्ति लगभग ६४० पौण्ड है। गेहूँ के लिए साधारण नमी और ठंड की आवश्यकता होती है इसलिए यह रबी (सर्दी) में बोया जाता है।

गेहूँ

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
उत्तर प्रदेश	३४	४१
पंजाब	१२	१९
मध्य प्रदेश	११	८
मध्य भारत	९	५
बम्बई	९	६
बिहार	७	६
अन्य	१८	१५
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas, p. 27.

साथ के कोष्ठक में विभिन्न राज्यों के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिये गये हैं।

यद्यपि सुधरी हुई किस्म के बीजों का प्रयोग बढ़ रहा है और कृषि अनुसंधान परिषद तथा कृषि महाविद्यालयों में अनुसंधान जारी हैं, तथापि अन्य देशों की अपेक्षा भारत में प्रति एकड़ उपज बहुत कम है। हम आगे चल कर इस समस्या पर विस्तार से विचार करेंगे।

(३) जौ—गेहूँ की भाँति जौ भी रबी की फसल है। इसकी खेती में गेहूँ की अपेक्षा कम उपजाऊ भूमि और कम पानी की आवश्यकता होती है। सन् १९५७ ५९ में भारत में कुल ८१.९४ लाख एकड़ भूमि पर जौ की खेती की गई थी और कुल उत्पत्ति २६'४० लाख टन थी। साथ के कोष्ठक में विभिन्न राज्यों के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिये जाते हैं। गेहूँ की भाँति जौ में भी उत्तर प्रदेश का प्रथम स्थान है।

जौ

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
उत्तर प्रदेश	६३	७१
बिहार	१३	९
राजस्थान	६	६
अन्य	१८	१४
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas, p. 26.

विदेशों में जो शराब बनाने के काम आता है, परन्तु हमारे यहाँ यह गरीब लोगों और जानवरों का मुख्य भोजन है।

(४) ज्वार—चावल को छोड़कर ज्वार भारत में सबसे अधिक भूमि में बोई जाती है। ज्वार के लिए चावल से कम पानी और गेहूँ से अधिक गरमी चाहिए। अतएव यह सूखे और गरम क्षेत्रों में अधिक बोई जाती है। सन् १९५७-५८ में भारत में कुल ४२६'०८ लाख एकड़ भूमि पर ज्वार की खेती की गई थी, और कुल उत्पत्ति ७६'८९ लाख टन थी। दक्षिण भारत में ज्वार किसानों का मुख्य भोजन है। उत्तर भारत में यह प्रायः जानवरों को खिलाई जाती है। इसके आटे से अरारोट बनाया जाता है, जो कपड़ों में कलफ देने के काम आता है। साथ के कोष्ठक में विभिन्न राज्यों में ज्वार की खेती के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिये जाते हैं।

ज्वार

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
बम्बई	३१	२८
हैदराबाद	१७	१४
मद्रास	१२	१६
म० प्रदेश	१२	१६
म० भारत	८	७
उ० प्रदेश	६	८
सौराष्ट्र	५	२
अन्य	९	९
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas. p. 22.

(५) बाजरा—बाजरे की खेती के लिए सूखा और गरम जलवायु तथा साधारण रेतीली मिट्टी अच्छी मानी जाती है। इसकी खेती में बहुत कम परिश्रम होता है। सन् १९५७ ५८ में भारत में कुल २७९'०५ लाख एकड़ भूमि पर बाजरे की खेती की गई थी, और कुल उत्पत्ति ३७'९१ लाख टन थी। ज्वार की तरह बाजरा भी गरीब किसानों का भोजन है।

साथ के कोष्ठक में विभिन्न राज्यों में बाजरे की खेती के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिये जाते हैं।

बाजरा

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
बम्बई	२७	३१
राजस्थान	२२	९
उत्तर प्रदेश	१३	१७
मद्रास	१०	१९
सौराष्ट्र	९	५
पंजाब	९	११
अन्य	१२	९
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas, p. 23.

(६) मकई—कहते हैं कि मकई का जन्म-स्थान उत्तरी अमेरिका है। भारत में इसको पुर्तगाली लाये थे। मकई की खेती के लिए यथेष्ट वर्षा, गरमी और

उपजाऊ भूमि चाहिए। यह गरीब किसानों का मुख्य भोजन है, और स्टार्च बनाने के काम में भी आती है। सन् १९५७-५८ में भारत में कुल १०३·१४ लाख एकड़ भूमि पर मकई की खेती की गई थी और कुल उत्पत्ति २९·९० लाख टन थी।

साथ के कोष्ठक में विभिन्न राज्यों में मकई की खेती के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिये जाते हैं।

मकई

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
उत्तर प्रदेश	२४	३१
बिहार	२३	९
पंजाब	१०	१७
राजस्थान	८	१९
मध्य भारत	६	५
बम्बई	६	११
अन्य	२३	८
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas, p. 22.

(७) रागी—रागी के लिए गरम जलवायु और यथेष्ट सिंचाई की आवश्यकता होती है। फलस्वरूप इसकी खेती में अधिक परिश्रम होता है, और यह महँगी होती है। दक्षिणी भारत के गरीब किसान इसको प्रायः एक विलासिता की वस्तु मानते हैं। सन् १९५७-५८ मे भारत में कुल ५९·३० लाख एकड़ भूमि पर रागी बोई गई थी और कुल उत्पत्ति १७·२२ लाख टन थी।

साथ के कोष्ठक में विभिन्न राज्यों में रागी की खेती के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिये गये हैं।

रागी

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
मैसूर	३५	२८
मद्रास	२८	३९
बम्बई	१३	१५
बिहार	१२	१०
उड़ीसा	७	५
अन्य	५	३
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas, p. 25.

(८) दालें – दालों का कृषि और भोजन दोनों की दृष्टि से महत्व है। दालों के पौधे अपनी पत्तियों और जड़ों के द्वारा भूमि में सजीव तत्वों (Organic Matter) की पूर्ति करके भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाते हैं। मनुष्यों और जानवरों के भोजन की दृष्टि से भी दालों की बड़ी उपयोगिता है। इनसे पुत्तनक (Protein) मिलता है, जिसकी शाकाहारियों के भोजन में कमी होती

दालें

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
उत्तर प्रदेश	३३	४१
पञ्जाब	१६	१४
मध्य प्रदेश	९	८
बिहार	८	८
मध्यभारत	७	६
राजस्थान	६	३
पेप्सू	५	६
अन्य	२२	१७
[illegible]	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas, p. 31.

है। हमारे देश में कई दालों के पौधों की खेती की जाती है; जैसे—चना, अरहर, उड़द, मूँग, मोंठ, मसूर आदि। इनमें, विशेषकर उत्तरी भारत में चने की प्रधानता है। सन् १९५८-५९ में भारत में ५८९'७० लाख एकड़ भूमि पर दालों की खेती की गई थी और कुल उत्पत्ति १२२'०८ लाख टन थी। साथ के कोष्ठक में विभिन्न राज्यों में चने की खेती के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिये जाते हैं।

(९) ईख—भारत ईख का जन्म-स्थान है और संसार में सबसे अधिक ईख की खेती करता है। इसके लिए उपजाऊ भूमि, तेज गरमी और सम-वितरित यथेष्ट वर्षा की आवश्यकता होती है। यह प्रायः मार्च में बोई जाती है और फरवरी में काट ली जाती है। कुछ वर्षों से गन्ने की माँग में वृद्धि होने से जल्दी पकने वाली किस्में बोई जाने लगी हैं, जो नवम्बर तक काट ली जाती हैं। सन् १९२९ तक प्रति एकड़ अल्प उत्पत्ति, वृहत् माँग, संरक्षण के अभाव और अविकसित चीनी उद्योग के कारण भारत को प्रतिवर्ष १० लाख टन चीनी विदेशों से मँगानी पड़ती थी। सन् १९३१ में संरक्षण की नीति अपनाई गई और गन्नों की उत्तम किस्मों का अनुसंधान और प्रयोग बढ़ने लगा। फलस्वरूप द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने के समय अर्थात् दस वर्षों से कम की अवधि में भारत चीनी के विषय में आत्म-निर्भर हो गया। सन् १९५८-५९ में भारत में कुल ४८'३६ लाख एकड़ भूमि पर गन्ना बोया गया था। कुल उत्पत्ति ७०९'१५ लाख टन थी। साथ के कोष्ठक में विभिन्न राज्यों में गन्ने के क्षेत्रफल और गुड़ की उत्पत्ति के प्रतिशत दिये जाते हैं।

ईख

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
उत्तर प्रदेश	६०	५३
बिहार	१०	६
पञ्जाब	७	७
मद्रास	५	११
बम्बई	५	१०
अन्य	१३	१३
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas, p. 33.

भारत में गन्ने की प्रति एकड़ उपज १३ टन है जब कि जावा में ५६ टन और हवाई में ६२ टन है। चीनी की प्राप्ति भी भारत में लगभग १० प्रतिशत है जब कि आस्ट्रेलिया में १४'३ प्रतिशत और क्यूबा में १२'३ प्रतिशत है। इसीलिए चीनी की उत्पादन लागत भारत में ऊँची बैठती है।

(आ) अखाद्य फसलें

(क) तेलहन

भारत में विभिन्न प्रकार के तेहलन पैदा होते हैं, जैसे—तिल, सरसों, राई, अलसी, मूँगफली नारियल, एरंड के बीज (इन्डोली), बिनोला, धनियाँ, जीरा, अजवायन आदि। हम यहाँ केवल अधिक महत्वपूर्ण तेलहनों का संक्षिप्त विवरण देते हैं।

(१) **मूँगफली**—इसका जन्म-स्थान ब्राजील कहा जाता है। परन्तु आज-कल इसकी संसार में सबसे अधिक खेती भारत मे होती है। सन् १९५८-५९ में भारत में कुल १४४·८९ लाख एकड़ भूमि पर मूँगफली की खेती की गई थी और कुल उत्पत्ति ४८·९६ लाख टन थी। साथ के कोष्ठक में विभिन्न राज्यों के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिये जाते हैं। मूँगफली का तेल जमाकर वनस्पति घी बनाया जाता है। इसके निर्यात मे विदेशी मुद्रा मिलती है।

(२) **तिल**—भारत में मूँगफली के बाद तिलों की खेती अन्य तेलहनों में सबसे अधिक होती है। सन् १९५८-५९ में कुल ५३·३३ लाख एकड़ भूमि पर तिलों की खेती की गई थी। कुल उत्पत्ति ४·९३ लाख टन थी। देश में तिलों की भारी मांग होने से इनका निर्यात नहीं होता है। साथ के कोष्ठक में विभिन्न राज्यों के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिये जाते हैं।

(३) **सरसों और राई**—ये दोनों चीजें प्राय: साथ-साथ बोई जाती हैं। सन् १९५८-५९ में भारत में कुल ६२·८८ लाख एकड़ भूमि पर इनकी खेती की गई थी और कुल उत्पत्ति लगभग १०·६६ लाख टन थी। साथ के कोष्ठक में विभिन्न राज्यों के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिये जाते हैं।

मूँगफली

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
मद्रास	३८	४९
बम्बई	२०	२१
हैदराबाद	१६	१२
सौराष्ट्र	१२	७
अन्य	१४	११
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas, p. 36.

तिल

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
उत्तर प्रदेश	२३	१९
मद्रास	१४	१९
राजस्थान	१२	११
हैदराबाद	१२	९
मध्य प्रदेश	७	६
सौराष्ट्र	६	५
मध्य भारत	६	६
बम्बई	५	७
उड़ीसा	५	५
अन्य	१०	११
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas, p. 38.

सरसों और राई

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
उत्तर प्रदेश	६४	६१
आसाम	६	७
बिहार	६	७
पञ्जाब	६	७
राजस्थान	५	४
अन्य	१४	१३
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas. p. 39.

(४) अलसी—अलसी के लिए गहरी मिट्टी और यथेष्ट नमी चाहिए। इसका तेल वार्निश और रोगन बनाने के काम में आता है। सन् १९५८-५९ में भारत में ३७·०८ लाख एकड़ भूमि पर अलसी बोई गई थी और कुल उत्पत्ति ४·३० लाख टन थी। द्वितीय महायुद्ध के पहले अलसी का अधिकांश पश्चिमी यूरोप को निर्यात होता था।

अलसी

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
मध्य प्रदेश	२७	१९
उत्तर प्रदेश	२४	३७
हैदराबाद	१६	१०
मध्य भारत	९	९
बिहार	९	१०
अन्य	१५	१५
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas, p. 40.

(५) एरंड या इन्डोली—एरंड के लिए गरम जलवायु उपयुक्त होती है। इसका पौधा १० से १५ फीट तक ऊँचा होता है। इसके बीज से तेल निकलता है जो जलाने, साबुन और मोमबत्ती बनाने और सिर में डालने तथा जुलाब के काम आता है। इसकी खली भी उत्तम खाद बनती है। सन् १९५८-५९ में भारत में कुल ११·९३ लाख एकड़ भूमि पर एरंड की खेती की गई थी और कुल उत्पत्ति १·१३ लाख टन थी। भारत में एरंड का उपयोग कम होता है। इसका अधिकांश निर्यात होता है। साथ के कोष्ठक में विभिन्न राज्यों के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिए जाते हैं।

एरंड

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
हैदराबाद	५६	४८
मद्रास	१७	१९
बम्बई	१०	१३
मैसूर	६	५
अन्य	११	१५
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas.

(६) नारियल या खोपरा—नारियल का रस पीने और इसकी गिरी खाने और तेल निकालने के काम आती है। नारियल या खोपरे का तेल खाने, सिर में डालने और साबुन बनाने के काम आता है। इसकी नारेली चूड़ियाँ, हुक्के आदि बनाने और इसकी जटा गलीचे आदि बनाने के काम में आती है। नारियल के लिये यथेष्ट गरमी और वर्षा तथा उपजाऊ मिट्टी अच्छी रहती है। अतएव ये समुद्र-तट के मैदानों में अधिक होता है। भारत में लगभग १६ लाख एकड़ भूमि पर नारियल के वृक्ष हैं।

नारियल या खोपरा

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
मद्रास	४३	४९
त्रावणकोर-कोचीन	४१	३९
मैसूर	१२	९
अन्य	४	३
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas, p. 48.

कुल उत्पत्ति लगभग ४२१ करोड़ गोले होती है। साथ के कोष्ठक में विभिन्न राज्यों के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिये जाते हैं। खोपरे का निर्यात नगण्य है।

(ख) रेशेदार फसलें

रेशेदार पौधों में कपास और पाट मुख्य हैं। हम रबड़ का वर्णन भी इसी शीर्षक के अन्तर्गत करेंगे।

(१ कपास—कपास की खेती में भारत का स्थान अमेरिका के पश्चात् संसार में दूसरा आता है। कपास की खेती के लिए शुष्क क्षेत्र, जहाँ तेज धूप और सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध हों, अच्छे रहते हैं। कपास से बिनौले और रुई—दो उपयोगी पदार्थ मिलते हैं। बिनौलों का तेल निकाला जाता है जो वनस्पति घी बनाने के काम आता है। रुई के कपड़े बनाए जाते हैं। बिनौले मई से दिसम्बर तक बोये जाते हैं और कपास अक्तूबर से मई या जून तक चुनी जाती है। अधिकांश भारतीय रुई छोटे रेशों वाली होती है जो बढ़िया कपड़े बनाने के लिए उपयुक्त नहीं होती। देश-विभाजन से बड़े रेशों वाली रुई के स्थान पाकिस्तान में चले गये हैं। अतएव भारत को बड़े रेशों वाली रुई विदेशों से मँगानी पड़ती है। परन्तु हमारे देश में छोटे रेशों वाली रुई की पैदावार इतनी काफी होती है कि हम प्रतिवर्ष बड़ी मात्रा में यह रुई विदेशों (मुख्यतः इंगलैंड और जापान) को भेजते हैं। भारतीय केन्द्रीय-रुई-समिति और राज्यों के कृषि विभाग देशी रुई की नस्ल सुधारने और लम्बे रेशों वाली रुई की उपज बढ़ाने के प्रयत्न कर रहे हैं। प्रति एकड़ उत्पत्ति में वृद्धि के प्रयत्न भी जारी हैं। रुई की बिक्री में सुधार भी किए जा रहे हैं। इन प्रयत्नों को काफी सफलता मिली है। पाकिस्तान के अलग हो जाने पर भी आज भारत में विभाजन-पूर्व भारत से अधिक भूमि पर कपास की खेती की जाती है। सन् १९५८-५९ में भारत में कुल १९८.२५ लाख एकड़ भूमि पर कपास बोई गई थी और कुल उत्पत्ति ४७.०५ लाख गाँठें थी। साथ के कोष्ठक में विभिन्न राज्यों के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिए जाते हैं।

कपास

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
बम्बई	२२	२३
मध्य प्रदेश	२०	१७
हैदराबाद	१७	१२
मद्रास	१२	११
मध्य भारत	११	७
सौराष्ट्र	८	७
अन्य	१०	२३
कुल	१००	१००

(२) पाट—संसार में भारत, पाकिस्तान और ब्राजील ही ऐसे देश हैं जहाँ पर पाट पैदा होता है। पाट का पौधा ८-१० फीट ऊँचा होता है। इसकी छाल के रेशों की बोरियाँ, त्रिपाल, पर्दे, दरियाँ आदि बनाए जाते हैं। पाट की खेती के लिए उच्च तापक्रम, भारी वर्षा और अत्यधिक उपजाऊ मिट्टी की आवश्यकता होती

पाट

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
पश्चिमी बङ्गाल	४५	४५
बिहार	२५	२०
आसाम	२०	२५
उड़ीसा	८	७
आन्ध्र	२	३
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas, p. 41.

है। यह मार्च से मई तक बोया जाता है और अगस्त-सितम्बर में काट लिया जाता है। सन् १९५८-५९ में भारत में १८·२७ लाख एकड़ भूमि पर पाट की खेती की गई थी और उत्पत्ति ५१·७८ लाख गाँठें थीं। साथ के कोष्ठक में विभिन्न राज्यों के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिये जाते हैं। भारत की मिलों में प्रतिवर्ष लगभग ५० लाख पाट की गाँठों की आवश्यकता होती है। देश-विभाजन के समय भारत में केवल १६ लाख गाठें उत्पन्न होती थीं। अतएव खेती के तरीकों में सुधार, उत्तम बीजों के उपयोग और नये स्थानों (उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र और दक्षिणी भारत की नदियों के डेल्टाओं) में खेती करके पाट की उत्पत्ति में वृद्धि के प्रयत्न किये गये। १९५०-५१ में पाट की उत्पत्ति ३३ लाख गाँठें थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य ५३·९ लाख गाँठें रखा गया था। आरम्भ में मौसम की प्रतिकूलता और भावों में गिरावट से उपज उलटी घट गई परन्तु पिछले दो चार वर्षों में उपज अच्छी हुई। भारतीय केन्द्रीय-पाट समिति और पाट कृपिशोध विभाग पाट की मात्रा और उत्तमता, और पाट की बिक्री-व्यवस्था में सुधार के प्रयत्न कर रहे हैं।

(३) रबड़—यह एक प्रकार के पेड़ के दूध से तैयार किया जाता है। इसके लिए यथेष्ट गरमी और वर्षा की आवश्यकता होती है। आज के युग में रबड़ का बड़ा महत्व है। भारत में इसकी पैदावार इसी शताब्दी में आरम्भ की गई है। १९५६-५७ में कुल १·८४ लाख एकड़ भूमि पर रबड़ की खेती की गई और कुल उत्पत्ति ४९ लाख पौंड थी। रबड़ की खेती मुख्यतः केरल, मैसूर, मद्रास और आसाम में होती है। हमारी कुल उत्पत्ति विश्व की तुलना में बहुत कम है परन्तु देश में मोटरें और साइकिलें बनाने के कारखानों के खुलने से इसका महत्व बढ़ गया है और भारतीय रबड़-बोर्ड उत्पत्ति में वृद्धि करने के साधन जुटा रहा है।

(ग) पेय और औषध फसलें

पाश्चात्य देशों में पेय पदार्थों का बहुत उपयोग होता है। इनमें चाय और कहवा मुख्य हैं। हम इस शीर्षक में इनके अतिरिक्त तम्बाखू और नील का भी संक्षेप में वर्णन करेंगे।

(१) चाय—चाय एक प्रकार की झाड़ी होती है, जिसकी पत्तियाँ सुखा कर गरम पानी में उबाल कर पीते हैं। चाय की झाड़ी के लिए गरमी और तरी चाहिए, किन्तु स्थिर जल इसके लिए हानिकारक होता है। इसलिए यह अधिकांश पहाड़ी

भूमि पर पैदा की जाती है। भारत में गत सौ वर्षों से चाय के बागान लगाये जाने लगे हैं। इससे पहाड़ी क्षेत्रों की बेकार भूमि काम में आ गई है और हजारों मजदूरों को रोजगार मिल गया है। चाय बोर्ड के एक विज्ञापन[1] के अनुसार भारत में आजकल ७,१४४ रजिस्टर्ड चाय के बागान हैं। लगभग ७·९ लाख एकड़ भूमि पर चाय की खेती की जाती है और कुल उत्पत्ति ६७·६० करोड़ पौंड होती है। भारतीय चाय उद्योग में अनुमानतः ११३ करोड़ रुपयों की पूँजी लगी है। हमारे देश में प्रतिवर्ष लगभग २१ करोड़ पौण्ड चाय की खपत होती है और शेष (कुल उत्पत्ति की ¾ से अधिक) इङ्गलैंड, अमेरिका और कनाडा को भेजी जाती है। सन् १९५७ में भारत से ४४·२० करोड़ पौंड चाय का निर्यात् हुआ और १२३·६९ करोड़ रुपयों का विदेशी विनिमय प्राप्त हुआ। चाय के बागानों में लगभग १० लाख मनुष्य काम करते हैं और कई चाय के व्यापार में लगे हुए हैं। सन् १९५६-५७ में भारत सरकार को चाय उद्योग से निर्यात कर द्वारा २०·३४ करोड़ रुपये और संघीय उत्पादन कर द्वारा ३·१९ करोड़ रुपये की आय हुई थी। चाय के यातायात से प्रतिवर्ष यातायात सेवाओं को लगभग ४ करोड़ रु० की आमदनी होती है। भारतीय प्लाइउड और फरटिलाइजर उद्योग भी मुख्यतः चाय उद्योग पर निर्भर है।

चाय

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
आसाम	४६	४४
पश्चिमी बङ्गाल	२५	२८
मद्रास	११	८
केरल	१०	८
अन्य	५	२
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas, p. 49.

साथ के कोष्ठक में भारत के विभिन्न राज्यों में चाय की खेती के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिये गये हैं।

(२) **कहवा**—कहवा का आदि स्थान अफ्रीका है। इसके लिये भी चाय की तरह गरम और तर जलवायु की आवश्यकता होती है। कहवे के बीजों या दाने को भूनकर पीस लिया जाता है और फिर चाय की तरह गरम पानी में उबाल कर पेय तैयार किया जाता है। सन् १९५८-५९ में भारत में लगभग २·४० लाख एकड़ भूमि पर

कहवा

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
मैसूर	४८	५१
मद्रास	२७	२२
कुर्ग	२०	२५
केरल	५	२
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas, p. 50.

१. देखिये "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" ता० १५-३-१९५९।

कहवा की खेती की गई थी और कुल उत्पत्ति लगभग ८८ लाख पौंड हुई थी। भारतीय कहवा की विदेशों में माँग है। परन्तु उत्पत्ति कम होने से विशेष निर्यात नहीं होता। अपने देश में भी कहवा का उपभोग बढ़ रहा है। केन्द्रीय कहवा बोर्ड ने कहवा की उत्पत्ति बढ़ाने की पञ्चवर्षीय योजना चला रखी है। साथ के कोष्ठक में विभिन्न राज्यों में कहवा की खेती के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिए गए हैं।

(३) **तम्बाखू**—इसका जन्म-स्थान अमेरिका है। सम्भवतः इसको भारत में पहले-पहल पुर्तगाली लोग सोलहवीं शताब्दी में लाए थे। तम्बाखू के पौधे के लिए यथेष्ट गरमी, पानी और उपजाऊ मिट्टी चाहिए। १९५८–५९ में ८·९६ लाख एकड़ भूमि पर तम्बाखू की खेती की गई थी और कुल उत्पत्ति २·६३ लाख टन हुई थी। साथ के कोष्ठक में विभिन्न राज्यों के क्षेत्रफल और उत्पत्ति के प्रतिशत दिए जाते हैं। तम्बाखू भारतवासियों की प्रमुख कृत्रिम आवश्यकता है। अतएव हमारी अधिकांश उत्पत्ति का यहीं उपभोग होता है। भारतीय तम्बाखू घटिया दर्जे की है। कृषि अनुसन्धान-संस्था में इसकी उत्तमता में वृद्धि करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। फलस्वरूप आन्ध्र और बिहार में बढ़िया "विरजिनिया" तम्बाखू की खेती होने लगी है जो सिगरेट बनाने के लिए उपयुक्त है। पिछले कुछ वर्षों से तम्बाखू का निर्यात बढ़कर १५ करोड़ रुपए प्रतिवर्ष का होगया है।

तम्बाखू

राज्य	क्षेत्रफल	उत्पत्ति
मद्रास	३८	४४
बम्बई	२९	२७
पश्चिमी बङ्गाल	६	५
बिहार	५	४
उत्तर प्रदेश	५	६
अन्य	१७	१४
कुल	१००	१००

Source : Indian Agricultural Atlas, p. 32.

परीक्षा के प्रश्न

University of Rajasthan, B. A.

(1) Mention the chief characteristics of Indian agriculture. How can we improve it ? (1951)

(2) Point out the distribution of sugarcane, cotton, tea & coal in India and discuss their importance in Indian trade and industry. (1952)

संदर्भ ग्रंथ

(1) G. B. Jathar and K. G. Jathar : Indian Economics (1957), Ch. V (O. U. P. Bombay).

(2) India 1960 : Ch. XX (Publications Division, Delhi).

(3) Agricultural Situation in India : Monthly (Manager of Publications, Delhi).

अध्याय सोलहवाँ (अ)
भारत की खाद्य समस्या

अंग्रेजी की एक कहावत है कि मनुष्य सिर्फ रोटी के लिए ही जिन्दा नहीं रहता। परन्तु यह भी सही है कि वह रोटी के बिना भी जिन्दा नहीं रह सकता। भोजन मनुष्य की एक प्राथमिक आवश्यकता है और शुद्ध, संतुलित और पौष्टिक भोजन की यथेष्ट मात्रा सुखी जीवन के लिए आवश्यक मानी जाती है।

भारत में चार में से तीन व्यक्ति खेती करते हैं और बोई हुई भूमि का ७५ प्रतिशत खाद्यान्नों के उगाने के काम आता है। फिर भी देश में पिछले कई वर्षों से बराबर खाद्यानों का अभाव है।

खाद्यान्नों की पूर्ति और आर्थिक विकास—भारत के आर्थिक विकास में खाद्यान्नों की यथेष्ट पूर्ति का बड़ा महत्व है। जब एक कृषि प्रधान अर्थ व्यवस्था आयोजित औद्योगिक विकास के मार्ग पर बढ़ती है तो औद्योगिक क्षेत्र में काम करने वाले लोगों की आमदनी बढ़ने से खाद्यान्नों और दूसरे उपभोग्य पदार्थों की माँग बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए भी खाद्यान्नों की व्यवस्था करनी होती है। पिछले ४० वर्षों से भारत की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है और अनुमान है कि कुछ वर्षों तक इससे भी अधिक तेजी से बढ़ सकती है। आज भी भारत की जनसंख्या ४० करोड़ से ऊपर पहुँच चुकी है और प्रतिवर्ष दो प्रतिशत या ८० लाख बढ़ जाती है जो ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनी की कुल जनसंख्या के बराबर है। इस तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए भोजन उपलब्ध करने की समस्या बड़ी विकट है। कहते हैं कि जब मनुष्य संसार में जन्म लेता है तो खाने के लिए एक मुँह के साथ-साथ काम करने के लिए दो हाथ भी लेकर आता है। परन्तु जहाँ उसका मुँह जन्म से ही खाने को माँगता है, उसके हाथ कई वर्षों तक काम नहीं कर सकते। फिर हाथों से काम करके खाद्यान्न पैदा करने के लिए भूमि और दूसरे साधनों की भी जरूरत होती है। अतएव एक घने आबाद और पिछड़े हुए देश में एक ओर खेती के विस्तार और सुधार द्वारा खाद्यान्नों की पूर्ति बढ़ाने के प्रयत्न किए जाते हैं और दूसरी ओर परिवार नियोजन द्वारा जनसंख्या का नियंत्रण आवश्यक हो जाता है।

अर्द्ध-विकसित देश में खाद्य समस्या का एक और महत्वपूर्ण पहलू है। गरीबी के कारण अधिकाँश जनसंख्या भुखमरी के किनारे पर रहती है इसलिए उसकी खाद्यान्नों की माँग काफी लोचदार होती है। ऐसे देश में आर्थिक विकास के साथ-साथ जब लोगों की आमदनी बढ़ती है तो उनकी खाद्यान्नों की माँग भी बढ़ती जाती है।

देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को मौजूदा स्तर पर आवश्यक खाद्यान्नों की यथेष्ट पूर्ति करने के अलावा खाद्य-समस्या का एक और पहलू है जिसे हम गुणात्मक पहलू कह सकते हैं। यदि एक औसत भारतवासी की खुराक का विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि इसमें कारबोज (Carbohydrates) की प्रधानता होती है और प्रोटीन, विटामिन्स, खनिज लवण इत्यादि आवश्यक पौष्टिक तत्वों का अभाव होता है। अतएव खाद्यान्नों की पूर्ति बढ़ाने के साथ ही साथ लोगों की खुराक सुधारने और उनको यथेष्ट मात्रा में पौष्टिक भोजन प्रदान करने की भी व्यवस्था करनी होती है।

जब तक खाद्य-समस्या का स्थायी रूप से हल नहीं हो जाता तब तक आर्थिक विकास की नींव मजबूत नहीं हो सकती; क्योंकि जब तक खाद्यान्नों का अभाव रहेगा तब तक दुर्लभ विदेशी मुद्रा औद्योगिक विकास के लिए मशीनों आदि पर खर्च करने की बजाय विदेशों से अनाज मँगाने में लगानी होगी। इसके अलावा अन्नाभाव के कारण कीमतों में बराबर बढ़ने की प्रवृत्ति रहेगी और योजना के लक्ष्यों को प्राप्त करने का खर्चा बढ़ता रहेगा। इस प्रकार खाद्यान्नों का अभाव आर्थिक विकास के मार्ग में बराबर कठिनाइयाँ पैदा करता रहेगा। इसके विपरीत यदि हम खाद्यान्नों के मामले में आत्म-निर्भर हो जाएँ और अनाज तथा कच्चा माल निर्यात करने की स्थिति में हों तो तेजी से आर्थिक विकास किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते है कि **खाद्यान्नों की कठिनाई आर्थिक विकास के मार्ग में मुख्य कठिनाई है और खाद्य समस्या का स्थायी रूप से हल किए बिना तेजी से आर्थिक विकास नहीं किया जा सकता।**

दीर्घ कालीन समस्या—कुछ लोगों का विचार है कि भारत में द्वितीय विश्व-युद्ध और देश-विभाजन के पूर्व खाद्यान्नों का अभाव नहीं था।[1] देश की खाद्यानों की माँग अपनी ही खेती की उपज और साधारण आयात से पूरी की जा सकती थी। यद्यपि समाज के कुछ वर्ग ऐसे थे जिनको यथेष्ट भोजन नहीं प्राप्त होता था; किन्तु इसका कारण उनकी गरीबी थी न कि अनाज का अभाव। यदि देश की आर्थिक हालत अच्छी हो और अनाज आसानी से विदेशों से मँगाया जा सके तो खाद्य समस्या अनाज के अभाव के रूप में प्रगट नहीं होती बल्कि भुगतान की समस्या (Balance of Payments) का एक रूप बन जाती है। इंग्लैण्ड में खाद्य समस्या का यही रूप है। परन्तु यदि देश की आर्थिक हालत खराब हो और खाद्यान्नों का आयात आसानी से न किया जा सके तो अनाज का संकट उपस्थित हो जाता है। वास्तव में प्रथम विश्व-युद्ध के दिनों से भारत में एक प्रकार से अन्नाभाव की स्थिति चली आ रही है। परन्तु जब तक बर्मा राजनैतिक दृष्टि से भारत का एक भाग था, बर्मा में पैदा किया हुआ चावल बराबर भारत के अन्नाभाव को दूर करता रहा। यही नहीं उन दिनों भारत

1. Dhiresh Bhattacharya-India's Economics (1959), p. 338,

से बड़ी मात्रा में चावल का निर्यात होता था। परन्तु जब से बर्मा राजनैतिक दृष्टि से अलग हो गया है, तब से भारत में चावल का आयात होने लगा है। द्वितीय विश्व-युद्ध के दिनों में जब बर्मा जापानियों के अधिकार में चला गया और वहाँ से चावल का आना बन्द हो गया, तो भारत में चावल का बड़ा अभाव हो गया और भारत को, विशेषतः बंगाल, को १९४३ में भीषण अकाल का सामना करना पड़ा। सरकार को विदेशों से अनाज मँगवाकर अभावग्रस्त क्षेत्रों के लोगों के लिए अनाज उपलब्ध करने की जिम्मेदारी अपने हाथ में लेनी पड़ी और भोजन की समस्या एक महत्वपूर्ण प्रशासनिक समस्या बन गई।

अन्नाभाव के अनुमान—समय-समय पर सरकारी और गैर सरकारी तौर पर भारत में अभाव के अनुमान लगाये जाते रहे हैं। सबसे पहले स्वाधीनता मिलने के पश्चात् भारत के खाद्य और कृषि मंत्री श्री जयरामदास दौलतराम ने यह घोषणा की थी कि देश में खाद्यान्नों का उत्पादन लगभग ४२० लाख टन था और प्रतिवर्ष ४० लाख टन खाद्यान्नों की कमी पड़ती थी— अर्थात् देश में लगभग १० प्रतिशत अन्नाभाव था। योजना आयोग ने पहली पंचवर्षीय योजना के मसौदे में बतलाया है कि १९५० में देश में खाद्यान्नों का उत्पादन लगभग ४५५ लाख टन था और यह अनुमान लगाया कि यदि उपज नहीं बढ़ाई गई तो १९५५-५६ तक देश में १३·६७ औंस प्रति व्यक्ति की दर से ७० लाख टन, १४ औंस की दर से ८२ लाख टन, १५ औंस की दर से १२० लाख टन, और १६ औंस यानी ½ सेर की दर से १५८ लाख टन, खाद्यान्नों की कमी हो जायगी। पहली योजना का उद्देश्य भोजन और वस्त्रों के उपभोग का युद्ध पूर्व स्तर स्थापित करना था। अतः पहली योजना में आधार वर्ष (१९४९-५०) में ५४० लाख टन खाद्यान्नों की उपज को १९५५-५६ तक ७६ लाख टन की वृद्धि करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। सौभाग्य से पहली योजना काल में खाद्यान्नों के उत्पादन में वास्तविक वृद्धि ७६ लाख टन के स्थान पर १०८ लाख टन होगई है। दूसरी योजना में आरंभ में खाद्यान्नों का उत्पादन १९५५-५६ में ६५० लाख टन से बढ़कर १९६०-६१ तक ७५० लाख टन करने का लक्ष्य रक्खा गया है। संशोधित योजना में यह लक्ष्य बढ़ाकर ८०५ लाख टन कर दिया गया है। दूसरे शब्दों में, दूसरी योजना का संशोधित लक्ष्य खाद्यान्नों के उत्पादन की १६ प्रतिशत के स्थान पर २७ प्रतिशत वृद्धि करना है। यह आशा की जाती है कि इस लक्ष्य के प्राप्त होने पर देश खाद्यान्नों के मामलों में आत्म-निर्भर हो जायगा। परन्तु अशोक मेहता समिति का अनुमान है कि देश में १९६०-६१ तक खाद्यान्नों का उत्पादन ७७० लाख टन से अधिक नहीं बढ़ सकेगा और हमको प्रतिवर्ष २० लाख टन अन्न विदेशों से आयात करना होगा। यदि मुद्रा स्फीति के कारण माँग बढ़ गई या किसी कारण फसलें खराब हो गईं तो देश में खाद्यान्नों की कमी को पूरा करने के लिए आयात की मात्रा बढ़ानी होगी। इस प्रकार भय है कि दूसरी

योजना की अवधि के बाद में भी देश में थोड़ा बहुत अन्नाभाव बना रहेगा और इस कमी को पूरा करने के लिए हमको विदेशों से खाद्यान्नों का आयात करना पड़ेगा।

तीसरी योजना के मसौदे में खाद्यान्नों की उपज का लक्ष्य १० से १०½ करोड़ टन रक्खा गया है—अर्थात् सन् १९६५-६६ में १९६०-६१ की अपेक्षा खाद्यान्नों की उपज में ३३ से लगाकर ४० प्रतिशत वृद्धि करने का लक्ष्य है। अनुमान है कि जब यह लक्ष्य प्राप्त हो जायगा तो भारत तीसरी योजना के अन्त तक खाद्यान्नों के मामले में पूर्णतः आत्म-निर्भर हो जाएगा।

उपर्युक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि देश में खाद्यान्नों की कुल मांग और उपज के अनुमान समय-समय पर बदलते रहे हैं। इसका कारण यह है कि बाजार में खाद्यान्नों की माँग प्रायः उन लोगों द्वारा की जाती है जो खेती नहीं करते। अतएव मण्डी में खाद्यान्नों की माँग खाद्यान्न पैदा नहीं करने वाले वर्ग की संख्या और उसकी आमदनी पर निर्भर करती है। अनाज पैदा करने वाली जनसंख्या की खाद्यान्नों की माँग का प्रभाव मण्डी में खाद्यान्नों की पूर्ति पर पड़ता है। यदि खेती करने वालों की उपभोग और संग्रह की मात्रा बढ़ जाती है तो मण्डी में खाद्यान्नों की आमद घट जाती है और कीमतें बढ़ने लगती हैं।

खाद्यान्नों की उपज के सरकारी आँकड़ों से प्रकट होता है कि देश में खाद्यान्नों की कुल उपज जो १९४९-५० में ५·७६ करोड़ टन थी, १९५०-५१ में ५·२२ करोड़ टन और १९५५-५६ में ६·५८ करोड़ टन हो गई। पिछले वर्ष (१९५८-५९) खाद्यान्नों की उपज सबसे अधिक हुई जो ७·३५ करोड़ टन बताई जाती है। इस वर्ष (१९५९-६०) प्रतिकूल मौसम के कारण पिछले वर्ष की अपेक्षा उपज २० लाख टन कम होने का अनुमान है। तीसरी योजना के मसौदे में यह मान लिया गया है १९६०-६१ में खाद्यान्नों की कुल उपज ७·५ करोड़ टन होगी। आश्चर्य की बात हैकि खाद्यान्नों की कुल उपज में बराबर वृद्धि होते रहने पर भी पिछले १० वर्षों में देश में न्यूनाधिक रूप में खाद्यान्नों का अभाव रहा है। इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला कारण यह है कि उपज के सरकारी आँकड़े सम्भवतः बहुत विश्वसनीय नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि खाद्यान्नों की कुल उपज कितनी ही क्यों न हो खाद्यान्नों के भाव मण्डी में आने वाली पूर्ति पर निर्भर करते हैं और हमें आज भी इस बात का यथेष्ट ज्ञान नहीं है कि प्रतिवर्ष मण्डी में पूर्ति की मात्रा कितनी रहती है। इस विवेचन से प्रकट होता है कि खाद्य समस्या के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं। एक पहलू वह है जो कुल माँग और कुल उपज के अन्तर के कारण पैदा होता है और दूसरा महत्वपूर्ण पहलू वह है जो मण्डी में खाद्यान्नों की कुल मांग और कुल पूर्ति से सम्बन्ध रखता है। हमें खाद्य समस्या का हल करने के लिए दोनों पहलुओं पर विचार करना होगा।

खाद्यान्नों के अभाव के कारण

भारत में अन्न-संकट के कारणों का अध्ययन तीन भागों में किया जा सकता है। (क) दीर्घ-कालीन कारण, (ख) मध्यम-कालीन कारण, तथा (ग) अल्प-कालीन कारण।

(क) दीर्घ-कालीन कारण—जिन दीर्घ-कालीन कारणों के फलस्वरूप भारत में अन्न-संकट उत्पन्न हुआ है उनमें से मुख्य निम्नांकित है :—

(१) जनसंख्या की वृद्धि—हम देख चुके हैं कि पिछले ४० वर्षों से भारत की जन-संख्या बड़ी तेजी से बढ़ रही है। बीसवीं शताब्दी के पहले बीस वर्षों में जन-संख्या की वृद्धि की गति इतनी तेज नहीं थी और जन-संख्या के साथ-साथ खेती का विस्तार भी बढ़ रहा था अतएव अनाज की कमी नहीं थी। लेकिन १९२१ के पश्चात् भारत की जन-संख्या बड़ी तेजी से बढ़ रही है। कुल मिलाकर इस शताब्दी के पहले ५० वर्षों में जन-संख्या में ५२ प्रतिशत वृद्धि हुई है जब कि खाद्यान्नों की उपज २० प्रतिशत बढ़ी है। १९४०–५१ की अवधि में जहाँ भारत की जन-संख्या १३·४ प्रतिशत बढ़ी वहाँ खाद्यान्नों की पूर्ति ३·२ प्रतिशत बढ़ी है।[1] पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजनाओं में खाद्यान्नों की उपज बढ़ाने के लक्ष्य निर्धारित किये गए थे तब अनुमान लगाया गया था कि इस अवधि में जन-संख्या उसी गति से बढ़ेगी जिस गति से १९४१–५१ के बीच में बढ़ी थी। लेकिन नये अध्ययनों से ज्ञात होता है कि जहाँ योजना आयोग ने जन-संख्या में वृद्धि की गति १·२५ प्रतिशत प्रतिवर्ष मानी थी वृद्धि वास्तव में २ प्रतिशत प्रतिवर्ष होने का अनुमान है। नीचे की तालिका में दूसरी योजना के और केन्द्रीय सांख्यकी-संगठन के हाल के जन-संख्या की वृद्धि के अनुमान दिये जाते हैं—[2]

	जन-संख्या करोड़ों में					
	'५१	'५६	'६१	'६६	'७१	'७६
(१) दूसरी योजना के अनुमान	३६·२	३८·४	४०·८	४३·४	४६·५	५०·०
(२) केन्द्रीय सांख्यकी संगठन के अनुमान	३६·२	३९·१	४३·१	४८·०	५२·८	५६·८

(1) Das and Chatterji: The Indian Economic, its growth and Problem, p. 4.

(2) Third Five year Plan—A Draft outline p. 45.

पूर्व तालिका से यह स्पष्ट है कि १९५१–७६ के बीच जहाँ पहले अनुमान था कि जन-संख्या १३·८ करोड़ बढ़ेगी वहाँ अब अनुमान है कि २०·६ करोड़ बढ़ सकती है। तीसरी योजना के खाद्यान्नों की पूर्ति बढ़ाने के लक्ष्य इन नये अनुमानों के आधार पर बनाये गये हैं।

(२) प्रति एकड़ कम उपज—भारत मे खेती की औसत प्रति एकड़ उपज बहुत कम है। यही कारण है कि हमारे देश में प्रतिवर्ष लगभग २७·८ करोड़ एकड़ भूमि पर खाद्यान्नों की खेती की जाती है और देश की कार्यशील जन-संख्या का ७२ प्रतिशत भाग खेती का कार्य करता है फिर भी देश में खाद्यान्नों का अभाव है।

(३) प्राकृतिक विपत्तियाँ—भारतीय कृषि वर्षा पर निर्भर है जब कभी वर्षा बहुत कम या बहुत अधिक होती है या समय पर नहीं होती तो फसल बिगड़ जाती है और खेती की पैदावार बहुत घट जाती है। वर्षा की अनिश्चितता के अतिरिक्त प्रतिवर्ष बड़ी मात्रा में आँधी, तूफान, ओलों आदि से भी फसलों को नुकसान होता है। इसी प्रकार जंगली जानवर, टिड्डियाँ, चूहे आदि भी बड़ी मात्रा में फसल नष्ट कर देते है। रोली इत्यादि फसलों की बीमारियों से भी काफी नुकसान होता है। इन सब कारणों से खेती की उपज घट जाती है और अन्न-संकट पैदा हो जाता है।

(४) उपभोग और उत्पत्ति में परिवर्तन—पिछले कुछ वर्षो से हमारे देश में अनेक कारणों से ज्वार, बाजरा, मकई आदि घटिया अनाजो के स्थान पर गेहूँ, चावल आदि बढ़िया अनाजों की खपत बढ़ गई है। इसके विपरीत डा० राधाकमल मुखर्जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Food Planning For Four Hundred Millions" में बतलाया है कि कुछ वर्षो से गेहूँ, चावल आदि बढ़िया अनाजों के स्थान पर घटिया अनाज बोने की प्रवृत्ति बढ़ गई है; क्योंकि बढ़िया अनाज पैदा करने में अधिक परिश्रम, अधिक लागत और अधिक कुशलता की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर आजकल घटिया अनाजों के स्थान पर गेहूँ व चावलों का उपभोग बढ़ गया है। यह भी एक कारण है कि हमारे देश में गेहूँ, चावल आदि की कमी नजर आती है।

(ख) मध्यम-कालीन कारण—

(५) युद्ध—द्वितीय विश्व-युद्ध का भी हमारे देश की खाद्य स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। युद्ध काल में बड़ी संख्या में देहातों से जवानों को फौज में भरती किया गया और उनको अच्छी खुराक मिलने लगी। इससे एक ओर खाद्यान्नों की माँग बढ़ी और दूसरी ओर कई स्थानों पर खेती करने वालों की कमी हो गई। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् जब सैनिकों की छटनी की गई, तब अनेक सैनिकों में आराम की जिन्दगी बिताने की आदत हो जाने से उनमें फिर जाकर गाँवों मे बसने की अनिच्छा उत्पन्न हो गई है। फिर युद्ध काल की अनिश्चितता के कारण अन्न संग्रह और मुनाफाखोरी की प्रवृत्तियों ने भी अन्न-संकट को बढ़ा दिया है।

(६) देश-विभाजन—देश विभाजन का भी हमारी अन्न समस्या पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। विभाजन के फलस्वरूप भारतीय संघ को अविभाजित भारत की ८२ प्रतिशत जनसंख्या मिली, परन्तु केवल ६९ प्रतिशत वास्तविक सिंचित क्षेत्र मिला और प्रमुख खाद्यान्नों की पूर्ति का ७५ प्रतिशत भाग मिला।[1] इसके साथ ही बड़ी संख्या में विस्थापितों के आने के फलस्वरूप खाद्यान्नों की मांग और भी बढ़ गई।

(७) दूषित वितरण व्यवस्था—भारत सरकार द्वारा १९५७ में श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता में नियुक्त खाद्यान्न जांच समिति ने लिखा है कि भारत में खाद्यान्नों की समस्या केवल उत्पत्ति बढ़ाने की समस्या नहीं है लेकिन साथ ही जो लोग खेती नहीं करते हैं उनके लिए खेती करने वालों द्वारा बेचे जाने वाले अन्न के वितरण करने की भी समस्या है। बहुधा उपज ठीक होने पर भी बाजार में पूर्ति के अभाव में खाद्यान्नों की कीमतें बढ जाती हैं। किसान, व्यापारी और उपभोक्ता भी न्यूनाधिक मात्रा में अन्न जमा करने लगते हैं जिससे कीमतें और भी बढ़ जाती हैं। वास्तव में कीमतों की दृष्टि से उपज में परिवर्तन से भी ज्यादा महत्वपूर्ण बिक्री के लिए आने वाली मात्रा में परिवर्तन है जिसका सम्बन्ध उपज के उचित वितरण से है।

(८) सरकार की ढिलमिल खाद्य नीति—गत १८ वर्षों से, जब १९४२ में भारत सरकार ने खाद्य-विभाग की स्थापना की थी, सरकार देश की खाद्य-समस्या को हल करने का प्रयत्न कर रही है। हम आगे चलकर सरकार की खाद्य-नीति का विस्तार से विश्लेषण करेंगे। यहां केवल इतना बतला देना काफी होगा कि सरकार को इस कार्य में पूरी सफलता नहीं मिली है। सुधरे हुये बीजों और खादों की कमी, बार-बार उद्देश्यों व नीति में परिवर्तन, प्राकृतिक विपत्तियों एवं प्रशासनिक कठिनाइयों के कारण सरकार देश को खाद्यों में आत्म निर्भर नहीं बना सकी है। फलस्वरूप सरकार को कीमतों में अत्यधिक वृद्धि रोकने के लिए विदेशों से अनाज के आयात एवं कीमतों के नियंत्रण का सहारा लेना पड़ रहा है जिनसे केवल अस्थायी राहत मिलती है। खाद्यान्नों में पूर्णतः आत्म-निर्भर हुये बिना खाद्य-समस्या का स्थायी हल असम्भव है।

(ग) अल्प-कालीन कारण—खाद्य-समस्या को हल करने के लिए भारत की पहली योजना में खाद्यान्नों की उपज ७६ लाख टन बढ़ाने का लक्ष्य रखा गया। अनुकूल मौसम के कारण पहली योजना की अवधि में खाद्यान्नों की उपज १०८ लाख टन बढ़ गई। अतएव दूसरी योजना में खेती के स्थान पर उद्योगों के विकास पर विशेष बल दिया गया। दूसरी योजना के पहले ही वर्ष में खाद्यान्नों की कमी नजर आने लगी और इनकी कीमतें बढ़ने लगीं। अतएव दूसरी योजना की अवधि में खाद्यान्नों की वृद्धि का लक्ष्य १ करोड़ टन से बढाकर १·५ करोड़ टन कर दिया गया और सामुदायिक विकास

(1) Indian Agriculture in Brief, p. 28,

और राष्ट्रीय विकास के कार्यक्रमों में खेती के विस्तार पर विशेष जोर दिया गया। परन्तु पिछले तीन-चार वर्षों में अनाज के भाव बराबर ऊँचे रहे हैं। भारत सरकार ने इसकी जाँच करने के लिए जुलाई १९५७ में श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की थी। हम आगे चलकर इस समिति की रिपोर्ट पर विस्तार से प्रकाश डालेंगे। यहाँ पर पिछले तीन-चार वर्षों में अनाज की मँहगाई के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालते हैं :—

(९) **माँग में वृद्धि**—सरकारी और निजी क्षेत्र में योजनाओं के अधीन बड़ी मात्रा में विनियोग किया गया है और घाटे की अर्थ-व्यवस्था तथा साख के विस्तार द्वारा इसकी वित्तीय व्यवस्था की गई है जिससे लोगों की आय और खाद्यान्नों और अन्य उपभोग्य पदार्थों की माँग उनकी पूर्ति की अपेक्षा बहुत बढ़ जाने से कीमतें बढ़ गईं।

(१०) **उपज में कम वृद्धि**—पहली योजना की अवधि में खाद्यान्नों की पूर्ति बढ़ने का एक कारण अनुकूल मौसम था; परन्तु दूसरी योजना के आरम्भ में मौसम प्रतिकूल होने से उपज उतनी नहीं बढ़ी। वास्तव में १९५७-५८ में १९५६-५७ की तुलना में खाद्यान्नों की उपज लगभग ६२ लाख टन कम हुई।

(११) **संग्रह वृत्ति**—जब माँग बढ़ने या उपज कम होने से अनाज के भाव बढ़ने लगते हैं तो उत्पादक और व्यापारी महँगे भावों का लाभ उठाने के लिए बड़ी मात्रा में अनाज का संग्रह करने लगते हैं। पहली योजना की अवधि में खेती की उपज बढ़ने से किसानों की आमदनी बढ़ी और जहाँ एक ओर उनके उपभोग की मात्रा में भी वृद्धि हुई वहाँ दूसरी ओर ऊँचे भावों का लाभ उठाने के लिए बड़े किसान संग्रह करने लगे। सहकारी समितियों और सरकार द्वारा साख की पूर्ति बढ़ाने से उन्हें संग्रह करने में मदद मिली। इसके साथ ही भाव ऊँचे होने से वे अपनी उपज का थोड़ा हिस्सा बेच कर अपनी मुद्रा की माँग पूरी कर सकते थे। इन सब कारणों से बाजार में खाद्यान्नों की आमद घट गई और बड़े किसान अनाज का संग्रह करने लग गये। इसी तरह व्यापारी लोग भी ऊँचे भावों का फायदा उठाने के लिए अधिक संग्रह करने लग गए।

खाद्य समस्या का हल

भारत के समान कृषि प्रधान देश के लिए खाद्यान्नों की पूर्ति के लिए विदेशों पर निर्भर रहना लज्जा की बात है। पिछले १५ वर्षों से हमारे देश में खाद्यान्नों की समस्या को हल करने के लिए सरकार ने बहुत कुछ किया है और हमें इस दिशा में आंशिक सफलता भी मिली है। हम यह भी देख चुके हैं कि खाद्यान्नों की समस्या के अनेक पहलू हैं और इस समस्या को हल करने के लिए सभी पहलुओं पर ध्यान देना चाहिए।

(१) **उत्पत्ति में वृद्धि**—खेती की उत्पत्ति बढ़ाने के लिए निम्नांकित तरीके काम में लाए जा सकते हैं—

(क) विस्तृत खेती—भारत में लगभग ५.३१ करोड़ एकड़ कृषि योग्य बंजर भूमि है। सिंचाई के साधनों के विकास, ट्रैक्टरों एवं रासायनिक उर्वरकों की सहायता से इस पर खेती का विस्तार किया जाना चाहिये। कुछ लोग वनों और चरागाहों की भूमि पर खेती करने और अखाद्य फसलों के स्थान पर खाद्य फसलें पैदा करने के सुझाव भी देते हैं। परन्तु हमारे देश में वनों और चरागाहों की भी कमी है। फिर ऐसी भूमि पर उपज कम और लागत अधिक होने से खेती करना लाभदायक नहीं होता। साथ ही हमारे देश में उद्योगों व निर्यात के लिए कच्चे माल के महत्व को देखते हुये अखाद्य फसलों के स्थान पर खाद्य फसलें उगाने में भी कोई तुक नहीं है। वास्तव में जैसा हमने १६ वें अध्याय मे बतलाया है भारत जैसे पुराने और घने आबाद देश में विस्तृत खेती का क्षेत्र बहुत सीमित है और हमको खाद्यान्नों की पूर्ति बढ़ाने के लिए मौजूदा खेतों की उपज बढ़ानी होगी।

(ख) गहरी खेती—हम बतला चुके हैं कि हमको मौजूदा खेती की भूमि की उपज बढ़ानी है। इसके लिए सुधरे हुये बीजों, अच्छी खादों और रासायनिक उर्वरकों, उत्तम हलों तथा अन्य औजारों और खेती के सुधरे हुये तरीकों का प्रयोग करना चाहिये। सिंचाई के विस्तार द्वारा जिन खेतों पर एक फसल उगाई जाती है उन पर दो फसलें उगाई जा सकती हैं। इस दिशा में जितना भी प्रयत्न किया जा सके उतना ही अच्छा है।

(२) फसलों की रक्षा—भारत में प्रतिवर्ष फसल का बड़ा भाग टिड्डियों, चूहों, कीड़ों तथा फसल के रोगों से नष्ट हो जाता है। कीड़े मारने की दवाइयों के प्रयोग द्वारा फसल की रक्षा की जानी चाहिये। सुधरे हुये बीजों के प्रयोग से भी फसलों को रोग नहीं लगता। जंगली और भटकने वाले पालतू जानवरों से भी फसलों की रक्षा की जानी चाहिये। फसलों को बाढ़ों, आग, अनावृष्टि व अन्य फसलों के शत्रुओं से बचाने के लिए फसलों का बीमा किया जाना चाहिये।

जो फसल खेतों ही में नष्ट हो जाती है उसके अलावा उपज को साल भर हिफाजत से रखने के साधनों के अभाव में भी बड़ी मात्रा में अनाज खराब हो जाता है। खेतों की पैदावार को हिफाजत से रखने के लिए गोदामों और भण्डारगृहों का विस्तार किया जाना चाहिये।

(३) वितरण की सुव्यवस्था—अनाज के वितरण की ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिये कि देश के सभी भागों में, विशेषकर शहरों और कस्बों जहाँ पर ज्यादातर ऐसे लोग रहते हैं जो खेती नहीं करते, साल भर उचित मूल्यों पर अनाज प्राप्त हो सके। प्रायः देखा जाता है कि जब किसी स्थान पर किसी समय फसल बिगड़ जाने या अन्य कारणों से अनाज की पूर्ति घट जाती है या माँग बढ़ जाने से भाव ऊँचे चढ़ने लगते हैं तो बड़े किसान और व्यापारी व कुछ हद तक उपभोक्ता भी आवश्यकता से

अधिक अनाज संग्रह करने लगते हैं जिससे मण्डी में अनाज की बहुत कमी आ जाती है और भाव बहुत ऊँचे चढ़ जाते हैं। इस समस्या का हल करने के लिए अशोक मेहता समिति ने मूल्यों के स्थिरीकरण का सुझाव दिया है। प्रो० अलक घोष ने बड़े किसानों द्वारा संग्रह नहीं हो इसके लिए अविलम्ब भूमि पर सीमा लगाने की राय दी है तथा व्यापारियों द्वारा अनाज के सट्टों को निषेध करने का सुझाव दिया है। अशोक मेहता समिति ने राज्य द्वारा अनाज का थोक व्यापार अपने हाथ में लेने और सस्ते अनाज की दुकानों, सहकारी समितियों व नियोक्ताओं के संगठनों द्वारा अनाज के वितरण की सिफारिश की है। सरकार ने अनाज के वितरण की व्यवस्था सुधारने के लिए समय समय पर कण्ट्रोल व राशनिंग, सस्ते अनाज की दुकानों, लाइसैंसों द्वारा थोक व्यापारियों का नियंत्रण, अनाज पर उधार का नियंत्रण, खाद्य क्षेत्रों का निर्धारण और बड़ी मात्रा में विदेशों से अनाज मँगवा कर उचित मूल्यों पर बेचने की व्यवस्था की है। अभी हाल में भण्डार बनाने के लिए अमेरिका से बड़ी मात्रा में गेहूँ और चावल मँगवाने के लिए समझौता किया गया है। परन्तु अब तक अनाज के मूल्यों को स्थिर करने और अनाज तथा अन्य वस्तुओं के मूल्यों में उचित संबंध रखने के लिए प्रभावशाली कदम नहीं उठाये गये है। मूल्यों के स्थिरीकरण के लिए सरकार के पास खेती की उपज के विस्तृत भण्डार होने चाहियें। तदर्थ आयातों पर निर्भर रहने की अपेक्षा जिन्स में मालगुजारी वसूल करने तथा सूरतगढ़ के सरकारी फार्म की तरह कई सरकारी फार्म खोल कर जितनी अनाज की साधारणतः कमी रहती है उतना अनाज सरकारी फार्मों पर पैदा करने का सुझाव दिया जा सकता है।

(४) **उपभोग में सुधार**—एक औसत भारतवासी की खुराक में अनाज की प्रधानता है। अनाज के स्थान पर केले, शकरकन्द व आलू आदि अधिक उपजने वाली फसलों का उपभोग बढ़ाया जाकर तथा कृत्रिम चावल, शाक-फल, अण्डे, मछली आदि पौष्टिक पदार्थों का सेवन किया जाये तो कम अनाज में काम चल सकता है और खुराक भी सुधर सकती है।

(५) **जनसंख्या का नियंत्रण**—खाद्यान्नों की समस्या का स्थायी हल करने के लिए उपज बढ़ाने, फसलों की रक्षा करने की सुव्यवस्था करने तथा उपभोग में सुधार करने के साथ ही साथ परिवार नियोजन और सन्तति-निग्रह के द्वारा जन-संख्या की वृद्धि की गति को कम किया जाना चाहिये। हमारा निश्चित मत है कि जन-संख्या की वृद्धि पर नियंत्रण किये बिना खाद्यान्नों में स्थायी आत्म-निर्भरता प्राप्त करने में कठिनाई होगी।

सरकार की खाद्य-नीति

स्वाधीनता के पूर्व खाद्य-नीति:—द्वितीय महायुद्ध के दिनों में बर्मा के जापानियों के अधिकार में चले जाने से चावल का आयात बन्द होने से भारत में गम्भीर खाद्य

संकट पैदा हो गया। भारत-सरकार ने प्रान्तों और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया और १९४२ में केन्द्र में खाद्य-विभाग की स्थापना की गई। १९४३ के बंगाल के भीषण अकाल ने सरकार की आँखें खोल दी। सरकार ने १५ जुलाई १९४३ को डा० ग्रेगरी की अध्यक्षता में खाद्यान्न नीति-समिति की स्थापना की और इसकी सिफारिशों के अनुसार दीर्घ-कालीन नीति के रूप में अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन आरम्भ किया गया और अल्प-कालीन उपायों के तौर पर अनाज का कण्ट्रोल और राशनिंग आरम्भ किया गया।

(क) **अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन**—ग्रेगरी समिति की सिफारिशों के अनुसार अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन आरम्भ किया गया जिसके अन्तर्गत खाद्यान्नों की उपज बढ़ाने के लिए निम्नांकित तीन उपाय किये गए :

(१) जिस भूमि पर छोटे रेशों वाली कपास की खेती की जाती थी उस पर कपास की जगह खाद्य फसलें उगाने के प्रयत्न किये गए;

(२) पड़त भूमि और खेती योग्य ऊसर भूमि पर नये सिरे से खेती का विस्तार किया गया; और

(३) सिंचाई की सुविधाओं का विस्तार करके तथा सुधरे हुए बीजों, खादों और खेती के उन्नत तरीकों के प्रसार द्वारा उपज बढ़ाने के प्रयत्न किए गए। भारत सरकार ने १९४३-४६ में ऋणों और अनुदान के रूप में अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन पर १६ करोड़ रुपए खर्च किए। परन्तु आशानुकूल नतीजा नहीं निकला।

इस आन्दोलन की मुख्य कमियाँ तीन थीं :—

(१) खाद्यान्नों की उपज बढ़ाने का कोई निश्चित लक्ष्य निर्धारित नहीं किया गया था।

(२) खेती के विकास की कोई व्यापक योजना नहीं बनाई गई।

(३) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन का संदेश किसानों तक पहुँचाने के लिए सामुदायिक विकास संगठन या राष्ट्रीय विस्तार सेवा के रूप में कोई संगठन नहीं बनाया गया। फलस्वरूप खाद्यान्नों की उपज में विशेष वृद्धि नहीं हुई। उदाहरण के लिए १९४५, ४६ और ४७ में उपज क्रमशः ४६१, ४०६ और ४२० लाख टन थी। अतः बड़ी मात्रा में विदेशों से अनाज मंगवाना पड़ा।

(ख) **खाद्यान्नों का नियंत्रण और राशनिंग**—१९४३ में बंगाल के भीषण अकाल के पश्चात् खाद्य समस्या को हल करने के लिए अल्प-कालीन उपायों के रूप में गाँवों से अनाज की वसूली करके सरकार के नियंत्रण में वितरण की व्यवस्था की गई। अनाज की कीमतें निश्चित कर दी गईं और अनाज के लाने लेजाने पर प्रतिबन्ध लगाया गया। कई स्थानों पर अनाज का राशन भी किया गया। अनुमान है कि १९४७ तक जब अंग्रेजों ने भारत छोड़ा शहरों की लगभग १४·५ करोड़ जनता राशन

के अधीन आ चुकी थी। परन्तु कण्ट्रोल और राशन का अनाज लोगों की आवश्यकता के लिए पूरा नहीं होता था। अतएव भ्रष्टाचार, मुनाफाखोरी, और चोर-बाजारी बहुत बढ़ गई।

स्वाधीनता के बाद की खाद्य-नीति—स्वाधीनता के साथ ही साथ देश-विभाजन से खाद्य-समस्या और भी गम्भीर हो गई। सरकार ने २७ सितम्बर १९४७ को खाद्यान्न-नीति समिति नियुक्त की जिसने विदेशों पर आश्रितता घटाने तथा उपज बढ़ाने की राय दी। राष्ट्रीय सरकार ने धीरे-धीरे कन्ट्रोल उठाने की नीति अपनाई और साथ ही नए सिरे से अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन तथा खाद्यान्नों में आत्म-निर्भरता सम्बन्धी आन्दोलन चलाया गया। आगे चलकर पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत खेती के पुनर्संगठन और पुनर्जीवन के द्वारा अन्न-संकट को स्थायी रूप से हल करने का प्रयत्न किया गया।

(क) कण्ट्रोल उठाने की नीति—स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् दिसम्बर १९४७ में भ्रष्टाचार और नैतिक पतन को रोकने के लिए महात्मा गांधी की सलाह पर खाद्यान्नों से कण्ट्रोल उठा लिया गया। इसके फलस्वरूप कीमतें बहुत ज्यादा बढ़ गईं और पुनः कण्ट्रोल लागू करना पड़ा। परन्तु खाद्यान्नों में आत्म-निर्भरता आन्दोलन और पहली योजना की खाद्यान्नों की उपज का लक्ष्य प्राप्त करने में सफलता के कारण सरकार के लिए धीरे-धीरे कण्ट्रोल उठाना सम्भव हो गया और जुलाई १९५४ से कण्ट्रोल लगभग समाप्त कर दिया गया।

(ख) अधिक अन्न उपजाओ और आत्म-निर्भरता आन्दोलन—स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् दूसरी खाद्यान्नों की नीति समिति की सिफारिशों के अनुसार नये सिरे से अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन चलाया गया। इसके अधीन गहरी खेती के तरीकों को अपनाकर उपज बढ़ाने के प्रयत्न किए गए और हर राज्य के लिए प्रतिवर्ष अतिरिक्त खाद्य उत्पादन के निश्चित लक्ष्य निर्धारित किये गये। केन्द्र में एक खाद्य आयुक्त की नियुक्ति की गई और उसे सलाह देने के लिए खाद्य उत्पादन मण्डल भी बनाया गया तथा राज्यों में मंत्रिमण्डलों की उप-समितियाँ बनाई गईं। इस आन्दोलन में सिंचाई के छोटे साधनों के विकास तथा सुधरे हुए बीजों, खादों और औजारों की पूर्ति पर विशेष ध्यान दिया गया। काँस और जंगलों से ढकी हुई भूमि को खेती के योग्य बनाने के लिए केन्द्रीय ट्रैक्टर संगठन की स्थापना की गई। पूरक खाद्य के रूप में मत्स्य-पालन का विकास किया गया और उपज को बढ़ावा देने के लिए फसल प्रतियोगिताएँ आरम्भ की गईं। भारत सरकार के खाद्य एवम् कृषि मंत्री श्री क० मा० मुन्शी ने खाद्य-आत्म-निर्भरता आन्दोलन शुरू किया और मई १९५२ तक खाद्यान्नों में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप खाद्यान्नों की उपज में काफी वृद्धि होने पर भी अनेकों कारणों से आत्म निर्भरता का

लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सका। इस आंशिक असफलता के कई कारण थे, जैसे सुधरे हुए बीजों और खादों का अभाव, प्राकृतिक विपत्तियाँ, प्रशासनिक कठिनाइयाँ, विशेषतः कृषि और अन्य विभागों में ताल-मेल का अभाव और उद्देश्यों की अदला-बदली। लेकिन सबसे बड़ा कारण यह था कि समस्या के केवल एक पहलू पर ही ध्यान दिया गया जब कि ग्राम्य-जीवन के सभी पहलू परस्पर सम्बन्धित हैं और गाँवों के सर्वाङ्गीण विकास के बिना समस्या को पूरी तरह हल नहीं किया जा सकता। इस कमी को दूर करने के लिए श्री कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में बैठाई गई अधिक अन्न उपजाओ समिति (१९५२) ने सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार के द्वारा गाँवों के सर्वाङ्गीण विकास के हेतु योजना प्रस्तुत की। इस नई नीति के अन्तर्गत सिंचाई के छोटे साधनों तथा सुधरे हुए बीजों और खादों की पूर्ति पर विशेष ध्यान दिया गया। साथ ही सहकारी समितियों द्वारा साख की पूर्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया गया और किसानों को उपज की न्यूनतम कीमत की गारन्टी करने की नीति अपनाई गई। इस समिति की सिफारिशें पहली योजना की खाद्य और कृषि नीति का आधार बन गईं।

(ग) **पहली योजना और खाद्यान्न**—पहली योजना में खेती के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया और खेती तथा सामुदायिक विकास कार्य-क्रमों के लिए ३५७ करोड़ रुपए निर्धारित किए गए। पहली योजना का लक्ष्य खाद्यान्नों की उपज में ७६ लाख टन की वृद्धि करना था ताकि प्रति व्यक्ति १४ औंस प्रतिदिन के हिसाब से देश खाद्यान्नों के मामले में आत्म निर्भर हो सके। प्रकृति ने भी देश का साथ दिया और अनुकूल मौसम रहने से पहली योजना की अवधि में खाद्यान्नों की उपज में ७६ लाख टन की वृद्धि के लक्ष्य के स्थान पर वास्तव में १०८ लाख टन हो गई। फलस्वरूप खाद्यान्नों का आयात घट गया और कण्ट्रोल ढीला कर दिया गया। ऐसा महसूस होने लगा कि खाद्यान्नों की समस्या हल हो जाने से दूसरी योजना में खेती के स्थान पर उद्योगों के विकास पर अधिक बल दिया जा सकता है।

दूसरी योजना और खाद्य समस्या—दूसरी योजना का प्रारम्भिक लक्ष्य खाद्यान्नों की उत्पत्ति १९५५–५६ में ६·५ करोड़ टन से बढ़ाकर १९६०–६१ तक ७·५ करोड़ टन करना अर्थात् १ करोड़ टन या १५ प्रतिशत की वृद्धि करना रक्खा गया था। परन्तु १९५६ के आरम्भ से ही खाद्यान्नों की कीमतें बढ़ना शुरू हो गईं अतएव जब १९५६ में राष्ट्रीय विकास परिषद ने दूसरी योजना की समीक्षा की तो यह महसूस किया जाने लगा कि सम्भवतः दूसरी योजना के खाद्यान्नों के वृद्धि के लक्ष्य देश की आवश्यकताओं के लिए काफी नहीं है। अतएव योजना आयोग ने राज्यों के प्रतिनिधियों से बातचीत करके दूसरी योजना की अवधि में खाद्यान्नों की अतिरिक्त उपज का लक्ष्य करोड़ टन से बढ़ाकर १·५५ करोड़ टन कर दिया। इस प्रकार दूसरी योजना के शोधित लक्ष्य में खाद्यान्नों की उपज में १५ प्रतिशत की जगह २५ प्रतिशत वृद्धि कर

दी गई। साथ ही सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विकास के कार्यक्रमों में खेती की उपज बढ़ाने पर विशेष बल देना तय किया गया। फलस्वरूप खाद्यान्नों की उपज १६५५-५६ में ६·५८ करोड़ टन से बढ़कर १६५६-५७ में ६·८८ करोड़ टन हो गई। परन्तु जहाँ एक ओर घाटे की अर्थ-व्यवस्था और साख के विस्तार से बड़ी मात्रा में विनियोग के कारण लोगों की आमदनी और खाद्यान्नों की माँग बढ़ गई वहाँ दूसरी ओर प्रतिकूल मौसम के कारण १६५७-५८ में खाद्यान्नों की कुल उपज घटकर ६·२५ करोड़ टन रह गई। बढ़ती हुई कीमतों का लाभ उठाने के लिये बड़े किसानों, व्यापारियों तथा कुछ उपभोक्ताओं ने भी खाद्यान्नों का संग्रह करना आरम्भ कर दिया। सरकार ने रिजर्व बैंक की सहायता से साख पर नियंत्रण किया और अनाज, विशेषतः चावल की बिना पर उधार देना कम कर दिया। अनाज के बड़े व्यापारियों के लिए लाइसेन्स लेना जरूरी कर दिया गया और सस्ते अनाज की दुकानें खोली गईं। जुलाई १६५७ में सरकार ने श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता में खाद्यान्नों की बढ़ती हुई कीमतों की जाँच करने के लिए एक समिति नियुक्त की। हम इस समिति की रिपोर्ट का विश्लेषण आगे चलकर करेंगे। सौभाग्य से पिछले वर्ष (१६५८-५६) में मौसम अनुकूल रहा और उपज बढ़ाने के प्रयत्नों को सफलता मिली जिससे खाद्यान्नों की कुल उपज ७·३५ करोड़ टन तक पहुंच गई जितनी अब तक कभी नहीं हुई; परन्तु इस वर्ष (१६५६-६०) उपज गत वर्ष की अपेक्षा लगभग १०-२० लाख टन कम होने का अनुमान है।[1] योजना आयोग ने तीसरी योजना के मसौदे में आगामी वर्ष (१६६०-६१) की उपज ७½ करोड़ टन मानी है; किन्तु देश के अनेक भागों में बाढ़ एवम् अनावृष्टि के कारण हमें भय है कि उपज इतनी नहीं हो पायेगी। फिर भी दूसरी योजना का खाद्यान्नों की उपज बढ़ाने का लक्ष्य पूरा हो जाने की आशा है। हाल में ही अन्न-संकट दूर करने के लिए किये गये उपायों में से भारत सरकार के वर्तमान खाद्य मंत्री श्री एस० के० पाटिल द्वारा अमेरिका की सरकार से किया गया समझौता भी उल्लेखनीय है जिसके अधीन भारत को आगामी चार वर्षों में अमेरिका से १·६ करोड़ टन गेहूँ और १० लाख टन चावल प्राप्त हो सकेगा। खाद्यान्नों का यह भण्डार प्राप्त हो जाने पर आशा की जाती है दिन-प्रतिदिन की चिन्ता से राहत मिलेगी और मँहगाई विशेष नहीं बढ़ने पायेगी।

तीसरी योजना में खाद्यान्न[2]—दूसरी योजना की अवधि में बराबर अन्न-संकट और मँहगाई ने यह सिद्ध कर दिया है कि देश की खाद्य-समस्या अभी हल नहीं हुई है। साथ ही नए अध्ययनों से पता चला है कि देश में जन-संख्या की वृद्धि की गति जितनी दूसरी योजना में मानी गई थी उससे अधिक हो रही है। अतएव खाद्यान्नों में

(1) The Times of India, June 8, 1960.

(2) Third Five Year Plan – A Draft outline ch. 8, p. 145 to 153.

आत्म-निर्भरता प्राप्त करना और उद्योगों तथा निर्यात के लिए खेती की उपज बढ़ाना तीसरी योजना का एक मुख्य उद्देश्य माना गया है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए तीसरी योजना का लक्ष्य खाद्यान्नों की उपज १९६०-६१ में ७'५ करोड़ टन से बढ़ाकर १९६५-६६ तक १०'०-१०'५ करोड़ टन तक ले जाने का रखा गया है, अर्थात् १९६५-६६ में १९६०-६१ की अपेक्षा खाद्यान्नों की उपज २३-४० प्रतिशत बढ़ाने का लक्ष्य रखा गया है। इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए तीसरी योजना में खेती एवम् सम्बन्धित कार्यों के लिए ६२५ करोड़ रुपयों का प्रावधान है। इसके अतिरिक्त सामुदायिक विकास और सहकार के लिए ४०० करोड़ रुपया रक्खा गया है। अनुमान है कि इस रकम का लगभग एक-तिहाई खेती की उपज बढ़ाने के काम आएगा। इसी तरह योजना में सिंचाई के साधनों के विकास के लिए ६५० करोड़ रुपए तथा उर्वरकों का उत्पादन बढ़ाने के लिए २४० करोड़ रुपए रखे गए हैं। इसके अतिरिक्त अनुमान है कि तीसरी योजना की अवधि में निजी क्षेत्र में खेती में लगभग ८०० करोड़ रुपयों का विनियोग होगा तथा योजना की अवधि में सहकारी संस्थाओं के द्वारा अल्प-कालीन, मध्य-कालीन और दीर्घ-कालीन ऋणों में क्रमशः ४०० करोड़ रुपये, १६० करोड़ रुपये और ११५ करोड़ रुपये बाँटे जाएँगे। तीसरी योजना में खाद्यान्नों की उपज के लक्ष्य प्राप्त करने के लिए जो मुख्य कार्य-क्रम अपनाये गये हैं वे ये हैं—(१) सिंचाई, (२) भू-संरक्षण, सूखी खेती और भूमि सुधार, (३) उर्वरकों और खादों की पूर्ति, (४) उत्तम हल और सुधरे हुए औजार। आशा की जाती है कि यह लक्ष्य प्राप्त होने पर भारत खाद्यान्नों के सम्बन्ध में आत्म-निर्भर हो सकेगा।

अशोक मेहता समिति की रिपोर्ट—भारत सरकार ने जुलाई १९५७ में श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता में खाद्यान्नों की जाँच के लिए एक समिति नियुक्त की थी। समिति की रिपोर्ट नवम्बर १९५७ में प्रकाशित हुई थी। हम इस अध्याय में स्थान-स्थान पर इस समिति का उल्लेख कर चुके हैं। इस प्रकरण में हम इसकी रिपोर्ट की मुख्य बातों पर प्रकाश डालते हैं।

मुख्य समस्या—समिति की राय में एक विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में कीमतों की वृद्धि की दीर्घ-कालीन प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है; परन्तु कीमतों में अचानक और अत्यधिक वृद्धि को रोका जाना चाहिये। समिति के अनुसार भारत में १९५३ और ५५ के बीच में अनाज की कीमतों में ३४ प्रतिशत गिरावट आई जबकि १९५७ में ५१ प्रतिशत वृद्धि हो गई। अनाज की कीमतों में इस प्रकार अस्थिरता रहने से किसानों की आमदनी और रहन-सहन के खर्च में तथा उत्पादन लागत और रोजगार में उतार-चढ़ाव आते हैं जिन्हें दूर करना हमारी मुख्य समस्या है।

अनाज की कीमतें बढ़ने के कारण—समिति के अनुसार कुछ वर्षों में भारत में अनाज की कीमतें निरंतर बढ़ने के मुख्य कारण निम्नांकित हैं :—

(१) सन् १९५३-५४ और १९५६-५७ के बीच योजना के अधीन बड़ी मात्रा में विनियोग हुआ और इस विनियोग को सम्भव बनाने के लिए बड़ी मात्रा में साख का विस्तार किया गया तथा घाटे की अर्थ-व्यवस्था की गई। समिति की राय में भारत में मंहगाई मूलतः विकास की गति और इसकी वित्तीय व्यवस्था के ढंग के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुई है।

(२) आर्थिक विकास के कारण देश के कई वर्गों की आमदनी पूर्वापेक्षा बढ़ी है। इसके फलस्वरूप उनके उपभोग की मात्रा और ढांचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। विशेषरूप से जिन लोगों की आमदनी बढ़ी है उनकी खाद्य और उपभोग की वस्तुओं की माँग बढ़ गई है और वे मोटे अनाज की जगह गेहूँ, चावल आदि बढ़िया अनाज का अधिक मात्रा में उपयोग करने लग गये हैं।

(३) मँहगाई का लाभ उठाने के लिए व्यापारियों और बड़े उत्पादकों ने अनाज का संग्रह करना आरम्भ कर दिया है।

(४) कभी-कभी किसी खास अनाज की पूर्ति में परिवर्तन होने से भी अनाज की कीमतों में वृद्धि की प्रवृत्ति को बल मिला है। उदाहरण के लिए १९५५-५६ में ज्वार-बाजरा की फसल खराब होने से लोगों की गेहूँ की माँग बढ़ गई और दोनों ही पदार्थों की कीमतें बढ़ने लगीं।

(५) समिति के अनुसार कीमतों में परिवर्तन की दृष्टि से कुल उपज में घटा-बढ़ी इतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी बाजार में बिकने के लिए आने वाली मात्रा में परिवर्तन। समिति की राय है कि किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार और साख की उदार पूर्ति के कारण किसानों में संग्रह वृत्ति बढ़ जाने से जो लोग खेती नहीं करते हैं उनके लिए खाद्यान्नों की पूर्ति घट गई है।

(६) देश में कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ वर्षा की कमी एवम् अनिश्चितता के कारण समय-समय पर अन्न संकट पैदा होता रहता है और इन क्षेत्रों से मँहगाई की प्रवृत्ति दूसरे स्थानों में भी फैल जाती है।

खाद्य-समस्या का उपचार—अशोक मेहता समिति ने अनुमान लगाया है कि दूसरी योजना की अवधि में १·५५ करोड़ टन के संशोधित लक्ष्य की तुलना में अनाज की उपज में वास्तविक वृद्धि १·०३ टन ही सम्भव हो सकेगी और प्रतिवर्ष २०-३० लाख टन अनाज विदेशों से मँगवाना पड़ेगा।

समिति की राय में खाद्य समस्या के हल के लिए अबाध निजी व्यापार और १९५३ की भाँति पूर्ण कन्ट्रोल के बीच का मार्ग अपनाना पड़ेगा। समिति की राय में कन्ट्रोल का उद्देश्य प्रतिबन्ध लगाना न होकर अनाज की पूर्ति में होने वाली घटा-बढ़ी का नियंत्रण और नियमन होना चाहिये। हमारा उद्देश्य खाद्यान्नों और सम्बन्धित वस्तुओं के मूल्यों में स्थिरता लाना होना चाहिये; परन्तु कीमतों का बिल्कुल स्थिर

रखना न तो सम्भव ही है और न वांछनीय ही है। यदि कीमतों में धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहे तथा साथ ही लागत और आमदनी भी बदलती रहे तो कोई एतराज नहीं, परन्तु जब लागत और आमदनी अपरिवर्तित रहती है और कीमतें बदल जाती है तो कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। अतएव समिति की राय में हमारा उद्देश्य खाद्यान्नों के मूल्य में स्थिरता लाना होना चाहिये।

मूल्य स्थिरीकरण की नीति निर्धारित करने और कार्यक्रम बनाने के लिये समिति ने "मूल्य स्थिरीकरण मण्डल" (Price Stabilization Board) की स्थापना का सुझाव दिया है। इसकी सहायता के लिये एक "गैर-सरकारी केन्द्रीय खाद्य सलाहकार परिषद" और अखिल भारतीय और क्षेत्रीय आधार पर कीमतें-सूचनांक तैयार करने के लिए "मूल्य-ज्ञान विभाग" (Price Intelligence Division) होना चाहिये।

खाद्यान्नों के क्रय-विक्रय द्वारा मूल्य-स्थिरीकरण की नीति को कार्यान्वित करने के लिए समिति ने "खाद्यान्न स्थिरीकरण संगठन" (Foodgrains Stabilization Organisation) की स्थापना की राय दी है। यह संगठन अन्तस्थ भन्डार (Buffer Stock) रखेगा और भाव बढ़ने पर खाद्यान्नों को बेचेगा तथा भाव घटने पर खाद्यानों की खरीद करेगा। आगे चलकर यह संगठन देश का प्रधान व्यापारी बन जायगा और थोक व्यापार का बड़ा भाग अपने हाथ में ले लेगा। इस प्रकार अन्ततः देश में थोक व्यापार का उत्तरोत्तर आयोजित समाजी-करण हो जायगा। समिति की राय में संक्रांति काल में जब तक मुद्रा स्फीति और अन्नाभाव प्रचलित रहता है, राज्य को भण्डार भरा रखने के लिए अनिवार्य वसूली करनी चाहिये तथा अभाव ग्रस्त क्षेत्रों में उचित मूल्य पर अनाज की पूर्ति करनी चाहिये।

अन्य सुझाव—समिति ने अपनी योजना की सफलता के लिए कुछ और सुझाव दिये हैं।

(१) अनाज के सभी बड़े व्यापारियों और उत्पादकों के लिए लाइसेन्स लेना जरूरी होना चाहिये।

(२) खाद्यान्न स्थिरीकरण संगठन को अन्तःस्थ-भंडार के अतिरिक्त २० लाख टन का सुरक्षित भण्डार भी रखना चाहिए। इसके लिये अमेरिका तथा बर्मा आदि देशों से दीर्घकालीन समझौता किया जाना चाहिये।

(३) खाद्यान्नों के वितरण के लिए सस्ते अनाज की दुकानें खोली जानी चाहियें और सहकारी समितियों और नियोक्ताओं के संगठनों के जरिये अनाज का वितरण किया जाना चाहिये। गरीब लोगों को कम कीमत पर अनाज दिया जाना चाहिये एवम् सस्ते अनाज की दुकानें न लाभ और न हानि के आधार पर चलाई जानी चाहियें।

(४) समिति की राय में खाद्यक्षेत्रों की नीति जारी रहनी चाहिए और आर्थिक विकास में अभावग्रस्त क्षेत्रों को प्राथमिकता देनी चाहिये तथा पूरक खाद्यान्नों का उपभोग बढ़ाया जाना चाहिये और अन्तिम किन्तु सबसे महत्वपूर्ण उपज बढ़ाने के प्रयत्न किये जाने चाहियें।

उपज बढ़ाने के लिए समिति ने कोई नई बात नहीं सुझाई है और सिंचाई का विस्तार करने, बीजों तथा खादों की पूर्ति बढाने, भूमि सुधार करने और जनसंख्या का नियंत्रण करने के सुझाव दिए हैं।

यद्यपि समिति की ये सिफारिशे अमल में नही लाई गई है तथापि सरकार ने खाद्यान्नों की कीमतों पर नियंत्रण करने के लिए दूसरे उपाय काम में लिये है जिनमें मुख्यत: निम्नांकित हैं :—

(क) अनाज के बड़े विक्रेताओं के लिए लाइसेन्स लेना अनिवार्य कर दिया गया है जिससे कि सट्टे पर नियंत्रण रक्खा जा सके।

(ख) चुने हुए स्थानों पर सस्ते अनाज की दुकानें शुरू की गई हैं।

(ग) कहीं कहीं संशोधित रूप में राशन भी लागू किया गया है।

(घ) बैंकों से ऋण लेकर अनाज का सट्टा रोकने के लिए रिजर्व बैंक की सहायता से साख-नियंत्रण के लिये कदम उठाये गये हैं और देश में अनाज की कमी को पूरा करने के लिये अनाज के आयात की व्यवस्था की गई है और अनाज वसूली का कार्यक्रम अपनाया गया है।

(ङ) सरकार ने अशोक मेहता समिति के सुझावों को ध्यान में रखते हुये एक स्थायी "कृषि पदार्थ सलाहकार समिति" (Agricultural Commodities Advisory Committee) स्थापित करने का निश्चय किया है जो खेती की चीजों की कीमतें तय करने और उत्पादन के मिले जुले कार्यक्रम बनाने में सरकार को सलाह देगी। साथ ही एक गैर-सरकारी "किसान मण्डल" (Farmers Panel) के बनाने का भी विचार है जो कीमतों और उपज के सम्बन्ध में स्थायी समिति को राय देगा।[1]

खाद्यान्नों का सरकारी व्यापार—नवम्बर १९५८ में भारत सरकार ने खाद्यान्नों में सरकारी व्यापार की योजना लागू करने का निर्णय किया। इसके अनुसार उत्पादकों से नियंत्रित कीमतों पर अनाज खरीदने के लिये राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation) की स्थापना करेगी। कोई निजी व्यापारी सरकार से लाइसेंस लिए बिना अनाज नहीं खरीद सकेगा और जिनको लाइसेन्स दिया जायगा उन्हें किसानों को सरकार द्वारा निश्चित न्यूनतम कीमत देनी पड़ेगी। सरकार को अधिकार होगा कि लाइसेन्स प्राप्त व्यापारियों से नियंत्रित भाव पर अनाज प्राप्त कर सके

1. Indian Express, August 25, 1960.

लाइसेन्स प्राप्त व्यापारियों का कर्त्तव्य होगा कि वाकी बचे हुए अनाज को फुटकर विक्रेताओं को सरकार द्वारा निश्चित भावों पर बेचे। फुटकर कीमतों पर सीधा कन्ट्रोल नहीं किया जाएगा लेकिन सस्ते अनाज की दुकानों और उपभोक्ताओं के सहकार भण्डारों को अनाज की पूर्ति करके फुटकर कीमतों को प्रभावित किया जा सकेगा। साथ ही यदि राज्य सरकार चाहे तो फुटकर कीमतों पर भी कन्ट्रोल स्थापित कर सकेगी। सरकार मण्डी में आने वाली कुल पूर्ति को नहीं खरीदेगी, परन्तु सरकार द्वारा खरीदी जाने वाली मात्रा मे उत्तरोत्तर वृद्धि की जाएगी ताकि सरकार का मण्डी पर नियंत्रण स्थापित हो सके।

अन्ततः खाद्यान्नों में सरकारी व्यापार की जो व्यवस्था स्थापित होगी, उसमें गाँवों में सरकारी सेवा समितियाँ अपने क्षेत्र के किसानों से अनाज खरीद कर सहकारी बिक्री संगठनों द्वारा उपभोक्ताओं की सरकारी समितियों को अनाज पहुँचावेगी। इस प्रकार अनाज के थोक व्यापार में निजी व्यापारियों का स्थान सहकारी संस्थाएँ ले लेंगी। इस प्रकार बीच के आदमियों में कमी होने से आशा की जाती है कि उपभोक्ता द्वारा दी जाने वाली और उत्पादकों को मिलने वाली कीमत में अन्तर कम हो जाएगा और उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों दोनों को उचित कीमतों का लाभ मिल सकेगा।

अप्रैल १९५९ में घोषणा की गई कि आरम्भ में सरकारी व्यापार का क्षेत्र केवल चावल और गेहूँ तक सीमित रहेगा और यह न लाभ और न हानि के आधार पर किया जाएगा।

खाद्यान्नों के सरकारी व्यापार की नीति भारत की समाजवादी ढंग की समाज-व्यवस्था के अनुकूल ही है। समाजवादी देशों में आर्थिक विकास की महत्वाकांक्षी योजनाएं अपनाने से पहले प्रायः आवश्यक पदार्थों के व्यापार का राष्ट्रीय-करण कर दिया जाता है। अनाज जैसी आवश्यक वस्तुओं का व्यापार सरकारी हाथ में होने से राज्य द्वारा रहन-सहन के खर्चे पर प्रत्यक्ष नियंत्रण किया जा सकता हैं तथा सट्टेबाज व्यापारियों द्वारा की जाने वाली भावों की घटा-बढ़ी नहीं होने पाती और जनता को लगभग एक से भाव पर अनाज मिलता है। साथ ही अनाज की कीमतों पर नियंत्रण द्वारा रहन-सहन का खर्चा सीमित रहने से देश में बड़ी मात्रा में बचत और पूँजी निर्माण सम्भव हो सकता है।

परन्तु खाद्यान्नों के सरकारी व्यापार की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि सरकार के पास व्यावहारिक अनुभव प्राप्त कर्मचारी हों; । इसके अलावा इस प्रस्ताव के विरोध में यह कहा जाता है कि जब योजना के कार्यों को आगे बढ़ाने के लिए रुपयों की कमी पड़ रही हो उस समय सरकार के लिए बहु-साध्य योजना हाथ में लेना उचित नहीं है। साधनों की कमी के अतिरिक्त बड़ी मात्रा में अनाज के संग्रह के लिये

गोदामों की बहुत कमी है। निजी क्षेत्र के व्यापारियों का सहयोग नहीं मिलने पर भी यह योजना असफल हो सकती है। अतः इतनी बड़ी जिम्मेदारी का काम हाथ में लेने से पहले यथेष्ट गोदामों और अनुभवी कर्मचारियों का होना अत्यावश्यक है।

खाद्यान्नों के आयात पर संक्षिप्त टिप्पणी

खाद्य समस्या के अध्ययन में हमने देखा कि जब कभी मण्डी में खाद्यान्नों की पूर्ति में कमी हो जाती है और कीमतें बढ़ने लगती हैं तो सरकार को कीमतों में वृद्धि रोकने के लिए अनाज की पूर्ति करनी पड़ती है। मण्डी में अनाज की पूर्ति करने के लिए सरकार को या तो बड़ी मात्रा में विदेशों से अनाज मँगवाना पड़ता है या किसानों से अनाज की वसूली करनी पड़ती है। संकट काल में प्रायः विदेशी राज्यों की मदद से अनाज का आयात किया जाता है; क्योंकि वसूली के मुकाबले यह आसान रहता है। इसलिए हम देखते हैं कि यद्यपि पहिले १०-१२ वर्षों में भारत में जनसंख्या की वृद्धि की तुलना में खाद्यान्नों की उपज में अधिक वृद्धि हुई है तथापि अनाज का आयात बराबर होता रहा है। निम्नांकित तालिका में भारत में अनाज के आयात के आँकड़े संग्रहित है :—

वर्ष	आयात की मात्रा (लाख टनों में)	आयात की लागत (करोड़ रुपयों में)	वर्ष	आयात की मात्रा लाख टनों में
१९४४	६·४	१३·०	१९५४	
१९४५	८·५	२०·४	१९५५	७·०
१९४६	२२·५	७६·१	१९५६	१४·०
१९४७	२३·३	५३·७	१९५७	३६·८
१९४८	२६·४	१२९.५	१९५८	३१·८
१९४९	३७·०	१४६·०	१९५९	३८·१
१९५०	२०·३	१५०·०		
१९५१	४७·०	२१६·०		
१९५२	३९·०	२१०·०		
१९५३	२०·०	८६·०		
जोड़	२५३·४	११४२·७		

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है १९४४ से १९५३ के दस वर्षो में भारत ने लगभग ११४३ करोड़ रु० की लागत का २·५३ करोड़ टन अनाज विदेशों से मँगवाया। यदि हमें विदेशों से अनाज नहीं मंगाना पड़ता तो इतने रुपयों से हमारी पहली पंच-वर्षीय योजना की आधी से ज्यादा लागत निकल सकती थी और यदि यह रुपया अनाज

की ऊपज बढ़ाने पर खर्च किया जाता तो हम अनाज के मामले में कभी के आत्म-निर्भर हो सकते थे।

अनाज के आयात से भुखमरी से बचा जा सकता है और मुद्रा-स्फीति को एक सीमा तक नियंत्रित किया जा सकता है। सरकारी तौर पर आयातित अनाज सीधा सरकार के पास इच्छानुसार वितरण करने के लिए उपलब्ध होता है और यदि आयात सहायतार्थ या उधार प्राप्त होता है तो सरकार को तत्काल मूल्य नहीं चुकाना पड़ता और इस प्रकार बचा हुआ रुपया दूसरे कार्यों में लगाया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार आयातित अनाज की मात्रा कम होती है। साधारण तौर पर व्यापारिक तरीकों से बड़ी मात्रा में अनाज मंगवाने से व्यापार की बाकी देश के विपक्ष में हो जाती है और निर्यातों द्वारा प्राप्त विदेशी मुद्रा आर्थिक विकास के लिए आवश्यक साज-सामान और मशीनें मंगाने की जगह अनाज मंगाने में खर्च करनी पड़ती है। कभी-कभी अनाज के आयात के लिए दुर्लभ मुद्रा विदेशों से उधार लेनी पड़ती है। विदेशों से आयातित अनाज कुछ गिने चुने बन्दरगाहों पर उतार कर देश भर में बांटना पड़ता है जिससे देश की परिवहन प्रणाली पर भी अत्यधिक भार पड़ता है। फिर अक्सर देखा गया है कि विदेशी अनाज मंहगा पड़ता है और सरकार को घाटा खाकर सस्ते भाव पर बेचना पड़ता है जो विदेशी उत्पादकों और निर्यात-कर्त्ताओं को सहायता के रूप में प्राप्त होता है। फिर आयातों पर निर्भर रहने से देश के आत्मसम्मान को चोट लगती है और युद्ध-काल में विदेशों पर आश्रितता से भयानक स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इन सब बातों को देखते हुए अनाज के आयात पर निर्भरता जितनी कम की जासके उतनी अच्छी है। विशेष रूप से एक कृषि-प्रधान देश के लिए अनाज के मामले में विदेशों पर निर्भर रहना बड़ी लज्जा की बात है। हमारा पक्का विश्वास है कि जितना रुपया विदेशों से अनाज मंगवाने में खर्च किया गया है अगर उतना ही रुपया देश में अनाज की उपज बढ़ाने में खर्च किया जाता तो भारत अनाज के मामले में कभी का आत्म-निर्भर हो जाता।

यद्यपि हमें उन देशों के प्रति अनुगृहीत होना चाहिये जिन्होंने संकट के समय अनाज भेजकर हमारी सहायता की है तथापि हमारा भला इसी में है कि हम जितना जल्दी हो सके अनाज के मामले में स्वावलम्बी बन जाएँ। हमारे विचार से तो सुरक्षित भण्डार इकट्ठा करने के लिए भी विदेशों की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं है। सरकार को चाहिये कि साधारणतः देश में अनाज की जितनी कमी होती है कम से कम उतना अनाज सूरतगढ़ के सरकारी फार्म की तरह अन्य सरकारी फार्मों पर पैदा करके, पूरा करे।

निस्संदेह उत्पादकों से अनाज की अनिवार्य वसूली में दिक्कतें आती हैं; परन्तु यदि सरकारी मालगुजारी नगदी की जगह जिन्स में वसूल की जा सके तो आसानी से बड़ी

मात्रा में अनाज संग्रह किया जा सकता है। इन तरीकों को अपना कर विदेशों पर आश्रितता कम की जानी चाहिये।

परीक्षा के प्रश्न

University of Rajasthan, B. A.

(1) Give an account of our present Food situation. What measures are being adopted to tackle this problem?

(1959, also in Agra University, 1959)

(2) The most urgent economic problem of India today is the problem of population versus food. What solution of the problem would you offer and why? (1960)

सन्दर्भ ग्रन्थ

(1) R. K. Mukerjee: Food Planning for 400 Millions.

(2) Reports of the Foodgrains Policy Committee, 1943 & 1948.

(3) A. Ghosh: Indian Economy, ch. 12, (1959).

(4) D. Bhattacharya: Understanding India's Economy (1959), Supplementary notes I.

सतरहवाँ अध्याय

भारतीय कृषि की कम उपज और कृषि-सुधार

कृषि भारत का राष्ट्रीय उद्योग है। परन्तु दुर्भाग्य से भारतीय कृषि की दशा बिगड़ी हुई है। हमारे कृषक अत्यन्त निर्धन और ऋणग्रस्त हैं और हमारा देश आज भी खाद्यान्नों और बढ़िया रुई तथा पटसन जैसे कच्चे माल के लिए भी विदेशों पर निर्भर है। इसका प्रमुख कारण हमारे देश में प्रति एकड़ औसत उपज का बहुत कम होना है।

खेती की कम उपज—निम्नांकित तालिका में कुछ चुने हुए देशों की चुनी हुई वस्तुओं के प्रति एकड़ औसत उपज के आँकड़े संग्रहित हैं[1]—

देश	पाउण्ड प्रति एकड़					
	चावल	गेहूँ	मकई	गन्ना	रुई	मूंगफली
१—भारत	१२०९ (१·०)	६४० (१·०)	७३२ (१·१)	२९०९५ (१·०)	७७ (१·०)	८२२ (१·०)
२—पाकिस्तान	१२४४ (१·०)	६५८ (१·०)	९४८ (१·३)	२७०२ (१·०)	१९६ (२·६)	—
३—चीन	२३८७ (२·०)	७६६ (१·२)	—	३५४३८ (१·२)	२३४ (३·९)	११५१ (१·४)
४—जापान	३७५० (३·१)	१८६७ (२·९)	१७४८ (२·४)	—	८९ (१·२)	१४३४ (१·७)
५—मिस्र	४६२८ (३·८)	२०९१ (३·३)	१९८७ (२·७)	७८३४१ (२·७)	४६० (६·९)	१७८४ (२·१)
६—बेलजियम	—	२७७३ (४·३)	४२७३ (५·८)	हवाई १७७५१५ (६·१)	—	—
७—अमेरिका	३०३० (२·५)	१२०१ (१·९)	२४६२ (३·४)	४८४३९ (१·७)	३३९ (४·४)	११२३ (१·४)
८—रूस	१९१८ (१·६)	८३० (१·३)	९५५ (१·३)	—	२०५ (३·७)	—

1. Indian Agriculture in Brief, Ministry of Agriculture, Govt. of India (April 195?), pp. 36 to 39.

कोष्ठक में दिये हुए आँकड़े यह प्रगट करते हैं कि अन्य देशों में प्रति एकड़ उत्पत्ति भारत से कितनी गुनी है।

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि भारत में प्रमुख फसलों की प्रति एकड़ उपज संसार के अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। उदाहरण के लिए—

जापान में चावल की औसत प्रति एकड़ उत्पत्ति हमसे ३ गुनी से अधिक, बेलजियम में गेहूँ और मकई की औसत प्रति एकड़ उत्पत्ति हमसे क्रमशः ४ गुनी और ३ गुनी, हवाई में गन्ने की उत्पत्ति हमसे ६ गुनी, मिस्र में रुई की प्रति एकड़ उत्पत्ति हमसे ६ गुनी, और मूँगफली की हमसे २ गुनी से भी अधिक है।

परन्तु इन आँकड़ों से हमें यह नतीजा नहीं निकालना चाहिए कि किसी खास देश में किसी फसल की जो अधिकतम उपज है वह हमें प्राप्त हो सकती है। क्योंकि किसी फसल की अधिकतम उपज कितनी हो सकती है यह वहाँ की जलवायु एवम् मिट्टी के गुणों आदि पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि जो देश भूमि से अधिक उपज प्राप्त कर रहा है ऐसे उपाय काम में ला रहा हो जिनमें भूमि की उपजाऊ शक्ति पर भविष्य में प्रतिकूल असर पड़ सकता है, हमारे लिए ऐसे उपायों को अपनाना हितकर नहीं होगा जो अल्प काल में अधिक उपज पैदा कर सकें किन्तु जिनसे अन्ततः हमें नुकसान उठाना पड़े। यद्यपि हमें उपर्युक्त तथ्यों को सदा ध्यान में रखना चाहिए फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत में खेती की उपज जितनी प्राप्त की जा सकती है उससे बहुत कम है। देखा गया है कि कई फसलों की औसत प्रति एकड़ उपज अलग अलग राज्यों में अलग-अलग है और कुछ फसलों की उपज तो एक ही राज्य में अलग-अलग, जिलों और गांवों में अलग-अलग, किसानों के खेतों में अलग अलग पाई जाती है। जो किसान भरपूर परिश्रम करते हैं और खेती के उन्नत उपायों को काम में लाते हैं तथा जिनके पास सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध हैं वे उसी प्रकार की जमीनों में दूसरे किसानों के मुकाबले में बहुत अच्छी उपज प्राप्त कर लेते हैं। पिछले कुछ वर्षों से देश में कई राज्यों में फसल-प्रतियोगिताओं का आयोजन किया गया है। इनसे भी प्रगट होता है कि प्रयत्न करने पर औसत उत्पत्ति कई गुनी बढ़ाई जा सकती है। इससे हम समझ सकते हैं कि हमारे देश में खेती की प्रति एकड़ उपज बढ़ने की कितनी सम्भावना है।

भारत की खेती के पिछड़े होने के कारण

(१) **प्राकृतिक कारण:**—यद्यपि भारत को प्रकृति की ओर से अनेक वरदान प्राप्त हैं तथापि कुछ प्राकृतिक कारण ऐसे हैं जिनकी वजह से कभी खेती करने वालों को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इनमें से मुख्य निम्नांकित हैं:—

(क) अच्छी उपज के लिए यथेष्ट पानी की आवश्यकता होती है। सिंचाई के साधनों के अभाव में खेती करने वालों को प्राकृतिक वर्षा पर निर्भर करना पड़ता है।

हमारे देश में अनेक प्रदेश ऐसे हैं जहाँ वर्षा का वार्षिक औसत बहुत कम है और कई क्षेत्र ऐसे है जहाँ औसत ठीक होने पर भी वर्षा की बड़ी अनिश्चितता रहती है। कभी-कभी बहुत पानी बरस जाता है और बाढ़ों के कारण खेती की तबाही हो जाती है तो कभी सूखा पड़ जाता है और फसलें जल जाती हैं। अतिवृष्टि और अनावृष्टि दोनों ही से फसलें बिगड़ जाती हैं।

(ख) भारत की जलवायु भी अधिक गरम होने से लगातार कठिन परिश्रम के लिए उपयुक्त नही हैं। इसका प्रभाव हमारे श्रमिकों की दक्षता पर विपरीत पड़ता है।

(ग) फसलों में अनेक प्रकार के रोग लग जाते हैं जिनसे फसलें खराब हो जाती हैं। इसी प्रकार अनेक छोटे बड़े जानवर तथा कीड़े आदि प्रतिवर्ष फसलों को भारी क्षति पहुंचाते है।

(घ) भारत के पशु-धन के अध्याय में हम बतला चुके हैं कि यद्यपि भारत में पालतू-पशुओं की संख्या संसार में अधिक है; किन्तु कु-पोषण, अनियंत्रित प्रजनन, और अनेक रोगों के कारण हमारे पशु बहुत निर्बल हैं। भारत में खेती की दृटि से मजबूत बैलों का बड़ा महत्व है और ऐसे बैलों के अभाव में खेती पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(२) मनुष्य की असावधानी, दुरुपयोग और उपेक्षा के कारण भी कई प्राकृतिक साधन खराब हो गए हैं।

(क) खेतों पर लगातार भारी फसलों के उगाने और यथेष्ट मात्रा में खाद नहीं पहुँचाने से भारतीय भूमि की उपजाऊ शक्ति कम हो गई है।

(ख) भूमि के कटाव से भी धीरे-धीरे उपजाऊ शक्ति का ह्रास हो रहा है और विस्तृत क्षेत्र खेती के योग्य नहीं रहे हैं।

(ग) संयुक्त परिवार प्रणाली के कमजोर पड़ने तथा भूमि पर जन-भार बढ़ने व उत्तराधिकार नियमों के कारण भूमि का बँटवारा होने से खेतों का आकार बहुत छोटा होगया है तथा सभी खेत एक जगह नहीं होकर बिखरे हुए रहते हैं जिससे आधुनिक यंत्रों तथा उन्नत उपायों से खेती नहीं की जा सकती। ऐसे खेतों पर खेती करने से उपज कम मिलती है और लागत ज्यादा बैठने से लाभ नहीं रहता।

(घ) खेती के लिए भूमि को समतल बनाकर, पानी के बहाव की नालियाँ खोदकर, बाढ़ लगाकर, सिंचाई के साधनों का विकास करके भूमि को सुधारा जाता है। इगलैंड आदि पाश्चात्य देशों में जमींदार किसानों को आकर्षित करने के लिए भूमि का स्थायी सुधार करते हैं। परन्तु भारत में भूमि पर स्थायी सुधार का बड़ा अभाव है। देश में रोजगार के अन्य साधनों के अभाव में, कृषि पर जन-भार की बराबर वृद्धि हो रही है और खेती करने के लिए भूमि की बड़ी माँग है, चाहे भूमि पर सुधार भी नहीं किया गया हो। इसलिए जमींदार लोग प्राय: भूमि का सुधार करने में दिलचस्पी नहीं लेते। किसान लोग भी गरीबी, अज्ञानता और मार्ग-प्रदर्शन के अभाव में सुधार करने में

असमर्थ हैं । फिरहाल के सुधारों के पहले तक जिन किसानों के पास साधन होते थे वे भी बेदखली और लगान वृद्धि के भय से भूमि पर स्थायी सुधार करने में हिचकते थे। स्वाधीनता मिलने तक राज्य भी कृषि सुधार में इतनी दिलचस्पी नहीं लेते थे। इन सब कारणों से भारत में भूमि पर स्थायी सुधारों का बड़ा अभाव है।

(३) श्रमिकों में दक्षता का अभाव :—हमारे देश में साधारण श्रमिकों में दक्षता का अभाव है। कहा जाता है कि 'खेती की शृङ्खला में सबसे निर्बल कड़ी स्वयं कृषक है।' किसानों का जीवन-स्तर बहुत नीचा है। वे भाग्य परायण होते हैं और उनमें उन्नति की भावना का सर्वथा अभाव होता है। उनका स्वास्थ्य खराब होता है, वे अशिक्षित और परिवर्तन-विरोधी होते हैं।

(४) पूँजी का अभाव :—दूसरे उद्योगों की तरह खेती की उपज भी खेती में लगाई गई पूँजी की मात्रा पर निर्भर करती है । परन्तु भारत के अधिकांश किसान बहुत गरीब हैं और उनको खेती में लगाने के लिए पूँजी प्राप्त करने की सुविधाएँ भी सीमित हैं। इस कारण हमारे देश में खेती में 'चल' और 'अचल' पूँजी का अभाव है। किसानों की कुल पूँजी हल, बैल, चरस, फावड़े और टोकरी इत्यादि हैं। कई किसानों के पास तो ये आवश्यक वस्तुएँ भी नहीं मिलेंगी। इनके पास उत्तम खाद, उत्तम बीज, उत्तम औजार और उत्तम बैल खरीदने के लिए पूँजी नहीं है। प्रगतिशील देशों में हल जोतने, बीज बोने, फसल काटने, तथा भूसा उड़ाने, पानी निकालने आदि के लिए बड़ी-बड़ी मशीनें काम में ली जाती हैं। परन्तु भारत में पौराणिक काल के कृषि यंत्र, साधारण बीज और नाममात्र के खाद काम में लिए जाते है। फलस्वरूप हमारी उपज बहुत कम है।

(५) बिक्री की सुविधाओं का अभाव :—भारत में खेती की उत्पत्ति की बिक्री के लिए उचित प्रबन्ध नहीं है; फलस्वरूप खेती की वस्तुओं के लिए जो कीमत उपभोक्ता देते हैं और जो कीमत उत्पादक (किसान) को मिलती है, उसमें अत्यधिक अन्तर रहता है। किसान को लगान और ब्याज की किश्त चुकाने और घर के लिये रुपये की इतनी अधिक आवश्यकता होती है कि फसल तैयार होते ही बेचनी पड़ती है और उस समय पूर्ति की अधिकता से बहुत कम कीमत मिलती है। कभी-कभी तो खेत में खड़ी फसल ही नाममात्र की कीमत पर बेच दी जाती है । इस प्रकार बाद की ऊँची कीमतों का लाभ किसानों को नहीं मिलता । खेती की उत्पत्ति को मण्डी तक ले जाने के लिए अच्छी सड़कों के अभाव में बड़ी कठिनाई और अधिक व्यय होता है। इसलिये अधिकांश किसान तो अपनी उत्पत्ति गाँव ही में बेच देते हैं। जो माल को मंडी में ले जाते हैं उन की बानगी, दलाली, आढ़त, तुलाई, शागिर्दी, धर्मार्थ में बहुत व्यय होता है और चालाक तथा बेईमान खरीदार जो मिले हुए होते हैं; बहुत कम कीमत में माल खरीद लेते हैं।

इस प्रकार किसान को अपने माल के विनिमय में बहुत कम कीमत मिलने से उपज बढ़ाने की प्रेरणा नहीं मिलती।

(६) सहायक उद्योग-धन्धों का अभाव :—खेती की एक विशेषता यह है कि इस व्यवसाय मे किसान को बारह महिने खेत पर काम नहीं होता है। बहुत दिनों तक उसे कुछ भी काम नहीं रहता और कई दिन केवल थोड़े समय के लिये काम करना होता है। परिवार के अन्य सदस्यों के लिए यह बात और भी लागू है। लेकिन सहायक उद्योग-धन्धों (Subsidiary Industries) के अभाव में हमारे कृषक इस समय का उत्पादक उपयोग नहीं कर सकते हैं।

(७) लेने-देने की सुविधाओं का अभाव :—किसानों को पूंजी उधार लेने की सुविधाओं का अभाव है। उन्हें ऋण के लिए स्थानीय साहूकार या महाजन पर आश्रित रहना पड़ता है। साहूकार लोग अपने एकाधिकार का दुरुपयोग करके बहुत अधिक ब्याज लेते हैं और ऋण के साथ कड़ी शर्तें जोड़ देते हैं। एक बार इनके चंगुल में फँसने के बाद किसान के लिए छुटकारा पाना असम्भव है। 'किसान ऋण में जन्म लेता है, ऋण में रहता है और ऋण ही में मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।' कई साहूकार यह जानते हुए भी कि किसान कर्जा नहीं लौटा सकेगा, उदारतापूर्वक ऋण देते हैं और जब वक्त पर कर्जा नहीं लौटाया जाता है तो कर्जदार पर दावा करके उसकी जमीन की कुड़की और नीलाम करवा देते हैं और प्रायः खुद ही उस जमीन को खरीद लेते हैं। इस प्रकार जमीन खेती करने वालों के हाथ से निकल कर दूसरे लोगों के हाथ में चली जाती है।

(८) जमींदारी प्रथा :—हाल के सुधारों के पहले भारत में जमींदारी, जागीरदारी ताल्लुकेदारी, बिस्वेदारी आदि भू-धारण प्रणालियां का बोलबाला था। इन प्रथाओं के अन्तर्गत जमीन के मालिक ऐसे मध्यस्थ लोग होते थे जो खुद खेती नहीं करते थे और खेती के लिए जमीन आसामियों को लगान पर देते थे। ये लोग जमीन को सुधारने में दिलचस्पी नहीं लेते थे और किसानों से बहुत ऊँचा लगान लेते, और गैर-कानूनी लागें एवं बेगार लेते और हर तरह से किसानों का शोषण करते थे। बेदखली के भय और गरीबी के कारण किसान खुद जमीन पर सुधार नहीं करते थे और उन्हें उपज बढ़ाने के लिए कोई प्रेरणा नहीं रहती थी।

(९) कृषि पर जन-भार वृद्धिः—कृषि पर जन-भार बहुत बढ़ गया है। उद्योग-धन्धों के अभाव में बढ़ती हुई जन-संख्या का भार खेती पर पड़ना स्वाभाविक है। फलस्वरूप प्रति किसान-औसत आय बहुत कम हो गई है।

(१०) धार्मिक और सामाजिक वातावरणः—एक सीमा तक किसानों के धार्मिक विश्वास और सामाजिक रीति-रिवाज भी खेती के पिछड़ेपन के लिए जिम्मेदार हैं। कई किसान धार्मिक अन्ध-विश्वास के कारण हड्डी की खाद या अन्य प्रकार की खादें

नहीं काम में लाते हैं तथा फसल का नाश करने वाले जानवरों व कीड़ों आदि को मारना भी पाप समझते हैं। इसी प्रकार सामाजिक रूढ़ियों के दास होने से अधिकांश किसान जब फसल अच्छी होती है तो अपनी कमाई का रुपया खेतों को सुधारने में लगाने की जगह शादी-विवाह, नुकते-नाकों या तीर्थ-यात्रा में खर्च कर देते हैं। कुछ लोग लकीर के फकीर होने से खेती के नए और उत्तम तरीकों को अपनाने के पक्ष में नहीं हैं।

कृषि-सुधार और उन्नत खेती की ओर

भारत एक कृषि-प्रधान देश है और औद्योगिक विकास के बाद भी कृषि-प्रधान ही रहेगा। अतएव भारत के आर्थिक विकास के लिये खेती की उन्नति आवश्यक है। इसीलिए भारत के आर्थिक विकास की योजनाओं में खेती की उन्नति को प्राथमिकता दी जानी चाहिये। भारत की पहली पंचवर्षीय योजना में कृषि को प्रधानता दी गई थी। दूसरी योजना में भी यद्यपि कृषि की उपेक्षा नहीं की गई तथापि ज्यादा जोर उद्योगों के विशेषतः आधार उद्योगों के विकास पर दिया गया था। परन्तु दूसरी योजना की अवधि में खाद्यान्नों और कच्चे माल की कमी ने हमें तीसरी योजना में पुनः खेती पर ज्यादा जोर देने के लिए मजबूर कर दिया है। यह सन्तोष की बात है कि तीसरी योजना के मसौदे में खाद्यान्नों में आत्म-निर्भरता प्राप्त करना और उद्योगों व निर्यात के लिए खेती की उपज बढ़ाना एक प्रधान उद्देश्य माना गया है।

खेती की उपज बढ़ाने के लिए हमको जो प्राकृतिक, भौतिक व मानवी कारण खेती के पिछड़ेपन के लिए जिम्मेवार हैं उनको दूर करना होगा, तथा खेती के पुराने तरीकों की जगह उन्नत वैज्ञानिक तरीकों को अपनाना होगा और जो संस्थागत रुकावटें खेती की उन्नति में बाधक हैं उनको दूर करके किसानों में खेती की उन्नति में दिलचस्पी पैदा करनी होगी और उसको खेती की उन्नति के लिए आवश्यक साधन उपलब्ध करने होंगे। इसके लिये प्रारम्भ में राज्य को भरपूर प्रयत्न करने होंगे और अन्ततः खेती का सहकारी आधार पर पुनर्गठन करना होगा। राज्य की ओर से इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो कार्य किये जारहे हैं उनका वर्णन पुस्तक में यथास्थान विशेषतः सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार के अध्याय में मिलेगा। हम यहाँ संक्षेप में यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि खेती की उन्नति के मार्ग में मुख्य रुकावटों को कैसे दूर किया जा सकता है:—

(१) यद्यपि विज्ञान ने इतनी उन्नति नहीं की है कि वर्षा पर नियंत्रण किया जा सके तथापि सिंचाई के कृत्रिम साधनों (कुओं, तालाबों और नहरों) के निर्माण और विकास द्वारा वर्षा पर आश्रितता कम की जा सकती है। सिंचाई के साधनों के विकास से वर्षा पर आश्रितता घटने के अलावा खेतों की उपज भी बढ़ती है। (देखिए अ. २०)

(२) इसी प्रकार वनों की सुरक्षा, विस्तार, सुव्यवस्था से भूमि की कटाव से रक्षा होती है, जलवायु नम और शीतल रहती है और वर्षा की मात्रा भी बढ़ती है। (देखिये अ. ६)।

(३) सुधरे हुए बीजों का प्रयोग करने से फसलों को रोग कम लगते हैं और कीड़ा-मार औषधियों का प्रयोग करके फसलों को कीड़ों से बचाया जा सकता है तथा खेतों के चारों ओर बाड़ लगाकर जंगली जानवरों से फसलों की रक्षा की जा सकती है।

(४) भूमि के कटाव को रोकने के लिए और कटी हुई भूमि को फिर से कृषि योग्य बनाने के लिए भू-संरक्षण का विस्तृत कार्यक्रम अपनाया जाना चाहिए। (देखिये अ. ४)।

(५) इसी प्रकार मिट्टी की उपजाऊ शक्ति बढ़ाने के लिए अच्छी खादों और रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग किया जाना चाहिये और फसलों के फेर-बदल और मिश्रण द्वारा भूमि की उपजाऊ शक्ति में वृद्धि की जानी चाहिए। (देखिए अ० ४ और २०।)

(६) भारत में खेतों के छोटे-छोटे और बिखरे हुए होने से खेती के उन्नत तरीकों का उपयोग नहीं किया जा सकता। फलस्वरूप खेती से उपज कम मिलती है और लागत ज्यादा बैठने से खेती करने में विशेष लाभ नहीं रहता। चकबन्दी, सहकारी खेती, भूमि पर सीमा निर्धारण तथा भूमि के पुनः वितरण द्वारा यह समस्या हल की जा सकती है। (देखिए अध्याय १८)।

(७) हम बतला चुके हैं कि भारत में जब तक भू-स्वामी प्रथा प्रचलित थी जमीदार लोग भूमि पर स्थायी सुधार करने में रुचि नहीं लेते थे। यह हर्ष की बात है कि स्वाधीनता मिलने के बाद भूमि सुधारों द्वारा मध्यस्थों का अन्त करके किसानों को भूमि पर स्थायी अधिकार दिये गये हैं (देखिए अध्याय ६)। सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार सेवा द्वारा राज्य भी भूमि सुधार में सक्रिय भाग ले रहा है। (देखिए अध्याय ४४)।

(८) हम ऊपर ११ वें अध्याय में श्रमिकों की अदक्षता के कारण और दक्षता बढ़ाने के उपायों का साधारण परिचय दे चुके हैं और आगे १८ वें अध्याय में खेतीहर मजदूरों की समस्याओं का विस्तृत विवेचन करेंगे। इस अध्याय में सुझाए गए उपायों को अपनाने से किसानों और खेतीहर मजदूरों की दक्षता बढ़ाई जा सकती है।

(९) हम बता चुके हैं कि उद्योगों की तरह खेती की उपज भी इसमें लगाई गई पूँजी की मात्रा पर निर्भर करती है। सम्भवतः पूर्णतः यांत्रिक खेती हमारे देश में न सम्भव ही है और न वांछनीय ही। परंतु परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए खेती के औजारों में सुधार आवश्यक है। इसी प्रकार उपज बढ़ाने के लिए बढ़िया बीजों और खादों का उपयोग भी आवश्यक है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के उपाध्यक्ष डॉ० रंधावा ने बतलाया है कि प्रति एकड़ २० पौंड नाइट्रोजन का खाद देने से चावल

और गेहूँ की प्रति एकड़ उपज में क्रमशः ४·५ मन और ३ मन वृद्धि हो सकती है।[1] इसी प्रकार सुधरे हुए बीजों को काम में लाने से उपज में ३० से ४० प्रतिशत वृद्धि सम्भव है। कम से कम गोबर का जलाना बन्द करके खाद के काम में लिया जाना चाहिए। बैलों की नस्ल सुधारने और दक्षता बढ़ाने के प्रयत्न किए जाने चाहिएँ। सहकारी समितियों द्वारा "उन्नत कृषि" के लिए पूँजी की व्यवस्था होनी चाहिए।

(१०) गत १५ वर्षों से संघीय और राज्यीय सरकारों के कृषि-बिक्री विभाग (Agricultural Marketing Department) बिक्री की व्यवस्था को सुधारने, उत्पत्ति की श्रेणियाँ स्थापित करने (Grading and Standardization) में प्रयत्नशील हैं। सहकारी बिक्री समितियाँ (Co-operative Sale Societies) भी किसान को अपनी उत्पत्ति की अच्छी कीमत दिलाने में बहुत सहायता दे सकती हैं, जैसा कि उत्तर प्रदेश में ईख की बिक्री समितियों के कार्य से स्पष्ट है। ग्रामीण सर्वेक्षण समिति की गोदाम बनाने की सिफारिश अमल में लाने से भी सुधार की आशा है।

(११) देहातों में अर्द्ध-बेरोजगारी की समस्या को दूर करने के लिए ऐसे **उद्योग-धन्धों की स्थापना और विकास किया जाना चाहिए जिन्हें किसान लोग अवकाश के समय अपना सकें।** ये उद्योग-धन्धे मुख्यतः ऐसे होने चाहिएँ जिनमें खेतों की उपज को काम में लेकर देहातों में रहने वालों की आवश्यकता पूर्ति के लिए वस्तुएँ बनाई जाएँ। (देखिए अ० २७)

(१२) किसानों को खेती के लिए मुख्यतः तीन प्रकार के ऋणों की आवश्यकता होती है जिन्हें क्रमशः दीर्घ-कालीन, मध्यम-कालीन और अल्प कालीन ऋण कह सकते हैं। आजकल किसान लोग ऋण के लिए मुख्यतः साहूकारों पर निर्भर करते हैं। पिछले ५० वर्षों से विविध प्रकार की सहकारी साख-समितियाँ और भूमि-बन्धक बैंकों का विकास किया जा रहा है, परन्तु इनको अधिक सफलता नहीं मिली है। अखिल भारतीय ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि सन् १९५१ में किसानों के ऋणों की पूर्ति में सहकारी संस्थाओं का भाग केवल ३·३ प्रतिशत था। लगभग ३·१ प्रतिशत की पूर्ति सरकार से मिलने वाली तकावी आदि से होती थी और ९४ प्रतिशत ऋणों के लिए किसान निजी ऋणदाताओं पर निर्भर थे जिनमें साहूकार, व्यापारी, जमींदार और किसानों के सगे सम्बन्धी शामिल हैं। पिछले कुछ वर्षों में इस कमेटी की सिफारिशों के अनुसार सहकारी साख के पुनर्गठन के प्रयत्न किये गये हैं और साख को उत्पादन कार्य-क्रम और बिक्री-व्यवस्था के साथ मिलाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। इस दिशा में काफी प्रगति हुई है और सहकारी संस्थाओं द्वारा दिये जाने वाले ऋणों की मात्रा ५०-५१ में २३ करोड़ रुपयों से बढ़कर ६०-६१ में १९० करोड़ रुपए हो जाने की आशा है। सहकारी विकास अध्ययन मण्डल (Working Group

(1) Indian Information, Vol, I, p. 783.

on Co-operative Development) ने सुझाव दिया है कि तीसरी योजना की अवधि में सहकारी संस्थाओं के द्वारा ४०० करोड़ रुपये अल्प-कालीन, १५० करोड़ रुपये मध्यम-कालीन और ११५ करोड़ रुपये दीर्घ-कालीन ऋणों की व्यवस्था की जानी चाहिये।[1]

(१३) स्वाधीनता मिलने के बाद भूमि पर राज्य और किसानों के बीच मध्यस्थों के उन्मूलन के लिये अनेक कानून बनाए गए हैं। साथ ही भू-धारण सुधारों द्वारा किसानों को राहत देने के लिए लगान में कमी, बेदखली से बचाने के लिये भूमि पर स्थायी अधिकार, और भूमि खरीदने के अधिकार देने के लिए अनेक कानून बनाये गये हैं। फिर भी कई कारणों से हल चलाने वाला वास्तव में जमीन का मालिक नहीं बन सका है और कई लोग जो खेती पर मेहनत नहीं करते खेती की उपज का बड़ा हिस्सा हड़प लेते हैं। अतएव किसानों को उत्पादन बढ़ाने हेतु प्रेरित करने के लिए जमीन की उपज का बड़ा भाग खेती करने वालों के हाथ में रहे इसकी व्यवस्था करना आवश्यक है।

(१४) भूमि पर जन-भार बढ़ने से देहातों में कई ऐसे लोग हैं जो खेती के काम में लगे हुए दिखलाई देते हैं, परन्तु वास्तव में वे खेती की उपज बढ़ाने में विशेष योगदान नहीं देते और यदि उनको खेती से हटा लिया जाय तो भी खेती की कुल उपज विशेष कम नहीं होगी। दूसरे शब्दों में, इन लोगों की सीमान्त उत्पादिता शून्य या नाम-मात्र की है और ये गुप्त बेकारी के शिकार हैं। औद्योगिक विकास द्वारा इन लोगों को खेती के काम से हटाकर अन्य उत्पादक कार्यों में लगाया जाना चाहिए। (देखिए अ० ४०)

(१५) खेती की उन्नति के लिये खेती करने वालों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने की भी आवश्यकता है। शिक्षा के प्रसार, विशेषतः सामाजिक शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा के विस्तार एवम् प्रचार और प्रभावी प्रदर्शनों द्वारा किसानों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाया जाना चाहिये और उन्हें खेती के उन्नत तरीकों को अपनाने तथा सामाजिक रूढ़ियों की दासता से मुक्त कर अपनी आर्थिक उन्नति में जुट जाने के लिए तैयार करना चाहिये।

परीक्षा के प्रश्न

University of Rajasthan, B. A.

(1) Discuss the causes of the backwardness of Indian agriculture. Suggest remedies to improve the conditions. (1959)

(2) What are the main problems of Indian agriculture? How is it proposed to solve them during the five-year plan? (Agra, 1955)

---

(1) Third Five Year Plan—A Draft outline, p. 163-64.

अठारहवाँ अध्याय

भारत में खेतों का उपविभाजन और अपखण्डन

"भारत में कृषि की पिछड़ी हुई अवस्था और किसानों की निर्धनता के जो अनेक कारण हैं, उनमें से एक मुख्य कारण भूमि का उपविभाजन और अपखण्डन है।" उपविभाजन का अर्थ भूमि के बँटवारे के कारण खेतों का आकार बहुत छोटा हो जाना है। जब खेत एक साथ मिले हुए नहीं होते और दूर-दूर बिखरे होते हैं तो अपखण्डन कहलाता है।

खेतों का उपविभाजन—भारत में खेती की एक बड़ी कमी यह है कि हमारे देश में अधिकांश खेत बहुत छोटे-छोटे और एक दूसरे से दूर-दूर बिखरे हुए हैं। अनुमान है कि भारत में औसत खेत ७·५ एकड़ का है। परन्तु देश में अधिकांश खेतों का क्षेत्रफल ५ एकड़ से कम है। अकाल-जाँच आयोग के अनुसार खेतों का औसत आकार बम्बई में ११·७ एकड़, पन्जाब में १० एकड़, उत्तर प्रदेश में ६ एकड़, बंगाल में ४·५ एकड़, मद्रास में ४·४ एकड़ है। अनेक खेतों का वास्तविक आकार औसत से बहुत कम है। सन् १९४९-५० की कृषि-श्रम-जाँच से ज्ञात होता है कि मद्रास, बिहार और बंगाल में अधिकांश खेतों का आकार २ एकड़ से भी कम है। योजना आयोग ने अपनी हाल की रिपोर्ट में बतलाया है कि उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, बिहार, आसाम, मैसूर, त्रिवांकुर-कोचीन, पेप्सू, हिमाचल प्रदेश और कुर्ग में ५ एकड़ या उससे कम के खेतों का अनुपात क्रमशः ८१·२, ५२·३, ५१·५, ७४·२, ८३·३, ६६·१, ६६·२, ९४·१, ४५·४, ९५·० और ७९·० प्रतिशत है।[1] संक्षेप में देश में अधिकांश खेत ५ एकड़ से छोटे हैं।

यदि हम अपने देश के खेतों के आकार की तुलना अन्य देशों के खेतों के आकार से करें तो हमें ज्ञात होता है कि हमारे देश के खेतों का औसत आकार अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है। जहाँ भारत में खेतों का औसत आकार ७·५ एकड़ है वहाँ इङ्गलैंड में २० एकड़, फ्रांस में २० एकड़, जर्मनी में २१·५ एकड़, हालैंड में २६ एकड़ और अमेरिका में १४५ एकड़ है।[2]

खेतों का अपखण्डन—भारत में भूमि का उपविभाजन (Sub division) प्रायः अपखण्डन (Fragmentation) के साथ-साथ पाया जाता है। हमारे खेतों

1. First Five Year Plan, pp. 199-202.
2. India and World Economy (1958) : The Publications Division, Govt. of India, p. 18.

का आकार छोटा ही नहीं है वरन् खेत एक स्थान पर स्थित न होकर बिखरे हुए हैं और छोटे-छोटे टुकड़ों में एक-दूसरे से इतनी दूर पर स्थित होते हैं कि उन पर खेती करने वाले को बड़ी कठिनाई होती है। डा० मान (Mann) ने बम्बई प्रान्त में सर्वेक्षण से पता लगाया है कि भू-स्वामियों की जोतों और कृषि दोनों ही में बहुत अपखण्डन है। श्री रामलाल भल्ला ने पंजाब के बहरामपुर गाँव में ३४·५ प्रतिशत किसान ऐसे पाये, जिनमें से प्रत्येक के पास जमीन के २५-२५ टुकड़े थे। कहीं-कहीं ऐसे भी क्षेत्र हैं, जहाँ खेतों का इतना अधिक अपखण्डन हो चुका है कि खेती ही असंभव हो गई है।

कारण

खेतों के छोटे और दूर-दूर होने के मुख्य कारण निम्नांकित है :—

खेतों के छोटे और दूर-दूर होने के कारण
(१) उत्तराधिकार के नियम
(२) भूमि पर जन-भार वृद्धि
(३) व्यक्तिवाद का विकास
(४) साझे की प्रथा

(१) **उत्तराधिकार के नियम**—इङ्गलेंड में ज्येष्ठाधिकार का नियम (Law of Primogeniture) प्रचलित है जिसके अनुसार पिता की मृत्यु पर उसकी भू-सम्पति का विभाजन नहीं होता, वरन् उसका ज्येष्ठ पुत्र उसकी सारी भू-सम्पति का स्वामी होता है। फलस्वरूप वहाँ खेत बड़े-बड़े हैं। हमारे देश में हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के उत्तराधिकार के नियमों या रीति-रिवाजों में ज्येष्ठता के अधिकार को नहीं माना जाता है। पिता की मृत्यु के पश्चात् उसकी भू-सम्पत्ति का उसके उत्तराधिकारियों में विभाजन होता है। प्रत्येक उत्तराधिकारी को उसके पूर्वज की भूमि का एक भाग प्राप्त होता है। हिस्सेदार, परिवार की भूमि की प्रत्येक पाटी में हिस्सा लेना चाहता है, वह अपना सारा हिस्सा एक ही पाटी में लेना पसन्द नहीं करता है। फलस्वरूप प्रत्येक हिस्सेदार को कई छोटे छोटे टुकड़े एक-दूसरे से काफी दूर प्राप्त होते हैं।

(२) **भूमि पर जन-भार की वृद्धि**—भारतवर्ष की जन-संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है परन्तु उद्योग-धन्धों का विकास नहीं हो रहा है। उल्टा विदेशी आयात की वस्तुओं की प्रतियोगिता के कारण कुटीर उद्योग-धन्धों का नाश हो गया है। फलस्वरूप भूमि पर आश्रित मनुष्यों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है। भूमि पर आश्रित जन-संख्या का अनुपात सन् १८९१ ई० में ६२ % था सन् १९०१ ई० में ६८ प्रतिशत हो गया और सन् '११ और '२१ में यह ७२ % पाया गया। सन् १९३१ की जन-गणना के अनुसार यह ६६ प्रतिशत था और सन् १९५१ की गणनानुसार यह ७० % था।

उद्योग और व्यवसाय के अभाव में प्रत्येक उत्तराधिकारी परिवार की भू-सम्पत्ति में अपना भाग लेने का इच्छुक रहता है। इस प्रकार हिस्सेदारों की संख्या में वृद्धि होने से प्रत्येक के हिस्से का क्षेत्रफल घटता जाता है। अनुमान लगाया जाता है कि हमारे देश

में कृषि पर आश्रित प्रति मनुष्य के हिस्से में औसतन एक एकड़ से भी कम भूमि आती है। इस प्रकार एक औसत परिवार के पास केवल ३ या ४ एकड़ भूमि होती है, जब कि सन्तोषप्रद जीवन-स्तर प्राप्त करने के लिये प्रति परिवार ३० एकड़ भूमि की आवश्यकता बतलाई जाती है।[1]

(३) **संयुक्त परिवार प्रणाली की अवनति**—प्राचीन काल में हमारे देश में संयुक्त परिवार प्रणाली (Joint Family System) प्रचलित थी। परिवार के सब सदस्यों की सम्पत्ति सामूहिक और अविभाजित रहती थी। परन्तु वर्तमान अवस्था में व्यक्तिगत स्वार्थ, सन्देह और ईर्ष्या के कारण इस प्रणाली का केवल नाम ही रह गया है। परिवार के सदस्य पारिवारिक हित से व्यक्तिगत हित को अधिक महत्व देते हैं और पारिवारिक सम्पत्ति का विभाजन करके अपने भाग की सम्पत्ति अलग रखना पसन्द करते हैं। फलस्वरूप **जो भू-सम्पत्ति पहले अविभाजित थी उसके भी अब टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं।**

(४) **साझे की प्रथा**—अनेकों भू-स्वामी अपनी भूमि पर स्वयं खेती नहीं करते। वे किसानों द्वारा खेती कराते हैं जिसे 'सिझारे' देना कहते हैं। वे सारी भूमि एक ही किसान (सिझारियो) को नहीं देते परन्तु अलग-अलग किसानों (सिझारियों) को देते हैं। **इस प्रथा से स्वामित्व अविभाजित रहते हुए भी खेती अलग-अलग होती है और प्रत्येक किसान को छोटे-छोटे खेत प्राप्त होते हैं।** बहुधा एक ही किसान कई जमीदारों के साथ साझे के सम्बन्ध रखता है और उसको एक-दूसरे से असुविधाजनक दूरी पर स्थित खेतों पर खेती करना होता है।

उपविभाजन और अपखण्डन के दोष- बहुत छोटे खेतों पर खेती करने से कई तरह के अपव्यय होते हैं जिससे लागत बढ़ जाती है और खेती आर्थिक दृष्टि से अलाभप्रद हो जाती है। मुख्य दोष निम्नांकित हैं:—

(१) खेत का क्षेत्रफल छोटा होने के कारण बैलों और औजारों को पूरा काम नहीं मिलता। माना कि एक जोड़ी बैल और एक हल की सहायता से एक किसान दस बीघा भूमि पर अच्छी तरह काश्त कर सकता है, किन्तु उसके पास केवल पाँच ही बीघा भूमि हो तो वह अपने साधनों का पूरा लाभ नहीं उठा सकता। फलस्वरूप प्रति इकाई, उत्पादन लागत अधिक होती है। कोई-कोई खेत तो इतने छोटे होते हैं कि भली-भाँति जोते या बोये भी नहीं जा सकते। उनमें काश्त करने का खर्चा उनकी उत्पत्ति के मूल्य से अधिक होता है। इनमें खेती करना अलाभप्रद (Uneconomic) होता है। इस प्रकार कई खेत खाली छोड़ दिये जाते हैं।

(२) छोटे-छोटे और दूर-दूर स्थित खेतों में अलग-अलग बाढ़ लगाने और मेंड़ छोड़ने में खर्चा बैठता है तथा बहुत भूमि खेती के काम से निकल जाती है। यदि बाड़ नहीं लगाई जाय तो जानवर फसल नष्ट कर देते हैं।

---

1. Basu : Economics, p. 41. Also : Indian Agricultural Atlas, p. 18.

(३) छोटे-छोटे और विखरे हुए खेतों के लिए अलग-अलग कुएँ नहीं खोदे जा सकते हैं क्योंकि छोटे खेत के लिए अलग कुआँ बनाना अलाभप्रद होता है। कुओं के अभाव में इन खेतों की सिंचाई का उपयुक्त प्रबन्ध नहीं होता। दूसरों के कुओं से पानी लाने में खर्च अधिक होता है और रास्ते में पानी व्यर्थ नष्ट होने और झगड़े होने का डर रहता है। यदि साझे के कुएँ बनाये जायें तो मरम्मत के अभाव में शीघ्र खराब हो जाते हैं।

(४) छोटे-छोटे और विखरे हुए खेतों में श्रम-बचत करने के उपायों (Labour Saving Devices) का प्रयोग नहीं हो सकता। यान्त्रिक खेती (Mechanized Cultivation) असम्भव हो जाती है, क्योंकि ट्रैक्टर (Tractor), स्क्रैपर (Scraper), बुल-डाजर (Bull Doger), थ्रेशर (Thrasher) इत्यादि कलें काम में नहीं ली जा सकतीं। इस प्रकार प्रगतिशील और वैज्ञानिक खेती असम्भव होती है।

(५) दूर-दूर स्थित खेतों में खेती करने में खाद, बीज, उपज, लाव, चरस, फावड़ा आदि औजारों को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने में समय, शक्ति और धन का अपव्यय होता है।

(६) खेतों के विखरे हुए होने से सीमा, वाड़, मार्ग एवं जल-सम्बन्धी अनेक झगड़े और मुकदमे चलते रहते हैं जिनमें व्यर्थ समय, शक्ति और सम्पत्ति का नाश होता है।

(७) छोटे और दूर-दूर स्थित खेतों पर निगरानी करना कठिन और खर्चीला होता है।

(८) छोटे-छोटे खेतों की जमानत पर आसानी से रकम उधार नही मिलती और ऊँची ब्याज की दर देनी पड़ती है।

(९) अधिकांश खेतों के गलत आकार-प्रकार के होने से उत्पादन की मात्रा अनिश्चित रहती है और मूल्यों में अस्थिरता रहती है।

(१०) छोटे-छोटे खेतों पर खेती करने से होने वाली हानि से बचने का एक तरीका जापान की तरह गहरी खेती करने का है परन्तु जब किसानों को एक ही चक में खेती करने के बजाय अलग-अलग विखरे हुए छोटे-छोटे खेतों पर खेती करना होता है तो वे अपना पूरा ध्यान किसी एक खेत पर नहीं लगा सकते। इस प्रकार खेतों के अपखण्डन से गहरी खेती में कठिनाई होती है।

उप-विभाजन और अप-खण्डन का पक्ष—खेतों के उप-विभाजन और अप-खण्डन के पक्ष में निम्नांकित बातें कही जाती हैं :—

(१) उप-विभाजन के पक्ष में कहा जाता है कि इससे भूमि का सम-वितरण होता है और भू-स्वामी कृषकों के एक ऐसे वर्ग का जन्म होता है जो स्वतंत्रता और स्थिरता

का पोषक होता है। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बहुत छोटे-छोटे खेतों पर काश्त करने वाले लोग प्रायः बहुत गरीब होते हैं जिनसे राष्ट्र कमजोर हो जाता है।

(२) इसी प्रकार खेतों के अप-खण्डन के पक्ष में दो बातें कही जाती हैं—

(क) अलग-अलग खेतों में मिट्टी अलग-अलग तरह की होती है और उन पर अलग-अलग फसलें बोई जा सकती हैं। अतएव यदि एक फसल खराब हो जाये तो दूसरी से काम चलाया जा सकता है।

(ख) विभिन्न प्रकार की फसलें उगाने से किसानों को साल में ज्यादा दिनों तक काम मिलता है। परन्तु ये दलीलें देने वाले भूल जाते हैं कि जब हम खेतों के अप-खण्डन की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय ऐसे खेतों से होता है जिनमें एक सी मिट्टी हो और एक सी फसलें बोई जाती हों अतएव यह दलीलें भी थोथी हैं।

उपचार

छोटे-छोटे और दूर-दूर स्थित खेतों की समस्या को हल करने के लिए जो उपाय सुझाये गए हैं उनमें मुख्य निम्नांकित हैं:—

(१) **ज्येष्ठताधिकार नियम** (Law of Primogeniture)—इस प्रवृत्ति को रोकने का एक उपाय यह है कि हमारे उत्तराधिकार के नियमों में संशोधन कर इङ्गलैण्ड की भाँति ज्येष्ठता का नियम अपना लिया जाय। इस नियम के अनुसार भू-स्वामी की मृत्यु के पश्चात् उसकी भूमि का स्वामित्व केवल सबसे बड़े लड़के को मिलता है। ऐसा भी नियम बनाया जा सकता है जिसमें भूमि का स्वामित्व अलग-अलग हो, किन्तु खेती मिल कर की जावे। ये सुधार अव्यावहारिक हैं।

(२) **औद्योगीकरण**—उद्योग-धन्धों के विकास द्वारा भी भूमि पर जन-भार कम किया जा सकता है। किन्तु इस उपाय से भी भूमि पर से अधिक भार कम होने की सम्भावना नहीं है। फिर यह उपाय तुरन्त लागू नहीं किया जा सकता।

(३) **चकबन्दी** (Consolidation of Holding)—छोटे और बिखरे हुए खेतों की समस्या को हल करने का एकमात्र प्रभावी उपाय चकबन्दी है।

जिस मनुष्य के पास भूमि के बिखरे हुए टुकड़े हों, उसे एक ही स्थान पर उनके समान मूल्य की इकट्ठी भूमि देने की विधि को 'चकबन्दी' कहते हैं। इसका उद्देश्य प्रत्येक किसान को इतनी भूमि प्रदान करना है कि उत्तम खेती करके वह अपनी आर्थिक दशा सुधार सके। आदर्श यह होना चाहिए कि प्रत्येक किसान के पास इतनी भूमि हो कि वह अपने श्रम और पूँजी की सहायता से अधिकतम उत्पत्ति प्राप्त कर सके।

चकबन्दी के लिए मुख्य रूप से दो तरीके अपनाए गए हैं—(१) स्वेच्छापूर्वक चकबन्दी, जो अधिकांशतः सहकारी समितियों के तत्त्वावधान में की जाती है, और (२) अनिवार्य चकबन्दी, जो कानून के अन्तर्गत सरकारी विभागों के तत्त्वावधान

खेतों के उपविभाजन और अपखण्डन के उपचार

(१) ज्येष्ठताधिकार का नियम
(२) औद्योगीकरण
(३) चकबन्दी
(४) आर्थिक जोत का निर्धारण
(५) सहकारी खेती

में की जाती है। आरम्भ में चकवन्दी स्वेच्छापूर्वक शुरू की गई। सबसे पहले बड़ौदा राज्य में सन् १९२० में ऐसा कानून बनाया गया जिसके अन्तर्गत किसान चाहें तो सरकार चकवन्दी की आज्ञाएँ जारी कर सकती थी। साथ ही पंजाव और उत्तर-प्रदेश आदि राज्यों में सहकारी आधार पर चकवन्दी का काम शुरू किया गया। यद्यपि इस प्रकार की गई चकवन्दी का परिणाम बहुत लाभप्रद रहा, किन्तु इस ओर प्रगति की गति बड़ी मन्द रही क्योंकि कोई भी किसान चकवन्दी की योजना को अस्वीकार करके प्रगति रोक सकता था। अतएव चकवन्दी के कार्यों में कानूनी अनिवार्यता लागू की जाने लगी। आरम्भ में ऐसे कानून बनाए गए, जिनके अधीन यदि किसानों का वहुमत या निर्धारित प्रतिशत चकवन्दी की योजना स्वीकार कर ले तो वह योजना अल्पमत पर अनिवार्यतः लागू की जा सकती थी। सबसे पहले सन् १९२८ में मध्य प्रदेश में ऐसा कानून बनाया गया जिसके अधीन कम से कम $\frac{1}{2}$ भूमि पर स्थायी अधिकार रखने वाले लोग, जिनके पास कृषित क्षेत्र का $\frac{2}{3}$ भाग हो; किसी चकवन्दी की योजना को स्वीकार करलें तो वह सभी पर अनिवार्य रूप से लागू की जा सकती थी। इस प्रकार के कानून पंजाव (१९३६) और उत्तर प्रदेश (१९३९) में भी बनाए गए। किंतु प्रगति अधिक सन्तोषजनक नहीं रही; क्योंकि चकबंदी की पहल किसानों की ओर से आने पर ही कार्य संभव हो सकता था। अतएव आगे चलकर ऐसे कानून बनाए गए जिनके आधीन सरकार को किसी क्षेत्र में चकबन्दी के लिए पहल करने का और अनिवार्य रूप से चकवन्दी की योजना को लागू करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया। बम्बई (१९४७), पंजाव (१९४८), दिल्ली (१९४८), उत्तर प्रदेश (१९५३) और राजस्थान (१९५४) में इस सम्बन्ध में कानून बनाये गए।

पहली और दूसरी दोनों योजनाओं में चकवन्दी की आवश्यकता पर बल दिया गया। १९५६ में योजना आयोग ने एक स्मृति-पत्र तैयार किया, जिसमें सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय क्षेत्रों में चकवन्दी के कार्यों को प्राथमिकता देने की सिफारिश की गई। पहली योजना की अवधि में बम्बई में २० लाख एकड़, मध्य-प्रदेश में २१ लाख एकड़, पंजावमें ४८ लाख एकड़, पेप्सू में १३ लाख एकड़ और उत्तरप्रदेश में ४४ लाख एकड़ भूमि पर चकबंदी का कार्य किया गया। राज्यों की दूसरी योजना में चकबंदी के लिए ३७५ लाख रुपयों का प्रावधान है और दूसरी योजना की अवधि में लगभग ३६० लाख एकड़ भूमि पर चकबंदी करने का लक्ष्य स्वीकार किया गया है।

पिछले वर्ष आन्ध्र-प्रदेश, आसाम और मैसूर में चकबन्दी सम्बन्धी कानून बनाये गये और मध्य-प्रदेश में चकबन्दी का काम आसान करने के लिए एक व्यापक "भू-राजस्व संहिता" तैयार की गई। ३० जून, १६३८ तक १८१·८७ लाख एकड़ भूमि पर चकबन्दी का काम हो चुका था और १०५·२८ लाख एकड़ भूमि का चकबन्दी का कार्य चालू था।[1]

कई राज्यों में खेती के उप-विभाजन और अपखण्डन को रोकने के लिए भी कानून बनाए गए हैं। बम्बई, दिल्ली, पंजाब, और पेप्सू में पहली योजना के शुरू होने से पूर्व ही ऐसे कानून बनाए जा चुके थे। तब से आसाम, बिहार, मध्य-प्रदेश, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश और पश्चिमी बंगाल में भूमि के अन्तरण और बँटवारे के नियमन के लिए कानून बनाये गए हैं जिससे कि खेतों का आकार निश्चित सीमा से नीचे नहीं जाने पाए। अधिकांश राज्यों में अत्यधिक उप-विभाजन और अप-खण्डन को रोकने के लिए कानून बनाए जा चुके हैं।[2]

(४) आर्थिक जोत का निर्धारण :—खेतों के लिए अत्यधिक उप-विभाजन और अप-खण्डन को रोकने के लिए भूमि की आर्थिक जोत (Economic holding) निर्धारित करने का भी प्रस्ताव दिया जाता है। आर्थिक जोत की कई अलग-अलग परिभाषाएँ की गई हैं। कीटिंग (Keatinge) के अनुसार "आर्थिक जोत से हमारा अभिप्राय ऐसे खेतों से है जिनकी उपज आवश्यक खर्चा निकालने के बाद किसान और उसके परिवार को उचित आराम के स्तर पर रखने के लिए काफी हो।" डा० मान (Mann) के अनुसार "आर्थिक जोत उसे कहते हैं जिस पर खेती करके एक औसत परिवार संतोषप्रद न्यूनतम जीवन-स्तर पर रह सके।" प्रो० स्टेनले जेवन्स (Stanley Jevons) के अनुसार "आर्थिक जोत उसे कहते हैं जिसमें किसान उच्च जीवन-स्तर व्यतीत कर सके।" एक अन्य परिभाषा के अनुसार "आर्थिक जोत, खेत के ऐसे आकार को कहते हैं जिस पर खेती करने से एक औसत किसान परिवार के श्रम और पूँजी को पूरा रोजगार और अधिकतम सम्भावित प्रतिफल प्राप्त हो सके।" इन सब परिभाषाओं में यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि खेतों का आकार कम से कम इतना होना चाहिए कि औसत किसान परिवार आवश्यक खर्चा निकाल कर आराम से जिन्दगी बिता सके। यह तभी सम्भव हो सकता है जब उसके परिवार के लोगों को खेतों पर साल भर लगातार काम मिलता रहे और यथेष्ट उपज और आमदनी प्राप्त हो सके। यह स्पष्ट है कि आर्थिक जोत और खेतों के सर्वोत्तम आकार में बहुत अन्तर है; क्योंकि विशुद्ध आर्थिक दृष्टि से खेतों का सर्वोत्तम आकार वह माना जायगा जिस पर खेती करने की लागत कम से कम हो। परन्तु भारत जैसे घने आबाद देश में जहाँ

(1) India, 1960 p. 267.
(2) India, 1960 p. 268.

खेतों का आकार बहुत छोटा हो खेतों के सर्वोत्तम आकार की बात करना अव्यावहारिक होगा। इसलिए सर्वोत्तम आकार के खेतों की जगह खेतों की आर्थिक जोत प्राप्त करने पर ध्यान देना चाहिए।

आर्थिक जोत निर्धारित करने के लिए मिट्टी की उपजाऊ शक्ति, वर्षा की मात्रा, सिंचाई के उपलब्ध साधन, उपलब्ध पूँजी तथा खेती के लिए अपनाए जाने वाले तरीकों आदि कई बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए। फिर भी खेती का व्यावहारिक ज्ञान रखने वाले किसी बुद्धिमान मनुष्य के लिए यह अनुमान लगाना कठिन नहीं होगा कि सभी बातों को ध्यान में रखते हुए किसी विशेष क्षेत्र में आर्थिक जोत कितनी होनी चाहिए। उदाहरण के लिए कीटिंग ने बतलाया है कि दक्षिण में आदर्श जोत एक जगह मिली हुई ४० या ५० एकड़ भूमि होगी जिस पर कम से कम सिंचाई के लिए एक कुँआ और रहने के लिए मकान हो। यह उल्लेखनीय है कि इस उदाहरण में कीटिंग ने इस बात पर ध्यान दिया है कि किसी क्षेत्र में आर्थिक जोत निर्धारित करने के लिए केवल भूमि के क्षेत्रफल पर ध्यान देना ही काफी नहीं होगा लेकिन इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि उतनी भूमि अलग-अलग बिखरी हुई न होकर एक ही चक में उपलब्ध हो।

कभी-कभी यह भी सुझाव दिया जाता है कि अनार्थिक जोतों की समस्या को दूर करने के लिए भूमि की अधिकतम और न्यूनतम सीमा निर्धारित कर देनी चाहिये। जिन लोगों के पास अधिकतम निर्धारित सीमा से अधिक भूमि हो वह क्षतिपूर्ति देकर न्यूनतम सीमा से कम भूमि वाले किसानों या भूमिहीन श्रमिकों में बाँट देनी चाहिए या सहकारी खेती के लिए दे देनी चाहिए। सबसे पहले कांग्रेस की आर्थिक कार्यक्रम समिति ने, जिसके अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू थे, सन् १९४७-४८ में सामाजिक न्याय के आधार पर भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित करने का प्रस्ताव रक्खा और साथ ही यह भी सुझाव दिया कि देश में अधिकतम आय राष्ट्रीय न्यूनतम आय की ४० गुनी से अधिक नहीं होनी चाहिए। परन्तु उत्तर-प्रदेश जमींदारी उन्मूलन समिति, जिसके अध्यक्ष पं० गोविन्द वल्लभ पंत थे, खेती की अधिकतम सीमा लगाने के पक्ष में नहीं थी। कांग्रेस कृषि-सुधार-समिति ने यह राय दी कि भूमि की अधिकतम सीमा आर्थिक जोत की तीन गुनी होनी चाहिए। परन्तु यह सामाजिक न्याय के आधार पर छोटे आकार की खेती के पक्ष में थी जिन्हें "बुनियादी जोत" (Basic Holdings) के नाम से पुकार सकते हैं। पहली योजना के प्रारम्भिक मसौदे में अनाज की उपज बढ़ाने पर जोर दिया गया और केवल भविष्य में प्राप्त की जाने वाली भूमि-सीमा निर्धारण का प्रस्ताव रखा गया। परन्तु पहली योजना के अन्तिम मसौदे में योजना आयोग ने सामाजिक न्याय के आधार पर मौजूदा खेती पर भी सीमा निर्धारण पर जोर दिया और यह सुझाव दिया गया कि भूमि की अधिकतम सीमा "परिवार-जोत" (Family Hol-

ding) की तीन गुनी होनी चाहिए। इसमें राज्यों ने खेतों की गणना (Census of Holding) करके अधिकतम सीमा निर्धारित करने की सिफारिश की गई। तदनुसार भूतपूर्व २२ राज्यों में अलग-अलग प्रकार से खेतों की गणना का कार्य किया गया। द्वितीय योजना में सीमा निर्धारण सम्बन्धी सिफारिशें दोहराई गईं और मौजूदा भूमि पर भी परिवार जोत की तीन गुनी सीमा निर्धारित करने की सिफारिश की गई। योजना आयोग की राय में भूमि पर सीमा निर्धारण का यह कार्य दूसरी योजना की अवधि में पूरा हो जाना चाहिए।

सूचना मिली है कि आन्ध्र-प्रदेश, आसाम, बम्बई, जम्मू और काश्मीर, मध्य-प्रदेश, मैसूर, पंजाब, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश, पश्चिमी बंगाल और दिल्ली में भविष्य में प्राप्त की जाने वाली भूमि पर सीमा निर्धारित करदी गई है। इस प्रकार आन्ध्र-प्रदेश, आसाम बम्बई, जम्मू और काश्मीर, मैसूर, पंजाब, पश्चिमी बंगाल और हिमालय प्रदेश में मौजूदा भूमि पर भी सीमा निर्धारण करने के लिए भी कानून बनाये जा चुके हैं। दूसरे राज्यों में भी इस प्रकार के कानून बनाये जा रहे हैं।[1] नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस द्वारा भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित करने और अतिरिक्त भूमि को भूमिहीन श्रमिकों में बाँटने का प्रस्ताव स्वीकार करने के बाद इस दिशा में तेजी से प्रगति हुई है।

समालोचना :

पक्ष : (१) भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित करना सामाजिक न्याय की दृष्टि से आवश्यक है; (२) सीमा से अधिक भूमि भूमिहीनों में बाँट कर उनको राहत पहुँचाई जा सकती है; (३) इस नीति से भूमि का पूरी अच्छी तरह उपयोग करने में भी सहायता मिलेगी।

विपक्ष : (१) परन्तु "आर्थिक जोत" निश्चित करने में कठिनाई होती है और क्षति-पूर्ति के रूप में बड़ी लागत लगती है। (२) सीमा निर्धारण से उन श्रमिकों में बेकारी फैलेगी जो बड़े फार्मों पर मजदूरी करते हैं। (३) फिर जब तक अन्य प्रकार की सम्पत्ति व आय पर सीमा नहीं लगाई जाती केवल भूमि पर सीमा लगाना एक प्रकार से भू-स्वामियों के प्रति अन्याय होगा। (४) सीमा निर्धारण का एक कुपरिणाम यह होगा कि भू-स्वामी भूमि के सुधारने में पूँजी लगाना बन्द कर देंगे। (५) यह भी भय है कि सीमा निर्धारण से मंडियों में बिक्री के लिए आने वाली उपज कम पड़ जायगी, क्योंकि यह अधिकांश बड़े फार्मों से आती है। (६) यह भी कहा जाता है कि सीमा निर्धारण से जो भूमि भूमिहीनों में बाँटने के लिए प्राप्त होगी वह बहुत थोड़ी होगी। इस प्रकार भूमिहीनों को इस नीति से विशेष राहत नहीं मिल सकेगी।

1. India 1960, pp. 265-66.

(५) सहकारी खेती

अर्थ : छोटे-छोटे और बिखरे हुए खेतों के दोषों को दूर करने के लिए सहकारी खेती (Co-operative farming) भी अपनाई जा सकती है। खेती की इस पद्धति में प्रायः छोटे-छोटे किसान अपनी गरीबी और कमजोरी दूर करने व बीच के लोगों के शोषण से बचने के लिए पारस्परिक सहयोग के आधार पर खेती करते हैं। सहकारिता का सिद्धांत आरम्भ में खेती के कुछ कामों में; जैसे—अच्छे बीजों, खादों और औजारों की पूर्ति तथा उपज की बिक्री में लागू किया जा सकता है और आगे चलकर खेतों को आपस में मिलाकर तथा मिलकर खेती करने और जमीन को रखने में भी लागू किया जा सकता है।

भारत की पहली और दूसरी योजनाओं में भूमि की समस्या के हल के लिये सहकारी ग्राम प्रबन्ध की योजना स्वीकार की गई। पहली योजना की अवधि में लगभग सभी राज्यों में सहकारी खेती समितियों की स्थापना और सहायता के लिए कानून बन चुके थे। इन कानूनों के अनुसार यदि किसी गाँव के किसानों का बहुमत; जिनके पास कम से कम कुल कृषि-भूमि की ½ भूमि हो, सहकारी खेती अपनाना चाहें तो सारे गाँव में सहकारी खेती समिति बनाई जा सकती हैं। दूसरी योजना में ऐसा कदम उठाने पर जोर दिया गया है जिससे सहकारी खेती के लिए ठोस आधार तैयार किये जा सकें। सितम्बर १९५७ में राष्ट्रीय विकास परिषद ने सहकारी खेती के कार्यक्रम पर विचार किया और यह निर्णय किया कि दूसरी योजना की शेष अवधि में तीन हजार सहकारी खेती के प्रयोग किये जाने चाहिएँ। परन्तु कांग्रेस द्वारा नागपुर अधिवेशन में सहकारी खेती के पक्ष में प्रस्ताव स्वीकार करने के पश्चात् देश में सहकारी खेती को लेकर जो बड़ा विवाद चल पड़ा है उसको देखते हुए २८ मार्च १९५९ को लोक-सभा में एक गैर सरकारी प्रस्ताव स्वीकार किया गया जिसके अधीन देश में सहकारी खेती की दिशा में पहला कदम उठाने के लिए सेवा सहकारी समितियों की स्थापना की जानी चाहिये। ११ जून १९५९ को भारत सरकार ने, जो लोग साझे से सहकारी संयुक्त समितियाँ बनाना चाहें, उनको वित्तीय एवम् प्राविधिक सहायता देने के कार्यक्रम पर विचार करने के लिए एक "अध्ययन दल" नियुक्त किया। इस "अध्ययन दल" ने १५ फरवरी, १९६० को अपनी रिपोर्ट पेश की जिसमें सुझाव दिया गया है कि आगामी चार वर्षों में चुने हुए खण्डों में प्रत्येक जिले में एक के हिसाब से ३२० प्रयोगात्मक योजनाओं (Pilot Projects) पर काम किया जाना चाहिये। यह उल्लेखनीय है कि इस अध्ययन दल ने कुछ राज्यों में स्वीकृत कानून की उस धारा को, जिसके अधीन किसानों का बहुमत गाँव के सभी लोगों को सहकारी खेती समिति के सदस्य बनाने के लिए मजबूर कर सकता है, सहकारिता के मूल-सिद्धांत के विरोध में और व्यावहारिक दृष्टि से अवांछनीय बतलाया है।

नोट—सहकारी खेती के विस्तृत विवेचन के लिए कृपया अध्याय २२ देखिए।

(६) भू-दान

हमने दसवें अध्याय में भारत की जन-संख्या के जीविकोपार्जन के तरीकों के अध्ययन में देखा था कि सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार देश की कुल ३५·६ करोड़ जन-संख्या में से २४·९ करोड़ खेतीहर लोग हैं। इनमें भी लगभग ४·५ करोड़ भूमिहीन श्रमिक हैं जिनको मुश्किल से साल में ४-६ महीने काम मिलता है और जो शेष दिनों में प्रायः बेकार रहते हैं। दूसरी ओर भारत में लगभग ५३ लाख ऐसे भू-स्वामी हैं जिनके पास काफी जमीन है परन्तु जो खुद खेती नहीं करते। भूमि-सुधार की एक मुख्य समस्या भू-स्वामियों से अतिरिक्त भूमि लेकर भूमि-हीन श्रमिकों में बाँटने की है। भूमि का यह पुनर्वितरण वास्तव में देश में सम्पत्ति और आय के पुनर्वितरण की व्यापक समस्या का एक भाग है। इस समस्या को हल करने के लिए एक ओर राज्य सरकारें जोत की न्यूनतम और अधिकतम सीमाएँ निर्धारित करने और भूमि पर से बीच के लोगों को हटाने के लिए प्रयत्न कर रही हैं और दूसरी ओर आचार्य विनोबा भावे के नेतृत्व में भू-दान आन्दोलन चल रहा है।

आरम्भ और प्रगति

१८ अप्रैल १९५१ की बात है, आचार्य भावे हैदराबाद राज्य के तैलंगाना क्षेत्र की पैदल यात्रा करते-करते नलगोंडा जिले के पोचमपल्ली गाँव में पहुँचे। संध्या के समय जब वे अपने विचार सुनाने के लिये खड़े हुए तो कुछ हरिजनों ने उन्हें सरकार से ८० एकड़ भूमि दिलाने की प्रार्थना की। आचार्य जी ने सोचा कि उपस्थित लोगों में से शायद कुछ के पास अतिरिक्त भूमि हो और शायद वे अपने भाइयों की मदद के लिए तैयार हो जावें। अतएव उन्होंने भूमि-दान के लिए प्रार्थना की और उनकी प्रार्थना पर एक जमींदार १०० एकड़ भूमि देने को तैयार हो गया। विनोबा जी ने वह भूमि भूमि-हीनों में बाँट दी।

इस प्रकार भूमि-हीनों को भूमि दिलाने के लिए भू-दान यज्ञ आरम्भ हुआ।

विनोबा जी ने अपना लक्ष्य अप्रैल १९५७ तक भू-दान के लिए ५ करोड़ एकड़ भूमि प्राप्त करना रखा जिससे कि देश में प्रत्येक भूमि-हीन श्रमिक को अपने निर्वाह के लिए कम से कम १ एकड़ भूमि मिल जाय। पिछले आठ वर्षों में यह आन्दोलन समस्त देश में फैल गया है। जून १९५९ तक ४४ लाख एकड़ भूमि भू-दान में प्राप्त हुई जिसमें ८·४ लाख एकड़ भूमि भूमि-हीनों में बाँट दी गई है।[1]

जनवरी १९५३ में भू-दान का क्षेत्र बढ़ाकर इसे ग्राम-दान का रूप दे दिया गया है। ग्राम-दान का उद्देश्य गाँव की सब भूमि को गाँव वालों के सामूहिक या पंचायती

1. India 1960, p. 271.

अधिकार में लेकर सहकारी तरीके से उसकी व्यवस्था करना है। ३० जून १९५९ तक ४५६५ गाँव ग्राम-दान में प्राप्त हुए थे।[1]

जिस प्रकार देहातों के लिए भू-दान तथा ग्रामदान के अन्तर्गत भूमि प्राप्त करने उसके ऊपर समस्त गाँव का स्वामित्व स्थापित करने का आदर्श है उसी प्रकार गैर-कृषि क्षेत्र में अनुत्पादन व्यवसायों का निराकरण करने और कारखाना तथा बड़े उद्योगों पर समाज का स्वामित्व स्थापित करने का आदर्श है। इस आदर्श की ओर अग्रसर होने के लिए सम्पत्ति-दान श्रम का महत्व बढ़ाने के लिए श्रम-दान और भू-दान के आदर्शों का प्रचार करने के लिए बुद्धि-दान, समय-दान तथा अन्ततः जीवन-दान के कार्य-क्रम रखे गये हैं।

राज्य और भू-दान

शासन ने भू-दान के महत्व को स्वीकार किया है। ग्राम-दान में प्राप्त गाँवों की व्यावहारिक सफलता का सहकारी ग्राम विकास के लिए महत्व को देखते हुए सामुदायिक विकास तथा अन्य विकास कार्य-क्रमों में ग्रामदान में प्राप्त गाँवों को प्राथमिकता दी जायेगी। तदर्थ अ० भा० सर्व सेवा संघ को ग्रामदान में प्राप्त गाँवों के विकास के लिए विशेष सहायता दी गई है। कई राज्यों में विशेष कानून बनाकर भू-दान को कानूनी मान्यता प्रदान की गई।

मूल्याङ्कन और कार्य-सिद्धि

भूदान आन्दोलन के उद्देश्य और तरीके भारतीय परम्परा और दर्शन पर आधारित हैं। इसके साथ राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का नाम जुड़ा हुआ है। यह विनोबाजी, जयप्रकाशजी, धर्माधिकारीजी, विमला बहन आदि सन्तविचारक-कार्य-कर्ताओं द्वारा चलाया जा रहा है। अनेक पढ़े-लिखे समाज-सेवी लोग इस आन्दोलन में लगे हुए हैं। इससे अहिंसात्मक तरीके से भूमि के पुनर्वितरण की समस्या हल करने की आशा की जाती है। भूमिहीनों को भूमि प्राप्त होने से उनकी आर्थिक दशा में सुधार होना निश्चित है। इससे राज्य पर धन-भार भी नहीं पड़ता क्योंकि दान में प्राप्त भूमि का मुआवजा नहीं देना पड़ता। इससे अब तक अकृषित भूमि पर खेती होने की भी आशा की जाती है। अन्ततः इससे सहकारी खेती की प्रणाली को प्रोत्साहन मिलेगा और यह एक वर्गहीन तथा शोषण-हीन समाज की स्थापना की ओर पहला प्रभावी कदम है।

इस प्रकार भूदान आन्दोलन के उद्देश्य और तरीके सराहनीय हैं। परन्तु अब तक की प्रगति और कार्य सिद्धि से इसकी सफलता में अधिक विश्वास पैदा नहीं होता। विनोबाजी का लक्ष्य १९५७ तक ५ करोड़ भूमि प्राप्त करने का था परन्तु अब तक आधी करोड़ भी प्राप्त नहीं हुई है। 'यह खोदा पहाड़ निकला चूहा' वाली बात है।

1. India 1960, p. 271.

यदि यह भी मान लिया जाय कि कभी न कभी वह लक्ष्य अवश्य पूरा हो जायगा तो भी इससे देश की गरीबी और भुखमरी की समस्या हल नहीं होगी। ५ करोड़ एकड़ भूमि ५ करोड़ भूमिहीनों में बाँटने से एक प्रकार से गरीबी ही का बँटवारा होगा। इससे उन को यथेष्ट रोजगार या आमदनी नहीं मिल सकेगी। दूसरे, अब तक जो भूमि प्राप्त हुई है उसमें अधिकांश निकम्मी और खेती के अयोग्य है। इससे भूमिहीनों को विशेष लाभ नहीं होगा। तीसरे, भूमि बाँटने का कार्य, भूमि प्राप्त करने से बहुत पीछे है। जून १९५९ तक लगभग ४४ लाख एकड़ भूमि प्राप्त हुई थी जिसमें केवल ८·४ लाख एकड़ का बँटवारा हुआ था। दूसरे शब्दों में शेष भूमि बेकार, अकृपित पड़ी थी। चौथे, भूमि के बँटवारे से खेतों में उप-विभाजन और अपखण्डन की समस्या और भी बिगड़ने का भय है। इससे जोत की इकाई अलाभदायक हो जायगी। अतएव भूदान-यज्ञ सैद्धान्तिक दृष्टि से कितना ही अच्छा क्यों न हो अब तक की प्रगति और कार्यसिद्धि को देखते हुये इसके लक्ष्यों और आदर्शों की सफलता सन्देहजनक है।

परीक्षा के प्रश्न

University of Rajasthan, B. A.

(1) What is an economic holding (अनुकूलतम जोत)? Examine in this connection the extent and evils of subdivision and fragmentation of holdings (उपविभाजन और अपखण्डन के दोष) in India. (1956)

(2) Mention the causes and economic effects of "endless subdivision and fragmentation of land" in India. Discuss remedial measures. (1952)

(3) Define an economic holding. What measures you would suggest for creation and stabilisation of economic holdings in India? (1953)

Agra University, B. A. & B. Sc.

(1) What do you understand by fragmentation and subdivision of holdings? What measures have been taken in recent years to check their evils? (1954, 57, 59)

Delhi University, B. A.

(1) Examine the causes and effects of the subdivision and fragmentation of holdings in India. (1951)

(2) Discuss the lines on which attempts have been made in some parts of India to remedy the evils of excessive subdivision and fragmentation of holdings. (1953)

सन्दर्भ ग्रंथ

(1) Agricultural Legislation in India : Volume on consolidation of holdings (Manager of Publications, Delhi, 1950-56).

(2) Daniel Thorner : Agrarian Prospects in India (Delhi School of Economics, Delhi, 1956).

(3) Vinoba Bhave : Bhoodan Yajna (Navjeevan Press, Ahmedabad).

(4) Reserve Bank of India : Consolidation of Holdings (R. B. I., Bombay, 1951).

उन्नीसवाँ अध्याय

खेतीहर मजदूर

परिभाषा और महत्व:—पिछले वर्षों में भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में खेतीहर मजदूरों की संख्या बहुत तेजी से बढ़ी है। इसलिये इनकी समस्याओं पर ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक है। खेतीहर मजदूरों की आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन करने से भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में फैली हुई बेकारी व अर्द्ध-बेकारी, गरीबी, निम्न जीवन स्तर, कृषि पर जन-संख्या का भार आदि का आसानी से ज्ञान हो जाना है। वास्तव में भारत में जनाधिक्य व अर्थ-व्यवस्था के पिछड़ेपन का परिचय खेतीहर मजदूरों की दशा में स्पष्ट झलकता है। गांवों की अतिरिक्त श्रम-शक्ति (Surplus rural man-power) जो आज बेकार पड़ी है, भविष्य में पूंजी-निर्माण में बदली जा सकती है और बदली जानी चाहिये। अतः खेतीहर मजदूरों की समस्या भारतीय अर्थ-व्यवस्था की प्रमुख व आधारभूत समस्या है। जब इसका सम्बन्ध आर्थिक पिछड़ेपन से है तब इसका समाधान आर्थिक विकास से ही होना स्वाभाविक बात है।

खेतीहर मजदूरों से सम्बन्धित बातों की जानकारी का पहले बड़ा अभाव था। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में १९५१ की जनगणना से प्राप्त कुछ सूचनाओं व तथ्यों का प्रयोग किया गया था। जनगणना के अनुसार कृषक मजदूरों की संख्या ४९ मिलियन थी। हाल ही में खेतीहर-श्रम जाँच के परिणामों का उपयोग होने लग गया है जिसमें खेतीहर मजदूरों की १९५०-५१[1] में की गई जाँच की कई रिपोर्टें प्रकाशित की गई हैं। इस जाँच ने खेतीहर श्रमिकों की समस्या पर विस्तृत प्रकाश डाला है। जनगणना से उतना प्रकाश पड़ना सम्भव नहीं था। जनगणना में 'खेतीहर मजदूर' का अर्थ उस श्रमिक से लगाया गया जो खेत में मजदूरी पर काम करे। लेकिन यह परिभाषा पूर्णतया सही नहीं कही जा सकती क्योंकि इसके अनुसार प्रत्येक 'खेतीहर मजदूर' एक भूमिहीन मजदूर हो जाता है। लेकिन भारतीय गाँवों में ऐसे व्यक्ति भी मिलते हैं, जिनकी स्वयं ही थोड़ी भूमि है या जो कारीगर हैं, फिर भी खेतों में समय-समय पर मजदूरी भी कर सकते हैं। अतः ऐसे व्यक्तियों की श्रेणी निर्धारित करना कठिन हो

१. एक दूसरी अखिल भारतीय खेतीहर-श्रम-जाँच १९५६-५७ के लिये ३,६०० गाँवों में हुई है जिसका उद्देश्य प्रथम पंच-वर्षीय योजना के कार्य-क्रमों का खेतीहर मजदूरों के रोजगार, आय व जीवन-स्तर पर प्रभाव मालूम करना है। इस जाँच के परिणाम अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं।

जाता है। इसलिये 'खेतीहर-श्रम-जांच' (Agricultural Labour Enquiry) ने 'खेतीहर मजदूर उस व्यक्ति को कहा है जो वर्ष में अपने काम के कुल दिनों में आधे से ज्यादा दिन 'खेतीहर-मजदूर' बनकर काम करे। इस परिभाषा में भी कुछ कठिनाइयाँ हो सकती हैं परन्तु यह 'खेतीहर मजदूरों' की ज्यादा सही स्थिति दर्शाती है।

नीचे 'खेतीहर-श्रम-जांच' के आधार पर खेतीहर मजदूरों की रोजगार स्थिति, आय, जीवन-स्तर, समस्या की प्रकृति आदि का वर्णन किया जाता है :

(१) संख्या व कृषक-मजदूरों की किस्में :—जाँच से पता लगा है कि ग्रामीण परिवारों में ३०.४ प्रतिशत परिवार खेतीहर मजदूरों के थे जिनमें लगभग आधों के पास भूमि थी और आधे भूमिहीन थे। खेतीहर मजदूरों के कुल परिवार १७६ लाख थे। खेतीहर मजदूर-परिवारों की संख्या बिहार, उड़ीसा, मद्रास, मैसूर, मध्य प्रदेश, व हैदराबाद में अधिक थी।

गाँवों में ७६.८ प्रतिशत परिवार 'खेतीहर परिवार' थे जिनका वितरण इस प्रकार है :—

कृषक-भू-स्वामी	२२.२%
काश्तकार	२७.२%
खेतीहर मजदूर	३०.४%

खेतीहर मजदूरों को दो प्रमुख श्रेणियों में बाँटा गया है—(१) अस्थायी (Casual), (२) स्थायी (Attached) अस्थायी व स्थायी खेतीहर मजदूरों का अनुपात ८५ : १५ के लगभग था। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्यादातर मजदूर 'अस्थायी' होते हैं जिन्हें फसल बोने व काटने या अन्य कृषि-कार्यों के लिए रखा जाता है और कार्य समाप्त होते ही छोड़ दिया जाता है। वास्तव में कृषि में मौसमी कार्यों की प्रधानता होने से ऐसा होना स्वाभाविक है। इसी वर्ग पर बेकारी व अर्द्ध-बेकारी का सबसे ज्यादा प्रभाव होता है और इनका जीवन व जीविका बड़े अनिश्चित होते हैं। 'स्थायी खेतीहर मजदूरों' की भी अपनी समस्यायें हैं जैसे भू-स्वामी द्वारा शोषण, बेगार, निम्न मजदूरी, कार्य की बुरी दशाएँ आदि, लेकिन 'अस्थायी मजदूरों' का तो समस्त जीवन गरीबी, उत्पीड़न, अस्थिरता व अनिश्चितता से भरा हुआ है। कई बार तो यह संदेह होने लगता है कि क्या ऐसा जीवन भी जीने योग्य है ?

(२) रोजगार की स्थिति—एक खेतीहर श्रमिक के परिवार का आकार ४.७० आँका गया है। परिवार की औसत कार्य-शक्ति २.६ मानी गई है। कृषि में रोजगार प्रायः मौसमी ही होता है। खेतीहर मजदूरों में पुरुष, स्त्रियाँ व बच्चे तीनों शामिल

होते हैं। पुरुषों की संख्या १६ मिलियन और स्त्रियों की १४ मिलियन थी। अतः 'खेतीहर मजदूरों' में स्त्रियों का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

पुरुष-श्रमिकों को साल में २१८ दिन मजदूरी पर काम प्राप्त हुआ, ४६ दिन स्वयं का काम किया (Self-Employment) और शेष ६८ दिन बेकार रहना पड़ा। इस प्रकार एक साल में लगभग १०० दिन उन्हें बेकार रहना पड़ा। 'अस्थिर श्रमिक' साल में २०० दिन और 'स्थिर श्रमिक' ३२६ दिन काम पाते हैं। पुरुष साल में जो २१८ दिन मजदूरी कर सके उसमें से उन्हें १८६ दिन 'खेतीहर श्रम' और २६ दिन 'गैर-खेतीहर-श्रम' करना पड़ा।

'अस्थिर श्रमिक' जाँच के अनुसार २०० दिन काम पा सके, उन्हें ७५ दिन स्वयं का धंधा करना पड़ा और ६० दिन बेकार रहना पड़ा। इस प्रकार हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि 'अस्थायी श्रमिक' साल में लगभग ६½ महीने मजदूरी पर काम करते हैं, २½ महीने स्वयं का धंधा करते हैं और शेष लगभग ३ महीने बेकार रहते हैं। यह स्थिति बड़ी चिन्ताजनक है। यह विशाल श्रम-शक्ति का दर्दनाक क्षय है जिसे शीघ्र रोका जाना चाहिए।

(३) आय-व्यय व ऋण आदि—समस्त भारत में दैनिक मजदूरी लगभग १७·५ आने आँकी गई थी।

प्रत्येक खेतीहर मजदूर परिवार (स्थायी व अस्थायी दोनों की साथ में) की औसत वार्षिक आय ४४७ रु० थी और खर्च ४६१ रु० था। इसके अलावा उत्सव व त्यौहारों आदि पर औसत व्यय ७ रु० और था। ४६१ रु० के चालू खर्च में से ३९३ रु० भोजन पर, २६ रु० कपड़े पर और शेष ३६ रु० अन्य आवश्यकताओं के पूर्ण करने के लिए खर्च किये गये। ३६ रु० में से ४ रु० ईंधन व रोशनी पर और ४ रु० मकान-किराये व मरम्मत पर व्यय किये गये। इससे मजदूरों के लिए मकान के लगभग न होने की स्थिति का पता चलता है।

खर्च ज्यादा होने से ऋण का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। लगभग १७६ लाख परिवारों में से ७८ लाख परिवारों पर (लगभग ४५ %) प्रति परिवार १०५ रु० का औसत ऋण था। खेतीहर मजदूर परिवारों पर कुल ऋण का भार लगभग ८० करोड़ रु० आँका गया है जो उनकी आर्थिक स्थिति देखते हुये अत्यधिक है। ऋण के मुख्य स्रोत मालिक, दुकानदार, सहकारी समितियाँ, मित्र व सम्बन्धी पाये गये।

उपर्युक्त विवरण से खेतीहर मजदूरों की दयनीय आर्थिक स्थिति का पता चलता है। इनकी स्थिति दिनों-दिन खराब होती गई है और उसका मुख्य कारण इनकी बढ़ती हुई संख्या है जिसने इनको बहुत सस्ता बना दिया है।

खेतीहर मजदूरों की संख्या बढ़ने के कारण:—उन्नीसवीं शताब्दी में खेतीहर मजदूरों की संख्या कुल कृषक जनसंख्या का लगभग १३ प्रतिशत थी जो १९५०-५१

में बढ़कर ३० प्रतिशत से भी ज्यादा हो गई। खेतीहर मजदूरों की संख्या का तेजी से बढ़ना पिछले वर्षों का देहाती क्षेत्रों का सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है। इसके लिये निम्न कारण दिये जा सकते हैं :—

(१) देहातों में जन-संख्या की वृद्धि—भारत में जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है। ज्यादातर लोगों के जीविकोपार्जन का साधन खेती है। भूमि पर जनभार बढ़ने से खेती पर आश्रित रहने वालों के कई वर्ग बन गये हैं जैसे भू-स्वामी, काश्तकार, खेतीहर मजदूर या सर्वहारा (Agricultural proletariat)।

(२) भूमि का उपविभाजन व अपखन्डन—यह कहना अनुचित न होगा कि वे सब कारण जिनसे भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े हो गये हैं, उन्होंने खेतीहर मजदूरों की संख्या भी बढ़ाई है। जब एक किसान के पास भूमि का एक छोटा टुकड़ा रह जाता है तब कृषि की जोत अनार्थिक बन जाती है और उससे एक परिवार की भी गुजर-बसर होना मुश्किल हो जाता है। ऐसी परिस्थिति के दो परिणाम होते हैं : प्रथम तो यह कि उस किसान को दूसरे खेत के पर मजदूरी करके अपनी आय बढ़ानी होती है अथवा कर्ज करके गुजारा करना पड़ता है। दूसरी स्थिति में भूमि का छोटा टुकड़ा भी कालान्तर में इसके हाथ से निकल कर महाजन, साहूकार व जमींदार के हाथ में चला जाता है।

भारत में आज ऐसे बहुत से खेतीहर मजदूर मिलेंगे जिनके पास पहले स्वयं की जमीन थी लेकिन बदली हुई परिस्थितियों में उनके पास सिर्फ 'श्रम' बेचने के लिए रह गया।

(३) ग्रामीण उद्योग-धन्धों का विनाश—भारत के देहातों में 'सर्वहारावर्ग' के उदय व वृद्धि का एक कारण ग्रामीण उद्योगों का पतन भी है। कुछ ग्रामीण कारीगर अपर्याप्त आय के कारण खेतों में मजदूरी करने को बाध्य हुए। कुछ कारीगर अपने कुटीर-धंधे का पतन हो जाने से भूमि की तरफ खिंचे। इस प्रकार ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में एक सामान्य पिछड़ापन आ गया और ग्रामीण जनसंख्या के बड़े भाग के लिये केवल 'मजदूरी' करना ही शेष रह गया।

(४) अन्य कारण – अकाल, आर्थिक कठिनाई, कर्ज का भार, सामाजिक पिछड़ापन एवं शिक्षा की कमी आदि कारणों ने भी खेतीहर मजदूरों की समस्या को अधिक तीव्र बना दिया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन ग्राम्य-अर्थ-व्यवस्था के विघटन ने कृषक मजदूर-वर्ग उत्पन्न किया और बाद की परिस्थितियों ने इनकी संख्या बढ़ाने में योग दिया और आज यह वर्ग भारत में सबसे ज्यादा दबा हुआ है और अत्यन्त दयनीय अवस्था में है।

खेतीहर मजदूरों की समस्या का रूप—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि खेतीहर मजदूरों की आर्थिक स्थिति बड़ी डाँवाडोल है। उन्हें बेकारी, आंशिक

बेकारी, निम्न आय, नीचा जीवन स्तर, गरीबी व शोषण का सामना करना पड़ता है। उनकी सामाजिक दशा भी बहुत गिरी हुई है। कई स्थानों में तो उनकी दशा गुलामों जैसी पाई गई है। कई बार थोड़ा-सा कर्ज लेने के बदले जीवन भर बेगार करनी पड़ती है। उन्हें निकृष्ट से निकृष्ट काम करना पड़ता है। कहीं कहीं तो बाप-दादों का कर्ज चुकाने के लिये भी महाजन या जमींदार के घर पर जीवन भर काम करना पड़ता है। ऐसे लोगों के लिये स्वतन्त्रता का क्या अर्थ हो सकता है। इन्हें हर प्रकार के शोषण का शिकार रहना पड़ता है।

खेतीहर मजदूरों की दशा में सुधार

न्यूनतम मजदूरी कानून – १९४८ का न्यूनतम मजदूरी-कानून कृषक श्रमिकों पर भी लागू किया गया है। शुरू में यह व्यवस्था की गई थी कि तीन वर्ष तक न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करदी जाय। लेकिन कानून लागू होने के तीन वर्ष तक राज्य सरकारें न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने में असमर्थ रहीं। बाद में संशोधन करके अवधि ३१ दिसम्बर, १९५४ तक करदी गई। मई, १९५५ में भारतीय-श्रम-सम्मेलन के १४ वें अधिवेशन में यह अवधि-सीमा भी हटा दी गई और यह निश्चय किया गया कि कभी भी न्यूनतम मजदूरी निश्चित की जा सकती है।

खेतीहर मजदूरों के लिये 'न्यूनतम मजदूरी' निर्धारित करना अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि प्रथम तो कृषि व्यवसाय-उद्योग से भिन्न प्रकृति का होता है, उसमें विभिन्न किस्म के काम होते हैं जिनकी अलग मजदूरी तय करना मुश्किल होता है। दूसरी बात यह है कि ये मजदूर देश के भिन्न-भिन्न कोनों में फैले हुए हैं, असंगठित हैं और कुछ महीने बेकार रहते हैं। बहुत से श्रमिक ऐसे स्थानों में काम करते हैं जहाँ सुविधापूर्वक पहुँचा नहीं जा सकता है। इन कठिनाइयों के कारण प्रथम तो न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करना मुश्किल होता है और द्वितीय उसे कार्यान्वित करना और भी दुष्कर होता है। यही कारण है कि न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने में काफी समय लग गया है।

अब तक न्यूनतम मजदूरी केरल, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, दिल्ली व त्रिपुरा में निश्चित की जा चुकी है। आसाम, आन्ध्र-प्रदेश, बिहार, बम्बई, हिमाचल-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, मैसूर, उत्तर प्रदेश व पश्चिमी बंगाल के कुछ क्षेत्रों में न्यूनतम मजदूरी निर्धारित की गई है। केन्द्रीय खाद्य व कृषि मंत्रालय एवं सुरक्षा मंत्रालय के अधीन चलाये गये कृषि-फार्मों में भी केन्द्रीय सरकार ने न्यूनतम मजदूरी निर्धारित की है।[1]

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में व्यवस्था :—खेतीहर मजदूरों की स्थिति सुधारने के लिए प्रथम पंच-वर्षीय योजना में कृषि उत्पादन, भूमि सुधार, सहकारिता, ग्रामीण उद्योग आदि से सम्बन्धित कार्यक्रमों पर जोर दिया गया। इसके अतिरिक्त प्रथम-योजना

(1) India 1960. p. 259.

में भूमिहीन मजदूरों को बसाने के लिए १'५ करोड़ रु० के व्यय करने की व्यवस्था की गई जिसके अन्तर्गत निम्न कार्यक्रम शामिल किये गये :—

(१) गाँवों में मकानों की जगह पर कब्जा प्रदान करना ;

(२) भू-दान में प्राप्त भूमि के बँटवारे में सहयोग देना ;

(३) श्रमिकों की सहकारी समितियाँ बनाकर स्थानीय सिंचाई वगैरः के कार्य सम्पन्न करना ;

(४) नई भूमि व कृषि-योग्य व्यर्थ भूमि के टुकड़ों पर भूमिहीन मजदूरों व अनार्थिक जोतों के स्वामियों को सहकारी ढंग पर बसाना ;

(५) मकान, बैल, औजार व अन्य सहायक उद्योगों के लिए भूमिहीन किसानों की सहकारी समितियों को ऋण व वित्तीय सहायता प्रदान करना ;

(६) व्यावसायिक व टैक्नीकल शिक्षा के लिए सहायता देना ;

(७) ग्रामीण-प्रसार-कार्यकर्त्ताओं व ग्राम-पंचायतों को खेतीहर मजदूरों के कल्याण के लिए उत्तरदायी बनाना ।

प्रथम योजना में मद्रास व आन्ध्र राज्यों में भूमिहीन श्रमिकों को बसाने के कार्यक्रम लागू किये गये । कई राज्यों में हरिजनों को बसाने के कार्यक्रम चलाये गये । भोपाल में केन्द्रीय सरकार ने १०००० एकड़ के फार्म पर भूमिहीन मजदूरों को बसाया ।

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के कार्यक्रम :—द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में भी खेतीहर मजदूरों की दशा सुधारने पर विशेष बल दिया गया है । गहरी खेती व विविधतापूर्ण कृषि-उत्पादन से गाँवों में रोजगार के साधन बढ़ेंगे । सामुदायिक विकास व राष्ट्रीय-विस्तार सेवा खण्डों में भी ऐसे कार्यक्रम अपनाने पर जोर दिया गया है जिनसे भूमिहीन किसानों को विशेष लाभ पहुँचे ।

ग्रामीण व छोटे उद्योगों के लिए २०० करोड़ रु० व्यय करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है । ६० करोड़ रु० पिछड़ी जातियों के कल्याण पर व्यय होंगे । शिक्षा व स्वास्थ्य के साधन बढ़ने से भी ग्रामीण मजदूरों को लाभ पहुँचेगा ।

श्रमिकों को बसाने के कार्यक्रमों, सहकारी समितियों की स्थापना, मकान की जगह देना, न्यूनतम मजदूरी को लागू करने आदि पर विशेष ध्यान दिया जायगा ।

१४ राज्यों ने ४ करोड़ रु० की लागत पर २० हजार भूमिहीन मजदूरों के परिवारों को १ लाख एकड़ भूमि पर बसाने का लक्ष्य निर्धारित किया है ।

भूमि पर सीमा-निर्धारण के बाद जो अतिरिक्त भूमि बचेगी उस पर भूमिहीन मजदूरों को बसाने की योजना है । इन्हें विभिन्न कार्यक्रमों में से साधन भी प्रदान किये जायेंगे ।

गाँवों में श्रम निर्माण-सहकारी-समितियाँ स्थापित होने से रोजगार के अवसर बढ़ेंगे ।

मजदूरों को मकान बनाने के लिए मुफ्त में जगह देने का सुझाव दिया गया है ।

न्यूनतम मजदूरी कानून को सभी राज्यों व सभी क्षेत्रों में लागू करने पर बल दिया गया है ।

भूदान व भूमिहीन श्रमिक

भूमिहीन श्रमिकों को बसाने के लिए आचार्य विनोबा भावे ने अप्रैल, १९५१ में भू-दान आन्दोलन चलाया जो अबतक देश के कोने-कोने में फैल गया है । ५ करोड़ भूमिहीन श्रमिकों को बसाने के लिए ५ करोड़ एकड़ भूमि १९५७ तक एकत्र करने का लक्ष्य रखा गया था । भू-दान आन्दोलन अब अपने विकसित रूप में 'ग्राम-दान', 'श्रम-दान,' 'संपत्ति-दान' 'बुद्धि-दान' व 'जीवन-दान' आदि की तरफ भी बढ़ चुका है । ३० नवंबर, १९५९ तक लगभग ४४ लाख एकड़ भूमि भू-दान में एकत्र की गई जिसमें से लगभग ८'४० लाख एकड़ भूमिहीन श्रमिकों में बाँटी जा चुकी है । अब तक ४,५६५ ग्राम दान में मिले हैं ।[1] सरकार ने इन ग्रामों में सामुदायिक विकास खंड खोलने का निश्चय किया है ताकि इनमें चौमुखी प्रगति हो सके ।

विनोबाजी व उनके समर्थकों का कहना है कि दिलों के टुकड़ों की जगह 'भूमि के टुकड़े' होना ज्यादा अच्छा है । इसलिए भूमिहीन श्रमिकों को अनुप्राणित व उत्साहित करने के लिए उन्हें छोटे छोटे भूमि के टुकड़े देना भी श्रेयस्कर माना गया है । भू-दान-कार्यक्रम आलोचना से परे नहीं है लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि यह सहकारी आन्दोलन भूमि-सुधार, ग्रामोत्थान व सामाजिक परिवर्तन के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर रहा है ।

सुझाव

सरकार द्वारा भूमिहीन किसानों की स्थिति सुधारने के लिए किये गये उपायों का वर्णन ऊपर किया गया है । उनके सफल होने से इनको बहुत लाभ होगा । लेकिन प्रश्न यह है कि क्या इन उपायों से इस वर्ग की स्थिति में कोई स्थायी व क्रान्तिकारी परिवर्तन आ सकेगा ? क्या अब तक इनके प्रति जो दृष्टिकोण व नीति अपनाई गई है, वह पर्याप्त व प्रभावपूर्ण सिद्ध हो सकेगी ? इस बात को यहाँ पुनः दोहराना अनुचित न होगा कि भूमिहीन किसानों की गरीबी दूर होने से गाँवों की गरीबी दूर होगी और समस्त देश पर उसका प्रभाव पड़ेगा । तीव्र औद्योगीकरण से ही भूमि पर जन-संख्या का भार कम किया जा सकेगा । भारत में आधुनिक पद्धति पर आधारित विकेन्द्रित छोटे उद्योगों को ग्रामीण जीवन में अपनाकर स्थायी सुधार की आशा की जा सकती है । आज ग्राम-केन्द्रित उद्योगों की अथवा गाँवों के औद्योगीकरण की आवश्यकता है। तभी गाँवों की जनता का जीवन-स्तर सुधर सकेगा । भूमि की भूख बढ़ाने की नीति

1 India 1960, p. 271.

भावी आर्थिक विकास की दृष्टि से सही नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि 'भूमिहीन श्रमिकों' को 'भूमि' पर ही बसाया जाय। उचित तो यह होगा कि 'वैज्ञानिक कृषि' को अपनाकर भूमि पर जन-भार घटाया जाय और अतिरिक्त जन-संख्या को पूँजी-निर्माण कार्यों की तरफ ले जाया जाय ताकि आर्थिक विकास हो सके और बेकार श्रम-शक्ति उत्पादक बन सके। बांध बनाना, मिट्टी की रक्षा के कार्य, वृक्षारोपण, सड़क-निर्माण, नहरें निकालना, कृषि-योग्य भूमि का क्षेत्र बढ़ाना आदि कार्यों में गाँवों की विशाल श्रम-शक्ति को लगाना चाहिए। ऐसे करने से ही अर्थ-व्यवस्था गत्यात्मक (Dynamic) हो सकेगी। कृषि से 'बचत' (Surplus) उत्पन्न होगी जो पुनः उत्पादक कार्यों में लगाई जायगी।

ग्रामीण क्षेत्रों की श्रम-शक्ति का पूर्ण उपयोग करने के लिए योजना आयोग ने विभिन्न श्रेणियों के कार्य प्रारम्भ करने पर जोर दिया है। ये श्रेणियाँ और इनके कार्य इस प्रकार हैं :—[1]

(१) ऐसे कार्य जिनमें अदक्ष व अर्द्ध-दक्ष श्रमिकों को लगाया जा सके जैसे सिंचाई व बाढ़-नियंत्रण के कार्यक्रम, नई भूमि तोड़ना, पानी के उचित बहाव की व्यवस्था करना ताकि वह एकत्र न हो, रेहवाली भूमि (Saline lands) को कृषि योग्य बनाना, वृक्षारोपण, मिट्टी रक्षा कार्य, सड़कें इत्यादि।

(२) खेतों में सिंचाई के लिए नालियाँ (Field channels) बनाना, नदी के क्षेत्र में बाँध बनाना (Contour-binding), तालाबों को ठीक रखना इत्यादि।

(३) सामूहिक सम्पत्ति के साधन तैयार करना जैसे गांव में तालाब बनाना, मछली उद्योग, ईंधन के पेड़ लगाना, चरागाह बनाना, मुर्गी-पालन, ग्रामीण उद्योग, परिनिर्माण उद्योग (Processing industries), पशु-पालन, आदि।

(४) ग्रामीण जनता को सुविधा (Amenities) पहुँचाने के कार्य जैसे पीने के पानी की व्यवस्था, गाँव की सड़क को मुख्य सड़क से मिलाना, स्कूल की इमारत बनाना और उसमें पुस्तकालय बनाना आदि।

हमारी राष्ट्रीय योजना इस तरफ काफी प्रयत्नशील है और सफलता भी मिलने लगी है लेकिन अब भी पर्याप्त राष्ट्रीय चेतना, विश्वास व उत्साह उत्पन्न होने बाकी हैं। साम्यवादी देशों में केन्द्रित योजना व कठोर प्रशासन से सफलता शीघ्र मिलती है लेकिन साथ में स्वतंत्रता भी खोई जाती है। हमें भारत में जन-जागरण के प्रजातान्त्रिक तरीकों को अपनाकर क्रान्तिकारी राष्ट्रीय कर्मठता जगानी है ताकि तीव्र आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त हो सके।

---

1. In 'Facts of Planning'—Published by Planning Commission Pages 27-40.

सन्दर्भ ग्रन्थ

(1) Report on Intensive Survey of Agricultural Labour, Employment, Underemployment, wages and levels of living, Vol. I (Delhi, Manager of Publications, 1955).

(2) Second Five Year Plan, Ch. XVI, p. 313-320.

(3) Recent Developments in certain aspects of Indian Economy Vol. II (I. L. O., India Branch, New Delhi, 1955), ch. 2.

बीसवाँ अध्याय

कृषि के साधन व पद्धति

भारत एक कृषि-प्रधान देश है। ७०% जन-संख्या कृषि पर आश्रित है जो कुल राष्ट्रीय आय का लगभग आधा हिस्सा प्राप्त करती है। अतः खेतीहर जन-संख्या को राष्ट्रीय आय का काफी छोटा अंश मिलता है। भूमि के बँटवारे में बहुत असमानता है। आधे से ज्यादा किसानों के पास ५ एकड़ से भी कम भूमि है। अतः उनकी आय बड़ी जोतों के मालिकों की तुलना में और भी कम है। उसमें एक परिवार का गुजारा भी अच्छी तरह नहीं हो सकता है। इसीलिए कहा जाता है कि भारतीय कृषि जीवन-यापन का साधन-मात्र है, यह एक लाभप्रद व्यवसाय नहीं है। ऐसी स्थिति में कृषि में पूँजी के विनियोग की मात्रा का कम होना स्वाभाविक बात है। भारतीय किसान की वास्तविक बचत बहुत कम है। अनार्थिक जोतों के स्वामियों को उधार लेना पड़ता है और ज्यादातर किसान ऋणग्रस्त पाये जाते हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि अधिकतर किसान आय से ज्यादा खर्च करते हैं और कृषि व्यवसाय से बचत होने की बजाय घाटा रहता है। यह कथन बड़े भू-स्वामियों पर तो लागू नहीं होता है लेकिन उनकी संख्या भी थोड़ी है। ज्यादातर किसान इस स्थिति में नहीं है कि वे प्रतिवर्ष कृषि में विनियोग की मात्रा बढ़ाकर भूमि की उत्पादन शक्ति बढ़ा सकें।

देश के सबसे बड़े उद्योग की यह स्थिति बड़ी चिन्ताजनक है। भारत में कम उत्पत्ति, कम बचत, कम विनियोग व कम आय का एक जहरीला चक्कर चल रहा है। प्रति एकड़ कम उत्पत्ति के कारणों की जाँच प्रायः तीन शीर्षकों के अन्तर्गत की जाती है :—

(१) कृषि के ढाँचे में दोष (Structural deficiencies) इसके अन्तर्गत भू-स्वत्व प्रणाली (Land-tenure system) आती है जिसमें किसान के भूमि-सम्बन्धी-अधिकारों का प्रश्न आता है।

(२) Technical या प्राविधिक कारण जिसमें कृषि के साधन व पद्धति सम्बन्धी दोष आते हैं जैसे उत्तम खाद, बीज, औजार आदि का अभाव।

(३) संगठन सम्बन्धी दोष (Organisational defects) जिसमें सहकारी खेती का अभाव, छोटे-छोटे व बिखरे हुए टुकड़ों की बाहुल्यता आदि समस्यायें आती हैं।

अतः भारतीय कृषि के विस्तृत विवरण में इसके ढाँचे, पद्धति व संगठन की चर्चा

की जाती है। इस अध्याय में हम द्वितीय प्रश्न अर्थात् टैक्नीक व प्राविधिक ज्ञान के विविध अंगों पर प्रकाश डालेंगे। अन्य विषयों का वर्णन अलग-अलग अध्यायों में किया जायगा।

भारतीय कृषि की टेकनॉलोजी के अन्तर्गत मिट्टी, खाद, बीज, औजार, फसलों का उलट-फेर, मिश्रित खेती, सिंचाई, व पशु-शक्ति' का विवरण आता है। इनमें से मिट्टी व पशु-शक्ति की चर्चा स्वतंत्र अध्यायों में पहले की जा चुकी है, इसलिए यहाँ शेष का विवरण दिया जाता है। निम्न विवरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रति एकड़ पैदावार व देश की कुल पैदावार बढ़ाने में उत्तम खाद, बीज, औजार आदि का कितना बड़ा हाथ हो सकता है। आज भारत में कृपि-उत्पादन बढ़ाने की बहुत आवश्यकता है क्योंकि तभी बढ़ती हुई जनसंख्या को खाद्यान्न मिल सकता है और कारखानों को कच्चा माल प्राप्त हो सकता है। इसलिए कृपि-टैक्नीक का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है।

खाद व उर्वरक (Manures & Fertilizers)

भारतीय मिट्टी शुरू से कम उत्पादक नहीं रही है बल्कि लगातार शताब्दियों तक खेती करने के परिणामस्वरूप अपना उपजाऊपन खो बैठी है। हम मिट्टी से कुछ न कुछ निकालना ही सीखे हैं, उसमें वापिस डालना या जोड़ना नहीं सीख पाये हैं। इसीलिए हमारे देश की मिट्टी का उपजाऊपन निम्न स्तर पर आकर ठहर गया है। उसमें अधिक गिरावट की गुंजाइश लगभग नहीं के बराबर रह गई है।

भारतीय मिट्टियों में नाइट्रोजन व फॉसफोरस का विशेपतया अभाव पाया जाता हैं। प्रति एकड़ उपज बढ़ाने के लिए नाइट्रोजन वाली खाद देना नितान्त आवश्यक है। यहाँ यह कहना उपयुक्त होगा कि खाद व सिंचाई दोनों का एक साथ होना आवश्यक है। सिंचाई की सुविधाओं के अभाव में खाद की उपयोगिता कम ही नहीं हो जाती बल्कि तेज खाद से कभी कभी फसलों की हानि हो सकती है। सूखी भूमि में खाद देने से लाभ नहीं होता है। अतः ज्यादातर खाद का उपयोग पर्याप्त वर्षा व सिंचाई वाले भागों में ही हो पाता है।

खाद निम्न साधनों से उपलब्ध होती है गोबर, नगरों व गावों में तैय्यार की हुई कम्पोस्ट खाद, हरी खाद, हड्डी व मछली की खाद, खली की खाद एवं रासायनिक उर्वरक (Chemical fertilizers) इनमें से प्रत्येक की हमारे देश में क्या स्थिति है, प्रत्येक किस्म की खाद का उत्पादन कैसे बढ़ाया जा सकता है, क्या समस्यायें हैं—आदि का विवरण नीचे दिया जाता है।

गोबर की खाद

गोबर में नाइट्रोजन पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। भारतीय किसान गोबर के उपयोग व महत्व से अपरिचित नहीं है लेकिन परिस्थितियों से मजबूर होकर वह इसे

जला डालता है। १८९३ में डा० वायलकर ने, १९२८ के कृषि-आयोग ने एवं सर जान रसैल ने गोबर के दुरुपयोग की चर्चा की है। लेकिन इसकी जिम्मेदारी पूर्णतया किसान पर नहीं डाली जा सकती। ईंधन के अभाव में किसान आज तक गोबर जलाने को विवश है। पशुओं का गोबर और पेशाब दोनों खाद की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी हैं। १९५१ की पशु-गणना के अनुसार ताजा गोबर की उत्पत्ति ८० करोड़ टन प्रति वर्ष है। लेकिन यह गोबर भूमि को नहीं मिलता है। इसका लगभग ४०% जला दिया जाता है, २०% व्यर्थ नष्ट हो जाता है और शेष ४०% खाद के काम आ पाता है।

गोबर की खाद का उत्पादन बढ़ाया जाना चाहिए क्योंकि इसके उपयोग से उत्पत्ति में अत्यधिक वृद्धि होती है। इस सम्बन्ध में निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं:—(१) पशुओं के बैठने की जगह घास बिछा देनी चाहिए ताकि उसमें गोबर व मूत्र पड़ता रहे और व्यर्थ न जाय।

(२) किसानों को खाद बनाने की उपयुक्त विधि बतानी चाहिए ताकि अधिकतम नाइट्रोजन प्राप्त हो सके। ताजे गोबर को खेत में बिखेर देने से कोई लाभ नहीं होगा।

(३) ऐसे वृक्ष लगाये जाने चाहिएँ जिनसे जलाने की लकड़ी शीघ्र प्राप्त हो सके। यदि किसान को पर्याप्त मात्रा में, ठीक समय पर सस्ती लकड़ी जलाने के लिए मिल सके तो वह गोबर को खाद बनाने में लगा सकेगा।

कम्पोस्ट बनाने के कार्यक्रम

शहरों व गाँवों के कूड़े-करकट, घास-पात, गोबर आदि को सड़ाकर कम्पोस्ट तैयार किया जाता है। यह विधि चीन में बहुत प्रचलित है। भारत में भी इसका प्रयोग निरन्तर बढ़ रहा है। १९५८-५९ में शहरी कम्पोस्ट खाद का उत्पादन लगभग २३ लाख टन हुआ था।[1] १९५९-६० का लक्ष्य बढ़ाकर २८·५ लाख टन रक्खा गया है।

सामुदायिक विकास व राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डों में भी स्थानीय खाद के साधनों का प्रयोग बढ़ाया जा रहा है। बड़ी पंचायतों व गांवों में मल-मूत्र से कम्पोस्ट बनाने के प्रयत्न चालू हुए हैं।

बड़े शहरों की गन्दी नालियों के पानी-पेशाब व कीचड़ का प्रयोग भी नाइट्रोजन की कमी को पूरा करने में मदद दे सकता है। लखनऊ, कानपुर, मद्रास, दिल्ली, वर्धा व नादियाद (Nadiad) शहरों के गन्दे पानी का प्रयोग खाद्यान्नों की फसलों के लिए किया गया है।

हरी खाद (Green Manure) :—भारतीय किसान हरी खाद का प्रयोग भी जानता है लेकिन गरीबी के कारण अपने खेत में हरी खाद की खेती करने को तैयार नहीं होता है। हरी खाद की विधि यह है कि इसमें कुछ फसलें जैसे सन, ढैंचा, चना

(1) India, 1960 p. 252.

आदि खेत में तैयार की जाती हैं। जब इनके पौधे थोड़े बड़े हो जाते हैं तो उनको मिट्टी में जोत दिया जाता है ताकि उसे हरी खाद मिल सके। हरी खाद देने के बाद जब खेती की जाती है तो फसल की उत्पत्ति काफी बढ़ जाती है। हरी खाद की दूसरी विधि यह है कि फली वाले पौधे (Leguminous Plants) जैसे ग्वार, चना, मोठ, मूंग आदि अपनी जड़ों में नाइट्रोजन तैयार करते हैं जिससे मिट्टी उपजाऊ हो जाती है। इसलिए साथ की अन्य फसलों को लाभ होता है।

कई राज्यों में हरी खाद के बीज थोड़ी बहुत मात्रा में बांटे गये हैं। मद्रास व आन्ध्र-प्रदेश में हरी खाद की विधि विशेष लोकप्रिय सिद्ध हुई है। राज्यों को हरी खाद के बीज बढ़ाने के लिए २ रु० प्रति मन आर्थिक सहायता भी दी गई है।

हड्डी की खाद :—हड्डियों में फॉस्फेट पाया जाता है। भारत में किसान की अज्ञानता व अन्ध-विश्वास ने हड्डियों की खाद के उपयोग में बाधा डाली है। इसके अलावा हड्डियों का चूर्ण या पाउडर बनाने की विधि का ज्ञान नहीं है। साथ में किसानों को यह भी पता नहीं है कि किस मिट्टी में किस मात्रा में इस खाद का उपयोग होना चाहिए। हड्डियों के निर्यात ने भी इस साधन के प्रयोग में बाधा डाली है। धीरे-धीरे निर्यात कम होने से हड्डियों की खाद का प्रयोग व प्रचार बढ़ रहा है।

मछली की खाद—मछली के अवशिष्ट पदार्थ खाद बनाने के काम आ सकते हैं। अभी तक मछली की खाद बहुत कम बनाई जाती है। इसमें नाइट्रोजन अथवा फॉसफोरस पाये जाते हैं। भविष्य में मछली की खाद का उत्पादन बढ़ाया जाना चाहिये।

खली की खाद—तिलहन व खली के निर्यात ने इस साधन से खाद प्राप्त होने में रुकावट डाली है। खली पशुओं को खिलाने से भी मिट्टी को खाद मिल जाती है। लेकिन कुछ खली जो पशुओं को खिलाने के लायक नहीं है, वह खाद के रूप में प्रत्यक्षतया प्रयुक्त हो सकती है। आजकल भारत में तेल निकालने के कारखाने बढ़ाये जा रहे हैं ताकि भविष्य में खली का प्रयोग देश में ही पशुओं के भोजन अथवा खाद के रूप में हो सके। लेकिन कुछ वर्षों तक खली का उपयोग पशुओं को खिलाने के लिए ही किया जाना चाहिये ताकि उनकी दुग्ध देने की क्षमता बढ़ सके।

रासायनिक खाद (Chemical fertilizers)—उपर्युक्त साधनों से खाद की माँग की पूर्ति होना सम्भव नहीं प्रतीत होता है। अतः रासायनिक खाद का प्रयोग भी देश में होने लग गया है। १९५१ से २३ करोड़ रु० की लागत से बिहार में सिन्दरी में खाद व रसायन का कारखाना चालू किया गया है। इसकी प्रारम्भिक उत्पादन-क्षमता ३,५०,००० टन प्रतिवर्ष अमोनियम सल्फेट की है। इस क्षमता में अब वृद्धि की गई है।

रासायनिक खाद का उत्पादन बढ़ाने के लिये खाद के तीन नये कारखाने स्थापित किये जायेंगे जो नांगल, रुरकेला, व नेवेली में स्थित होंगे। हम रासायनिक खाद का आयात भी करते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि रासायनिक खाद के उपयोग से मिट्टी की शक्ति का क्षय होने लगता है और वस्तु की किस्म घटने लगती है। इस सम्बन्ध में विभिन्न मत-भेदों में पड़ने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि रासायनिक खाद का प्रयोग अन्य किस्म की खादों के साथ-साथ किया जाना चाहिये ताकि सर्वोत्तम परिणाम निकलें।

रासायनिक खाद में सुपर फॉसफेट की माँग भी बढ़ती जा रही है।

अभी तक रासायनिक खाद की कीमत किसान की आर्थिक स्थिति को देखते हुये ऊँची है। उसकी क्रयःशक्ति कम है। इसलिये राज्यों को अल्पकालीन ऋण दिये जाते हैं ताकि नाइट्रोजन वाली खाद खरीद कर किसानों को उधार पर वेच सकें। अमोनियम सल्फेट राज्यों को [1] ३५० रु० प्रति टन के हिसाब से दिया गया है। फॉसफेटिक खाद की कीमत का २५ प्रतिशत आर्थिक सहायता के रूप में छोड़ा जाता है लेकिन इसका आधा वोझा वितरण करने वाले राज्य को उठाना पड़ता है। भारत में रासायनिक खाद की माँग उत्तरोत्तर बढ़ रही है। किसान खाद के लाभों से परिचित हो गया है। देश में खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने की वहुत आवश्यकता है। प्रो० एन० आर० मल्कानी का कहना है कि भारत में लगभग १० लाख टन नाइट्रोजन अर्थात् ५० लाख टन अमोनियम सल्फेट की वार्षिक माँग है। सिन्दरी के कारखाने में ७० हजार टन नाइट्रोजन का उत्पादन होने लग गया है। अब हमें १३ सिन्दरी और चाहिए ताकि उत्पादन १० लाख टन नाइट्रोजन तक होने लग जाय। प्रति कारखाने की लागत यदि ३० करोड़ रु० आँकी जाय तो लगभग ४०० करोड़ रु० व्यय करके देश की खाद की माँग पूर्ण की जा सकती है।[2]

उपर्युक्त विवरण से खाद के महत्व पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। अतः हमें सभी खाद के साधनों का समुचित प्रयोग करना होगा तभी खाद्यान्नों व कच्चे माल का उत्पादन आवश्यक मात्रा में बढ़ाया जा सकेगा। प्राकृतिक खाद (Organic Manures) व रासायनिक खाद (Inorganic or Chemical fertilizers) दोनों का संतुलित प्रयोग किया जाना चाहिए और सभी प्रकार के खादों की पूर्ति बढ़ाई जानी चाहिये। हमारा लक्ष्य व्यर्थ पदार्थों को सम्पत्ति (Waste into Wealth) बदलना होना चाहिये तभी विशाल जनसंख्या को पर्याप्त खाद्यान्न दिया जा सकेगा।

1. India 1960 Page 253.
2. 'The Real challenge of The Third Plan' By Prof. N. R. Malkani' in AICC Economic Review, March 15, 1960.

सुधरे हुए बीज (Improved Seeds)

कृषि-उत्पादन की मात्रा व किस्म सुधारने के लिये बीजों का चुनाव बहुत आवश्यक होता है। यह तरीका बहुत सरल और सस्ता होता है। थोड़ा व्यय बढ़ाकर, किसान तुरन्त अधिक उत्पादन के रूप में लाभ प्राप्त करने लगता है। सुधरे हुए बीजों से अधिकतम लाभ उठाने के लिये खाद व सिंचाई की भी आवश्यकता होती है। बीजों के चुनाव, मेल से उत्पन्न बीज व पौधे (Hybridisation) एवं विदेशी बीजों के उचित प्रयोग से उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। सुधरी हुई किस्मों के प्रयोग से ५ से १० प्रतिशत तक उत्पत्ति बढ़ना सम्भव हो सकता है।

भारत में पिछले वर्षों में कपास व गन्ने की उपज बढ़ाने में इस विधि का प्रयोग किया गया है। व्यापारिक फसलों में सुधरे हुये बीजों का प्रयोग निरन्तर बढ़ता जा रहा है। गेहूँ और चावल की पैदावार बढ़ाने में भी सुधरे हुए बीजों का प्रयोग बढ़ा है।

अब तक लगभग[1] ४६ मिलियन एकड़ भूमि पर अच्छे बीजों का प्रयोग होने लगा है। सामुदायिक विकास व राष्ट्रीय-विस्तार सेवा-खण्डों में उपज बढ़ाने के लिए सुधरे हुए बीज बाँटे गये हैं।

सुधरे हुए बीज बाँटने से पहले इनका उत्पादन गुणन-केन्द्रों में (Seed Multiplication Centres) बढ़ाना पड़ता है। अभी तक अच्छे बीजों की पूर्ति माँग की तुलना में कम है। इसलिए अच्छे बीजों की पूर्ति बढ़ाई जानी चाहिये।

अच्छे बीजों के अपनाने में पहली कठिनाई यह रही है कि इनके लिए अधिक खाद की आवश्यकता पड़ती है। इसके अलावा बीजों की पूर्ति कम होने से सबको प्राप्त होने में कठिनाई होती है। अभी तक बीजों का व्यवस्थित बाजार नहीं पनप पाया है।

तृतीय पंच-वर्षीय योजना में कृषि- उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि करने का लक्ष्य अपनाया गया है। अतः सुधरे हुए बीजों का उत्पादन व वितरण सुव्यवस्थित होना चाहिए। चावल व गेहूँ के सम्बन्ध में सुधरे हुए बीजों का प्रयोग बढ़ाया जाना चाहिए। भारत में बहुत सी किस्म के गेहूँ व चावल के बीज पाये जाते हैं। देश के विभिन्न स्थानों के लिए उपयुक्त बीजों का चुनाव किया जाना चाहिए। यदि हम तृतीय योजना के अन्त तक १०० मिलियन एकड़ भूमि में अच्छे बीजों का प्रयोग कर सकें तो उपज बढ़ने में बहुत मदद मिलेगी।

प्रत्येक विकास खण्ड में बीज-भंडारों की संख्या कम-से-कम चार होनी चाहिए ताकि अच्छे बीज किसान के दरवाजे तक पहुँचाये जा सकें।[2] बीज बढ़ाने वाले फार्म स्थापित करने के लिये भूमि देने की व्यवस्था सरल की जानी चाहिये।

---

1. Article by Prof. N. R. Malkani; Economic Review, March 15, 1960. Page 18.

2. Report of Foodgrains Enquiry Committee Nov. 1957-Page 111 (9.26 and 9.27 sections)

कृषि के औजार

भारतीय किसान के पास आज जो औजार हैं वे बहुत वर्षों पुराने और घटिया किस्म के हैं। कृषि की सदियों पुरानी पद्धति देश में चल रही है। इस पद्धति में परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। भारतीय कृषक अपने कार्य में निपुण है। सर जॉन रसेल ने भी स्वीकार किया है कि भारतीय किसान विश्व के अन्य भागों की कृषक जनसंख्या की तुलना में अपने कार्य को ज्यादा समझता है। लेकिन साथ में यह भी मानना पड़ेगा कि पुराने औजारों व पुरानी पद्धति के सहारे खेती की उपज बढ़ाना सम्भव नहीं है। वर्तमान कृषि की दशा को देखते हुए इसे अवैज्ञानिक अथवा अकुशल (Unscientific or Inefficient) कहना अनुचित न होगा। भारतीय कृषि को 'वैज्ञानिक' बनाने की आवश्यकता है। 'वैज्ञानिक' बनाने का अभिप्राय यंत्रीकरण (Mechanisation) करना नहीं है। पुराने औजारों में आवश्यक सुधार, सहकारी कृषि, उत्तम खेती के लिये खाद, बीज व सिंचाई के प्रयोग आदि 'वैज्ञानिक' कृषि के आधार स्तम्भ होंगे।

खाद्य-समस्या पर आयोजित एक गोष्ठी में बोलते हुए नेहरू जी ने कृषि के औजारों में सुधार करने पर जोर दिया था। उन्होंने कहा था कि "मेरे अनुमान से पुराना हल पिछले २००० या ३००० वर्षों से काम में आ रहा है। मुझे मालूम नहीं कि कितने समय से यह प्रयुक्त हुआ है। ये हल भूमि की सतह को २ या ३ इञ्च तक खरोंचते हैं। उससे अच्छे परिणामों की आशा कैसे की जा सकती है ? लेकिन एक कठिनाई और है। यदि आप बहुत अच्छा हल लाते हैं तो बैल इतने बलिष्ठ नहीं हैं कि उसको खींच सकें। बैल कमजोर हैं। सिर्फ देश के कुछ भागों में बैल बलिष्ठ हैं। लेकिन ये सब ऐसे मामले हैं जो बहुत बड़ी कठिनाइयां उपस्थित नहीं करते और जिनका हल निकाला जा सकता है।"[1] भारतीय किसान के औजार सरल, हल्के, सस्ते, वहनीय, छोटे, पुराने व थोड़े हैं। वे बैलों की क्षमता के अनुसार ही हैं। हमारे खेत भी छोटे-छोटे आकार के हैं और बिखरे हुए हैं। अतः गरीब किसान, छोटे खेत, मामूली पूँजी, पुराने औजार व दुर्बल बैलों की जोड़ी आदि ने मिलकर भारतीय कृषि की पद्धति को अकुशल, घटिया व पिछड़ा हुआ बना दिया है। यदि हम इनमें से एक को ठीक करना चाहें तो हमारा प्रयास ज्यादा फलदायक नहीं होगा। नये औजारों के साथ-साथ अधिक पूँजीगत साधन, उत्तम बैलों की जोड़ी, आर्थिक जोत वाले खेत एवं खुशहाल कृषक की भी आवश्यकता है। इसलिये पुराने औजारों के लिये कृषक को ही दोषी ठहराना उचित नहीं होगा। सारी टैक्नीक ही पिछड़ी हुई होने से औजार कैसे उत्तम व कुशल होंगे ?

1. Problems of Food Production in an Underdeveloped Economy —A Symposium—Page 9.

किसान के औजारों में हल के अलावा बीज डालने की नली (Seed drill), पाटा, चरस, रस्सी, कुदाली, खुरपी, हँसिया, बैलगाड़ी आदि आते हैं। अभी तक नये औजारों के निर्माण में विशेष प्रगति नहीं हुई है। लकड़ी के हल के स्थान पर लोहे का हल निकाला गया है, लेकिन उसके सम्बन्ध में भी कुछ कठिनाइयाँ हैं[1] जैसे वह भारी होता है इसलिये कमजोर बैल उसे खींच नहीं सकते हैं। किसान भी एक खेत से दूसरे खेत में लोहे के हल को ले जाने में बोझा महसूस करता है। उसकी मरम्मत के लिए एक छोटी फाउन्ड्री चाहिये जिसका देहात में होना दुष्कर है। गहरी जुताई से सम्भव है कि मिट्टी की नमी को क्षति पहुंचे। इससे मिट्टी को अधिक खाद की आवश्यकता हो जाती है। फिर चावल की खेती में तो लकड़ी का हल ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। कृषि आयोग ने कहा था कि भारत में कृषि के औजार स्थानीय परिस्थितियों को देखते हुये उपयुक्त हैं। ऊपर भी इनकी सरलता व सस्तेपन के बारे में कहा जा चुका है। लेकिन आधुनिक ज्ञान की रोशनी में उनमें आवश्यक सुधार किया जाना चाहिये। सर जॉन रसेल की राय इस सम्बन्ध में काफी आशाजनक है। उन्होंने कहा था कि, "नये औजार पुराने से हमेशा ज्यादा कारगर नहीं होते हैं, लेकिन वे हल्के होते हैं और मनुष्यों व बैलों को कम श्रम करना पड़ता है एवं वे शीघ्रता से काम करते हैं। बैल के श्रम में बचत होने से बड़े किसानों को इतने ज्यादा बैल रखने की आवश्यकता नहीं होगी और वे दूध देने वाले पशुओं को ज्यादा अच्छा खिला सकेंगे, काम की रफ्तार ज्यादा होने से आवश्यकता के समय और सबसे ज्यादा लाभदायक अवसर पर कृषि के विविध कार्य किये जा सकेंगे।"

देशी औजारों में सुधार करने के लिये ग्रामीण लुहारों व खातियों को आवश्यक प्रशिक्षण मिलना चाहिये। जगह-जगह ऐसे कारखाने खोले जाने चाहियें जहाँ पर सुधरी हुई किस्म के औजार बनाये जाते हैं। साथ ही इनके वितरण व मरम्मत की सुव्यवस्था की जानी चाहिये। बैलगाड़ी में रबड़ के टायर व बाल-बियरिंग का प्रयोग किया जाना चाहिये। जैसे नई भूमि तोड़ने के लिये ट्रैक्टर व बुल-डॉजर आदि लाभदायक होंगे। लेकिन भारतीय कृषि में सम्पूर्ण रूप से यंत्रीकरण[2] न तो सम्भव है और न वाँछनीय ही है। भारत में हल्के व आधुनिक औजारों का प्रयोग करने की आवश्यकता है। इससे खेती के कार्यों में कुशलता में वृद्धि होगी और परिणामस्वरूप उपज भी अधिक मिल सकेगी।

---

1. Our Economic Problem—Wadia & Merchant, Page 200. (Six th Edition, Sept., 1959)

२. यंत्रीकरण के गुण-दोष के लिए अध्याय २२ देखिये।

फसलों का हेर-फेर व मिश्रण (Rotation and mixed cropping)

फसलों के हेर-फेर व मिश्रित फसलों की विधि भारतीय किसान सदियों से जानता है। वह अपने अनुभव व परिस्थिति के अनुसार इनका उपयोग भी करता आ रहा है।

जब एक ही भूमि पर विभिन्न फसलें एक के बाद एक करके पैदा की जाती हैं तब उसे फसलों का उलट-फेर (Rotation) कहते हैं। यह पद्धति ज्यादातर खाद्यान्नों की फसलों व दालवाली फसलों में उपयोगी सिद्ध होती है क्योंकि प्रथम किस्म की फसलें नाइट्रोजन काम में लेने वाली होती हैं जबकि द्वितीय किस्म की फसलें इसकी पूर्ति करती हैं। इसलिए लगातार खाद्यान्नों की फसलें बोने के बजाय यदि बीच में दालों की फसलें उत्पन्न की जाती हैं तो भूमि का उपजाऊपन बढ़ता है और अन्त में खाद्य की कुल पैदावार ज्यादा होती है।

फसलों के हेर-फेर की पद्धति से निम्न लाभ होते हैं—

(१) खाद्यान्नों की प्रति एकड़ उपज बढ़ती है क्योंकि मिट्टी की उर्वरता अधिक हो जाती है।

(२) फसलों की कीटाणुओं व बीमारियों से रक्षा होती है।

(३) मिट्टी का कटाव रुकता है।

(४) पशुओं को सुधारने में मदद मिलती है। इससे कृषि की उन्नति होती है।

विभिन्न क्षेत्रों में परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण अलग अलग फसलों का हेर-फेर उपयुक्त सिद्ध होता है।

भारत में जनसंख्या के दबाव के कारण परती भूमि का क्षेत्र भी कम है। इसलिए भूमि की खोई हुई उर्वरता को पुनः प्राप्त करने में कठिनाई होती है। तदर्थ फसलों का हेर-फेर उत्तम है।

हमारे देश में चावल की खेती में फसलों की हेर-फेर की पद्धति नहीं अपनाई जा सकती है क्योंकि सिल्ट नई होने से खाद देने की आवश्यकता कम हो जाती है।

फसलों का मिश्रण

मिट्टी की खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने की दूसरी विधि मिश्रित फसलें तैयार करना है। इस विधि का प्रयोग भी भारत में सदियों से होता आ रहा है। इसमें एक ही साथ एक से ज्यादा फसलें बोई जाती हैं जैसे गेहूँ, चना, जौ, ज्वार, कपास, बाजरा, मूँग, मोठ, ग्वार, अरहर, उड़द, मूँगफली आदि।

एक ही खेत में या तो अलग-अलग टुकड़ों में अलग-अलग फसलें बो देते हैं अथवा मिले-जुले ढंग पर सारे खेत में विभिन्न फसलें उगा देते हैं। कुछ जल्दी उगने वाली व पकने वाली होती हैं और कुछ देर से तय्यार होने वाली होती हैं। कुछ की जड़ें गहरी होती हैं तो कुछ की सतह पर ही होती हैं।

फसलों के मिश्रण से कई लाभ होते हैं जैसे मिट्टी की उर्वरा शक्ति बनी रहती है,

सारी फसल के नष्ट होने का भय नहीं रहता है क्योंकि अलग अलग फसलों की प्रकृति अलग अलग होती है, एवं भूमि के तत्वों का पर्याप्त शोषण होता है। यही नहीं बल्कि मिश्रित फसलों की पद्धति में एक फसल दूसरी की रक्षा करती है जैसे पंजाब में जुआर की फसल कपास की गर्म हवाओं से रक्षा करती है। इस प्रकार 'वैज्ञानिक' खेती के लिए मिश्रित फसलें तैयार करना बहुत उपयोगी होता है। सूखी कृषि के क्षेत्रों के लिए यह विशेष रूप से उपयोगी प्रमाणित हुई है।

फसलों के हेर-फेर व मिश्रण की प्रचलित पद्धतियों में विशेष सुधार की सम्भावना नहीं हैं क्योंकि भारतीय किसान इन सबसे बहुत प्राचीन काल से परिचित रहा है और अपने आर्थिक हित में अपने अनुभव के आधार पर इनका प्रयोग भी करता रहा है। यहाँ पर सिर्फ इनके महत्व पर ही प्रकाश डाला गया है।

सिंचाई

भारत सदा से एक कृषि-प्रधान देश रहा है। कृषि की पैदावार अन्य बातों के साथ साथ पर्याप्त सिंचाई पर निर्भर करती है। भारतीय कृषि को मानसून का जूआ कहा गया है। वर्षा पर निर्भर रहने के कारण ही हमारी कृषि में अस्थिरता रही है। सिंचाई के साधनों का विकास करके कृषि में स्थिरता उत्पन्न की जा सकती है। अन्य देशों की बनिस्बत भारत जैसे देश के लिए सिंचाई का विशेष महत्व है। इसके निम्न कारण हैं—

(१) **वर्षा की अनिश्चितता**—भारत में वर्षा का होना निश्चित नहीं है। किसी वर्ष बहुत कम होती है। कभी-कभी शुरू में अच्छी वर्षा हो जाती है लेकिन बाद में कई महीने व सप्ताह सूखे निकल जाते हैं और पैदावार नष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति में खेती पूर्णतया मानसून का खेल बन जाती है। सिंचाई की व्यवस्था होने से ही मानसून की अनिश्चितता से मुक्ति मिल सकती है।

(२) **वर्षा की अपर्याप्तता**—भारत में वर्षा का वितरण सर्वत्र एकसा नहीं है। एक ओर चेरापूंजी में वर्षा का वार्षिक औसत ४५०" है तो दूसरी ओर पश्चिमी राजस्थान में यह ५" से भी कम है। कम वर्षा वाले क्षेत्रों में सिंचाई की सुविधा होने से ही खेती की जा सकती है।

(३) **वर्षा की मौसमी प्रकृति**—भारत में वर्षा ज्यादातर वर्षा ऋतु में ही होती है जिसकी अवधि जून से अक्टूबर तक सीमित होती है। इन महीनों की फसलें तो वर्षा के सहारे भी हो सकती हैं लेकिन साल के शेष महीनों में सिंचाई की बहुत आवश्यकता होती है। पंजाब में थोड़ी वर्षा जाड़े के दिनों में भी होती है लेकिन वह अपर्याप्त रहती है। इसलिए साल भर खेती करने के लिए सिंचाई की व्यवस्था होना आवश्यक है।

(४) **विशेष फसलों के लिए**—ईख व चावल की खेती को पर्याप्त जल की आवश्यकता होती है और वह सिंचाई से ही मिल सकता है।

(५) **अकाल के भय से छुटकारा**—सिंचाई के अभाव में अकाल पड़ने का भय बना रहता है। ऐसा देखा गया है कि अकालग्रस्त क्षेत्र प्रायः वे ही होते हैं जहाँ वर्षा की कमी रहती है और उस कमी की पूर्ति के लिए सिंचाई के साधन नहीं होते हैं। जब से भारत में सिंचाई के साधनों का विकास हुआ है तब से अकालों की संख्या व भीषणता घट गई है। पहले सिंचाई के साधनों में उत्पादक (Productive) व रक्षात्मक (Protective) दो भेद किये जाते थे। रक्षात्मक साधनों का उद्देश्य अकाल के भय से मुक्ति दिलाना ही था।

(६) **गहन खेती संभव**—भारत में बढ़ती हुई जनसंख्या की खाद्यान्नों सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति के लिए गहरी खेती बहुत आवश्यक है। प्रति एकड़ उपज बढ़ाने के लिए सिंचाई, उत्तम खाद, बीज व औजारों की आवश्यकता होती है। इन सबका प्रयोग एक साथ किया जाना चाहिए वरना उपज नहीं बढ़ेगी। अतः गहरी खेती के कार्यक्रम में प्रथम स्थान सिंचाई' को ही दिया गया है। इससे कुल उत्पत्ति में पर्याप्त वृद्धि होती है।

(७) **उपज की किस्म में सुधार**—सिंचाई से उपज की मात्रा के बढ़ने के साथ-साथ किस्म में भी सुधार होता है जिससे किसान की आय बढ़ती है और उसका रहन-सहन का दर्जा ठीक होता है।

(८) **नई भूमि पर खेती सम्भव**—भारत में कृषि-योग्य बेकार भूमि पड़ी है। सिंचाई के साधनों का विस्तार करके उसमें से काफी एकड़ जमीन खेती के अन्तर्गत लाई जा सकती है। ऐसी भूमि को सिंचाई के बिना कभी भी खेती के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है। राजस्थान में राजस्थान नहर के बन जाने से नई भूमि पर पहली बार कृषि प्रारम्भ की जायगी। इस प्रकार सिंचाई से विस्तृत खेती (Extensive cultivation) भी संभव बन जाती है।

(९) **सरकारी आय में वृद्धि**—सिंचाई की व्यवस्था बढ़ने से सरकार की आय में प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों तरह से वृद्धि होती है। प्रत्यक्ष रूप से तो जल-कर (Water Rates) व लगान आदि प्राप्त होते हैं और परोक्ष रूप से अधिक उत्पत्ति होने से रेलों की आय, अन्य करों की आय आदि बढ़ने से सरकारी खजाने में अधिक धन आता है।

(१०) **यातायात की सुविधा**—नहरों से सिंचाई के साथ-साथ यातायात की सहूलियत भी बढ़ती है। रेलों से सिर्फ यातायात ही हो पाता है जब कि नहरों से सिंचाई व यातायात दोनों संभव बन पाते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था में सिंचाई बहुत महत्वपूर्ण है। नहरों की सिंचाई से प्रायः हानियाँ भी हो जाती हैं और विशेषतया अव्यवस्थित सिंचाई कई बार भारी क्षति पहुँचा देती है।

हानियाँ—(१) भूमि की ऊपरी सतह पर नमक जमा हो जाता है जिससे रेह वाली मिट्टी (Alkaline soils) की समस्या उत्पन्न हो जाती है। इसमें बहुत सी भूमि खेती के लायक नहीं रहती है।

(२) मलेरिया व अन्य रोग उत्पन्न होने लगते हैं।

(३) बाढ़ का भय बढ़ जाता है।

सिंचाई की उपर्युक्त हानियाँ पानी के उचित बहाव की व्यवस्था (Proper drainage) तथा पक्की नहरें आदि बनाने से कम की जा सकती हैं।

सिंचित क्षेत्र

भारत में १९५६-५७ में लगभग ३२·२५ करोड़ एकड़ भूमि पर खेती की गई जिसमें से[1] ५५७ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई की गई। अतः कृषि के कुल क्षेत्र का १७% सिंचाई के अन्तर्गत आ चुका था।

वैसे प्रथम पंच वर्षीय योजना के अंत तक लगभग ६४० लाख एकड़ भूमि में सिंचाई के साधनों की व्यवस्था की जा चुकी थी लेकिन वास्तव में सिंचाई केवल ५५७ लाख एकड़ भूमि में ही की गई—अर्थात् सिंचाई की पूरी क्षमता (Potential Capacity) का प्रयोग नहीं किया जा सका।

यह ध्यान देने की बात है कि भारत में सिंचित क्षेत्र विश्व के अन्य सभी देशों के मुकाबले सबसे अधिक है। यह संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के सिंचित क्षेत्र का २½ गुना है। लेकिन हमारे देश की आवश्यकताओं को देखते हुए सिंचित क्षेत्र कम है।[2] पाकिस्तान में ४८% कृषित भूमि पर एवं चीन में ४६% पर सिंचाई की जाती है जबकि भारत में सिर्फ १७% पर सिंचाई होती है।

सिंचाई के साधन

भारत में सिंचाई के प्रमुख साधन कुएँ, तालाब व नहरें हैं। देश के विभिन्न भागों में धरातल की रचना एक सी नही है, इसलिए सिंचाई के साधनों की विविधता पाई जाती है। उत्तर में मैदानी भाग नहरों द्वारा सिंचाई के लिए उपयुक्त है। बारह महीने बहने वाली नदियाँ, मैदान का पूर्व की ओर ढलाव, उपजाऊ मिट्टी, नहरें खोदने की सुविधा आदि ने उत्तरी भारत को नहरों के लिए आदर्श क्षेत्र बना दिया है। उत्तर के जिन भागों में नहरें नहीं पहुँच पाती हैं उनमें कुओं से सिंचाई की जाती है। दक्षिण भारत में ऊबड़-खाबड़ भूमि, तेज गहरी और मौसमी नदियों के होने से नहरें निकालने में कठिनाई होती है अतएव अधिकांश तालाबों से सिंचाई होती है परन्तु नदियों के डेल्टा-प्रदेश में नहरें भी बनाई गई हैं।

---

1. India 1960, page 247 (Table 132).
2. United Asia Food Supplement, 1950, Page 158.

१९५६-५७ में लगभग ५५७ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई की गई जिसमें विविध साधनों का हिस्सा इस प्रकार था[1] :—

	(लाख एकड़)	सिंचित क्षेत्र का प्रतिशत (लगभग)
नहरें	२२९	४१
तालाब	१११	१९
कुएँ	१६२	३०
अन्य साधन	५५	१०
कुल	५५७	१००

अतः सिंचाई के साधनों में क्षेत्र की दृष्टि से नहरों का प्रथम स्थान और कुओं का दूसरा स्थान आता है। नीचे सिंचाई के प्रत्येक साधन का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है :—

(१) कुएँ—भारत में कुल सिंचित भूमि के ३० प्रतिशत भाग पर कुओं से सिंचाई होती है। कुओं की सिंचाई से उपज नहरों की सिंचाई की बनिस्बत अधिक होती है। कुएँ आसानी से खोदे जा सकते हैं। कुओं से पानी निकालने में परिश्रम करना पड़ता है इसलिए इनके पानी के उपयोग में सावधानी रखी जाती है। कुओं की सिंचाई से 'रेहवाली' मिट्टी की समस्या उत्पन्न नहीं होती है। इन लाभों के अलावा कुओं की सिंचाई की कुछ मर्यादायें भी हैं जैसे बहुत नीची सतह वाले जल के स्थानों में कुएँ खोदना कठिन होता है। कहीं-कहीं खारा पानी निकलता है जो फसल नष्ट कर देता है। कुओं का पानी बहुत बड़े क्षेत्र को नहीं सींच सकता है।

कुएँ दो प्रकार के होते हैं—साधारण खुले कुएँ और बिजली से चलने वाले नल-कूप (Tube-Wells)। साधारण कुएँ कच्चे व पक्के हो सकते हैं। पक्के कुओं के बनाने में ईंटें, चूना, पत्थर व सीमेंट आदि का प्रयोग होता है। कुओं से पानी निकालने के लिए ढेकली, चरस या रहँट या पम्पों का प्रयोग किया जाता है।

नल-कूप (Tube-Wells)—उत्तर-प्रदेश में ट्यूब-वैल की सिंचाई का बहुत प्रयोग हुआ है। गंगा-नहर-ग्रिड योजना से जो बिजली उत्पन्न की जाती है उसका प्रयोग ट्यूब वैल से पानी निकालने में किया जाता है। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में वर्षा कम होती है। अतः वहाँ सिंचाई के लिए नल-कूपों का प्रयोग किया गया है। उत्तर प्रदेश के बिजनौर, मुरादाबाद, मुजफ्फरनगर, मेरठ, अलीगढ़ व बुलन्दशहर जिलों में नल-कूपों का विशेष प्रयोग हुआ है।

---
1. India, 1960, Page 247.

बिहार, पंजाब व राजस्थान में भी नल-कूपों से सिंचाई की जाती है। सिंचाई के छोटे साधनों में (Minor Irrigation) नल-कूपों का स्थान सर्वोपरि है।

प्रगति[1]—प्रथम पंच-वर्षीय योजना में भारत-अमेरिका-टैक्नीकल-सहायता-कार्यक्रम के अन्तर्गत ३,००० ट्यूब वैल उत्तर प्रदेश, बिहार व पंजाब में बनाने का निश्चय किया गया था। यह कार्यक्रम सितम्बर १९५९ में पूर्ण हो गया है। १९५४ में 'अधिक अन्न-उपजाओ-आन्दोलन' के अन्तर्गत ७०० ट्यूब वैल बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। इनमें से ३५० ट्यूब-वैल तो ३,००० वाले कार्यक्रम में शामिल कर लिये गये और शेष ३५० में से २७० सितम्बर, १९५९ तक तैयार हो चुके हैं।

उत्तरी गुजरात में भी ३७४ ट्यूब वैल चालू किये गये हैं।

द्वितीय योजना में ३५८१ और नल-कूपों की व्यवस्था की गई है जिन पर २० करोड़ रु० व्यय होंगे और ९,१६,००० एकड़ भूमि की सिंचाई की जा सकेगी। उत्तर-प्रदेश, बम्बई व आसाम में नल-कूप स्थापित किये जायेंगे। अकेले उत्तर-प्रदेश में द्वितीय योजना में १५०० नल कूप बनाने का कार्यक्रम है।

(२) *तालाब—सिंचित भूमि के लगभग १९% भाग पर तालाबों से सिंचाई होती* है। मैसूर, हैदराबाद, राजस्थान का दक्षिणी-पूर्वी पहाड़ी भाग और मध्य-प्रदेश तालाबों की सिंचाई के लिए उपयुक्त हैं। मद्रास का पेरियर बाँध काफी विख्यात है। दक्षिण-भारत में नदियों की धाराएँ तेज होती हैं। वे साल भर नहीं बहती हैं। भूमि समतल नहीं है एवं पथरीली है। इसलिए धरातल की बनावट तालाब बनाने के उपयुक्त है।

तालाबों की सिंचाई में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इनमें वर्षा का पानी एकत्र होता है इसलिए जिस साल वर्षा कम होती है उसी साल इनमें पानी कम आता है। इनमें मिट्टी भी जम जाती है। भारत में मरम्मत के लायक बहुत से तालाब पड़े है।

(३) नहरें—लगभग ४१% सिंचित क्षेत्र में नहरों से सिंचाई की जाती है। भारत में नहरों की कुल लम्बाई संसार में सबसे अधिक है। नहरों की सिंचाई सस्ती, सुविधा-जनक और सुनिश्चित होने से आजकल बहुत प्रचलित हो रही है।

नहरें तीन प्रकार की होती हैं :—

(१) बाढ़ वाली नहरें (Inundation Canals)

(२) स्थायी या बाँध वाली नहरें (Perennial Canals)

(३) गोदामी नहरें (Storage Canals)

(१) बाढ़ की नहरों में नदी में बाढ़ आने पर ही पानी आ पाता है। अतः इनसे थोड़े समय के लिए ही सिंचाई हो पाती है। आजकल इस प्रकार की नहरों का प्रचार नहीं है।

(२) बाँध की नहरें नदी पर बाँध बनाकर निकाली जाती हैं। इनसे साल भर

---

१. ट्यूब-वैल्स की प्रगति का विवरण India 1960 पर आधारित है—पृष्ठ २५१।

सिंचाई होती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के वाद पू० पंजाव, यू० पी०, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान व अन्य राज्यों में वाँध की नहरें खोदी गई हैं।

(३) गोदामी नहरों में वरसात का पानी घाटी के आर-पार वाँध डालकर एकत्र किया जाता है। ऐसी नहरें बुन्देलखण्ड, मद्रास व दक्षिण भारत में पाई जाती हैं। इन नहरों का सम्वन्ध नदियों से नहीं होता है।

विभिन्न राज्यों की प्रमुख नहरें

(१) उत्तर-प्रदेश—उत्तर-प्रदेश नहरों के निर्माण की दृष्टि से वहुत अच्छी स्थिति में है। गंगा, यमुना व उनकी सहायक नदियों में साल भर जल भरा रहता है। समतल व मुलायम मिट्टी से नहरें खोदने में आसानी रहती है। इस प्रदेश में पुराने समय से ही नहरों से सिंचाई होती आ रही है। उत्तर-प्रदेश की पाँच प्रमुख नहरें इस प्रकार हैं—

(१) शारदा नहर—(१९३० में वनी और २० लाख एकड़ भूमि में सिंचाई करती है इसे १९५५ में ८०० मील और वढ़ाया गया है)

(२) उत्तरी गङ्गा नहर—(१० लाख एकड़ सींचती है)

(३) निचली गङ्गा नहर (८ लाख एकड़ " ")

(४) आगरा नहर (३½ " " ")

(५) पूर्वी यमुना (४ लाख " ")

रिहान्द घाटी योजना से मिर्जापुर जिले को सिंचाई मिल सकेगी।

(२) पूर्वी पंजाव—विभाजन से पूर्व पंजाव में नहरें काफी थीं लेकिन इनका हिस्सा अव पाकिस्तान में चला गया है। पूर्वी पंजाव की मुख्य नहरों के नाम इस प्रकार हैः

(१) पश्चिमी यमुना नहर,

(२) सरहिन्द नहर,

(३) ऊपरी वारी दोआव नहर,

(४) वीकानेर नहर।

स्वतंत्रता प्राप्ति के वाद विस्त दोआव नहर एवं भाकरा-नांगल की नहरें और वनाई गई हैं।

(३) वम्वई राज्य की नहरें—

(१) गोदावरी की नहरें

(२) प्रवरा नहरें (भंदरदश वाँध से निकाली हुई)

(३) मुठा (४) नीरा (दायें-वाँये), (५) कृष्णा की नहरें (६) गोकक नहरें (घाट-प्रभा पर जो कृष्णा की शाखा है)।

इस राज्य की नई योजनाओं से भी सिंचाई की सुविधायें वढ़ेंगी। ककरापार, कोयना, भड़ोंच, गङ्गापुर स्टोरेज प्रोजेक्ट के पूरा होने पर सिंचाई ज्यादा हो सकेगी।

कुछ नहरें अन्य राज्यों में भी पाई जाती हैं। विहार में गन्डक व सोन नदियों से

नहरें निकाली गई हैं। मद्रास में पेरियर, मैट्टूर व लोअर भवानी योजना है। उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, मध्य-प्रदेश, राजस्थान व अन्य राज्यों में नई नहरें निकाली गई हैं।

पंच-वर्षीय योजनाओं में सिंचाई का विकास

विभाजन के बाद भारत के हिस्से में ४ ६ करोड़ एकड़ सिंचित भूमि और १'८ करोड़ एकड़ सिंचित भूमि पाकिस्तान में चली गई। भारत सरकार ने सिंचाई के साधन बढ़ाने पर प्रारम्भ से ही ध्यान देना चालू कर दिया। परिणामस्वरूप प्रथम पंच-वर्षीय योजना के शुरू में सिंचित क्षेत्र ५.१५ करोड़ एकड़ हो गया। प्रथम योजना मुख्यतया एक कृषि की योजना थी इसलिए इसमें सिंचाई पर विशेष ध्यान दिया जाना स्वाभाविक था। इसमें ३८४ करोड़ रुपये सिंचाई के साधनों की उन्नति के लिए रक्खे गये।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना के अन्तिम वर्ष में १४० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई की व्यवस्था की गई। इसमें से १०० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई की व्यवस्था छोटे साधनों से और ४० लाख एकड़ भूमि पर बड़े व मध्यम साधनों से की जा सकी।

इस प्रकार १९५५–५६ में लगभग ६'५ करोड़ एकड़ भूमि पर सिंचाई के साधनों की व्यवस्था हो गई। लेकिन ध्यान रहे कि १९५६–५७ तक भी वास्तविक सिंचित क्षेत्र ५'५७ करोड़ एकड़ ही रहा।

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में सिंचाई के विकास पर ३८१ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है और १९६०–६१ तक कुल २ करोड़ १० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि पर सिंचाई करने का लक्ष्य निश्चित किया गया है। इसमें से १ करोड़ २० लाख एकड़ भूमि बड़ी व मध्यम श्रेणी की सिंचाई की योजनाओं से और ९० लाख एकड़ छोटी सिंचाई की योजनाओं द्वारा सींची जायगी।

सारी स्थिति निम्न तालिका में स्पष्ट की गई है :— (करोड़ एकड़ भूमि सिंचित)

१९५०–५१	१९५५–५६	१९६०–६१
५'१५	६'७ (संशोधित स्थिति)	८'८

भारत में अभी तक नदियों के जल का लगभग दसवां हिस्सा सिंचाई के काम में आ रहा है। भविष्य में प्रयत्न करने पर सिंचाई का काफी विस्तार किया जा रहा है। आजकल सिंचाई के छोटे साधनों पर विशेष बल दिया जाने लगा है क्योंकि उन पर खर्च थोड़ा होता है और उपज तुरन्त बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त उन्हें व्यक्तिगत देख-रेख में रखा जा सकता है और प्रबन्ध वगैरः की कठिनाई नहीं होती है। भारत में कृषि की पैदावार बढ़ाने के लिये छोटे, मध्यम व बड़ी श्रेणी के, सभी प्रकार के सिंचाई के साधनों का विकास किये जाने की आवश्यकता है। इनमें आपसी समन्वय स्थापित करना चाहिये।

राजस्थान में सिंचाई

राजस्थान एक कृषि-प्रधान राज्य है। यहाँ वर्षा का वार्षिक औसत २५" से भी

कम है। उत्तर-पश्चिम में वर्षा का औसत ५" से भी कम है। यदि सिंचाई की सबसे अधिक कहीं आवश्यकता है तो हम कहेंगे कि वह राजस्थान में है।

पहली योजना के आरम्भ में लगभग २९ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होती थी, जो जोती गई भूमि का लगभग १० प्रतिशत थी। ११ लाख एकड़ पर नहरों व तालाबों से और १८ लाख एकड़ पर कुओं से सिंचाई की जाती थी। उस समय राज्य भर में सिर्फ एक 'गंग नहर' थी जो बारह-मासी थी।

प्रथम योजना में तालाबों के विकास के लिए लगभग ९ करोड़ रु० रखे गये और कुओं के लिए अलग से व्यवस्था की गई। १९५५-५६ में कुल सिंचित क्षेत्र ३३·३६ लाख एकड़ हो गया।

दूसरी योजना में लगभग २८ करोड़ रु० सिंचाई पर व्यय किये जाने को रखे गये हैं और उससे १५·६५ लाख एकड़ भूमि के अतिरिक्त सिंचाई की व्यवस्था हो सकेगी। इस प्रकार १९६०-६१ तक लगभग ४९ लाख एकड़ भूमि में सिंचाई की व्यवस्था होने की संभावना है। राज्य में सिंचाई की छोटी व बड़ी सभी प्रकार की योजनाओं पर कार्य हो रहा है। सिंचाई की भावी सम्भावनाओं की दृष्टि से इस राज्य का भविष्य बहुत उज्जवल है।

[1] तृतीय पंचवर्षीय योजना में २०·७० लाख एकड़ भूमि में अतिरिक्त सिंचाई की व्यवस्था करने की चर्चा की जा रही है। इससे लगभग ५,६२,००० टन खाद्यान्न की पैदावार बढ़ जायगी। तृतीय योजना के अन्त तक लगभग ६९·५५ लाख एकड़ भूमि में सिंचाई होने लग जायगी।

राजस्थान के लिये सिंचाई के तीनों साधन (कुएँ, तालाब व नहरें) उपयुक्त हैं। अभी तक ट्यूब-वैल्स की संख्या अधिक नहीं है। बीकानेर व राजस्थान के दक्षिणी-पूर्वी भागों में इनके लिये क्षेत्र हैं।

आजकल इस राज्य में भी सरकार की शक्ति नहरों के निर्माण में विशेष रूप से लगी हुई है। सिंचाई की प्रमुख योजनाओं का संक्षिप्त परिचय शक्ति के साधनों के अध्याय में दिया जा चुका है।

परीक्षा के प्रश्न

University of Rajasthan, B. A.

(1) Describe the steps taken during recent years for extension of irrigation facilities with particular reference to Rajasthan. (1960)

सन्दर्भ ग्रन्थ

(1) Our Economic Problem : Wadia and Merchant, Sixth Edn. 1959.

(2) India—1960, ch. 23.

1. Hindustan Times, 14-6-60

इक्कीसवाँ अध्याय

भूमि सुधार

भूमि सुधार का सामाजिक परिवर्तन व आर्थिक विकास से गहरा सम्बन्ध है। भूमि सुधार में भू-धारण-प्रणाली (Land Tenure System) जोतों का आकार, कृषि पद्धति आदि के वे सब परिवर्तन शामिल होते हैं जिनके अपनाने से कृषि-उत्पादन बढ़ता है और सामाजिक न्याय का वातावरण तैयार होता है। इस प्रकार भूमि सुधार का सम्बन्ध का कार्य कृषि के ढाँचे व संगठन (Structure and Organisation) में आवश्यक परिवर्तन करना है। कृषि का सामन्ती ढाँचा (Feudal-Structure) भूमि के मालिक और किसान में संघर्ष उत्पन्न करता है। छोटे-छोटे व बिखरे हुए खेत कृषि को लाभप्रद बना देते हैं। भूमि सुधार के उपयोग व प्रबन्ध की वैज्ञानिक रीतियों को जन्म देते हैं जिससे समस्त कृषि अर्थ-व्यवस्था में कायापलट हो सकती है।

भूमि सुधारों का आर्थिक विकास के लिए महत्व—कृषि का विकास आर्थिक विकास का वास्तविक आधार है। कृषि से खाद्यान्न व कच्चे माल की उत्पत्ति होती है। जब इन दोनों का उत्पादन बढ़ता है तब औद्योगिक विकास की सुदृढ़ नींव पड़ती है। लेकिन कृषि का उत्पादन अधिकतम उसी समय तक हो सकता है जब कि भूमि-व्यवस्था उसके अनुकूल हो! यदि भूमि-व्यवस्था शोषण को जन्म देती है तो किसानों को उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा नहीं रहती। इसलिए भूमि-सुधारों द्वारा कृषि-विकास के मार्ग में बाधा डालने वाली सारी परिस्थितियों को हटाया जाता है ताकि कृषि का निरन्तर विकास हो सके। आर्थिक दृष्टि से समुन्नत देशों में प्रगतिशील भूमि-व्यवस्था ही देखने को मिलती है। उनमें किसानों को उत्पत्ति बढ़ाने की प्रेरणा मिलती है क्योंकि इसमें उनकी आय बढ़ती है और रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता है। साथ में देश को अधिक खाद्यान्न व कच्चे माल की प्राप्ति होती है। भूमि, पूँजी व श्रम आदि उत्पत्ति के साधनों को आदर्श अनुपात में मिलाया जाता है ताकि प्रति एकड़ अधिकतम उत्पत्ति मिल सके। कृषि से उत्पन्न 'बचत' (Surplus) के आधार पर औद्योगीकरण की दीवार खड़ी की जाती है। जब तक कृषि में 'पूँजी-संचय' (Capital Formation) की स्थिति उत्पन्न नहीं होती है तब तक पूँजी का अभाव दूर नहीं होता। आर्थिक विकास के लिये सबसे ज्यादा आवश्यक 'पूँजी' है और वह भी निरन्तर बढ़ती हुई मात्रा में उपलब्ध होनी चाहिये वरना विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जायगा। इसलिए भूमि-सुधारों द्वारा कृषि-व्यवस्था में अनुकूल परिवर्तन करके अधिकतम उत्पत्ति की स्थिति उत्पन्न की जाती है।

भूमि सुधारों का दूसरा उद्देश्य सामाजिक न्याय व सामाजिक परिवर्तन लाना भी है। आजकल 'न्याय' के पहलू पर विशेष बल दिया जाने लगा है। यदि कृषि-व्यवस्था में 'न्याय' का श्रीगणेश हो जाता है तो समस्त देश में समानता का वातावरण तैयार होता है। एशियाई देशों में और विशेषतया भारत में आज भी लोगों का मुख्य धन्धा खेती है। लेकिन भूमि का बँटवारा बहुत असमान है। कृषि-श्रम-जांच समिति के अनुसार लगभग ५८ प्रतिशत खेत ५ एकड़ से कम हैं और ३८ प्रतिशत तो २½ एकड़ के आकार से भी कम हैं। इसके विपरीत ५% खेत ४५ एकड़ से अधिक आकार वाले हैं। ५ एकड़ से कम के खेतों का क्षेत्र कुल जोते गये क्षेत्र का $\frac{1}{10}$ है जबकि ४५ एकड़ से अधिक आकार के खेतों का लगभग $\frac{1}{3}$ है। इससे जोतों के असमान बँटवारे की स्थिति का पता चलता है। भूमि के इस तरह के बँटवारे से सामाजिक असमानता उत्पन्न होती है, ग्रामीण जनता में असंतोष व विद्रोह की भावना बनी रहती है जो कभी भी किसी भी प्रकार का विकास नहीं होने देती है। आर्थिक विकास के लिये भूमि का न्यायपूर्ण बँटवारा अत्यन्त आवश्यक है।

भूमि सुधारों से ही सहकारिता आन्दोलन पनप सकता है। एक मनोवैज्ञानिक वातावरण ऐसा बन जाता है जिसमें सहकारिता का प्रयोग कृषि, साख, बिक्री आदि-आदि क्षेत्रों में फैल सकता है।

कई बार यह कहा जाता है कि कृषि का उत्पादन बढ़ाना तो एक टैक्नीकल प्रश्न है और उचित खाद, बीज व सिंचाई की व्यवस्था से अपने आप हल हो जायगा। लेकिन यह धारणा भ्रमपूर्ण है। जब तक आधारभूत समस्या जो भूमि-व्यवस्था का उचित स्वरूप निर्धारित करने की है, हल नहीं हो जाती जब तक टैक्नीकल सुविधाओं का विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। किसान खाद, बीज व सिंचाई की परवाह उस समय करेगा जबकि वह भूमि का मालिक बन जाता है अथवा उसे काश्त की सुरक्षा मिलती है और बेदखली का भय नहीं होता है। जब तक रोग की जड़ नहीं कटती है तब तक पौष्टिक पदार्थ अपना प्रभाव नहीं दिखा पाते हैं और रोगी दुर्बल बना रहता है। ठीक उसी प्रकार जब तक भूमि सुधार नहीं होते हैं तब तक अन्य सुविधायें पूरा प्रभाव नहीं दिखा पाती हैं। अतः कृषि-विकास के लिए पहले ढांचे व संगठन के परिवर्तन पर ज्यादा बल दिया जाना चाहिए।

भू-धारण व्यवस्था

भारत में भूमि-सुधार से पहले भू-धारण की तीन प्रथायें थीं :—(१) जमींदारी प्रथा, (२) महलवारी प्रथा और (३) रैयतवारी प्रथा (Ryotwari System)

(१) जमींदारी प्रथा— इस प्रथा में एक व्यक्ति जिसे जमींदार कहते थे, किसी एक क्षेत्र का मालिक माना जाता था। यह क्षेत्र कई गाँव, एक गाँव या गाँव के एक भाग तक सीमित हो सकता था। जमींदार सरकार को मालगुजारी देने के लिए जिम्मेदार

होता था। वह स्वयं खेती नहीं करता था। भूमि किसानों को 'लगान' पर उठा दी जाती थी। 'लगान' में से सरकार को मालगुजारी चुकाने के बाद जो शेष बचता था वह उसकी आमदनी होती थी। इस प्रकार जमींदारी प्रथा में राज्य और किसान का सीधा सम्पर्क नहीं था। जमींदार के अलावा मध्यस्थों का एक बड़ा समूह सरकार व किसान के बीच उत्पन्न हो गया था।

जमींदारी प्रथा का उदय—प्राचीन भारत में जमींदार वर्ग नहीं था। जमींदार शब्द मुसलमानों के शासन काल से प्रारम्भ हुआ बतलाया जाता है। अकबर के माल-मंत्री टोडरमल ने भूमि की पैमाइश करा कर मालगुजारी वसूल करने का नया बन्दोबस्त किया था जिसके अन्तर्गत मालगुजारी वसूल करने के लिए सरकारी कर्मचारी नियुक्त किये गये थे। ये खजाने में मालगुजारी जमा कराते थे और सरकार से वेतन पाते थे।

मुगल साम्राज्य के कमजोर होने पर ये कर्मचारी स्वतंत्र होने लगे और किसानों से मनमाना लगान वसूल करने लगे। जब शासन-तन्त्र और भी कमजोर हो गया तो मालगुजारी वसूल करने का अधिकार नीलाम होने लगा और सबसे ऊँची बोली बोलने वाले को लगान वसूल का अधिकार मिलता था। इन लोगों ने धीरे-धीरे गाँवों में अपना अधिकार जमा लिया और अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली। अन्त में ये भूमि के मालिक बन बैठे और अपने आपको जमींदार कहने लगे।

सन् १७६५ ई० में ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने अन्तिम मुगल सम्राट शाहआलम को प्रतिवर्ष २६ लाख रु० देकर बदले में अपने लिए बंगाल, बिहार और उड़ीसा में मालगुजारी वसूल करने का अधिकार (यानी दीवानी) प्राप्त कर लिया। कम्पनी ने मालगुजारी वसूल करने की पुरानी पद्धति को कायम रखा। फलस्वरूप जमींदारों की स्थिति मजबूत हो गई और वे मनमानी लूट करने लगे। किसानों की स्थिति खराब होती गई। सन् १७९३ ई० में लार्ड कॉर्नवालिस ने स्थायी बन्दोबस्त करके इन जमींदारों को कानूनी तौर पर भूमि का मालिक मान लिया और किसानों पर जमींदार वर्ग को लाद दिया। स्थायी बन्दोबस्त का उद्देश्य जमींदारों को भूमि की उन्नति करने के लिए प्रोत्साहित करने का था। लेकिन यह उद्देश्य विफल रहा। जमींदार एक अनुपस्थित भू-स्वामी (Absentee landlord) बन गया और इस प्रथा में कई दोष आ गये जिनका वर्णन नीचे किया जाता है :—

दोष—(१) जमीदार लोग किसानों से मनमाना लगान वसूल करने लगे और इस का अल्पांश सरकार को मालगुजारी चुका कर शेष अपने भोगविलास पर व्यय करने लगे। इस प्रकार भूमि कर वसूल करने की एक एजेन्सी के रूप में जमीदारी प्रथा अत्यन्त अनार्थिक (Uneconomic) सिद्ध हुई।

(२) सरकार का ध्यान सिर्फ मालगुजारी वसूल करने पर ही केन्द्रित हो गया। उसका किसान से सम्पर्क जाता रहा।

(३) कृषि का उत्पादन बढ़ाने में सरकार, जमींदार, अन्य मध्यस्थ-वर्ग व काश्तकार में से किसी की भी जिम्मेदारी न रही और न किसी को दिलचस्पी रही। इससे कृषि का विकास रुक गया।

(४) मध्यस्थ-वर्ग का निरंतर विकास होने लगा जिससे भूमि के टुकड़े बढ़ते गये और स्वामित्व की इकाई (Unit of ownership) के बड़े रहने पर भी जोत की इकाई (Unit of cultivation) छोटी होती गई और कृषि अलाभप्रद हो गई और जोतने वाला किसान गरीब होता गया।

(५) जमींदार अपनी आय को खेती की उन्नति में नहीं लगा कर भोगविलास में ही नष्ट कर देते थे वे जमीदारी का प्रबन्ध कारिन्दों के हाथों में छोड़ कर नगरों में विलास करते थे। इस प्रकार जमीदार समाज के अनुत्पादक व अनुपयोगी अंग बन गये।

(६) जमीदारी क्षेत्रों में मनमाना लगान, बेदखलियाँ, बेगार, नजराने, अत्याचार व नैतिक पतन का साम्राज्य हो गया।

(७) जमीदार ब्रिटिश सरकार के समर्थक थे अतः देशद्रोही और सुधार-विरोधी सिद्ध हुए।

इस प्रकार जमीदारी प्रथा अन्याय पूर्ण एवं अकुशल प्रमाणित हुई। इसीलिए भूमि-सुधारों में सर्व प्रथम इसे समाप्त करने का लक्ष्य स्वीकार किया गया।

(२) **महलवारी प्रथा (Mahalwari system)**—इस प्रथा में एक क्षेत्र या 'महल' का स्वामी एक जमीदार नहीं होता था बल्कि कई व्यक्ति होते थे। ये व्यक्ति मिल कर या अलग-अलग सरकार को मालगुजारी चुकाने के लिए जिम्मेदार होते थे। व्यवहार में सुविधा की दृष्टि से सभी हिस्सेदारों की तरफ से एक प्रतिनिधि (लम्बरदार) मालगुजारी इकट्ठी करके सरकार को चुकाता था। हिस्सेदार भूमि के मालिक होते थे। लेकिन वे अन्य किसानों को खेती करने के लिये अपने टुकड़े दे देते थे। इस प्रकार वे सरकार व किसान के बीच में मध्यस्थ बन जाते थे।

यह प्रथा व्यवहार में जमीदारी प्रथा से काफी मिलती जुलती है क्योंकि इसमें भी किसानों का शोषण होता था। यह पन्जाब, उत्तर प्रदेश के कुछ भागों व मध्य प्रदेश में पाई जाती थी।

(३) **रैयतवारी प्रथा**—इसमें सरकार का किसान से सीधा सम्पर्क रहता है। किसान मालगुजारी सीधी सरकार को चुकाता है। यह प्रथा पहले बम्बई, दक्षिणी मद्रास, अधिकांश आसाम व बिहार के कुछ भागों में प्रचलित थी। कहने को तो इस प्रथा में कोई मध्यस्थ वर्ग नहीं था लेकिन भूमि का हस्तान्तरण करने की सुविधा होने से इस प्रथा में भी बहुत सी भूमि-समस्यायें आ गई थीं। भूमि पर जन-संख्या का भार बढ़ने से इस प्रथा में भी काश्तकार व उप-काश्तकार पैदा हो गये जिनकी सुरक्षा के

लिए समय-समय पर कानून पास करने पड़े। इसके अलावा इस प्रथा में भी राज्य ने अपना ध्यान सिर्फ लगान वसूल करने पर ही रखा और किसान के हित में कोई कार्य नहीं किया। इसलिए यह अनुपस्थित भू-स्वामी की प्रथा से विशेष अच्छी सिद्ध नहीं हुई।

भारत में भूमि-सुधार-नीति व प्रगति

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सरकार ने कास्तकारों, उप-कास्तकारों व भूमिहीन मजदूरों की हालत सुधारने के लिए नई भूमि नीति अपनाई। वैसे १६४७ से पूर्व भी काश्तकारों की सुरक्षा व लगान-नियमन के लिए समय-समय पर विभिन्न राज्यों में कानून पास किये गये थे, लेकिन व्यवहार में उनका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। काश्तकारों की स्थिति में स्थायी सुधार करने के लिए भूमि-व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तनों की आवश्यकता बराबर प्रतीत होती रही। अन्त में प्रथम पंच-वर्षीय योजना में यह निश्चय किया गया कि भूमि का मालिक किसान होना चाहिये तभी सामाजिक परिवर्तन हो सकेगा और कृषि उत्पादन बढ़ सकेगा। प्रथम योजना में भूमि-सुधार सम्बन्धी निम्न कार्यक्रम अपनाने पर जोर दिया गया :—

(क) मध्यस्थों का अंत;

(ख) लगान में कमी और काश्तकारों को भू-स्वामी के अधिकार दिलाना। भू-स्वामी के लिए खुदकाश्त के वास्ते भूमि छोड़ना;

(ग) जोतों पर सीमा निर्धारित करना और अतिरिक्त भूमि बाँटना;

(घ) जोतों की चकबन्दी और भूमि का अपखंडन रोकना;

(ङ) सहकारी कृषि का विकास और ग्राम-प्रबंध की स्थापना की ओर अग्रसर होना।

प्रथम योजना की अवधि में मध्यस्थों का करीब-करीब अन्त कर दिया गया लेकिन भूमि सुधार के अन्य पहलुओं पर काम करना बाकी रह गया।

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में भूमि सुधार पर ज्यादा जोर दिया गया है ताकि समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना की जा सके।

अब यह महसूस किया जाने लगा है कि भूमि सुधारों में अनावश्यक देर होने से एवं अनिश्चितता बनी रहने से ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में अस्थिरता उत्पन्न होती है और कृषि व औद्योगिक उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। दूसरी योजना में खुदकाश्त के विचार को सुनिश्चित बनाने का प्रयास किया गया। सीमा-निर्धारण व सहकारी खेती के कार्यक्रम लागू करने पर जोर दिया गया एवं कृषि के पुनर्सङ्गठन के लिए आवश्यक सुझाव दिये गये।

मई १६५३ में भूमि-सुधार सम्बन्धी केन्द्रीय-समिति नियुक्त की गई। योजना आयोग का भूमि-सुधार-डिवीजन कमेटी को मदद करेगा। केन्द्रीय समिति का काम राज्य सरकारों को भूमि सुधारों के सम्बन्ध में एक सामान्य दृष्टिकोण अपनाने के

लिये सलाह देने का है। प्रत्येक राज्य अपनी परिस्थिति के अनुसार कार्यक्रम में थोड़ा परिवर्तन कर सकेगा।

भूमि-सुधारों की प्रगति[1]

भूमि-सुधारों की प्रगति का वर्णन निम्न शीर्षकों में किया जायगा :—

(१) मध्यस्थ-वर्ग की समाप्ति

(२) काश्तकारी कानून:—

(क) लगान नियमन (Regulation of Rent);

(ख) भू-स्वामित्व की सुरक्षा (Security of Tenure);

(ग) काश्तकारों को मालिक होने के अधिकार दिलाना (Ownership rights of the Tenants);

(३) जोतों पर सीमा-निर्धारण :—

(क) भावी जोतों पर (Future holdings);

(ख) वर्तमान जोतों पर (Present holdings);

(४) कृषि का पुनर्सङ्गठन (Reorganization of Agriculture) :—

(क) चकबन्दी;

(ख) भूमि के प्रबन्ध व प्रयोग में कुशलता लाने के सम्बन्ध में कानून;

(ग) सहकारी खेती;

(घ) सहकारी ग्राम प्रबंध;

(ङ) भूमिहीन मजदूर व भू-दान आन्दोलन।

इनमें से प्रत्येक की अब तक की प्रगति का उल्लेख नीचे किया गया है :—

(१) मध्यस्थ-वर्ग की समाप्ति :—

अब तक भूमि सुधारों के कार्यक्रम में सबसे बड़ी सफलता मध्यस्थ-वर्ग को समाप्त करना, कही जा सकती है। मध्यस्थ-वर्ग लगभग पूर्णतया समाप्त किया जा चुका है। काश्तकारों का राज्य से सीधा सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। बिना जोती हुई भूमि व वनों इत्यादि पर सरकार का अधिकार हो गया है और उनकी व्यवस्था या तो सरकारें स्वयं कर रही हैं अथवा ग्राम-पंचायतों के द्वारा की जा रही है।

सरकार ने मध्यस्थों को मुआवजा देकर उनके अधिकार लेना तय किया। किन्तु इसमें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और भारतीय संविधान में दो बार संशोधन करना पड़ा। मुआवजे की दरें प्रायः जायदाद की वास्तविक आय के गुणन के बराबर निर्धारित की गई है। मुआवजे की रकम (पुनर्वास अनुदान व ब्याज सहित) लगभग ६२३ करोड़ रु० आँकी गई है जिसमें से लगभग १२८ करोड़ रु० दिये जा चुके हैं। बिहार, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल और राजस्थान में मुआवजे की रकम

१. यह विवरण India, 1960 के पृष्ठ 260-271 पर आधारित है।

क्रमशः २४० करोड़ रु०, १७६ करोड़, ७० करोड़ एवं ४०·५० करोड़ रु० आँकी गई है। अतः इन चार राज्यों में सबसे अधिक मुआवजा दिया जायगा।

(२) काश्तकारी सुधार (Tenancy Reform)

(क) लगान-नियमन—अब तक काश्तकारों को भूमि प्राप्त करने के लिये अनुचित लगान देने पड़ते थे। प्रथम पंचवर्षीय योजना में काश्तकार से अधिकतम लगान कुल उपज का $\frac{१}{४}$ या $\frac{१}{५}$ तक लेने की सिफारिश की गई थी। द्वितीय योजना में इस सुझाव पर अधिक जोर दिया गया है। कई राज्यों में लगान की अधिकतम दर घटा कर $\frac{१}{४}$ या इससे भी कम रखी गई है। बम्बई व राजस्थान में लगान कुल उपज का $\frac{१}{६}$ रखा गया है। दिल्ली में लगान कुल उपज का $\frac{१}{५}$ भाग, उड़ीसा में $\frac{१}{४}$, पंजाब में $\frac{१}{३}$, मद्रास में $\frac{२}{५}$ और जम्मू कश्मीर में $\frac{१}{२}$ भाग रखा गया है। अन्य राज्यों में भी लगान की अधिकतम दरें निश्चित की गई हैं।

लगान-नियमन कानून को सप्रभाविक बनाने के लिये काश्तकार को सुरक्षा प्रदान करना एवं मालिकाना अधिकार देना अत्यंत आवश्यक है।

(ख) भू-स्वामित्व की सुरक्षा—विभिन्न राज्यों की स्थिति में इस सम्बन्ध में काफी अन्तर पाया गया है। उत्तर प्रदेश व दिल्ली के सब काश्तकारों व उप-काश्तकारों और पश्चिमी बंगाल की रैय्यत को पूर्ण सुरक्षा प्रदान की गई है। इन राज्यों में भू-स्वामियों को भूमि पुनः लेने की सुविधा नहीं दी गई है।

आसाम, बम्बई, पंजाब व राजस्थान में भूस्वामी, खुदकाश्त के लिए एक सीमा तक भूमि रख सकेंगे, लेकिन काश्तकारों को भी न्यूनतम भूमि अवश्य मिलनी चाहिये। आँध्र, मद्रास, उड़ीसा आदि राज्यों में बेदखली रोकने के कानून पास किये गये हैं।

द्वितीय योजना में 'खुद काश्त' (Personal cultivation) की परिभाषा में भू-स्वामी पर चार शर्तें लागू करने का सुझाव दिया गया था। (१) निजी देख-रेख, (२) गाँव या उसके पड़ोस में रहना, (३) निजी श्रम, (४) कृषि की जोखिम उठाना। बम्बई व राजस्थान में पहली और चौथी शर्तें लागू की गई हैं। आसाम में दूसरी शर्त लागू की गई है।

ऐच्छिक परित्याग (Voluntary surrenders) को रुकवाने के लिये भूमि के सब सौदों की रजिस्ट्री करवाने का सुझाव दिया गया है।

(ग) काश्तकार को मालिकाना अधिकार—भू-स्वामी जिन जमीनों को पुनः ग्रहण न कर सकें उन पर काश्तकारों को मालिक बनाया गया है। इसके लिए उनसे कीमत लेने की व्यवस्था की गई है। उत्तर प्रदेश, दिल्ली व पश्चिमी बंगाल में सब काश्तकारों का राज्य से सीधा संबंध कर दिया गया है। उत्तरप्रदेश में राज्य काश्तकारों से लगान एकत्र करता है और अपनी बढ़ी हुई आय में से मालिकों को मुआवजा देता है। दिल्ली में काश्तकारों को सरकार को मालगुजारी व मालिकों को मुआवजा दोनों देने पड़ते हैं।

३० जून, १९५८ तक सारे देश में २,४२२ (सभी किस्म की) सहकारी-कृषि समितियाँ थीं जिनमें से कुछ राज्यों की स्थिति नीचे दी जाती है :—

	संख्या
पंजाब	६७८
बम्बई	५१०
उत्तर-प्रदेश	२६२
मध्य-प्रदेश	२०१
आसाम	१८४
मैसूर	१२८

अभी तक सहकारी कृषि के सम्बन्ध में बहुत कम कार्य हुआ है। सामुदायिक विकास केन्द्रों में सहकारी कृषि के प्रयोग किये जाने चाहिएँ। नई भूमि, भू-दान व ग्राम-दान की भूमि, व अतिरिक्त भूमि (सीमा-निर्धारण के बाद) पर संयुक्त खेती (Joint farming) का परीक्षण होना चाहिये।

(घ) सहकारी ग्राम प्रबंध—द्वितीय योजना में यह आशा प्रगट की गई है कि भविष्य में प्रत्येक गाँव अपनी विकास योजना बनाकर अपनी पंचायत के मार्फत ग्राम की भूमि का प्रबन्ध करेगा। इससे भूमिहीन मजदूरों की दशा भी सुधरेगी। गाँव की सारी आर्थिक क्रियायें सहकारी ढंग पर चलाई जायेंगी। इससे सच्चा ग्राम-स्वराज स्थापित होगा। अभी इस दिशा में भारी प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

(ङ) भूमिहीन मजदूरों को बसाना एवं भू-दान आन्दोलन—प्रथम योजना में भोपाल व यू० पी० के खेरी और पीलीभीत जिलों में भूमिहीन मजदूरों को नई भूमि पर बसाने के कार्यक्रम अपनाये गये। द्वितीय योजना में इनके लाभ के लिए कुटीर-उद्योग स्थापित करने का सुझाव दिया गया है। नई भूमि, भू-दान की भूमि एवं अतिरिक्त भूमि पर इनको सहकारी ढँग पर बसाने के कार्यक्रम अपनाये जायेंगे।

भू-दान आन्दोलन भी १९५१ में भूमिहीन मजदूरों को भूमि पर बसाने के लिये ही प्रारम्भ किया गया था। इसमें इच्छा से प्रत्येक भू-स्वामी से $\frac{1}{6}$ भूमि दान में माँगी जाती है। बाद में यह आन्दोलन ग्राम-दान में परिवर्तित हो गया। ३० नवम्बर, १९५९ तक लगभग ४४ लाख एकड़ भूमि एकत्र की गई जिसमें से करीब ८·४० लाख एकड़ भूमि वितरित की गई और ४,५६५ गाँव दान में मिले।

सितम्बर, १९५७ में यलवल में अखिल भारत सर्व-सेवा संघ के सम्मेलन में ग्राम-दान आन्दोलन और सामुदायिक विकास कार्यक्रम में ताल-मेल स्थापित करने पर जोर दिया गया। भविष्य में ग्राम-दान के क्षेत्रों में सामुदायिक विकास केन्द्र स्थापित किये जायेंगे।

भू-दान में प्राप्त भूमि के वितरण में सुविधा पहुँचाने के लिए बहुत से राज्यों में

कानून पास किये गये हैं। राज्य सरकारों ने इस आन्दोलन को वित्तीय सहायता भी पहुँचाई है। भारत सरकार ने भी आर्थिक सहायता प्रदान की है। बिहार में भू-दान के क्षेत्रों में भूमिहीन मजदूरों को बसाने के लिए राज्य-सरकार ने वित्तीय सहायता पहुँचाई है।

भू-दान व ग्राम-दान आन्दोलन ने भूमि-सुधार के लिए और विशेषतया सरकारी-ग्राम-प्रबंध के लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया है।

भूमि सुधारों की प्रगति की समीक्षा

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में पिछले वर्षों में भूमि-सुधार सम्बन्धी कानूनों की बाढ़ सी आ गई है। मध्यस्थ-वर्ग की समाप्ति, काश्तकारों की बेदखली से रक्षा, लगान-नियमन, जोतनेवाले को जमीन का मालिक बनाना, सीमा-निर्धारण, सहकारी खेती, चकबन्दी एवं भू-दान आदि के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में आवश्यक अधिनियम पास किये गये हैं। संयुक्त राष्ट्र सङ्घ की रिपोर्ट में जो 'भूमि सुधारों की प्रगति' पर प्रकाशित की गई है, स्वीकार किया गया है कि "भारत में भूमि-सुधार के हाल ही के कानून संख्यात्मक दृष्टि से सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। इतने कानून कहीं भी नहीं बने हैं। ये कानून लाखों-करोड़ों किसानों पर प्रभाव डालते हैं और भूमि के विशाल क्षेत्रों को अपने दायरे में शामिल करते हैं। विभिन्न किस्म की संस्थाओं से इनका सम्बन्ध है।"

लेकिन जब हम यह देखते हैं कि इन कानूनों को कहाँ तक लागू किया गया है, काश्तकार की बेदखली से व्यवहार में कहाँ तक रक्षा हुई है, लगान कहाँ तक कम हो पाया है, कितने किसान भूमि के मालिक बन पाये हैं, सीमा-निर्धारण से कितनी अतिरिक्त भूमि मिली है, कितने सहकारी खेत चल रहे हैं एवं कितने भूमिहीन मजदूरों अथवा किसानों को भूमि पर बसाया गया है, तब हमें असंतोषजनक स्थिति ही मिलती है। कानून तो बहुत पास किए जा चुके हैं लेकिन उन पर अमल होना बाकी है। कानूनों में कहीं-कहीं ऐसे छिद्र छोड़ दिये गए हैं अथवा छूट गए हैं जिनका दुरुपयोग निहित स्वार्थी वर्ग ने अपनी स्थिति को मजबूत करने में किया है। भूमि-सुधारों का कार्यान्वित नहीं किया जाना एक बड़ी भारी चिन्ता का विषय है, क्योंकि इससे गांवों में अनिश्चितता व असंतोष का वातावरण उत्पन्न होने लग गया है। स्वयं सरकारी प्रकाशनों में यह स्वीकार किया गया है कि "भारत में भूमि सुधार के कार्यक्रम ने ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक अन्याय मिटाने एवं जोतने वाले की सुरक्षा के लिए बहुत कुछ किया है, लेकिन अन्य क्षेत्रों के जैसे सहकारी कृषि, भूमिहीन मजदूरों को बसाने व काश्तकारों को भू-स्वामित्व प्रदान करने में पर्याप्त प्रगति नहीं हो पाई है।"[1]

---

1. Land Reforms in India—Aug. 1959—The Planning Commission, page 27.

नहीं मिलेगा लेकिन जितनी उसके पास पहले से है उतनी वह अवश्य रख सकेगा। अतः भावी जोतों पर सीमा निश्चित करने से भूमि की खरीद पर रोक लग जाती है। या तो भूमि की खरीद बिलकुल बन्द हो जाती है। (सीमा से ऊपर वाले भू-स्वामियों के लिये) अथवा खरीद सीमित हो जाती है (सीमा से नीचे वाले भू-स्वामियों के लिए)।

वर्तमान जोतों पर सीमा लगाने का परिणाम व्यापक होता है क्योंकि इसमें सीमा से ऊपर की जमीन (Surplus Land) के प्रयोग का प्रश्न उपस्थित होता है और तेजी से भूमि का समान बँटवारा हो जाता है।

सीमा-निर्धारण के उद्देश्य—सीमा-निर्धारण के कई उद्देश्य बतलाये गये हैं, जैसे, (१) भूमि का समान बंटवारा करना ताकि सामाजिक न्याय एवं समानता स्थापित हो सके। भारत में समाजवादी ढङ्ग का समाज स्थापित करने के लिए सीमा-निर्धारण करना आवश्यक समझा गया है।

(२) भूमिहीन मजदूरों को बसाने के लिये एवं आर्थिक जोतों के स्वामियों को अधिक भूमि देने के लिए सीमा-निर्धारण करके अतिरिक्त भूमि का प्रयोग करना।

(३) भूमि के प्रबन्ध व प्रयोग में सुधार करना ताकि उत्पादन बढ़ाया जा सके।

अतः सीमा-निर्धारण के पीछे सामाजिक न्याय, भूमिहीनों को भूमि एवं अधिक उत्पादन के कारण प्रस्तुत किये जाते हैं। विभिन्न विचारक इनमें से एक या अधिक कारणों के आधार पर सीमा-निर्धारण का समर्थन करते हैं। कई सहकारी कृषि की सफलता के लिए सीमा-निर्धारण को भूमि का एक रूप स्वीकर करते हैं।

संक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि[1]—भारत में सीमा-निर्धारण बड़ा दिलचस्प विवाद रहा है। कांग्रेस दल ने अपने आर्थिक कार्यक्रमों में समय-२ पर सीमा-निर्धारण की चर्चा की थी। कांग्रेस ग्राम्य-सुधार-समिति ने जिसके अध्यक्ष श्री जे. सी. कुमारप्पा थे। सन् १९४९ में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में सामाजिक न्याय के आधार पर सीमा-निर्धारण की नीति स्वीकार की और 'आर्थिक जोत' का तिगुना क्षेत्र सीमा के लिए सुझाया गया। आर्थिक जोत का अभिप्राय उस जोत से लगाया गया जिस पर एक किसान परिवार काम करके अपने श्रम व बैल की जोड़ी आदि सीमित पूँजी का पूर्ण उपयोग कर सके और एक उचित जीवन-स्तर कायम रख सके। परन्तु श्री गोविन्दवल्लभ पंत की अध्यक्षता में स्थापित यू० पी० जमींदारी उन्मूलन-समिति ने सीमा-निर्धारण के विचार का विरोध किया और इसे उत्पादन के लिये हानिप्रद बतलाया। प्रथम योजना की प्रारम्भिक रूपरेखा में सीमा-निर्धारण की नीति को शामिल नहीं किया गया क्योंकि देश के सामने भीषण अन्न-संकट था और इस नीति से उत्पादन घटने का भय था। परन्तु जब चुनावों में कई कांग्रेसी उम्मेदवार हार गये तो पहली योजना की अन्तिम रिपोर्ट में भूमिहीनों और छोटे किसानों को खुश करने के लिये सीमा-निर्धारण पर जोर दिया

1. Daniel Thorner : Agrarian Prospects in India.

गया। कई राज्यों में जोतों की गणना आरम्भ की गई और भावी जोतों पर सीमा निर्धारित कर दी गई। दूसरी योजना में इस विषय पर विशेष बल दिया गया और सीमा-निर्धारण के सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया गया। इसके अपवाद आदि भी सुझाये गये। सीमा-निर्धारण में तीन 'पारिवारिक जोत' देने का सुझाव रखा गया। 'परिवारिक जोत' से अभिप्राय जोत के उस आकार से लगाया गया जिस पर एक परिवार कृषि की प्रचलित पद्धतियों से खेती करके अपने साधनों का पूर्ण उपयोग कर सके। 'आर्थिक जोत' के स्थान पर 'पारिवारिक जोत' के विचार का प्रयोग किया गया, हालाँकि दोनों का अर्थ समान था।

द्वितीय योजना में सीमा-निर्धारण पर चर्चा करते समय इस बात पर जोर दिया गया है कि यह कार्य सामाजिक परिवर्तन व न्याय की दृष्टि से आवश्यक है लेकिन उसका उत्पादन पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ने दिया जायगा। इसलिये निम्न परिस्थितियों में सीमा न लगाने का प्रस्ताव रखा गया :—

(१) चाय, कहवा व रबर के बागान;

(२) फलों के बाग जहाँ वे इकट्ठे एक ही क्षेत्र में हों;

(३) विशिष्ट फार्म जिनमें पशु-पालन, दुग्धशालाएँ, ऊन व्यवसाय आदि होते हों;

(४) चीनी की मिलों के गन्ने के खेत;

(५) सुव्यवस्थित खेत जिनमें भारी पूँजी लग चुकी हो और जिनके विघटित होने से उत्पादन घटने की आशंका हो।

अतिरिक्त भूमि के प्रयोग एवं बेईमानीपूर्ण भूमि के अन्तरण (Malafide transfers) पर रोक लगाने के भी सुझाव पेश किये गये।

काँग्रेस के नागपुर अधिवेशन में दिसम्बर, १९५८ में सीमा-निर्धारण व सहकारी कृषि को भूमि सुधारों में सबसे ज्यादा स्थान दिया गया और १९५९ के अन्त तक वर्तमान जोतों पर सीमा तय करने का लक्ष्य घोषित किया गया।

सीमा-निर्धारण के पक्ष में तर्क :—

(१) भारत में भूमि का वर्तमान बँटवारा बहुत असमान है। भूमि-जोतों की गणना जो १९५४-५५ में कई राज्यों में की गई थी, उसके अनुसार भारत में लगभग आधे से ज्यादा खेत ५ एकड़ के आकार से कम हैं लेकिन कुल जोते हुए क्षेत्र में उनका प्रतिशत लगभग १० है। ५% जोतें ४५ एकड़ से ऊपर की हैं जो जोती हुई भूमि का एक-तिहाई भाग घेरे हुए हैं। इस प्रकार ज्यादा भूमि कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित है। भूमि के वितरण की यह असमानता असंतोष उत्पन्न करने वाली है और सामाजिक विस्फोट का कारण बन सकती है।

एक तरफ बहुत बड़े फार्म हैं जिनका प्रबंध करना कठिन हो रहा है। उन पर अकुशलतापूर्वक खेती की जाती है। दूसरी तरफ बहुत छोटे फार्म हैं जिन्हें अनार्थिक

जोत कहते हैं। उन पर साधनों का पूरा उपयोग नहीं हो पाता है और खेती अकुशलता-पूर्वक और अलाभप्रद होती है। अतः बहुत बड़े फार्म और बहुत छोटे फार्म समाप्त करके ठीक-ठीक आकार के फार्म बनाने के लिए सीमा लगाना उचित ठहराया गया।

(२) सीमा से ऊपर की भूमि भूमिहीनों में बाँटी जा सकेगी जिससे उनमें आत्म-विश्वास बढ़ेगा और उनकी साख बढ़ेगी। उनका समाज में ऊँचा स्थान हो सकेगा।

(३) सीमा लगने से गाँवों में समानता के आधार पर समाज में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न होगा जिसमें सहकारिता आन्दोलन तेजी से पनप सकेगा।

(४) कुछ लोगों के पास इतनी ज्यादा जमीन है कि वे इसका पूरा उपयोग नहीं कर सकते हैं और कभी-कभी भूमि बिना जोते पड़ी रह जाती है। सीमा लगने से उत्पादन बढ़ेगा क्योंकि भूमि का सदुपयोग होगा और गहरी खेती के लाभ प्राप्त किये जा सकेंगे।

(५) भू-दान व ग्राम-दान ने सीमा निश्चित करने के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार कर दिया है।

(६) गाँवों में पंचायतों के विकास एवं स्थायित्व के लिए और सहकारी-ग्राम-प्रबंध को मूर्त रूप देने के लिए भूमि का समान वितरण करना आवश्यक है। जब तक गाँवों में आर्थिक समानता का वातावरण उत्पन्न नहीं होता है तब तक सामाजिक व राजनीतिक समानता की प्राप्ति एक सुदूर का स्वप्न बनी रहेगी।

गाँवों की एकमात्र सम्पत्ति भूमि होती है। उसके स्वामित्व में असमानता बनी रहना अनुचित है। भूमिहीनों की सामाजिक स्थिति बहुत नीची मानी जाती है। इसके विपरीत भू-स्वामियों को सामाजिक आदर व राजनीतिक अधिकार भोगने का अवसर मिलता है।

सीमा-निर्धारण के पक्ष में ऊपर कई तर्क दिये गये हैं। लेकिन कुछ विचारकों ने इसकी उपयोगिता में संदेह प्रगट किया है। उनका कहना है कि सीमा लगाने से (विशेषतया नीची सीमा लगाने से) देश की कृषि-व्यवस्था नष्ट हो जायगी, उत्पादन घट जायगा और सर्वत्र छोटे-छोटे खेत नजर आने लगेंगे।

विपक्ष के तर्क :—

(१) सीमा लगने से ग्रामीण आय व शहरी आय में बहुत अन्तर पड़ जायगा। यदि भूमि पर सीमा लगाकर गाँव के निवासियों की आमदनी सीमित की जाती है तो अन्य व्यवसायों से होने वाली आय सीमित क्यों नहीं की जाती है? शहरों में कारखानों, व्यापार एवं मकानों से लाखों-करोड़ों रुपयों की आय प्रतिवर्ष विभिन्न व्यक्तियों को होती है। प्रो० डी० आर० गाडगिल ने कहा है कि "यदि गैर-कृषि आय

पर सीमा लगाने का विचार नहीं किया जाता है तो कृषि आय पर सीमा लगाना अन्यायपूर्ण ही नहीं होगा वल्कि समाज में भारी असंतुलन उत्पन्न कर देगा।"[1]

गाँव के लोग अपनी संतान को उच्च शिक्षा (डाक्टरी, इंजीनियरिंग आदि) नहीं दिला सकेंगे। उनका राजनीतिक प्रभाव घट जायगा। शहरी वर्ग ग्रामीण वर्ग पर शासन करेगा। उत्साही व निपुण व्यक्ति कृषि व्यवसाय में संलग्न न होकर शहरों की तरफ आ जायेंगे। कृषि और भी ज्यादा पिछड़ जायगी और उसमें विनियोग घट जायगा।

(२) सीमा लगने के वाद छोटे पैमाने पर खेती होगी जिस पर यंत्रों का प्रयोग नहीं किया जा सकेगा। अतः वड़े पैमाने की खेती के लाभ नहीं मिल लकेंगे और उत्पादन घट जायगा।

सीमा लगने से उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ेगा इस सम्वन्ध में निश्चयात्मक रूप में कहना सम्भव नहीं है। आज भी स्वामित्व की जोत (Unit of ownership) वड़ी होने पर भी कृषि की जोत (Unit of cultivation) तो कई भागों में वँटी हुई होने से छोटी ही है। सीमा लगने के वाद यदि सिंचाई का प्रयोग करके गहरी खेती की जाय तो उत्पत्ति के घटने का प्रश्न नहीं पैदा होता है। सीमा-निर्धारण का उद्देश्य अनार्थिक जोतें वनाना नहीं है वल्कि अत्यधिक वड़ी जोतों को कम करना है। अत्यधिक नीची सीमा लगने से उत्पादन के घटने का भय हो सकता है। लेकिन ऐसा कहीं भी होने की सम्भावना नहीं दिखाई देती है।

(३) सीमा के वाद छोटे-छोटे वहुत से भू-स्वामी वन जायेंगे। वे कुल उत्पत्ति में से अपने लिए साल भर का अनाज रखकर वाकी का विक्री के लिए वाजार में लायेंगे। उससे विक्री योग्य उपज (Marketable surplus) में कमी आने की सम्भावना है जिससे शहरों में खाद्यान्न की कमी आने से मूल्य वढ़ेंगे और देश में मुद्रा-स्फीति की समस्या उत्पन्न हो जायगी।

(४) सीमा लागू करने के वाद यदि उत्तराधिकार के नियम के अनुसार भूमि का विभाजन जारी रहा तो एक ही पीढ़ी में एक साथ सारे देश में अनार्थिक जोतें उत्पन्न हो जायेंगी और उस स्थिति को सम्हालना मुश्किल हो जायगा।

(५) सीमा-निर्धारण के विरुद्ध एक तर्क यह भी दिया जाता है कि इसमें कई कठिनाइयाँ हैं जिनका हल करना दुष्कर है जैसे :—

(अ) सीमा ऊँची हो या नीची हो,

---

1. 'A ceiling on Holdings of Agricultural Land in India' By D. R. Gadgil in 'The Journal of Agricultural Economics' Oct. Dec. 1959, Page 33.

(आ) सीमा निश्चित करने का आधार क्या हो ? आय को आधार माना जाय या भूमि के आकार को ?

(इ) अतिरिक्त भूमि का सर्वोत्तम उपयोग कैसे किया जाय ?

(ई) अतिरिक्त भूमि का मुआवजा कैसे दिया जाय ?

(उ) अनुचित अन्तरण (Malafide Transfers) को कैसे रोका जाय ?

(६) सीमा-निर्धारण से जो भूमि प्राप्त होगी वह भूमिहीनों में बाँटने के लिए काफी नहीं होगी। भारत में अधिकांश खेत छोटे होने से सीमा-निर्धारण का अभाव सम्पन्न किसानों को दरिद्र बनाना होगा।

(७) सीमा-निर्धारण से जो लोग बड़े खेतों पर मजदूरी करके अपना पेट भरते हैं उनको रोजगार देने की जटिल समस्या खड़ी हो जायेगी। इस प्रकार सीमा-निर्धारण से गाँवों में बेरोजगारी या अर्द्ध-रोजगारी बढ़ने का भय है।

इस प्रकार सीमा-निर्धारण के विपक्ष में भी कई तर्क पेश किये गये हैं। अतः यह प्रश्न बहुत पेचीदा है और समस्याओं से भरा हुआ है। वास्तव में इतना क्रान्तिकारी कदम आसान हो भी नहीं सकता। इससे लाखों-करोड़ों भू-स्वामियों, काश्तकारों व भूमिहीन मजदूरों पर प्रभाव पड़ता है। फिर इसको लागू करना और भी कठिन है। सीमा-निर्धारण की चर्चा सुनते ही भूमि सम्बन्धियों, मित्रों आदि में बाँट दी गई है और अनुमान है कि अतिरिक्त भूमि नहीं के बराबर प्राप्त होगी। अतः सीमा ऊँची रखने से अतिरिक्त भूमि कम मिलती है और नीची रखने से गाँवों का उत्साही व कर्मठ किसान भी गरीब हो जाता है। इन सब कारणों से सीमा-निर्धारण का मामला जटिल बन जाता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सीमा-निर्धारण के प्रश्न पर ज्यादा गहराई व गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए। सामाजिक न्याय की दृष्टि से यह कार्यक्रम अपनाना उचित है लेकिन साथ में यह भी ध्यान रखना होगा कि ग्रामीण जनता के साथ अनुचित भेदभाव न हो जाय और कृषि-उत्पादन व रोजगार को क्षति न पहुँचे। इसके लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते है :—

(१) सामाजिक न्याय, समानता एवं त्याग के लिए आवश्यक है कि जहाँ ग्रामीण आय पर सीमा लगाई जाती है वहाँ शहरी आय पर भी सप्रभाविक सीमा लगाई जाय। वैसे कहने को आय-कर, मृत्यु-कर, धन-कर, खर्च-कर, भेंट-कर आदि प्रत्यक्ष कर लगे हुए हैं लेकिन उनके अनुसार कर कितने व्यक्ति चुकाते हैं ? करों का प्रशासन व वसूली सुधरनी चाहिये।

हमारे प्रधानमंत्री श्री नेहरू ने एक बार कहा था कि सीमा भूमि पर लगाई जा रही है न कि ग्रामीण आय पर क्योंकि किसान गहरी खेती करके अपनी आय बढ़ा सकेगा। लेकिन यह तर्क बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है क्योंकि भूमि पर सीमा

लगाने से परोक्ष रूप में आय पर भी तो सीमा लग ही जाती है। आखिर किसान एक भूमि के निश्चित टुकड़े से कितनी आय प्राप्त कर सकेगा ?

(२) चकबन्दी, सीमा-निर्धारण एवं सहकारी खेती का एक एकीकृत कार्यक्रम बनना चाहिये जिससे एक सही स्थिति का ज्ञान हो सके।

(३) देश में भूमि की भूख नहीं बढ़ाई जानी चाहिये क्योंकि आखिर भूमि पर कितने लोगों को बसाया जा सकेगा। उनके लिए साधन कहाँ से आयेंगे, आदि आदि।

(४) भूमि पर सीमा लगाने से भी ज्यादा बल परिवार के सदस्यों की संख्या पर सीमा लगाने के व्यक्तिगत व सामूहिक प्रयत्नों पर दिया जाना चाहिये।

(५) सीमा-निर्धारण जैसे विषय को दलगत राजनीतिक पैंतरेबाजी से दूर रखना चाहिये।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. India, 1960, Ch. 21.
2. Land Reforms in India—H. D. Malaviya, 1954.
3. Agrarian Prospect in India—Daniel Thorner, Delhi University, 1956.
4. Reports of the committees of the Panel on Land Reforms (Delhi, Manager of Publications, 1958)

बाईसवाँ अध्याय
कृषि की विभिन्न प्रणालियाँ

जमींदारी प्रथा के अन्त होने के बाद हमारे सामने एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि कृषि की हम कौन सी प्रणाली अपनावें ताकि भूमि का सर्वोत्तम उपयोग हो सके। व्यक्तिगत खेती, सहकारी खेती, सामूहिक खेती, सरकारी खेती एवं पूँजीवादी खेती में से, भारत के लिए कौन सी ज्यादा उपयुक्त रहेगी।

कांग्रेस भूमि सुधार समिति १९४९ ने अपनी रिपोर्ट में एक आदर्श भूमि अर्थ-व्यवस्था में चार विशेषताओं का होना आवश्यक माना है। वे इस प्रकार हैं:—

(१) भूमि की व्यवस्था ऐसी हो जिसमें एक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का पर्याप्त अवसर प्राप्त हो सके;

(२) शोषण न हो;

(३) अधिकतम उत्पादन हो सके;

(४) भूमि सुधार का कार्यक्रम व्यावहारिक हो।

यदि भूमि-व्यवस्था में ये गुण नहीं होते हैं तो वह अपनाने लायक नहीं मानी जायगी क्योंकि या तो उसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं होगी, अथवा किसान का शोषण होता होगा, या उत्पादन कम होगा और अन्त में ऐसा भी हो सकता है कि वह देश की परम्परा व वातावरण के अनुकूल न होने के कारण अव्यावहारिक हो। अतः विभिन्न प्रणालियों में से चुनाव करने के पूर्व उनके गुण दोषों का वर्णन करना उपयुक्त होगा।

(१) व्यक्तिगत या पारिवारिक कृषि (Individual Peasant Farming or Family Farming or Peasant Proprietorship):—व्यक्तिगत कृषि का अभिप्राय यह है कि किसान अपनी भूमि का स्वयं मालिक होता है और उस पर स्वतंत्रतापूर्वक अपने परिवार के सदस्यों की सहायता से खेती करता है। आवश्यकता पड़ने पर मजदूर भी रख लेता है। सरकार और किसान के बीच में कोई मध्यस्थ नहीं होता है। जमींदारी प्रथा के समाप्त होने के बाद किसानों व काश्तकारों को भू-स्वामित्व के अधिकार प्राप्त होने से व्यक्तिगत कृषि के लिए अनुकूल वातावरण तैयार हो गया है। व्यक्तिगत कृषि के गुण-दोषों का वर्णन करने से पूर्व यह जानना बहुत आवश्यक है कि इस प्रकार की खेती के लिए कितना बड़ा खेत हो क्योंकि स्पष्टतया अनार्थिक जोतों पर खेती करने से न तो कृषक की आर्थिक स्थिति ही ठीक रहती है और न देश को ही कोई लाभ पहुँचता है। अतः व्यक्तिगत कृषि से लाभ उठाने के

लिए आर्थिक जोतों का निर्माण आवश्यक है ताकि भूमि, श्रम व पूंजी का सर्वोत्तम उपयोग हो सके और कृषक एक ठीक जीवन-स्तर पर गुजारा करने लायक हो जाय।

यही करण है कि कांग्रेस भूमि-सुधार-समिति ने सिफारिश की थी कि एक न्यूनतम आकार से नीचे के टुकड़ों पर व्यक्तिगत खेती न की जाकर सहकारी खेती की जाय अर्थात् ऐसे टुकड़ों को खेती के लिए मिला दिया जाय। समिति ने न्यूनतम आकार की जोत को बेसिक जोत (Basic holding) कहा था।

यहां पर यह भी कह देना उपयुक्त होगा कि जिस प्रकार व्यक्तिगत खेती के लिए बहुत छोटे खेत हानिप्रद हैं, उसी प्रकार बहुत बड़े खेत भी अनुचित हैं क्योंकि एक परिवार उनका ठीक से प्रबन्ध नहीं कर सकता और इसमे भूमि के वितरण में असमानता हो जाती है जिसके सामाजिक परिणाम घातक होते हैं। अतः व्यक्तिगत खेती में जोत के आकार (Size of holding) का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है। खेत का आकार बताए विना व्यक्तिगत खेती की वैज्ञानिक चर्चा नही हो सकती। अतः निम्न विवरण में हमने यह मान लिया है कि एक किसान परिवार के पास ठीक आकार का खेत है। अब हम इस पद्धति के गुण दोषों का उल्लेख करते हैं।

गुण (१)—इसमें कृषक के व्यक्तित्व का विकास होता है क्योंकि उसे स्वतन्त्रता मिलती है और स्वाभाविक रूप से उसमें प्रेरणा, उत्साह, साहस, जिम्मेदारी व कठिन परिश्रम आदि गुणों का विकास होता है। "यह विचार कि भूमि उसकी व उसके बच्चों की सदा के लिए हो गई है, उसके परिश्रम को हल्का व मधुर बना देने वाला होता है और उसका मानसिक क्षितिज व्यापक हो जाता है। यह भावना कि वह स्वयं अपना मालिक है, उस पर कोई वाह्य नियन्त्रण नहीं है, और अपनी भूमि का स्वतन्त्र, सर्वाधिकार व निर्बाध प्रयोग कर सकता है, उसे उत्तरोत्तर अधिक प्रयत्न करने की प्रेरणा करती है। उसे एक मनोवैज्ञानिक प्रेरणा प्राप्त होती है जो भूमि के प्रति उसकी निष्ठा व प्रेम को पोषण प्रदान करती है। दूसरे शब्दों में, यद्यपि जमींदारी प्रथा की समाप्ति से खेत पर इतना प्रभाव नहीं पड़ता है तथापि कृषक पर उसका बहुत प्रभाव पड़ता है।[1]

(२) इसमें कृषक का शोषण नहीं होता है क्योंकि वह स्वयं भूमि का मालिक होता है और सरकार को लगान देता है।

(३) इस प्रथा में छोटे पैमाने पर गहरी खेती की जाती है जिससे प्रति एकड़ उपज अधिकतम होती है। कृषक को बचत करने की प्रेरणा मिलती है ताकि वह भूमि में ज्यादा विनियोग कर सके। अतः वह अपव्यय नहीं कर सकता है। "जापान में छोटे खेतों में अमेरिका व आस्ट्रेलिया के बड़े खेतों की तुलना में दुगना उत्पादन होता है जब कि डेन्मार्क व स्विट्जरलेंड के छोटे खेतों में चौगुना होता है।[2]

1. Charan Singh—'Joint Farming X-Rayed,' Preface, P. V.
2. S. N. Agrawal: An Article on 'Economics of Joint Co-operative Farming' in "Facts of Planning."

(४) भारत की विशेष परिस्थियों में व्यक्तिगत खेती बहुत उपयुक्त है क्योंकि यहाँ किसानों को भूमि से प्रगाढ़ प्रेम है और उसकी आदतें वगैरः इसके अनुकूल हैं।

इस प्रकार व्यक्तिगत कृषि प्रणाली एक संतुष्ट, सुखी, सम्पन्न व स्वाभिमानी कृषक-वर्ग को जन्म देती है जो किसी भी देश की रीढ़ की हड्डी होती है।

दोष (१) भूमि के अन्तरण का अधिकार (Right of Transfer) होने से इसका विभाजन व अपखण्डन होने लगता है। अनार्थिक जोतें बन जाती हैं जिससे कृषि व कृषक दोनों को हानि होती है। जनाधिक्य वाले देशों में भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ने से ऐसा होना स्वाभाविक है।

(२) भूमि की बिक्री करने, गिरवी रखने व किराए पर देने से धीरे धीरे वह कृषक वर्ग के हाथ से निकल कर अकृषक वर्ग के हाथ में चली जाती है।

(३) फसल योजना (Crop planning) लागू करने में कठिनाई होती है क्योंकि योजना की दृष्टि से बड़ी संख्या में छोटे खेतों की बनिस्बत थोड़ी संख्या में बड़े खेतों का होना ज्यादा श्रेयस्कर होता है।

(४) व्यक्तिगत किसानों के साधन सीमित होते हैं अतः कृषि का पूर्ण विकास नहीं हो पाता है। यही कारण है कि खेती अलग अलग करते हुए भी बीज, खाद, औजार, सिंचाई, गोदाम, बिक्री, प्राविधिक सलाह आदि के लिए सहकारी उत्तम कृषि समितियों का निर्माण करना आवश्यक हो जाता है।

अतः व्यक्तिगत खेती के अपने गुण-दोष हैं। यदि खेतों का आकार न बहुत बड़ा और न बहुत छोटा होता है, भूमि के उप-विभाजन व अपखण्डन पर रोक होती है, सहकारी-सेवा-समितियों का विकास किया जाता है और कृषक को आवश्यक सरकारी सहायता भी मिलती है तो यह प्रणाली सर्वोत्तम मानी जा सकती है।

(२) सहकारी संयुक्त कृषि (Co-operative Joint Farming)—इसमें किसान अपनी-अपनी भूमि के टुकड़ों को मिला लेते हैं और संयुक्त खेती (Joint Farming) करते हैं। भूमि पर स्वामित्व तो अलग-अलग व्यक्तियों का होता है लेकिन खेत बड़ा हो जाता है। सहकारी कृषि ऐच्छिक (Voluntary) होती है। समिति का प्रबन्ध लोक-तान्त्रिक होता है। उपज से प्राप्त आय का वितरण भूमि के अनुपात व श्रम को ध्यान में रखकर किया जाता है। सहकारी खेती से बड़े पैमाने की खेती सम्भव होती है जिससे अधिक उत्पादन, कम व्यय व ज्यादा आमदनी प्राप्त होती है। लेकिन इस प्रकार की खेती में व्यक्तिगत स्वतंत्रता कम हो जाती है और यदि बड़े पैमाने पर यंत्रों से खेती की जाती है तो बेकारी बढ़ने का भय उत्पन्न हो जाता है।

भारत में सहकारी खेती पर सविस्तार आगे लिखा गया है। यहाँ सिर्फ इसका बहुत संक्षिप्त अर्थ ही बतलाया गया है ताकि अन्य प्रणालियों से इसकी तुलना की जा सके।

(३) सामूहिक खेती (Collective Farming) - सामूहिक खेती में भूमि, पशु व औजार आदि पूँजीगत साधनों को एक समिति को सौंप दिया जाता है जो इनकी स्वामी मानी जाती है। सदस्यों द्वारा निर्वाचित समिति इनका प्रबन्ध करती है। वह कार्यक्रम बनाती है, साख, वित्त व बिक्री की व्यवस्था करती है और निर्देशन करती है ताकि निर्धारित कार्य पूरा किया जा सके।

आय का बँटवारा 'श्रम' के आधार पर होता है। किसानों को मजदूरी मिलती है लेकिन परिश्रम को प्रोत्साहन देने के लिए अधिक निपुण श्रमिकों को अतिरिक्त आर्थिक प्रतिफल दिया जाता है।

सामूहिक खेती का प्रयोग रूस में किया गया है। वहाँ समिति के सदस्यों को घरों के पास थोड़ी-थोड़ी जमीन पशु-पालने, सब्जी आदि उगाने व अन्य घरेलू उपयोग के लिए भी छोड़ी गई है। रूस में बहुत खून-खराबी के बाद यह प्रणाली लागू की जा सकी। अतः इसमें बल का प्रयोग किया गया। सामूहिक खेती को सारे देश में सारी जमीन पर लागू करना अधिनायकतंत्र में ही सम्भव है। प्रजातंत्र में यह सम्भव नहीं है। सामूहिक खेती में बड़े पैमाने पर यंत्रों से खेती की जाती है अतः बड़े पैमाने की उत्पत्ति के सब लाभ प्राप्त होते हैं। लेकिन इसकी सारी हानियाँ भी उठानी पड़ती हैं।[1]

कांग्रेस भूमि-सुधार-समिति ने सामूहिक खेती का प्रयोग नई भूमि के लिए वांछनीय बतलाया है जो अब तक बेकार पड़ी थी, क्योंकि उस पर अभी तक स्वामित्व की भावना उदय नहीं हुई है और यंत्रीकरण करना भी आवश्यक है। भूमिहीन श्रमिकों को बसाने के लिए सामूहिक खेती की पद्धति का प्रयोग करने से उनको ऊँची मजदूरी मिलेगी, प्रबन्ध में हिस्सा मिलेगा और फार्म के लाभ में भाग मिलेगा।

श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने कहा है कि सामूहिक खेती और 'कोलखोज' की रूस की प्रणाली में भी अन्तर करना चाहिये। कोलखोज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता लेश मात्र भी नहीं है और इनकी स्थापना में दमनकारी नीति का प्रयोग किया गया था। लेकिन भारत में जिन सामूहिक खेतों की स्थापना का सुझाव दिया गया है वे स्वेच्छापूर्वक बनेंगे या बने हैं और उनमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अन्त नहीं हो जायगा। इसीलिए सहकारी-योजना-समिति ने १९४६ में इसे सहकारी सामूहिक खेती (Co-operative collective farming) का नाम दिया और भारत में सरकार ने नई भूमि पर भूमिहीन मजदूरों को इस प्रकार के 'सामूहिक खेतों' की स्थापना करके बसाया भी है।

सहकारी व सामूहिक खेती में सावधानीपूर्वक अन्तर करने की आवश्यकता है क्योंकि सहकारी खेती के विरोधी इसमें और सामूहिक खेती में मामूली अन्तर मानते हैं जो गलत धारणा है। इन दोनो में निम्न अन्तर हैं :—

1. Charan Singh, 'Joint-farming X-Rayed', p. 16.

(१) सहकारी खेती पूर्णतया ऐच्छिक संगठन के आधार पर होती है जब कि सामूहिक खेती में दबाव का प्रयोग किया जाता है।

(२) सहकारी खेती में भूमि पर स्वामित्व किसानों का होता है, जब कि सामूहिक खेती में 'समिति' भूमि की स्वामी होती है। अतः प्रथम में सदस्यों की आय में स्वामित्व का लाभ व मजदूरी दोनों शामिल होते हैं जब कि दूसरी में सिर्फ 'मजदूरी' ही मिलती है।

(३) सहकारी खेती में एक सदस्य को अलग होने का अधिकार होता है जब कि सामूहिक खेती में इस तरह का कोई अधिकार नहीं होता है। सहकारी व सामूहिक खेती के ये अन्तर मामूली या ऊपरी नहीं हैं बल्कि आधारभूत और महत्वपूर्ण हैं। यदि इन अन्तरों को प्रमुख एवं मौलिक मान लिया जाता है तो सहकारी कृषि का विरोध इतना तीव्र नहीं रह जायगा जितना कि कुछ क्षेत्रों में आज भी पाया जाता है। इस सम्बन्ध में विशेष आगे चलकर 'भारत में सहकारी खेती' के प्रकरण में लिखा जायगा।

(४) सरकारी खेती (State farming)—इसमें सर्वप्रथम समस्त भूमि का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है। सरकारी अफसरों की देखरेख में बड़े बड़े फार्म यंत्रों की सहायता से चलाये जाते हैं। किसानों को 'मजदूर' बना दिया जाता है। क्रान्ति के बाद रूस में सरकारी खेती चालू की गई थी। इस प्रणाली में 'कृषि' भी एक सरकारी 'उद्योग' की तरह की जाने लगती है। सरकार भूमि का सर्वोत्तम उपयोग करने के लिये नवीनतम औजारों व पर्याप्त उत्तम खाद व बीज आदि का प्रयोग करती है।

इस प्रणाली में किसान एक मजदूर की श्रेणी में आ जाता है। भारत में इसके लिये अनुकूल वातावरण नहीं है क्योंकि यहाँ किसान अपनी भूमि छोड़ने को आसानी से तैयार नहीं होंगे। बड़े पैमाने पर ट्रैक्टर आदि से खेती करने से देश में बेरोजगारी फैलेगी। अतः सरकारी खेती का सामान्य रूप से समस्त देश में प्रयोग नहीं किया जा सकता।

काँग्रेस भूमि-सुधार समिति ने सरकारी खेती का प्रयोग अनुसंधान एवं खोज के लिये उपयुक्त माना है। सरकारी खेतों पर उत्तम बीज उत्पन्न किये जाने चाहियें। उन पर उत्तम कृषि विधियों का प्रदर्शन किया जाय ताकि अन्य किसानों को प्रेरणा मिले।

राजस्थान में सूरतगढ़ में सरकारी फार्म है जहाँ रूस के ट्रैक्टरों आदि की सहायता से बड़े पैमाने पर यंत्रीकृत कृषि होती है। उस क्षेत्र में जनसंख्या का घनत्व इतना ज्यादा नहीं है। भविष्य में इस क्षेत्र में इस तरह के कई फार्म स्थापित करने का विचार किया जा रहा है। लेकिन भारत में जनसंख्या की अधिकता, पूँजी का अभाव, भूमि की कमी, पशु शक्ति के प्रयोग की अनिवार्यता आदि कारणों से सरकारी खेती के लिये सीमित क्षेत्र ही माना जायगा। अतः सरकारी खेती को सामान्य कृषि प्रणाली के रूप में स्थान नहीं दिया जा सकता है।

(५) पूँजीवादी खेती (Capitalist or Estate Farming)—यह अमेरिका व ग्रेट ब्रिटेन में बहुत प्रचलित है। भारत में भी चाय, कहवा व रबड़ के बागानों में इसका प्रयोग किया गया है। १८५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम के बाद ब्रिटिश अफसरों को हिमालय व नीलगिरी के प्रदेशों में चाय, कहवा व रबड़ की खेती करने के लिये जमीनें दी गई थीं। बाद में भारतियों ने भी इन सुविधाओं का उपयोग किया। ये जायदादें व्यक्तियों, मिश्रित पूँजी की कम्पनियों व सिन्डीकेटों द्वारा काम में ली जाती हैं।

पूँजीवादी खेती में आधुनिक पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है जिससे अधिकतम उत्पत्ति होती है। मजदूरों के लिये उचित मजदूरी व अन्य सुविधाएँ मिलती हैं।

भारत के लिये पूँजीवादी खेती का व्यापक प्रयोग अनुचित होगा क्योंकि—

(१) किसान भूमि के मालिक नहीं रहेंगे और मजदूर बन जायेंगे।

(२) खाद्यान्नों की पूर्ति जैसे महत्वपूर्ण मामले में समाज को पूँजीवादी नियन्त्रण में रखना अनुचित होगा।

(३) इसमें बहुत से व्यक्ति बेकार हो जायेंगे।

(४) ऐसे व्यक्ति मिलना मुश्किल है जो उद्यमी हों एवं सहानुभूति व दूरदर्शिता को अपनाकर कार्य कर सकें।

भारत में जमींदारों के पास कई वर्षों तक हजारों एकड़ जमीन होने पर भी उन्होंने पूँजीवादी खेती नहीं अपनाई। यह इस बात का प्रमाण है कि इस खेती के मार्ग में कई बाधाएँ हैं।

नई भूमि को खेती के लायक बनाने के लिये इसका उस परिस्थिति में सीमित व नियंत्रित प्रयोग किया जा सकता है जबकि सरकार के पास बड़े पूँजीगत साधनों के विनियोग का अभाव हो। लेकिन पूँजीपति इस शर्त पर काम करने के लिये शायद ही आगे आवें क्योंकि इसमें जोखिम बहुत है और लाभ के अवसर सीमित हो जाते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में कृषि की विभिन्न प्रणालियों का मिश्रण इस समय प्रचलित है लेकिन व्यापक रूप से प्रचार व्यक्तिगत खेती का ही है। भविष्य में सरकार की नीति सहकारी खेती का विकास करने की है ताकि भूमि का अधिकतम उपयोग किया जा सके। अतः अब हम सहकारी खेती का विस्तृत विवेचन करेंगे।

भारत में सहकारी खेती (Co-operative farming in India)—जब से कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में जनवरी १९५९ में सहकारी खेती के पक्ष में प्रस्ताव पास किया गया है तब से इस विषय पर बहुत वादविवाद हुआ है जो अब भी जारी है और शायद काफी समय तक जारी रहेगा। इस अवधि में विभिन्न विद्वानों ने सहकारी खेती पर अपने विचार प्रकट किए हैं। श्री चरनसिंह ने 'Joint Farming X-Rayed—The Problem and Its Solution' में सहकारी खेती के विपक्ष में अपने तर्क रखे हैं। दिसम्बर, १९५९ में सहकारी खेती के विभिन्न पहलुओं की जाँच

करने के बाद निजलिंगप्पा समिति ने अपनी रिपोर्ट पेश की है। स्वतंत्र पार्टी के नेताओं ने सहकारी खेती के प्रश्न पर कांग्रेस दल को चुनौती दी है और उस पर साम्यवादी नीति अपनाने का दोषारोपण किया है। अतः सरकारी खेती का विषय सर्वसाधारण के समझने का विषय बन गया है। इसकी निष्पक्ष जाँच करना आवश्यक है क्योंकि बहस में भाग लेने वाले व्यक्तियों का दृष्टिकोण अत्यधिक सैद्धान्तिक, भावनात्मक, राजनीतिक एवं एकांगी है।

सर्व-प्रथम सहकारी खेती के अर्थ व विशेषताओं से परिचित होना आवश्यक है। सहकारिता एक ऐच्छिक संगठन का नाम है जिसका उद्देश्य सदस्यों का आर्थिक हित-वर्द्धन करना होता है। इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए मिले-जुले प्रयत्नों द्वारा आर्थिक उन्नति करने का प्रयास किया जाता है। भारत में सहकारिता का विशेष प्रयोग साख के क्षेत्र में किया गया है। लेकिन पिछले वर्षों में कृषि के क्षेत्र में भी इसका प्रयोग चालू हुआ है। अब तक भारत में सहकारी खेती के चार रूप सामने आये हैं :—

(१) सहकारी उन्नत खेती (Co-operative Better Farming),
(२) ,, संयुक्त खेती (Co operative Joint Farming),
(३) ,, काश्तकार खेती (Co-operative Tenant Farming),
(४) ,, सामूहिक खेती (Co operative Collective Farming),

(१) सहकारी उन्नत खेती (Co-operative Better Farming)—इसमें प्रत्येक सदस्य स्वतन्त्र रूप से अपनी भूमि के टुकड़े पर खेती करता है लेकिन वह एक सहकारी समिति का सदस्य भी होता है जो उसे साख, बीज, खाद व उर्वरक, बिक्री व मशीनों के उपयोग आदि की सुविधाएँ प्रदान करती है। अतः इस प्रकार की सीमित व्यक्तिगत खेती को उन्नत करने का एक उत्तम तरीका प्रस्तुत करती है। भारत में ऐसी समितियों को 'सहकारी सेवा समितियाँ' (Service Co-operatives) का नाम दिया गया है। कांग्रेस ने नागपुर अधिवेशन में इस प्रकार की समितियों का समस्त देश में ३ साल की अवधि में (१९६१ के अन्त तक) जाल बिछा देने का निश्चय किया था। जर्मनी के प्रसिद्ध कृषि-अर्थशास्त्री डा० ओटोशीलर ने अपनी पुस्तिका 'Individual Farming on Co-operative Lines' में सहकारी उन्नत खेती का ही समर्थन किया है। उनका कहना है कि प्रति एकड़ उपज बढ़ाने के लिये भूमि के टुकड़ों को मिलाना आवश्यक नहीं है। सिर्फ खाद, बीज आदि के लिए सहकारी संगठन का प्रयोग पर्याप्त होगा।

सहकारी खेती का यह रूप बहुत सरल होता है। इसमें विशेष कठिनाइयाँ नहीं होती हैं क्योंकि भूमि मिलाने का झंझट व अन्य प्रश्न सामने नहीं आते हैं। अतः व्यक्तिगत खेती के समर्थन एवं संयुक्त खेती (Joint Farming) के विरोधियों तक ने

सहकारी-उन्नत खेती का पूर्ण समर्थन किया है। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति मिलेगा जो इसका विरोध करने को उद्यत हो।

(२) सहकारी संयुक्त खेती (Co-operative joint-farming)—इसमें भूमि के टुकड़ों को मिला दिया जाता है और फिर संयुक्त खेती की जाती है लेकिन सदस्यों का अपने अपने टुकड़ों पर व्यक्तिगत स्वामित्व बना रहता है। इसमें सदस्यों को दो तरह से आय होती है, प्रथम तो अपने भूमि के टुकड़े के लिए उपज में से भूमि के अनुपात में हिस्सा मिलता है और दूसरे श्रम के प्रतिफल के रूप में मजदूरी प्राप्त होती है।

संयुक्त खेती में जोत की इकाई (Unit of cultivation) बड़ी हो जाती है। यह कितनी बड़ी हो जाती है, इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना अनावश्यक है क्योंकि यदि गिनती की अनार्थिक जोतें मिलाई गई हैं तो संयुक्त खेत का आकार ज्यादा बड़ा नहीं होगा। इसके विपरीत यदि काफी तादाद में आर्थिक जोतें या इससे भी बड़ी जोतें मिलाई गई हैं तो संयुक्त खेत एक बड़ा-काफी बड़ा खेत बन सकता है (A joint farm can be a giant farm too)

यहाँ यह भ्रम दूर करने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि भारत में हम बहुत बड़े संयुक्त खेत (Giant joint farms) नहीं बनाना चाहते हैं। क्योंकि ऐसा करना वर्तमान परिस्थिति में हितकर नहीं होगा। साथ में यह कहना भी उचित होगा कि संयुक्त खेती में आवश्यक नहीं है कि बड़े पैमाने की खेती यंत्रों की मदद से की जाय। संयुक्त खेती भी छोटे पैमाने की खेती हो सकती है जो श्रम-गहन (Labour intensive) होती है और रोजगार बढ़ाने वाली होती है।

यदि प्रारम्भ में ही इन दो बातों को समझ लिया जाय तो मतभेद का क्षेत्र समाप्त भी न हो तो भी कम-काफी कम अवश्य हो जायगा।

ज्यादातर वादविवाद सहकारी संयुक्त खेती के सम्बन्ध में ही है। इसकी चर्चा पुनः आगे की जायगी। वास्तव में सहकारी खेती का अर्थ आजकल सहकारी संयुक्त खेती से ही लिया जाता है जब तक कि अन्य अर्थ विशेष जगह न लगाया जाय।

(३) सहकारी काश्तकार खेती (Co-operative tenant farming)—इसमें भूमि एक समिति की होती है और वह सदस्यों में अलग अलग स्वतंत्र टुकड़ों में बाँट दी जाती है। प्रत्येक सदस्य अपने टुकड़े पर खेती करता है लेकिन समिति द्वारा तैयार की हुई योजना के आधार पर उसे चलना पड़ता है। सदस्य को खेती करने में पूर्ण स्वतंत्रता दी जाती है। समिति साख, बीज, खाद, कीमती औजार आदि का इन्तजाम करती है। प्रत्येक काश्तकार अपनी जोत के लिए एक निश्चित लगान समिति को देता है। उपज उसकी स्वयं की होती है और वह जैसा चाहे उसका प्रयोग कर सकता है।

इसमें भूमि की मालिक समिति होती है। सदस्य समिति के काश्तकार होते हैं। उन्हें काफी स्वतंत्रता होती है।

(४) सहकारी सामूहिक खेती (Co operative collective farming) इसमें व्यक्तिगत स्वामित्व पूर्णतया समाप्त हो जाता है। अतः स्वामित्व भूमि, पशु व औजार आदि में समिति का हो जाता है। उपज का बँटवारा श्रम के आधार पर होता है। जो सदस्य ज्यादा काम करते हैं उन्हें ज्यादा मजदूरी मिलती है। इसे 'सामूहिक खेती' कहना ज्यादा उचित होगा लेकिन भारत में इस प्रकार की खेती का प्रयोग नई भूमि पर बसाने के लिए भूमिहीन श्रमिकों के सम्बन्ध में सरकार द्वारा किया गया है। अतः रूस के सामूहिक खेत या कोलखोज की तुलना में भारत में बल प्रयोग की स्थिति नहीं उत्पन्न हुई क्योंकि नई भूमि पर स्वामित्व की भावना शुरू से उत्पन्न नहीं होने दी गई। भूमिहीन श्रमिकों के विरोध का कोई प्रश्न नही था क्योंकि उनको तो इससे लाभ ही हुआ। सरकार ने साधन प्रदान किये जो उनके पास नहीं थे।

सहकारी सामूहिक खेती में व्यक्तिगत स्वामित्व न रहने से उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा कम हो जाती है और कृपक एक 'मजदूर' बन जाता है लेकिन उसे प्रबन्ध वगैरः में हिस्सा मिलता है

सहकारी खेती के विभिन्न रूपों का वर्णन करने के बाद अब पुनः हम संयुक्त खेती (joint farming) की चर्चा उठाते हैं क्योंकि बाकी की बहस इसी के इर्द-गिर्द हो रही है। भारत में तीसरी व चौथी किस्म की सहकारी खेती के प्रयोग का क्षेत्र सीमित है और उस सम्बन्ध में विशेष मतभेद नहीं है। सरकार भी उन पर ज्यादा बल नहीं दे रही है। सहकारी उन्नत खेती को सर्वत्र स्वीकृति प्राप्त हुई है और उसमें कोई हानि की सम्भावना नहीं है। अतः अब यही देखना रह जाता है कि सहकारी संयुक्त खेती के गुण-दोष क्या हैं, इसके अपनाने में व्यावहारिक कठिनाइयाँ क्या हैं, इसे लोकप्रिय बनाने के लिए किन उपायों का सहारा लेना चाहिये एवं इसके संगठन, प्रबन्ध, वित्त व प्रचार आदि के लिए क्या सुझाव दिये हैं—आदि। इनका विवरण करते समय हमें मिश्र, इजराइल, रूस व चीन आदि देशों में किये गये सहकारी खेती के प्रयोगों से भी लाभ उठाना होगा।

सहकारी संयुक्त खेती और सहकारी खेती आजकल एक ही अर्थ में प्रयुक्त होने लगे हैं। सहकारी कृषि समिति की नई परिभाषा निजलिंगप्पा समिति ने अपनी रिपोर्ट में दी है, जो दिसम्बर, १९५९ में प्रकाशित की गई थी। यह परिभाषा इस प्रकार है—"[1]सहकारी कृषि समिति कृपकों का एक ऐच्छिक संगठन है जिसमें मानव-शक्ति व भूमि जैसे साधन एकत्रित किये जाते हैं ताकि उनका अधिक अच्छा प्रयोग हो सके।

1. Yojana, May 15, 1960, p. 6, Article by S. C. Sarkar.

इस संगठन में अधिकांश सदस्य कृषि कार्यों में हिस्सा बँटाते हैं ताकि कृषि उत्पादन, रोजगार एवं आय बढ़ सके।"

सहकारी कृषि समिति की इस परिभाषा को वैज्ञानिक कहा जा सकता है क्योंकि इसमें निम्न विशेषताएँ हैं—

(अ) समिति एक ऐच्छिक संगठन होगी।

(आ) इसमें भूमि व श्रम जैसे साधन अधिक अच्छे प्रयोग के लिए मिलाये जायेंगे।

(इ) समिति के अधिकांश सदस्य स्वयं खेतों पर काम करेंगे और इस प्रकार उत्पादन रोजगार व आय में वृद्धि करेंगे।

इस परिभाषा का व्यवहार में समिति स्थापित करते समय पालन करने से बड़े बड़े अनुपस्थित जमीदारों की सहकारी कृषि समितियाँ स्थापित नहीं हो सकेंगी। वास्तविक काश्तकार ही समितियाँ बना सकेंगे।

लाभ—(१) सहकारी खेती से भारत में जोतों का आकार का बढ़ जायगा जिससे श्रम व पूँजी का सदुपयोग हो सकेगा। भारत में लगभग १/३ जोतें २½ एकड़ से कम की हैं और लगभग ५८% जोतें ५ एकड़ से कम की हैं। २½ एकड़ भूमि पर श्रम व पूँजी का अधूरा प्रयोग होता है। अतः सहकारी खेती से बहुत छोटी व अनार्थिक जोतें समाप्त हो जायेंगी।

(२) भूमि का सदुपयोग होने से उत्पादन बढ़ेगा। पहले साधनों के अभाव में भूमि का घटिया प्रयोग हो सकता था। लेकिन सहकारी फार्म बनने से ज्यादा साधन प्राप्त किये जा सकेंगे। परिणामस्वरूप कुल उत्पादन बढ़ जायगा।

(३) श्रम का गहरा प्रयोग सम्भव हो सकेगा और पूँजी-निर्माण (Capital construction) अधिक होगा एवं तेजी से होगा। दिल्ली विश्वविद्यालय के कृषि अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ डा० ए० एम० खुसरो ने एक उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि संयुक्त खेती से रोजगार बढ़ता है और पूँजीगत साधन तेजी से बनते चलते हैं। इससे भूमि, श्रम व पूँजी तीनों में एक साथ वृद्धि होती है।

मान लीजिए २—२½ एकड़ के आकार वाले २० टुकड़े हैं। उनमें से प्रत्येक टुकड़े पर एक व्यक्ति बेकार रहता है। लेकिन २—२½ एकड़ भूमि पर वह अकेला पूँजी-निर्माण क्या कर सकेगा। मान लो वह अकेला व्यक्ति किसी निर्माण-कार्य को उठा भी लेता है तो उसे कई वर्ष उसे पूरा करने में लग जायेंगे। यदि २० टुकड़े एकत्र करके एक सहकारी फार्म बना दिया जाता है तो एक साथ २० व्यक्ति भी एकत्र हो जायेंगे और वे बहाव की नालियाँ, कुएँ, नई भूमि तोड़ने का काम (Reclamation), पेड़ लगाना, मिट्टी की रक्षा, भूमि को ठीक करने, बाँध, खाई लगाना आदि आदि कार्य जो पहले १० वर्ष में हो सकते थे, उनको आसानी से १०/२० वर्ष अर्थात् ६

महीने में पूरा कर दिखायेंगे। इस प्रकार पूँजी का निर्माण एक आसान बात हो जायगी और पूँजी का तेजी से विस्तार होगा। श्रम का गहरा उपयोग होगा।

(४) सरकार के लिए सहकारी खेतों पर कृषि-योजना लागू करना आसान होगा। बिक्री योग्य बचत में भी वृद्धि होगी। उसे एकत्र करना भी आसान हो जायगा।

(५) वैज्ञानिक कृषि सम्भव हो सकेगी क्योंकि उत्तम खाद, बीज, औजार व सिंचाई की सुविधायें बढ़ेंगी। फसलों की रक्षा के कार्य भी ज्यादा सफल होंगे।

(६) सीमा-निर्धारण, चकबन्दी, नई भूमि, भू-दान व ग्राम-दान में प्राप्त भूमि व सहकारी कृषि आदि कार्यक्रम एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। सहकारी कृषि के बिना ये सारे कार्यक्रम अधूरे रह जायेंगे। चकबन्दी से भी भूमि की जोत का आकार बढ़ता है लेकिन फिर भी कम ही रह जाता है। डा० खुसरो का कहना है कि इन सभी तरीकों से प्राप्त भूमि का प्रयोग २½ एकड़ जोत को बढ़ाने में किया जाना चाहिए और उस समय सहकारी खेती अत्यन्त आवश्यक हो जायगी।

विरोध में तर्क—सर्वश्री राजगोपालाचार्य, मसानी, के० एम० मुन्शी, व चरनसिंह आदि ने *सहकारी खेती के विपक्ष में निम्न तर्क दिये हैं :—*

(१) सहकारी खेती सामूहिक खेती तक पहुँचने का पहला कदम है। आज तो कृषक का व्यक्तिगत स्वामित्व स्वीकार किया जाता है लेकिन आगे जाकर वह समाप्त कर दिया जायगा। भारतीय किसान अपनी स्वतन्त्रता व भूमि खो बैठेगा। अतः आलोचक सहकारी खेती के कार्यक्रम में साम्यवाद, अधिनायकतंत्र व तानाशाही के प्रादुर्भाव के चिन्ह देखते हैं।

(२) सहकारी खेती में यंत्रों का प्रयोग बढ़ेगा जिससे बड़े पैमाने पर खेती की जायेगी। इससे देश में बेरोजगारी बढ़ेगी।

(३) व्यक्तिगत रुचि कम होने से उत्पादन घट जायगा।

(४) भारत में सहकारी खेती सफल नहीं होगी क्योंकि किसान भूमि के प्रति अत्यधिक मोह होने से इसे त्यागने को तैयार नहीं होंगे। फिर उपज के वितरण में कई कठिनाइयाँ हैं। सहकारी खेतों के संगठन व प्रबन्ध में भारी अनुशासन की आवश्यकता होगी जिसका देश में अभाव है। अतः आलोचक सहकारी खेती को अव्यावहारिक भी मानते हैं।

(५) भारत में स्वेच्छा से सहकारी खेती कभी भी नहीं अपनाई जायगी क्योंकि इसके लिए किसानों में उत्साह व सहानुभूति का अभाव है। अतः सरकार को बल प्रयोग करना होगा जो जनतन्त्र को खतरे में डाल देगा। एक पिता के चार पुत्र भी जब अपनी जमीनें अलग-अलग टुकड़ों में बाँट लेते हैं तो विभिन्न परिवारों के सदस्यों से भूमि के टुकड़ों के मिलाने की आशा करना कहाँ तक ठीक होगा। अतः भारत में सहकारी खेती के अनुकूल मनोवैज्ञानिक वातावरण नहीं है।

सहकारी खेती के विपक्ष में दिये गये तर्कों का विशेष महत्व नहीं है। आलोचकों ने सहकारी खेती और सामूहिक खेती का आधारभूत अन्तर भुलाने की कोशिश की है। वास्तव में इनमें मौलिक भेद हैं, एक में व्यक्तिगत स्वामित्व बना रहता है दूसरे में नहीं, एक में स्वामित्व से आय होती है दूसरे में नहीं, एवं एक में स्वेच्छाचारिता व स्वतंत्रता रहती है दूसरे में नहीं। अतः ये एक दूसरे से बिल्कुल विपरीत दिशा में चलते हैं।

फिर भारत में हम बहुत बड़े सहकारी खेत नहीं बनाना चाहते हैं। इसलिए बेरोजगारी व उत्पादन कम होने की समस्यायें नहीं उत्पन्न होंगी। हम वैज्ञानिक कृषि के लिए जोतों का आकार बढ़ाना चाहते हैं जो सहकारी खेती के बिना असम्भव है। आलोचकों ने अनार्थिक जोतों की समस्या पर ध्यान नहीं दिया है। जहाँ तक मनोवैज्ञानिक व संगठनात्मक कठिनाइयों का प्रश्न है वे तो प्रत्येक नई पद्धति को अपनाते समय सामने आयेंगी। लेकिन उचित नेतृत्व, प्रचार व प्रदर्शन से इन पर विजय प्राप्त की जा सकती है। भारतीय किसान अपने हित में कोई भी बड़ा परिवर्तन स्वीकार करने से इन्कार नहीं करेगा।

विदेशों में सहकारी खेती :—

(१) इजराइल—इजराइल का सहकारी खेती का अनुभव भारत के लिए विशेष रूप से उपयोगी माना जायगा क्योंकि वहाँ प्रजातान्त्रिक पद्धति से इसे अपनाया गया है। शुरू में उन्होंने 'किब्बुज' (Kibbutz) नाम की सहकारी कृषि समितियाँ बनाईं जिनमें स्वतंत्रता कम दी गई। ये कम लोकप्रिय हुईं। इसलिए दूसरी प्रकार की समितियाँ 'मोशव' (Moshav) बनाई गईं जिनमें काफी स्वतंत्रता दी गई। इजराइल में समितियों के सदस्य शहरों के शिक्षित व्यक्ति थे जो प्रगतिशील दृष्टिकोण रखते थे। अतः वहाँ सहकारी खेती को सफलता मिली। वहाँ सदस्यों में लम्बे समय तक प्रशिक्षण दिया गया। युवक आन्दोलनों में सहकारिता का सन्देश दिया गया। इससे संगठनात्मक कठिनाइयाँ कम हो गईं। हमें भारत में भी किसानों में काफी आन्दोलन चलाना पड़ेगा ताकि वे सहकारिता के महत्व को पहचान सकें और इसे अपना सकें।

(२) मैक्सिको—यहाँ के किसानों की आर्थिक हालत भी पहले बहुत खराब थी। अन्त में सरकारी सहायता से सहकारी समितियाँ बनीं। वहाँ के सहकारी फार्म को 'इजीडो' (Ejido) कहते हैं। इजीडो की सफलता का मुख्य कारण मैनेजर की निपुणता है। लेकिन वहाँ भी अनुशासन की कमी से पर्याप्त सफलता नहीं मिली है। अनुमान है कि श्रम की उत्पादकता पहले से कम हो गई है। देहातों में खाद्यान्न का उपभोग बढ़ने से बिक्री-योग्य बचत में कमी आ गई है।

इन दोनों देशों के अनुभव से हमें पता लगता है कि किसानों को स्वतंत्रता देकर एवं अनुशासन में रखकर ही सफलता प्राप्त की जा सकती है।

(३) रूस—वहाँ 'कोलखोज' या 'कोलहोज' नाम से सामूहिक खेतों का निर्माण किया गया है जिनमें किसान, भूमि, श्रम, पशु व औजार मिला लेते है। इनको कुछ जमीन पशु वगैरः रखने के लिए भी दी गई है। इन सामूहिक खेतों पर बड़े पैमाने की यंत्रीकृत कृषि की जाती है।

भारत में सामूहिक खेती की प्रणाली को स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि इसमें किसान एक 'मजदूर' बन जाता है।

(४) चीन—यहाँ कृषि-उत्पादन के लिए चार प्रकार के संगठनों की व्यवस्था की गई है :—

(अ) मौसमी आपसी सहायता दल— यह सामूहिक श्रम का एक साधारण रूप है। कुछ परिवार मिलकर एक श्रम एक्सचेन्ज बनाते हैं। जिन सदस्यों को अपने पशुओं व औजारों की आवश्यकता नहीं होती वे दल को इन्हें उधार दे देते हैं। अन्य खेतों पर इनका प्रयोग किया जाता है।

(आ) स्थायी आपसी सहायता दल—सामूहिक सम्पत्ति पर श्रम-विभाजन के आधार पर सामूहिक श्रम किया जाता है।

(इ) प्रारम्भिक कृषि-उत्पादक सहकारी समिति—इसमें भूमि शेयरों के रूप में मिलाई जाती है। संयुक्त प्रबन्ध होता है।

(ई) 'उच्चतर' कृषि-उत्पादक सहकारी समिति—इसमें उत्पादन के साधनों को सामूहिक स्वामित्व में लाया जाता है।

इस प्रकार चीन में सहकारी संयुक्त खेती से सामूहिक खेती की तरफ जाना स्वीकार किया गया है। व्यक्तिगत खेती व सहकारी खेती केवल कृषि विकास के संक्रांति काल में चलेगी। अन्त में उन्हें सामूहिक खेती अपनानी है जिसमें भूमि व अन्य साधनों का स्वामित्व समाज के हाथ में चला जाता है।

[1]१९५१ में चीन में सिर्फ ३०० सहकारी फार्म थे। १९५३ के अंत में इनकी संख्या १४,०००, १९५५ में ६,५०,००० हो गई। जनवरी १९५६ में किसान परिवारों का ६०% और मार्च में ९०% किसी न किसी सहकारी समिति में शामिल हो चुका था। मार्च में ५६% परिवार 'उच्चतर' (Advanced) सहकारी समिति या सामूहिक समिति के सदस्य बन चुके थे। सितम्बर, १९५६ में ९६% परिवार सहकारी समितियों में शामिल हो गये थे।

यह विवरण इसलिए दिया गया है कि हमें यह पता चल सके कि साम्यवादी पद्धति से ही सामूहिक खेती सम्भव हो सकती है। लेकिन सहकारी खेती तो प्रजातान्त्रिक तरीकों से भी अपनाई जा सकती है।

1, Charan Singh—'Joint Farming X-Rayed' page 13.

भारत की पंच-वर्षीय योजनाओं में सहकारी खेती—योजना आयोग ने प्रथम पंच-वर्षीय योजना में सहकारी खेती को प्रोत्साहन देने के सुझाव दिये और कहा कि छोटे किसानों को स्वेच्छा से सहकारी कृषि समितियाँ बनाने के लिए प्रेरित किया जाय। लेकिन प्रथम योजना की अवधि में इस दिशा में कोई सफलता नहीं मिली। कई व्यावहारिक कठिनाइयाँ सामने आईं। द्वितीय योजना में सहकारी कृषि के विकास के लिए नींव डालने के लिए आवश्यक कदम उठाने पर बल दिया गया ताकि आगामी १० वर्षों में कृषि-क्षेत्र का काफी बड़ा भाग सहकारी खेती के अन्तर्गत आ सके।

जनवरी, १९५९ में नागपुर अधिवेशन में भूमि-सुधार व कृषि पुनर्संगठन के प्रस्ताव में प्रथम तीन वर्षों में सहकारी सेवा समितियों का जाल बिछाने का निश्चय किया गया और तत्पश्चात् संयुक्त खेती के विकास करने का निर्णय घोषित किया गया। लेकिन यदि इस अवधि में भी स्वेच्छापूर्वक ढंग से किसान सहकारी संयुक्त खेती के लिए तैयार किये जा सकें तो बहुत अच्छा रहेगा।

[1]जून, १९५८ के अन्त में कुल ३,६५० सहकारी कृषि समितियाँ थीं जिनका विभिन्न किस्मों में बँटवारा इस प्रकार था।

	संख्या
(१) काश्तकार कृषि समितियाँ	१,३७८
(२) संयुक्त कृषि समितियाँ	१,२०७
(३) सामूहिक कृषि समितियाँ	४२०
(४) उन्नत कृषि समितियाँ	६४५
कुल	३,६५०

१९५७-५८ में इनमें से १,४२० समितियों ने लाभ प्राप्त किया। आधे से ज्यादा समितियाँ पंजाब व उत्तर प्रदेश में थीं। कुल ४,५७,७३९ एकड़ पर सहकारी खेती हुई।

११ जून, १९५९ को सरकार ने सहकारी खेती के विविध पहलुओं पर सिफारिश करने के लिये निर्जलिगप्पा समिति नियुक्त की जिसकी रिपोर्ट १५ फरवरी, १९६० को प्रकाशित की गई। इसमें निम्न सुझाव दिये गये हैं :—

एक सहकारी कृषि समिति के निर्माण के लिये कम से कम १० सदस्य होने चाहियें। अधिकांश सदस्य समिति की देख-रेख में कृषि कार्यों में भाग लें। समिति के निर्माण में 'पूर्ण स्वेच्छा' का प्रयोग किया जाय। जिन राज्यों में सहकारी कृषि समिति के निर्माण के लिये बल प्रयोग का समर्थन अधिनियमों द्वारा किया गया है, वहाँ ऐसे अधिनियमों को समाप्त किया जाय।

1. Review of the co-operative Movement in India, 1956—58, P. 54.

सदस्य को अपनी भूमि का टुकड़ा वापिस लेने का अधिकार दिया जाय। समिति बनाते समय प्रत्येक सदस्य की भूमि की कीमत आंकी जाय और अलग होने पर उसे उसकी कीमत की भूमि दे दी जाय। यह आवश्यक नहीं है कि उसे वही पुराना भूमि का टुकड़ा मिले। सहकारी खेत पर सदस्य के जाने से प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ने दिया जाय।

सदस्यों को भूमि का प्रतिफल वार्षिक लाभ (Net profits) में से दिया जाय। यदि कोई सदस्य भूमि के अलावा पशु व औजार भी मिलाता है तो उनकी कीमत मालूम करके उसके नाम से यह रकम पूँजी या जमा के रूप में शामिल की जानी चाहिये।

समिति का प्रबन्ध प्रजातान्त्रिक होना चाहिये। बहुमत की इच्छा को स्वीकार किया जाय। गैर-सदस्यों को मनोनीत करने की प्रथा को समाप्त किया जाय।

मशीनों के प्रयोग के सम्बन्ध में कोई सैद्धान्तिक दृष्टिकोण न अपनाया जाय। नई भूमि पर आवश्यकता के अनुसार मशीनों का प्रयोग किया जा सकता है। पम्प, डिजल इंजन व बिजली की मोटर का प्रयोग उत्पादन व रोजगार बढ़ायेगा।

वित्त व्यवस्था बढ़ाने के लिए सहकारी समिति की चुकाने की क्षमता (Repaying capacity) पर ध्यान दिया जाय। सरकार दीर्घकालीन ऋण प्रदान करे। केन्द्रीय सहकारी बैंक व सरकार मध्यम-कालीन ऋण की व्यवस्था करें।

सहकारी समितियों के फैडरेशन ब्लाक, जिला, राज्यीय व राष्ट्रीय स्तर पर बनने चाहिएँ।

समितियों के सदस्यों व अफसरों के प्रशिक्षण की व्यवस्था बढ़ाई जानी चाहिये। इसके लिए १६० प्रशिक्षण केन्द्र अगले चार वर्षों में ३·६१ करोड़ रु० के व्यय पर स्थापित करने का सुझाव दिया गया है।

सामुदायिक विकास केन्द्रों में ३२० केन्द्र सहकारी कृषि समितियों के प्रारम्भ किये जांय। प्रत्येक केन्द्र में १० समितियाँ बनें। तृतीय योजना के अन्त तक २०,००० नई समितियाँ स्थापित की जांय। विकास-कार्यक्रम पर कुल २५·२६ करोड़ रु० व्यय किये जांय।

निजलिंगप्पा समिति के सुझावों को कार्यान्वित करने से भारत में सहकारी खेती को अवश्य प्रोत्साहन मिलेगा।

सहकारी खेती का विकास सही दिशा में करना बहुत आवश्यक है। अनावश्यक शीघ्रता करने से आगे उलझनें बढ़ सकती हैं। अतः धीरे धीरे व नियोजित विकास के लिए निम्न क्रम से बढ़ना उचित होगा :—

(१) सहकारी-सेवा-समितियों का तेजी से प्रचार किया जाय। छोटे व मध्यम श्रेणी के किसानों को इनका सदस्य बनने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

(२) चकबन्दी का कार्य पूरा किया जाय।

(३) सीमा-निर्धारण का कार्य पूरा करने के लिए एक निश्चित अवधि तय कर ली जाय। अतिरिक्त भूमि प्राप्त की जाय।

(४) नई भूमि को तोड़ने (Reclamation) का कार्य आगे बढ़ाया जाय।

(५) सीमा-निर्धारण से प्राप्त अतिरिक्त भूमि, नई भूमि, भू-दान व ग्राम-दान से प्राप्त भूमि का प्रयोग सर्वप्रथम छोटी जोतों को बड़ा करने में किया जाय। बाद में भूमिहीन श्रमिकों को बसाने में किया जाय। छोटे कृषकों को थोड़ी अतिरिक्त भूमि देते समय सहकारी खेती अपनाने के लिए तैयार किया जाय।

इस प्रकार आगामी कुछ वर्षों में देश के बड़े भू-भाग में सहकारी सेवा समितियों की छत्रछाया में व्यक्तिगत खेती और छोटी जोतों को मिलाकर संयुक्त खेती होने लग जायगी जिससे वैज्ञानिक खेती का मार्ग प्रशस्त होगा और गाँव के लोग सहकारिता का महत्व पहचानने लग जायेंगे। हमें बहुत बड़े संयुक्त खेत स्थापित करने की नीति नहीं अपनानी चाहिये और साथ में सामूहिक खेती को अस्वीकार करना चाहिये ताकि जनता में यह स्पष्ट हो सके कि हमारे कृषि-पुनर्संगठन व नई रचना में सहकारिता का ही विशिष्ट स्थान होगा। ऐसा होने से ही समस्त जनता का समर्थन प्राप्त हो सकेगा जिसके अभाव में कोई भी कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता है।

सहकारी ग्राम-प्रबन्ध (Co-operative Village Management)

परिभाषा—योजना आयोग ने ग्रामीण जीवन का विकास करने के लिये सहकारी ग्राम प्रबन्ध को नीति स्वीकार की है। इसके अन्तर्गत गाँव की समस्त आर्थिक क्रियाएँ सरकारी ढंग पर चलाई जायेंगी। ग्राम पंचायत या गाँव की सभा समस्त विकास कार्य में एजेंसी का काम करेगी। कृषि-उत्पादन, साख, बिक्री, गोदाम ग्रामीण उद्योग आदि कार्य सहकारी संस्थाओं की देख-रेख में चलेंगे। इस प्रकार सारा ग्रामीण आर्थिक जीवन सहकारिता के ताने-बाने से बुन दिया जायगा। गाँव के आर्थिक साधनों पर सभी ग्राम-वासियों का समान अधिकार होगा और उन साधनों का विदोहन उन्हीं के कल्याण के लिए उनकी चुनी हुई संस्थाओं द्वारा किया जायगा। इस प्रकार सहकारी ग्राम प्रबन्ध की नीति गाँवों में वास्तविक आर्थिक प्रजातन्त्र की स्थापना में मदद देगी।

भारत में गाँवों को विकास की इकाई माना गया है। इसलिए आवश्यक है कि गाँवों में नये औजारों व नई पद्धतियों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाय तभी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का आधार सुदृढ़ हो सकेगा और वह विकसित होगी।

यद्यपि प्रबन्ध की इकाई गाँव होगी तथापि कई वर्षों तक व्यक्तिगत खेती की जायगी और उत्तम बीज, क्रय-विक्रय, मिट्टी की सुरक्षा, सिंचाई, स्थानीय निर्माण-कार्य आदि में सहकारी समिति की सहायता ली जायगी। धीरे-धीरे कृषि-कार्यों में भी सहकारिता का प्रयोग होने लगेगा।

संक्रांति काल की स्थिति — सहकारी ग्राम प्रबन्ध के लक्ष्य तक पहुँचने के संक्राति काल में गाँव की भूमि का तीन तरह से प्रबन्ध होगा :—

(१) व्यक्तिगत खेत होंगे,

(२) स्वेच्छा से कुछ किसान अपने हित में खेत मिला कर संयुक्त खेती करेंगे,

(३) कुछ भूमि ऐसी होगी जिस पर समस्त ग्रामीण जनता का अधिकार होगा जैसे कृषि-योग्य व्यर्थ भूमि जो गाँव को सौंप दी गई है, सीमा निर्धारण के बाद प्राप्त अतिरिक्त भूमि एवं भूमिहीनों को बसाने के लिये अन्य जमीन के टुकड़े आदि।

इस प्रकार गांव में भूमि-प्रबन्ध में निजी क्षेत्र (Individual sector), सहकारी क्षेत्र (Co-operative sector) और सामुदायिक क्षेत्र (Community sector) तीनों होंगे। इनमें से धीरे-धीरे सहकारी क्षेत्र को आगे बढ़ाया जायगा ताकि जनता में सहकारी भावना व दृष्टिकोण जड़ पकड़ सकें।

इस प्रकार संक्रान्ति काल में गाँव के भूमिहीन व्यक्ति निजी अथवा सहकारी खेतों पर काम करेंगे लेकिन इनकी बेरोजगारी का प्रश्न पूर्णतः हल नहीं हो जायगा। इसलिए ग्रामीण उद्योगों का विकास करना होगा ताकि इस वर्ग की स्थिति ठीक हो सके। धीरे धीरे भू-स्वामियों व भूमिहीनों का अन्तर मिट जायगा और गांवों में आर्थिक समानता का वातावरण उत्पन्न होगा। सहकारी ग्राम प्रबन्ध तक पहुँचाने में [1]निम्न साधन सहायक होंगे :—

(अ) ग्राम-पंचायत और ग्राम-स्तर पर विकास एजेन्सी के रूप में इसे सौंपे गये कार्य.,

(आ) सहकारी साख, बिक्री, गोदाम, परिनिर्माण (Processing) आदि के विकास के लिये उठाए गये कदम.,

(इ) स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति एवं ग्रामीण जनता को रोजगार देने के लिये ग्रामीण उद्योगों के विकास का कार्य-क्रम.,

(ई) ऐच्छिक सहकारी-कृषि-समितियों के विकास व सहायता के कार्यक्रम.,

(उ) ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में 'सामुदायिक क्षेत्र' का विकास जैसे ग्रामीण जनता की भूमि। अन्य ग्रामीण-कार्य जो समस्त गाँव के लिये किये जाते हैं।

उपर्युक्त कार्य-क्रम इस समय ज्यादातर स्वतंत्र रूप से चल रहे हैं। सहकारी ग्राम प्रबन्ध के लिए इनमें आवश्यक ताल-मेल बैठाने की आवश्यकता है। सहकारी ग्राम प्रबन्ध की सफलता ग्रामीण जनता के उत्साह, अनुभव व परिश्रम पर निर्भर करेगी। ग्राम-दान आन्दोलन में सहकारी ग्राम प्रबन्ध का ही लक्ष्य स्वीकार किया गया है। अतः ग्राम दान के क्षेत्रों में इसकी सफलता के लिए आवश्यक मनोवैज्ञानिक वातावरण तैयार हो गया है।

---

1. Report of The Committees of The Panel of Land Reforms P. 183.

सहकारी ग्राम प्रबन्ध से ही गाँवों का उद्धार हो सकता है। उनमें उत्पादन, रोजगार व आय में वृद्धि होगी, धन का वितरण समान होगा, वास्तविक प्रजातन्त्र की नींव पड़ेगी और ग्राम-वासियों की सामाजिक दशा सुधरेगी।

भारतीय कृषि में उत्पादन के पैमाने की समस्या

उत्पादन का पैमाना दो प्रकार का होता है—(१) बड़े पैमाने का उत्पादन, (२) छोटे पैमाने का उत्पादन। प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि कृषि व उद्योग के लिए कौन सा उत्पादन का पैमाना अपनाया जाय? इसका उत्तर देश की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही दिया जा सकता है। बड़े पैमाने के उत्पादन में 'पूँजी' की प्रधानता होती है और छोटे पैमाने में 'श्रम' की प्रधानता होती है। इसलिए जिन देशों में पूँजी का आधिक्य एवं श्रम का अभाव देखने को मिलता है उनमें बड़े पैमाने का उत्पादन उचित रहेगा। इसके विपरीत जिन देशों में पूँजी का अभाव और श्रम का बाहुल्य पाया जाता है उनमें छोटे पैमाने का उत्पादन स्वीकार करना होगा।

अतः किसी भी देश के लिए उत्पादन के पैमाने का चुनाव वहाँ की भूमि, श्रम व पूँजी की सापेक्षिक स्थिति को देखकर किया जाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो अनुपयुक्त उत्पादन का पैमाना चल नहीं सकेगा और अर्थ-व्यवस्था में कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जायेंगी।

कुछ व्यक्तियों की यह धारणा है कि उत्पादन के दोनों पैमाने एक साथ एक देश में चल सकते हैं, इसलिए ये एक दूसरे के पूरक है, प्रतिस्पर्द्धी नहीं। इस कथन में कुछ सच्चाई अवश्य है लेकिन एक देश में वहाँ की परिस्थितियों के अनुसार उत्पादन के एक पैमाने को प्राथमिकता देनी पड़ेगी। जैसे, "यह स्पष्ट है कि आस्ट्रेलिया, न्यूजीलेंड, अमेरिका, कनाडा और दक्षिणी अफ्रीका-संघ कृषि में लगी हुई जन-संख्या की तुलना में भूमि की अधिकता के कारण बड़े पैमाने की विस्तृत खेती करने की सामर्थ्य रखते हैं जब कि चीन या जापान, भारत या पाकिस्तान, इटली या जर्मनी, नार्वे या नीदरलेंड, मिश्र या इन्डोनेशिया उपलब्ध भूमि की तुलना में कृषि में लगी हुई जन-संख्या की अधिकता के कारण छोटे पैमाने की गहरी खेती करने को मजबूर हैं।"[1]

भारत के लिए छोटे पैमाने की खेती ही ज्यादा उपयुक्त होगी। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्रयोग, परीक्षण व प्रदर्शन के लिए कुछ बड़े यंत्रीकृत खेत भी न हों अथवा देश में एक भी ट्रेक्टर, हार्वेस्टर व कम्बाइन, बिजली के पम्प एवं डिजल इंजन आदि कृषि में प्रयुक्त होने वाले यंत्रों व मशीनों का प्रयोग न हो। कृषि योग्य व्यर्थ भूमि (Cultivable waste land) को खेती में लाने के लिए मशीनों का उपयोग करना होगा और करना चाहिये। मिट्टी के कटाव के कारण बड़ी मात्रा में जो भूमि खेती के लायक नहीं रही है उसे पुनः कृषि में लाने के लिये मशीनों का सहारा लेना

1. Charan Singh, 'Joint-Farming X-Rayed', p. 70.

पड़ेगा। लेकिन प्रश्न यह है कि सारे देश में खेती बड़े पैमाने पर की जाय या छोटे पैमाने पर की जाय। फिर छोटे-खेतों पर भी मशीनों का प्रयोग एक सीमा तक किया जा सकता है। अतः हम मशीनों के प्रयोग के पूर्णतया विरुद्ध नहीं हो सकते हैं। लेकिन सारे देश में सूरतगढ़ जैसे बड़े फार्म स्थापित करके सहकारी, सामूहिक या सरकारी या पूँजीवादी आधार पर खेती नहीं कर सकते क्योंकि उससे हमारी अर्थ-व्यवस्था को भारी क्षति पहुँचेगी।

भारत में छोटे पैमाने की खेती के पक्ष में अथवा बड़े पैमाने की खेती के विपक्ष में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं :—

(१) छोटे खेतों पर प्रति एकड़ उत्पादन बड़े खेतों की तुलना में अधिक होता है। यह बात विभिन्न देशों के अनुभवों व प्रति एकड़ उत्पादन आँकड़ों की तुलना करने से सिद्ध की जा सकती है। एक ही देश में भी छोटे खेतों पर प्रति एकड़ उत्पादन ज्यादा होता है और बड़े खेतों पर कम होता है। पहले कहा जा चुका है कि जापान के छोटे खेतों पर प्रति एकड़ उत्पादन अमेरिका व आस्ट्रेलिया के बड़े खेतों की तुलना में दुगुना और डेन्मार्क व स्वीजरलैंड में चौगुना होता है। पंजाब के आर्थिक व सांख्यिकी विभाग के अन्तर्गत की गई एक-सरकारी जाँच से यह प्रमाणित हो गया है कि यंत्रीकरण खेती प्रचलित हल की खेती से ज्यादा खर्चीली व कम आमदनी देने वाली होती है। जाँच के कुछ परिणाम निम्न [1] तालिका में दिये जाते हैं :—

		कुल आय (औसत)	
	प्रति एकड़ विनियोग	सिंचित भूमि रु०	असिंचित (भूमि) रु०
यंत्रीकृत खेती	१७३ रु०	२४९·५६	९८·१४
हल की खेती	१०६ रु०	२६७·६०	१४७·७०

छोटे खेत पर प्रति एकड़ उपज ज्यादा होने का मुख्य कारण किसान की व्यक्तिगत रुचि व कठिन परिश्रम है। बड़े खेत पर काम करने वाले श्रमिकों में इनका अभाव रहता है।

छोटे खेतों का अभिप्राय यहाँ पूर्णतया अनार्थिक और बिखरी हुई जोतों से नहीं है क्योंकि उन पर प्रति एकड़ उपज बहुत कम होगी। आर्थिक इकाई की जोतों पर सहकारी सेवा समितियों (Service Co-operatives) की सहायता से प्रति एकड़ उपज अधिकतम हो सकती है।

[1] श्री सिद्धराज ढड्ढा के लेख से उद्धृत—'भूदान', मई २१, १९६०, पृष्ठ ३४।

(२) भारत में जनसंख्या का दबाव दिनों-दिन बढ़ता जारहा है। यहाँ खाद्यान्नों की पैदावार बढ़ाने की नितान्त आवश्यकता है। कारखानों के लिए अधिक कच्चे माल की आवश्यकता है। अतः यहाँ प्रति एकड़ पैदावार ज्यादा से ज्यादा की जानी चाहिये। प्रति व्यक्ति अधिकतम पैदावार की समस्या उन देशों के लिए है जहाँ श्रम का अभाव है जैसे अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन आदि। हमारे यहाँ श्रम का अभाव नहीं है। अतः भारत में प्रति एकड़, न कि प्रति व्यक्ति, अधिकतम उत्पादन की आवश्यकता है जो छोटे पैमाने की खेती से ही सम्भव हो सकती है।

(३) छोटे पैमाने की खेती में ज्यादा लोगों को रोजगार मिल सकता है जबकि बड़े पैमाने की खेती से भारत में बेरोजगारी मिलेगी जिसका हल करना कठिन हो जायगा क्योंकि पहले से ही काफी बेरोजगारी अथवा अर्द्ध रोजगार की स्थिति विद्यमान है।

(४) छोटे पैमाने की खेती में पशु-शक्ति का उपयोग हो सकेगा जो भारत में आवश्यक है। बड़े खेतों के लिये पशु-शक्ति व्यर्थ है। अतः बैल का उपयोग करने के लिए छोटे खेत होने चाहिएँ। जो लोग बैल या बैल-गाड़ी या गोबर को देखकर भारतीय अर्थ-व्यवस्था को पिछड़ा हुआ कह देते हैं उन्हें व्यावहारिक ज्ञान नहीं है। गाय व बैल को नष्ट करके हमें बरबादी के सिवा कुछ नहीं मिलेगा। गाय-बैल हमारी संस्कृति के अंग हैं और आर्थिक दृष्टि से उपयोगी हैं।

(५) छोटे पैमाने की खेती से ही 'गोबर' जैसी बहुमूल्य खाद भूमि को मिल सकेगी और इसके उर्वरापन की रक्षा हो सकेगी। पशुओं के लिये भूमि, घास व चारा पैदा करती है। उसे खाकर पशु भूमि जोतते हैं व अन्य कृषि कार्य करते हैं। फिर गोबर के रूप में पुनः मिट्टी को उपजाऊ बनाते हैं। गोबर में जो ह्यूमस 'Humus' होता है उससे मिट्टी को शक्ति प्राप्त करने में सुविधा होती है। बड़े खेतों को गोबर की खाद न मिलने से कृत्रिम उर्वरक देने पड़ेंगे। लेकिन यह सिद्ध हो चुका है कि अकेले कृत्रिम उर्वरक भूमि को नुकसान पहुँचाते हैं। उन्हें गोबर वगैरः के साथ मिला कर दिया जाता है। अतः गोबर की तो खाद के रूप में आवश्यकता रही ही। लेकिन बड़े खेत यंत्रों को स्थान देने के कारण पशुओं को निकाल देते हैं और साथ में उस खाद का भी लाभ खो देते हैं जो पशुओं के रहने से मिल सकती थी।

प्रकृति ने भूमि, किसान व बैल का सुन्दर मेल मिलाया है। इनमें से भूमि व बैल तो एक दूसरे को खुराक देते हैं। अतः प्रकृति का यह पोषणात्मक चक्र (Nutritional Cycle) पूर्ण होने देना चाहिये।

(६) बड़े पैमाने की खेती में ट्रैक्टरों व अन्य मशीनों की आवश्यकता पड़ेगी। भारत में इनका अभाव होने के कारण विदेशों से आयात आवश्यक हो जायगा। इससे विदेशी विनिमय की समस्या उत्पन्न हो जायगी। अनुमान लगाया गया है कि यदि समस्त भारत में यन्त्रीकृत खेती चालू की जाय तो ५० लाख ट्रैक्टरों की आवश्यकता

पड़ेगी और प्रति वर्ष ५-७ लाख ट्रेक्टर नए प्राप्त करने होंगे ताकि बदलने का काम जारी रह सके। यह सब हमारे साधनों से परे की बात है। फिर ट्रेक्टरों की मरम्मत की व्यवस्था, उनके लिये तैल का इन्तजाम आदि भी जटिल कार्य हैं। अतः आर्थिक दृष्टि से यंत्रीकृत खेती अत्यन्त खर्चीली सिद्ध होगी।

(७) छोटे खेतों का प्रबन्ध अच्छी तरह किया जा सकता है जबकि बड़े खेतों पर प्रबन्ध की कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं।

बड़े पैमाने के उत्पादन की बचतें (Economics of Large Scale Production) कारखानों में आसानी से प्राप्त हो सकती हैं लेकिन कृषि में उनके लिए विशेष अवसर नहीं हैं क्योंकि यह कार्य प्रकृति पर निर्भर करता है, इसमें श्रम-विभाजन की सम्भावनाएं कम हैं, काम निरन्तर न होकर रुक रुक कर होता है एवं व्यक्तिगत निगरानी की ज्यादा आवश्यकता होती है। यही कारण है कि कृषि में उत्पादन के घटने का नियम (Law of diminishing returns) शीघ्र लागू हो जाता है। अतः प्रति एकड़ उपज बड़े खेत पर ज्यादा ही हो, यह आवश्यक नहीं है।

(८) बड़े खेतों पर मजदूरों से खेती करवाई जाती है अतः शोषण की भूमिका तैयार हो जाती है। मजदूर उत्पादन बढ़ाने में विशेष रुचि नहीं दिखा सकते हैं। जिस प्रकार पशु-पालन में व्यक्तिगत रुचि व परिश्रम आवश्यक होते हैं उसी प्रकार भूमि से प्रति एकड़ उपज अधिकतम करने के लिए भी इन्हीं गुणों की आवश्यकता होती है। यह छोटे खेतों पर ही सम्भव हो सकता है।[1] सूरत से तीन मील दूर रान्डर (Rander) में सिर्फ चौथाई एकड़ भूमि पर एक भूदान कार्यकर्त्ता श्री श्रीकान्त आप्टे ने जो उपज के परिणाम दिखाये हैं उनको सुनकर सभी अचम्भित हैं। श्री आप्टे ने बिना पशु-शक्ति का प्रयोग किए अपने छोटे से खेत पर आधा सेर वजन वाले प्याज, २½ सेर वजन वाली मूलियाँ, २ फुट ८ इन्च लम्बी गाजरें उत्पन्न की हैं। यद्यपि यह एक विशिष्ट ढंग का उदाहरण है तथापि इससे यह स्पष्ट होता है कि एक व्यक्ति छोटे खेत पर भी कितनी सफलता प्राप्त कर सकता है।

(९) बड़े पैमाने की खेती से मिट्टी का कटाव व क्षय बढ़ता है। कृत्रिम खाद देने से भूमि को पर्याप्त पोषण नहीं मिल पाता है। गोबर की खाद के अभाव में मिट्टी क्षीण होती जाती है। मिट्टी की ऊपरी सतह कुछ इंच तक उपजाऊ होती है। जब लगातार कृत्रिम खाद देने से उसकी खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त नहीं होती है तो मिट्टी का क्षय होना चालू रहता है और अन्त में वह बेकार हो जाती है।

[1]"अमेरिका में दो शताब्दी से कम की अवधि में १० करोड़ एकड़ भूमि बेकार हो चुकी है।"

---

1. Hindustan Times, January, 29, 1957.
1 Charan Singh, 'Joint-Farming, X-Rayed' p. 53.

इस प्रकार बड़े पैमाने की खेती से मनुष्य, पशु व भूमि सभी को क्षति पहुँचती है।

(१०) बड़े पैमाने की खेती का प्रजातन्त्र से मेल नहीं होता है क्योंकि सहकारी, सामूहिक, पूँजीवादी या सरकारी खेती आदि में व्यक्तिगत प्रेरणा व प्रोत्साहन की कमी रहती है और अफसरों व अधिकारियों का प्रभाव बढ़ जाता है। एक विशाल सर्वहारा वर्ग का जन्म हो जाता है जिसके पास अपनी भूमि नाम की कोई वस्तु नहीं रहती है। ऐसी स्थिति में वह कैसे संतुष्ट, सुखी व सबल बना रह सकता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बड़े पैमाने की खेती सिर्फ उन देशों के लिए उपयुक्त है जहाँ श्रम का अभाव है और पूँजी की अधिकता है। भारत जैसे देश के लिए छोटे पैमाने की खेती ही सर्वोत्तम रहेगी। लेकिन सहकारी समितियों के द्वारा खाद, बीज, साख, बिक्री व सिंचाई आदि की व्यवस्था करके, वैज्ञानिक कृषि की जा सकती है। स्मरण रहे कि भारत के लिए 'वैज्ञानिक कृषि' का अपनाना आवश्यक है, न कि बड़े पैमाने की यंत्रीकृत खेती का। छोटे खेतों पर वैज्ञानिक खेती हो सकती है।

प्रश्न (अध्याय २१ व २२)

University of Rajasthan, B. A.

(1) Which system of land tenure will in your opinion, bring about a greater social justice and higher efficiency of agriculture in India ? Give reasons in support of your answer. (1954)

(2) Write a note on co-operative farming and its introduction in India. Point out the difficulties involved and methods for popularising co-operative farming in India. (1955, similar in 1958,)

(3) Write a note on the different types of Land Tenures (भू-धृति, पट्टेदारी) in India. Suggest what you consider the ideal system. (1956)

(4) Write a note on Land Reforms in Rajasthan since the integration (एकीकरण) of Indian States. (1957)

(5) Discuss India's Land Policy under the First Five Year Plan and describe the steps that have been taken to implement it. (1957)

(6) Write a critical note on the progress of the abolition of Zamindari and Jagirdari system in Rajasthan. (1958)

(7) Review the progress of land reforms in India Since independence, with particular reference to Rajasthan. (1959)

(8) Discuss the effects of the abolition of Jagirdari system on the rural economy of Rajasthan. (1960)

(9) Short note on (i) Co-operative Farming. (1960)
(ii) Service co-operatives. (Supp. 1960)

(10) Explain with reasons whether you would prefer. (a) Co-operative farming or (b) peasant proprietorship for development of agriculture in India. (Supp. 1960)

Delhi University, B. A.

(1) How far is mechanisation of agriculture desirable and feasible in India ? Discuss, (1954)

(2) What is "Land Tenure" ? What are the conditions of an ideal land tenure ? Describe the various systems of land tenure prevailing in India. (1951)

(3) Argue the case for and against the fixation of a ceiling on agricultural holdings in India. (1954)

(4) Show how far co-operative farming is desirable in India. Point out the difficulties in the way. (1952)

संदर्भ-ग्रन्थ

(1) 'Joint Farming X-Rayed'—Charan Singh.
(Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay, 1959)
The Problem and its Solution
Ch. III, IV, V and VI (particularly from Pages 54 to 75)

(2) Report of the Congress Agrarian Reforms Committee, 1949.
(J. C. Kumarappa, Chairman)

(3) Second Five-Year Plan, 1956, P. 205—208.
(for co-operative village management)

तेईसवां अध्याय

कृषि पदार्थों की बिक्री

"जब तक कृषि उपज की बिक्री की समस्या को पूर्णतया हल नहीं किया जाता तब तक कृषि की समस्या का हल अधूरा ही रहेगा।" (रायल कृषि कमीशन)

कृषक की आर्थिक दशा पर उसके द्वारा उत्पन्न की गई उपज की बिक्री की व्यवस्था का बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि किसान को अपने पदार्थों की उचित कीमत नहीं मिलती है तो उसकी आर्थिक स्थिति कमजोर रहती है। इसलिए भारत में जहाँ एक तरफ कृषि-उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता है तो दूसरी तरफ, उससे भी ज्यादा आवश्यकता, उपज की बिक्री ठीक करना है ताकि कृषक को अपने माल की ज्यादा से ज्यादा कीमत मिल सके।

यदि कृषक और अन्तिम उपभोक्ता के बीच में कई मध्यस्थ होते हैं तो उपज की कीमत का एक बड़ा भाग उनकी जेब में चला जाता है जिससे कृषक को कम कीमत मिलती है और उपभोक्ता को ऊँची कीमत चुकानी पड़ती है। इस प्रकार बिक्री की सुव्यवस्था न होने से उत्पादक व उपभोक्ता दोनों को आर्थिक हानि उठानी पड़ती है। अतः कृषि-उत्पादन बढ़ाने के साथ साथ बिक्री की व्यवस्था में भी सुधार किये जाने चाहिए ताकि कृषि का समुचित विकास किया जा सके।

कृषि विपणन (Agricultural Marketing) के अन्तर्गत बहुत सी क्रियायें आती हैं जैसे कृषि पदार्थों को इकट्ठा करना, उनका श्रेणी-करण करना, नाप-तोल करना, गोदाम में सुरक्षित रखना, यातायात और साख का प्रबन्ध करना, बिक्री के स्थान व पद्धति तय करना आदि। बिक्री की समुचित व सर्वोत्तम व्यवस्था वह होती है जब कि ये सब क्रियायें अच्छी तरह सम्पन्न होती हैं। इन क्रियाओं में दोष होने से किसान को अपने माल की उचित कीमत प्राप्त नहीं होगी।

भारत में कृषि-उपज की बिक्री में कई दोष हैं। उनका वर्णन करने से पूर्व यह जानना आवश्यक होगा कि बिक्री की वर्तमान पद्धति क्या है? कृषक अपना माल कहाँ बेचता है, किसे बेचता है और किस तरह बेचता है? इसके लिए हमें कृषि-बाजारों एवं बाजार-पद्धतियों का ज्ञान होना आवश्यक है।

बाजारों की किस्में—बाजार प्रायः तीन किस्म के होते हैं—(१) हाट और पेंठ, (२) थोक बाजार या मंडी, (३) खुदरा बाजार (Retail markets)।

(१) हाट और शंडियाँ (Hats and Shandies)—हाट और शंडियाँ वे बाजार होते है जो समय समय पर लगाये जाते हैं। हाटें प्रायः हफ्ते में एक या दो वार लगती हैं और शंडियाँ बहुत दिनों बाद या विशेष अवसरों पर लगती हैं। इनमें कृषि-उपज या पशु या दोनों वेचे जाते हैं। अखिल भारतीय कृषि-साख-सर्वेक्षण की रिपोर्ट के अनुसार देश में २२,००० से भी ज्यादा हाटें और शंडियाँ लगती हैं। ये खुले स्थानों में लगती हैं और इनका क्षेत्र एक गाँव से लेकर कई गाँवों तक हो सकता है। इनमें खाद्यान्न, तिलहन, दाल, गुड़, तम्बाकू आदि वस्तुएँ वेची जाती हैं। इनका प्रबन्ध तालुका और गाँव के अफसरों द्वारा किया जाता है। कई राज्यों में हाटें व्यक्तिगत नियंत्रण में भी होती हैं। इनमें हर प्रकार की हरकतें चलती हैं।

(२, मंडियाँ (Mandis):—भारत में इनकी संख्या १७०० से भी ऊपर मानी गई है। इनका उत्तर प्रदेश में ज्यादा प्रचार है। इन पर निजी व्यक्तियों व स्थानीय संस्थाओं का नियंत्रण होता है। मंडियों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न होता है। मंडी में आढ़तिए, दलाल, एजेण्ट, दरोगा व अन्य व्यक्ति होते हैं। आढ़तिए दो प्रकार के होते हैं—कच्चे आढ़तिए व पक्के आढ़तिए। कच्चे आढ़तिए प्रायः उपज को एकत्र करते हैं जब कि पक्के आढ़तिये विक्री व वितरण की व्यवस्था करते हैं।

(३) खुदरा बाजार (Retail Market):—खुदरा बाजार शहर के विभिन्न भागों में फैले हुये होते हैं जिनमें खुदरा व्यापारी विभिन्न वस्तुएँ वेचते हैं। इन पर म्यूनिसिपलटियों का नियंत्रण होता है।

यह उल्लेखनीय बात है कि कृषक की बिक्री योग्य उपज का बड़ा भाग गाँवों में ही वेचा जाता है। अखिल-भारतीय साख-सर्वेक्षण की जाँच से इस तथ्य की पुष्टि हुई है। खरीदने वालों में ज्यादातर व्यापारी होते हैं जो कृषक को साख भी प्रदान करते है। व्यापारी थोक विक्रेता, जनरल मर्चेण्ट या कमीशन एजेण्ट हो सकता है। वह गाँव का हो सकता है अथवा शहर का हो सकता है। इस प्रकार कृषक अपनी उपज निजी व्यक्तियों के मार्फत वेचता है। ऐसे व्यक्तियों से मोलभाव करना पड़ता है जिनके पास मुद्रा है, साख देने की क्षमता है, जिनका बाजार पर प्रभाव है और जिनके पास यातायात के साधन हैं।[1]

विभिन्न प्रदेशों व विभिन्न फसलों के सम्बन्ध में स्थिति का अन्तर अवश्य देखने को मिलता है लेकिन सामान्यतः कृषक अपना माल ज्यादा अंश में गाँव में ही व्यापारियों के हाथों वेचता है।

विक्री-व्यवस्था के दोष—भारत में कृषि पदार्थों की बिक्री व्यवस्था कई दोषों से भरी हुई है जिससे कृषक को कम कीमत मिल पाती है। अनुमान लगाया गया है कि उपभोक्ता द्वारा दी हुई कीमत का लगभग आधा मध्यस्थों की जेब में चला जाता है

1. All-India Rural Credit Survey—Report Vol. II P. 102.

और शेष आधा कृषक के हिस्से में आता है। यह बड़ी शोचनीय दशा है। इसके लिए निम्न दोष जिम्मेदार है:—

(१) **शीघ्र-बिक्री के लिए बाध्य होना**—कृषक प्रायः अपना माल अनुपयुक्त स्थान, अनुपयुक्त समय एवं अनुपयुक्त शर्तों पर बेचने के लिए बाध्य होता है। पहले कहा जा चुका है कि वह अपने माल का बड़ा हिस्सा गाँव में ही व्यापारियों को बेचता है। फसल कटने के तुरन्त बाद कृषक को बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है ताकि वह महाजन या व्यापारी का ऋण चुका सके। यातायात की असुविधा, गोदामों के अभाव एवं माल को क्षति पहुँचने के भय से किसान में अपना माल रोके रखने की शक्ति घट जाती है। एक साथ बहुत से किसान जब माल बेचते हैं तो कीमतें गिरती हैं। अतः उन्हें आर्थिक हानि होती है। ऐसा भी देखने में आया है कि जो खाद्यान्न किसान फसल के बाद सस्ते भावों पर बेच डालता है, वही बाद में ऊँचे भावों पर उपभोग अथवा बीज के लिए खरीदना पड़ता है।

कीमत प्रायः पहले ही निश्चित हो जाती है अथवा कभी कभी व्यापारी पर ही इसका निर्णय छोड़ दिया जाता है। शीघ्र बेचने के लिए आतुर होने के कारण किसान अपनी शर्तें लागू करने में असमर्थ रहता है।

(२) **मध्यस्थों की अधिकता**—भारतीय किसान और अन्तिम उपभोक्ता के बीच में मध्यस्थों की एक लम्बी जंजीर है। मंडियों में आढ़तिए, दलाल आदि व्यक्ति पाये जाते हैं। ये किसानों के अधिकांश लाभ को स्वयं ही हड़प जाते हैं। केन्द्रीय सरकार द्वारा की गई जाँचों से पता चलता है कि गेहूँ की बिक्री में एक रुपये की कीमत में से कृषक को केवल ८$\frac{1}{2}$ आने और चावल की बिक्री में केवल ६$\frac{1}{2}$ आने मिलते हैं। विभिन्न वस्तुओं में मध्यस्थों का कीमत में हिस्सा अलग अलग होता है। नारङ्गी व अंगूर की कुल कीमत का क्रमशः लगभग $\frac{1}{3}$ व $\frac{1}{2}$ हिस्सा ही उत्पादकों को मिल पाता है जब कि मूँगफली में $\frac{3}{4}$ हिस्सा उत्पादकों को प्राप्त हो जाता है।

(३) **बाजार में प्रचलित बुराइयाँ व अनुचित कर**—थोक बाजारों में और कभी कभी नियमित मंडियों में भी नाना प्रकार की हरकतें, कुचालें व बेईमानियाँ पाई जाती हैं जिनका कुप्रभाव कृषक को भुगतना पड़ता है। राष्ट्रीय-आयोजन-समिति की ग्रामीण बिक्री व वित्त सम्बन्धी रिपोर्ट (१९४७) में निम्न अनुचित कार्यवाहियों पर प्रकाश डाला गया है :

(अ) बाट और तौल का विक्रेता के विरुद्ध दुरुपयोग;
(आ) धार्मिक व धर्मादा कार्यों के लिए मनमानी कटौती;
(इ) नमूने के रूप में काफी मात्रा में लेने का रिवाज;
(ई) बिक्री की 'हाथा' प्रणाली जिसमें विक्रेता का एजेण्ट क्रेता से कपड़े के

नीचे भाव गुप्त रूप से निश्चित करता है और विक्रेता को पता नहीं चलता कि वास्तव में क्या हो रहा है।

(उ) उत्पादक द्वारा किये गये दलाल भी खरीदार का ही पक्ष लेते हैं क्योंकि वे उसके सम्पर्क में नित्य आते रहते हैं और कृषक से कभी कभी ही मिल पाते हैं।

(ऊ) झगड़ा हो जाने की स्थिति में किसान के लिए अपने हितों की रक्षा की सुविधाओं का अभाव पाया जाता है। इस प्रकार किसान को कई तरह से आर्थिक क्षति पहुंचाई जाती है। बाजार में कई किस्म की कटौतियाँ कृषक को भुगतनी पड़ती हैं जैसे तुलाई, माल ढोने आदि के लिए पल्लेदारी, उपज की अशुद्धता के लिये कर्दा, भविष्य में माल का वजन कम हो जाने के कारण दाना, प्याऊ, मन्दिर आदि आदि के लिए किसान अपनी उपज का थोड़ा थोड़ा अंश चुकाता है।

(४) **तौल व बाँटों की विविधता**—भारत में तौल व बाँटों में बहुत अन्तर पाया जाता है। ज्यादातर पत्थर के बाँट पाये जाते हैं जिनका तौल प्रायः कम होता है। देश के सब भागों में १ मन, १ सेर व १ पंसेरी आदि में एक सा वजन नहीं होता है। यही नहीं बल्कि माल खरीदने के बाँट बेचने के बाँटों से भिन्न होते हैं। तोलते समय चालाकी की जाती है। तौल व बाँटों को इस विभिन्नता से किसान को ठग लिया जाता है। इससे व्यापार व व्यवसाय के क्षेत्र में अनिश्चितता आ जाती है और मूल्यों की तुलना करना कठिन हो जाता है।

शाही कृषि आयोग ने पता लगाया कि पूर्वी खानदेश के १६ बाजारों में एक मन में १३ किस्म के तौल थे जो २१½ सेर से ८० सेर तक की सीमा में थे। पंजाब में एक सेर में ३१ तोला से १०२ तोला तक का वजन पाया गया है। एक तोले का वजन भी सर्वत्र एक सा नहीं लगाया जाता है।

(५) **श्रेणीकरण व प्रमापीकरण का अभाव**—वस्तुओं के सही श्रेणी-विभाजन व प्रमापीकरण के अभाव के कारण विदेशों में हमें नीचा देखना पड़ता है। चावल व गेहूँ तक में श्रेणियाँ ठीक से नहीं की जाती हैं। अच्छी और बुरी दोनों किस्मों को मिलाकर बिना श्रेणी विभाजन के बेचने की प्रणाली ने भारतीय माल की प्रतिष्ठा को विदेशी बाजारों में धक्का पहुँचाया है। इससे अकुशल उत्पादक को फायदा होता है जब कि कुशल उत्पादक को हानि होती है। रुई में मिलावट व अशुद्धता पाई जाती है। खाद्यान्नों में कंकड़-मिट्टी आदि मिले रहते हैं। इन सब करणों से कीमत कम मिलती है।

(६) **संग्रह की सुविधाओं का अभाव**—गाँवों में फसल को संग्रह करने की सुविधायें अपर्याप्त एवं अवैज्ञानिक हैं। इस कार्य के लिए या तो भूमि में गड्ढे होते हैं या खत्तियाँ होती है। कच्ची खत्तियाँ भूमि में गड्ढे खोदकर बनाई जाती हैं जिनको गारे से लेप दिया जाता है। कहीं-कहीं पक्की खत्तियाँ भी होती हैं। सील, चूहे, दीमक

व अन्य कीड़े-मकोड़े फसल को नष्ट करते रहते हैं। अनुमान लगाया गया है कि भारत में खाद्यान्न का इस प्रकार संग्रह होने से प्रतिवर्ष २० लाख टन का नुकसान होता है। अन्य पदार्थों की भी यही हालत होती है। कपास व जूट के संग्रह की सुविधायें भी नहीं हैं।

(७) **मूल्य सम्बन्धी सूचनाओं का अभाव**— ग्रामवासियों को बाहरी दुनियाँ का बहुत कम ज्ञान होता है। उन्हें बाजार के मूल्यों की प्रवृत्तियों को समझने का अवसर ही नहीं मिलता है। उन्हें प्रायः महाजनों द्वारा बताई हुई दरों का विश्वास करना होता है। कई बार सही भाव मालूम पड़ जाने पर भी भिन्न-भिन्न बाजारों की दरों में तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि वस्तुओं का श्रेणी-विभाजन नहीं होता, एवं तौल व बाँटों में विविधता पाई जाती है। इस प्रकार भारतीय किसान एक कुशल व्यापारी नही है क्योंकि ऐसा होने के लिए मूल्यों की तुलना करने की सुविधा व क्षमता होनी आवश्यक है जो उसमें नहीं है।

(८) **सहकारी संगठन का अभाव**—किसान विभिन्न क्षेत्रों में फैले हुए होते हैं और उनमें संगठन का अभाव होता है। फसलो के खरीदारों की स्थिति सुदृढ़ होती है और वे आसानी से कृषक का शोषण कर लेते हैं। अन्याय के खिलाफ संघर्ष करने के लिए संगठन की आवश्यकता होती है जिसका किसानों में अभाव पाया जाता है। यदि उनकी सहकारी समितियाँ हों तो वे अपने हितों की रक्षा अच्छी तरह कर सकेंगे।

(९) **यातायात के साधनों की कमी**—भारत में यातायात के साधन अभी तक बहुत कम विकसित हो पाये हैं। वे दोषपूर्ण हैं। गाँव में खेत से घर तक उपज का सामान पहुँचाना ही कठिन होता है। सभी किसानों के पास अपनी बैलगाड़ियाँ नहीं होती हैं। रास्ते तंग, ऊबड़-खाबड़ व दलदली होते हैं। बैलों पर बोझा व दबाव बढ़ जाते हैं। यातायात का व्यय बढ़ जाता है। यातायात शीघ्र नहीं हो पाता है। शीघ्र-नाशी वस्तुओं की बिक्री में यातायात की सुविधाओं की ज्यादा आवश्यकता होती है। रेलों व सड़कों के विकास में समन्वय किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में कृषि पदार्थों की बिक्री को समुन्नत करने के लिए कई दिशाओं में एक साथ प्रयत्न करना होगा तभी कृषक को अपनी उपज का उचित मूल्य प्राप्त हो सकेगा और उसकी आर्थिक स्थिति ठीक हो सकेगी।

सुधार के सुझाव एवं सरकारी प्रयत्न—यदि कृषक को उपभोक्ता द्वारा चुकाई हुई कीमत में अधिक हिस्सा दिलाना है और कारखानों के लिए कच्चे माल की पूर्ति में नियमितता लानी है तो कृषि पदार्थों की बिक्री में आवश्यक सुधार करने होंगे। कृषक को एक कुशल उत्पादक ही नही बल्कि एक सफल व्यापारी भी बनाना होगा। बिक्री की पद्धति में बतलाये हुए दोषों को दूर करना होगा। जैसे यातायात के साधनों में

उन्नति, नियंत्रित बाजारों की स्थापना, सहकारी बिक्री का विकास, गोदामों की भारी संख्या में व्यवस्था, नाप-तौल की पद्धति का वैज्ञानीकरण, उपज का श्रेणीकरण, बाजार भावों की सूचनाओं का अधिक प्रसार एवं कृषक को मध्यस्थों के जाल से छुड़ाना आदि आदि कार्यों को सफल बनाकर ही कुशल बिक्री पद्धति का विकास किया जा सकेगा।

यहाँ नियंत्रित बाजारों (Regulated markets), सहकारी-बिक्री (Co-operative marketing) एवं गोदाम-निर्माण (Warehousing) जैसे सुधार के सुझावों पर विशेष विस्तार से प्रकाश डाला जायगा क्योंकि इनके अपनाने से बिक्री की प्रणाली में आधारभूत परिवर्तन हो सकेंगे और कृषक की मोल-भाव करने की शक्ति बढ़ जायगी। साथ में इनके सम्बन्ध में वर्तमान प्रगति का भी उल्लेख किया जायगा।

(१) नियंत्रित बाजार (Regulated markets)—नियंत्रित बाजारों की स्थापना का उद्देश्य कृषि-पदार्थों की बिक्री को नियमित और कुशल बनाना है ताकि बाजारों में प्रचलित अनुचित रीतियाँ समाप्त हो जाँय। इस समय बाजारों पर वैधानिक नियंत्रण आन्ध्र प्रदेश, बम्बई, मैसूर, मद्रास, मध्य-प्रदेश, पंजाब, केरला एवं उड़ीसा में लागू है। समस्त देश में १,८०० प्रमुख बाजार हैं जिनमें से ३१ मार्च, १९५८ को ५४९ बाजार नियंत्रित थे। प्रथम पंच-वर्षीय योजना के प्रारम्भ में केवल २६५ बाजार ही नियंत्रित थे।

विभिन्न राज्यों के नियंत्रित बाजारों की संख्या नीचे दी जाती है :—[1]

राज्य	३१ मार्च, १९५८ को नियंत्रित बाजारों की संख्या
आन्ध्र प्रदेश	७९
बम्बई	१९३
केरला	२
मध्य-प्रदेश	७८
मद्रास	२२
मैसूर	५७
उड़ीसा	३
पंजाब	११५
कुल	५४९

1. Review of the Co-operative Movement in India 1956-8 p. 99.

अब इनकी संख्या ६४५ तक पहुँच गई है (India, 1960, p. 254) नियंत्रित बाजारों का प्रबन्ध बाजार-समितियों (Market committees) की देख-रेख में होता है जिनमें उत्पादकों, व्यापारियों व स्थानीय संस्थाओं के प्रतिनिधि होते हैं। नियंत्रित बाजारों में बाजार के खर्चों की दरें निर्धारित कर दी गई हैं। तौल की जाँच की जाती है, ताकि सही तौल सम्भव बनाई जा सके। तौल व वस्तु की किस्म के झगड़ों का निवटारा करने की व्यवस्था की जाती है। कृपक को उपज की कीमत का शीघ्र भुगतान करवाया जाता है। विश्वसनीय और नवीनतम बाजार-समाचार प्रचारित होते हैं। नये स्टॉक के आने के विश्वसनीय आँकड़े रखे जाते हैं, बैल-गाड़ियों के ठहराने की समुचित व्यवस्था की जाती है और शीघ्रनाशी वस्तुओं के संग्रह के लिए स्थान का चुनाव किया जाता है। यही नहीं वल्कि कृषि-विकास के प्रचार-केन्द्रों के रूप में भी नियंत्रित व नियमित बाजारों का प्रयोग किया जा सकता है।

नियंत्रित बाजारों में बिक्री की व्यवस्था अच्छी पाई जाती है लेकिन कर्मचारियों व नियमों के लागू करने के अभाव में इनमें भी कई बुराइयाँ देखने को मिलती हैं। व्यापारियों की स्थिति अब भी ज्यादा सुदृढ़ है और कृपकों की सापेक्षिक शक्ति व स्थिति कमजोर है। बाजार से बाहर ही व्यापारी किसानों से भाव-ताव निश्चित कर लेते हैं और मंडी में आने पर बनावटी बिक्री और मौखिक निलामी कर ली जाती है।

अभी तक देश के लगभग $\frac{1}{3}$ बाजार ही नियंत्रित किये जा सके हैं। उनमें भी सुधार करने की आवश्यकता है। भविष्य में बाजार-समितियाँ ज्यादा अच्छी तरह संगठित की जानी चाहियें। लेकिन जब तक कृपकों की आर्थिक स्थिति मजबूत नहीं हो जाती तब तक स्थायी प्रगति होना सम्भव नहीं है। इसके लिए सहकारी बिक्री पर विशेष जोर दिया जाना चाहिये।

(२) सहकारी बिक्री (Co-operative marketing)—भारत में अभी तक सहकारी बिक्री का विकास बहुत कम हो पाया है। सहकारी-बिक्री-समितियाँ भी तीन प्रकार की होती हैं :—

(१) प्राथमिक सहकारी-बिक्री-समितियाँ,

(२) केन्द्रीय-बिक्री-यूनियन,

(३) राज्य-बिक्री-समितियाँ (State-marketing-societies) ये तीनों समितियाँ एक दूसरे से उस प्रकार से सम्बन्धित नहीं हैं जिस प्रकार से सहकारी साख समितियाँ, केन्द्रीय-सहकारी-बैंक एवं राज्य सहकारी बैंक एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। विभिन्न सहकारी-बिक्री-समितियों में ज्यादा मेल बैठाने की आवश्यकता है।

लाभ—(१) सहकारी बिक्री समितियों की स्थापना से दलालों व अन्य मध्यस्थों की संख्या में कमी हुई है। वास्तव में सहकारिता का मूल उद्देश्य मध्यस्थों का अन्त करके सदस्यों का आर्थिक हित आगे बढ़ाना है।

(२) सहकारी साख समिति व सहकारी विक्री समिति में ताल-मेल स्थापित होने से दोनों की सफलता सम्भव हो पाती है। यदि किसान को उधार मंजूर करते समय उस पर यह शर्त लगा दी जाती है कि उसे अपनी उपज अमुक सहकारी-विक्री-समिति के मार्फत ही बेचनी पड़ेगी तो भुगतान को गारन्टी मिल जाती है और विक्री समिति को व्यापार मिल जाता है। इस प्रकार कृषक को वित्त उपलब्ध हो सकता है।

(३) उपभोक्ता-वर्ग को ठीक श्रेणी की वस्तु समय पर उचित कीमत पर मिल जाती है।

(४) विक्री समितियों के अपने गोदाम भी होते हैं जिनमें संग्रह की सुविधायें उपलब्ध की जाती हैं।

(५) विक्री समितियों की स्थापना से नियंत्रित बाजार अपना काम ज्यादा सफलतापूर्वक कर सकते हैं क्योंकि निजी व्यापारियों की बुरी रीतियों पर अंकुश रहने लगता है।

इस प्रकार कृषि उपज की विक्री के लगभग समस्त दोषों का सबसे बड़ा इलाज सहकारी कृषि-विक्री-समितियों की स्थापना करना है।

वर्तमान स्थिति—द्वितीय योजना में सहकारी विक्री, परिनिर्माण (Processing) व गोदाम व्यवस्था (Warehousing) के विकास पर अधिक ध्यान दिया गया। १९६०-६१ तक १,८०० प्राथमिक-विक्री-समितियाँ स्थापित करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया और इसके नीचे १५०० गोदाम बनाने का भी निर्णय घोषित किया गया।

१९५१-५२ में सहकारी-विक्री-समितियों की स्थिति बहुत निराशाजनक थी। उत्तर प्रदेश व बंबई राज्यों में इनका विशेष विकास हो पाया था। उत्तर-प्रदेश में गन्ना-यूनियन चीनी की मिलों को गन्ना देते थे। उन्हें विशेष सफलता प्राप्त हुई। बम्बई में कपास विक्री-समितियाँ चल रही थीं। मद्रास, बम्बई व बिहार में फल व सब्जी उत्पादकों की समितियाँ भी थीं। लेकिन समस्त देश की दृष्टि से इनका बहुत बड़ा स्थान नहीं था।

[1]"द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के प्रारम्भ में देश में कई राज्यों में विक्री समितियाँ नहीं थीं। जिन राज्यों में ये थीं भी उनमें भी इनके मुख्य कार्य उपभोग्य वस्तुएँ, खाद व कृषि-औजार, आदि बेचने से सम्बन्धित थे। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में कृषि-उपज की सहकारी विक्री पर विशेष ध्यान दिया गया और ग्रामीण साख की एकीकृत योजना का इसे प्रमुख हिस्सा निर्धारित किया गया।"

द्वितीय योजना के प्रथम दो वर्षों में सहकारी विक्री समितियों की प्रगति का विवरण नीचे दिया जाता है :—

(१) **प्राथमिक विक्री समितियाँ**—प्राथमिक गन्ना-उत्पादकों की समितियाँ ७,४६६ और ३० जून, १९५८ तक अन्य प्राथमिक विक्री-समितियाँ १,८९९ थीं। इनमें से उत्तर-

1. Review of the Co-operative Movement in India, 1956-8, P.81.

प्रदेश में ५०२, पश्चिमी बंगाल में २२२, बम्बई में २०६, मैसूर में १८६, और आंध्र-प्रदेश में १५० विक्री समितियाँ थीं। १८९९ प्राथमिक विक्री-समितियों की सदस्य संख्या ५'४१ लाख थी। इनकी कार्यशील पूँजी ९'१७ करोड़ रुपये थी। इन्होंने १९५७-५८ में ४'७६ करोड़ रु० का माल मालिकों की हैसियत से वेचा और ११.३३ करोड़ रु० का माल ऐजेन्टों के रूप में वेचा।[1]

(२) **केन्द्रीय विक्री समितियाँ**—इनका मुख्य उद्देश्य प्राथमिक विक्री-समितियों की क्रियाओं का विकास व संयोजन करना है। ३० जून १९५८ को २,६८५ केन्द्रीय विक्री समितियाँ थीं। इनमें से उत्तरप्रदेश में २,२४१ समितियाँ, बम्बई में २९२, मैसूर में ३४, राजस्थान में ७०, हिमाँचल प्रदेश में २७ और आंध्र प्रदेश में ११ थीं।

आसाम, विहार, मध्य-प्रदेश, उड़ीसा, पश्चिमी वंगाल, व दिल्ली राज्यों में केन्द्रीय समितियाँ नहीं थीं।

(३) **राज्य विक्री समितियाँ**—३० जून १९५८ को १३ राज्य विक्री समितियाँ थीं। इनके कुल सदस्य २,०१६ थे। इनमें से १,७५८ सदस्य समितियाँ थीं और २५८ सदस्य व्यक्ति थे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि सहकारी विक्री समितियों का अभी तक सन्तोषजनक विकास नहीं हुआ है। साख व विक्री दोनों का कार्य एक साथ चलाया जाना चाहिए ताकि सफलता प्राप्त हो सके। इस सम्बन्ध में अभी तक वहुत कुछ काम करना वाकी है।

(३) **गोदाम-निर्माण व उपज के संग्रह की व्यवस्था**—अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने १९५४ में अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की कि साख, विक्री, परिनिर्माण, गोदाम आदि की व्यवस्था सहकारी ढंग पर की जाय। समिति की सिफा-रिश मान कर सरकार ने कृषि उपज (विकास एवं गोदाम) निगम अधिनियम पास किया जो १ अगस्त, १९५६ से लागू किया गया। इसके अन्तर्गत एक राष्ट्रीय सहकारी विकास व गोदाम-मण्डल १ सितम्वर, १९५६ में स्थापित किया गया। इस मण्डल का कार्य सहकारिता आन्दोलन को विभिन्न क्षेत्रों में फैलाना होगा और विशेपतया गोदामों का निर्माण व व्यवस्था करनी होगी।

कृषि उपज (विकास एवं गोदाम) निगम अधिनियम में एक केन्द्रीय गोदाम निगम (Central Warehousing Corporation) और प्रत्येक राज्य में एक राज्य गोदाम निगम या कम्पनी (State Warehousing Corporation or Company) की स्थापना की व्यवस्था की गई थी। केन्द्रीय गोदाम निगम १० करोड़ रु० की निर्गमित पूँजी से स्थापित किया जा चुका है और इसका मुख्य कार्य वन्दरगाहों, रेलवे जंकशनों व अन्य केन्द्रीय स्थानों पर वेयर हाउस वनाना है। १३ राज्य-गोदाम-निगम भी विभिन्न राज्यों में स्थापित किए जा चुके हैं।

1. The same report, P. 82.

[1]केन्द्रीय गोदाम निगम ने अब तक १८ गोदाम बनाए हैं जबकि राज्य गोदाम निगमों ने कुल १०५ गोदाम स्थापित किए हैं।

द्वितीय योजना में गोदाम व अन्य संग्रहालयों के सम्बन्ध में निम्न लक्ष्य निर्धारित किये गए थे :—

केन्द्रीय व राज्य निगमों द्वारा बनाए जाने वाले गोदाम	....	३५०
बिक्री समितियों के गोदाम	....	१५००
बड़े आकार की समितियों के गोदाम	....	४०००

इस प्रकार गाँव, जिला व राष्ट्रीय स्तरों पर छोटे, मध्यम व बड़े आकार के गोदामों का निर्माण व प्रबन्ध की व्यवस्था की जा रही है। आशा है इसकी सफलता से ग्रामीण अर्थव्यवस्था को बहुत लाभ पहुँचेगा। अभी तक कार्य की प्रगति बहुत धीमी है। इसे तेज करने की आवश्यकता है।

कृषि-विपणन एवं सरकारी प्रयत्नों के विवरण में Directorate of Marketing and Inspection की गतिविधियों की चर्चा करना भी आवश्यक है। यह विभाग १९३५ में स्थापित किया गया था। इसकी विभिन्न क्रियाएँ इस प्रकार हैं :—

(अ) श्रेणीकरण और प्रमापीकरण—कृषि उपज (ग्रेडिंग व मार्किंग) अधिनियम, १९३७ के अन्तर्गत निर्यात से पूर्व तम्बाकू, सनहेम्प, ऊन, ब्रिस्टल, नींबू की घास का तैल, चंदन के तैल का अनिवार्य रूप से श्रेणीकरण किया जाता है। अन्य वस्तुओं के अनिवार्य ग्रेडिंग का प्रश्न विचाराधीन है। आन्तरिक व्यापार के लिए ऐच्छिक ग्रेडिंग निम्न वस्तुओं की की जाती है—घी, तैल, मक्खन, कपास, अराडे, गेहूँ, आटा, चावल, आलू, गन्ना, गुड़ व फल। सारे देश में ८०० ग्रेडिंग स्टेशन थे। १९२० स्वीकृति प्राप्त पैक करने वाले हैं। उत्तम गुण वाली वस्तुओं पर AGMARK का निशान लगा दिया जाता है जिससे बिक्री में सहूलियत होती है।

(आ) नियंत्रित बाजार—अब इनकी संख्या ६४५ हो गई है। इनका विस्तृत विवरण पहले दिया जा चुका है।

(इ) बिक्री सम्बन्धी जाँच—१९५६ के बाद से ३१ कृषि-पदार्थों की बिक्री संबंधी जाँच करके रिपोर्टें प्रकाशित की जा चुकी हैं।

(ई) कर्मचारियों को प्रशिक्षण—अब तक नागपुर में ५१ उच्च स्तर के कर्मचारियों व साँगली व हैदराबाद में १४३ मंत्रियों के पद वाले व्यक्तियों को प्रशिक्षित किया जा चुका है।

———

1. India 1960, P. 273.
2. India 1960, P. 254.

अध्याय २३

परिशिष्ट

खाद्यान्नों का राजकीय व्यापार

भारत में खाद्य-समस्या न केवल अधिक उत्पादन की है बल्कि उचित मूल्यों पर ठीक वितरण की भी है। द्वितीय योजना के प्रारम्भ से ही देश के समक्ष खाद्य-संकट उपस्थित हो गया। अनाज के मूल्य बढ़ने लगे। १९५३ के मध्य काल से १९५५ तक के मध्य काल तक अनाजों के मूल्य-सूचनांक ३४ प्रतिशत घटे लेकिन वे १९५७ के मध्य तक पुनः ५१ प्रतिशत बढ़ गये। १९५७ में विभिन्न क्षेत्रों में अनाज के मूल्यों में भारी परिवर्तन हुए। जून, १९५७ में खाद्यान्नों के उत्पादन, वितरण व कीमत के सम्बन्ध में जाँच करने के लिए अशोक मेहता कमेटी नियुक्त की गई जिसने अपनी रिपोर्ट नवम्बर, १९५७ के शुरू में पेश की। इसमें खाद्यान्नों की कीमत बढ़ने के कारणों पर प्रकाश डाला गया। पहला कारण तो यह बतलाया गया कि देश में विनियोग की मात्रा बढ़ने से खाद्यान्नों की माँग बढ़ी है। इससे खाद्यान्नों की कीमतों पर दबाव पड़ा है। दूसरा कारण यह बतलाया गया कि कुछ लोगों के खाद्य के उपयोग की मात्रा व ढांचे में भी परिवर्तन हुआ है। इसलिए कुछ व्यक्ति घटिया अनाज की जगह चावल व गेहूँ खाने लग गये हैं। इन कारणों के अलावा मेहता कमेटी ने खाद्यान्नों की कीमत बढ़ने में व्यापारियों द्वारा स्टॉक जमा करने की नीति को जिम्मेदार ठहराया। ऐसा १९५५-५६ की अवधि में हुआ। १९५६-५७ में बड़े व मध्यम श्रेणी के उत्पादकों ने अनाज का संग्रह कर डाला। परिणामस्वरूप बिकने के लिए बाजार में अनाज कम आया और मूल्य बढ़ गए

अशोक मेहता कमेटी ने खाद्यान्नों की कीमत स्थिर करने पर जोर दिया है। इसके लिए प्रतिवर्ष लगभग ३ मिलियन टन खाद्यान्नों के आयात को आवश्यक बतलाया गया। इसके अतिरिक्त मेहता समिति ने कहा कि "सरकार को नियमित रूप से खुले बाजार में खाद्यान्नों की ख़रीद व बिक्री करनी चाहिए। थोक व्यापार के कुछ अंश का समाजीकरण करना चाहिए, शेष बाजार में काम करने वाले व्यापारियों पर लाइसेंस की विधि द्वारा नियंत्रण करना चाहिए, गेहूँ व चावल का काफी बड़ा स्टॉक जमा रखना चाहिए और इनका नियमित आयात करना चाहिए एवं सहायक खाद्य के उपभोग व उत्पादन का प्रचार करना चाहिए।"

समिति ने खाद्यान्नों की कीमत स्थिर करने के सम्बन्ध में नीति निर्धारित करने के लिए 'मूल्य स्थायीकरण बोर्ड' (Price Stabilization Board) का सुझाव दिया और नीति को कार्यान्वित करने के हेतु 'खाद्यान्न-स्थायीकरण संगठन' (Foodgrains Stabilization Organisation) की स्थापना की सिफारिश की। इस संगठन का कार्य गिरते हुए मूल्यों पर खाद्यान्न खरीदना और बढ़ते हुए मूल्यों पर बेचना रखा गया। ऐसा सोचा गया कि यह संगठन ३-४ वर्षों में देश में थोक व्यापार का बड़ा अंश नियंत्रित करने लग जायगा।

समिति ने 'उचित मूल्यों की दुकानों' के मार्फत अनाज बेचने का सुझाव दिया। खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने के लिए कई सुझाव दिये गये।

काफी समय तक समिति के सुझावों पर विचार किया गया और अन्त में २ अप्रैल, १६५६ को लोक सभा में खाद्यान्नों के राजकीय व्यापार की योजना घोषित की गई। इसके दो भाग किये गये, प्रथम तो अन्तरिम कार्यक्रम और दूसरा अन्तिम कार्यक्रम।

राजकीय व्यापार के अन्तरिम कार्यक्रम (Interim scheme) में लाइन्सेस प्राप्त थोक व्यापारियों को सरकार की तरफ से अनाज खरीदने का मौका दिया गया और कहा गया कि वे उत्पादकों को खरीदने की निश्चित की गई न्यूनतम कीमत से कम न देवें। सरकार ने उन किसानों से खरीदने का निश्चय किया जो इसे सीधे बेचना चाहते थे। थोक व्यापारियों के लिए न्यूनतम कीमत निर्धारित करने का प्रयोजन यह था कि वे उत्पादकों को कम कीमत न दे सकें। यदि उत्पादक यह सोचता हो कि उसे पूरी कीमत नहीं मिल रही है तो वह सरकार को बेच सकता था।

खाद्यान्नों के राजकीय व्यापार का अन्तिम रूप यह रखा गया कि एक समय आने पर समस्त खाद्यान्नों का व्यापार सहकारी समितियों के मार्फत किया जायगा।

उद्देश्य—राष्ट्रीय विकास परिषद् ने राजकीय व्यापार का समर्थन इसलिए किया कि व्यापारी-वर्ग खाद्यान्नों की कमी बढ़ाने के लिए उत्तरदायी है और इसी कारण से मूल्य बढ़ते हैं। व्यापारियों के अत्यधिक मुनाफे की प्रवृत्ति से उत्पादक को कम कीमत मिल पाती है जब कि उपभोक्ता की जेब से ज्यादा कीमत निकल जाती है। इस प्रकार उत्पादक और उपभोक्ता दोनों के हितों की रक्षा के लिए सरकार ने खाद्यान्नों के व्यापार को स्वयं लेकर कीमतें स्थिर करने का निश्चय किया।

राजकीय व्यापार की असफलता—खाद्यान्नों में राजकीय व्यापार का कार्यक्रम सफल नहीं हुआ। इसके कई कारण दिये जा सकते हैं:—

[1](१) उत्पादक-वर्ग ने अनाज दबा लिया। धनी व मध्यम श्रेणी के किसानों की

1. AICC Economic Review, May 7, 1960., p. 27.

अनाज रोकने की शक्ति पिछले वर्षों में काफी बढ़ गई है। यही नहीं बल्कि इन्होंने छोटे किसानों का माल भी खरीद कर रोकने का प्रयास किया है। परिणामस्वरूप बाजार में अनाज की मात्रा आशा से बहुत कम आई और ऊंचे मूल्यों को प्राप्त करने के लिए अनाज देहातों में रोक लिया गया।

(२) व्यापारियों ने स्थिति को और भी जटिल बना दिया। इन्होंने अधिकाधिक अनाज एकत्र करने की कोशिश में सरकार की न्यूनतम कीमत से ८ आने या १ रु० अधिक दे दिया। इन्होंने सरकार को कम खरीद का हिसाब दिखा दिया और शेष अनाज चोर बाजार में भेज दिया। इस प्रकार सरकार, जो अन्तिम खरीदार थी, बहुत कम स्टॉक खरीद सकी।

(३) अनाज के मूल्य बढ़ते गये और सरकार की खरीदने की शक्ति जनता की पूर्ति के वायदों की तुलना में कम रह गई। चारों तरफ 'कमी का वातावरण' बन गया। ऐसी परिस्थिति में राजकीय व्यापार का सफल होना सम्भव नहीं था।

इस प्रकार उत्पादकों, व्यापारियों व कमी के वातावरण ने राजकीय व्यापार को असफल बना दिया। वास्तव में 'बचत वाले देश' मे राजकीय व्यापार की सफलता के ज्यादा अवसर होते है क्योंकि उत्पादक स्वभावतः ही सरकार से वहाँ सहयोग दिखाते हैं। उन्हें मूल्यों के सहारे (Price support) की आवश्यकता होती है। लेकिन अनाज के अभाव वाले देश में मूल्य-वृद्धि को रोकने की आवश्यकता होती है। इस कार्य में उत्पादक सहयोग नही देते है। वे स्टॉक छिपाने लगते है और खाद्यान्नों की फसलों से गैर-खाद्यान्नों की फसलों पर जाने लगते हैं।

साम्यवादी देशों में भी राजकीय व्यापार उस समय सफल हुआ है जबकि बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो चुका है और सहकारी खेती अपनाई जा चुकी है। अतः भारत में खाद्यान्नों के राजकीय व्यापार का सफल होना कठिन है। असंख्य किसानों पर प्रभावपूर्ण नियंत्रण करना प्रशासनीय दृष्टि से अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

राजकीय व्यापार का वैकल्पिक (Alternative) अनाज का स्टॉक रखना (Buffer stocks)

राजकीय व्यापार के स्थान पर सरकार के लिए अनाज का स्टॉक जमा करके रखना भारत जैसे देशों की परिस्थिति में ज्यादा लाभप्रद सिद्ध होगा। यह स्टॉक विदेशों से आयात करके भी बनाया जा सकता है। भारत ने अमेरिका से पी० एल० ४८० के अन्तर्गत १७ मिलियन टन खाद्यान्न का ऋण लेकर (६०८ करोड़ रु०) तृतीय योजना की अवधि में खाद्यान्नों की कीमत स्थिर रखने का निश्चय किया है। जब सरकार के पास खाद्य का भण्डार होगा तो वह उत्पादकों व व्यापारियों के मूल्य बढ़ाने के प्रयत्न विफल कर देगी क्योंकि वह स्वयं बेचने लग जायगी।

इस प्रकार भारतीय परिस्थिति में सरकार द्वारा अनाज का भण्डार रखना राजकीय व्यापार की तुलना में ज्यादा सफल सिद्ध होगा। हमारे वर्तमान खाद्य-मंत्री श्री पाटिल भी राजकीय व्यापार के पक्ष में नहीं हैं और खाद्य का स्टॉक जमा रखने (Buffer stock) की नीति का समर्थन करते हैं। बहुत कम राज्य सरकारें राजकीय व्यापार का समर्थन करती हैं। अतः खाद्यान्नों में राजकीय व्यापार की नीति अपनाने के स्थान पर सरकार को खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने पर अधिक बल देना चाहिये और आन्तरिक खरीद व आयात द्वारा स्टॉक जमा रखकर वितरण ठीक मूल्यों पर करने की तरफ अधिक ध्यान देना चाहिए।

परीक्षा के प्रश्न (अध्याय २४ के अन्त में देखिए)

संदर्भ ग्रन्थ

(1) India 1960, p. 253-254.

(2) Review of the Co-operative movement in India, 1956-58.

चौबीसवाँ अध्याय

ग्रामीण वित्त

आवश्यकता—भारत में ग्रामीण अर्थ व्यवस्था के पिछड़ेपन का प्रमुख कारण वित्तीय सुविधाओं का अभाव माना जा सकता है। गाँवों में विविध आर्थिक क्रियाओं को सफलतापूर्वक चलाने के लिए पर्याप्त साख की आवश्यकता होती है। कृषि, ग्रामीण उद्योग, परिनिर्माण कार्य (Processing), पशु-पालन आदि सब कार्यों के लिए पूँजी चाहिए। ग्रामीण जनता की आमदनी बहुत कम होती है अतः वह बचत भी कम कर पाती है। आर्थिक कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिये उधार लेना पड़ता है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था में कृषि का तेजी से विकास करने के लिये तो साख की आवश्यकता दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में विविधता लाने के लिये गैर-कृषि उत्पादन के बढ़ाने की भी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। अतः भविष्य में ग्रामीण क्षेत्रों में पूँजी की माँग बढ़ेगी। ग्रामीण साख की सुनियोजित एवं सुसंगठित योजना व प्रबन्ध द्वारा ही उनकी पूर्ति की जा सकेगी।

ग्रामीण वित्त में कृषि वित्त के अलावा कुटीर उद्योगों आदि के लिये आवश्यक वित्त भी शामिल किया जाता है। फिर भी ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में सबसे ज्यादा पूँजी की आवश्यकता कृषि कार्यों के लिये होती है। कृषि का उत्पादन व उत्पादनशीलता बढ़ाने में वित्तीय साधनों की वृद्धि का अत्यधिक प्रभाव पड़ेगा।

भारतीय किसान की साख संबंधी आवश्यकताओं का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया गया है जैसे (अ) समय के अनुसार (आ) उद्देश्य के अनुसार, (इ) जमानत के अनुसार (ई) ऋणदाता के अनुसार।

(अ) समय के अनुसार (Period wise) (i) **अल्पकालीन**—इसकी अवधि १५ महीने तक होती है। अल्पकालीन ऋण चालू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लिये जाते हैं, जैसे खाद बीज आदि के लिये किसान गाँव के महाजन या सहकारी समिति से इस प्रकार का ऋण लेता है। ऐसे ऋण उपभोग कार्यों के वास्ते भी लिये जा सकते हैं।

(ii) **मध्यम कालीन** (Medium-Term)—इनकी अवधि पाँच वर्ष से कम की होती है। किसान बैल की जोड़ी खरीदने के लिये, कुआ खुदवाने एवं भूमि में अन्य सुधार के लिये ऐसे ऋण लेता है। शादी व मृत्यु पर उपभोग-खर्च के लिये भी मध्यम-कालीन ऋण लेने पड़ते हैं।

(iii) **दीर्घकालीन** (Long-Term)—इनका भुगतान ५ वर्ष बाद होता है।

ये पुराना ऋण चुकाने, भूमि खरीदने व भूमि में स्थायी सुधार कराने के लिये प्राप्त किये जाते हैं। भूमि बंधक बैंक दीर्घकालीन ऋण देते हैं। गाँव के महाजन से भी दीर्घकालीन ऋण प्राप्त हो सकते हैं।

अनुमान लगाया गया है कि समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भारतीय किसान को लगभग ७५० करोड़ रु० प्रतिवर्ष ऋण लेने की आवश्यकता पड़ती है।

(आ) उद्देश्य के अनुसार (Purpose-wise) – ऋण उत्पादक व अनुत्पादक (उपभोग के लिए लिये गये) दो प्रकार के होते हैं। उपभोग के लिये प्राप्त किये ऋण भी दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—फसल की अवधि में किसान अपने परिवार के भरण-पोषण के लिये ऋण लेने के लिये बाध्य हो जाता है और दूसरे शादी, मृत्यु, मुकद्दमे-बाजी आदि में व्यय करने पर ऋण लेना होता है। प्रथम श्रेणी के ऋण उपभोग के लिये लिये जाने पर भी उत्पादक-ऋण जैसे ही हैं और उनका लेना बुरा नहीं है। लेकिन द्वितीय श्रेणी के उपभोग-ऋण पूर्णतया अनुत्पादक हैं और उन्हें निरुत्साहित किया जाना चाहिये।

(इ) जमानत के अनुसार (Security-wise)—ऋण जमानत या विना जमानत दोनों प्रकार से दिये जाते हैं। महाजन प्रायः बिना जमानत के भी अल्पकालीन ऋण दे देता है लेकिन सरकारी संस्थायें भूमि की जमानत पर ही ऋण स्वीकार करती हैं। इससे केवल बड़े किसानों को ही लाभ पहुँच पाता है और छोटे व मध्यम श्रेणी के किसान सहकारी साख प्राप्त करने में कठिनाई का सामना करते हैं। 'भूमि का जमानत' के स्थान पर 'भुगतान की क्षमता' (Repaying Capacity) को ध्यान में रख कर यदि ऋण दिये जाँय तो कृषकों को ज्यादा लाभ मिल सकता है।

(ई) ऋणदाता के अनुसार (Creditor-wise)—भारत में किसान को साख प्रदान करने के दो प्रकार के साधन हैं, (१) व्यक्ति, (२) संस्थाएँ। प्रथम में साहूकार, देशी बैंकर, व्यापारी, जमींदार व किसान के सम्बन्धी आते हैं और संस्थाओं में व्यापारिक बैंक, सरकार व सहकारी समितियाँ आती हैं।

अभी तक भारत में संस्थागत-वित्तीय-व्यवस्था (Institutional finance) का अभाव पाया जाता है। इसके अलावा विभिन्न एजेंसियों व उद्देश्यों में ताल-मेल बैठाने की आवश्यकता है।

कृषि के लिए साख प्राप्त करने के साधन

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने अपनी दिसम्बर, १९५४ की रिपोर्ट में कृषि साख के विविध पहलुओं पर विस्तृत प्रकाश डाला है। उसमें प्रत्येक साधन की कमियाँ व सुझाव बतलाये गए हैं। समिति ने अपनी जाँच के परिणाम में विभिन्न साधनों का स्थान कृषि साख प्रदान करने में इस प्रकार निर्धारित किया है—

कुल साख की पूर्ति
(१००·०)

संस्थाओं से प्राप्त ऋण		व्यक्तियों से प्राप्त ऋण	
		(क) महाजन	
(क) सरकार	३·३	(अ) खेतीहर	....२४·६
		(आ) पेशेवर	....४४·८
(ख) सहकारी समितियाँ	३·१	(ख) सगे सम्बन्धी	....१४·२
		(ग) व्यापारी व कमीशन एजेंट	.... ५·५
		(घ) जमींदार	.... १·५
(ग) व्यापारिक बैंक	०·६	(ङ) अन्य	.... १·८
	७·३		९२·७

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि किसान को व्यक्तिगत साधनों से ज्यादा साख प्राप्त हुई है। अकेले महाजन ने लगभग ७०% साख की आवश्यकताओं की पूर्ति की है। नीचे विविध साधनों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

(१) महाजन—किसान को सबसे ज्यादा ऋण महाजन से मिलता है। महाजन दो प्रकार के होते हैं, एक तो खेतीहर और दूसरे पेशेवर। खेतीहर महाजन खेती भी करते हैं लेकिन पेशेवर महाजन सिर्फ उधार देने का ही व्यवसाय करते हैं और इनका देहातों में बहुत प्रभाव पाया जाता है।

महाजन के काम करने के तरीके बड़े सरल होते हैं। वह अल्पकालीन, मध्यम-कालीन व दीर्घकालीन सभी के लिये ऋण देता है। उसे ऋण के उद्देश्य—उत्पादन या उपभोग से कोई सरोकार नहीं होता है। वह जमानत व बिना जमानत दोनों तरह से ऋण देता है। महाजन बहुत शीघ्रता से उचित समय पर ऋण देता है। इन विशेषताओं के कारण ही महाजन गाँव में महत्वपूर्ण स्थान पाये हुए हैं।

महाजन के काम करने के तरीके अपने ढंग के हैं। उसे अपने ऋणी किसान की स्थिति का पूर्ण ज्ञान होता है। वह उसके आचरण व चुकाने की क्षमता से परिचित होता है। कृषक से ऋण वसूल करने के लिये वह शायद ही कभी अदालत या कानून का सहारा लेता है। आर्थिक व सामाजिक दबाव डाल कर ही वह ऋण की रकम वसूल कर लेता है। आर्थिक दबाव में, वह उधार बन्द करने की धमकी देता है अथवा किसान को जमींदार या व्यापारी के मार्फत उसे अपने हाथ के नीचे रखता है। प्रायः वह स्वयं जमींदार या व्यापारी भी होता है या इनसे सम्बन्धित होता है। सामाजिक दबाव

में वह किसान को बेइज्जती व सामाजिक या जाति-बहिष्कार का भय दिखा देता है। वह बड़े धैर्य से इन्तजार करता रहता है और अन्त में व्याज सहित अपनी रकम प्राप्त कर लेता है।

महाजन व्याज में संयम नहीं बरतता है। व्याज की दरें विभिन्न राज्यों में एक-सी नहीं पाई गई हैं। बिहार व उत्तर प्रदेश में ये ३०%, पश्चिमी बंगाल व हिमाचल प्रदेश में ४०% और उड़ीसा में ७०% तक रही हैं (सर्वेक्षण समिति की जाँच के अनुसार)।

महाजन अपनी हरकतों के लिए बदनाम रहा है। अग्रिम व्याज, गिरह खुलाई व अन्य भेंट, खाली कागज पर अँगूठे का निशान लेकर मनमानी रकम भर लेना, हिसाब में गड़बड़ आदि के कारण उसे शोषक माना गया है। उस पर कानून द्वारा नियन्त्रण करने के प्रयत्न किये गये हैं लेकिन विशेष सफलता नहीं मिल पाई है। सर्वेक्षण रिपोर्ट के अनुसार, "महाजन प्रदत्त साख में लोच व शीघ्र प्राप्ति के गुणों के अलावा कोई भी सराहनीय बात नहीं है और बहुत कुछ बातें इसको निकृष्ट व हेय बनाने वाली ही हैं।" (पृष्ठ ३२६)

सरकारी साख समितियों के विकास से ही महाजनों का शिकंजा घट सकता है। इसके लिए भारी प्रयत्न की आवश्यकता है।

(२) व्यापारिक बैंक—इन्होंने प्रत्यक्ष रूप से कृषकों के लिए साख की व्यवस्था करने में बहुत कम भाग लिया है। इस सम्बन्ध में इनका ज्यादातर कार्य ग्रामीण व शहरी महाजनों, देशी बैंकरों व व्यापारियों को पूँजी देना रहा है। ये लोग फिर उस पूँजी को किसानों को उधार देते हैं। किसानों को अपनी कुल उधार का मुश्किल से १% व्यापारिक बैंकों से मिल पाया है जो नगण्य है।

व्यापारिक बैंकों ने कपास, जूट, तिलहन, गन्ना आदि के थोक व्यापार में पूँजी की सहायता दी है। कहवा व रबर के बागानों को भी उधार की सुविधायें दी गई हैं। इन्होंने बिक्री में ज्यादा रुचि दिखाई है और उत्पादन में बहुत कम।

अपने शहरी दृष्टिकोण के कारण इन्होंने कृषि-वित्त में प्रत्यक्ष भाग बहुत कम लिया है। गोदामों की व्यवस्था के अभाव में भी प्रगति नहीं हो सकती थी। स्टेट बैंक की स्थापना से यह कमी दूर की जा रही है।

(३) सरकार—भूमि सुधार ऋण अधिनियम, १८८३ के अन्तर्गत किसान को सरकार की तरफ से दीर्घकालीन ऋण मिलता है, कृषक ऋण अधिनियम, १८८४ के अन्तर्गत अल्पकालीन ऋण दिये जाते हैं। अकाल के दिनों में तकावी ऋण ज्यादा लोकप्रिय रहे हैं। सरकारी ऋणों या तकावी ऋणों से कृषकों को केवल ३% ऋण मिला था। विभिन्न राज्यों की स्थिति में अन्तर पाया गया है।

तकावी ऋणों में निम्न कमियाँ पाई गई हैं—

(१) रकम की अपर्याप्तता व वितरण की असमानता,

(२) उचित समय पर न मिलना, देरी व उधार लेने वाले के द्वारा ऋण प्राप्त करने के लिए अत्यधिक व्यय,

(३) ऋण के प्रयोग की देख-रेख का अभाव,

(४) बड़े किसानों को ही अधिकतर ऋण मिल पाता है,

(५) ब्याज की दर कम होने पर भी ऋण की वास्तविक लागत अधिक होती है।

इस प्रकार किसान तकावी ऋणों से विशेष लाभ नहीं उठा पाया है।

(४) सहकारी संगठन[1]—भारत में सहकारिता आन्दोलन बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से चालू हुआ था। इसका ज्यादातर प्रयोग किसान को साख प्रदान करने में किया गया। केन्द्रीय स्तर पर राज्यों में राज्य सहकारी बैंक, जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंक एवं ग्राम स्तर पर प्राथमिक सहकारी कृषि साख समिति इस कार्य को कर रहे हैं।

हालाँकि पिछले वर्षों में सहकारी साख आन्दोलन की काफी प्रगति हुई है, फिर भी इस दिशा में बहुत कुछ करना बाकी है। सर्वेक्षण रिपोर्ट के अनुसार कृषक को ३·१% ऋण सहकारी समितियों से मिल पाया था। पिछले वर्षों में सहकारी साख संगठनों को मजबूत करने के लिए कई उपाय काम में लिए गये हैं जैसे वित्तीय साधन प्रदान करना, कर्मचारियों का प्रशिक्षण आदि आदि। समितियों का आकार भी बढ़ाया गया है। अतः प्रगति होना स्वाभाविक था। विभिन्न संस्थाओं की वर्तमान स्थिति का विवरण निम्न तालिका[2] से स्पष्ट हो जाता है—

(१९५७-५८)

	संख्या	शेयर पूँजी	कार्यशील पूँजी
राज्य सहकारी बैंक	२१	८·४७ करोड़ रु०	१०९·०७ करोड़ रु०
केन्द्रीय सहकारी बैंक	४१८	१७·०७ करोड़ रु०	१४७·०० करोड़ रु०
प्राथमिक कृषि साख समितियाँ	१,६६,५४३	—	१३३·७५ करोड़ रु०

१९५१-५२ के आँकड़ों के अनुसार राज्य सहकारी बैंकों की संख्या १६ थी, उनकी शेयर पूँजी १·९० करोड़ रु० और कार्यशील पूँजी ३६·७२ करोड़ रु० थी। इस प्रकार राज्य-स्तर पर सहकारी बैंकों की स्थिति में अत्यन्त सुधार हुआ है।

सहकारी साख आन्दोलन की संख्यात्मक प्रगति काफी उत्साहवर्द्धक है लेकिन कृषकों की साख की आवश्यकताओं की पूर्ति में इन्होंने विशेष सफलता प्राप्त नहीं की

१. सहकारी साख आन्दोलन के विस्तृत विवरण के लिए अगला अध्याय देखिए। यहाँ सिर्फ संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

1. India 1960, p. 276.

है। आज भी गाँवों में साहूकार, महाजन या बनिया ही साख देने का प्रमुख साधन माना जाता है। उसका प्रभाव कम करने के लिए संस्थागत साख के साधनों में पर्याप्त वृद्धि करनी पड़ेगी।

एक विकासोन्मुख अर्थ व्यवस्था के लिए उचित व सुव्यवस्थित साख प्रणाली की आवश्यकता होती है। भारत में अभी तक उसका अभाव है। ग्रामीण वित्त-व्यवस्था में सुधार करने के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं—

(१) सहकारी साख और सहकारी बिक्री के कार्यों में आवश्यक ताल-मेल बैठाना चाहिये। किसान को उधार देते समय इस बात के लिए बाध्य किया कि वह अपनी उपज अमुक सहकारी बिक्री समिति के मार्फत ही बेचे और इस सम्बन्ध में लिखित स्वीकृति देवे। साख और बिक्री यह मेल दोनों क्रियाओं को सफल बनाने में मदद देगा।

(२) गाँवों में सहकारिता की भावना का ज्यादा प्रचार होना चाहिए। सहकारी सेवा समितियों (Service co-operations) की स्थापना की जानी चाहिए और उनके प्रबन्ध में सदस्यों को सक्रिय भाग लेना चाहिए।

(३) सहकारी साख समितियों के पूँजीगत साधन बढ़ाये जायें ताकि वे किसानों की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति में उत्तरोत्तर अधिक भाग ले सकें।

(४) व्यापारिक बैंकों को भी कृषि-साख में विशेष दिलचस्पी दिखानी चाहिए। स्टेट बैंक की शाखाओं के फैलने से इस दिशा में काफी प्रगति हो सकी है।

(५) गोदाम बनाने का कार्यक्रम तेजी से पूरा करना चाहिए ताकि साख की सुविधायें बढ़ सकें।

(६) छोटे व मध्यम श्रेणी के किसानों व अन्य काश्तकारों तक साख की सहूलियत पहुँचाने के लिए जमानत के लिए 'भूमि' पर जोर न देकर 'चुकाने की योग्यता' पर जोर देना चाहिए।

(७) जहाँ तक हो सके ऋण वस्तुओं के रूप में दिया जाय।

(८) यदि नकद दिया जाता है तो उसके उपयोग की देख-रेख विशेष रूप से की जाय।

(९) कृषकों में बचत की आदत प्रोत्साहित की जाय और ग्रामीण बचत को एकत्र करने के सर्वोत्तम उपाय अपनाये जाँय।

(१०) सिंचाई, चकबन्दी, भूमि सुधार आदि से कृषक की साख बढ़ाई जाय और उसकी आर्थिक स्थिति में स्थायी सुधार किया जाय।

ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता

अनुमान —भारतीय किसान ऋण-ग्रस्तता के लिए काफी मशहूर है। कृषि आयोग के अनुसार वह ऋण में जन्म लेता है, ऋण में मरता है और ऋण पीछे छोड़ जाता

है। इस प्रकार कृषक के लिए ऋण की ग्रस्तता की स्थिति एक सामान्य व साधारण बात होती है। यह उनके जीवन का अविभाज्य अंग बन गई है। शायद ही कोई ऋण-ग्रस्त किसान ऋण-मुक्त होने की सोचता हो या सोच सकता हो। गरीबी और ऋण-ग्रस्तता का चोली-दामन का सम्बन्ध है। भारतीय किसान की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। गरीबी सब रोगों की जड़ में है।

समय-समय पर अनेक विद्वानों और समितियों ने ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता के अनुमान लगाये हैं। १८७५ के दक्षिण उपद्रव आयोग ने अहमदनगर जिले के बारह गाँवों की स्थिति का विश्लेषण करके औसत ऋण की मात्रा में प्रति किसान ३७१ रु० बतलाई। आयोग ने बतलाया कि सरकारी भूमि के ⅓ काश्तकार ऋण-ग्रस्त थे। सर एडवर्ड मैकलेगन ने १९११ में भारत का ग्रामीण ऋण ३०० करोड़ रु० आँका। १९२४ में सर माल्कम डार्लिंग ने ६०० करोड़ रु० बतलाया। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति, १९३१ ने ब्रिटिश भारत में कुल ग्रामीण ऋण ९०० करोड़ रु० बतलाया। १९३५ में डा० पी० जे० थामस के अनुसार ऋण की मात्रा १,२०० करोड़ रु० तक पहुँच गई। १९३७ में रिजर्व बैंक के कृषि साख विभाग ने अपनी जाँच में ऋण की मात्रा १,८०० करोड़ रु० मानी। डा० नायडू ने मद्रास राज्य में ऋण-ग्रस्तता की स्थिति का पता लगाया। यदि उनके अनुमानों को समस्त भारत पर लागू किया जाय तो १९४५ में ऋण की मात्रा १३०० करोड़ रु० कही जायगी। विभाजन के बाद भारतीय संघ में ग्रामीण ऋण की मात्रा ११०० करोड़ रु० होगी। राष्ट्रीय आय-समिति की प्रथम रिपोर्ट में ग्रामीण ऋण ९१३ रु० आँका गया है। श्री एस० तिरुमल्लाई ने १८०० करोड़ रु० का ऋण का अनुमान भारतीय संघ के लिए लगाया।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की जाँच के अनुसार १९५०-५१ में प्रति ग्रामीण परिवार ऋण की मात्रा २८३ रु० थी। कृषि पदार्थों के मूल्य कम होने से इतना ऋण का बोझा बढ़ गया।

१९३० के मन्दी के दिनों में ऋण का भार बढ़ना स्वाभाविक था। लेकिन द्वितीय महायुद्ध की अवधि में (१९३९-४५) कृषि पदार्थों के मूल्यों में तेजी आने से मध्यम श्रेणी के किसानों की आर्थिक स्थिति में काफी सुधार हुआ जिससे उन्होंने पुराने ऋण चुकाये और सहकारी साख समितियों की बकाया रकम कम हो गई। लेकिन युद्धोत्तर काल में (१९४५ के बाद) पुनः ऋणग्रस्तता बढ़ी क्योंकि मूल्य नियंत्रण आदि उपायों द्वारा कृषि पदार्थों की कीमतें नहीं बढ़ने दी गईं। अतः छोटे किसानों, काश्तकारों व भूमिहीन मजदूरों की आर्थिक हालत बहुत खराब हो गई। स्मरण रहे कि इसी वर्ग को मन्दी के समय हानि उठानी पड़ी थी और युद्ध के तेजी के काल में इसे लाभ नहीं हो पाया था। अतः यह वर्ग निरंतर पिसता रहा है और ऋण-भार से दब चुका है।

सर्वेक्षण समिति के अनुसार लगभग आधा ऋण पारिवारिक खर्च के लिए किया

गया और शेष अन्य दिशाओं में व्यय किया गया। अतः ज्यादातर ऋण का उपयोग अनुत्पादक कार्यों में किया। वास्तव में यह चिन्ता का विषय है क्योंकि उत्पादक ऋण तो भुगतान के साधन स्वयं जुटा देता है लेकिन अनुत्पादक ऋण का भुगतान कठिन हो जाता है।

ऋण-ग्रस्तता के कारण

(१) कम आय व गरीबी—भारतीय किसान की आय बहुत कम है। राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार कृषि में प्रति परिवार वास्तविक उत्पादन सिर्फ ५०० रु० है। इतनी कम आय से एक परिवार का गुजारा भी ठीक से नहीं हो पाता है। अतः उपभोग के लिए ऋण लेने को वाध्य होना पड़ता है।

(२) खेतों का अत्यधिक छोटा और दूर-दूर होना—भारत में अनार्थिक जोतों का आधिक्य है जिस पर खेती करके पर्याप्त आय नही प्राप्त की जा सकती है। अतः ऋण लेना आवश्यक हो जाता है। जनसंख्या का भूमि पर निरंतर भार बढ़ता जा रहा है। इससे स्थिति और भी शोचनीय हो गई है।

(३) प्राकृतिक प्रकोप—भारतीय कृषि माननून का जुआ है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि टिड्डी-दल, बाढ़, फसलों के रोग आदि के कारण प्रायः उत्पादन कम हो जाता है और किसान कर्ज लेने के लिए वाध्य हो जाते हैं। प्रति पाँच वर्ष में से एक वर्ष अच्छा, एक बुरा और तीन साधारण श्रेणी के होते हैं। अच्छे वर्ष को छोड़कर शेष सभी में किसान को ऋण लेना पड़ता है।

(४) पैतृक ऋण (Ancestral Debt)--प्रायः बहुत से किसान ऋण के अत्यधिक भार से ही अपना जीवन आरम्भ करते हैं क्योंकि अपने पूर्वजों का ऋण ही उन्हें विरासत में मिलता है। इस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी ऋण चलता रहता है। यही कारण है कि भारतीय किसान ऋण को एक सामान्य बात मानता है। वह सोचता है कि ऋण तो सदा से चलता आया है और सदा चलता रहेगा। यह मनोवृत्ति अधिक ऋण लेने को प्रेरित करती है।

(५) अत्यधिक सामाजिक व्यय व मुकद्दमेवाजी—वैसे किसान सादा जीवन बिताता है लेकिन शादी, मृत्यु व अन्य अवसरों पर ऋण लेकर भी व्यय कर डालता है। वह सामाजिक रूढ़ियों में जकड़ा हुआ है और फिजूलखर्ची से नहीं बच सकता है। भारत में छोटी छोटी बातों पर, विशेषकर भूमि के सम्बन्ध में झगड़े हो जाते हैं और अदालतों की शरण लेनी पड़ जाती है। मुकद्दमेवाजी में अत्यधिक खर्च करना पड़ता है। पंचायतों के विकास से इस प्रकार की स्थिति नहीं रहेगी।

(६) महाजन की कुचालें—पहले कहा जा चुका है कि भारतीय किसान को लगभग ७०% ऋण खेतिहर और पेशेवर साहूकारों से मिलता है। ये ऋण शीघ्र दे देते हैं और इनके तरीके भी सरल होते हैं लेकिन ये नाना प्रकार से किसान का शोषण

करते हैं जैसे अत्यधिक ब्याज लेना, उधार दी हुई रकम से ज्यादा रकम लिखा लेना एवं कई गड़बड़ें करना। एक बार महाजन के चंगुल में फँसने पर निकलना मुश्किल हो जाता है। वह किसान को ऋण-ग्रस्त बनाये रखता है। अतः भारत में महाजनी प्रथा भी किसान को दरिद्र बनाने में सहायक सिद्ध हुई है।

(७) कृषक की अस्वस्थता—किसान प्रायः छोटी-छोटी बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। रोग-ग्रस्त व्यक्ति अन्त में ऋण-ग्रस्त भी हो जाता है क्योंकि एक तरफ उसकी कार्य-क्षमता घट जाती है और दूसरी तरफ उसे दवा आदि पर व्यय करना पड़ता है।

(८) पशुधन को हानि—किसान की मुख्य पूँजी उसके पशु होते हैं। यदि पशुओं को अचानक हानि होती है तो वह ऋण लेकर नये पशु खरीदने को बाध्य हो जाता है। भारतीय किसान आय की कमी, अज्ञानता व बचत के अभाव में पशुओं व औजारों के लिए मूल्य-ह्रास-कोष (Depreciation fund) की व्यवस्था नहीं करता है। अतः नये पशु व औजार खरीदते समय उसे ऋण लेना आवश्यक हो जाता है।

(९) सरकार की भूमिकर नीति—श्री रमेशचन्द्र दत्त आदि अनेक व्यक्तियों ने यह मत प्रकट किया है कि भूमिकर का अत्यधिक भार और इनकी वसूली की कठोरता भी ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता का एक कारण है। अकाल के समय लगान की छूट न मिलने से प्रायः कृषक ऋण लेने को बाध्य हो जाता है। लेकिन भूमिकर ऋण-ग्रस्तता का एक गौण कारण माना जा सकता है क्योंकि भूमिकर की कुल आय समस्त ग्रामीण ऋण का $\frac{1}{30}$ वाँ भाग है। अतः यह एक सहायक कारण है। लेकिन भूमिकर नीति में इस प्रकार संशोधन किया जाना चाहिये कि उपयुक्त समय पर आवश्यक लगान की छूट मिल सके।

(१०) भूमि के मूल्य में वृद्धि—आर्थिक परिवर्तनों ने भूमि के मूल्य में वृद्धि कर दी जिससे कृषक की ऋण लेने की क्षमता बढ़ गई। अतः सम्पन्नता भी ऋण बढ़ाने में ही सहायक हुई।

(११) अन्य कारण—बहुत से कारणों ने एक साथ मिलकर ग्रामीण ऋण की समस्या उत्पन्न की है। कृपक का अशिक्षित होना भी ऋण की वृद्धि में सहायक हुआ है क्योंकि वह अपने माल की बिक्री भी सर्वोत्तम ढंग से करने में असमर्थ रहा है। अब तक जमींदार, महाजन व वकील उसका शोषण करते रहे हैं। अतः ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता के लिए कृषक की सामाजिक, आर्थिक व व्यक्तिगत परिस्थितियाँ जिम्मेदार हैं।

ऋण-ग्रस्तता से हानियाँ

ऋण-ग्रस्तता ने भारतीय किसान को कई कठिनाइयाँ झेलने के लिए बाध्य किया है जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं :—

(१) कृपक को अपनी आय का बड़ा भाग ब्याज चुकाने में देना पड़ता है जिससे

वह गरीब रहता है और भूमि में विनियोग नहीं कर पाता है। परिणामस्वरूप कृषि में कार्य-कुशलता का अभाव बना रहता है।

(२) ऋण के कारण ही किसान अपनी फसल महाजन को कम दामों पर बेचने के लिए बाध्य हो जाता है। अतः दोषपूर्ण बिक्री-प्रणाली के लिए कृषक की ऋण-ग्रस्तता जिम्मेदार है।

(३) ऋण-ग्रस्तता से ही भूमि कृषक-वर्ग के हाथ से निकल कर अकृषक-वर्ग के हाथ में जाती रही है। महाजन कृषक को अत्यधिक कर्ज दे देते हैं जिससे वह आगे जाकर भूमि बेचने को बाध्य हो जाता है। इससे एक तरफ भूमिहीन मजदूरों की संख्या बढ़ती है और दूसरी तरफ भूमि महाजनों या अन्य व्यक्तियों के हाथों में चली जाती है जो इसका उपयोग शोषण के लिए करते हैं।

(४) ऋण-ग्रस्त रहने के कारण कृषक को महाजन की गुलामी करनी पड़ती है और उसका नैतिक पतन हो जाता है। अतः ऋण-ग्रस्तता ने भारतीय किसान को आर्थिक दृष्टि से दिवालिया, सामाजिक दृष्टि से फिजूल-खर्च और नैतिक दृष्टि से पतित बना दिया है। किसान देश की रीढ़ की हड्डी होते हैं। दुर्बल और हीन कृषक देश के आर्थिक विकास में बाधक हैं। सबल, स्वस्थ और सम्पन्न किसान ही देश का मस्तक ऊँचा कर सकते हैं। दुर्भाग्य का विषय है कि भारतीय कृषक विभिन्न रोगों से ग्रसित हैं। यही कारण है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था भी पिछड़ी हुई है।

ऋण-ग्रस्तता सम्बन्धी सरकारी नीति

जब से दक्षिण उपद्रव जाँच समिति (१८७५) ने किसानों की भयंकर ऋण-ग्रस्त स्थिति की ओर सरकार का ध्यान दिलाया है तब से सरकार ने समय-समय पर इस समस्या को हल करने के लिए कार्य किए हैं। उन कार्यों को अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न भागों में बाँटा जा सकता है :–

(१) ऋण सम्बन्धी कानून व भूमि के अन्तरण पर रोक—१८७९ में दक्षिण-कृषक-सुविधा-अधिनियम (The Deccan Agriculturists' Relief Act) पास हुआ जिसमें ऋणों के इतिहास की जाँच व ऋणदाताओं और किसानों के बीच के सौदों की जाँच की व्यवस्था की गई। कृषक को दिवालिया घोषित करने की प्रक्रिया निर्धारित की गई। मूलधन व ब्याज को निश्चित करने की व्यवस्था की गई। भूमि के अन्तरण पर रोक लगाने के लिए पंजाब में भूमि-अन्तरण-अधिनियम, १९०१ में पास हुआ। ऐसे कानून अन्य राज्यों में भी बने। नये संविधान के अनुसार ये कानून रद्द हो गये हैं।

इन कानूनों से ऋण-ग्रस्तता में कमी नहीं हुई क्योंकि सहकारी प्रयत्नों में बहुत ढिलाई रही।

(२) ऋण परिशोध व ऋणों में कमी—१९३० की मंदी के दिनों में किसान पर ऋण का भार बढ़ गया। महाजनों ने अदालतों के मार्फत ऋण वसूल करना प्रारम्भ कर दिया। भूमि किसान के हाथ से निकलकर महाजन के पास जाने लगी। ऐसी स्थिति में किसान के हित के लिए कई राज्यों में कानून पास किये। इनमें शुरू में किसान के विरुद्ध अदालती कार्यवाही स्थगित की गई और भूमि का अन्तरण रोका गया। अगला कदम व्याज का बोझा कम करने का था। कई राज्यों में दामदुपत का सिद्धान्त लागू किया गया जिसके अनुसार व्याज की कुल रकम मूलधन से ज्यादा नहीं हो सकती थी। इसके बाद स्वेच्छा से ऋण की रकम कम करने की व्यवस्था की गई। पंजाब-ऋण-समझौता-अधिनियम, १९३४ में पास किया गया जिसके अन्तर्गत समझौता बोर्ड (Conciliation Board) स्थापित किया गया जो ऋणदाता व ऋणी में आपसी स्वीकृति से ऋण की रकम घटाने में मदद करता तथा उसे किश्तों में चुकाने का समझौता कराता। ऐसे अधिनियम बंगाल, आसाम व मद्रास राज्यों में भी बने। बाद में ऐसे अधिनियमों में 'स्वेच्छा' के स्थान पर 'अनिवार्यता' का भी प्रयोग किया गया।

ऋण-समझौता-बोर्डों को मध्य-प्रदेश, बंगाल, मद्रास व पंजाब में पर्याप्त सफलता मिली। लेकिन घटी हुई रकम के चुकाने के साधन भी किसान के पास न होने से कठिनाई बनी रही। फिर जब तक किसान ऋण की अन्तिम किश्त न चुका देता तब तक उसे दूसरी जगह से ऋण नहीं मिल सकता था।

(३) महाजनों पर नियंत्रण—१९३० के बाद विभिन्न राज्यों में महाजनों की हरकतों को रोकने के लिए कई कदम उठाये गये जैसे उनके लिए लाइसेंस लेना व रजिस्ट्री कराना अनिवार्य कर दिया गया, हिसाब किताब का नियमन किया गया और व्याज की अधिकतम दरें निर्धारित की गई।

(४) सरकारी साख व सहकारी साख का विकास—किसानों की साख की आवश्यकता की पूर्ति के लिए सरकार ने तकावी बाँटना चालू किया। १८८३ के कानून के अन्तर्गत दीर्घ-कालीन एवं १८८४ के कानून के अन्तर्गत अल्पकालीन ऋणों की व्यवस्था की गई। लेकिन इनसे विशेष प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि किसान अपनी आवश्यकताओं के लिए साहूकारों पर ही निर्भर रहा।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से सहकारी साख आन्दोलन का संगठन किया गया जिसके अन्तर्गत सहकारी साख समितियां गांवों में अल्प-कालीन ऋण देने के लिए स्थापित की गई और भूमि-बंधक बैंक दीर्घ-कालीन ऋण देने के लिए स्थापित किये गये। इनका विस्तृत विवरण अगले अध्याय में किया गया है।

समालोचना

ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता के कम करने के सरकारी प्रयत्नों में विशेष सफलता नहीं

मिल पाई है। ब्याज की दरें कम नहीं हुई हैं। महाजन पर नियंत्रण स्थापित नहीं हो पाया है। किसी न किसी रूप में उसकी हरकतें आज भी चालू हैं। यदि वह ब्याज कम लेता है तो ऋण की रकम बढ़ाकर लिखवा लेता है। कानूनों से बचने के लिए महाजनों ने केवल ऐसे ही किसानों से लेन-देन जारी रखा है जो पुराने और विश्वसनीय हैं और न्यायालय में नहीं जायेंगे। इससे साख की पूर्ति कम हो गई है और अनेक किसानों को आवश्यकतानुसार ऋण नहीं मिलता है।

ऋण कम करने व शेष रकम के चुकाने में भी विशेष सफलता नहीं मिल पाई है क्योंकि निर्धारित की गई रकम को चुकाने के साधन भी उसके पास नहीं हैं। यदि भूमि बंधक बैंकों द्वारा अन्तिम भुगतान की व्यवस्था की जाती तो ऋण-ग्रस्तता की समस्या के हल होने में मदद मिलती।

जहाँ तक तकावी का प्रश्न है पहले कहा जा चुका है कि वह कृषकों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध नहीं हुई है। सरकार ने सिर्फ ३·३% ऋण प्रदान किया है। सहकारी साख आन्दोलन ने भी बहुत कम प्रगति की है। सर्वेक्षण रिपोर्ट के अनुसार समितियों ने सिर्फ ३·१% ऋण प्रदान किया है। अतः इस दिशा में बहुत कुछ काम करना बाकी है।

सुझाव

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि यदि हमें भारतीय कृषि की दशा ठीक करनी है तो किसान को ऋण से मुक्त करना पड़ेगा। ऋण-ग्रस्तता एक गहरा और गम्भीर रोग है। महाजनों के नियंत्रण व ऋण कम करने के अन्य कानूनों से इसका स्थायी इलाज सम्भव नहीं है। हमें रोग की जड़ उखाड़नी होगी। उसके लिए किसान की आमदनी बढ़ानी होगी और साथ में एक ऐसी मनोवैज्ञानिक व सामाजिक क्रान्ति लानी होगी जो उसकी समस्त आदतों को बदल दे। ऐसा करने के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं:—

(१) पुराने ऋणों की पूरी जाँच की जाय और उनको जहाँ तक सम्भव हो सके समाप्त किया जाय। यदि यह प्रमाणित हो जाय कि ऋणदाता ने कृषक से काफी रकम वसूल कर ली है और लगातार उसका शोषण करता रहा है तो बाकी का ऋण अनिवार्यतः समाप्त कर दिया जाय।

विशेष परिस्थितियों में ऋणों की किश्तों में चुकाने की व्यवस्था की जाय और इस सम्बन्ध में भूमि बंधक बैंकों की सहायता ली जाय।

(२) कृषक को भूमि का मालिक बनाया जाय। गाँवों में सहकारी सेवा समितियाँ स्थापित करके कृषकों के लिए खाद, बीज, औजार, बिक्री आदि की व्यवस्था की जाय।

(३) किसान की आय बढ़ाने के लिए कृषि पर आधारित ग्रामीण उद्योगों का विकास किया जाय।

(४) गाँवों में प्रचार द्वारा सामाजिक रूढ़ियों को समाप्त किया जाय और हर प्रकार का सामाजिक अपव्यय रोका जाय।

(५) बचत आन्दोलन द्वारा ग्रामीण जनता को बचाने के लाभ समझायें जाँय और बचत एकत्र करने के लिए उपयुक्त एजेंसियाँ बढ़ाई जाँय। स्टेट बैंक इस दिशा में काफी कार्य कर सकता है।

(६) ग्राम-पंचायतों को मजबूत बनाया जाय और गाँव के झगड़ों को पंच-फैसले से तय किया जाय ताकि मुकद्दमेबाजी पर किया जाने वाला खर्च कम हो सके।

यदि उपर्युक्त सुझावों को कार्यान्वित किया गया तो ऋण-ग्रस्त किसान ऋण-मुक्त होकर स्वतंत्रता की साँस ले सकेगा, कृषि एक लाभकारी धन्धा बन सकेगी और भारत में एक प्रगतिशील, उत्साही व सम्पन्न कृषक-वर्ग का उदय होगा। स्मरण रहे कि ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता की समस्या का स्थायी हल तभी हो सकेगा जब कि कृषक की समस्त सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया जायगा। यह अन्दरूनी रोग है, इसलिए ऊपरी मरहमपट्टी व इलाज से काम नहीं चलेगा। अतः क्रान्तिकारी सुधार व परिवर्तन की आवश्यकता है।

रिजर्व बैंक व ग्रामीण वित्त-व्यवस्था

अन्य देशों के केन्द्रीय बैंकों की तुलना में भारत के रिजर्व बैंक की यह विशेषता रही है कि इसने ग्रामीण वित्त में महत्वपूर्ण भाग लिया है। ऐसा करना आवश्यक भी था क्योंकि भारतीय अर्थ-व्यवस्था का प्रमुख आधार कृषि है जिसके लिए साख की सुविधायें बढ़ाई जानी चाहिएँ। प्रारम्भ से ही रिजर्व बैंक अधिनियम में एक कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department) स्थापित करने की व्यवस्था की गई जिसके निम्न कार्य रखे गये :—

"(अ) कृषि साख के तमाम प्रश्नों का अध्ययन करने के लिए विशेषज्ञ कर्मचारी रखना और केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, राज्य सहकारी बैंकों व अन्य बैंकिंग संगठनों से विचार-विमर्श के लिए तैयार रहना, (आ) कृषि साख के सम्बन्ध में बैंक के कार्यों व इसके राज्य सहकारी बैंकों व अन्य दूसरे बैंकों या संगठनों से, जो कृषि साख के व्यवसाय में लगे हुए हैं, सम्बन्धों में ताल-मेल बैठाना।"

रिजर्व बैंक के सुझाव पर भारत सरकार ने १९४५ में ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति नियुक्त की जिसने ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों के विस्तार के लिए कई सिफारिशें पेश कीं। फरवरी, १९५१ में ग्रामीण वित्त में अपना भाग निश्चित करने के लिए रिजर्व बैंक ने एक सम्मेलन (Informal Conference) बुलाया जिसमें इस सम्बन्ध में बहस की गई। सम्मेलन ने निर्णय किया कि रिजर्व बैंक को ग्रामीण साख के क्षेत्र में ज्यादा प्रभावपूर्ण भाग लेना चाहिये। इस सम्बन्ध में वैधानिक कठिनाइयाँ दूर करने पर जोर दिया गया। इसी सम्मेलन ने एक अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण का सुझाव

दिया। यह सर्वेक्षण सन् १९५१ के अन्त में चालू किया गया और दिसम्बर सन् १९५४ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित की गई। इसमें ग्रामीण साख की विस्तृत जांच की गई और कहा गया कि सहकारिता आन्दोलन को सबल बनाने की आवश्यकता है। ग्रामीण साख की एकीकृत योजना (Integrated Scheme of Rural Credit) का सुझाव दिया गया जिसमें सहकारी संगठन में राज्य की साझेदारी, साख व गैर-साख दोनों क्षेत्रों में सहकारी विकास एवं कर्मचारियों के प्रशिक्षण पर जोर दिया गया। नई योजना को कार्यान्वित करने के लिए रिजर्व बैंक को केन्द्रीय स्थान दिया गया।

रिजर्व बैंक द्वारा वित्तीय सहायता—रिजर्व बैंक कृषकों को प्रत्यक्ष रूप से वित्त प्रदान नहीं करता है। राज्य सहकारी बैंकों के मार्फत यह साख किसान तक पहुँचाता है। इनको रिजर्व बैंक की तरफ से अल्पकालीन साख या तो पुनर्कटौती (Rediscounts) के रूप में मिलती है अथवा अग्रिम (Advances) के रूप में मिलती है। पुनर्कटौती व अग्रिम की सुविधाओं का विवरण नीचे दिया जाता है।

धारा १७ (२) (अ) के अन्तर्गत वास्तविक व्यापारिक सौदों से उत्पन्न प्रॉमिसरी नोट व बिलों की, जो ९० दिन में परिपक्व होते हैं, पुनर्कटौती की व्यवस्था की गई है। धारा १७ (२) (ब) के अन्तर्गत १५ महिने में परिपक्व होने वाले उन प्रॉमिसरी नोटों व बिलों की पुनर्कटौती की व्यवस्था की गई है जो मौसमी कृषि कार्यों या फसलों की बिक्री के लिए बनाये गये हैं। इस धारा के नीचे मिश्रित कृषि व परिनिर्माण कार्य (Processing activities) भी शामिल किये गये हैं।

धारा १७ (४) (स) के अन्तर्गत स्वीकृत बिल व प्रॉमिसरी नोटों की जमानत पर अग्रिम (Advances) देने की व्यवस्था की गई है।

जिन राज्यों में सहकारिता आन्दोलन पर्याप्त रूप से विकसित नहीं हो पाया है उनमें बैंक इन बिलों व प्रॉमिसरी नोटों की जमानत पर राज्य सहकारी बैंकों को ऋण तभी देता है जब कि राज्य सरकारों की तरफ से पूरी गारन्टी दे दी जाय। व्यवहार में ये ऋण १२ महिने के लिए मिल जाते हैं।

मध्यम-कालीन ऋण (Medium-Term Loans)—धारा १७ (४ अ) के अन्तर्गत राज्य सहकारी बैंकों को राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घ-कालीन) कोष व राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष में से मध्यम-कालीन साख उपलब्ध होता है। इसके लिए बैंकों को एक अच्छे हस्ताक्षर की और व्यवस्था करनी पड़ती है। इन ऋणों की अवधि १५ महिने से ५ वर्ष तक की होती है।

दीर्घ-कालीन ऋण (Long-Term Loans)—(अ) रिजर्व बैंक राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घ-कालीन) कोष में से केन्द्रीय भूमि बंधक बैंकों को दीर्घ-कालीन ऋण देता है।

(आ) रिजर्व बैंक राज्य सरकारों को दीर्घ-कालीन ऋण देता है ताकि वे सहकारी साख संस्थाओं की शेयर पूँजी में हिस्सा ले सकें।

(इ) रिजर्व बैंक केन्द्रीय भूमि बंधक बैंकों के ऋण-पत्र (कुल रकम के २०% तक) खरीद सकता है। रिजर्व बैंक अल्पकालीन व मध्यमकालीन साख राज्य सहकारी बैंकों को रियायती दर पर देता है जो बैंक रेट से २% कम होता है। इस समय यह २% है क्योंकि मई सन १९५७ में बैंक रेट ४% हो गई थी। यह दर मौसमी कृषि कार्यों व फसलों की बिक्री के लिए दिये गए अल्पकालीन ऋणों पर लागू होती है।

मद्रास जैसे राज्यों में जहाँ सहकारिता आन्दोलन का काफी विकास हो चुका है। राज्य सहकारी बैंक केन्द्रीय सहकारी बैंकों को २½% ब्याज की दर पर उधार देते हैं जो बाद में सहकारी साख समितियों को ४½% ब्याज पर उधार देते है और अन्त में कृषक तक ऋण ६¼% ब्याज की दर पर पहुँच पाता है। रिजर्व बैंक सहकारी साख संगठन में आवश्यक सुधार करके ब्याज की दर घटाने का इच्छुक है।

वित्तीय सहायता प्रदान करने के अलावा रिजर्व बैंक निम्न कार्य भी करता है :—

(१) **सरकारी बैंकों का निरीक्षण**—दिसम्बर, १९५२ से रिजर्व बैंक ने सहकारी बैंकों का निरीक्षण चालू किया है ताकि सहकारी साख की मशीनरी सुधारी जा सके।

(२) **कृषि साख पर स्थायी सलाहकार समिति (Standing Advisory Committee on Agricultural Credit)**—जुलाई १९५१ में रिजर्व बैंक को कृषि साख से सम्बन्धित मामलों व अन्य सहायक विषयों पर सलाह देने के लिये एक समिति नियुक्त की गई थी। इसने सहकारी बैंकों को उचित स्तर अपनाने में सहायता पहुँचाई है। पहले इसमें १४ सदस्य थे लेकिन अब पुनर्सङ्गठन के बाद सिर्फ ६ सदस्य रह गए हैं। रिजर्व बैंक के प्रयत्नों से कई राज्यों में सहकारी बैंक स्थापित किये गए हैं और शेष में उनका पुनर्सङ्गठन किया गया है। यही नहीं बल्कि इसके प्रयत्नों से केन्द्रीय सरकारी बैंकों, प्राथमिक सहकारी साख समितियों, व भूमि बन्धक बैंकों की वित्तीय एवं प्रशासनीक स्थिति में भी काफी सुधार हुआ है।

(३) **सरकारी कर्मचारियों को प्रशिक्षण**—१९५२ में बैंक ने अखिल-भारतीय प्रशिक्षण केन्द्र, पूना में स्थापित किया जिसका नाम सहकारी ट्रेनिंग कॉलेज रखा गया। यहाँ ऊँचे व मध्यम-स्तर के कर्मचारियों को प्रशिक्षण मिलता है। प्रशिक्षण के लिए एक केन्द्रीय समिति स्थापित की गई। नवम्बर १९५३ में सहकारी रिजर्व बैंक व भारत सरकार दोनों ने मिलकर इसकी स्थापना की। इस समिति ने विभिन्न स्तर के कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए योजना बनाई है। उच्च स्तर के कर्मचारियों को पूना में प्रशिक्षण मिलता है। पूना, मद्रास, राँची, इन्दौर व मेरठ में मध्यम-श्रेणी के कर्मचारियों को प्रशिक्षित करने के केन्द्र चालू किए गए हैं। ये केन्द्र सहकारी बिक्री में अल्पकालीन कोर्स की भी व्यवस्था रखते हैं। ८ विकास स्तर के सहकारी अफसरों के ट्रेनिंग केन्द्र भी चालू किए

गए हैं जो हिमायतसागर, (हैदराबाद के समीप) तिरुपटी (आंध्र-प्रदेश), भावनगर (बम्बई), कल्याणी (पश्चिमी बंगाल), घुरी (पंजाब), फैजाबाद (उत्तर प्रदेश), गोपालपुर (उड़ीसा) व कोटा (राजस्थान) में स्थित हैं। भारत सरकार इन्हें वित्तीय सहायता देती है।

इस प्रकार रिजर्व बैंक ग्रामीण वित्त-व्यवस्था में महत्वपूर्ण भाग ले रहा है। पहले इसका कार्य सलाह आदि देने तक सीमित था लेकिन कुछ वर्षों से इसने पर्याप्त वित्तीय साधन सहकारी संस्थाओं को उपलब्ध किये हैं ताकि कृषकों तक आवश्यक वित्त पहुँच सके। इतना कार्य दूसरे देशों में किसी भी केन्द्रीय बैंक ने अभी तक नहीं किया है।

स्टेट बैंक व ग्रामीण वित्त-व्यवस्था

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सबसे महत्वपूर्ण सिफारिश यह थी कि भारत के इम्पीरियल बैंक पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण स्थापित करके स्टेट बैंक चालू किया जाय। व्यापारिक बैंकों ने ग्रामीण साख में सदा से ही रुचि नहीं दिखलाई थी। उन्होंने सर्वेक्षण रिपोर्ट के अनुसार केवल ०·६% ऋण किसान को प्रदान किया था। इम्पीरियल बैंक देश का सबसे बड़ा व्यापारिक बैंक था। इसलिए इसके साधनों का उपयोग ग्रामीण साख की सुविधायें बढ़ाने के लिये उपयुक्त समझा गया और दिसम्बर, १९५४ में श्री सी० डी० देशमुख ने भारतीय संसद में इम्पीरिल बैंक पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण स्थापित करके स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया के निर्माण का सरकारी निर्णय घोषित किया। मई, १९५५ में स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया कानून पास हो गया और १ जुलाई, १९५५ से स्टेट बैंक स्थापित हो गया।

शुरू में इम्पीरियल बैंक के भारत स्थित लेन-देन को स्टेट बैंक ने ले लिया। इसे ग्रामीण साख की एकीकृत योजना (Integrated Scheme) को कार्यान्वित करने का भार सौंपा गया। स्थापना के प्रथम पाँच वर्षों में ४०० अतिरिक्त शाखायें खोलने का लक्ष्य रखा गया ताकि ग्रामीण क्षेत्रों तक में बैंकों की सुविधायें पहुँच सकें।

स्टेट बैंक सहकारी संस्थाओं को वित्तीय साधन प्रदान करेगा ताकि कृषि साख की सुविधायें बढ़ सकें। साथ में यह ग्रामीण बचत को एकत्र करने में भी मदद पहुँचायेगा। योजना काल में ग्रामीण क्षेत्रों में विकास कार्य पर व्यय होने से जनता की आमदनी बढ़ेगी। इसलिए बचत के एकत्र करने की आवश्यकता बढ़ जायगी। अतः स्टेट बैंक अपने विशाल साधनों से कृषि साख के क्षेत्र में ज्यादा भाग ले सकेगा।

स्मरण रहे कि स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया को अन्य व्यापारिक बैंकों के सब काम करने का अधिकार होगा। यह देश के मुद्रा बाजार का शिरोमणी रहेगा। अतः यह एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करेगा और व्यापार, कृषि, उद्योग आदि सभी क्षेत्रों में पूँजी का विनियोग करेगा ताकि देश का आर्थिक विकास हो सके।

प्रगति—सितम्बर १६५६ में स्टेट बैंक ऑव इण्डिया (सहायक बैंक) अधिनियम पास हो गया है जिसके अनुसार निम्न बड़े व राज्यों से सम्बन्धित बैंक (State-Associated Banks) स्टेट ऑव इण्डिया के सहायक बना दिये गये है। इन बैंकों के नाम इस प्रकार हैं—दी बैंक ऑव बिकानेर, दी बैंक ऑव इन्दौर, बैंक ऑव जयपुर, बैंक ऑव मैसूर, बैंक ऑव पटियाला, दी ट्रावनकोर बैंक, स्टेट बैंक ऑव हैदराबाद और स्टेट बैंक ऑव सौराष्ट्र।

स्टेट बैंक से निकटतम सम्बन्ध होने से ये बैंक जनता की ज्यादा अच्छी सेवा कर सकेंगे। भुगतान की सुविधायें ज्यादा सुलभ हो सकेंगी।

३१ मार्च, १६६० तक इसने कुल[1] ३५६ शाखायें स्थापित कीं जिनमें से ज्यादातर बैंकों की दृष्टि से पिछड़े हुए क्षेत्रों में चालू की गईं।

१६५६-६०[2] में स्टेट बैंक ने बिक्री व परिनिर्माण सहकारी समितियों को वित्तीय सहायता प्रदान की। इसके लिए माल को गिरवी रखा गया। १०७ बिक्री व परिनिर्माण समितियों को लगभग २ करोड़ रु० का ऋण स्वीकृत हुआ। ३० सितम्बर, १६५६ तक ६ सरकारी चीनी फैक्टरियों को लगभग २·५ करोड़ रु० का ऋण स्वीकृत हुआ।

कृषि वित्त के प्रश्नों पर सलाह देने के लिए वृत्त ताल-मेल समितियाँ (Circle Co-ordination Committees) कलकत्ता, नई दिल्ली, मद्रास, और बम्बई में स्थापित की गई हैं।

उपर्युक्त प्रगति-विवरण से स्पष्ट है कि स्टेट बैंक बिक्री का उत्पादन सम्बन्धी सहकारी समितियों को वित्तीय सहायता देता है। इस प्रकार यह सहकारिता को गैर-साख के क्षेत्रों में बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील है जो एकीकृत योजना में स्वीकार किया है। गोदामों की व्यवस्था बढ़ने से स्टेट बैंक और भी ज्यादा साख की सुविधायें प्रदान कर सकेगा। इस प्रकार ग्रामीण बचत एकत्र करके और साख की सुविधाएँ बढ़ा कर यह ग्रामीण अर्थ व्यवस्था को समुन्नत करने में सहायक होगा।

प्रश्न (अध्याय २३ व २४)

University of Rajasthan, B. A.

(1) What are the main agencies at work in provision of agricultural finance in India? Examine their adequacy, along with your suggestions, if any. (1955, similar question in 1952)

(2) Discuss the problem of agricultural marketing in India and suggest measures to improve it. (1959, similar question in 1960 also in Agra University 1959)

---

1. Trend And Progress of Banking in India During 1959. P. 17.
2. Trend and Progress of Banking in India During 1959, P. 18.

(3) What are the agencies of rural finance in India ? Discuss their merits and defects. (Supplement, 1960)

Agra University B. A. & B. Sc.

(1) What reforms would you recommend for the sound development of agricultural marketing in rural India ?

(1954, similar in 1956)

(2) What is the importance of co-operative marketing in the rural economy of India ? What are the difficulties in making it more widespread and successful ? Suggest remedies. (1957)

सन्दर्भ ग्रन्थ

(1) India 1960, Ch. 22.

(2) Trend and Progress of Banking in India during 1959.

(3) All-India Rural Credit Survey Committee Report, 1954 (Reserve Bank of India)

(4) The Reserve Bank of India—Functions and Working, July, 1959, Ch. VI, p. 70-92.

पच्चीसवाँ अध्याय

भारत में सहकारी साख आन्दोलन

"सहकारिता असफल रही है, परन्तु सहकारिता सफल होनी चाहिए।"

—(अ० भा० ग्राम्य साख सर्वेक्षण)

सहकारिता का अर्थ – सहकारिता आर्थिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्तियों के उस संगठन का नाम है जो स्वेच्छा से आर्थिक हितों की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। इससे पारस्परिक सहायता, त्याग, आत्म-निर्भरता एवं मितव्ययता आदि गुणों का विकास होता है। मैकलागन समिति के अनुसार, "सहकारिता का सिद्धान्त बहुत संक्षेप में यह है कि एक अकेला व शक्तिहीन व्यक्ति दूसरों के योग एवं नैतिक विकास तथा पारस्परिक सहायता से अपनी सामर्थ्य के अनुसार वे भौतिक लाभ प्राप्त कर सके जो धनी व शक्तिशाली व्यक्तियों को मिले हुए हैं, और इस प्रकार अपने सहज गुणों का पूर्ण रूप से विकास कर सके। शक्तियों के मेल से भौतिक समृद्धि मिलती है एवं संगठित कार्य से आत्म-निर्भरता बढ़ती है और इन प्रभावों की अन्तर-क्रिया से यह आशा की जाती है कि एक ऊँचे व अधिक समृद्ध जीवन स्तर की सफल प्राप्ति होगी जिसे 'उन्नत व्यवसाय, उन्नत कृषि व उन्नत जीवन कहा गया है।"

सहकारिता का आज सर्वत्र बोलवाला है। सहकारिता को पूँजीवादी एवं समाजवादी दोनों व्यवस्थाओं से उत्तम माना गया है। इसमें व्यक्तिगत लाभ की भावना का स्थान सार्वजनिक सेवा ले लेती है। प्रतियोगिता की जगह सहयोग होने लगता है और व्यक्ति स्वयं अपने संगठन व मेल द्वारा आर्थिक क्रियाओं का संचालन करने लगते हैं। अतः नौकरशाही का खतरा समाप्त हो जाता है, जो समाजवादी व्यवस्था में उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार सहकारिता एक व्यापक विचारधारा है जो आधुनिक युग की समस्याओं को हल करने का दावा करती है। इसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए आर्थिक समृद्धि व सार्वजनिक कल्याण प्राप्त किये जा सकते हैं।

सहकारिता के सिद्धान्त प्रत्येक आर्थिक क्रिया में लागू किये जा सकते हैं। विभिन्न देशों में विभिन्न समयों में सहकारिता के प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों में हुए हैं। ग्रेट ब्रिटेन ने उपभोग्य सहकारिता, जर्मनी ने साख सहकारिता, डेन्मार्क ने दुग्ध व्यवसाय में सहकारिता एवं कनाडा ने सहकारी बिक्री में विशेष प्रगति की।[1] भारत में भी सहकारिता आन्दोलन

---

1. The Economics of Indian Agriculture—Narayanaswamy & Narasimhan Vol. I, 1959, P. 96,

सर्वप्रथम अशिक्षित व ऋणग्रस्त किसानों को महाजनों के चंगुल से निकालने के लिए प्रारम्भ किया गया। अतः यह प्रमुखतया एक ग्राम्य आन्दोलन हो गया और जर्मनी के प्रयोग से विशेष प्रभावित हुआ। भारत की ज्यादातर सहकारी समितियाँ रैफिसिन व शुल्ज-डिलिट्ज़ नमूनों की हैं। इसलिए इनका संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है।

कृषि साख समितियाँ रैफिसिन नमूने पर बनी हैं जिसकी निम्न विशेषताएँ हैं[1]—

(१) सीमित क्षेत्र, (२) हिस्सों का न होना या बहुत छोटे होना; (३) असीमित दायित्व; (४) उत्पादक कार्यों के लिए ही ऋण देना; (५) अधिक समय के लिए ऋण देना और साथ में किश्तों में चुकाने की सुविधा; (६) स्थायी सुरक्षित कोष; (७) मुनाफे की भावना का लोप; (८) प्रजातान्त्रिक व अवैतनिक प्रबन्ध; (९) नैतिक व भौतिक समृद्धि पर समान बल।

शुल्ज-डिलिट्ज़ नमूने की समितियाँ निम्न विशेषताएँ रखती हैं—

(१) विस्तृत कार्य क्षेत्र; (२) शेयर पूँजी का होना; (३) सीमित दायित्व; (४) अल्पकालीन साख व्यवस्था; (५) लाभांश का वितरण; (६) लाभार्जन की छूट; (७) वैतनिक प्रबन्ध; (८) व्यावसायिक पक्ष पर अधिक बल देना। इस प्रकार के नमूनों में काफी अन्तर है। रैफिसिन पद्धति कृषि समितियों के लिए उपयुक्त मानी गई है और शुल्ज-डिलिट्ज़ पद्धति गैर-कृषि समितियों के लिए अच्छी समझी गई है। रैफिसिन व शुल्ज-डिलिट्ज़ जर्मनी में सहकारिता आन्दोलन के संस्थापक थे। सहकारी समितियाँ उन्हीं के नामों से पुकारी जाती हैं।

भारत में सहकारिता के विकास का संक्षिप्त इतिहास

भारत में सहकारी कृषि बैंकों की स्थापना का सर्वप्रथम सुझाव सर विलियम वैडरबर्न और श्री महादेव गोविन्द रानाडे ने लार्ड रिपन को १८८२ ई० में दिया था। १८९७ ई० में मद्रास के एक उच्च राज्याधिकारी सर फ्रैडरिक निकलसन ने रैफिसिन प्रणाली के ग्रामीण सहकारी बैंकों की स्थापना की सिफारिश की और १९०१ की अकाल-जांच समिति ने इसका समर्थन किया। इसी वर्ष लार्ड कर्जन की सरकार ने सर एडवर्ड ला की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसकी सिफारिशों के आधार पर १९०४ का सहकारी साख समितियों का कानून पास किया गया। इसके अनुसार कोई भी १० वयस्क व्यक्ति एक सहकारी समिति बना सकते थे। वास्तव में भारत में सहकारिता का विकास इस कानून के बाद से ही नियमित रूप से हुआ। लेकिन शीघ्र ही इस कानून की ४ कमियाँ सामने आयीं—

(१) इसमें साख के अलावा अन्य समितियों को कानूनी संरक्षण नहीं मिला था;

(२) इसमें केन्द्रीय संगठनों के रजिस्ट्रेशन की व्यवस्था नहीं की गई थी।

---

1. Indian Economics - Jathar & Jathar, P. 123—124.

(३) ग्रामीण समितियों में असीमित दायित्व के साथ साथ लाभ के वितरण की व्यवस्था न होने से कठिनाई हो रही थी।

(४) समितियों का ग्रामीण व शहरी, दो भागों में बाँटा जाना अवैज्ञानिक व असुविधाजनक प्रतीत होने लगा।

इन कमियों को दूर करने के लिए १९१२ में एक और कानून बनाया गया जिसमें **गैर-साख समितियों जैसे क्रय-विक्रय समितियों, बीमा व भवन-निर्माण आदि समितियों की व्यवस्था की गई।** इसमें पारस्परिक नियंत्रण व हिसाब की जाँच के लिए समितियों के संघों व साख प्रदान करने के लिए **केन्द्रीय व प्रान्तीय सहकारी बैंकों की व्यवस्था की गई।** इसने समितियों का भेद दायित्व के आधार पर किया—सीमित दायित्व वाली समितियाँ व असीमित दायित्व वाली समितियाँ—जो ज्यादा वैज्ञानिक था। १९१२ के कानून में असीमित दायित्व वाली समितियों को लाभांश वितरित करने की भी इजाजत दी गई। १९१२ के बाद सहकारी समितियों की संख्या व सदस्यता में तीव्र वृद्धि हुई। पंजाब, बम्बई व मद्रास में विशेष प्रगति हुई। गैर-साख समितियों की संख्या भी बढ़ी।

सन् १९१४ ई० में सर एडवर्ड मैकलेगन की अध्यक्षता में सहकारिता आन्दोलन के पुर्ननिरीक्षण के लिए एक समिति नियुक्त की गई जिसने अन्य अनेक सुधारों के साथ आन्दोलन में गैर-सरकारी सहयोग प्राप्त करने की राय दी। १९१९ के सुधार कानून के अन्तर्गत सहकारिता एक प्रान्तीय विषय हो गया जिसका प्रशासन निर्वाचित मंत्री करने लगे। तत्पश्चात अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग कानून बनाये गये। परन्तु भारत सरकार इस आन्दोलन के विकास में दिलचस्पी लेती रही और १९३५ में रिजर्व बैंक के कृषि-साख विभाग की स्थापना की गई। इस बीच में १९२६ में राजकीय कृषि आयोग और १९३१ की भारतीय बैंकिंग-जाँच समितियों ने अनेक सुझाव दिये परन्तु सबसे महत्वपूर्ण सुझाव १९४५ में नियुक्त सहकारी **आयोजन समिति** ने दिया। इसने सिफारिश की कि **प्राथमिक समितियों को बहु-उद्देश्य समितियों में बदल दिया जाना चाहिए और आगामी दस वर्षो में ५०% गाँवों और ३०% ग्रामीण जनता को आन्दोलन का लाभ मिलना चाहिये।** १९५१ में रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त "संचालन समिति" ने ग्राम्य साख व्यवस्था की विस्तारपूर्वक जाँच की। इस समिति का प्रतिवेदन दिसम्बर १९५४ में प्रकाशित किया गया। समिति ने "सहकारिता में राज्य की साझेदारी" के आधार पर ग्राम्य साख की एकीकृत योजना का सुझाव दिया है। हम अगले अध्याय में इस समिति के सुझावों का वर्णन करेंगे।

कोलम्बो योजना के सलाहकार सर माल्कम डार्लिंग ने १९५७[1] में भारत सरकार को एक रिपोर्ट पेश की जिसमें उन्होंने द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के कार्यक्रमों

1. 'Certain Aspects of Co-operative Movement in India'—M. Darling, 1957.

की रोशनी में सहकारिता के क्षेत्र में प्रगति की जांच की और भावी विकास के लिए आवश्यक सुझाव दिये। इन्होंने बहुत बड़े आकार की प्राथमिक समितियों की स्थापना को रैफिसिन पद्धति के विरुद्ध माना है और 'बचत' बढ़ाने पर विशेष बल दिया है। साथमें सर माल्कम डार्लिंग ने अत्यधिक सरकारी साझेदारी को अनुपयुक्त माना है। इन्होंने प्रशिक्षण पर विशेष बल दिया है। इनके सुझावों पर विस्तार से अगले अध्याय में लिखा जायगा।

हाल ही में जून, १९६० में वैकुंठलाल मेहता समिति ने सरकारी साख के प्रश्न पर अपने सुझाव दिये हैं जिनके अनुसार उन काश्तकारों को भी साख की सुविधा देने की सिफारिश की गई है जिनके पास स्वयं की भूमि नहीं है। इस समिति के सुझावों का विवरण भी अगले अध्याय में किया गया है।

भारत में सहकारिता का वर्तमान ढाँचा—भारत में स्थापित सहकारी समितियों को हम मोटी तौर पर दो भागों में बाँट सकते हैं—प्राथमिक और केन्द्रीय। प्राथमिक समितियों का सम्बन्ध सीधा अपने सदस्यों से होता है। केन्द्रीय समितियाँ, जिनमें संघ, केन्द्रीय (जिला) बैङ्क और राज्यीय बैङ्क होते हैं प्राथमिक समितियों की सहायता करती हैं। प्राथमिक समितियों को पुनः दो भागों में बाँटा जाता है, यथा साख-समितियाँ और गैर-साख समितियाँ। इन दोनों श्रेणियों में कृषि और गैर-कृषि समितियाँ होती हैं। गैर-साख कृषि समितियों का सम्बन्ध खाद, बीज, औजार तथा मशीनों के क्रय-विक्रय, पशु-पालन, सिंचाई, चकबन्दी तथा सहकारी हाट-व्यवस्था आदि से होता है। गैर-साख गैर-कृषि समितियाँ उपभोक्ता भण्डार, भवन निर्माण, दस्तकारों को कच्चे माल की पूर्ति आदि के कार्य करती हैं। साख समितियों का कार्य अपने सदस्यों को ऋण देना और उनकी बचत इकट्ठी करना होता है। कृषि साख समितियाँ किसानों को ऋण देती हैं और गैर-कृषि साख समितियाँ कारीगरों, श्रमिकों आदि को ऋण देती हैं।

भारत में सहकारिता का ढाँचा निम्न चित्र से स्पष्ट हो जाता है :—
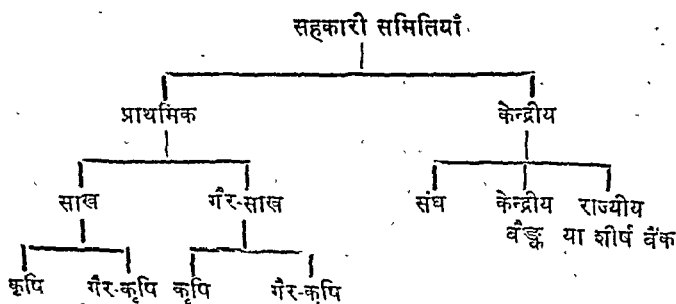
जून, १९५८ के अन्त में विभिन्न सहकारी समितियों की स्थिति इस प्रकार थी :—

(हजारों में संख्या)

१९५७-५८[2]

साख समितियाँ		संख्या	कुल का प्रतिशत
कृषि[1]	....	१,७६	६८·९
गैर-कृषि	....	१०	३·९
गैर-साख समितियाँ	....		
कृषि	....	३२	१२·४
गैर-कृषि	....	३८	१४·८
	कुल	२५६	१००·०

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि प्राथमिक सहकारी समितियों में सबसे अधिक संख्या कृषि साख समितियों की है। यह विशेषता सदा से चलती आ रही है। फिर भी पिछले वर्षों में, विशेषतया द्वितीय योजना की अवधि में, गैर-साख गैर-कृषि समितियों की संख्या में वृद्धि हुई है।

कृषि साख समितियों की वर्तमान स्थिति—भारत के सहकारी ढाँचे में कृषि साख समितियों की प्रधानता है। जून, १९५८ में अन्त में इनकी स्थिति इस प्रकार थी—[3]

संख्या	....	१,६६,५४३
सदस्य	....	१,०२,२१,२४९
कार्यशील पूँजी	....	१३३,७५ करोड़ रु०
दिये गये ऋण	....	९६·०८ करोड़ रु०

१९५१-५२ व १९५७-५८ में विभिन्न दिशाओं में कृषि साख समितियों की तुलनात्मक स्थिति नीचे दी जाती है[4] :—

	१९५१-५२	१९५७-५८
औसत सदस्यता	४४	६१
औसत शेयर पूँजी (प्रति समिति)	८२७ रु०	१९९५ रु०
औसत शेयर पूँजी (प्रति सदस्य)	१९ रु०	२७ रु०
औसत जमा (प्रति समिति)	४०८ रु०	५१३ रु०
औसत जमा (प्रति सदस्य)	९ रु०	८ रु०
औसत कार्यशील पूँजी (प्रति समिति)	४,१९० रु०	८,०३१ रु०
औसत कार्यशील पूँजी (प्रति सदस्य)	९५ रु०	१३१ रु०

1. अन्न बैंक सहित। इनको छोड़कर कृषि साख समितियों की संख्या १,६६,५४३ थी।
2. Review of the Co-operative Movement in India, 1956-8, (R. B. I., 1960), p. 11, Table 3·1.
3. India 1960, p. 276.
4. India 1960, p. 277. Table 152

पिछले वर्षों में छोटे आकार की कृषि साख समितियों का एकीकरण करके बड़ी समितियाँ बनाई गई हैं और नई समितियाँ भी स्थापित हुई हैं। उत्तर प्रदेश, पंजाब आन्ध्र-प्रदेश व राजस्थान में नयी कृषि साख समितियों की संख्या काफी बढ़ी है।

कृषि साख समितियों का संगठन व कार्य-प्रणाली

(१) सदस्यता :—एक ही गाँव या जाति के कोई दस व्यक्ति, जो १८ वर्ष से अधिक आयु के हों एक समिति स्थापित कर सकते हैं। सदस्यों की संख्या साधारणतया १०० से अधिक नहीं हो सकती। लेकिन द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में बड़े आकार की समितियों के लिए अधिकतम सदस्य संख्या ५०० तक रखी गई थी। १९५७-५८ में कृषि साख समितियों की औसत सदस्य संख्या ६१ थी।

(२) कार्य क्षेत्र[1] :—रैफिसिन प्रणाली में 'एक गाँव एक समिति' का नियम होता है। असीमित दायित्व के कारण कार्य क्षेत्र का सीमित होना आवश्यक है ताकि पारस्परिक नियंत्रण स्थापित हो सके। पिछले वर्षों में कार्य क्षेत्र के प्रश्न को लेकर काफी वाद-विवाद चला है। अखिल भारतीय ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति की राय में 'एक गाँव एक समिति' का फार्मूला भारत में असफल रहा है। इसलिए समिति ने बड़े आकार की सहकारी समिति को उपयुक्त बताया। इससे निकट परिचय व पारस्परिक दबाव पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। कुछ राज्यों में एक समिति के नीचे ४० गाँव आ गये और कहीं कहीं १०० गाँवों तक संख्या पहुंच गयी" नवम्बर, १९५८ में राष्ट्रीय विकास परिषद् ने पुनः 'एक गाँव एक समिति' के फार्मूले को दोहराया ताकि पारस्परिक जानकारी वगैरः रह सके। मेहता समिति ने जून, १९६० में कहा है कि सहकारी समिति में शामिल होने वाला गाँव प्रधान कार्यालय से ३-४ मील की दूरी में स्थित हो। इस प्रकार कार्य क्षेत्र के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक दृष्टिकोण रखना अनुचित होगा। सहकारी समिति सुदृढ़ हो सके और साथ में सहकारी भावना की रक्षा हो सके—इन दोनों लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सहकारी समिति के आकार के सम्बन्ध में व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है।

(३) दायित्व :—१९५७-५८ में कुल १,६६,५४३ कृषि साख समितियों में ७४,८०४ परिमित दायित्व वाली और शेष ९१,७३९ अपरिमित दायित्व वाली समितियाँ थीं।[2] उत्तर प्रदेश व बिहार में परिमित दायित्व वाली समितियों की संख्या अधिक है।

---

1. यह विवरण प्रो० दांतवाला के लेख से लिया गया है :—
'Rural credit Policy : Business Vs Co-operation' in AICC Economic Review, August 22, 1960, p. 41-42.
2. Review of the Co-operative Movement in India—1956-58, p. 11.

ज्यादातर राज्यों में कृषि समिति के सदस्यों का दायित्व (Liability) अपरिमित है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि किसी समिति की सम्पत्ति इसके ऋणदाताओं का ऋण चुकाने के लिए अपर्याप्त हो तो इस अभाव की पूर्ति प्रत्येक सदस्य से समान रकम वसूल करके की जाती है और इसमें सदस्यों की सम्पूर्ण सम्पत्ति भी उपयोग में लाई जा सकती है। यद्यपि ऋणदाताओं द्वारा किसी सदस्य के विरुद्ध सीधी कार्यवाही निषेध होती है। अपरिमित दायित्व के कारण सदस्य ऋण देने के बाद में उधार दी गई रकम के उपयोग में और ऋण की ठीक समय पर वसूली में पारस्परिक नियंत्रण और निरीक्षण रखते हैं। समिति के ऋणदाताओं में विश्वास उत्पन्न हो जाता है और समिति की साख बढ़ जाती है। लेकिन इस सिद्धान्त के कारण जो सदस्य समिति से रकम उधार नहीं लेते या समिति का ऋण बकाया नहीं रखते, उन्हें कठिनाई उठानी पड़ती है इसलिए आन्दोलन बदनाम हो जाता है और साहूकार किसान या अच्छी स्थिति वाले किसान समिति के सदस्य नहीं बनते है। अपरिमित दायित्व का सिद्धान्त, पारस्परिक जानकारी और नियन्त्रण की कल्पना पर आश्रित है, जो वर्त्तमान ग्रामीण जीवन में नहीं पाये जाते हैं।

(४) **प्रबन्ध**—समितियों का प्रबन्ध लोकतन्त्रात्मक और अवैतनिक होता है। प्रबन्ध का उत्तरदायित्व (१) साधारण सभा (General Committee) और (२) प्रबन्ध समिति (Managing Committee) पर होता है। साधारण सभा में समिति के सभी सदस्य होते हैं। इसकी बैठक साधारणतः प्रतिवर्ष होती है। यह प्रबन्ध समिति के सदस्यों का निर्वाचन करती है और एक वैतनिक मन्त्री को नियुक्त करती है। यह पदाधिकारियों और सदस्यों का निर्वाचन भी कर सकती है। यह वार्षिक तलपट (Balance Sheet) को स्वीकार करती है, ऑडीटर और रजिस्ट्रार की रिपोर्टों पर विचार करती है। यह वार्षिक लाभ का वितरण और रक्षित कोष (Reserve Fund) का उपयोग निश्चय करती है। आने वाले वर्ष में समिति कुल कितना रुपया ऋण लेगी और प्रत्येक सदस्य को कितना रुपया ऋण दिया जावेगा आदि प्रश्न भी यही निश्चय करती है। प्रबन्ध समिति प्रतिदिन का प्रबन्ध करती है। नये सदस्य भर्ती करने और पुराने सदस्यों के निर्वाचन के लिए 'साधारण सभा' को सुझाव देने का अधिकार होता है। यह ब्याज की दर तय करती है, सदस्यों को ऋण देती है और समय पर वसूल करती है। यह रुपया जमा करती है, समिति के लिए ऋण लेती है और उसे चुकाने का प्रबन्ध करती है। यही साधारण सभा के सम्मुख वार्षिक तलपट और विवरण उपस्थित करती है।

(५) **जाँच और निरीक्षण**—अन्ततः हिसाब के जाँच का उत्तरदायित्व रजिस्ट्रार का होता है। वह इस काम के लिए ऑडीटर और इन्सपैक्टरों की नियुक्ति करता है और इसको अधीन गैर-सरकारी संस्थाओं के सिपुर्द भी कर सकता है। लेकिन काम

के भार और कर्मचारी के अभाव से सभी समितियों के हिसाब की वार्षिक जाँच नहीं होने पाती है।

निरीक्षण का कार्य निरीक्षण संघ (Supervising Union) या केन्द्रीय बैंकों (Central Banks) के सिपुर्द होता है।

(६) पूँजी—समिति की पूँजी के स्रोत (Sources) दो प्रकार के होते हैं (१) आभ्यन्तरिक (Internal) और (२) बाह्य (External)। आभ्यन्तरिक स्रोतों में (अ) प्रवेश शुल्क (Entrance Fees), (आ) शेयर पूँजी (Share Capital), (इ) सदस्यों के जमा (Members' Deposits), (ई) सुरक्षित कोष (Reserve Fund) सम्मिलित हैं। बाह्य स्रोतों में सरकार या गैर-सदस्यों से लिया गया ऋण, अन्य समितियों के जमा तथा ऋण और सबसे महत्वपूर्ण केन्द्रीय संस्थाओं (Central Financing Agencies) से लिया गया ऋण सम्मिलित है। पूँजी के आभ्यन्तरिक स्रोतों के अविकसित होने से समितियाँ केन्द्रीय संस्थाओं पर आश्रित रहती हैं। १९५७-५८ में कृषि साख समितियों की कुल कार्यशील पूँजी १३३·७५ करोड़ रु० थी जिसमें केन्द्रीय संस्थाओं और सरकार से प्राप्त ऋण ८२.७४ करोड़ रु० यानी कार्यशील पूँजी का ६१.८ प्रतिशत थे। समितियों के अपने साधन (४२.३७ करोड़ रु०) और जमा (८.६४ करोड़ रु०) कार्यशील पूँजी के ३१.७ प्रतिशत और ६.५ प्रतिशत थे।

स्पष्ट है कि आन्दोलन को आत्मनिर्भर बनाने के लिए बचत को प्रोत्साहन देकर जमा आकर्षित करना आवश्यक है। जब तक बचत की प्रवृत्ति नहीं बढ़ेगी आन्दोलन को बाह्य ऋणों पर आश्रित रहना पड़ेगा। यह बड़ी कमजोरी है।

(७) ऋण का उद्देश्य—साधारणतः गैर-सदस्यों तथा अन्य समितियों को अनुमति के अभाव में ऋण नहीं दिया जाता है। ऋण तीन उद्देश्यों के लिए दिए जाते हैं। (अ) उत्पादक कार्य जैसे बीज, मवेशी आदि खरीदने के लिए (आ) अनुत्पादक कार्य जैसे विवाह आदि सामाजिक तथा धार्मिक उत्सवों के लिए और (इ) पुराने ऋण चुकाने के लिए। सैद्धांतिक रूप से अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण देना वर्जित है लेकिन किसानों को साहूकारों के चङ्गुल में फँसने से बचाने के लिये यह आवश्यक हो जाता है। जहाँ तक पुराने ऋणों का प्रश्न है, आदर्श रीति यह होनी चाहिए कि सदस्यों की देनदारी केवल समिति की ओर ही रहे।

(८) ऋण की वसूली—ऋणों की वसूली ठीक समय पर होनी अनिवार्य है और केवल वास्तविक कठिनाई उपस्थित होने पर ही वसूली स्थगित होनी चाहिए। १९५७-५८ में ९६·०८ करोड़ रु० के ऋण दिये गये थे और १०७.१० करोड़ रु० के ऋण बाकी (outstanding) थे जिनमें २२.७९ करोड़ रु० (२१.३%) के ऋण अवधि बीत जाने पर भी बाकी (overdue) थे। इस अवधि में बनावटी अदायगी व किताबी

समायोजन बहुत हुआ। कुछ लोगों ने महाजन से रुपया लेकर समिति का ऋण चुका दिया और पुनः नया ऋण समिति से लेकर महाजन को रुपया वापिस दे दिया।[1] भुगतान की यह असन्तोषजनक स्थिति ठीक की जानी चाहिए वरना सहकारी साख के ढांचे की शक्ति को धक्का पहुँचेगा। **ऋणों के प्रयोग पर निगरानी होनी चाहिए और सहकारी बिक्री को साख से सम्बद्ध किया जाना चाहिए।**

(९) **जमानत**—आदर्श सहकारी जमानत सदस्यों की ईमानदारी और चरित्र है। लेकिन ऋण लेनेवाले सदस्यों से जमानत लेने से बट्टे खाते की रकम (Bad Debts) कम हो जाती है और समिति की साख बढ़ जाती है। इसलिए व्यवहार में ऋण लेने वाले सदस्यों से दो सहयोगी सदस्यों की जमानत के अतिरिक्त चल व अचल सम्पत्ति की अप्रधान जमानत (Collateral Security) के रूप में माँगी जाती है। यद्यपि सम्पत्ति की जमानत लेना सहकारिता के सिद्धान्तों के विरुद्ध है, लेकिन यदि समिति इसे नहीं माँगे तो सदस्य इसी सम्पत्ति को साहूकार को दे देगा। भूमि की जमानत पर ऋण देने से छोटे किसान ऋणों से वंचित हो जाते हैं। उन काश्तकारों को भी ऋण नहीं मिल पाता जो भूमि के मालिक नहीं हैं। अतः मेहता कमेटी ने (जून, १९६०) **एक महत्वपूर्ण सिफारिश की है कि काश्तकार सदस्यों को चुकाने की क्षमता व अन्य गवाहों की जमानत पर ही ऋण दिया जाना चाहिए ताकि देश में उत्पादन बढ़ सके।**

(१०) **ब्याज की दर**—सरकारी समितियों की ब्याज की दरें काफी ऊँची हैं। १९५७-५८ में ये ८% से १८% तक रही हैं। मनीपुर में १८%, मध्य-प्रदेश में १०%, उत्तर प्रदेश में ८$\frac{3}{4}$% एवं पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा व आसाम में ८% ब्याज की दरें रही हैं।[2] ब्याज की दरें काफी ऊँची रखी गई हैं ताकि सदस्यगण बिना सोचे समझे ऋण न लें और समिति से ऋण लेकर दूसरों को न दें। इससे बुरे और सन्देह-जनक ऋणों से होने वाले घाटे की पूर्ति हो जाती है। प्रबन्ध का व्यय निकल आता है और रक्षित कोष इकट्ठे हो जाते हैं। यदि समिति की ब्याज की दरें कम हों तो सदस्य-गण पहले महाजन का ऋण चुकायेंगे। कई अधिकारी नीची दरों के पक्ष में हैं; क्योंकि ऊँची दरें सदस्यों की सारी या अधिकांश बचत समाप्त कर देती हैं। अतः ब्याज की दर को ६$\frac{1}{4}$% तक ले आने का लक्ष्य रखा गया है। आंध्र प्रदेश, बिहार, जम्मू व काश्मीर, मद्रास आदि में यह लक्ष्य प्राप्त कर लिया है। मनीपुर व मध्य-प्रदेश में ब्याज की दर घटाने के प्रयत्न हो रहे हैं। रिजर्व बैंक द्वारा रियायती दर पर विशाल मात्रा में कोष की सुविधा मिलने से सहकारी संस्थाओं व साख समितियों के लिए ब्याज की दर घटाने में विशेष कठिनाई नहीं होगी।[3]

---

1. Review of the Co-operative Movement in India 1956-58, P. 15.
2. Review of the Co-operative Movement in India 1956-58, P. 17.
3. Review of the Co-operative Movement in India 1956-58, P. 17.

(११) लाभ का वितरण—जिस समिति में शेयर पूँजी नहीं होती है, सारा लाभ रक्षित कोष में जमा कर दिया जाता है। जिसमें शेयर पूँजी होती है वहाँ भी लाभ का कम से कम चतुर्थांश रक्षित कोष में डाला जाता है। शेष का १०% शिक्षा व दान-धर्म के कार्यों में व्यय किया जाता है और शेष में से एक सीमा तक शेयरों पर 'लाभांश' (Dividends) दिए जाते हैं।

(१२) पंचायत (Arbitration)—समिति व उसके सदस्यों के बीच उपस्थित होने वाले झगड़ों का निर्णय पंचायती ढंग से होता है। इनके लिए दीवानी न्यायालयों की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती है। इससे मुकदमेबाजी कम होती है और समय, शक्ति तथा व्यय बच जाते हैं।

(१३) अवलम्बित अधिकार (Summary Powers)—कई प्रान्तों में सहकारी समितियों को बकाया वसूल करने के अवलम्बित अधिकार (Summary-Powers) प्राप्त हैं। यह सहकारिता के सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं, क्योंकि इससे पारस्परिक नियन्त्रण शिथिल पड़ जाता है। दीवानी अदालतों के द्वारा वसूली के अतिरिक्त सदस्यों का सामूहिक उत्तरदायित्व और नैतिक बल ही बकाया वसूल करने के उपयुक्त शस्त्र हैं।

(१४) भङ्ग—रजिस्ट्रार को यह अधिकार प्राप्त है कि वह किसी समिति के मामलों की जाँच के पश्चात् उसे भंग कर सकता है। यह अधिकार उन समितियों को समाप्त करने के लिए आवश्यक है, जो कि आन्दोलन पर कलंक के समान हैं परन्तु इसका उपयोग अधिक नहीं होना चाहिए।

बहुउद्देश्यीय सहकारी समितियाँ–पिछले वर्षों में एक उद्देश्यीय समितियों के स्थान पर बहु उद्देश्यीय समितियों के निर्माण पर विशेष बल दिया गया है। इनमें साख के अलावा कृषक के लिए खाद, बीज, औजार, उपभोग वस्तुओं व बिक्री आदि की भी व्यवस्था की जाती है। कृषक के आर्थिक जीवन को प्रभावित करने के लिए बहुउद्देश्यीय समितियों का निर्माण ज्यादा लाभकारी सिद्ध होगा। ऐसा करने से ही वह महाजन के चंगुल से छुड़ाया जा सकेगा। कम से कम साख व बिक्री का मेल तो अवश्य होना चाहिये। १९५७-५८ में समस्त भारत में लगभग ७५,००० बहुउद्देश्यीय सहकारी समितियाँ थीं, जिनकी सदस्य संख्या लगभग ४३ लाख थी और कार्यशील पूँजी ५९·०९ करोड़ रु० थी। सबसे ज्यादा बहुउद्देश्यीय समितियाँ उत्तर प्रदेश में थीं। लेकिन उनमें से ज्यादातर समितियाँ एक उद्देश्य वाली समितियों की तरह केवल साख प्रदान करने में लगी हुई थीं। इन्होने गैर साख व्यवसाय बहुत कम किया था। एक बहुउद्देश्यीय समिति का क्षेत्र साधारणतया एक 'गाँव सभा' तक फैला हुआ था। गैर-साख कार्यों में इन्होने वस्तुओं के वितरण पर अधिक बल दिया है।

अन्न बैंक (Grain Banks)—ये सदस्यों को वस्तु में ऋण देते हैं और अगली फसल कटने पर प्रायः सवाया माल ले लेते हैं। २५% अतिरिक्त माल व्याज के रूप में माना जाता है। १९५७-५८ में अन्न बैंकों की संख्या ९,५४९, सदस्य संख्या लगभग १०,८६,००० और कार्यशील पूँजी ३·६६ करोड़ रु० थी। ये अन्न बैंक अनाज जमा भी करते हैं और उसके संग्रह व सुरक्षा की व्यवस्था करते हैं। आंध्र-प्रदेश में इनका बहुत प्रचार है। अन्न बैंक वम्बई व मैसूर में भी पाये जाते है। उड़ीसा में इनको 'अन्न गोला' (Grain golas) कहकर पुकारते है। उपर्युक्त चार राज्यों को छोड़ कर ये देश के अन्य भागों में बहुत कम पाए जाते हैं।

केन्द्रीय सहकारी संस्थाएँ

केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central Co-operative Banks)—प्रत्येक केन्द्रीय सहकारी बैंक का कार्य-क्षेत्र प्रायः एक जिला होता है। इनका प्रमुख कार्य प्राथमिक सहकारी साख समितियों को ऋण प्रदान करना होता है ताकि कृषकों को साख की सुविधा मिल सके। इनके सदस्य व्यक्ति व समितियाँ दोनों हो सकते हैं। पिछले वर्षों में एकीकरण व पुनर्सङ्गठन की प्रक्रिया चलने से इनकी संख्या कम हो गई है लेकिन इनकी स्थिति पहले से ज्यादा सुदृढ़ हो सकी है। १९५५-५६ में केन्द्रीय सहकारी बैंकों की संख्या ४७८ थी जो घटकर १९५७-५८ में ४१८ हो गई। इनकी सदस्य संख्या १९५७-५८ में १,४७ हजार व्यक्ति व १,७६ हजार बैंक व समितियाँ थीं। इसी अवधि में इनकी कार्यशील पूँजी १४७ करोड़ रु० थी और इन्होंने १५९·८७ करोड़ रु० के ऋण प्रदान किए थे। पिछले वर्षों में इनकी जमा में कुछ वृद्धि हुई है। इनकी १९५७-५८ की कार्यशील पूँजी में स्वयं की पूँजी, जमा व दूसरों से उधार ली हुई राशि का प्रतिशत क्रमशः १७, ४५·५ व ३७·५ था। इन्होंने राज्य सहकारी बैंकों, सरकार व संयुक्त पूँजी वाले बैंकों से उधार लिया था। आसाम में उधार ली हुई राशि का स्थान कुल कार्यशील पूँजी में ८५% था।

केन्द्रीय सहकारी बैंक भी अपनी पूँजी की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य सहकारी बैंकों पर ज्यादा निर्भर करते हैं। राज्य सरकारें केन्द्रीय सहकारी बैंकों को विकास में काफी मदद दे रही हैं। ये इनकी शेयर पूँजी में हिस्सा लेती हैं, इन्हें ऋण व अनुदान प्रदान करती हैं।

राज्य सहकारी बैंक (State Co-operative Banks)—आजकल प्रत्येक राज्य में एक राज्य सहकारी बैंक या शीर्ष बैंक (Apex Bank) पाया जाता है। राज्य पुनर्संगठन के कारण १९५६ के बाद इनकी संख्या कुछ कम हो गई है। १९५५-५६ में राज्य सहकारी बैंकों की संख्या २४ थी जो १९५७-५८ में २१ हो गई। जिन राज्यों में एक से ज्यादा शीर्ष बैंक थे, उनमें एक बैंक के लक्ष्य को प्राप्त

किया जायगा। १९५७-५८ में इनके सदस्य ९,००० व्यक्ति और २४,००० बैंक व समितियाँ थीं। इनकी कार्यशील पूँजी १०९'१४ करोड़ रु० थी। राज्य सहकारी बैंकों को रिजर्व बैंक से अल्प-कालीन व मध्यम-कालीन ऋण की सुविधाएँ प्राप्त हैं। अल्प-कालीन साख बैंक दर से २% कम दर पर प्राप्त होती है। १९५६ में राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घ-कालीन) कोष स्थापित हो जाने से कृषि कार्यों के लिए राज्य सहकारी बैंकों को मध्यम-कालीन साख की सुविधा भी मिलने लग गई है। १९५७-५८ में इन्होंने २१२'४८ करोड़ रु० के ऋण प्रदान किये। राज्य सहकारी बैंकों को व्यक्तियों को साख प्रदान करने का कार्य कम करना चाहिए और समितियों व बैंकों के कार्य में ज्यादा रुचि लेनी चाहिए।

भारत में भूमि-बंधक बैंक (Land Mortgage Banks in India)

भारत में सहकारी साख समितियाँ कृषक को अल्प-कालीन व मध्यम-कालीन ऋण की सुविधाएँ प्रदान करती हैं। लेकिन कृषक को दीर्घ-कालीन साख की भी आवश्यकता होती है। दीर्घ-कालीन साख से वह पुराने ऋण चुका सकता है, भूमि में स्थायी सुधार कर सकता है, भूमि खरीद सकता है एवं मशीनें खरीद सकता है। इस प्रकार भूमि-बंधक बैंक उत्पादक व अनुत्पादक दोनों प्रकार का ऋण भूमि को गिरवी रखकर प्रदान करते हैं। इनका प्रारम्भ कृषकों को पुराने ऋण चुकाने में मदद देने के लिए हुआ था। लेकिन धीरे-धीरे इन्होंने उत्पादन बढ़ाने के लिए भी ऋण देना चालू कर दिया है। भारत में भूमि-बंधक बैंकों का बड़ा महत्व है। आज हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता भूमि की उत्पादन-शक्ति बढ़ाने की है और भूमि-बंधक बैंक इसमें सहायता कर सकते हैं।

भारत में भूमि बंधक बैंकों का ढाँचा अलग-अलग राज्यों में भिन्न-भिन्न रहा है। इस सम्बन्ध में ४ श्रेणियाँ[1] की जा सकती हैं :—

(१) मद्रास व आन्ध्र-प्रदेश में केन्द्रीय भूमि-बंधक बैंक और उनके नीचे प्राथमिक भूमि-बंधक बैंक पाये जाते हैं।

(२) सौराष्ट्र में केन्द्रीय भूमि बंधक बैंक अपनी शाखाओं के द्वारा व्यक्तियों को प्रत्यक्ष रूप से साख प्रदान करते हैं।

(३) बम्बई में केन्द्रीय भूमि-बंधक बैंक अपनी शाखाओं व प्राथमिक भूमि-बंधक बैंकों के मार्फत काम करते हैं।

(४) मध्य-प्रदेश व विदर्भ में केन्द्रीय भूमि-बंधक बैंक, राज्य सहकारी बैंकों के विभागों के रूप में ही कार्य करते हैं।

1. Review of the Co-operative movement—1956-58, p. 39.

केन्द्रीय भूमि-बंधक बैंकों की वर्तमान स्थिति :—जून, १९५८ के अन्त में भारत में १५ केन्द्रीय भूमि-बंधक बैंक थे और इसके अतिरिक्त दो राज्य सहकारी बैंकों के भूमि-बंधक बैंकिंग विभाग भी थे। १९५७-५८ में इनकी स्थिति इस प्रकार थी :—

सदस्य-संख्या	
(अ) प्राथमिक भूमि-बंधक बैंक व अन्य सहकारी बैंक एवं समितियाँ	३०६
(आ) व्यक्ति	१,५०,९४४
परिदत्त पूँजी	२२५·८४ लाख रु०
सुरक्षित कोष	७१·५८ ,, ,,
उधार	
(अ) डिबेन्चर	२०,४७·८५ ,, ,,
(आ) अन्य उधार	२,०४·६३ ,, ,,
ऋण स्वीकृत	४,६७·६५ ,, ,,
अवधि बीत जाने पर बकाया (Overdues)	९०·०३ ,, ,,

केन्द्रीय भूमि-बंधक बैंकों को राज्य सरकारों से पूँजी प्राप्त हुई है। ये डिबेन्चर निर्गमित करके भी पूँजी प्राप्त करते हैं। अवधि बीत जाने पर बकाया (Overdues) की रकम काफी ऊँची है। १९५७-५८ में इन्होंने ४६७·६५ लाख रु० के ऋण स्वीकृत किये जिसमें से लगभग १६० लाख रु० पुराने ऋण चुकाने के लिए दिये गये।

ग्रामीण जनता की बचत को आकर्षित करने के लिए १९५८ में ग्रामीण डिबेन्चर निर्गमित करने का सुझाव स्वीकृत हुआ है। भूमि-बंधक बैंक इन डिबेन्चरों को बेचकर ग्रामीण जनता में बचत की आदत को प्रोत्साहन देंगे। सौराष्ट्र, आन्ध्र व उड़ीसा में केन्द्रीय भूमि-बंधक बैंकों ने डिबेन्चर बेचे। व्यक्तियों व पंचायतों ने डिबेन्चर खरीदे। रिजर्व बैंक ने भी अपना योग-दान दिया।

रिजर्व बैंक ने भूमि-बंधक बैंकों के विविध प्रश्नों की जाँच करने के लिए एक टैक्नीकल समिति नियुक्त की जिसने अक्टूबर, १९५७ में अपनी रिपोर्ट दी। उसमें अन्य बातों के अलावा भूमि-सुधारों से भूमि-बंधक बैंकों पर पड़ने वाले प्रभावों की जाँच की गई और आवश्यक सुझाव दिये गये।

प्राथमिक भूमि-बंधक बैंक (Primary Land Mortgage Banks)—१९५५-५६ में प्राथमिक भूमि-बंधक बैंकों की संख्या ३०२ थी जो बढ़कर १९५७-५८ में ३४७ हो गई। इनमें से २५४ बैंक अर्थात् ७३% आन्ध्र-प्रदेश, मद्रास व मैसूर में स्थित थे। इनकी सदस्य-संख्या ३,७५,९८० थी और कार्यशील पूँजी १४·०६ करोड़ रु० थी। इन्होंने २·५२ करोड़ रु० के ऋण दिये थे।

प्राथमिक भूमि-बंधक बैंकों को पूँजी के लिए केन्द्रीय भूमि-बंधक बैंकों पर निर्भर करना पड़ता है। ये कृषकों से सीधा सम्पर्क रखते हैं और उन्हें दीर्घ-कालीन साख की सुविधाएं प्रदान करते हैं।

सुधार के सुझाव—भारत में भूमि-बंधक बैंकों का विकास सभी राज्यों में समान रूप से नहीं हो पाया है। मद्रास राज्य में इस सम्बन्ध में सराहनीय प्रगति हुई है। भूमि-बंधक बैंकों के पास पर्याप्त पूँजी नहीं है और उनको ऋण देने में देर भी होती है। उनकी ब्याज की दरें भी ऊँची हैं। आज भी वे अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण देते हैं। अतः शीघ्र ही निम्न दिशाओं में सुधार करने की आवश्यकता है :—

(१) भविष्य में उत्पादक-ऋण पर अधिक जोर देना चाहिए ताकि देश में कृषि का कुल उत्पादन बढ़ सके जो हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता है।

(२) प्रशिक्षित कर्मचारियों की संख्या बढ़ायी जाय ताकि भूमि की कीमत आँकने में सुविधा रहे। यह टैक्नीकल स्टॉफ का कार्य है।

(३) भूमि-बंधक बैंकों को डिबेन्चर लोकप्रिय बनाने के लिए विशेष सतर्क होना चाहिए ताकि ग्रामीण बचत एकत्र की जा सके।

(४) भूमि-बंधक बैंकों व राज्य सहकारी बैंकों के कार्यों में अधिक ताल-मेल बैठाया जाय।

(५) प्रबन्ध-व्यय आदि में कमी करके ब्याज की दर कम की जाय ताकि किसान साख की सुविधा का अधिक उपयोग कर सकें।

(६) अधिक आवेदन-पत्रों को कम समय में ही निपटाया जाय, ताकि ऋण प्राप्त करने में विशेष विलम्ब न हो।

इन सुझावों को अपनाने पर भूमि-बंधक बैंक कृषि-उत्पादन बढ़ाने में ज्यादा सफलीभूत हो सकेंगे।

ऊपर कृषि-साख सहकारिता की प्रगति का उल्लेख किया गया है। लेकिन भारत में अन्य दिशाओं में भी सहकारिता का थोड़ा बहुत प्रचार हुआ है। नीचे गैर-कृषि साख समितियों (Non-agricultural Credit Societies) का संक्षिप्त परिचय देने के बाद गैर-साख समितियों (Non-credit societies) की प्रगति पर प्रकाश डाला जायगा।

गैर-कृषि साख समितियाँ—इनके अन्तर्गत शहरी बैंक व कर्मचारियों की साख समितियाँ आती हैं। जून, १९५८ के अन्त में १०,४३० समितियाँ थीं जिनकी सदस्य-संख्या ३६·७४ लाख थी। इनमें सदस्यों व गैर-सदस्यों की जमा ६०·७३ करोड़ रु० थी जो कार्यशील पूँजी का ५९·२३% थी। इनकी कार्यशील पूँजी १०२·५३ करोड़ रु० थी। इन्होंने कुल ८७·३४ करोड़ रु० के ऋण दिये।

कृषि साख समितियाँ बाहरी साधनों पर पूँजी के लिए ज्यादा आश्रित थीं जब कि

गैर-कृषि साख समितियाँ अपनी पूँजी व जमा की रकम पर अधिक निर्भर थीं। गैर-कृषि-साख समितियों की प्रगति बम्बई व मद्रास में विशेष रूप से हुई है।

गैर-साख सहकारिता आन्दोलन (Non-credit Co-operative Movement)

भारत में गैर-साख सहकारिता आन्दोलन बहुत कम पनप पाया है क्योंकि शुरू से कृषि-साख सहकारिता पर ही विशेष बल दिया गया। अखिल भारतीय ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति ने अपनी दिसम्बर १९५४ की रिपोर्ट में सहकारिता आन्दोलन को व्यापक बनाने के लिए गैर-साख समितियों की स्थापना का समर्थन किया था। अतः पिछले वर्षों में सहकारिता आन्दोलन को गैर-साख दिशाओं में भी पनपाया गया है।

गैर-साख समितियाँ भी दो भागों में बाँटी जाती हैं—(१) कृषि गैर-साख समितियाँ; (२) गैर-कृषि गैर-साख समितियाँ। प्रथम श्रेणी में सहकारी बिक्री समितियाँ, गन्ना-पूर्ति समितियाँ, कृषि-समितियाँ, सिंचाई समितियाँ व दुग्ध-संघ आदि आते हैं और द्वितीय श्रेणी में उपभोक्ता-भण्डार, औद्योगिक सहकारी समितियाँ, भवन-निर्माण समितियाँ, बीमा समितियाँ, जुलाहों की समितियाँ, चीनी (सहकारी) फैक्टरियाँ व अन्य परिनिर्माण समितियाँ आती हैं। कुछ महत्वपूर्ण गैर-साख समितियों का संक्षिप्त विवेचन नीचे किया जाता है :—

(१) **सहकारी कृषि समितियाँ**—जून, १९५८ के अन्त में ३,६५० सहकारी कृषि समितियाँ थीं जिनमें १,३७८ काश्तकार कृषि समितियाँ, १,२०७ संयुक्त-कृषि समितियाँ, ४२० सामूहिक कृषि समितियाँ व ६४५ उन्नत-कृषि समितियाँ थीं। ५०% से ज्यादा संयुक्त-कृषि समितियाँ पंजाब व उत्तर-प्रदेश में थीं। कृषि समितियों ने कुल ४,५७,७३६ एकड़ भूमि में कृषि की। (विशेष विवरण के लिए देखिए अध्याय—२२)

(२) **सिंचाई समितियाँ**—१९५७-५८ में इनकी संख्या १,५५७ थी और ६२% से ऊपर समितियाँ बम्बई, पंजाब, उत्तर-प्रदेश व पश्चिमी बंगाल में थीं। इनका कार्य सिंचाई की व्यवस्था करना था।

(३) **मछुओं की समितियाँ**—१९५७-५८ में इनकी संख्या लगभग १६०० थी। ये ज्यादातर आन्ध्र-प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, मद्रास, केरल, बम्बई, आसाम व उड़ीसा में स्थापित की गई थीं।

(४) **दूध यूनियन व समितियाँ**—जून, १९५८ के अन्त में ७३ दूध यूनियन व १,९१४ दूध पूर्ति समितियाँ थीं जो बम्बई, मद्रास, आन्ध्र-प्रदेश, व उत्तर-प्रदेश में विशेष रूप से काम कर रहीं थीं।

(५) **औद्योगिक सहकारी समितियाँ**—इसके अन्तर्गत जुलाहों की समितियाँ, कातने की मिलें व अन्य समितियाँ आती हैं। जून, १९५८ के अन्त में जुलाहों की समितियाँ राज्य-स्तर पर २३, केन्द्रीय स्तर पर ७१ एवं प्राथमिक स्तर पर ९,५१४ थीं। कातने

की मिलें १० और अन्य औद्योगिक समितियाँ १०,११७ थीं। आन्ध्र-प्रदेश, बम्बई, केरल, मद्रास, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, पंजाब, उत्तर-प्रदेश, आसाम, राजस्थान, बिहार, मध्य-प्रदेश, मैसूर व दिल्ली में जुलाहों की समितियों व अन्य समितियों ने विशेष प्रगति की है।

(६) सहकारी बिक्री समितियाँ—३० जून, १९५८ को प्राथमिक बिक्री समितियाँ १,८९९ थीं और गन्ना बिक्री समितियाँ ७,४६९ थीं। सबसे ज्यादा बिक्री समितियाँ उत्तर-प्रदेश (५०२), पश्चिमी बंगाल (२२२), बम्बई (२०६), मैसूर (१८६) व आन्ध्र-प्रदेश (१५०) में थीं। केन्द्रीय बिक्री समितियाँ २,६८५ थीं। केवल उत्तर-प्रदेश में २,२४१ केन्द्रीय बिक्री समितियाँ थीं। राज्यीय बिक्री समितियाँ १३ थीं। (विशेष विवरण के लिए देखिए अध्याय—२३)

(७) सहकारी चीनी, व कॉटन जिनिंग एवं प्रेसिंग व अन्य परिनिर्माण समितियाँ—३० जून, १९५८ को ५१ चीनी की फैक्टरियाँ, ७६ कॉटन जिनिंग व प्रेसिंग समितियाँ एवं ५५४ अन्य परिनिर्माण (Processing) समितियाँ थीं। सहकारी चीनी की फैक्टरियाँ बम्बई (१८), पंजाब (८), मैसूर, उत्तर-प्रदेश, उड़ीसा व पश्चिमी बंगाल में विशेष रूप से पाई गईं। कॉटन जिनिंग व प्रेसिंग मिलें बम्बई (५२), पंजाब (११), व शेष मध्य-प्रदेश, मैसूर वगैरः में स्थित थीं। परिनिर्माण समितियों की क्रियाएँ मूँगफली का छिलका हटाना, कहवा तैयार करना, तेल निकालना, धान का छिलका दूर करना आदि हैं। आन्ध्र-प्रदेश, आसाम, केरल, मध्य-प्रदेश, मद्रास, मैसूर, पंजाब, उत्तर-प्रदेश व पश्चिमी बंगाल में परिनिर्माण समितियों की विशेष प्रगति हुई।

(८) उपभोक्ता भंडार (Consumers' Stores)—भारत में द्वितीय महायुद्ध व उसके बाद अनिवार्य वस्तुओं को नियन्त्रित मूल्यों पर उपभोक्ता-वर्ग को उपलब्ध करने के लिए देश के विभिन्न भागों में उपभोक्ता-भण्डार खोले गये थे। लेकिन १९५१-५२ से इनकी संख्या में निरंतर कमी हो रही है क्योंकि राशनिंग व नि[illegible] दिये गये हैं। १९५७-५८ में थोक भण्डारों की संख्या ७६ थी और प्राथ[illegible] भण्डार ६,४३५ थे। ज्यादातर स्टोर बम्बई, आसाम, पश्चिमी बंगाल व मद्रास में स्थित थे।

(९) सहकारी भवन-निर्माण समितियाँ (Co operative housing societies) :—सहकारी मकान-निर्माण समितियों ने औद्योगिक नगरों व ग्रामीण क्षेत्रों में मकान की कमी को दूर करने में काफी सहायता पहुँचाई है। इन समितियों को केन्द्रीय सरकार की तरफ से कम-आय-वर्ग की भवन-निर्माण योजना व आर्थिक सहायता प्राप्त औद्योगिक हाउसिंग योजना के अन्तर्गत व राज्य सरकारों से वित्तीय सहायता मिली। १९५७-५८ में केन्द्रीय हाउसिंग समितियाँ ५ व प्राथमिक समितियाँ ४,१७२ थीं। बम्बई, मद्रास, आन्ध्र-प्रदेश, मैसूर, उड़ीसा, पंजाब, पश्चिमी बंगाल व दिल्ली में ये समितियाँ काम कर रही हैं।

इस प्रकार गैर-साख के क्षेत्र में भी सहकारिता आन्दोलन प्रविष्ट हो गया है। लेकिन देश की जनसंख्या व आवश्यकताओं को देखते हुए विकास संतोषजनक नहीं कहा जा सकता है।

भारत में सहकारिता आन्दोलन की सफलताएँ व लाभ

भारत में सहकारिता आन्दोलन का श्रीगणेश हुए ५५ वर्ष से ऊपर हो चुके हैं। इस अवधि में संख्यात्मक दृष्टि से इस आन्दोलन का काफी विकास हुआ है। एक भारतीय परिवार का औसत आकार ५ मानते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जून, १९५८ के अन्त तक लगभग १०·७५ करोड़ या जन-संख्या का करीब २७% सहकारी आन्दोलन में आ चुका था। १९५७-५८ में सभी प्रकार की सहकारी समितियों की संख्या २,५७,८२२ थी जिनकी कुल सदस्य-संख्या २,१४,३५,१४० और कार्यशील पूँजी ६९६·४६ करोड़ रु० थी। १९५१-५२ की तुलना में कार्यशील पूँजी दुगुने से भी अधिक हो गई थी। पिछले वर्षों में राज्य सहकारी बैंकों का भी काफी विकास हुआ है। केन्द्रीय सहकारी बैंकों की पूँजी में भी वृद्धि हुई है। उनके द्वारा सदस्यों को दिये जाने वाले ऋणों की मात्रा में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। प्राथमिक सहकारी कृषि साख समितियों के कार्यों का भी विस्तार हुआ है। द्वितीय योजना की अवधि में सहकारिता का विकास प्रगति पर रहा है।

गैर-साख सहकारी समितियों की स्थापना पर भी बल दिया गया है और परिणाम-स्वरूप विभिन्न राज्यों में बिक्री समितियाँ, औद्योगिक सहकारी समितियाँ, परिनिर्माण (Processing) समितियाँ, बुनकरों की समितियाँ आदि स्थापित हुई हैं और उन्नति कर रही हैं।

इतना होने पर भी भारत में सहकारिता आन्दोलन प्रमुखतया एक साख आन्दोलन माना जायगा। कुल सहकारी समितियों में लगभग ९५% समितियाँ कृषि साख समि[illegible] थीं। कृषि साख समितियों के विस्तार से कई लाभ हुए हैं।

[illegible] लाभ :—(अ) सहकारी साख समितियाँ किसानों और कारीगरों को कम व्याज पर ऋण प्रदान करती हैं। इससे उनको जो रुपया व्याज में देना पड़ता है उसमें बचत होती है।

(आ) कई गाँवों में महाजनों का एकाधिकार समाप्त हो गया है और उन्हें अपनी व्याज की दरें घटाने के लिए वाध्य होना पड़ा है। इससे जो व्यक्ति सहकारी समितियों के सदस्य नहीं हैं, उन्हें भी लाभ पहुँचा है। (ई) सहकारी समितियों ने ऋणों को कम करने में भी सहायता दी है, विशेषकर जब से सहकारी सिद्धान्तों पर कार्य करने वाले भूमि-बन्धक बैंक (Land Mortgage Banks) चलाये गये हैं। कई लोगों का मत है कि सहकारी साख समितियों ने केवल महाजन के पूरक का कार्य किया है और ऋणग्रस्तता में वृद्धि की है। परन्तु यदि ऐसा हुआ तो सहकारी समितियों के अभाव में

ऋणग्रस्तता में और भी वृद्धि हुई होती। किसी को आशा नहीं थी कि केवल सहकारी समितियों द्वारा सम्पूर्ण ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता दूर हो सकेगी; क्योंकि ऋण-ग्रस्तता का मूल कारण दरिद्रता है और यह तभी समाप्त हो सकती है, जब यह कारण दूर हो जाय। (ई) सहकारी समितियां नियंत्रित साख प्रदान करती हैं, जो कि महाजन के अनियंत्रित और नैतिक पतनकारक साख से अधिक उत्तम है। (उ) सहकारी समितियों ने अनुत्पादक संचय (Hoarding) की प्रवृत्ति को रोका है और लोगों में महाजनी प्रवृत्तियों (Banking Habits) को प्रोत्साहन दिया है। (ऊ) गैर-साख के क्षेत्रों में भी सहकारी समितियों द्वारा कृषि को अनेक प्रकार से लाभ पहुँचा है। किसानों की नाना प्रकार की आवश्यकताओं को डेनमार्क की भाँति सहकारी आधार पर पूर्ति करने का प्रयत्न किया गया है। सहकारी समितियों द्वारा कृषि-विभागों को उत्तम बीज, उत्तम औजार, उत्तम खाद और उत्तम मवेशियों के प्रसार में बड़ी सहायता मिली है। बहुत उद्देश्यों वाली समितियां (Multi-purpose Societies) स्थापित होने से, जो लेन-देन के अतिरिक्त खेती की पैदावार की बिक्री तथा अन्य आवश्यक सामान की पूर्ति का कार्य भी करती हैं, शीघ्र ही उन्नति की आशा की जाती है। आजकल किसान को उत्तम खेती, उत्तम व्यवसाय तथा उत्तम जीवन का आदर्श उपलब्ध करने में सहकारिता आंदोलन से बड़ी आशाएँ हैं। (ए) गैर-कृषि समितियाँ (Non-Agricultural Societies) भी, जैसे बुनकरों, कारीगरों, श्रमिकों, वेतन-भोगियों व उपभोक्ताओं की समितियाँ, यद्यपि संख्या में सीमित हैं, उपयोगी कार्य कर रही हैं। कुटीर-उद्योग-धन्धों, जैसे हाथ की बुनाई के काम के लिए भी सहकारिता बड़ी उपयोगी सिद्ध हो रही है।

(२) नैतिक लाभ :—आर्थिक लाभों के अतिरिक्त सहकारिता आन्दोलन से सदस्यों का नैतिक स्तर ऊँचा उठ गया है। एक चरित्रहीन और सन्दिग्ध चरित्र वाला व्यक्ति सहकारी समिति का सदस्य नहीं बनाया जाता है। इससे सदस्य बनने की इच्छा करने वाले व्यक्ति चरित्र को सुधारने का प्रयत्न करते हैं। सदस्यों के झगड़े पंचायतों के सुपुर्द किये जाते हैं। इससे मुकदमेबाजी में होने वाले समय, शक्ति और व्यय बच जाते हैं। सदस्य-गण पारस्परिक नियन्त्रण रखते हैं इससे फिजूल-खर्ची कम हो जाती है और मितव्ययिता को प्रोत्साहन मिलता है। सर माल्कम डार्लिङ्ग के अनुसार "एक अच्छी सहकारी समिति में मुकदमेबाजी, फिजूल-खर्ची, शराबखोरी, और जुआबाजी सभी कम हो जाते हैं और उनके स्थान पर परिश्रम, आत्म-विश्वास, ईमानदारी, शिक्षा पंचायत-समितियाँ, मितव्ययता, स्वावलम्बन और पारस्परिक सहायता पाई जाती है।"

(३) शैक्षिक लाभ—सहकारिता आन्दोलन ने अनेक प्रकार के लोगों की ज्ञान वृद्धि में भी सहायता दी है। सहकारी समिति एक प्रकार की पाठशाला है जिसमें सदस्यों को नागरिकता के कर्त्तव्यों और स्वशासन की प्रारम्भिक शिक्षा मिलती है। एक सहकारी समिति के सदस्य को इसकी बैठकों में भाग लेना पड़ता है और

इसके नियमोपनियम समझने पड़ते है। यदि वह किसी उत्तरदायी पद पर नियुक्त हुआ हो तो उसे सारी बातों को अधिक ध्यान से अध्ययन करना होता है। इससे उसकी बुद्धि तथा ज्ञान शक्ति का विकास होता है। हस्ताक्षर करने और वही को पढ़ने की आवश्यकता से भी साक्षरता को प्रोत्साहन मिलता है।

(४) **सामाजिक लाभ**—सहकारी आन्दोलन से समाज को भी अनेक लाभ पहुँचे हैं। अपरिमित दायित्व के सिद्धान्त से पारस्परिक नियन्त्रण अनिवार्य हो जाता और फिज़ूल-खर्ची के विरुद्ध लोकमत तैयार हो जाता है। इससे विवाह आदि धार्मिक और सामाजिक अवसरों पर होने वाली फिज़ूलखर्ची कम होती है। क्योंकि समितियों को १०% वार्षिक लाभ शिक्षा तथा दान धर्म के कार्यों में व्यय करने को अनुमति है। इससे गाँवों में कुओं की मरम्मत, साधारण सफाई, गदे पानी के बहाव की नालियों का निर्माण, चिकित्सा की सुविधाओं से सम्बन्ध रखने वाले कई कार्य किए जाते हैं।

सहकारी आन्दोलन की कमियाँ व असफलता के कारण

यद्यपि गत पचपन वर्षों में हमारे देश में सहकारिता आन्दोलन की बड़ी उन्नति हुई है, तथापि इस आन्दोलन में अनेक कमियाँ हैं।

(१) **गैर-साख समितियों की उपेक्षा**—सबसे बड़ी कमी यह है कि इस आन्दोलन में आरम्भ ही से साख की प्रधानता रही है, और वह भी ग्रामीण जनता के लिए। गैर-साख के क्षेत्र में; जैसे सहकारी उत्पादन विशेषतः सहकारी खेती, खेती की उपज की सहकारी बिक्री, सहकारी वितरण या उपभोग आदि के क्षेत्रों में विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। परन्तु किसान के लिए केवल सीमित मात्रा में साख की पूर्ति की व्यवस्था करके उसकी आर्थिक कठिनाइयाँ दूर नहीं की जा सकतीं। कुटीर उद्योगों और श्रमिकों के लिए तो इतना भी नहीं किया गया है।

(२) **साख समितियों का सीमित और असमान विकास**—भारत में सहकारी साख की पूर्ति बहुत सीमित और असमान ढंग से हुई है। अ० भा० ग्राम्य साख सर्वेक्षण की संचालन समिति ने अपनी रिपोर्ट में बतलाया है कि **सहकारी संस्थाएँ भारतीय किसानों की ऋण की आवश्यकताओं का केवल ३·१ प्रतिशत प्रदान करती हैं।** यह तो केवल आटे में नमक के बराबर है। रिपोर्ट में आगे बतलाया गया है कि देश के बड़े भागों में अब तक सहकारिता नहीं पहुँची है। जिन क्षेत्रों में यह फैल चुकी है उनमें भी खेती करने वालों के कई बड़े वर्ग इसके सदस्य नहीं बन पाए हैं और जो सहकारी साख समितियों के सदस्य हैं वे भी अपनी ऋण की आवश्यकता का बड़ा भाग गैर-सहकारी स्रोतों से प्राप्त करते हैं। एक और बुरी बात यह है कि सहकारी संस्थाएँ जो ऋण प्रदान करती हैं उसका बहुत छोटा भाग छोटे और मध्यम किसानों को पहुँचता है, क्योंकि साधारणतः ऋण भूमि की जमानत पर दिए जाते हैं और छोटे तथा मध्यम किसान के पास बहुत कम भूमि होती है।

सहकारी साख का विस्तार देश में समान रूप से नहीं हुआ है। समिति की रिपोर्ट में बतलाया गया है कि जहाँ कुल मिलाकर सहकारी संस्थाओं की कार्य-सिद्धि निराशाजनक रही है वहाँ कुछ राज्यों में और विशेष दशाओं में इनको महत्वपूर्ण सफलता मिली है। उदाहरण के लिए बम्बई राज्य में किसानों के कुल ऋणों का जिनमें उपभोग के लिए लिए गए ऋण भी शामिल हैं, १६ प्रतिशत और उत्पादन के लिए लिए गए अल्पकालीन ऋणों का ४० प्रतिशत सहकारी संस्थाएँ प्रदान करती हैं। इसी प्रकार मद्रास और उत्तर-प्रदेश में बिक्री, उत्पादन और दूध पूर्ति आदि के कार्यों में सहकारी संस्थाओं को उल्लेखनीय सफलता मिली है।

(२) स्वेच्छा और राज्य की प्रभावी साझेदारी का अभाव—भारत में सहकारिता एक जन-आन्दोलन नहीं परन्तु एक सरकारी नीति के रूप में आई है। इसका आरम्भ सरकार की ओर से हुआ था। इसका नियन्त्रण सरकार के हाथ में रहा है और इसके लिये रुपया भी सरकारी साख पर ही प्राप्त हुआ है क्योंकि रुपया ऐसे लोगों से प्राप्त हुआ है जो, यदि वे जानते कि सरकार सहकारी संस्थाओं के पीछे नहीं है तो इनको कभी रुपया नहीं देते। आज भी सहकारी संस्थाओं में बड़ा विभागीय हस्तक्षेप है और देश में सहकारिता का विकास एक विभागीय कार्यवाही के रूप में किया जा रहा है। निःसन्देह इससे आत्म-निर्भरता घटती है। परम्परागत सहकारी सिद्धान्तों के अनुसार यह ठीक नहीं है।

हम मानते हैं कि अन्ततः सहकारी संस्थाओं को अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिये। परन्तु जिस रोगी को लम्बी बीमारी के बाद लकवा मार गया हो क्या वह एकदम अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है? शताब्दियों से शोषित और उपेक्षित भारतीय किसान, कारीगर और मजदूर की भी यही दशा है। अ० भा० ग्राम्य साख सर्वेक्षण की संचालन समिति ने अपनी रिपोर्ट में बतलाया है कि आज भारत में सहकारिता निर्बलों का संगठन है। इसको शक्तिशाली निजी व्यापारियों, साहूकारों, स्थानीय नेताओं तथा अन्य निहित स्वार्थों की प्रतियोगिता और विरोध का सामना करना पड़ता है। यह तभी सफल हो सकता है जब राज्य, जो निर्बलों के लिए एक संगठन है, इससे हाथ में हाथ मिलाकर कार्य करे। अब तक राज्य का सहयोग यदाकदा रस्म-अदायगी की तौर पर हाथ मिलाने के रूप में मिला है, हाथ में हाथ मिलाकर साथ-साथ चलने के रूप में नहीं। अब तक राज्य की सहायता अत्यधिक प्रशासन और अति-अल्पवित्त के रूप में मिली है। अतएव भारत में सहकारिता की सफलता के लिए राज्य की साझेदारी आवश्यक है। अतएव सहकारिता आन्दोलन के सामने आज दो विकल्प हैं—यह चाहे तो हमेशा के लिए अपने पैरों पर खड़ा होने के अयोग्य बना रह सकता है या चाहे तो राज्य की सहायता स्वीकार कर सकता है जिससे अन्ततः बिना किसी बाहरी सहायता से खुद अपनी मदद कर सके।

(४) सहकारिता के सिद्धान्तों के ज्ञान का अभाव—एक बड़ी कमी यह है कि सहकारी समितियों के सदस्यों तथा पदाधिकारियों में सहकारिता के सिद्धांतों के ज्ञान का अभाव है। कई सरकारी तथा गैर-सरकारी लोग इस आन्दोलन में भाग लेने में उत्साह दिखाते हैं किन्तु समितियों के वर्तमान और आने वाले सदस्यों को सहकारिता के सिद्धान्तों का ज्ञान कराने में उतना उत्साह नहीं दिखाया जाता है। इस कार्य में निरक्षरता एक बड़ी रुकावट है लेकिन यदि आन्दोलन को सफल बनाना है तो इसे दूर करना होगा।

(५) कुप्रबन्ध—हम लिख चुके हैं कि सहकारी समितियों के सदस्य समिति का ऋण ठीक समय पर नहीं चुकाते हैं। यद्यपि प्रति सदस्य बकाया की मात्रा कम है तथापि १९५७-५८ में अवधि बीत जाने वाली बकाया की कुल बकाया २१·३% थी। यदि ऋण लौटाया न जाता तो नया ऋण नहीं दिया जा सकता, इससे कार्य में शिथिलता आ जाती है। बकाया को छिपाने के लिए लेखा परिवर्तन (Paper Adjustment), बनावटी अदायगी और बारम्बार तथा स्वतः ऋणों का नवीनीकरण किया जाता है।[1] ऋण देते समय ऋण के उद्देश्य की छानबीन नहीं की जाती। पदाधिकारी स्वयं ऋण बकाया रखते हैं और बकाया रखने वालों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करते।

(६) जांच की कमी—जनता में विश्वास उत्पन्न करने और कुप्रबन्ध तथा अपहरण को रोकने के लिये आय-व्यय की कुशल और पूर्ण जाँच की बड़ी आवश्यकता है। आय-व्यय की जाँच की वर्तमान व्यवस्था बड़ी असंतोषजनक है। आय-व्यय के जाँच और निरीक्षण कार्यों का निकट संबंध है लेकिन ये कार्य दो या तीन भिन्न-भिन्न संस्थाओं में बँटे हुए हैं, जिससे कार्य की पुनरावृत्ति हो जाती है और शक्ति तथा द्रव्य का अपव्यय होता है।

(७) ब्याज की ऊँची दरें—कई राज्यों में अब भी ब्याज की ऊँची दरें हैं। इसका कारण यह है कि समितियों के पास अपनी पूँजी न होने से वे केन्द्रीय बैंकों से पूँजी उधार लेती हैं और केन्द्रीय बैंक राज्य बैंक से लेते हैं। इस प्रकार अन्तिम ऋणी और प्रारंभिक ऋणदाता के बीच में कई संस्थाएँ आती हैं और प्रत्येक संस्था ब्याज की दर पर वृद्धि करती है।

(८) लोच का अभाव, विलम्ब और अपर्याप्तता—सदस्यों को समितियों से अपनी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त ऋण नहीं मिलता। बहुधा ऋण के लिए बड़ी देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है और असुविधा तथा व्यक्तिगत अपमान तक सहन करना पड़ता है। फलस्वरूप समितियों के सदस्यों को भी बहुधा महाजन से उधार लेना पड़ता है। इसका एक कारण यह भी है कि समितियों के पास जरूरी माँग को पूरा करने के लिए काफी नकद रुपया नहीं होता।

1. Review of the Co-operative Movement in India, 1956-58 P. 15, (Published in March, 1960)

(६) दीर्घकालीन साख का अभाव—भारत में दीर्घकालीन साख प्रदान करने के लिए मद्रास, बम्बई व आंध्र-प्रदेश में भूमि-बंधक बैंकों का काफी विकास हुआ है लेकिन अन्य राज्यों में अभी स्थिति संतोषजनक नहीं है। ये बैंक भी अभी तक अनुत्पादक ऋण ज्यादा देते हैं जैसे पुराने ऋणों को चुकाने के लिये ऋण दिये जाते हैं और काफी विलंब हो जाता है। कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिये उत्पादक ऋण बढ़ने चाहिएँ।

सहकारिता की असफलता के अन्य कारण—हम देख चुके हैं कि भारत में सहकारी आन्दोलन की आशानुकूल उन्नति और सफलता नहीं हो सकी है। इसका कारण केवल आन्दोलन की भीतरी कमियाँ ही नहीं बल्कि हमारे देश का सामाजिक-आर्थिक परिवेश, विकट आर्थिक समस्याएँ, विस्तृत अशिक्षा, सहकारी विभागों के पास साधनों का अभाव, जलवायु पर आश्रितता, सड़कों और गोदामों की कमी भी इसकी उन्नति में बाधा डालती है।

(१) सामाजिक-आर्थिक परिवेश—अ० भा० ग्राम्य सर्वेक्षण की संचालन समिति के अनुसार हमारे देश में औपनिवेशिक राज्य और प्रशासन, कृषि के व्यापारीकरण और उद्योग-धन्धों के शहरीकरण के फलस्वरूप देश के सामाजिक-आर्थिक ढाँचे में, किसानों, कारीगरों, खेतिहर मजदूरों और गाँव में रहने वाले दूसरे लोगों के विरोध में जातिवाद और वित्तीय शक्ति पर आधारित तथा शहरों में केन्द्रित पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था और प्रशासन से सम्बन्धित एक अत्यन्त शक्तिशाली संगठन स्थापित हो गया है जिसका शहरी दृष्टिकोण है। गाँव के पटेल तथा व्यापारी, साहूकार व अन्य स्थानीय नेता और यहाँ तक कि राज्य के छोटे कर्मचारी भी जो गांवों में जाते हैं इस संगठन से संबंधित और प्रभावित हैं। इस शक्तिशाली संगठन के सामने सहकारी आन्दोलन यथेष्ट उन्नति नहीं कर सका है। यही नहीं इन लोगों ने सहकारी समितियों में प्रवेश करके उनको अन्दर से खोखला बना दिया है। यही कारण है कि यद्यपि कागज पर ऐसा मालूम होता है कि सहकारी आन्दोलन भारत में बराबर उन्नति कर रहा है तथापि देहातों के निर्बल और दरिद्र वर्गों को इससे बहुत कम लाभ हुआ है।

(२) विकट आर्थिक समस्या—हमारे देश में आर्थिक समस्या बड़ी विकट है। केवल किसानों की चालू आवश्यकताओं के लिए ऋण की व्यवस्था से ही उन्हें कोई लाभ नहीं हो सकता। जब तक कि ऋणदाता का मूल कारण दरिद्रता दूर नहीं की जाती। इसी प्रकार ग्रामीण उद्योगों में लगे हुए कारीगरों की दशा सुधारने के लिए भी उनकी आय में वृद्धि करने की आवश्यकता है। खेतीहर और दूसरे श्रमिकों की भी ऋण-ग्रस्तता से मुक्ति, उचित ब्याज पर नियन्त्रित ऋण, अनुत्पादक सामाजिक रीति-रिवाजों पर खर्च में कमी और शिक्षा की आवश्यकता है। लेकिन उनकी सबसे बड़ी आवश्यकता उनके पारिश्रमिक या वेतन में वृद्धि की है। दुर्भाग्य से किसानों, कारीगरों और श्रमिकों की आय में वृद्धि करना सहकारी आन्दोलन के

क्षेत्र के बाहर है। इसके लिए समस्या को पूर्णतः समझ कर आयोजित प्रयत्न करने की आवश्यकता है। सहकारिता के सिद्धान्तों को जितने भी अधिक मोर्चों पर लगाया जाय, अच्छा है। साथ ही कृषि-विकास औद्योगीकरण और सामाजिक-सुरक्षा (Social Insurance) की योजनाएँ भी कार्यान्वित की जानी चाहिएँ।

(३) विस्तृत अशिक्षा—सहकारिता आन्दोलन के मार्ग में जनता की भयंकर और विस्तृत निरक्षरता बड़ी बाधा है। शिक्षा के अभाव से सहकारी सिद्धान्तों का ज्ञान कराने में बड़ी कठिनाई होती है। इससे साधारण सदस्य आन्दोलन में सक्रिय भाग नहीं ले सकते और प्रभावशाली सदस्य उनसे अनुचित लाभ उठाते हैं। कहीं-कहीं तो समितियों के लिए शिक्षित मंत्री ढूँढ़ने में भी बड़ी कठिनाई पड़ती है।

(४) सहकारी विभागों के पास साधनों का अभाव—यद्यपि सीधी सरकारी सहायता तथा ऋण सहकारी भावना का नाश कर देते हैं, तथापि निरीक्षण तथा नियंत्रण के लिए पर्याप्त साधनों तथा कर्मचारियों के अभाव में आन्दोलन का विस्तार करना भी मूर्खता है। सरकार के पास रुपयों की कमी से आन्दोलन का विस्तार नहीं हो सकता है।

(५) जलवायु पर आश्रितता—भारतवर्ष में सहकारी आन्दोलन की उन्नति के मार्ग में एक बड़ी बाधा यह है कि इस आन्दोलन में कृषि समितियों की प्रधानता है और जब तक भारतवर्ष कृषि-प्रधान रहेगा यह प्रधानता बनी रहेगी। कृषि सहकारिता की सफलता फसलों की उत्तमता पर निर्भर है और हमारे देश की फसलें वर्षा पर आश्रित हैं। सिंचाई के कृत्रिम साधनों का विकास करके यह आश्रितता कम की जा सकती है।

इस प्रकार बहुत से कारणों ने मिलकर भारत में सहकारिता आंदोलन को सफलीभूत नहीं होने दिया।

अगस्त १९५१ में रिजर्व बैंक ने एक अ० भा० ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति नियुक्ति की जिसकी रिपोर्ट दिसम्बर, १९५४ में प्रकाशित की गई। इसमें बतलाया गया कि सहकारी संस्थाओं ने कृषक को केवल ३·१ प्रतिशत ऋण की सुविधा प्रदान की है। ज्यादातर साख साहूकार व व्यापारियों से मिली है। अतः समिति ने कहा कि 'भारत में सहकारिता असफल रही है लेकिन सहकारिता को सफल बनाना होगा।' समिति ने ग्राम्य साख की एकीकृत योजना अपनाने का सुझाव दिया। इसका विस्तृत विवरण अगले अध्याय में किया जायगा। यहाँ समिति की सिफारिशों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है ताकि द्वितीय योजना में सहकारिता की स्थिति स्पष्ट हो सके।

अ० भा० ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिशें :—(१) सहकारिता आन्दोलन में राज्य की साझेदारी (State-partnership) होनी चाहिए। इस प्रकार सहकारिता आन्दोलन में राज्य सक्रिय रूप से भाग लेगा और अपने आपको

केवल निर्देशन (direction) तक ही सीमित नहीं रखेगा। (२) इम्पीरियल बैंक को स्टेट बैंक ऑव इण्डिया में बदल दिया जाय। (३) सहकारिता को गैर-साख क्षेत्रों में फैलाया जाय। (४) बड़े आकार की प्राथमिक कृषि साख समिति स्थापित की जाय। (५) सहकारी प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय।

पंच-वर्षीय योजनाओं में सहकारिता

भारत के योजनाबद्ध विकास में सहकारिता पर बहुत बल दिया गया है। सहकारिता को विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों में लागू करने का प्रयत्न किया गया है।

(१) प्रथम पंच-वर्षीय योजना में सहकारिता :—अखिल भारतीय ग्राम्य-साख सर्वेक्षण समिति की रिपोर्ट प्रकाशित होने से पहले ही प्रथम पंच-वर्षीय योजना प्रारम्भ हो चुकी थी। अतः इसमें सहकारी साख आन्दोलन को पनपाने के लिए विशेष सुझाव नहीं दिये जा सके। सिर्फ निम्न सुझाव दिये गये :—

(१) सहकारी समितियों को प्रचलित बैंकिंग सिद्धान्तों पर कार्य करना चाहिये और साख-योग्य कृषकों से लेन-देन करना चाहिये।

(२) अनार्थिक कृषकों को भी आन्दोलन का लाभ मिलना चाहिये लेकिन राज्य को इस कार्य की जोखिम में बड़ा भाग लेना चाहिये।

(३) प्राथमिक समितियों की प्रगति के लक्ष्यों के सम्बन्ध में योजना आयोग ने सहकारी योजना समिति (१९४६) की सिफारिशें ही मान लीं जिनमें कहा गया था कि १९५५-५६ तक ५० प्रतिशत गांव व ३० प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या सहकारिता के दायरे में आ जाय।

(४) प्रथम योजना में सहकारी प्रशिक्षण के लिए १० लाख रु० की व्यवस्था की गई।

(५) राज्य सरकारों को राज्य सहकारी बैंकों में अधिक पूंजी लगानी चाहिये।

(६) कृषकों को संस्थाओं द्वारा अधिक साख प्रदान की जाय ताकि योजना के चौथे वर्ष तक १०० करोड़ रु० प्रतिवर्ष ऋण दिया जा सके।

(७) सहकारी समितियों को माध्यम-कालीन ऋण देने चाहिये और इसके लिए रिजर्व बैंक को ५ करोड़ रु० तक राज्य सहकारी बैंकों को उधार देना चाहिये।

(८) भूमि-बन्धक बैंकों को उत्पादन बढ़ाने के लिये विशेष ऋण देना चाहिये।

(९) राज्य सरकारों को केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों के डिबेंचर खरीदने चाहियें ताकि कृषकों को दीर्घकालीन ऋण मिल सकें।

उपर्युक्त सुझावों के अध्ययन से पता चलता है कि योजना आयोग का दृष्टिकोण सहकारी साख के सम्बन्ध में बहुत क्रांतिकारी नहीं था। अ० भा० ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति की महत्वपूर्ण सिफारिशों ने सारी स्थिति में परिवर्तन कर दिया और द्वितीय योजना के कार्य-क्रम उन्हीं पर आधारित थे।

(२) द्वितीय योजना में सहकारिता—द्वितीय योजना में बड़े आकार की समितियाँ स्थापित करने पर जोर दिया गया है। इनकी सदस्यता ५०० रखी गई है और दायित्व ली गई पूँजी का पाँच गुना रखा गया है। प्रत्येक समिति की न्यूनतम शेयर पूँजी १५ हजार रु० होगी और सालाना व्यापार १·५ लाख रु० का होगा। १९६०-६१ तक इस प्रकार की १०,४०० बड़े आकार की समितियाँ स्थापित करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। साख समितियों का विक्री समितियों से भी सम्बन्ध रहेगा। जहाँ तक सम्भव होगा ऋण, बीज व खाद के रूप में दिये जायेंगे।

विभिन्न क्षेत्रों में विकास के लक्ष्य इस प्रकार निर्धारित किये गये—

साख—

बड़े आकार की समितियाँ (संख्या)	....	१०,४००
अल्पकालीन साख	....	१५० करोड़ रु०
मध्यकालीन „	....	५० „ „
दीर्घकालीन „	....	२५ „ „

बिक्री व परिनिर्माण—

प्राथमिक बिक्री समितियाँ	....	१,८००
सहकारी चीनी की फैक्टरियाँ	....	३५
„ कॉटन जिन्स	....	४८
अन्य परिनिर्माण समितियाँ	....	११८

गोदाम व भण्डार—

केन्द्रीय व राज्य निगमों के गोदाम	....	३५०
बिक्री समिति के गोदाम	....	१,५००
बड़े आकार की समितियों के गोदाम	....	४,०००

सहकारी साख समितियों की सदस्यता ६ मिलियन के कुछ कम से १५ मिलियन तक पहुँच जायगी। द्वितीय योजना में विभिन्न सहकारी कार्यक्रमों को सफलीभूत बनाने के लिए निम्न कोष, बोर्ड व निगम स्थापित किये गये है।

रिजर्व बैंक के एक राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घ-कालीन) कोष फरवरी, १९५६ में स्थापित किया है जिसमें प्रारम्भ में १० करोड़ रु० रखे गये हैं और द्वितीय योजना के प्रत्येक वर्ष में ५ करोड़ रु० और जोड़े जायेंगे। राज्य सरकारों को सहकारी साख संस्थाओं में पूँजी लगाने के लिए दीर्घकालीन ऋण इस कोष से मिलेंगे। इस प्रकार राज्य का सहकारिता मे साझा स्थापित हो सकेगा।

सहकारिता का गैर-साख क्षेत्रों में विकास करने के लिए एक राष्ट्रीय सहकारी विकास व गोदाम बोर्ड, १ सितम्बर, १९५६ में स्थापित हुआ है। गोदाम बनाने के लिये एक केन्द्रीय वेयरहाउसिंग निगम व राज्य वेयरहाउसिंग निगम स्थापित किये गये हैं।

इस प्रकार द्वितीय योजना में साख की एकीकृत योजना लागू की गई है। इसकी प्रगति का विवरण अगले अध्याय में दिया गया है।

(३) तृतीय पंचवर्षीय योजना में सहकारिता—नवम्बर, १९५९ में राष्ट्रीय विकास परिषद् ने सहकारी नीति पर एक प्रस्ताव पास किया जिसमें कहा गया कि सहकारी समिति के संगठन का आधार ग्रामीण समुदाय होना चाहिये। गाँव के आर्थिक विकास की जिम्मेदारी ग्रामीण सहकारी समिति व ग्राम पंचायत पर होनी चाहिए। तृतीय योजना के अन्त तक तमाम ग्रामीण परिवार सहकारिता के दायरे में आजाने चाहियें।

तृतीय योजना के सहकारी कार्यक्रम राष्ट्रीय विकास समिति के प्रस्ताव पर आधारित होंगे। इस प्रस्ताव में ग्राम्य-कृषि योजना पर बल दिया गया है। यह योजना सहकारी समिति की सहायता से कार्यान्वित की जायगी। सहकारी समिति का क्षेत्र इतना हो कि निजी सम्पर्क, पारस्परिक नियंत्रण व स्वेच्छा आदि का पालन हो सके। साख व बिक्री में मेल बैठाया जाय। लोगों में बचत की भावना बढ़ाई जाय और सहकारी प्रशिक्षण की प्रगति की जाय। जुलाई, १९५९ में राज्यों के सहकारी मंत्रियों की सलाह पर एक सहकारी साख कमेटी नियुक्त की गई ताकि वह विविध प्रश्नों की जाँच करे और सुझाव दे। इसकी रिपोर्ट जून, १९६० में प्रकाशित हुई है। इनकी सिफारिशों का विवरण अगले अध्याय में किया जायगा। तृतीय योजना के सहकारी कार्य-क्रम इस कमैटी (वैकुण्ठलाल मेहता) की सिफारिशों से प्रभावित होंगे।

सहकारी साख

१९५०-५१ से १९५८-५९ की अवधि में प्राथमिक कृषि समितियों की संख्या १०५,००० से १८३,००० होगई और सदस्य-संख्या ४·४ मिलियन से करीब १२ मिलियन हो चुकी है। द्वितीय योजना के अन्त तक लगभग २ लाख प्राथमिक कृषि समितियाँ स्थापित होने की आशा है और उनकी सदस्य-संख्या १७ मिलियन तक पहुँच जायगी।

सहकारी विकास पर 'वर्किङ्ग ग्रुप' ने तृतीय योजना के अन्त तक प्राप्त करने के लिए निम्न लक्ष्य सुझाये हैं :—[1]

(१) प्राथमिक ग्राम समितियों की संख्या (सेवा समितियाँ)	.... २·५
(२) सदस्यता	.... ४० मिलियन
(३) (क) ग्रामीण जनसंख्या तक विस्तार	.... ५५%
(ख) कृषक जनसंख्या तक विस्तार	.... ७४%
(४) सहकारी समितियों द्वारा दिये जाने वाले ऋण	
(क) अल्पकालीन	.... ४०० करोड़ रु०
(ख) मध्यम-कालीन (बकाया)	.... १६० ,, ,,
(ग) दीर्घकालीन (बकाया)	.... ११५ ,, ,,

1, Draft outline of the Third Five year Plan, P. 164.

इसके अलावा तृतीय योजना में सहकारी बिक्री, परिनिर्माण इकाइयाँ, सहकारी कृषि व प्रशिक्षण का भी विस्तार किया जायगा। इस प्रकार भविष्य में भारत के समाजवादी ढंग के समाज में सहकारी समितियों का सर्वत्र जाल-सा बिछ जायगा। इससे देश के आर्थिक विकास में मदद मिलेगी।

प्रश्न

University of Rajasthan, B. A.

(1) What are the various types of co-operative Societies found in India? Describe briefly the working of a typical co-operative credit Society. (1951, Second part in 1956,)

(2) Write a note on the structure of co-operative movement in India. What measures would you suggest to make the movement more successful? (1953, First part in 1956)

(3) Describe the organisation and functions of land mortgage banks; and estimate their value in the provision of agricultural credit in India. (1954, short notes in 1957, 1958 and Supplementary, 1960).

(4) Discuss the steps taken in recent years to reorganise Rural Credit Co-operation (ग्रमीण साख सहकारिता) in India. (1957)

(5) Write short notes on :—

(c) Liability of Primary Agricultural Co-operative Societies in India (प्राथमिक कृषि साख सहकारी समितियों का दायित्व) (1958)

(a) Multipurpose co-operative Societies (बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ) (1959)

Agra University, B. A. & B. Sc.

(1) Discuss the working of either a multipurpose Co-operative society or a primary credit society. (1955)

(2) भारत में सहकारी समितियाँ किसानों के लिये कहाँ तक लाभप्रद रही हैं? (१९५७)

संदर्भ-ग्रंथ

(1) India 1960, Ch. 22, P. 272-279.
(2) Review of the Co-operative Movement in India, 1956-58, (R. B. I., March, 1960)
(3) All India Rural credit Survey Report, 1954 (General).
(4) Third Five-Year Plan—A Draft outline, P. 161-166.
(5) Report on certain aspects of co-operative movement in India. (Malcolm Darling) 1957.
(6) Currency and Finance report for 1959-60, P. 38-40.

छब्बीसवाँ अध्याय

ग्रामीण साख की एकीकृत योजना

(Integrated Scheme of Rural Credit)

१९५१-५२ में रिजर्व बैंक ने अखिल भारतीय ग्राम साख सर्वेक्षण के लिए एक निर्देशन समिति नियुक्त की जिसके अध्यक्ष श्री ए० डी० गोरवाला थे। इस सर्वेक्षण में देश के विभिन्न भागों में ७५ जिलों के ६०० गाँवों में १,२७,३४३ परिवारों से ग्रामीण साख के आँकड़े इकट्ठे किये गये। सर्वेक्षण के परिणाम तीन ग्रन्थों में प्रकाशित किये गये—(१) सर्वेक्षण रिपोर्ट, (२) सामान्य रिपोर्ट, (३) टैक्नीकल रिपोर्ट। सामान्य रिपोर्ट में ग्रामीण साख प्रदान करने वाली विभिन्न संस्थाओं की जाँच की गई और उनकी कमियाँ वतलाई गई। सर्वेक्षण समिति ने अपनी रिपोर्ट १९५४ में प्रकाशित की।

सामान्य रिपोर्ट के कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष—(१) व्यक्तिगत साख संस्थाओं जैसे महाजन, व्यापारी, मित्र, जमींदार व व्यापारिक बैंकों ने कृषक को लगभग ९३% ऋण प्रदान किया। अकेले महाजनों ने (कृषक व पेशेवर) लगभग ७०% साख की व्यवस्था की। (२) इसके विपरीत सरकार ने ३·३%, व सहकारी समितियों ने ३·१% ऋण दिया। इस प्रकार सहकारी साख समितियों ने कृपक को साख प्रदान करने में बहुत कम सफलता प्राप्त की। (३) ज्यादातर साख की सुविधा वड़े किसानों को मिली और छोटे व मध्यम श्रेणी के किसान भूमि की जमानत पर्याप्त मात्रा में न दे सकने के कारण वहुत कम ऋण पा सके। (४) ज्यादातर ऋण अनुत्पादक कार्यों पर व्यय किये गये। (५) १९५१-५२ में प्रति कृपक-परिवार औसत उधार लगभग २१० रु० थी।

अ० भा० ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति ने राय दी कि ग्रामीण साख की कोई भी योजना सहकारी साख समितियों द्वारा ही कार्यान्वित की जा सकती है। अतः सहकारी साख आन्दोलन के पुनर्संगठन के लिए समिति ने विस्तृत व क्रान्तिकारी सुझाव दिये। रिपोर्ट में सहकारिता की असफलता के कारणों की वैज्ञानिक जाँच की गई है और सुधार के लिए बहुमूल्य सुझाव दिये गये हैं। समिति का कहना है कि वित्तीय व प्रशासनिक दृष्टि से कमजोर सहकारी समितियाँ अपने प्रतिस्पर्द्धी साहूकार के सामने नहीं टिक सकती क्योंकि उसकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ है और उसका कृपक वर्ग के आर्थिक जीवन पर सम्पूर्ण नियंत्रण है। समिति ने इस ओर भी ध्यान दिलाया कि व्यापारिक बैंक अपने शहरी दृष्टिकोण के कारण कृपि में विशेप दिलचस्पी नहीं लेते

जिससे उनको पूँजी से किसान लाभ नहीं उठा पाते। इसलिए सहकारिता आन्दोलन को सुदृढ़ नींव पर खड़ा करने के लिए **समिति ने ग्रामीण साख की एकीकृत योजना की सिफारिश की जिसकी मुख्य बातें नीचे दी जाती हैं :—**

(१) **सहकारी संस्थाओं में राज्य की साझेदारी**—पहले राज्य सहकारी आन्दोलन का निर्देशन-मात्र करता था। सहकारी संस्थाओं को सरकार का सक्रिय वित्तीय सहयोग प्राप्त नहीं था। ऊपरी देख-रेख व हस्तक्षेप के कारण सहकारी आन्दोलन एक सरकारी आन्दोलन बना हुआ था। समिति की योजना के अनुसार सहकारी ढांचे को राज्य की साझेदारी के आधार पर पुनर्गठित करना चाहिए। राज्य की साझेदारी का रूप और अंश अलग-अलग स्तरों पर और अलग-अलग प्रकार की संस्थाओं के साथ अलग अलग होना चाहिए। **शिखर स्तर पर** राज्य का प्रत्यक्ष साझा होना चाहिए और राज्यीय सहकारी बैंकों तथा केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों की पूँजी का यथेष्ट विस्तार किया जाना चाहिए जिसमें राज्य का भाग इनकी शेयर पूँजी के ५१ प्रतिशत से कम नहीं होना चाहिए। **जिला स्तर पर** राज्य की साझेदारी शिखर संस्थाओं द्वारा होनी चाहिए अर्थात् राज्य को इन संस्थाओं को जिला स्तर की संस्थाओं के शेयर खरीदने के लिए रु० देना चाहिए। इसी प्रकार **प्राथमिक स्तर पर** भी राज्य की साझेदारी परोक्ष रूप से होनी चाहिए और शिखर संस्थाओं को जिला स्तर के संगठनों को प्राथमिक सहकारी समितियों के शेयर खरीदने के लिए रु० प्रदान करना चाहिए। परन्तु बिक्री और उत्पादन समितियों में राज्य की साझेदारी प्रयत्क्ष भी हो सकती है। प्राथमिक समितियों की यथेष्ट उन्नति के पश्चात् इनमें राज्य की साझेदारी समाप्त हो जानी चाहिए और ये एक विशुद्ध सहकारी संस्थाएँ बनाई जानी चाहिए। परन्तु केन्द्रीय और शिखर स्तर पर ५१% पूँजी राज्य के हाथ में बनी रहनी चाहिए।

(२) **साख व अन्य आर्थिक क्रियाओं जैसे बिक्री, परिनिर्माण आदि में ताल-मेल बैठाना**—समिति ने सुझाव दिया कि फसल-ऋण-पद्धति (Crop loan system) लागू करने के लिए साख व बिक्री दोनों का एक साथ विकास किया जाना चाहिये। किसान को ऋण देते समय उससे वायदा करवा लिया जाय कि वह अमुक सहकारी बिक्री समिति के मार्फत ही अपनी उपज बेचेगा। इससे ऋण वसूल करने में आसानी रहेगी। इसके अलावा समिति ने सहकारिता को अन्य गैर-साख क्षेत्रों में फैलाने पर भी बल दिया जैसे कृषि, परिनिर्माण (Processing) व उत्पादन आदि; ताकि ज्यादा से ज्यादा आर्थिक क्रियायें सहकारी ढंग पर होने लगें।

(३) **गोदामों व भण्डार-गृहों का जाल बिछाना**—सहकारी साख व बिक्री के कार्यों को सफलीभूत करने के लिए गोदामों की संख्या बढ़ाना ताकि कृषक अपनी उपज इनमें इकट्ठी कर सकें और बाद में उचित कीमतों पर बेच सकें।

आन्दोलन की गुणात्मक प्रगति होना एक कठिन कार्य है। अतः सहकारिता का स्थायी रूप से उत्थान करने के लिए कृषकों में सहकारी समिति स्थापित करने की प्रेरणा अन्दर से उत्पन्न होनी आवश्यक है।

'ग्रामीण साख की एकीकृत योजना' की व्यावहारिक सफलता

सर्वेक्षण समिति की सिफारिशों को व्यवहार में कार्यान्वित किया गया है। अब तक की प्रगति का उल्लेख नीचे किया जाता है—

१९५९-६० में प्राथमिक समितियों की सदस्य-संख्या १२ मिलियन से १५ मिलियन हो जाने की सम्भावना है। विभिन्न सहकारी संस्थाओं द्वारा दिये जाने वाले ऋणों (अल्पकालीन, मध्यमकालीन व दीर्घकालीन) की मात्रा १९५८-५९ के १३१ करोड़ रु० से बढ़ कर १९५९-६० में १५८ करोड़ रु० हो गई।[1]

राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष फरवरी १९५६ मे स्थापित किया गया। रिजर्व बैंक ने शुरू में इसमें १० करोड़ रु० रखे और १९५५-५६ से १९५८-५९ तक के ४ वर्षों में इसमें प्रतिवर्ष ५ करोड़ रु० और रखे। इस प्रकार ३० जून, १९५९ तक इसमें कुल रकम ३० करोड़ रु० हो गई। कोष का उपयोग निम्न विधि के अनुसार किया जा सकेगा :—

(१) राज्य सरकारों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना ताकि वे सहकारी साख संस्थाओं की शेयर पूँजी में हिस्सा ले सकें।

(२) राज्य सहकारी बैंकों को मध्यम-कालीन कृषि ऋण प्रदान करना।

(३) केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों को दीर्घकालीन ऋण देना।

(४) केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों के डिबेंचर खरीदना।

१९५९-६० में रिजर्व बैंक ने इस कोष में से १३ राज्य सरकारों को ४·९४ करोड़ रु० के ऋण स्वीकृत किये जब कि १९५८-५९ में ६·०५ करोड़ रु० ऋण स्वीकृत हुए थे। मार्च, १९६० के अन्त तक कुल १७·९५ करोड़ रु० बकाया थे।[2]

राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष भी फरवरी, १९५६ में ही स्थापित हुआ था। प्रारम्भ में इसमें १ करोड़ रु० रखे गये और बाद में १९५६-५७ से प्रतिवर्ष १ करोड़ रु० और जुड़ते गये और ३० जून, १९५९ तक ४ करोड़ रु० हो गये। अभी तक इस कोष की राशि का प्रयोग करने का कोई अवसर नहीं आया है।

राष्ट्रीय कृषि-विकास व वेयरहाउसिंग बोर्ड १ सितम्बर, १९५६ में बना। यह कृषि उपज (विकास व वेयरहाउसिंग) निगम अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित किया गया जो १ अगस्त, १९५६ से लागू हुआ। बोर्ड के कार्य में भारत सरकार की पूँजी

---

1. Report on Currency and Finance, 1959-60, P. 38.
2. Report on Currency and Finance, 1959-60, P. 39-40.

लगेगी और यह वेयर-हाउसिंग, परिनिर्माण व बिक्री में सहकारी क्रियाओं की प्रगति करेगा। १९५९-६० में इन कार्यों पर बोर्ड के ९ करोड़ रु० व्यय होने का अनुमान है।[1]

एक केन्द्रीय वेयर हाउसिंग निगम १० करोड़ रु० की निर्गमित शेयर पूंजी से स्थापित किया गया है जो बन्दरगाहों व रेलवे जंकशनों पर गोदामों का निर्माण करेगा। राज्य वेयर-हाउसिंग निगम अन्य महत्वपूर्ण केन्द्रों पर भण्डार-गृह बनायेंगे। मार्च, १९६० तक केन्द्रीय वेयर हाउसिंग निगम ने कुल २६ स्थानों पर भण्डारगृह बनाये। जम्मू-काश्मीर को छोड़कर सभी राज्यों में राज्य वेयरहाउसिंग निगम हैं इनमें से १२ ने अब तक १३८ गोदाम या भण्डारगृह स्थापित किये हैं।[2]

रिजर्व बैंक की तरफ से राज्य सहकारी बैंकों को दी जाने वाली वित्तीय सुविधा १९५९-६० में बढ़ी। मौसमी कृषि कार्यों व फसलों की बिक्री के लिए १९ राज्य सहकारी बैंकों को १९५९-६० में ९०·०६ करोड़ रु० रिजर्व बैंक से स्वीकृति हुए।

१९५९-६० में मध्यम-कालीन ऋण ४·९९ करोड़ रु० का स्वीकृत हुआ।

१९५९-६० में सौराष्ट्र, आन्ध्र, मद्रास व मैसूर के ४ केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों ने ग्रामीण डिबेंचर (Rural debentures) निर्गमित किये जिनकी राशि ९८·२५ लाख रु० थी। जनता ने ४१·९२ लाख रु० (४३%) के डिबेंचर खरीदे और रिजर्व बैंक ने ४७·१० लाख रु० (४७·९%) के खरीदे। इसके अतिरिक्त ४ केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों के साधारण डिबेंचर जो ३ करोड़ रु० के थे, जनता द्वारा ले लिये गये।

रिजर्व बैंक ने राज्य सहकारी बैंकों को गैर-कृषि कार्यों के लिए भी अल्प-कालीन ऋण दिये। १९५९-६० में हाथ-कर्घा जुलाहों की समितियों को ऋण देने के लिए रिजर्व बैंक ने १२ राज्य सहकारी बैंकों को २·३३ करोड़ रु० का ऋण दिया। यह बैंक दर से १½% कम दर पर दिया गया।

स्टेट बैंक ऑव इन्डिया १ जुलाई, १९५५ को स्थापित किया गया था। प्रथम पाँच वर्षों में इसका ४०० नई शाखाएँ खोलने का लक्ष्य था। १७ दिसम्बर, १९५९ तक स्टेट बैंक ने ३५९ शाखाएँ खोली थीं। जून १९६० तक इसने ४०० शाखाएँ खोलने के लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है।[3] स्टेट बैंक विशेपतया बिक्री, परिनिर्माण (Processing) व भण्डार गृह-निर्माण जैसे कार्यक्रमों के लिए वित्तीय साधन सुलभ करता है।

पिछले वर्षों में सहकारी संस्थाओं के लिए आवश्यक कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी काफी बढ़ गई है। अखिल भारतीय सहकारी ट्रेनिंग कालेज, पूना में सहकारी विभागों के उच्चाधिकारियों को शिक्षा दी जाती है। मध्यम श्रेणी के कर्मचारियों

1. Report on Currency and Finance, 1959-60, P. 40.
2. Report on Currency and Finance, 1959-60, P. 40.
3. Report on Currency and Finance, 1959-60, P. 4.

के लिए पाँच प्रादेशिक प्रशिक्षण केन्द्र हैं। सामुदायिक विकास खण्डों में काम करनेवाले सहकारी अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए आठ संस्थाएँ चल रही हैं। इसके अतिरिक्त सहकारी बिक्री के विशेष अध्ययन के लिए पाँच प्रादेशिक केन्द्रों में व्यवस्था है। निम्न सहकारी अधिकारियों का प्रशिक्षण हरेक राज्य में ट्रेनिंग स्कूलों में होता है।

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना की अवधि में १०,४०० बड़े आकार की सहकारी समितियाँ स्थापित करने का लक्ष्य रखा गया था। १९५७-५८ तक लगभग ४,४७० बड़े आकार की सहकारी समितियाँ स्थापित की जा चुकी थीं। इनमें से कुछ नई संस्थाएँ बनी थीं और कुछ छोटी समितियों के एकीकरण से बनी थीं। कृषकों को सहकारी वित्त १९५१-५२ में २४·२१ करोड़ रु० से १९५७-१९५८ में ६७·३३ करोड़ रु० तक मिला। बड़े आकार की समितियों को स्थापित करने का लक्ष्य द्वितीय योजना के अन्त तक अवश्य प्राप्त कर लिया जाता लेकिन बीच में ही नीति में परिवर्तन कर देने से यह कार्यक्रम रोक दिया गया।[1]

अप्रैल १९५९ में राष्ट्रीय विकास समिति ने छोटे आकार की सहकारी समितियों की स्थापना का समर्थन किया है। लेकिन पिछड़े हुए क्षेत्रों के लिए कई गाँवों के पीछे एक समिति का प्रयोग सुझाया गया है। इस प्रकार 'ग्रामीण साख की एकीकृत योजना' के अन्तर्गत स्थापित की जानी वाली बड़े आकार की समितियों की स्थापना का कार्य शिथिल पड़ गया है।

१९५६-५७ के ग्रामीण साख के पुनः सर्वेक्षण (Follow-up Survey) ने बड़े आकार की सहकारी समितियों की सफलता बतलाई है लेकिन राज्य की साझेदारी के सम्बन्ध में बड़ी आशाएँ नहीं हैं। शेयर पूँजी में राज्य की साझेदारी के सम्बन्ध में स्थिति यह है कि कई जिलों में निर्धारित लक्ष्य पूरे नहीं हुए और दिये हुए कोषों का सदुपयोग नहीं हो पाया। प्रबन्ध में राज्य की साझेदारी के सम्बन्ध में बहुत कम प्रयत्न किये गये।[2]

सामुदायिक विकास खंडों में सहकारिता की प्रगति पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। सहकारी समिति के आकार व राज्य की साझेदारी के सम्बन्ध में हमारा निश्चित मत है कि भारत की विशेष परिस्थितियों में राज्य की साझेदारी अत्यन्त आवश्यक है लेकिन इसका अर्थ अनुचित हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। समिति के आकार के विषय में भी व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। यदि गाँव छोटे हों तो एक समिति ३-४ गाँवों को भी शामिल कर सकती है। लेकिन सहकारिता

1. Integrated Credit—Some Recent Developments, article by M. B. Desai in Indian Eco. Journal, Oct. 1959, P. 158.

2. Indian Economy—Its Nature and Problems—Alak Ghosh (4th Edition, Aug. 1960), P. 200-201.

की भावना को मजबूत करने के लिए बहुत बड़ी समिति का निर्माण ठीक नहीं होगा। अतः सरकारी सहायता प्राप्त मध्यम-आकार की सहकारी समितियाँ भारत के लिए ज्यादा उपयोगी सिद्ध होंगी और देश के आर्थिक विकास में मदद देंगी। हमको व्यर्थ के विवाद में न पड़ कर सहकारिता आन्दोलन को साख, बिक्री, परिनिर्माण, कृषि, उत्पादन आदि दिशाओं में आगे बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। सहकारिता ही हमारी आशाओं का केन्द्र है।

पिछले वर्षों में सहकारिता आन्दोलन के विविध पहलुओं पर काफी चर्चा हुई है और विभिन्न मत प्रगट किये गये हैं। सर माल्कम डार्लिंग ने १९५७ में भारत सरकार के कहने पर 'भारत में सहकारिता आन्दोलन के कुछ पहलुओं पर रिपोर्ट' प्रस्तुत की। हाल ही में जून १९६० में श्री वैकुण्ठलाल मेहता की अध्यक्षता में नियुक्त समिति ने अपनी रिपोर्ट दी है जिसमें सहकारिता साख आन्दोलन से सम्बन्धित विविध प्रश्नों पर सुझाव दिये गये हैं। इन रिपोर्टों के सुझावों के आधार पर ही भावी प्रगति के लक्ष्य व नीति निर्धारित होंगे।

सर माल्कम डार्लिंग के सहकारिता आन्दोलन के कुछ पहलुओं पर सुझाव

सर माल्कम डार्लिंग ने १९५७ में द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के कार्यक्रमों की रोशनी में सहकारिता के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों की समीक्षा की। सर डार्लिंग को भारत सरकार ने कोलम्बो योजना के टैक्नीकल सहकारिता कार्य-क्रम के अन्तर्गत योजना आयोग के सलाहकार के रूप में आमंत्रित किया था। इन्होंने अपनी रिपोर्ट में निम्न बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया है :—

(१) सहकारिता के विकास की प्रस्तावित रफ्तार बहुत तेज है। बम्बई, आंध्र, मद्रास व पंजाब में भी बहुत अधिक उन्नति के कार्य-क्रम रखे गये हैं। इससे आन्दोलन को खतरा हो सकता है। लक्ष्य-निर्धारण साधन नहीं रह कर साध्य बन गया है।

(२) आन्दोलन ने पिछले कुछ वर्षों में विशेष प्रगति नहीं की है। केन्द्रीय संगठनों व प्राथमिक समितियों के निजी कोष व जमा का अनुपात कार्यशील पूँजी में अब भी बहुत कम है। अवधि बीत जाने वाली बकाया (Overdues) बढ़ती जा रही है। १९५४-५५ में ९ बड़े राज्यों में से ५ में लगभग २५ प्रतिशत समितियाँ घाटे में चल रही थी।[1] वसूली में सुधार नहीं हुआ है।

(३) विभिन्न राज्यों में सहकारिता आन्दोलन की दृष्टि से काफी प्रादेशिक अन्तर विद्यमान है। द्वितीय योजना में समस्त भारत में समान प्रगति का अनुमान सही नहीं कहा जा सकता है।

(४) बड़े आकार की समितियाँ रैफिसिन नमूने के सर्वथा विपरीत हैं। इनमें पार-

1. Reports on certain Aspects of Co-operative Movement in India 1957. P. 5.

स्परिक सहायता व ज्ञान का अभाव पाया जाता है। 'सीमित दायित्व' अच्छे कृपकों को आकर्पित करेगा लेकिन गरीब श्रेणी के किसानों के लिए ठीक नहीं होगा।

(५) सर डार्लिंग ने छोटी समिति के दोपों को भी स्वीकार किया है।

(६) 'बचत' पर अभी तक कम जोर दिया गया है।

सुझाव—(१) तीन प्रकार की बड़े आकार की समितियों के साथ परीक्षण किया जाना चाहिए—(क) सरकार की शेयरों व सदस्यों में साझेदारी;

(ख) सरकारी शेयरों में साझेदारी लेकिन सदस्यता में नहीं;

(ग) सरकार की न शेयरों में और न सदस्यता में साझेदारी।

इन तीनों प्रकार की समितियों के परिणामों को ३-४ वर्षों बाद देखा जाय और भावी नीति निर्धारित की जाय।

(२) छोटी समितियों को भी बड़ी समितियों के साथ-साथ ज्यादा टिकाऊ व सुदृढ़ (Viable) बनाया जाय। इनकी सदस्य-संख्या बढ़ती जाय, निष्क्रिय समितियों को पुनः जीवित किया जाय, बेकार समितियों को भंग किया जाय, बहुत छोटी समितियों का एकीकरण कर दिया जाय और प्रत्येक समिति को एक प्रशिक्षण मन्त्री दिया जाय।

(३) साख के साथ 'बचत' पर भी विशेष जोर दिया जाना चाहिये ताकि देहातों में बढ़ती हुई आमदनी में से कुछ रकम समितियों में जमा के रूपमें आकर्पित की जा सके।

(४) सर डार्लिंग ने सहकारी आन्दोलन में सरकारी सहायता को उचित नहीं बतलाया है। उनका कहना है कि इससे सच्ची सहकारिता का जन्म नहीं हो सकता है। सरकारी सहायता से आगे जाकर राजनीतिक हस्तक्षेप व दबाव बढ़ जाते हैं। अत्यधिक सहकारी सहायता से सहकारी समिति की प्रगति को जानना कठिन हो जाता है। इससे प्रबन्ध की अकुशलता व बचत की कमी आ जाती है। सरकार पर भी एक स्थायी आर्थिक भार आ जाता है।

(५) सरकारी हस्तक्षेप को कम करने के लिये सहकारी बैंकों के बोर्डों में सरकारी प्रतिनिधि ३ से ज्यादा नहीं होने चाहियें। इनको सहकारिता के सैद्धान्तिक व व्यावहारिक पक्षों का ज्ञान होना चाहिये।

(६) साधारणतया स्टेट बैंक का एक प्रतिनिधि सरकार द्वारा सहकारी बैंक के बोर्ड में मनोनीत नहीं किया जाय।

(७) सर माल्कम डार्लिंग ने रजिस्ट्रार की नियुक्ति, स्थानांतरण व अन्य कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिये भी आवश्यक सुझाव दिये हैं। बड़ी समितियों के सदस्यों को भी शिक्षित किया जाय। राष्ट्रीय व विस्तार-सेवा केन्द्रों में भी सहकारी विस्तार अधिकारी के प्रशिक्षण पर ध्यान दिया जाय और उसे व्यावहारिक अनुभव कराया जाय।

सर माल्कम डार्लिङ्ग की रिपोर्ट के सुझावों से यह स्पष्ट हो गया है कि देश के विभिन्न भागों में सहकारिता की प्रगति के लिए आन्दोलन को सही दिशा में ले जाना होगा। साख व बचत (Credit and Thrift) दोनों पर समान रूप से बल देना

होगा। सरकारी सहायता पर कम से कम निर्भर रहना होगा। कर्मचारियों को व्यावहारिक ज्ञान व प्रशिक्षण की सुविधा देनी होगी। छोटी समितियों को पुनर्जीवित व पुनःसंगठित करना होगा। सर डार्लिङ्ग के सुझाव बहुत महत्वपूर्ण है और इनको अपनाने से सहकारिता आन्दोलन को ज्यादा सफलता मिलेगी।

सहकारी साख पर वैकुण्ठलाल मेहता समिति की सिफारिशें

भारत सरकार ने कृषकों के लिए सहकारी साख के प्रश्न पर सुझाव देने के लिए मेहता कमेटी नियुक्त की जिसने अपनी रिपोर्ट जून, १९६० में प्रस्तुत की। इसकी प्रमुख सिफारिशें नीचे दी जाती हैं :—

(१) **सहकारी साख की सुविधा काश्तकार सदस्यों (Tenant members) को भी उनकी चुकाने की क्षमता के आधार पर व पर्याप्त गवाहों (Sureties) के मिलने पर प्रदान की जाय। गवाहों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे भूमि के मालिक ही हों। अभी तक साख की सुविधाएं उन लोगों को उपलब्ध थीं जो या तो स्वयं भूमि के मालिक थे अथवा ऐसे लोगों की जमानत दिलवा सकते थे जिनके पास जमीनें होतीं।** मेहता समिति ने काश्तकारों को साख की सुविधा प्रदान करने का सुझाव देकर कृषि का उत्पादन बढ़ाने का रास्ता खोल दिया है। यह एक महत्वपूर्ण सुझाव है।

(२) मेहता कमेटी का दूसरा सुझाव यह है कि **प्राथमिक साख समिति की शेयर पूँजी में राज्य की साझेदारी १००० से १०००० रु० तक के हिस्से की होनी चाहिये।**

(३) रिजर्व बैंक, बैंकों द्वारा दिये जानेवाले अल्प-कालीन व मध्यम-कालीन ऋणों के विस्तार की शर्तों को उदार बनावें।

(४) सभी प्रकार की साख ग्रामीण सहकारी समिति के मार्फत प्रदान की जावे।

(५) माल्कम डार्लिङ्ग की तरह मेहता समिति ने भी इस बात पर बल दिया है कि **विशाल संख्या में निष्प्राण पड़ी हुई प्राथमिक सहकारी समितियों में सुधार, संगठन व पुनर्जीवन के कार्यक्रम अपनाये जाँय और सुदृढ़ सहकारी समितियाँ स्थापित की जाँय।** अत्यधिक सदस्यता व अत्यधिक विस्तृत क्षेत्र अवांछनीय हैं। सदस्यों के बहुमत ने सलाह दी है कि एक समिति के **अन्तर्गत ६०० परिवार अथवा ३००० व्यक्तियों से अधिक न हों।**

समिति ने लोचदार दृष्टिकोण अपनाने की सलाह दी है।

(६) समिति ने ऋण के प्रयोग की देख-भाल करने की भी सलाह दी है ताकि उत्पादन कार्यों में लगाये जाने वाले ऋण उपभोग में न लगा दिये जाँय। इसके लिए **बीज, खाद व औजारों के रूप में ऋण देने का सुझाव दिया गया है।**

(७) एक सदस्य अपनी परिदत्त पूँजी के अधिक से अधिक ८ से १० गुने तक ऋण प्राप्त करने का अधिकारी होना चाहिये।

(८) ५०० रु० से कम के मध्यम-कालीन ऋणों के लिए किसी आधि जमानत (Mortgage security) की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये।

(९) ब्याज की दर बढ़ाकर जमा की रकम आकर्षित की जानी चाहिये।

(१०) भूमि-बन्धक बैंकों के डिबेंचर काफी मात्रा में जीवन-बीमा निगम द्वारा खरीदे जाँय।

(११) साख व बिक्री का सम्बन्ध गहरा बनाया जाय।

(१२) १,२०० रु० की आर्थिक सहायता (Subsidy) पाँच वर्षों तक दी जानी चाहिये।

मेहता समिति के सुझाव व्यावहारिक हैं और इनको अपनाने से तृतीय योजना की अवधि में सहकारी साख आन्दोलन काफी आगे बढ़ सकेगा। समिति की सिफारिशें पूर्णतया नयी नहीं हैं। इनमें से कई बातों पर पहले भी बल दिया जा चुका है लेकिन सहकारी समिति के काश्तकार सदस्यों के लिए ऋण की सुविधा प्रदान करने का सुझाव मेहता समिति का महत्वपूर्ण सुझाव है। इसको अपनाने से कृषि का उत्पादन बढ़ेगा। भारत में साख की माँग निरन्तर बढ़ती जा रही है इसलिए साख की शर्तों को उदार बनाना उचित होगा। लेकिन साथ में साख के प्रयोग पर निगरानी रखनी होगी अन्यथा वसूली में कठिनाई हो जायगी। अतः तृतीय योजना में हमको साख व बिक्री में समन्वय स्थापित करना होगा और साख के उपयोग पर भी ध्यान देना होगा। ऐसा करने पर ही साख की सहायता से कृषि-उत्पादन में वृद्धि हो सकेगी, जो हमारी पंच-वर्षीय योजनाओं की सफलता के लिए परमावश्यक है।

(परीक्षा के प्रश्नों व संदर्भ ग्रन्थों के लिए पिछला अध्याय देखिए)

खण्ड ५

भारत की औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था

(अध्याय २७ से अध्याय ३१ तक)

सत्ताईसवाँ अध्याय

कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योग

बड़े और छोटे पैमाने के उद्योग :—उद्योग साधारणतया दो तरह के होते हैं, पहला बड़े पैमाने के उद्योग और दूसरा छोटे पैमाने के उद्योग। बड़े पैमाने के उद्योगों में उत्पादन के विभिन्न साधन—भूमि, श्रम, पूँजी, प्रवन्ध एवं उद्यम बड़ी मात्रा में लगाये जाते हैं। लोहा एवं इस्पात उद्योग, मोटर बनाना, हवाई जहाज बनाना, खान खोदना, सूती कपड़े की मिल आदि बड़े पैमाने के उद्योगों के उदाहरण है। लेकिन जब समस्त उत्पादन के साधन थोड़ी मात्रा में लगाये जाते हैं तब हम उसे छोटे पैमाने के उद्योग कहेंगे। इस श्रेणी में थोड़ी पूँजी व श्रम से चलाये जाने वाले बहुत से उद्योग आते हैं जैसे बनियान, ताले, बटन, बर्तन आदि बनाना, हाथ-कर्घा उद्योग आदि।

कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योग—भारतीय परिस्थिति में विशेषतया कुटीर एवं छोटे पैमाने के उद्योगों में भी अन्तर करना अनिवार्य हो जाता है। वैसे कुटीर उद्योगों में अल्प मात्रा में पूँजी व श्रम का प्रयोग होता है। इसलिये ये छोटे पैमाने के उद्योग कहे जा सकते हैं। लेकिन व्यवहार में कुटीर एवं छोटे पैमाने के उद्योगों में अन्तर किया जाना चाहिए। टोकरी या चटाई बनाना और बनियान बनाना दोनों में थोड़ी मात्रा में श्रम व पूँजी लगाई जाती है लेकिन पहले को हम कुटीर उद्योग कहेंगे और दूसरे को छोटे पैमाने के उद्योग के नाम से सम्बोधित करेंगे। अब प्रश्न यह होता है कि कुटीर एवं छोटे पैमाने के उद्योगों में किस आधार पर अन्तर किया जाय। इस संबन्ध में कई आधार सुझाये गये हैं (१) पहला आधार मशीन के उद्योग का लिया गया है। यह कहा गया है कि कुटीर उद्योग वे उद्योग हैं जिनमें मशीनों का उपयोग नहीं होता है जब कि छोटे पैमाने के उद्योगों में यन्त्रों व मशीनों का उपयोग होता है। लेकिन जापान, स्वीट्जरलैंड आदि देशों में कुटीर उद्योग मशीनों के उपयोग से चलते हैं। इसलिए यह आधार सही नहीं माना जा सकता है। (२) इसी प्रकार शक्ति का उपयोग भी आधार बनने लायक नहीं है क्योंकि विद्युत शक्ति के प्रसार से कुटीर उद्योग भी इसका उपयोग करने लग गये हैं। भविष्य में कुटीर उद्योग ज्यादा मात्रा में जल-विद्युत शक्ति का प्रयोग करेंगे। (३) यह कहना भी सही नहीं होगा कि कुटीर उद्योग वे उद्योग हैं जो गाँवों में चलाये जाते हैं और कृषि के सहायक होते हैं क्योंकि ये शहरों में भी चलाये जाते हैं। (४) कुछ लोग इन दोनों में आकार के आधार पर अन्तर करते हैं। इनके अनुसार कुटीर उद्योग छोटे पैमाने के उद्योगों की तुलना में

छोटे होते हैं। व्यवहार में प्रायः यह परिस्थिति मिलती है लेकिन ऐसा कभी कभी नहीं भी हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि कुटीर एवं छोटे पैमाने के उद्योगों में अन्तर करना कठिन है (५) कुछ लेखक इस बात पर भी बल देते हैं कि कुटीर उद्योग परम्परागत पद्धति या प्रणाली पर चलाये जाते हैं जब कि छोटे उद्योग आधुनिक प्रणाली पर चलाये जाते हैं। लेकिन इस कथन में भी अब विशेष सच्चाई नहीं रहेगी क्योंकि कुटीर उद्योगों की प्रणालियों में भी परिवर्तन किया जा रहा है और भविष्य में इनको नवीन ढंग से चलाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि कुटीर उद्योगों में परम्परा एवं परिपाटी का विशेष प्रभाव रहता है क्योंकि इनमें कारीगरों द्वारा अपनी अपनी प्रतिभा पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है और भावी संतान पुरानी पद्धतियों को सादर अपनाये रहती है। (६) १९४९-५० के राजकोषीय आयोग (Fiscal Commission)[1] ने इस कठिनाई का सर्वोत्तम हल सुझाया है। इसके अनुसार कुटीर उद्योग वे उद्योग हैं जो पूर्णतः या मुख्यतः परिवार के सदस्यों की सहायता से चलाये जाते हैं। इसके विपरीत छोटे पैमाने के उद्योग १० से ५० तक, मजदूरी पर रखे हुए श्रमिकों की सहायता से चलाते हैं।

वर्गीकरण

राजकोषीय आयोग[2] ने ही कुटीर एवं छोटे पैमाने के उद्योगों का वर्गीकरण किया है। वर्गीकरण के दो आधार माने गये है, पहला ग्रामीण एवं शहरी और दूसरा कुछ समय तक रोजगार देने वाले एवं पूरे समय के लिए रोजगार देने वाले। निम्न तालिका में यह वर्गीकरण विस्तार से प्रस्तुत किया गया है :—
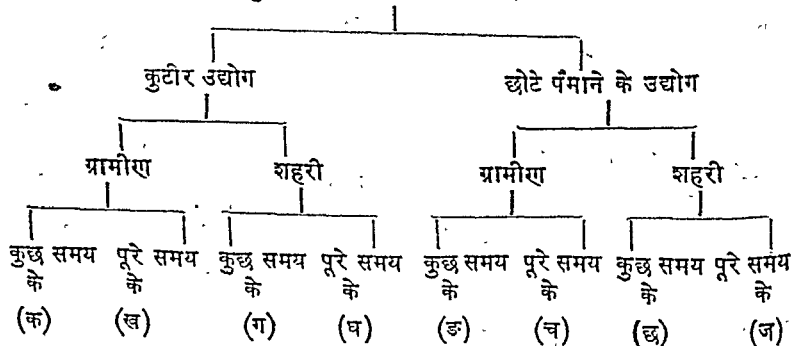
इस प्रकार कुटीर एवं छोटे पैमाने के उद्योगों में कुल आठ श्रेणियाँ हो जाती हैं।

(1) Fiscal Commission Report, pp. 98-99.
(2) Fiscal Commission Report p. 104.

अध्ययन की दृष्टि से यह वर्गीकरण बहुत लाभदायक है। प्रत्येक श्रेणी का वर्णन नीचे दिया जाता है :—

(क) कुछ समय के ग्रामीण कुटीर उद्योग—इस श्रेणी में वे उद्योग आते हैं जो कृषि के पूरक होते हैं और किसानों द्वारा अवकाश के समय चलाये जा सकते हैं—जैसे टोकरियाँ बनाना, चटाई बनाना, सूत कातना, बीड़ी बाँधना, रस्सी बँटना आदि। इन उद्योगों से किसान की आय बढ़ती है और फसल बिगड़ जाने पर भी इनके सहारे वह थोड़ी आमदनी प्राप्त करता रहता है। इन उद्योगों के अभाव में किसान अपने समय का सदुपयोग नहीं कर सकेगा। अतः भारतीय कृषि अर्थ-व्यवस्था में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

(ख) पूरे समय के ग्रामीण कुटीर उद्योग—इस श्रेणी में गाँव की हस्तकलाएँ शामिल हैं जिनमें सालभर काम मिल जाता है—जैसे कुम्हार, लोहार, खाती, तेली, बुनकर, चमार इत्यादि के काम। भारत के प्रत्येक ग्राम में इस तरह के उद्योग पाये जाते हैं। ये स्थानीय माँग की पूर्ति करते हैं।

(ग व घ) कुछ समय व पूरे समय के शहरी उद्योग—इस वर्ग में शहरों की हस्तकलाएँ शामिल है जैसे पीतल व ताँबे के वर्तन बनाना, हाथीदांत का काम, गोटे किनारी का काम, रंगाई व छपाई, कपड़ा बुनना, लकड़ी के खिलौने बनाना, पत्थर की मूर्तियाँ तैयार करना एवं शहरों में चलने वाले ऐसे अनेकों उद्योग इसी श्रेणी में आते हैं। ये काम किसी दूसरे धन्धे के साथ कुछ समय के लिए किये जा सकते हैं या पूरे समय के लिए भी किये जाते हैं।

(ङ) छोटे पैमाने के कुछ समय के ग्रामीण उद्योग-इस वर्ग में वे ग्रामीण उद्योग आते हैं जो मौसमी आधार पर चलाये जाते हैं जैसे गुड़-शक्कर बनाना, चावल साफ करना आदि।

(च) पूरे समय के छोटे पैमाने के ग्रामीण उद्योग—ऐसे उद्योगों का आजकल बहुत अभाव है और इनके विकास की बहुत आवश्यकता है। विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करने में ऐसे उद्योगों की आवश्यकता है। भारत में बढ़ती हुई जनसंख्या को काम में लगाने एवं ग्रामों से शहरों की तरफ जनसंख्या के प्रवाह को रोकने के लिए इन उद्योगों का स्थापित होना बहुत लाभदायक सिद्ध होगा।

(छ) थोड़े समय के शहरी छोटे पैमाने के उद्योग—इस श्रेणी में ऐसे काम शामिल हैं जो शहरों में मौसमी आधार पर किये जाते है—जैसे ईंटें बनाना, मिट्टी के वर्तन बनाना इत्यादि।

(ज) पूरे समय के शहरी छोटे पैमाने के उद्योग—ये उद्योग सालभर तक शहरों में चलते रहते हैं—जैसे मोजे-बनियानों के कारखाने, छापेखाने, छोटी-छोटी मशीनें बनाने के कारखाने इत्यादि।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के गाँवों में कुटीर एवं छोटे पैमाने के उद्योगों का तेजी से विकास करना आवश्यक है। अभी तक गाँवों में केवल कुटीर उद्योगों को ही पनपाना उचित समझा गया था, लेकिन अब समय आ गया है जब कि भारत के गाँवों में छोटे पैमाने के उद्योगों का विस्तार किया जाना चाहिए। तभी गाँवों की अर्थ-व्यवस्था सुदृढ़ हो सकेगी।

भारत की अर्थ-व्यवस्था में कुटीर व छोटे पैमाने के उद्योगों का महत्व

प्राचीन काल से ही भारत की अर्थ-व्यवस्था में कुटीर व छोटे पैमाने के उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यहाँ के वस्त्रों की माँग विदेशों में ही बहुत होती थी। भारत अपने कारीगरों की प्रतिभा व कला के लिए दूर दूर तक विख्यात था। रोमन इतिहासकार प्लिनी (Plini) का कहना है कि भारत से कीमती वस्त्र आयात करने से रोम साम्राज्य सोने व चाँदी से खाली हो रहा था। यह स्थिति कई शताब्दियों तक चलती रही; किन्तु भारत में अँग्रेजी राज्य के दिनों में हमारे कुटीर उद्योगों की बहुत अवनति हुई। हम इस अवनति के कारणों पर आगे चल कर प्रकाश डालेंगे। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि अवनति के बावजूद आज भी भारतीय अर्थ-व्यवस्था में इनका स्थान कायम है और योजना में भी इनका महत्व स्वीकार किया गया है। भारत के आर्थिक जीवन में इनका इतना महत्व होने के निम्न कारण हैं :—

(१) **रोजगार**—कुटीर व छोटे पैमाने के उद्योगों में लगभग २ करोड़ से ऊपर व्यक्ति लगे हुए है। अकेले हाथ-करघा उद्योग में लगभग ५० लाख व्यक्ति लगे हुए हैं जो बड़े कारखानों, खानों एवं बागानों में लगे हुए कुल श्रमिकों की संख्या से ज्यादा है। इस प्रकार वर्तमान समय में रोजगार की दृष्टि से इनका स्थान ऊँचा है। भविष्य में कृषि के वैज्ञानीकरण से अतिरिक्त जनसंख्या को काम में लगाने का प्रश्न उत्पन्न होगा। वैसे भी गाँवों व शहरों में निरन्तर जनसंख्या बढ़ती जा रही है। अतः बढ़ती हुई जनसंख्या को रोजगार देने के लिए हमारे पास कुटीर एवं छोटे पैमाने के उद्योगों के अलावा अन्य साधनों का अभाव है। बड़े उद्योगों में भी रोजगार बढ़ेगा लेकिन बेरोजगारी को दूर करने का कार्य छोटे उद्योगों से ही सम्भव हो सकेगा। कुटीर एवं छोटे उद्योग अर्द्ध-रोजगार की स्थिति को भी सुधारने में मदद देंगे। किसान अवकाश के समय कुटीर उद्योगों में काम करके अपनी आय बढ़ा सकते है।

(२) **उत्पादन का मूल्य**—[1]केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन द्वारा प्रकाशित सूचना के अनुसार १९५६-५७ में छोटे उद्योगों द्वारा उत्पन्न माल की कीमत ९७० करोड़ रु० थी जब कि फैक्टरी उद्योगों के माल की कीमत केवल ८९० करोड़ रु० थी। इस प्रकार कुटीर व छोटे उद्योगों के उत्पादन का हमारी राष्ट्रीय आय बढ़ाने में भी बड़ा

1. Final Report of the National Income Committee (1954), p. 23.

स्थान है। इसलिए इनके विकास पर ध्यान दिया जाना चाहिए। विशेपतया उपभोग्य पदार्थ बनाने वाले क्षेत्रों में इन पर ध्यान दिया जा सकता है।

(३) **कम पूँजी व अधिक श्रम की स्थिति में उपयुक्त**—भारत में पूँजी का अभाव है जब कि श्रम-शक्ति का बाहुल्य है। इसलिए हमें ऐसी उत्पादन-विधियाँ अपनानी पड़ेंगी जिनमें पूँजी कम लगे और श्रमिक ज्यादा खपाये जा सकें। बड़े पैमाने के उद्योगों में पूँजी ज्यादा लगती है और रोजगार कम लोगों को मिलता है। कुटीर उद्योगों में कम पूँजी से ही काम चल जाता है और ज्यादा लोगों को काम मिलता है। यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि छोटे पैमाने के उद्योगों में मशीनों व शक्ति पर व्यय करने के लिए पूँजी की आवश्यकता कुटीर उद्योगों की तुलना में अवश्य ज्यादा होगी। अतः भारत में प्रत्येक गाँव में घरेलू या कुटीर उद्योगों का विकास किया जाय तो स्त्री-श्रम का भी उपयोग हो सकेगा और देश की सम्पत्ति बढ़ेगी।

(४) **आर्थिक शक्ति का समान वितरण**—पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में बड़े पैमाने के उद्योगों से धन, सम्पत्ति व आर्थिक शक्ति कुछ हाथों में केन्द्रित हो जाती है और आय की असमानता को जन्म मिलता है। कुटीर व छोटे उद्योगों से समानता का वातावरण तैयार होता है। इनसे आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण होता है। आर्थिक शोषण की सम्भावनायें कम हो जाती हैं। साथ ही गाँव व शहर की खाई कम हो जाती है। गाँवों में उद्योग पनपने से उनकी आर्थिक स्थिति सुधरती है और अन्त में गाँव अपने प्रयत्नों से ही रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करने में सफल होते हैं। भारत ने समाजवादी ढंग का समाज स्थापित करने का लक्ष्य स्वीकार किया है। ऐसे समाज की रचना में छोटे उद्योगों का स्थान स्वीकार करना होगा।

(५) **रोजगार की स्थिरता एवं सुरक्षा**—बड़े उद्योगों में माल की माँग घट जाने पर भीषण बेरोजगारी फैलती है। लेकिन कुटीर एवं छोटे पैमाने के उद्योगों में इतनी तीव्र मंदी नहीं आती है और कारीगर देश के विभिन्न भागों में फैले होने के कारण किसी भी संकट का साहस के साथ मुकाबला कर सकते हैं। इसलिए इनमें रोजगार का स्थायित्व पाया जाता है।

(६) **सरल कार्य-प्रणाली**—कुटीर उद्योगों की स्थापना व कार्य-प्रणाली अत्यन्त सरल होती है। इनके लिए उच्च कोटि के प्राविधिक विशेषज्ञों, मैनेजर, विशाल भवन, विस्तृत हिसाब-किताब एवं ट्रेनिंग आदि के इन्तजाम नहीं रखने पड़ते हैं जो बड़े पैमाने के उत्पादन में आवश्यक हैं। इस प्रकार उत्पादक कई कठिनाइयों से बच जाते हैं और सरलतापूर्वक अपना कार्य चला सकते हैं।

(७) **परम्परागत प्रतिभा व कला की रक्षा**—इनके विकास से ही हम वंश-परम्परागत चतुराई व प्रणालियाँ बनाये रख सकते हैं। भारत के विभिन्न भागों में कुछ न कुछ विशेष कलापूर्ण उत्पादन के कार्य प्रचलित मिलेंगे। उनके विकास की

अत्यन्त आवश्यकता है तभी राष्ट्रीय कला, चतुराई व प्रतिभा की रक्षा हो सकेगी वरना वह नष्ट हो जायगी।

(८) सैनिक महत्व—यदि हमारी औद्योगिक शक्ति कुछ ही शहरों में केन्द्रित होती है तो शत्रु-राष्ट्र हमें कभी भी नुकसान पहुँचा सकता है। लेकिन यदि छोटे उद्योगों के रूप में यह शक्ति सारे देश में फैली हुई है तो हम आसानी से ही औद्योगिक दृष्टि से कमजोर नहीं हो सकेंगे। अतः छोटे उद्योगों का सुरक्षा की दृष्टि से भी महत्व है।

(९) औद्योगिक समस्याओं में कमी—कुटीर एवं छोटे पैमाने के उत्पादन को प्रोत्साहन देने से हम बहुत सी औद्योगिक समस्याओं से बच सकेंगे। बड़े पैमाने के उत्पादन से औद्योगिक क्षेत्रों में मकानों की समस्या, गंदा वातावरण, तालाबन्दी एवं हड़तालें आदि समस्यायें पैदा हो जाती हैं। छोटे पैमाने के उत्पादन में मालिक-मजदूर का सम्पर्क ज्यादा होता है इसलिए बहुत सी समस्यायें या तो उत्पन्न ही नहीं होती हैं अथवा भीषण रूप धारण नहीं कर पाती हैं। उत्पादन नियमित रूप से होता रहता है और प्रबन्ध आदि में भी सुविधा बनी रहती है। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि बड़े उद्योगों की निजी लागत चाहे कम हो लेकिन सामाजिक लागत अत्यधिक होती है।

(१०) उत्पादन की उत्तम किस्म—कुटीर एवं छोटे पैमाने के उद्योगों में बने हुए माल की लागत चाहे ऊँची हो लेकिन माल की किस्म प्रायः उत्तम, टिकाऊ एवं कलापूर्ण होती है। छोटे उत्पादन में कारीगर अपनी कला दिखाने का अवसर पाते हैं और माल में विविधता लाने का पर्याप्त मौका रहता है। माल की विविध किस्में बनाकर उपभोक्ता को अधिकतम संतोष प्रदान किया जा सकता है। आज यह प्रश्न नहीं रह गया है कि उन उद्योगों की रक्षा की जानी चाहिये या नहीं बल्कि यह प्रश्न है कि इन उद्योगों का किस तरह तेजी से विकास किया जाय ताकि भारत की आर्थिक समृद्धि हो सके।

आधुनिक काल में कुटीर उद्योगों के पतन के कारण प्राचीन काल में भारत की औद्योगिक स्थिति सुदृढ़ थी। भारत अपने कला-कौशल के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध था। मध्य-युग में, भारत औद्योगिक क्षेत्र में संसार का अग्रणी माना जाता था। भारतीय वस्त्रों और कलात्मक वस्तुओं की योरोपीय बाजारों में बड़ी माँग थी। विभिन्न योरोपीय देश भारत से सीधा व्यापार करने के लिये प्रयत्नशील थे। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ तक भारत की स्थिति उत्तम थी। परन्तु अनेक कारणों से भारत के कुटीर और छोटे उद्योगों की भारी अवनति हुई।

इस अवनति के मुख्य कारण निम्नांकित हैं :—

(१) देशी राजदरबारों का लोप—राज-दरबारों में कारीगरों और कलाकारों को विशेष सम्मान प्राप्त था और उनकी वस्तुओं की मांग भी प्रमुखतया ये ही करते थे।

बंगाल के कीमती सूती व देशी वस्त्र ज्यादातर राजघरानों में ही खरीदे जाते थे। लेकिन ब्रिटिश शासन काल में जब इनकी स्थिति गिर गई तो इनके साथ-साथ नगरों के बहुत उद्योगों की अवस्था भी दयनीय होगई।

(२) **विदेशी प्रभाव**—राजा महाराजाओं की जगह अब योरोपीय अफसर आ गये और एक नया शिक्षित-वर्ग भारत में उत्पन्न हो गया जो विदेशी प्रभाव में आने से भारतीय वस्तुओं को छोड़ कर विदेशी वस्तुएँ खरीदने में अपना सम्मान समझने लगा। इसलिये स्वदेशी माल की माँग बहुत कम हो गई। उदाहरणार्थ भारतीय अपने बड़े अफसर के सामने बेल बूटेदार जूते पहन कर खड़े नहीं हो सकते थे। परिणामस्वरूप जूते के उद्योग को धक्का लगना स्वाभाविक था। इस अवधि में विदेशी यात्रियों ने देशी उद्योगों के पतन को कुछ सीमा तक रोका। लेकिन उन्होंने अपने नमूने देकर भारतीय उद्योगों की कला का ह्रास कर दिया। कारीगर अपनी मौलिकता खो बैठे। वे लाभ के लालच में सस्ती वस्तुएँ शीघ्रतापूर्वक बनाने लगे। काश्मीर के शालों में योरोपीय नक्शे चलने लगे। मिलावट का माल भी बनने लगा। इस प्रकार दिनों-दिन स्थिति खराब होती गई। भारतीय माल का प्राचीन उच्च स्तर धीमे धीमे नष्ट होता गया।

(३) **ईस्ट इन्डिया कम्पनी व ब्रिटिश संसद की घातक नीति**—शुरू में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन दिया क्योंकि घरेलू उद्योगों के माल का निर्यात करके ही यह अपनी आय प्राप्त करती थी। लेकिन बाद में स्वार्थी हितों ने इसे अपनी नीति बदलने के लिए बाध्य किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी बाद में ब्रिटेन को भारतीय कच्चा माल भेजने लगी और बदले में ब्रिटिश माल भारतीय बाजारों में पहुँचाने लगी। परिणाम-स्वरूप घरेलू उद्योग समाप्त होने लगे। यही नहीं बल्कि ब्रिटेन में भारत निर्मित माल के आयात पर प्रतिबन्ध लगाये गए। १७०० से १८२४ तक रंगीन भारतीय सूती वस्त्र (केलिको) के आयात को इंगलैंड में रोक दिया गया। इसके विपरीत ब्रिटिश माल को भारत में बिना आयात-कर या मामूली आयात-कर पर पहुँचाया गया। रेल के भाड़ों की दरें भी ऐसी रखी गईं जिससे भारत में कच्चा माल भेजने और भारत में तैयार माल मंगाने वालों को प्रोत्साहन मिले। इस प्रकार ब्रिटिश नीति भारतीय हस्त-कलाओं के लिये घातक सिद्ध हुई।

(४) **मशीनों से बने माल से प्रतिस्पर्द्धा**—इंगलैंड में मशीनों से निर्मित सस्ती वस्तुओं के आयात ने भारत के प्राचीन उद्योगों को महान क्षति पहुँचाई। विशेषतया इससे सूती कपड़े के उद्योग को नुकसान हुआ। विदेशी माल मशीनों से बड़े पैमाने पर बना होने के कारण सस्ता होता था। इसलिए भारतीय बाजारों में उसकी खपत होने लगी और भारतीय कारीगर बेकार होने लगे।

(५) **यातायात व संदेशवाहन के साधनों में प्रगति**—लार्ड डलहौजी के जमाने में भारत में सड़कों व रेलों की तेजी से प्रगति हुई। वैसे इस प्रगति से आर्थिक उन्नति

होनी चाहिये थी लेकिन प्रारम्भ में घरेलू उद्योगों को क्षति पहुँची। सस्ता मशीन निर्मित ब्रिटिश माल देश के कोने कोने में आसानी से पहुँचा दिया गया और कच्चा माल एकत्र करके विदेश भेज दिया जाता था। इसी प्रकार तार की सुविधाओं के बढ़ने का भी प्रभाव पड़ा। इन सब परिवर्तनों से अंग्रेजों को अपनी आर्थिक नीति के अनुसार काम करने का मौका मिल गया और घरेलू उद्योगों को भारी धक्का लगा।

(६) **विविध कारण**—उपर्युक्त कारणों के अलावा कुछ और कारण भी हैं जिन्होंने इनके पतन में सहायता दी। कारीगरों को बहुत सताया गया और नियन्त्रण में रक्खा गया। दिनों-दिन उनकी आर्थिक स्थिति गिरती गई। वे बदली हुई परिस्थिति के अनुसार अपने आपको ढालने में असमर्थ हो गये। उन्होंने अपने उत्पादन के तरीकों में आवश्यक संशोधन नहीं किये। इस प्रकार इनकी कठिनाइयाँ निरन्तर बढ़ती ही गईं।

कुटीर एवं छोटे पैमाने की सामान्य कठिनाइयाँ

इन उद्योगों की सामान्य कठिनाइयाँ निम्नांकित है :—

(१) **कच्चे माल की समस्या**—कारीगरों को उचित समय पर आवश्यक मात्रा में उचित किस्म का कच्चा माल प्रायः उचित मूल्य पर नहीं मिलता है। वे स्थानीय व्यापारियों पर कच्चे माल के लिए निर्भर करते हैं जो घटिया माल भी ऊँची कीमत पर देते हैं। भारत में बुनकरों को इस सम्बन्ध में विशेष कठिनाई रही है। वे सूत के लिए मिलों पर निर्भर रहते हैं। यदि मिल का सूत उन्हें समय पर नहीं मिलता है तो बड़ी कठिनाई होती है।
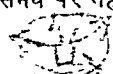
(२) **उत्पादन का संगठन, प्रणाली टैक्नीक**—कारीगर प्रायः असंगठित रूप में काम करते हैं। भारत में सहकारी संगठन का अभाव है। कारीगर की शिक्षा व ट्रेनिंग की व्यवस्था नहीं होती है। आवश्यक अनुसंधान का अभाव पाया जाता है। वह वर्षों से अपने उन्हीं पुराने औजारों से काम करता आ रहा है। नये औजारों, यन्त्रों, मशीनों व पद्धतियों से अभी तक वह अपरिचित है। अतः उत्पादन की पुरानी पद्धति को समाप्त करने की आवश्यकता है ताकि उत्तम व सस्ता माल बनाया जा सके। इस सम्बन्ध में भारतीय कारीगरों की निरक्षरता एवं रूढ़िवादिता का जिक्र करना भी आवश्यक है। अशिक्षित एवं परम्परावादी होने के कारण भारतीय कारीगर नवीन पद्धतियों को आसानी से नहीं अपनाता है। अतः उसके द्वारा उत्पन्न माल में आवश्यक चमक व सफाई नहीं आने पाती है। उपभोक्ता को आकर्षित करने के लिए आज के जमाने में निरन्तर सुधार व परिवर्तन करने होते हैं। दुर्भाग्यवश भारतीय कारीगर इस सम्बन्ध में आवश्यक चुस्ती व तेजी नहीं दिखाते हैं और पुरानी पद्धतियों से चिपटे रहते हैं और गरीब बने रहते हैं। भारत का भविष्य विकेन्द्रित, आधुनिक कार्यकुशल-पद्धति पर आधारित छोटे उद्योगों पर निर्भर करता है। इसके लिए नवीन पद्धतियों का प्रयोग आवश्यक है।

(३) पूँजी की कमी:—कुटीर एवं छोटे पैमाने के उत्पादकों को सबसे बड़ी कठिनाई पूँजी की है। कारीगरों को औजार व मशीनें खरीदने के लिए ज्यादा समय के लिए उधार की आवश्यकता होती है। कच्चा माल व अन्य कार्यों के लिए थोड़े समय के लिए उधार की आवश्यकता होती है। अभी तक कारीगर एवं अन्य उत्पादक साहूकारों व सर्राफों से उधार लेते हैं जिनकी ब्याज की दरें प्रायः ऊँची होती हैं और अन्य शर्तें भी अनुचित हो सकती हैं। बहुधा कारीगर अपने तैयार माल भी साहूकार की मार्फत ही बेचते हैं जिसमें उन्हें घाटा रहता है। अतः जिस प्रकार भारतीय किसान के लिए पूँजी की सुविधाओं का अभाव है उसी प्रकार छोटे कारीगरों व कारखानेदारों के लिए भी पूँजी का अभाव है।

(४) बिक्री व प्रमापीकरण (Marketing or Standardization) :—पिछले कुछ वर्षों से इन उद्योगों के उत्पादित माल की बिक्री की समस्या बढ़ती जा रही है। काश्मीर के शाल-दुशालों व बनारस की रेशमी व जरी की साड़ियों तथा अन्य अनेक कलात्मक वस्तुओं की माँग कम होती जा रही है क्योंकि भारत में आम जनता की क्रय शक्ति घट रही है और विदेशों में निर्यात् बढ़ नहीं रहा है। अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि देशों में भारतीय माल की खपत बढ़ाई जा सकती है। ये देश बड़ी मात्रा में एक किस्म की वस्तु की माँग किया करते हैं। यदि नमूने के अनुसार बड़ी मात्रा में माल की पूर्ति की जा सके तो विदेशों में कई वस्तुओं के बाजार बनाये जा सकते हैं।

भारत की दस्तकारी की वस्तुएँ, खेल का सामान व अन्य छोटे इंजीनियरिंग उद्योगों की वस्तुएँ विदेशों में बेची जा सकती हैं। इस सम्बन्ध में सरकारी एवं सहकारी दोनों प्रकार के प्रयत्नों की आवश्यकता है।

(५) ऊँची लागत, ऊँचा मूल्य व कर :—कुटीर व छोटे पैमाने पर बने हुए माल की लागत ज्यादा होने से प्रायः मूल्य भी ज्यादा होता है इसलिए इनकी माँग कम हो जाती है। प्रायः यह शिकायत की जाती है कि छोटे पैमाने पर बनी हुई वस्तुएँ मँहगी होती हैं। इस प्रश्न का हल दो तरह से निकाला जा सकता है—प्रथम तो लागत कम करने के प्रयत्न किये जाँय और द्वितीय, यदि थोड़ा मूल्य इनका ज्यादा हो तो भी देश के आर्थिक हित को देखते हुए इन्हें संरक्षण व प्राथमिकता दी जाय। इनमें निजी लागत ज्यादा है लेकिन सामाजिक लागत कम है जबकि बड़े उद्योगों में निजी लागत कम और सामाजिक लागत ज्यादा है। फिर भी हमें यह मानना होगा कि नई विधियों का प्रयोग करके एवं विद्युत-शक्ति द्वारा चलाई जाने वाली छोटी छोटी मशीनों का प्रयोग करके ऊँची लागत व कीमत का प्रश्न हल किया जा सकता है और किया जाना चाहिए।

जहाँ तक करों का सम्बंध है, यह बतलाना आवश्यक है कि छोटे पैमाने प[illegible] ...त कर

पैमाने के उद्योगों को विशेषतया कर की समस्या का सामना करना पड़ता है। यह समस्या कुटीर उद्योग के सामने नहीं है लेकिन छोटे कारखाने वालों के सम्मुख अवश्य है। इन पर उत्पादन-कर (Excise duties) का भार है जिसे ये उपभोक्ताओं पर डालने में असमर्थ हो रहे हैं। इसी प्रकार इन पर बिक्री-कर भी लगाया गया है। इन दो करों के अलावा कारखाने वालों को आय-कर भी देना होता है। इस तरह उनके लाभ का बड़ा भाग कर देने में चला जाता है। नगरपालिकायें भी स्थानीय करों के रूप में इनसे कुछ राशि वसूल करती हैं। सौभाग्य से कुटीर उद्योगों के सामने यह करों की समस्या नहीं है क्योंकि उनमें प्रायः मशीनों का उपयोग नहीं होता है। उदाहरण के लिए सरकार हाथ-कर्घों और शक्तिसंचालित कर्घों (Power loom) में बहुत अन्तर करती है जो उचित नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में छोटे पैमाने के कारखानों को भी सहायता देनी चाहिए तभी उनकी उन्नति हो सकेगी। इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि हमारे देश में कुटीर एवं छोटे पैमाने के उद्योगों की स्थिति में भी एक नीति नहीं बरती जाती है। जितनी उदार नीति कुटीर उद्योगों के साथ बरती जाती है उतनी छोटे पैमाने के उद्योगों के साथ नहीं बरती जाती है। उदाहरण के लिए हाथ-कर्घा उद्योग के विकास के लिए तो सूती वस्त्र-मिल में बने कपड़े पर उपकर (Cess) लगाया जाता है और उस राशि को खादी के विकास पर भी व्यय किया जाता है।

कुटीर एवं छोटे उद्योगों के सामने उपर्युक्त समस्याओं के अलावा नये दक्ष यंत्रों तथा डिजाइनों के लिए शोध की कमी, यातायात के साधनों का अभाव, सस्ती शक्ति की कमी आदि प्रश्न भी हैं जिनका हल निकाला जाना चाहिए। वास्तव में सब प्रश्नों का एक साथ हल निकालने से ही इन उद्योगों की उन्नति की जा सकेगी।

अन्तर्राष्ट्रीय-योजना-टीम, १९५४ की रिपोर्ट का विवरण

१९५४ में फोर्ड फाउन्डेशन के विशेषज्ञों के एक दल ने भारत के छोटे उद्योगों की विविध समस्याओं का अध्ययन किया और इनके भावी विकास के लिए एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की। विशेषज्ञों के दल ने कहा कि भारत में छोटे उद्योगों का जितना विकास होना चाहिए उतना अभी तक नहीं हुआ है। कई छोटे उद्योग संकट की स्थिति में से गुजर रहे हैं। उनमें उत्पादित माल की माँग घट रही है। निजी क्षेत्र की तरफ से उत्साह की कमी, सरकार पर निर्भरता, पुराने ढङ्ग से उत्पादन, बिक्री की पुरानी पद्धति, साख की कमी एवं विकास के लिए सही दृष्टिकोण व प्रयत्नों का अभाव होने से इनकी उन्नति नहीं हो पा रही है।

योजना दल ने प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया कि छोटे उद्योगों की पद्धतियों का अभिनवीकरण (Rationalisation) करना होगा। बेकारी के भार से पुरानी

पद्धतियों के चिपटे रहने से भारत उन्नति नहीं कर सकेगा। दूसरी बात दल ने यह कही कि लोगों को छोटे उद्योग अपनाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। सरकार को यह स्पष्ट घोषित कर देना चाहिए कि इस क्षेत्र में उद्यमकर्ता आकर स्वतन्त्रतापूर्वक काम कर सकेंगे।

योजना दल के सुझाव व सिफारिशें :—(१) दल ने चार बहु-उद्देश्यीय प्राद्योगिक संस्थाओं (Multi-purpose Institutes of Technology) की स्थापना का सुझाव दिया। इनका कार्य उत्पादन के तरीकों का अध्ययन करना, व्यावहारिक शोध करना, और पर्यटक औद्योगिक विस्तार, कमियों तथा चलती फिरती प्रदर्शन इकाइयों द्वारा सुधरे हुये तरीकों का प्रसार करना होगा।

(२) एक राष्ट्रीय डिजाइन शाला (National School of Designs) स्थापित की जानी चाहिये, जहाँ पर नए डिजाइन तैयार किये जाने चाहिएँ। एक उपभोक्ता-सेवा-निगम (Consumers Service Corporation) स्थापित किया जाना चाहिये जिसका कार्य उत्पादन का सर्वेक्षण करना उपभोक्ताओं से नमूने और सूचना प्राप्त करना और उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करना होगा।

(३) वित्तीय सुविधाओं के लिए योजना दल ने सुझाव दिया कि व्यापारिक बैंक अपनी शाखाओं को छोटे उद्योगों को ज्यादा ऋण प्रदान करने के अधिकार सौंपें। छोटे उद्योगों के लिए सहकारी बैंकों का भी विस्तार किया जाना चाहिये। राज्य-वित्त निगमों की पूँजी का एक निश्चित भाग छोटे उद्योगों के लिए रक्खा जाना चाहिये। अचल सम्पत्ति को गिरवी रखकर ऋण दिये जाने चाहिएँ ताकि छोटे उद्योग लाभ प्राप्त कर सकें।

(४) दल ने व्यवसाय-संगठन (Trade Associations) बनाने पर भी बल दिया है। ये संगठन अपने सदस्यों को नई पद्धतियों से परिचित करेंगे और सरकार को अपने व्यवसाय की समस्याओं से अवगत करेंगे।

(५) दल ने औद्योगिक सहकारी समितियों की स्थापना का समर्थन किया है लेकिन साथ में यह भी कहा है कि समितियों को अपने पैरों पर खड़े होना चाहिए न कि सरकार पर निर्भर हो जाना चाहिए।

(६) दल ने केन्द्रीय लघु-उद्योग निगम, उत्पादन व प्रशिक्षण प्लान्ट, निर्देशन के छोटे प्लान्ट स्थापित करने का भी सुझाव दिया है।

(७) बिक्री व्यवस्था में सुधार करने के लिए एक बिक्री-सेवा-निगम (Marketing Service Corporation) की स्थापना तथा विदेशों में बिक्री बढ़ाने के लिए निर्यात विकास कार्यालयों की स्थापना का भी सुझाव दिया गया।

उपर्युक्त सुझावों से स्पष्ट है कि योजना-दल ने छोटे उद्योगों के लिए कई संस्थायें स्थापित करने का समर्थन किया। भारत सरकार ने अब तक कुछ संस्थायें स्थापित कर

दी हैं जैसे ४ प्रादेशिक छोटे उद्योगों की सेवा संस्थायें, राष्ट्रीय-लघु-उद्योग निगम, एक बिक्री-सेवा-निगम, एवं औद्योगिक विस्तार सेवा-निगम। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय-योजना-दल का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था और उसके सुझाव ऐसे थे जिनको अस्वीकृत नहीं किया जा सकता था। उपर्युक्त संस्थायें छोटे उद्योगों के विकास में महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं।

ग्रामीण व लघु उद्योग (कर्वे) कमेटी रिपोर्ट, १९५५

जून, १९५५ में श्री कर्वे की अध्यक्षता में योजना आयोग द्वारा एक ग्रामीण व लघु उद्योग (द्वितीय पंचवर्षीय योजना) कमेटी नियुक्त की गई जिसे यह कार्य सौंपा गया कि वह छोटे उद्योगों की समस्या की जाँच करे और उनके विकास की योजना प्रस्तुत करे जो दूसरी पंचवर्षीय योजना में शामिल की जा सके। अक्टूबर १९५५ में कमेटी ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें तीन मुख्य बातों को ध्यान में रक्खा गया—

(१) द्वितीय योजना काल में प्राद्योगिक बेकारी न बढ़े;

(२) ग्रामीण व छोटे उद्योगों में भारी संख्या में रोजगार बढ़े;

(३) विकेन्द्रित समाज के ढाँचे का आधार स्थापित किया जा सके और साथ में तीव्र आर्थिक-विकास का भी समुचित उपाय किया जाय।

वास्तव में कमेटी ने रोजगार पक्ष पर विशेष ध्यान रक्खा है। नई प्रणाली अपनाने से यदि बेरोजगारी फैलती है तो कमेटी ने उसे न अपनाने का ही सुझाव दिया है। लेकिन जब नई पूँजी का विनियोग करना हो तो यह सुधरी हुई पद्धति में ही होना चाहिए या उस चालू पद्धति में होना चाहिए जो सुधारी जा सकने लायक हो। कमेटी की राय में कारीगरों को जहाँ तक सम्भव हो उनके परम्परागत धन्धों में ही जमा दिया जाय क्योंकि उनके पास आवश्यक पूँजी व निपुणता मौजूद है। यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो परम्परागत धन्धों में बेकारी की समस्या बनी रहेगी। अतः उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए हमें इन उद्योगों को प्रोत्साहन एवं संरक्षण देना चाहिये।

छोटे उद्योगों के विकास के लिए कर्वे कमेटी ने दो तरह के उपाय सुझाये हैं, पहले तो रचनात्मक और दूसरे नकारात्मक। रचनात्मक उपायों (Positive Measures) से अभिप्राय संगठन, बिक्री एवं वित्त आदि क्षेत्रों में ऐसे काम करना है जिनसे छोटे उद्योगों की कार्यकुशलता बढ़ सके। नकारात्मक (Negative) सुझावों में ऐसे उपाय आते हैं जिनमें छोटे पैमाने के विकास के लिए बड़े पैमाने पर कई किस्म के प्रतिबन्ध लगाने का सुझाव दिया गया है :—

(१) रचनात्मक सुझाव :—

(क) विकेन्द्रित व सहकारी आधार पर छोटे उद्योगों की स्थापना की जानी चाहिये।

(ख) क्रय-विक्रय सहकारी समितियाँ बनाई जानी चाहियें जो क्रमशः कच्चा माल, औजार व अन्य चीजें खरीद कर उत्पादकों को दें एवं बने हुए माल की बिक्री की व्यवस्था करें। शुरू में सरकार गारंटी प्रदान करे ताकि समितियाँ सफल हो सकें।

(ग) सहकारी विकास एवं गोदाम निगम अपने कार्य-क्षेत्र में ग्रामीण एवं छोटे पैमाने के उद्योगों की वस्तुएँ भी शामिल करें।

(घ) राज्य वित्त-निगम छोटे उद्योगों को दीर्घ-कालीन साख प्रदान करें।

(ङ) रिजर्व बैंक एवं स्टेट बैंक भी इन उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने में अधिक दिलचस्पी दिखावें।

(च) केन्द्र में ग्रामीण एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए एक मन्त्रालय स्थापित किया जाय।

(छ) ग्रामीण और छोटे उद्योगों के विकास पर द्वितीय योजना काल में २६० करोड़ रुपए खर्च किये जाने चाहियें।

(२) नकारात्मक सुझाव—

(क) उत्पादन पर सीमा—बड़े पैमाने के उद्योगों द्वारा उत्पादन पर एक अधिकतम सीमा लगा दी जाय ताकि उससे ऊपर की माँग छोटे पैमाने के उत्पादन से पूरी की जा सके। जैसे यह सुझाव दिया गया कि मिल के कपड़े के उत्पादन की सीमा ५०० करोड़ गज और शक्ति-कर्घों पर उत्पन्न कपड़े की सीमा २० करोड़ गज निश्चित कर दी जाय ताकि दूसरी योजना में बढ़ी हुई कपड़े की माँग (जो लगभग १७० करोड़ गज होगी) हाथ-कर्घा उद्योग से पूरी की जा सके। इसी प्रकार चावल की मिलों के उत्पादन पर सीमा लगाने का सुझाव दिया गया।

वनस्पति व चमड़े के उद्योगों की उत्पादन क्षमता (Productive Capacity) न बढ़ाने का प्रस्ताव रक्खा गया अर्थात् इन उद्योगों में कोई नये कारखानें न खोले जांय लेकिन बिना काम में ली हुई वर्तमान उत्पादन-क्षमता का उपयोग करके चालू उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार सूती कपड़े व चावल की वर्तमान उत्पादन-मात्रा (Current Production) पर सीमा का सुझाव दिया गया जबकि तेल व चमड़े में वर्तमान उत्पादन-क्षमता (Productive Capacity) पर सीमा का सुझाव दिया गया।

(ख) उपकर (Cess) व उत्पादन कर (Excise Duties)—बड़े पैमाने के उत्पादन पर उपकर (Cess) लगा दिया जाय और इससे प्राप्त राशि छोटे पैमाने के विकास पर व्यय की जाय। सूती वस्त्रों की मिलों, चावल की मिलों, तेल की मिलों व चमड़े के कारखानों के सम्बन्ध में ये सुझाव दिये गये हैं। साथ में उत्पादन-कर लगाने का भी सुझाव दिया गया ताकि बड़े उद्योगों का मुनाफा थोड़ा सरकार को भी मिल

सके और बड़े उद्योगों के माल का मूल्य बढ़ने से छोटे उद्योगों का बना हुआ माल बिक सके।

इस कमेटी ने जो रचनात्मक कार्यक्रम सुझाए उस सम्बन्ध में मतभेद नहीं हुआ लेकिन इसकी नकारात्मक सिफारिशों ने काफी आलोचना उत्पन्न की। इस प्रकार कर्वे कमेटी के सुझावों से एक हलचल सी मच गई जबकि अन्तर्राष्ट्रीय-योजना-दल के सुझावों को चारों तरफ स्वीकृति प्राप्त हुई थी।

कर्वे कमेटी की सिफारिशों की आलोचना :—

(१) कर्वे कमेटी के सुझावों को स्वीकार करने का यह परिणाम होगा कि उत्पादन के पुराने व परम्परागत तरीके चलते रहेंगे। आधुनिक पद्धति का समर्थन कमेटी ने केवल उसी परिस्थिति में किया है जबकि इनके अपनाने से प्राद्योगिक बेकारी (Technological Unemployment) न बढ़े। यह एक विरोधाभास है क्योंकि नवीन पद्धतियों के अपनाने से बेकारी अवश्य बढ़ेगी। यदि बेकारी के भय से हम आधुनिक पद्धतियों को अपनाने से हिचकेंगे तो कभी भी इन्हें नहीं अपना पायेंगे। इसलिए कमेटी की सिफारिशें हमें आगे बढ़ाने की बजाय पीछे ही ले जायेंगी।

(२) कारीगरों को पुराने ढंग के कार्यों में ही पुनः जमा देने की नीति से श्रम की गतिशीलता में बाधा पड़ेगी। भारत में श्रम को गतिशील बनाने की आवश्यकता है ताकि आर्थिक विकास तेजी से हो सके। कमेटी के सुझावों को स्वीकार करने से भारत में श्रम की गतिशीलता घटेगी।

(३) बड़े पैमाने के उत्पादन पर सीमा लगाने की नीति कई दृष्टियों से नुकसान पहुँचा सकती है; जैसे प्रथम तो बड़े पैमाने के उत्पादन का विकास रुक जायगा और द्वितीय यह आवश्यक नहीं है कि अतिरिक्त माँग की पूर्ति छोटे पैमाने के उत्पादन द्वारा हो सके। इससे उपभोग्य वस्तुओं की कमी पैदा हो सकती है और मँहगाई बढ़ सकती है। इस प्रकार बड़े पैमाने के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाकर छोटे पैमाने के उत्पादन की उन्नति करना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता है। फिर इस बात का क्या प्रमाण है कि उपभोक्ता छोटे पैमाने के उद्योगों का बनाया हुआ माल ही खरीदेंगे। उपभोक्ता अच्छा व सस्ता माल ही खरीदेगा। यदि छोटे उद्योग बढ़िया श्रेणी का व सस्ता माल न बना सके तो उपभोक्ता उनमें उत्पादित माल ग्रहण नहीं करेगा। इसलिए बड़े पैमाने के उत्पादन पर सीमा लगा देने मात्र से समस्या हल नहीं हो जायगी, बल्कि उपभोग्य पदार्थों की कमी बढ़ जायगी और देश को आर्थिक क्षति उठानी पड़ेगी। एक लेखक का यहाँ तक कहना है कि बड़े पैमाने के उत्पादन को यदि समाप्त भी कर दिया जाय तो भी छोटे पैमाने के विकास की गारंटी नहीं दी जा सकती है। जब तक उपभोक्ता को आकर्षित नहीं किया जाता है तब तक यह समस्या हल नहीं होगी।

(४) बड़े पैमाने के उत्पादन पर सीमा (Ceiling) और उपकर (Cess) एवं उत्पादन-कर (Excise duties) लगा देने से उनका विस्तार रुक जायगा। इसके परिणामस्वरूप मशीन बनाने वाले उद्योगों में निर्मित माल की माँग घट जायगी जैसे सूती कपड़े की मिल के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगने से भविष्य में सूती कपड़े की मिल में काम आने वाली मशीनों की माँग कम रहेगी। अतः आधारभूत एवं मशीन उद्योगों का विकास किस काम आयेगा। इसलिए कुछ विद्वानों का कहना है कि दीर्घ-कालीन दृष्टिकोण से यह नीति देश के लिए हितकर सिद्ध नहीं होगी। हमें भारत में स्थापित किये जाने वाले भावी औद्योगिक ढाँचे को ध्यान में रखकर ही वर्तमान नीति निर्धारित करनी होगी। ऐसा नहीं होना चाहिए कि वर्तमान नीति एवं भावी नीति में इतना अन्तर हो जाय कि आगे चलकर हमें इन दोनों में एक का परित्याग करना पड़े। यदि कर्वे कमेटी के सुझाव माने गये तो भविष्य में हमें पुनः सोचना पड़ेगा कि हम क्या चाहते हैं और उस समय हमारी समस्यायें बढ़ जायेंगी। अतः हमें आज एक ऐसा *कार्यक्रम अपनाना है जिसे कल भी अपनाये रह सकें। इस दृष्टिकोण से बड़े पैमाने के* उत्पादन को हतोत्साहित करना अनुचित सिद्ध होगा।

(५) कमेटी ने अपने सुझावों के कार्यान्वित करने की कठिनाइयों पर ध्यान नहीं दिया है। बड़े पैमाने के उत्पादन पर सीमा लगा देना और उसको व्यवहार में लागू करना बहुत कठिन है। इसमें सरकार की प्रशासनिक कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। दूसरी तरफ लाखों जुलाहों को सूत, सामान व साख प्रदान करने और उनका उत्पादित माल बेचने में भी कम कठिनाइयाँ नहीं होंगी।

इस प्रकार यह सिद्ध किया गया है कि कर्वे कमेटी ने रोजगार बढ़ाने के लिए उत्पादन की घटिया और पुरानी पद्धतियों का अनुचित समर्थन किया है। इसके सुझावों पर गाँधीवादी विचारधारा की छाप है जो एक अस्पष्ट रूप में आत्म-निर्भर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के लक्ष्य तक पहुँचना चाहती है। भारत को कुटीर एवं छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धों की आवश्यकता है लेकिन उनको आधुनिक पद्धति पर चलाकर न कि पुरानी, घटिया व खर्चीली पद्धति पर चला कर। अतः हमें इस प्रश्न को केवल सैद्धान्तिक या आदर्शवादी बन कर नहीं देखना है बल्कि एक सफल व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाना है। ऐसा करने पर हम विकेन्द्रित आधुनिक एवं कार्यकुशल प्रणाली पर चलाये जाने वाले उद्योगों का अवश्य समर्थन करेंगे लेकिन पुराने तरीकों को समाप्त करने का समर्थन भी करेंगे चाहे इससे कुछ समय तक बेकारी ही क्यों न बढ़े। किसी न किसी दिन उस बेकारी का सामना तो करना ही पड़ेगा। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि किसी भी नीति का क्षणिक प्रभाव ही न देखा जाय बल्कि उसका समस्त आर्थिक विकास पर प्रभाव देखा जाय। अतः कर्वे कमेटी के सुझाव रोजगार में वृद्धि तो करते हैं लेकिन बहुत बड़ी सामाजिक लागत पर क्योंकि इसने आर्थिक विकास

भविष्य ...है। हमें दूसरे देशों के आर्थिक विकास के अध्ययन से भी लाभ उठाना चाहिए जहाँ तेजी से आधुनिक पद्धतियाँ स्वीकार करली गई और कारीगरों को नई दिशाओं में जाने को प्रेरित किया गया और सुविधायें प्रदान की गईं।

हमारे ही देश में दूसरी योजना के प्रथम चार वर्षों के अनुभव ने सिद्ध कर दिया है कि रोजगार के लिए केवल ग्रामीण और छोटे उद्योगों पर निर्भर करना भूल होगी। कर्वे समिति की २६० करोड़ रुपयों की सिफारिश के स्थान पर दूसरी योजना में ग्रामीण और छोटे उद्योगों के विकास के लिए २०० करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई परन्तु जहाँ योजना काल में रोजगार के अतिरिक्त अवसरों का अनुमान लगभग १ करोड़ का था वहाँ अब तक केवल २५ लाख व्यक्तियों को अतिरिक्त रोजगार मिला है।

संक्षेप में कर्वे कमेटी ने ग्रामीण तथा छोटे उद्योगों के प्रति संरक्षण (Protection) का दृष्टिकोण अपनाया है जब कि उनके प्रति हमारा दृष्टिकोण संरक्षण के स्थान पर प्रोत्साहन (Promotion) का होना चाहिये।

पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर व छोटे पैमाने के उद्योगों की प्रगति व सरकारी प्रयत्न

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही भारत सरकार कुटीर एवं छोटे उद्योगों के विकास के लिए प्रयत्नशील है। १९४८ के औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव में कुटीर एवं छोटे पैमाने के उद्योगों का महत्व स्वीकार किया गया। १९५६ की नई औद्योगिक नीति में उसे पुनः दोहराया गया। दोनों पंचवर्षीय योजनाओं में इनके विकास के लक्ष्य निर्धारित किये गये और अन्तराष्ट्रीय योजना दल, (१९५४) और कर्वे कमेटी, (१९५५) के सुझावों को अपनाने का प्रयत्न किया गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में केन्द्रीय सरकार ने कुटीर एवं छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास के लिए ३३.६ करोड़ रु० व्यय किये। और राज्य सरकारों ने १०.१ करोड़ रुपये व्यय किये। केन्द्रीय सरकार का व्यय लक्ष्य से थोड़ा अधिक ही रहा। पहली योजना में अन्तर्राष्ट्रीय योजना दल के सुझाव के अनुसार चार प्रादेशिक लघु उद्योग सेवा संस्थायें (Small Industries Service Institutes) स्थापित की गईं और राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Industries Corporation) भी १९५५ में स्थापित किया गया। इसके अलावा पहली योजना की अवधि में केन्द्र ने विभिन्न उद्योगों के विकास के लिए ६ बोर्ड भी स्थापित किये जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

(१) अखिल भारतीय हाथ करघा बोर्ड (All India Handloom Board)—यह अक्टूबर, १९५२ में स्थापित किया गया। इसका मुख्य कार्य सहकारी संगठन की व्यवस्था करना रक्खा गया। इस बोर्ड के नीचे एक केन्द्रीय-बिक्री-संगठन बनाया गया है जिसका उद्देश्य बिक्री की सुविधायें प्रदान करना है।

(२) अखिल भारतीय हस्त कला बोर्ड (All India Handicrafts Board)—यह नवम्बर १९५२ में स्थापित किया गया और इसका मुख्य कार्य उत्पादन व बिक्री बढ़ाने का रखा गया। अप्रैल १९५८ में भारतीय हस्त कला विकास-निगम (The Indian Handicrafts Development Corporation) स्थापित हुआ है जो निर्यात वृद्धि में मदद देगा। देश में 'हस्त-कला सप्ताह' मनाकर निर्मित वस्तुओं का प्रचार किया जाता है। आजकल प्रतिवर्ष लगभग १०० करोड़ रु० की हस्त-कला की वस्तुओं का उत्पादन होने लग गया है और लगभग ७ करोड़ रु० की वस्तुएँ निर्यात की जाती हैं।

अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग—प्रारंभ में जनवरी, १९५३ में यह एक बोर्ड के रूप में स्थापित किया गया लेकिन १९५६ में यह कमीशन में परिवर्तित कर दिया गया। इसके पास खादी एवं अन्य जो चुने हुए ग्रामोद्योगों के विकास का कार्य है जैसे साबुन बनाना, तेल, धान कूटना, माचिस, हाथ का कागज, मधु-मक्खी पालन, चमड़ा, आटे की चक्कियाँ और गाँव में मिट्टी के बर्तन बनाना।

नारियल-रेशा (जटा) बोर्ड (The Coir Board)—यह जुलाई, १९५२ में स्थापित किया गया। नारियल-रेशा उद्योग के विभिन्न प्रश्नों की जाँच करने के लिए इसने ६ कमेटियाँ बनाई। यह बोर्ड १९५७-५८ में पुनर्संगठित किया गया। यह उद्योग केरला में विस्तृत रूप से चलता है। यह हमारा निर्यात-उद्योग है और विदेशी मुद्रा कमाने में मदद देता है। इसीलिए द्वितीय योजना में इस उद्योग पर व्यय की जाने वाली राशि १ करोड़ रु० से बढ़ा कर २·३ करोड़ र० कर दी गई है। केरला में अलिपे (Alleppey) के पास एक अनुसन्धानशाला भी स्थापित की गई है।

(३) **केन्द्रीय रेशम बोर्ड** (Central Silk Board)—यह शुरू में १९४९ में बना था लेकिन १९५० में पुनर्संङ्गठित किया गया। यह बोर्ड रेशम उद्योग के विकास पर ध्यान देता है। बरहामपुर (पश्चिमी बंगाल) में एक अनुसंधान केन्द्र १९४३ से काम कर रहा है। उसका विस्तार द्वितीय योजना मे किया जायगा। बोर्ड ने मैसूर में एक ट्रेनिंग केन्द्र एवं श्रीनगर में विदेशी किस्म के रेशम का उत्पादन केन्द्र चालू किया है। जापान के विशेषज्ञो की मदद खोज कार्यों में ली जा रही है।

लघु-उद्योग बोर्ड (Small Scale Industries Board)—यह नवम्बर १९५४ में अन्तर्राष्ट्रीय योजना दल की सिफारिश पर बनाया गया है। इसमें केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों के प्रतिनिधि हैं। यह विभिन्न लघु उद्योगों के विकास पर सलाह देगा एवं कार्यक्रमो में मेल स्थापित करेगा। इसी बोर्ड की तरफ से कुछ औद्योगिक बस्तियाँ भी स्थापित करने की चर्चा है। नवम्बर १९५४ में लघु उद्योगों के लिए एक विकास-कमिश्नर की नियुक्ति की गई है जो उपर्युक्त बोर्ड का अध्यक्ष भी है।

इनके अतिरिक्त कुटीर एवं छोटे उद्योगों के विकास के लिए पिछले वर्षों में कुछ और संगठन भी बनाये गये हैं जो बहुत महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। उनका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है :—

(४) लघु-उद्योग सेवा संस्थायें (Small Industries Service Institutes)—इस प्रकार की ४ संस्थायें दिल्ली, बम्बई, मद्रास व कलकत्ता में स्थापित की गई हैं। इनकी स्थापना का सुझाव अन्तर्राष्ट्रीय योजना दल ने दिया था। ये छोटे उद्योगों को उत्पादन की विधियाँ, बिक्री एवं प्रबन्ध आदि सुधारने में मदद देंगी तथा मशीनें, कच्चा माल व पूँजी प्राप्त करने में सहायता पहुँचायेंगी। इस प्रकार ये व्यापारिक एवं प्राद्योगिक सेवायें प्रदान करेंगी।

औद्योगिक विस्तार सेवा (Industrial Extension Service) में उपर्युक्त ४ संस्थाओं के अलावा १२ बड़ी संस्थायें, ५ शाखा संस्थायें एवं ६२ विस्तार केन्द्र भी कार्य कर रहे हैं। इनका कार्य प्राविधिक सलाह देना है एवं प्रबन्ध के सर्वोत्तम तरीके सुझाना है।

राष्ट्रीय उद्योग निगम (National Small Industries Corporation)—यह फरवरी १९५५ में स्थापित किया गया था। इसमें समस्त पूँजी भारत सरकार द्वारा लगाई गई है। इसका सम्बन्ध ५ लाख रुपये तक की पूँजी वाली छोटी इकाइयों से है। इसके मुख्य कार्य इस प्रकार है—

(अ) सरकारी विभागों के लिए छोटे पैमाने की बनी हुई वस्तुएँ खरीदने की व्यवस्था करना। छोटी इकाइयों को माल बनाने के लिए आर्डर देना।

(आ) आर्डर के अनुसार माल बनाने के लिए पूँजी व प्राविधिक सहायता प्रदान करना।

(इ) बड़े पैमाने एवं छोटे पैमाने में ताल-मेल बैठाना ताकि छोटे पैमाने पर सहायक माल बनाया जा सके।

(ई) बिक्री की सुविधायें बढ़ाना। तदर्थ प्रदर्शनियों, सप्ताह समारोह और विक्रय केन्द्रों की व्यवस्था करना।

(उ) किश्तों पर मशीनें देना।

(ऊ) ओखला व नैनी नामक दो औद्योगिक केन्द्रों की व्यवस्था करना।

किश्तों पर मशीन खरीदने के प्रार्थना-पत्र पहले सेवा संस्थाओं को (Service Institutes) के पास आते हैं। इनकी वहाँ जाँच होती है और फिर वे राष्ट्रीय-लघु-उद्योग निगम भेज दिये जाते हैं। यह निगम मशीनें बनाने वालों को आर्डर देता है और मशीन खरीदने वालों से पेशगी वसूल करता है। सामान्य उद्देश्य की मशीन की की कीमत का २०% और विशेष उद्देश्य की मशीन की कीमत का ४०% पेशगी अब तक लिया जाता था। लेकिन केन्द्रीय उद्योग मन्त्री ने अखिल भारतीय लघु-उद्योग बोर्ड

को १४ वीं मीटिंग में अक्टूबर १९५९ में कहा कि पेशगी का प्रतिशत २० से घटाकर ५ कर दिया जायगा ताकि छोटे उद्योग स्थापित करने वालों को प्रोत्साहन मिल सके। निगम ने पिछले वर्षों में किश्तों पर मशीनें दिलवाने के कार्य में सराहनीय सफलता प्राप्त की है।

औद्योगिक बस्तियाँ (Industrial Estates)

पिछले कुछ समय से औद्योगिक बस्तियों के निर्माण पर बहुत जोर दिया गया है। इनके कई छोटे उद्योग एक स्थान पर चलाये जा सकते हैं ताकि उनको बिजली, पानी, स्टीम, यातायात आदि की इकट्ठी सुविधाएँ मिल सकें। इनसे मजदूरों की सामाजिक स्थिति भी सुधारी जा सकती है। दूसरी पंच-वर्षीय योजना में इनके लिए १२ रु० में १० करोड़ रु० रक्खे गये थे। अक्टूबर, १९५८ तक ७२ औद्योगिक बस्तियों की स्वीकृति दी जा चुकी थी और १७ बस्तियाँ प्रारंभ की जा चुकी थीं। केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को ये बस्तियां स्थापित करने के लिए ऋण व अनुदान प्रदान करती हैं। दो बस्तियाँ (ओखला व नैनी) (इलाहाबाद) राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम की देख रेख में बन रही हैं। दूसरी योजना में केन्द्रीय व राज्य सरकारों ने कुल २०० करोड़ रुपया व्यय करने का निश्चय किया है ताकि छोटे उद्योगों के द्वारा रोजगार बढ़ाया जा सके। द्वितीय योजना के प्रथम २ वर्षों में कुल ५९ करोड़ रुपये व्यय किये गये। संशोधित अनुमानों के आधार पर कहा जा सकता है कि १९५६-६१ में कुल लगभग १८० करोड़ रुपये ही खर्च हो सकेंगे।

द्वितीय योजना में व्यय किये जाने वाले २०० करोड़ रु० का विवरण :—

उद्योग		(करोड़ रु०)
(१) हाथ कर्घा	....	५९'५
(२) खादी	....	१६'७
(३) ग्रामोद्योग	....	३८'८
(४) हस्तकला	....	९'०
(५) छोटे पैमाने के उद्योग	....	५५'०
(६) अन्य उद्योग	....	६'०
(७) सामान्य कार्य (प्रशासन खोज) आदि		१५'०
	कुल	२००'०

इन २०० करोड़ रु० के अलावा दूसरी योजना में ११ करोड़ रु० विस्थापित व्यक्तियों को पुनः बसाने के सम्बन्ध में कुटीर व छोटे उद्योगों के विकास पर व्यय किये जायेंगे, ४ करोड़ रु० पिछड़ी जातियों के कल्याण के लिये सामुदायिक विकास खण्डों

में ग्रामीण कला व शिल्प पर व्यय किये जायेंगे। इस प्रकार कुल व्यय काफी हो जायगा।

भारत सरकार ने छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास के लिए मिले जुले उत्पादन के कार्य-क्रम (Common Production Programme) अपनाने पर जोर दिया है जिनमें उत्पादन के क्षेत्र निश्चित किये जाते हैं, बड़े पैमाने के उत्पादन पर सीमा तय की जाती है एवं कर लगाया जाता है और वित्तीय सहायता छोटी इकाइयों को दी जाती है। कुछ समय से बड़े पैमाने व छोटे पैमाने को आपस में पूरक बनाने के प्रयत्न किये गये हैं। यह प्रयत्न किया जा रहा है कि जितना सामान छोटी इकाइयों द्वारा बनाया जा सके उतना उनसे बनवाना चाहिए। जापान ने इस नीति को अपनाकर बहुत लाभ उठाया है। भारत में कुशल तरीके पर चलने वाले आधुनिक ढंग के विकेन्द्रित छोटे उद्योगों की नितान्त आवश्यकता है।

हाल ही में कुटीर व छोटे उद्योगों के विकास के लिए ज्यादा उदार शर्तों पर किश्तों में मशीनें खरीदने की सुविधायें बढ़ाने की घोषणा की गई है और इनके लिये वित्तीय सहायता प्रदान करने की समुचित व्यवस्था की जा रही है। रिजर्व बैंक ने जनवरी १९६० से गारन्टी स्कीम लागू करना स्वीकार किया है, ताकि छोटे उद्योगों को ज्यादा पूँजी उपलब्ध हो सके।

गारन्टी स्कीम शुरू में २१ जिलों में लागू की जायगी। रिजर्व बैंक यह गारन्टी स्कीम लागू करेगा ताकि बैंक व अन्य संस्थायें छोटे उद्योगों को वित्तीय सहायता दे सकें। इस योजना का उद्देश्य व्यापारिक बैंकों को सुरक्षा प्रदान करना है और उनको उस संभाव्य हानि से बचाना है जो छोटे पैमाने के उद्योगों को ऋण प्रदान करने में हो सकती है। रिजर्व बैंक यह कार्यक्रम केन्द्रीय सरकार की तरफ से करेगा। २५ हजार रु० या इससे कम के ऋण पर २०% की गारन्टी दी जायगी। इससे ऊपर ५० हजार रु० तक के उधार पर गारन्टी १०% होगी। लेकिन गारन्टी से ज्यादा रकम की हानि होने पर गारन्टी संगठन एवं उधार देने वाले बैंक में यह ५० : ५० के अनुपात में बाँटी जायगी। इस योजना के अन्तर्गत कुल २५ करोड़ रु० तक का ऋण प्रदान किया जा सकेगा।

अखिल भारतीय लघु उद्योग बोर्ड की १४वीं मीटिंग में जो अक्टूबर १९५९ में पुरी में हुई, केन्द्रीय उद्योग मंत्री श्री मनुभाई शाह ने कहा कि प्रत्येक राज्य में एक लघु उद्योग निगम स्थापित किया जायगा जो राज्य-संचालित औद्योगिक बस्तियों की व्यवस्था सम्हालेगा। उन्होंने यह भी कहा कि ब्याज की सामान्य दर ५% रहेगी लेकिन २५ हजार रु० से कम के ऋणों पर ब्याज की दर ३% कर दी जायगी। सहकारी समितियों से २½% ब्याज ही लिया जायगा।

किश्त पर मशीनें देने के लिए भी सुविधायें बढ़ाई जायेंगी। पेशगी २०% के स्थान पर घटाकर ५% किया जायगा। इससे शिक्षित वर्ग छोटे उद्योगों की तरफ आकर्षित होगा।

तृतीय योजना में ग्रामीण व छोटे पैमाने के उद्योग

तृतीय पंच-वर्षीय योजना की रूपरेखा में ग्रामीण व छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास पर बल दिया गया है। द्वितीय योजना में इनकी काफी प्रगति हो जायगी। हाथ कर्घा वस्त्र का उत्पादन १९५०-५१ के ७४२ मिलियन गज से बढ़कर १९६०-६१ में २,१२५ मिलियन गज हो जायगा। १९५०-५१ में परम्परागत खादी का उत्पादन ७ मिलियन गज से बढ़कर १९६०-६१ तक ४८ मिलियन गज हो जायगा। द्वितीय योजना की अवधि में छोटे उद्योगों की प्रगति भी प्रभावशाली रही है। सभी राज्यों में लघु उद्योग सेवा-संस्थाएँ खुल गई हैं।

तृतीय योजना में ग्रामीण व छोटे उद्योगों के विकास के लिए २५० करोड़ रु० सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय करने के लिए निर्धारित किये गये हैं। फिलहाल इस राशि का बँटवारा इस प्रकार रखा गया है :—[1]

	करोड़ रु०
(१) हाथ कर्घा व शक्ति कर्घा (हाथ कर्घा क्षेत्र में)	३६·०
(२) खादी, अम्बर खादी व ग्रामीण उद्योग	८९·०
(३) छोटे पैमाने के उद्योग व औद्योगिक बस्तियाँ	१०७·०
(४) दस्तकारी	८·०
(५) रेशम	७·०
(६) नारियल की जटा का उद्योग	३·०
कुल	२५०·०

इस कार्यक्रम के पूरा होने पर हाथ-कर्घा वस्त्र, शक्ति-कर्घा वस्त्र व खादी का उत्पादन १९६०-६१ के (सम्भावित) २,६१० मिलियन गज से बढ़कर १९६५-६६ तक ३,५०० मिलियन गज हो जायगा। इसी अवधि में रेशम ३·७ मिलियन पौंड से बढ़कर ५ मिलियन पौंड, औद्योगिक बस्तियाँ ६० से ३६० व शक्ति-कर्घों की संख्या (हाथ कर्घा क्षेत्र में) ३,५०० से १३,००० तक पहुंच जायगी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत के औद्योगिक ढाँचे में ग्रामीण व छोटे पैमाने के उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान रहेगा। हर्ष का विषय है कि राष्ट्रीय सरकार इनके विकास के लिए भरसक प्रयत्न कर रही है।

---

1. Draft outline of the Third Five-Year Plan, p. 197-198.

ने पूरे आंकड़े रखने पर जोर दिया है। इसके अलावा उत्कृष्टता का मानदण्ड ऊँचा करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

जापानी प्रतिनिधि मंडल के सुझावों का अध्ययन करने से मालूम पड़ता है कि भारत सरकार व राज्य सरकारों को अभी भी लघु उद्योगों के विकास के लिए कई सप्रभाविक कदम उठाने होंगे। आशा है सरकार इन सुझावों पर उचित ध्यान देगी ताकि लघु उद्योग उन्नति कर सकेंगे।

प्रश्न

University of Rajasthan, B. A.

(1) Examine the importance of cottage industries in Indian economy. How can they hold their own against large scale industries ? (1951) also in Agra University, 1958.

(2) Clearly bring out the role of cottage industries in removing unemployment and underemployment in India. How Government can assist in their development. (1953)

(3) Fully discuss the causes of the decline of cottage industries in India. What should be their role and importance in a planned scheme economic development for the country ? (1956)

Agra University B. A. and B. Sc.

(1) In the present condition of the Indian economy, state whether the development of the large or small scale industries is more necessary. What special measures would you suggest for the improvement of cottage industries ? (1954)

(2) Heavy, small and other industries—all need to be developed at the same time in the present economic conditions of India. Do you agree ? Give reasons for your answer. (1956 also in 1959)

(3) भारत में बेकारी की समस्या सुलझाने में कुटीर उद्योग-धन्धों का क्या स्थान है ? समझाइये। (१९५७)

Delhi University, B. A.

(1) Examine the place of cottage and Small-Scale industries in the national economy of the country. (1954)

(2) What causes led to the decline of cottage industries in India ? Enumerate the main difficulties of the cottage and small-scale industries and suggest measures for their revival. (1955)

संदर्भ-ग्रंथ

(1) Second Five-Year Plan, 1956, Ch. 20, P. 429-458.

(2) Report on Small Industries in India By The International Planning Team (The Ford Foundation), 1954,

(3) Report of The Village and Small Scale Industries (Second Five Year Plan committee, October, 1955.

(4) Third Five Year Plan—A Draft Outline, June, 1960, Ch. 10, P. 195-203.

(5) Seminar on Financing of Small-Scale Industries in India July 20-23, 1959 Vol. I & III (R. B. I., Bombay).

अट्ठाईसवाँ अध्याय

औद्योगिक पिछड़ापन और औद्योगीकरण के उपाय

भारत सदा से एक कृषि प्रधान देश रहा है। १९५१ की जन-गणना के अनुसार ६९·८% व्यक्ति कृषि पर आश्रित थे और केवल १०·५% व्यक्ति ही गैर-कृषि उत्पादन कार्यों में लगे हुये थे। १०·५% में से मुश्किल से २% व्यक्ति बड़े उद्योगों में लगे हुये थे और शेष खानों में एवं कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योगों में लगे हुए थे। अतः भारत में जन-संख्या का नगण्य भाग ही अभी तक बड़े पैमाने के कारखानों में काम पा सका है। यह भारत में औद्योगिक पिछड़ेपन का ज्वलंत उदाहरण है। पिछले ४० वर्षों में (विशेषतया महायुद्ध के समय से) भारत में कारखानों का विकास हुआ है। और आज देश में नाना प्रकार की वस्तुओं के कारखाने स्थापित हो चुके हैं, फिर भी देश की जनसंख्या, विस्तार एवं प्राकृतिक साधनों को देखते हुए अभी तक औद्योगिक विकास बहुत कम हुआ है। देश में भूमि पर जनसंख्या का भार निरन्तर बढ़ता गया है। अधिकांश लोग आज भी गाँवों में ही बसते हैं और राष्ट्रीय आय बहुत कम है। यह सब हमारे औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ेपन का प्रतीक है।

भारत में कुल मिलाकर औद्योगिक विकास ही कम नहीं हुआ है बल्कि जो कुछ विकास हुआ भी है उसमें भी कई त्रुटियाँ रह गई है जिन्हें दूर करने की आवश्यकता है।

(१) उपभोग्य एवं उत्पादक उद्योगों के विकास में संतुलन स्थापित नहीं हो पाया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति तक ज्यादातर उपभोग्य उद्योगों का ही विकास किया गया। लेकिन पंच-वर्षीय योजनाओं में लोहा व इस्पात उद्योग, भारी बिजली का सामान बनाने वाले उद्योग, भारी रासायनिक उद्योग, मशीन-निर्माण आदि पर विशेष बल दिया गया है। इस प्रकार योजनाओं के द्वारा औद्योगिक ढाँचे की पुरानी कमी को दूर किया जा रहा है। कुछ विद्वानों की राय है कि द्वितीय योजना में फैक्ट्री उपभोग्य उद्योगों (Factory Consumer Good's Industries) पर कम ध्यान दिया गया है और उत्पादक उद्योगों पर अत्यधिक बल दिया गया है। साधनों की सीमितता के कारण दोनों पर आवश्यक ध्यान दिया जाना सम्भव नहीं था। अतः योजना आयोग का उत्पादक उद्योगों पर विशेष ध्यान दिया जाना ही उचित माना जायगा।

(२) देश के विभिन्न भागों में संतुलित औद्योगिक विकास नहीं हो पाया। कुछ भागों में बहुत कारखाने खुल गये जबकि अन्य भाग औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े रह गए।

(३) औद्योगिक क्रांति के बाद ब्रिटेन आदि देशों में पुरानी अकुशल छोटे पैमाने की उत्पत्ति की प्रणाली को छोड़ कर नई व कुशल बड़े पैमाने की पद्धति अपनाली गई। इस प्रकार उन देशों ने बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने औद्योगिक ढांचे को प्रगतिशील बना लिया। भारत में उत्पादन की पुरानी व खर्चीली प्रणालियाँ आज भी चालू हैं और उनको बदलने की जगह कृत्रिम सहायता द्वारा उनको चालू रखा जा रहा है। इस प्रकार हम वास्तव में औद्योगिक क्रांति का पूर्ण प्रभाव औद्योगिक ढांचे पर नहीं पा सके। आज भी भारत के सम्मुख एक नवीन, कुशल एवं सस्ती प्रणाली को अपनाने का प्रश्न मौजूद है। परन्तु देश में विशाल जनसंख्या को रोजगार देने की समस्या भी उपस्थित है। नवीन उत्पादन-प्रणालियाँ कम श्रम की मात्रा से ही चल सकती हैं। अतः हम उनको आसानी से नहीं अपना पा रहे हैं।

(४) स्वतन्त्रता प्राप्ति तक जितना भी औद्योगिक विकास हुआ, वह निजी क्षेत्र में ही हुआ। सरकार ने कारखानों की स्थापना नहीं के बराबर की।

(५) भारत मशीनों के लिए दूसरे देशों पर निर्भर रहा जो ठीक नहीं था। यहाँ तक कि छोटे छोटे पुर्जों के लिए विदेशों का मुँह ताकना पड़ा।

भारत के औद्योगिक ढांचे में ये कमियाँ रहना स्वाभाविक था क्योंकि हमारे देश में जो कुछ औद्योगिक विकास हुआ वह प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों से प्रभावित था। औद्योगिक विकास सुनिश्चित औद्योगिक नीति का फल नहीं था बल्कि विदेशी सरकार की विरोधी नीति की छाप लिये हुए था। अतः स्वतंत्रता प्राप्ति तक भारत औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ रहा। पिछले १३ वर्षों में यह पिछड़ापन कम हुआ है। क्योंकि आज हमारी अर्थ-व्यवस्था अविकसित न रहकर विकासोन्मुख (Developing) हो रही है। फिर भी औद्योगिक स्थिति में कोई आधारभूत, क्रांतिकारी व स्थायी परिवर्तन नहीं हो पाया है। अभी तक भारत में औद्योगिक क्रान्ति की शुरूआत हुई है। प्रथम पंच-वर्षीय योजना तो एक कृषि-प्रधान योजना थी। उसमें उद्योगों के विकास के कार्य-क्रम रखे गए थे लेकिन वे ज्यादातर चालू उत्पादन क्षमता का पूर्ण प्रयोग करने से सम्बन्धित ही थे। सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योगों के विकास पर ९४ करोड़ रु० व्यय किये जाने थे जिनमें से केवल ६० करोड़ रु० व्यय किये जा सके। निजी क्षेत्र में विकास व विस्तार के लिये २३३ करोड़ रु० एवं नवीनीकरण के लिए २३० करोड़ रु० रक्खे गए थे जिनमें से पहली श्रेणी का व्यय तो लक्ष्य के अनुसार रहा लेकिन नवीनीकरण पर केवल १०५ करोड़ रु० ही व्यय हो सके। इस प्रकार औद्योगिक विकास की दृष्टि से प्रथम योजना विशेष चमत्कारिक सिद्ध नहीं हुई। दूसरी योजना में भारत ने सही अर्थों में औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात किया है। इसमें आधारभूत उद्योगों को विकास का ऊँचा स्थान दिया गया है और योजना का उद्देश्य तीव्रगति से औद्योगीकरण करना है। इसके लिए योजना में शुरू में उद्योगों के विकास

के लिए कुल १,०९४ करोड़ रु० रक्खे गये थे जिनमें से ५२४ करोड़ रु० सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योगों का विकास करने के लिए एवं ३५ करोड़ रु० राष्ट्रीय उद्योग विकास निगम द्वारा विनियोजित होने के लिए और ५३५ करोड़ रु० निजी क्षेत्र के उद्योगों पर व्यय करने के हेतु रक्खे गये थे। बाद में साधनों की कमी प्रतीत होने के कारण कुछ संशोधन करने पड़े हैं लेकिन फिर भी द्वितीय योजना मूलरूप से एक औद्योगिक विकास की योजना ही मानी जायगी।

उपर्युक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत का पुराना औद्योगिक पिछड़ापन तेजी से समाप्त होता जा रहा है। इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते हैं। लेकिन कुछ क्षेत्रों में यह चर्चा सुनने को मिलती है कि योजना के बावजूद भी भारत का औद्योगिक विकास द्रुतगति से नहीं हो रहा है और इसके लिए सरकार की कर-नीति, औद्योगिक नीति, श्रम-नीति एवं सामान्य आर्थिक-नीति को दोषी ठहराया जाता है। अतः हम औगोगिक पिछड़ेपन के कारणों की जाँच दो भागों में बाँट कर करते हैं:—(क) स्वतन्त्रता प्राप्ति तक औद्योगिक पिछड़ेपन के कारण, (ख) स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् धीमी औद्योगिक प्रगति के कारण।

(क) १९४७ तक औद्योगिक पिछड़ेपन के कारण :—

(१) **ब्रिटिश सरकार की नीति** :—अँग्रेज सरकार भारत के औद्योगिक विकास के प्रति उदासीन ही नहीं थी वल्कि विरोधी थी। अंग्रेजों की मुक्त व्यापार नीति के कारण हमारे कुटीर उद्योग तो नष्ट हो गए लेकिन उनका रिक्त स्थान भरने के लिए आधुनिक ढङ्ग के कल-कारखाने स्थापित नहीं किये गये। वे भारत को कच्चे माल का निर्यातक एवं निर्मित माल का आयातक देश बनाये रखना चाहते थे। शुरू में उन्होंने भारत में मुक्त-व्यापार-नीति (Free Trade Policy) का प्रयोग किया। लेकिन १९२३ में प्रथम राजकोषीय आयोग (Fiscal Commission) के सुझावों के आधार पर विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection) की नीति स्वीकार की गई जिसमें तीन शर्तें पूरी करने वाले उद्योगों को संरक्षण देना निश्चित किया गया। व्यवहार में ये शर्तें कड़ाई से लागू की गईं। तत्पश्चात् साम्राज्यान्तर्गत अधिमान (Imperial preference) कायम रहने से अंग्रेजों को विशेष लाभ हुआ और भारतीय उद्योगों का समुचित विकास नहीं हो सका। ब्रिटिश सरकार ने स्वयं उद्योग स्थापित करने में विशेष रुचि नहीं दिखाई। ब्रिटिश उद्यमकर्त्ताओं ने भी अपनी पूँजी रेलों, बागानों (Plantations) व आयात निर्यात व्यापार में ही लगाना ज्यादा पसन्द किया। अतः उद्योगों का विकास भारतीय उद्योग-पतियों पर छोड़ दिया गया जिन्होंने अवसर का लाभ उठा कर कारखाने स्थापित किये लेकिन उनको सरकार की ओर से पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त नहीं हो सका।

(२) पूँजी का अभाव :—भारत में सदा से ही पूँजी का अभाव रहा है और भारतीय पूँजी लज्जाशील (Shy) भी रही है। देश में प्रति व्यक्ति आय कम होने से बचत करने की शक्ति बहुत कम रही है। जिन लोगों के पास पूँजी है वे भी भारतीय पूँजीपति अपनी पूँजी को सुरक्षित दिशाओं में एवं अत्यन्त लाभपूर्ण कार्यों में लगाना ज्यादा उचित समझेंगे। ज्यादातर पूँजी सट्टेबाजी व व्यापार में ही लगाई गई। अतः उद्योगों को आवश्यक मात्रा में पूँजी उपलब्ध न हो सकी।

(३) निपुण श्रमिकों का अभाव :—भारत में साधारण श्रम का तो बाहुल्य रहा है लेकिन निपुण और दक्ष श्रमिकों की कमी रही है। ट्रेनिंग की सुविधाओं का अभाव रहा है। भारतीय श्रमिक गाँवों में आते जाते रहते हैं। अतः देश में एक कुशल एवं स्थायी श्रमिक-वर्ग का प्रादुर्भाव नहीं हो पाया है। इससे भी औद्योगिक विकास में बाधा पहुँची है।

(४) प्रबन्ध-व्यवस्था का अभाव :—भारत में सदा से कुशल प्रबन्धकों की कमी रही है। मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली के दोषों ने जनता में अविश्वास उत्पन्न कर दिया। यह प्रणाली अकुशल एवं निन्दनीय प्रमाणित हुई। अतः इसने विकास के मार्ग में आगे जाकर बाधायें उपस्थित कर दीं।

(५) प्राकृतिक साधनों की जांच में कमी एवं कुछ साधनों का अभाव :—भारत में प्राकृतिक साधनों की स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व पर्याप्त छानबीन भी नहीं की गई। अतः आर्थिक विकास रुक गया। भारत प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से एक धनी देश माना गया है लेकिन पेट्रोल व कई आवश्यक खनिज-पदार्थों का देश में अभाव पाया जाता है। भारत में उत्तम श्रेणी के कोयले का भी अभाव रहा है। अतः जल-विद्युत-शक्ति के विकास के अभाव में स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व उद्योगों के सामने शक्ति की समस्या बनी रहती थी। भारत की वन-सम्पदा का दुरुपयोग किया गया। खनिज पदार्थ जैसे मैंगनीज, अभ्रक वगैरह निर्यात् कर दिये जाते थे। अतः साधनों की जाँच, प्रयोग एवं विकास और समुचित रक्षा न होने से भी औद्योगिक विकास को धक्का पहुँचा।

(६) सामाजिक वातावरण :—जाति-प्रथा एवं संयुक्त-परिवार-प्रणाली ने श्रम की गतिशीलता में बाधायें डालीं। संयुक्त-परिवार प्रणाली ने प्रेरणा एवं साहस को घटाया और उद्यमकर्त्ताओं को आगे आने से रोका। इनका पूँजी-संचय पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उत्तराधिकार के नियम ने पूँजी के विघटन का मार्ग खोल दिया। इस प्रकार भारत के पिछड़े हुए सामाजिक वातावरण ने औद्योगिक विकास में भी रुकावट डाली।

(७) विदेशी पूँजी की कमी :—सन् १९४७ से पूर्व भारत में विदेशी पूँजी का प्रमुख उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण था। यह या तो रेलों और निर्यात-उद्योगों में

लगी या बागानों में लगी। भारतीय कर्मचारियों के प्रशिक्षण पर ध्यान नहीं दिया गया। उन वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का प्रादुर्भाव नही हो पाया था जो अविकसित अथवा अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों को आर्थिक विकास में मदद पहुँचाती। विश्व बैंक का जन्म भी नहीं हुआ था। अमेरिका भी इतनी विशाल मात्रा में पूँजी-निर्यात् करने को तत्पर नहीं था। अतः विदेशी पूँजी के सहयोग के अभाव में भी हमारे देश का पर्याप्त औद्योगिक विकास नही हो सका।

(८) **यातायात के साधनों का अभाव** :—देश के सभी भागों में यातायात का पर्याप्त विकास न होने से भी कारखानों की उन्नति में बाधा पहुँची।

इस प्रकार आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय कारणों ने भारत के औद्योगिक विकास में बाधायें डालीं। फिर भी युद्ध-जनित परिस्थितियों से लाभ उठा कर भारत में कारखाने स्थापित किये गये। अप्रैल, १९४८ में औद्योगिक नीति घोषित की गई और बाद में १ अप्रैल, १९५१ से प्रथम योजना लागू की गई। योजना में सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों में विकास के लक्ष्य निर्धारित किये गये। १९५६ में नई औद्योगिक नीति अपनाई गई और दूसरी योजना में उसी के आधार पर विकास के कार्यक्रम निर्धारित किये गये। पिछले १३ वर्षों में भी औद्योगिक विकास की गति धीमी ही रही है। उसके लिए निम्न कारण बतलाये गये हैं :—

(१) **देश विभाजन** :—देश के विभाजन से हमें भारी क्षति उठानी पड़ी। सूती वस्त्र उद्योग, एवं जूट उद्योग के सामने कच्चे माल की समस्या उत्पन्न हो गई। खाद्यान्नों का आयात करने में विदेशी मुद्रा का प्रयोग करना पड़ा जो देश के औद्योगीकरण में प्रयुक्त होनी चाहिए थी।

(२) **सरकार की औद्योगिक नीति**—निजी क्षेत्र के समर्थकों का कहना है कि अप्रैल, १९४८ की औद्योगिक नीति व औद्योगिक (विकास व नियमन) अधिनियम, १९५१ ने उद्योगपतियों को निराश किया है और औद्योगिक उन्नति को रोका है। नई औद्योगिक नीति में सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योग स्थापित करने पर विशेष बल दिया गया है। इससे भी निजी क्षेत्र निरुत्साहित हुआ है।

भारत सरकार की औद्योगिक नीति को औद्योगीकरण के मार्ग में बाधक मानना उचित नहीं होगा। यह एक व्यावहारिक नीति है जिसमें निजी व सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों के विकास की यथेष्ट गुंजाइश है। निजी क्षेत्र के लिए वित्तीय व्यवस्था भी बढ़ाई गई है।

(३) **कर-नीति व श्रम-नीति**—पिछले वर्षों में सम्पदा कर, (Estate Duties) धन-कर, व्यय कर, भेंट-कर आदि प्रत्यक्ष करों की भरमार से निजी क्षेत्र में पूँजी-संचय के मार्ग में बाधायें पहुँची है। अतः उद्योगपतियों का कहना है कि उनके पास बचत कम होने लगी है। मजदूरों की दशा सुधारने के लिए उन्हें मँहगाई भत्ता, बोनस

आदि मिलने लगा है। इससे लागत-व्यय बढ़ रहा है और उद्योगपतियों का कहना है कि उत्पादकता उस अनुपात में नहीं बढ़ी है जिस अनुपात में मजदूरी बढ़ी है। अतएव उद्योगपतियों के लाभ की मात्रा घट गई है और पूँजी लगाने के लिए यथेष्ट प्रेरणा नहीं होती। इस बात का निर्णय करना बड़ा कठिन है कि सरकार की कर-नीति से औद्योगिक विकास कहाँ तक रुका है। श्रम-नीति के सम्बन्ध में जो दलील दी जाती है उत्पादिता के तुलनात्मक अध्ययन बिना इसका निराकरण भी कठिन है।

कर-नीति व श्रम-नीति से निजी क्षेत्र पर थोड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। लेकिन समाजवादी ढंग का समाज स्थापित करने के लिए उपर्युक्त नीतियाँ अपनाना आवश्यक है।

(४) टैक्नीकल कर्मचारियों का अभाव—पिछले वर्षों में टैक्नीकल कर्मचारियों की कमी रही है। इसी कारण से औद्योगिक कार्यक्रमों को चलाने में असुविधा का सामना करना पड़ा है।

(५) विदेशी पूँजी का अभाव—भारत के औद्योगिक विकास के लिए जितनी विदेशी पूँजी उपलब्ध होनी चाहिए थी उतनी अभी तक नहीं हो पाई थी। इस सम्बन्ध में काफी अनिश्चितता का वातावरण रहा है जिससे औद्योगिक विकास में बाधा पहुँची है। फिर भी अब स्थिति सुधर गई है और भविष्य में पर्याप्त विदेशी पूँजी मिलने की सम्भावना है। आशा है उससे औद्योगिक विकास में मदद मिलेगी।

(६) आधुनिकीकरण के कार्यक्रमों की धीमी प्रगति—भारत में नये कारखाने स्थापित करने की समस्या के साथ-साथ सूती वस्त्र उद्योग, जूट-उद्योग, चीनी उद्योग आदि में आधुनिकीकरण की भी आवश्यकता रही है। अतः साधनों का उपयोग नवीनीकरण के लिए करना पड़ा है जिससे नये विकास के लिए साधन कम रह गये हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी कुछ कारणों ने औद्योगिक विकास में बाधा डाली है लेकिन कठिनाइयाँ धीरे-धीरे दूर होती जा रही हैं। १९५१ के बाद देश में कई नये कारखानें स्थापित किये गये है, पुरानों का विस्तार किया गया है और कई कारखानों की बेकार क्षमता (Idle Capacity) का पूर्ण उपयोग किया गया है। अतः स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कई नई दिशाओं में कार्य चालू किया गया है और औद्योगिक उत्पादन बढ़ा है। लेकिन अभी तक बहुत कार्य शेष रह गया है। भावी योजनाओं में औद्योगीकरण की गति तेज करने की आवश्यकता है ताकि देश में रोजगार, उत्पादन, आय, बचत आदि बढ़ सकें।

औद्योगीकरण के उपाय

(१) प्राकृतिक साधनों का उपयोग—भारत में पिछले वर्षों में जल-विद्युत-शक्ति का काफी विकास हुआ है। इसी प्रकार हमारी खनिज और वन-सम्पत्ति के विदोहन और विकास द्वारा यथेष्ट औद्योगिक विकास किया जा सकता है।

(२) **श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि**—श्रमिकों का रहन-सहन का दर्जा सुधारने के साथ-साथ उत्पादकता बढ़ाने का भी प्रयत्न किया जाना चाहिए। श्रम को प्रवन्ध में साझेदार बनाना चाहिए ताकि वह उत्पादन बढ़ाने में पूर्ण रुचि ले सके। औद्योगिक सम्बन्धों के सुधार पर भी बल दिया जाना चाहिए। श्रमिक-संघों को भी अपने सदस्यों की दक्षता बढ़ाने की ओर ध्यान देना चाहिये।

(३) **पूँजी-निर्माण में वृद्धि**—औद्योगिक-विकास के साथ-साथ निजी व सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में पूँजी की माँग बढ़ेगी। अतः पूँजी-निर्माण में वृद्धि की जानी चाहिए। बचत को प्रोत्साहन देना चाहिए। सरकार ने पूँजी की पूर्ति बढ़ाने के लिए कई निगम स्थापित किये हैं जिनका विस्तृत विवरण औद्योगिक वित्त के अध्याय में किया गया है।

(४) **सरकारी क्षेत्र में उद्योगों का विकास**—भारत के भावी औद्योगिक ढाँचे में सार्वजनिक क्षेत्र का भी महत्वपूर्ण भाग होगा। अतः सरकारी उद्योगों में कार्यकुशलता का स्तर सुधारा जाना चाहिए। इनकी सफलता पर ही भारत का औद्योगिक भविष्य निर्भर करेगा। इस सम्बन्ध में आगे चलकर विस्तारपूर्वक लिखा गया है।

(५) **विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन**—अभी तक निजी विदेशी पूँजी पर्याप्त मात्रा में भारत में नहीं आ रही है। उसे आकर्षित करने के लिए भारत में अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न की जानी चाहिएँ। विदेशी पूँजी का अधिकतम उत्पादक उपयोग किया जाना चाहिए।

(६) **निजी क्षेत्र के दृष्टिकोण में परिवर्तन की आवश्यकता**—पिछले वर्षों में निजी क्षेत्र ने सरकारी कर-नीति आदि की बहुत निंदा की है और साथ में सार्वजनिक क्षेत्र को नीचा दिखाने का भी प्रयास किया है। लेकिन भविष्य में निजी क्षेत्र को सार्वजनिक हित को सर्वोपरि मानकर चलना चाहिए। सरकार को भी निजी क्षेत्र को प्रोत्साहन देना चाहिए। दोनों क्षेत्रों को एक दूसरे से सहयोग करना चाहिए। तभी भारत का औद्योगीकरण हो सकेगा।

उपर्युक्त सुझावों को कार्यान्वित करके ही भारत तेजी से औद्योगीकरण कर सकेगा। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय रंग-मंच पर भी शान्ति का वातावरण रहना आवश्यक है। हाल ही में भारत-चीन के सीमा-सम्बन्धी प्रश्नों ने तृतीय योजना में सुरक्षा-उद्योगों पर ज्यादा खर्च करने के लिए फैसला करने की तरफ प्रेरित किया है। इस प्रकार राजनैतिक परिस्थितियाँ भी भारत के औद्योगीकरण के कार्यक्रमों को प्रभावित किये बिना नहीं रहेंगी।

अध्याय २८ (अ)
सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय तक भारत में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार केवल रेल, डाक-तार व शस्त्रादि तक सीमित था। परन्तु भारत में समाजवादी ढंग का समाज स्थापित करने का लक्ष्य स्वीकार होने के बाद से परिवहन, व्यापार एवं उद्योग के क्षेत्रों में सरकार की आर्थिक क्रियायें बढ़ रही हैं। तीव्र औद्योगिक विकास के लिए यह आवश्यक समझा गया है कि सरकार आधारभूत उद्योगों की स्थापना करे। सार्वजनिक उपयोग की सेवायें प्रदान करने वाले उद्योग भी सरकार ही चलावे। इसके अलावा विशाल पूँजी की आवश्यकता वाले उद्योगों को भी सरकार ही चलावे क्योंकि निजी उद्योगपति उतनी पूँजी की व्यवस्था नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार उद्योगों के भावी विकास में सरकार का महत्वपूर्ण भाग होगा। १९५६ की नई औद्योगिक नीति में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार किया गया था। इसीलिए द्वितीय योजना में औद्योगिक विकास के कई कार्यक्रम सार्वजनिक क्षेत्र के लिए रक्खे गये हैं।

सार्वजनिक उद्योगों के संगठन का रूप—अब तक सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को तीन तरह से संगठित किया गया है।

(१) विभागीय ढंग पर (Departmental basis)—कुछ उद्योगों का संचालन विशेष सरकारी विभागों द्वारा होता है, जैसे डाक-तार एवं रेलों का अथवा रेलवे बोर्ड द्वारा चितरंजन लोकोमोटिव फैक्ट्री व इन्टीग्रल कोच फैक्ट्री, पैराम्बूर में संचालित हो रही हैं। इसी प्रकार सुरक्षा विभाग की देख-रेख में आम्बेरनाथ में इन्डियन आर्डनेन्स फैक्ट्री चल रही है। लेकिन इस पद्धति का सीमित प्रयोग ही हुआ है।

(२) निगम प्रणाली (Corporations)—भारत में परिवहन, वित्त, बीमा आदि क्षेत्रों में निगमों की स्थापना की गई है जैसे वायु यातायात, निगम बहुउद्देशीय नदी घाटी योजनायें (दामोदर वेली कॉर्पोरेशन), कर्मचारी राज्य बीमा निगम, जीवन-बीमा निगम एवं औद्योगिक वित्त निगम। अभी तक निगम पद्धति का प्रयोग उद्योगों के विकास के लिए नहीं हुआ है।

(३) निजी सीमित दायित्व वाली कम्पनी के आधार पर—सार्वजनिक क्षेत्र के ज़्यादातर उद्योगों को "निजी समिति दायित्व वाली कम्पनियों" के आधार पर संगठित किया गया है। उदाहरण के लिए सिंदरी फर्टीलाइजर्स एण्ड कैमिकल्स लि०, हिन्दुस्तान

स्टील लि०, हिन्दुस्तान केवल्स लि०, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लि०, आदि का संगठन कम्पनी प्रणाली पर किया गया है। संगठन की इस प्रणाली को इसलिए स्वीकार किया गया है कि इसमें विदेशी भी भाग ले सकते हैं। निगम प्रणाली में विदेशी-उद्यम का सहयोग प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

सार्वजनिक क्षेत्र के प्रमुख उद्योग

(१) **दी सिन्दरी फर्टीलाइजर्स एण्ड केमिकल्स लि०**—ऊपर कहा जा चुका है कि यह 'प्राईवेट लिमीटेड कम्पनी' के रूप में संगठित हुई है। इसकी लागत २८ करोड़ रु० हुई है। इसने अक्टूबर, १९५१ से कार्यारम्भ किया। १९५८-५९ में इसने ३,३०,१२२ टन अमोनियम सल्फेट का उत्पादन लिया। कोक अवन प्लान्ट से ज्यादा गैस का प्रयोग करके ६०% उत्पादन बढ़ाए जाने का कार्य-क्रम रक्खा गया है। खाद की बढ़ी हुई माँग को पूरा करने के लिए नाँगल, नेवली, और रूरकेला में तीन नए खाद के कारखाने स्थापित किये जायेंगे। नाँगल का कारखाना १९६० में उत्पादन प्रारम्भ कर देगा। इस कारखाने में अणु-शक्ति विभाग के लिए १४ टन भारी पानी प्रतिवर्ष तैयार किया जायगा। नेवली की फैक्ट्री में यूरिआ और रूरकेला में नाइट्रोलाइमस्टोन तैयार किये जायेंगे।

(२) **दी हिन्दुस्तान केवल्स लि०**—१९५४ में रूपनरायनपुर (पश्चिमी बंगाल) में इस कारखाने ने तार का उत्पादन आरम्भ किया। १९५८-५९ में इसने ६५६ मील लम्बे तार बनाये जो नियोजित वार्षिक क्षमता (४७० मील तार) से ज्यादा थे। अनुमान है कि इस कारखाने की उत्पादन-क्षमता बढ़ा कर १,००० मील लम्बे तार तक कर दी जायगी। १९६० में इस कारखाने में ३०१ मील लम्बे टेलीफोन के तार भी बनने लग जायेंगे।

(३) **दी हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लि०**—बंगलौर के पास जलाहली में मशीन टूल्स फैक्ट्री ने मई, १९५६ में भारतीय द्रुतगति चक्र यन्त्र (Lathes) बनाने चालू किए। १९५८-५९ में फैक्ट्री ने ५५२ मशीनें बनाई, जबकि द्वितीय योजना का लक्ष्य केवल ४०० मशीनें प्रतिवर्ष बनाना था। लेकिन अब यह लक्ष्य बदल कर ८६५ मशीन प्रतिवर्ष कर दिया गया है। यहाँ पर पीसने की मशीनें भी बनाई जायेंगी।

(४) **दी हिन्दुस्तान शिपयार्ड लि०**—सीदिया कम्पनी से मार्च, १९५२ में सरकार ने विशाखापटनम शिपयार्ड ले लिया और इसका प्रबन्ध हिन्दुस्तान शिपयार्ड लि० को सौंपा गया जिसमें सरकार की पूँजी दो-तिहाई रक्खी गई और शेष सीदियाज की रक्खी गई। इस समय ८१% शेयर सरकार के हाथ में हैं। शिपयार्ड प्रतिवर्ष ४ आधुनिक डिजल-जहाज बना सकता है। अब तक यहाँ ३४ समुद्री जहाज एवं २ छोटे क्राफ्ट बन चुके हैं। कोचीन में एक दूसरा शिपयार्ड बनाने की योजना है। इस सम्बन्ध में यू० के० के एक टैक्नीकल मिशन ने अप्रैल, १९५८ में अपनी रिपोर्ट दी।

(५) दी हिन्दुस्तान इन्सैक्टी साइड्स लि०—भारत सरकार ने यूनीकेफ (UNI-CEF) और यूएनटा (UNTAA) की सहायता से दिल्ली में एक डी० डी० टी० (D. D. T.) बनाने का कारखाना खोला है। इस कारखाने ने अप्रैल १९५५ से उत्पादन आरम्भ किया और १९५८-५९ में १,२८८ टन टैक्नीकल डी० डी० टी० और १,१७७ टन फार्मूलेटेड डी० डी० टी० का उत्पादन किया। १९५८ से उत्पादन-क्षमता दुगुनी कर दी गई। और अब १,४०० टन प्रतिवर्ष है। अप्रैल, १९५८ से एक दूसरा डी० डी० टी० का कारखाना केरल के अलवे (Always) नामक स्थान पर चालू किया गया है। इसकी कुल लागत ७९ लाख रु० होगी और उत्पादन-क्षमता १,४०० टन प्रतिवर्ष होगी।

(६) दी हिन्दुस्तान एन्टी बायोटिक्स लि०—यह कारखाना ४ करोड़ रु० की अधिकृत पूंजी से चालू किया गया है। इसके प्रबन्ध में अगस्त, १९५५, में पिम्परी (पूना के पास) में एक पेनिसिलिन की फैक्ट्री ने उत्पत्ति आरम्भ की है। १९५८-५९ में २४२·० लाख मैगा यूनिट पेनिसिलिन का उत्पादन हुआ। इसकी उत्पादन क्षमता ४०० लाख मैगा यूनिट प्रति वर्ष तक की जायगी। १९६०-६१ तक यह फैक्ट्री स्टोप्टो-माइसीन आदि का भी उत्पादन प्रारम्भ कर सकेगी।

(७) दी नेशनल इन्स्ट्रूमेन्ट्स फैक्ट्री—यह १८३० में कलकत्ते में स्थापित की गई थी। द्वितीय महायुद्ध के समय में इसकी उन्नति हुई। जून, १९५७ में यह सरकारी कम्पनी हो गई। यह २५० किस्म के वैज्ञानिक यंत्र बनाती है जिसमें हाइड्रोमीटर, बैरोमीटर, मोनोमीटर आदि शामिल हैं। १९५८-५९ में इस कारखाने में ४२ लाख रु० के यंत्र बनाए गए।

(८) दी हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट लि०—यह कंपनी १९४० में बंगलौर में ४ करोड़ रु० की अधिकृत पूंजी से चालू की गई थी। मार्च, १९५१ में इसकी दी हुई पूंजी ३·८ करोड़ रु० थी जिसमें से ३·२ करोड़ रु० की पूंजी सरकार की थी। इसमें भारतीय वायु सेना के वायुयानों की मरम्मत और देख-भाल के अतिरिक्त 'वैम्पायर' वायुयान और 'एच० टी० २' नाम के शिक्षण के वायुयान बनाये जाते हैं। यहाँ रेल के डिब्बे और बसें भी बनाई जाती हैं।

(९) दी चित्तरंजन लोकोमोटिव कारखाना—रेल के इन्जनों में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने के लिये रेल मन्त्रालय के अधीन चित्तरंजन (पश्चिमी बंगाल) में यह कारखाना स्थापित किया गया है। इसकी वर्तमान उत्पादन-क्षमता लगभग २०० इन्जन प्रतिवर्ष है। भविष्य में यह क्षमता ३०० इन्जन प्रतिवर्ष करदी जायगी।

(१०) दी इन्टीग्रल कोच फैक्ट्री—पैराम्बूर (मद्रास) में इस फैक्ट्री ने अक्टूबर, १९५५ से उत्पादन प्रारम्भ किया १९५८-५९ में ३८० डिब्बे बनाए गए। इस फैक्ट्री में दूसरी पाली (Shift) में काम होने लग गया है।

(११) दी नाहन फाउन्टरी लि० यह अक्टूबर, १९५२ से आरम्भ हुई और जनवरी, १९५३ में इसका प्रबन्ध एक कम्पनी को दे दिया गया। इसका प्रबंध राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त एक संचालक मंडल द्वारा किया जाता है। फाउन्टरी कृषि के औजार बनाती है जैसे गन्ना पेरने के यन्त्र। १९५२-५३ के बाद निजी क्षेत्र की प्रतियोगिता के कारण गन्ना पेरने के यंत्रों का उत्पादन कम कर दिया गया और रेल विभाग व डाक-तार विभाग के लिए विविध प्रकार की ढलाई का कार्य होने लगा। फाउंडरी के नवीनीकरण के लिए प्रयत्न किये जा रहे है। १९५८-५९ में २,४६४ टन उत्पादन हुआ है।

(१२) तीन इस्पात के कारखाने—दी हिन्दुस्तान स्टील लि० के अधीन भारत में तीन बड़े इस्पात के कारखाने स्थापित किये गये हैं, पहला रूरकेला (उड़ीसा) में, दूसरा भिलाई (मध्य प्रदेश) में और तीसरा दुर्गापुर (पश्चिमी बंगाल) में। संशोधित अनुमानों के अनुसार इनका कुल व्यय लगभग ५५९ करोड़ रु० होगा। इनमें से प्रत्येक की उत्पादन-क्षमता लगभग १० लाख टन सिल्लियां (Steel ingots) होंगी। इनका विस्तृत विवरण 'लोहा और इस्पात' उद्योग के अन्तर्गत किया गया है।

(१३) हैवी इलेक्ट्रिकल्स लि०—यह कम्पनी अगस्त १९५६ में बनाई गई। भोपाल में इसका कारखाना स्थापित किया गया है। प्रारम्भ के ७-८ वर्षों में लगभग २१ करोड़ रु० व्यय होने का अनुमान है। १९६० में कुछ विभागों का कार्य आरम्भ होने की आशा है। द्वितीय योजना की समाप्ति से पूर्व भारी ट्रान्सफॉर्मर, औद्योगिक मोटर्स, ट्रैक्शन मोटर्स एवं स्वीचगियर्स उत्पन्न होने लग जायेंगे। शेष भारी वस्तुएँ तृतीय योजना में बनाई जा सकेंगी।

(१४) विविध कारखानों का विकास—चित्तरंजन फैक्टरी में एक भारी इस्पात की फाउंडरी स्थापित की जायगी जिसकी क्षमता ७,००० टन होगी। हिन्दुस्तान मशीन टूल्स का विस्तार किया जायगा। दक्षिण अर्काट (मद्रास) में नेवली नामक स्थान पर लिग्नाइट कोयले की खानों का विकास किया जायगा। दिसम्बर १९५६ में नेवली लिग्नाइट निगम ने यह कार्य अपने हाथ में लिया था।

अगस्त, १९५८ में ३० करोड़ रु० की अधिकृत पूँजी से दी इन्डियन रिफाइनरीज लि० नाम की सरकारी कम्पनी बनाई गई है। यह आसाम और बिहार में दो तेल साफ करने की रिफायनरी स्थापित करेगी। आसाम की रिफायनरी की मशीनों के लिए रूमानिया की सरकार से मदद ली गई है।

कार्य-कुशलता की समस्या—सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों के सामने सबसे बड़ी समस्या कार्यक्षमता बढ़ाने की है। यह दो दृष्टियों से आवश्यक है। प्रथम तो राष्ट्रीय उद्योग होने के नाते जनता की आँखें इनके कार्य-कलापों पर लगी रहती हैं और इनके लिए आवश्यक हो जाता है कि ये कार्य-कुशलता बढ़ावें, लागत कम कर सकें एवं उत्तम किस्म का माल बना सकें। दूसरी बात यह है कि निजी क्षेत्र की तुलना में इनका

कार्य ज्यादा अच्छा होना चाहिए वरना निजी उद्योगपतियों को सरकारी क्षेत्र की निंदा का मौका मिल जायगा। अतः सार्वजनिक क्षेत्र को औद्योगिक सम्बन्ध, श्रम-कल्याण कार्य, श्रमिकों को प्रवन्ध में हिस्सा, उत्पादन की किस्म व लागत आदि में एक आदर्श उपस्थित करना चाहिए ताकि निजी क्षेत्र वाले भी उसका अनुगमन कर सकें।

सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की कार्य-कुशलता बढ़ाने के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) संसद का नियंत्रण—सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योग चाहे निगम के रूप में संगठित हों या कम्पनी अथवा सरकारी विभाग के अन्तर्गत हो, ये संसद के नियंत्रण में होने चाहिएँ। इनको संसद के प्रति जवाबदेह होना चाहिए। लेकिन संसद को दैनिक कार्यों में व साधारण सौदों (Ordinary transactions) में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। ऐसे कार्यों में उद्योगों को पर्याप्त आन्तरिक स्वतंत्रता दी जानी चाहिए। सरकार को महत्वपूर्ण वातों में ही हस्तक्षेप करना चाहिए। संसद में उद्योगों की सालाना रिपोर्ट व खातों पर बहस होनी चाहिए।

(२) कार्य कुशलता जाँच (Efficiency audit) :—सार्वजनिक उद्योगों में प्रतिवर्ष कार्य कुशलता की जाँच की जानी चाहिए। ऐसा करने से त्रुटियों पर ध्यान दिलाया जा सकेगा और भविष्य में अधिकारी ज्यादा सावधानी से कार्य कर सकेंगे।

(३) संचालक मंडल का चुनाव :– सार्वजनिक उद्योगों का प्रवन्ध एक संचालक मंडल द्वारा किया जाना चाहिए जिसमें उस उद्योग विशेष का ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों को सदस्य वनाया जाय। ऐसा करने से कार्य कुशलता बढ़ सकेगी। निजी क्षेत्र के अनुभवी व्यक्तियों को भी संचालक मंडल में लिया जाना चाहिए।

(४) अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति में सावधानी :—अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति भी सावधानी से की जानी चाहिए। सरकारी विभागों के प्रशासकों को उद्योग की व्यवस्था का अनुभव नहीं होता है इसलिए विशेष कर्मचारियों को औद्योगिक प्रबंध-सेवा (Industrial Management Servier) के अन्तर्गत चुनना चाहिए और बाद में उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए। ऐसा करने से ही सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को उच्च श्रेणी के कर्मचारी उपलब्ध हो सकेंगे।

सार्वजनिक उद्योगों के संगठन व प्रबन्ध के बारे में विशेषज्ञों के मत

गोरवाला रिपोर्ट के सुझाव :—योजना आयोग ने १९५१ में श्री ए० डी० गोरवाला को सार्वजनिक उद्योगों के कुशल प्रवन्ध के बारे में सुझाव देने के लिए नियुक्त किया। गोरवाला रिपोर्ट में निम्न सुझाव दिये गये :—

(१) सरकारी उद्योगों का प्रवन्ध करने के लिए एक स्वतन्त्र संस्था (Antonomous authority) बनाई जाय।

(२) लोक सभा में सरकारी उद्योगों के वार्षिक हिसाब व प्रगति पर विचार किया जाना चाहिए।

(३) बोर्ड के अध्यक्ष व सदस्यों की नियुक्ति मंत्री द्वारा की जानी चाहिए। मंत्री का हस्तक्षेप कम से कम होना चाहिए। वह सिर्फ राष्ट्रीय हित के मामलों में निर्देशन करे।

(४) सिंचाई व जल-विद्युत के कार्यक्रमों को चलाने के लिए सार्वजनिक निगम बनाने चाहिएँ। उत्पादन व बिक्री कार्य के लिए कम्पनी बनाई जानी चाहिए।

(५) सार्वजनिक उद्योग के संचालक मंडल में लोक सभा के सदस्य व मंत्री नहीं होने चाहिएँ। इसमें सिर्फ अनुभवी व योग्य व्यक्ति ही शामिल किये जाने चाहिएँ।

(६) प्रत्येक उद्योग में दो बोर्ड होने चाहिएँ—एक तो नीति निर्धारित करे और दूसरा उसे कार्यान्वित करे।

इस प्रकार श्री गोरवाला ने सार्वजनिक उद्योगों के लिए लोकसभा के नियंत्रण में समिति स्वतन्त्रता की नीति अपनाने का सुझाव दिया। प्रो० गैलब्रेथ ने संसदीय नियंत्रण का समर्थन नहीं किया है। डा० एपलबी का भी कहना है कि संसदीय नियंत्रण नकारात्मक होता है। संसद में उद्योग की आलोचना ही होती है, कोई प्रशंसा नहीं होती है। अतः संसद का नियंत्रण कम किया जाना चाहिए। हमें श्री गोरवाला का मत उचित जान पड़ता है जिसमें लोकसभा का नियंत्रण आवश्यक बतलाया गया है। लेकिन लोक सभा को उद्योग के साधारण सौदों में नुक्ताचीनी नहीं करनी चाहिए।

सार्वजनिक क्षेत्र के बढ़ते हुए महत्व को देखते हुए वाणिज्य व उद्योग मंत्रालय ने सितम्बर, १९५७ में एक संयोजक समिति (A Co-ordinating Committee) नियुक्त की है। यह समिति सार्वजनिक उद्योग की प्रगति की देख-रेख करेगी। यह समिति प्रत्येक उद्योग की समस्याओं पर विचार करेगी और उचित हल सुझायेगी। वाणिज्य व उद्योग मंत्री इसके अध्यक्ष होंगे। संयोजक समिति ने तीन उप-समितियाँ बनाई हैं—(१) श्रम व कर्मचारियों सम्बन्धी समिति, (२) वित्त व क्रय-विक्रय समिति एवं (३) उत्पादन व ट्रेनिंग समिति। ये उप-समितियाँ अपने अपने क्षेत्र की समस्याओं पर विचार-विमर्श करेंगी। आशा है यह संयोजक समिति सार्वजनिक उद्योगों के विकास में विशेष मदद दे सकेगी।

संदर्भ-ग्रन्थ

1. India 1960, p. 315-320.
2. The Industrial Economy of India—S. C. Kuchhal (Second Edition, 1960) [Chapter on Administration of State Enterprises]

अट्ठाईसवाँ अध्याय (अ)

सूती वस्त्र उद्योग

भूमिका—सूती वस्त्र उद्योग भारत का सबसे बड़ा उद्योग माना जाता है। यह हमारे देश का प्राचीन उद्योग है। रोजगार देने की दृष्टि से इसका कृषि के बाद दूसरा स्थान आता है। १९५९ के प्रारम्भ में भारत में कुल[1] ४८२ मिलें थीं जिनमें १८८ कताई की मिलें और २९४ कताई-बुनाई दोनों कार्य करने वाली मिश्रित (Composite) मिलें थीं। इस उद्योग में लगभग १२० करोड़ रु० की पूँजी लगी हुई थी और लगभग ९ लाख मजदूर काम पाये हुए थे। १९५८ में मिलों का वस्त्र-उत्पादन ४,९२७ मिलियन गज हुआ जो १९५७ की तुलना में कम था। भारत सूती वस्त्र का निर्यात विभिन्न देशों में करता है जैसे हिन्देशिया, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, फिनलैंड आदि। अतः विदेशी मुद्रा प्राप्त करने की दृष्टि से इस उद्योग का महत्वपूर्ण स्थान हो गया है।

संक्षिप्त इतिहास—भारत के सूती वस्त्र का अतीत बड़ा गौरवपूर्ण रहा है। विभिन्न इतिहासकारों ने इसकी महानता स्वीकार भी की है। भारत की मलमल विदेशों में बहुत सम्मान प्राप्त कर चुकी थी। लेकिन यह प्रसिद्धि तो उस युग की है जब सूती वस्त्र मिल उद्योग का विकास नहीं हो पाया था। भारत में पहली मिल १८१८ में कलकत्ते के पास घुसरी नामक स्थान पर स्थापित हुई लेकिन इस उद्योग का वास्तविक प्रारम्भ १८५४ से माना जाता है जबकि बम्बई में एक मिल स्थापित की गई और उसके बाद बम्बई में और उसके आस-पास इस उद्योग का विकास होता चला गया। बाद में सूती कपड़े की मिलें अहमदाबाद, शोलापुर, कानपुर एवं मद्रास आदि स्थानों में चालू की गईं।

प्रथम महायुद्ध ने इस उद्योग की प्रगति में सहायता पहुँचाई क्योंकि बाहर से वस्त्र का आयात घटा और देश में तेजी से कारखाने स्थापित किये गये। युद्ध समाप्त होने के बाद जापान वगैरः की प्रतियोगिता बढ़ने लगी अतः उद्योग को संरक्षण प्रदान करने की माँग की गई। १९२७ में संरक्षण स्वीकृत हुआ-जिसके अनुसार विदेशी वस्त्र पर आयात कर लगाया गया।

द्वितीय महायुद्ध ने भी सूती वस्त्र मिल उद्योग को विकास का अवसर प्रदान किया। भारत में कपड़े के भाव बढ़ने लगे और सरकार ने कपड़े के उत्पादन, वितरण

---

1. (a) India 1960 Page 311

एवं भावों पर नियंत्रण लगा दिये। १९४७ में वस्त्र उद्योग की स्थिति सुधर जाने के कारण संरक्षण बन्द कर दिया गया।

देश-विभाजन से वस्त्र उद्योग को बड़ा धक्का लगा क्योंकि कच्चे माल के क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये जिससे भारत में कपास का विशेषतः लम्बे रेशों की रुई वाली कपास का अभाव उत्पन्न हो गया। सरकार ने अधिक कपास उत्पन्न करने का कार्य-क्रम निश्चित किया फिर भी कपास की कमी के कारण कारखानों को बहुत क्षति हुई।

प्रथम पंच वर्षीय योजना में प्रगति—प्रथम योजना के प्रारम्भ में देश में कुल ३७८ मिलें थीं (१०३ कताई मिलें व २७५ मिश्रित मिलें) जिनमें १०,९४२,२४१ तकुए और १९४,४११ कर्घे थे। १९५०-५१ में मिल वस्त्र उत्पादन ३,७१८ मिलियन गज था और सूत का उत्पादन १,१७९ मिलियन पौंड था। प्रथम योजना के अन्त तक अर्थात् १९५५-५६ में मिल वस्त्र उत्पादन का लक्ष्य ४,७०० मिलियन गज और सूत-उत्पादन का लक्ष्य १,६४० मिलियन पौंड रक्खा गया। निर्यात के लिए १००० मिलियन गज प्रतिवर्ष का लक्ष्य निर्धारित किया गया। प्रथम योजना के पाँच वर्षों में कपास का उत्पादन लगभग २९·७ लाख गाँठों से बढ़ कर ४२·३ लाख गाँठ करने का लक्ष्य रक्खा गया ताकि कच्चे माल की पूर्ति बढ़ सके।

प्रथम योजना में कताई विभाग में साधारण विस्तार के कार्य-क्रम अपनाये गये और बुनाई भाग में करीब-करीब कोई वृद्धि न करने का लक्ष्य निश्चित किया गया। इस प्रकार पहले की बिना काम में ली हुई शक्ति के सर्वोत्तम उपयोग पर बल दिया गया। देश विदेश में वस्त्र की माँग बढ़ने से उत्पादन निरंतर बढ़ता गया। १९५५ में मिलों के वस्त्र उत्पादन ५,०९४ मिलियन गज हुआ जो १९५५-५६ के ४,७०० मिलियन गज के लक्ष्य से अधिक था। इसी प्रकार १९५५ में सूत का उत्पादन १,६३० मिलियन पौंड हुआ जो लक्ष्य के बराबर था। अतः प्रथम पंच-वर्षीय योजना में सूती वस्त्र का उत्पादन लक्ष्य से अधिक रहा। प्रति व्यक्ति वस्त्र का उपभोग १९५० में ९·७ गज से बढ़कर १९५५ में १५·९ गज हो गया।

हाथ कर्घा क्षेत्र में भी उत्पादन बढ़ा और १९५५-५६ में[1] १,५०० मिलियन गज का उत्पादन हुआ जो लक्ष्य (१,७०० मि० गज) से कम था लेकिन १९५० के उत्पादन की तुलना में लगभग दुगुना था। शक्ति कर्घा क्षेत्र में भी उत्पादन १९५० में १४८ मिलियन गज से १९५५ में २७३ मिलियन गज हो गया। इस प्रकार वस्त्र के उत्पादन में मिल, हाथ कर्घा, शक्ति कर्घा तीनों क्षेत्रों में वृद्धि हुई। कपास का उत्पादन भी प्रथम पंच-वर्षीय योजना में २९·७ लाख गाँठों से बढ़कर ४२ लाख गाँठें हो गया जो लक्ष्य के बराबर ही था। सबसे ज्यादा वृद्धि लम्बे रेशे की कपास के उत्पादन में हुई। फिर भी भारत को उत्तम श्रेणी की रुई का आयात करना पड़ता है। कीनिया, सूडान

1. Programmes of Industrial Development 1956-61 P. 340

व मिश्र और अमेरिका से बढ़िया किस्म की कपास प्रतिवर्ष मँगाई जाती है। भारत छोटे रेशे की रुई का निर्यात ब्रिटेन जापान को प्रमुखतया करता है।

प्रथम योजना में सूती वस्त्रों के निर्यात के लिए प्रतिवर्ष १००० मिलियन गज का अनुमान लगाया गया था। निर्यात की मात्रा १९५०-५१ में १२७० मिलियन गज (हाथ-कर्घा व मिल वस्त्र दोनों का मिला कर) रही लेकिन १९५१-५२ में यह घटकर केवल ४२४ मिलियन गज हो गई। पुनः यह आगामी वर्षों में बढ़ी और १९५४-५५ में यह ८१३ मिलियन गज थी। भारत को विदेशी बाजारों में बढ़ती हुई प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है। अतः हमारे देश में भी अच्छा व सस्ता सूती वस्त्र उत्पन्न करने की आवश्यकता है।

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में सूती वस्त्र उद्योग—द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में सूत व सूती वस्त्र के उत्पादन में वृद्धि जारी रक्खी जायगी। ऐसा अनुमान है कि १९६०-६१ तक कुल सूती वस्त्र का वार्षिक उत्पादन ८,५०० मिलियन गज हो जायगा और सूत का उत्पादन १,९५० मिलियन पौंड होने लगेगा। प्रति व्यक्ति कपड़े का उपभोग १९६०-६१ में १८·४ गज सालाना होने लगेगा जब कि १९५५-५६ में यह लगभग १६ गज हो गया था। १९६०-६१ तक कपास का वार्षिक उत्पादन लगभग ५५ लाख गाँठें हो जायगा। विदेशों से कपास का आयात करना होगा लेकिन देश में कपास का उत्पादन बढ़ने से आयात की मात्रा घटाई जा सकेगी। दूसरी योजना में भी प्रतिवर्ष सूती वस्त्र निर्यात का लक्ष्य १००० मिलियन गज ही रक्खा गया है।

वर्तमान स्थिति—१९५८ में सूती वस्त्र का उत्पादन ४,९२७ मिलियन गज हुआ जो १९५६ और १९५७ के उत्पादन की तुलना में कम था। विदेशों में हमारे कपड़े की माँग घटने से उत्पादन में गिरावट आई है। विश्व व्यापार में सामान्य मन्दी आ जाने से एवं कट्टर विदेशी प्रतिस्पर्द्धा के कारण भी निर्यात घट गये। इस उद्योग में मन्दी छा जाने के अन्य कारण इस प्रकार थे[1]—पुरानी मशीनों के कारण ऊँची उत्पादन-लागत, अत्यधिक श्रम-शक्ति, उपभोक्ता की पसंद के सम्बन्ध में उचित जाँच का अभाव। मिल के कपड़े का निर्यात १९५८ में सिर्फ ५८२ मिलियन गज हुआ जब कि १९५७ में निर्यात की मात्रा ८४० मिलियन गज थी। देश में भी कपड़े की माँग घटने से मिलों में स्टॉक जमा होता गया। उद्योग की स्थिति सुधारने के लिए सरकार ने निम्न उपाय काम में लिए :—(क) उत्पादन कर में अत्यधिक कमी की गई; (ख) एक निर्यात-संवर्द्धन-कार्यक्रम घोषित किया गया जिसके अनुसार निर्यात करने वाली मिलों को निर्यात से प्राप्त राशि का कुछ भाग मशीनें व कच्चा माल मँगाने के लिए छोड़ा गया, (ग) ३,००० स्वचालित कर्घों की स्थापना की आज्ञा इस शर्त पर दी गई कि उनका सारा माल निर्यात किया जाय और साथ में १९५४-५६ के

1. Report on Currency and Finance, 1958-59 Page 15.

वर्षों में किसी वर्ष के निर्यात का ५०% भी निर्यात किया जाय। मई १६५६ में मिलों को १६५६-६१ के तीन वर्षों में ७५०० स्वचालित कर्घे लगाने की आज्ञा प्रदान की गई है और उन पर से निर्यात करने की शर्त हटा दी गई है।

सूती वस्त्र उद्योग की समस्यायें—देश के इस प्रमुख उद्योग की समस्याओं के सुलझाने पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। इसकी मुख्य समस्यायें इस प्रकार हैं—

(१) **मशीनों को बदलने की अनिवार्यता**—भारत में सूती कपड़े की मिलों में लगी हुई मशीनें पुरानी हो चुकी हैं। उनके स्थान पर नई मशीनें लगाने की आवश्यकता है। यह कार्य १०-१५ वर्षों पर फैलाकर करना होगा। इसके लिए मिलों के पास पर्याप्त साधन नहीं हैं अतः उन्हें ऋण देना पड़ेगा। सौभाग्य का विषय है कि राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की तरफ से नई मशीनें लगाने के लिए पूंजी की व्यवस्था की जा रही है। नई मशीनों, औजारों व यंत्रों से ही लागत कम की जा सकेगी और माल की किस्म सुधारी जा सकेगी। सूती वस्त्र उद्योग में तेजी से अभिनवीकरण किया जाना चाहिए।

(२) **विदेशी बाजारों में निर्यात बढ़ाने की समस्या**—सूती वस्त्र का निर्यात बढ़ाने की समस्या ने भी पिछले वर्षों में गम्भीर रूप धारण कर लिया है। जापान अपना सूती-वस्त्र का बाजार बढ़ा रहा है। जापान की मशीनें नई एवं स्वचालित हैं। अतः उसका माल सस्ता एवं बढ़िया होता है। पाकिस्तान भी सूती वस्त्र उद्योग का विकास कर रहा है। आधुनिक मशीनों, पर्याप्त कच्चा माल, एवं सस्ते श्रम की सहायता से वह निकट भविष्य में घरेलू मांग की पूर्ति करने के साथ साथ निर्यात भी कर सकेगा। इसके अतिरिक्त दुनियाँ के अन्य कपास उत्पादन करने वाले देश जैसे ब्राजील, मिश्र, तुर्की आदि भी मिलें खोलना चाहते हैं और अपने उद्योगों को संरक्षण देना चाहते हैं। अतः ऐसी स्थिति में भारत का विदेशों में प्रतियोगिता का सामना करना कठिन होता जा रहा है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए वस्त्र उद्योग का आधुनिकीकरण करने की आवश्यकता है।

(३) **अकुशल व अलाभप्रद मिलों की समस्या**—भारत में सूती वस्त्र की ऐसी मिलें भी हैं जिनका आकार छोटा है और वे अलाभप्रद इकाइयाँ मानी जाती हैं। उनमें आवश्यक विस्तार एवं सुधार करके उन्हें कुशल व लाभप्रद बनाने की आवश्यकता है।

(४) **मिल, हाथ-कर्घा एवं शक्ति-कर्घा के उत्पादन में समन्वय की समस्या**—सूती वस्त्र का उत्पादन मिलों से, हाथ-कर्घों से एवं शक्ति-कर्घों तीनों से ही हो सकता है। प्रश्न यह है कि प्रत्येक के लिए कितना २ क्षेत्र छोड़ा जाना चाहिए। हमारे देश में हाथ-कर्घा उद्योग को पनपाने के लिए मिल वस्त्र के उत्पादन पर सीमा-निर्धारण की चर्चा की गई है। कुछ क्षेत्र हाथ-कर्घा उद्योग के लिए सीमित किये गये हैं एवं मिल के उत्पादन पर एक विशेष कर (Cess) लगाया गया है जिसकी कुल राशि का

उपयोग हाथ-कर्घा उद्योग को पनपाने के लिए किया जा रहा है। मिल मालिकों का कहना है कि मिलों के उत्पादन की मात्रा पर सीमा लगाकर व कर लगाकर हाथ-कर्घा उद्योग का विकास करना अनुचित है। अतः भारत में इन तीनों में सहयोग व समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता है। यह समस्या कताई तक भी फैली हुई है। मिल के सूत एवं अम्बर चर्खे के सूत में प्रतिस्पर्द्धा है। अतः सूती-वस्त्र की विभिन्न शाखाओं में एकता व सहयोग स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक है।

(५) विविध—इस उद्योग की अन्य समस्याओं में कपास का अभाव, उत्पादन कर (Excise-duty) से बिक्री में गिरावट आदि भी हैं लेकिन कपास का उत्पादन बढ़ाकर एवं उत्पादन-कर में कमी करके इन समस्याओं को काफी सीमा तक हल किया जा चुका है। अब तो समस्त उद्योगों में नवीनीकरण की आवश्यकता है।

सूती वस्त्र उद्योग की प्रगति के लिए विभिन्न समितियों के सुझाव

(१) कानूनगो कमेटी की सिफारिशें—श्री नित्यानन्द कानूनगो की अध्यक्षता में नवम्बर, १९५२ में एक कमेटी सूती वस्त्र उद्योग की विभिन्न समस्याओं की जाँच के लिए नियुक्त की गई। उसने सितम्बर १९५४ में अपनी रिपोर्ट पेश की जिसमें उद्योग की प्रगति के लिए निम्न सुझाव दिये :—

(क) कमेटी ने अनुमान लगाया कि १९६० तक कपड़े की कुल माँग ८,२०० मिलियन गज हो जायगी। १९५४ में कपड़े का उत्पादन ६,६०० मिलियन गज था। अतः १,६०० मिलियन गज अतिरिक्त कपड़ा उत्पन्न करना होगा। कमेटी ने राय दी कि यह हाथ-कर्घा व शक्ति-कर्घों द्वारा ही उत्पन्न किया जाना चाहिए। अतः मिलों में बुनाई क्षेत्र का विस्तार रोक देना चाहिये।

(ख) प्रतिवर्ष साधारण कर्घों की जगह स्वचालित कर्घों की स्थापना ५,००० की दर से होनी चाहिये। यह कार्य-क्रम २० वर्षों तक चलना चाहिए।

(ग) १२ लाख हाथ कर्घों को अर्द्ध-स्वचालित कर्घों या शक्ति-कर्घों में धीरे-धीरे बदल लेना चाहिये ताकि कार्य-कुशलता बढ़ सके।

(२) कर्वे कमेटी की सिफारिश—योजना आयोग ने १९५५ में द्वितीय योजना में छोटे उद्योगों के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए यह कमेटी नियुक्त की थी। कमेटी ने वस्त्र उद्योग के सम्बन्ध में सुझाव देते समय कहा कि मिल व शक्ति-कर्घों का उत्पादन क्रमशः ५,००० मिलियन गज व २०० मिलियन गज तक सीमित कर देना चाहिये। द्वितीय योजना में बढ़ी हुई कपड़े की माँग की पूर्ति हाथ-कर्घा उद्योग से की जानी चाहिए कमेटी ने हाथ कर्घों को शक्ति-कर्घों में बदलने का सुझाव नहीं माना लेकिन आधुनिक क़िस्म के हाथ-कर्घों के उपयोग का समर्थन किया।

(३) जोशी कमेटी (१९५८) की सिफारिशें—श्री डी० ए० रमन की अध्यक्षता

में गई १९५८ में सरकार ने एक कमेटी वस्त्र-उद्योग की जाँच के लिए नियुक्त की। उद्योग की कठिनाईयों को दूर करने के लिए निम्न सुझाव दिये गये :—

(क) उत्पादन-कर (Excise duty) और घटाया जाय। १९५७ के अन्त में एवं १९५८ के प्रारम्भ में सूती वस्त्र पर से उत्पादन कर बहुत कुछ कम कर दिया गया था लेकिन फिर भी कर का बोझा बना हुआ था। जुलाई १९५८ में कमेटी के सुझाव पर उत्पादन-कर पुनः घटाया गया जिससे उद्योग की समस्या सुलझने में सहायता मिली।

(ख) नवीनीकरण के सबंध में कमेटी ने कहा कि प्रत्येक मामले पर राष्ट्रीय हित व उद्योग के हित की दृष्टि से विचार करना होगा। अतः कमेटी ने तीव्र नवीनीकरण का समर्थन नहीं किया।

(ग) कमेटी ने सुझाव दिया कि ३००० स्वचालित कर्घे स्थापित किये जाँय और उनका वस्त्र निर्यात किया जाय। मिलें इस वस्त्र के अतिरिक्त कम से कम वर्तमान निर्यात का ५०% और निर्यात करेंगी।

सरकार ने सूती वस्त्र उद्योग की समस्याओं को हल करने के लिए जोशी कमेटी के सुझाव स्वीकार किये हैं। जुलाई, १९५८ में उत्पादन कर घटाया गया है।[1] मई १९५९ में मिलों को १९५९, १९६०, १९६१ में ७५०० स्वचालित कर्घे लगाने की आज्ञा प्रदान की गई है और निर्यात की शर्त भी हटा दी गई है। भविष्य में सूती वस्त्र उद्योग में नई व स्वचालित मशीनों का प्रयोग बढ़ाया जाना चाहिए ताकि लागत कम की जा सके, माल की किस्म भी सुधारी जा सकें, निर्यात बढ़ाये जा सकें एवं उद्योग भविष्य में भी विकसित हो सके। सरकार को अपनी वस्त्र-कर नीति इस प्रकार की अपनानी चाहिए कि आन्तरिक व विदेशी माँग बढ़ सके।

जूट उद्योग

भूमिका—जूट उद्योग भारत का प्रमुख निर्यात उद्योग है। यह प्रवन्ध एवं पूँजी व्यवस्था की दृष्टि से आधुनिक ढंग पर संगठित है। भारत में सूती वस्त्र उद्योग के बाद जूट-उद्योग का स्थान आता है। १९५४ की भारतीय उत्पादन-गणना (Census of Indian Manufactures) के अनुसार भारत में १०८ जूट की मिलें थीं जिनमें ६५·३ करोड़ रु० की पूँजी लगी हुई थी (३१·३ करोड़ रु० स्थायी पूँजी) और २,७१,४१५ व्यक्ति काम पाये हुए थे। यह उद्योग प्रमुखतया कलकत्ते के आस-पास केन्द्रित है। उद्योग को प्राकृतिक सुविधायें होने से यह बिना संरक्षण के ही उन्नति करता गया है। विभाजन से पूर्व भारत कच्चा जूट और जूट का सामान दोनों निर्यात करने की स्थिति में था। लेकिन विभाजन के पश्चात् कच्चे जूट का आयात करना

1. Report on Currency & Finance, 1958-59 P. 15 (Footnote)

पड़ा और सिर्फ जूट का सामान ही निर्यात किया गया। आज भी भारत जूट के माल का प्रमुख निर्यातक देश है।

प्रारम्भिक इतिहास—भारत में जूट की मिलों का इतिहास लगभग १०० वर्ष पुराना है। इस उद्योग का विकास विदेशों में जूट के सामान की माँग पर निर्भर रहा है। जब कभी विदेशी माँग बढ़ी तभी इस उद्योग को उन्नति का अवसर मिला। विदेशों में माँग घटने की स्थिति में इसे मन्दी के दिन देखने पड़े। प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ में भारत में ६० जूट की मिलें थीं। लड़ाई के जमाने में जूट के सामान का निर्यात बढ़ा जिससे नई मिलें स्थापित की गईं। १९२५-२६ में मिलों की संख्या बढ़ कर ९० होगई। १९३० के बाद उद्योग को मन्दी का सामना करना पड़ा इसलिए विकास की गति रुक गई। १९४७ में देश में कुल १०६ जूट की मिलें थीं।

जूट उद्योग पर सबसे बड़ा प्रभाव विभाजन का पड़ा है क्योंकि विभाजन से जूट उत्पन्न करने वाले लगभग ७५% क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये और जूट की मिलें भारत में रह गईं। यही नहीं बल्कि अच्छी किस्म का जूट पैदा करने के क्षेत्र भी पाकिस्तान के हिस्से में आये। अतः विभाजन के बाद भारत में कच्चे जूट का बड़ा अभाव होगया जिससे उद्योग के समक्ष एक संकट पैदा हो गया। सरकार ने इस स्थिति का बड़े साहस के साथ मुकाबला किया। देश में कच्चे जूट का उत्पादन बढ़ाने के कार्यक्रम निर्धारित किये गए एवं प्रतिस्थापन्न पदार्थ 'मेस्टा' का भी उत्पादन बढ़ाया गया। पाकिस्तान से जूट आयात करने के सम्बन्ध में समझौते किये गए। लेकिन पाकिस्तान की तरफ से सहयोग का अभाव रहा इसलिए भारतीय जूट मिलों को हानि उठानी पड़ी। सितम्बर, १९४९ में भारत ने रुपये का अवमूल्यन किया लेकिन पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया—परिणामस्वरूप भारत को कच्चे जूट के ऊँचे दाम देने पड़े। पहले की अपेक्षा लगभग ४४% मूल्य ऊँचा देना पड़ा। कच्चे जूट का मूल्य बढ़ने से भारत में जूट के माल की लागत बढ़ना स्वाभाविक था। पाकिस्तान ने भारत को भेजी जाने वाली कच्ची जूट पर भारी निर्यात-कर लगाया। इससे भी जूट मिलों को क्षति पहुँची।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में जूट उद्योग की प्रगति—प्रथम योजना प्रारम्भ करने के समय जूट उद्योग में बिना काम में ली हुई क्षमता (Capacity) विद्यमान थी एवं कच्चे जूट का अभाव भी था। इसलिए योजना में नई मिलें स्थापित करने अथवा पुरानी मिलों का विस्तार की नीति नहीं अपनाई गई। प्रथम योजना की अवधि में तो सिर्फ १२ लाख टन जूट का सामान बनाने की कुल क्षमता का उपयोग करने का निश्चय किया गया। इस प्रकार १९५०-५१ के ८,९२००० टन से उत्पादन १९५५-५६ तक १२ लाख टन करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। कच्चे जूट के उत्पादन को १९५०-५१ में ३३ लाख गाँठों से १९५५-५६ में ५१लाख गाँठ तक पहुँचाने का लक्ष्य रक्खा गया।

इनके अतिरिक्त 'मेस्टा' व 'बिमली' का (जो कच्चे जूट के प्रतिस्थापन्न पदार्थ हैं) उत्पादन भी बढ़ाने का कार्य क्रम निर्धारित किया। निर्यात भी १९५०-५१ के ६½ लाख टन से योजना के अन्त तक १० लाख टन करने का लक्ष्य रक्खा गया।

प्रथम योजना में जूट के सामान का उत्पादन लगभग ११·५ लाख टन के लक्ष्य से थोड़ा ही कम था। कच्चे जूट का उत्पादन लक्ष्य से बहुत कम सिर्फ ४२ लाख टन गाँठें ही हुआ। १९५५-५६ में जूट के सामान का निर्यात लगभग ८,७५,००० टन हुआ जिसकी कीमत १२० करोड़ रुपया थी। इस प्रकार निर्यात भी लक्ष्य (१० लाख टन) से नीचा ही रहा। १९५१-५२ में निर्यात २७० करोड़ रुपये का हुआ था क्योंकि कोरिया युद्ध के कारण विदेशी माँग बढ़ गई थी। लेकिन १९५२-५३ में माँग घट जाने से केवल १२६ करोड़ रु० का ही निर्यात हो पाया। इससे स्पष्ट होता है कि जूट उद्योग विदेशी माँग पर कितना आश्रित है।

सरकार ने जूट के माल का निर्यात बढ़ाने के लिए प्रथम योजना की अवधि में कई उपाय काम में लिये। जूट के माल पर लगा हुआ निर्यात-कर कम किया गया और अगस्त, १९५५ में निर्यात-कर बिल्कुल समाप्त कर दिया गया। पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन कर दिया था जिससे उसके जूट को बहुत लाभ पहुँचा था। इसलिए भारत सरकार ने भी जूट उद्योग की स्थिति सुदृढ़ करने के लिए निर्यात-कर हटा दिया। विदेशी बाजारों में प्रचार कार्य बढ़ाया गया। माल की किस्म सुधारने पर ध्यान आकर्षित किया गया। जूट के माल का निर्यात बढ़ाने के लिए व्यापारिक समझौते चीन, रूस, पोलैंड, इटली, नार्वे आदि देशों से किये गये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में जूट उद्योग—द्वितीय योजना में भी जूट उद्योग के विस्तार करने की आवश्यकता नहीं समझी गई है। अनुमान है कि १९६०-६१ तक देश व विदेश की मांग की पूर्त्ति के लिए १२ लाख टन जूट के सामान की आवश्यकता होगी और यह पूर्ति वर्तमान क्षमता का पूर्ण उपयोग करके की जा सकेगी। अतः दूसरी योजना में भी नई जूट की मिलें नहीं खोली जायेंगी और न पुरानी मिलों का ही विस्तार किया जायगा। कच्चे जूट का उत्पादन लगभग ४२ लाख गाँठों से द्वितीय योजना के अन्त तक ५० लाख गाँठें हो सकेगा। लेकिन १९६०-६१ तक जूट की मिलों को ७२ लाख गाँठों की आवश्यकता होगी। अतः द्वितीय योजना के अन्त तक भी भारत कच्चे जूट के उत्पादन में आत्म-निर्भर नहीं हो सकेगा। लेकिन उत्तम श्रेणी की जूट के उत्पादन पर विशेष ध्यान दिया जायगा।

वर्तमान स्थिति—१९५९ में जूट के माल का उत्पादन १०,५१,००० टन हुआ जो १९५८ के उत्पादन की तुलना में ११,००० टन कम था।[1] १९५८ में कच्चे जूट

1. Report on Currency and Finance, 1959-60, page 17.

की पूर्ति बढ़ी और आधुनिकरण का कार्यक्रम लागू होने से मिलों की कार्यकुशलता भी बढ़ी। १६५६ में निर्यात १६५८ की तुलना में ज्यादा हुआ।

अब तक ५०% से अधिक तकुओं का नवीनीकरण किया जा चुका है।[1] राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम ने नवीनीकरण के लिए मिलों को ऋण दिया है। भारत में जूट की मिलों में काम आने वाली मशीनों का उत्पादन प्रारम्भ किया गया है और विदेशों से भी मशीनें मँगाने के लाइसेंस उदारतापूर्वक दिये गए हैं।

जूट उद्योग की समस्यायें :—

(१) **आधुनिकरण**—सूती वस्त्र उद्योग की भी प्रमुख समस्या आधुनिकरण की है। भारतीय जूट की मिलों की मशीनें ज्यादातर पुरानी हो चुकी हैं। उन्हें बदलने की आवश्यकता है। दूसरे देशों में जूट उद्योग को नए यंत्रों से सुसज्जित किया है। पाकिस्तान में भी आधुनिक मशीनों के साथ नई मिलें चालू की गई हैं। उत्तम श्रेणी का कच्चा जूट, सस्ता श्रम एवं नए यन्त्रों की सहायता से पाकिस्तान सस्ता व बढ़िया जूट का सामान तैयार कर सकेगा। १६५५ में पाकिस्तान की मिलों में ७,००० कर्घे लगे हुए थे जबकि भारत की मिलों में ७२,२८८ (लगभग १० गुने) कर्घे लगे हुये थे। १६६०-६१ तक पाकिस्तान १३,५०० कर्घों की क्षमता प्राप्त करना चाहता है। अतः भविष्य में पाकिस्तान की प्रतियोगिता का मुकाबला करने के लिए भारत को आधुनिक मशीनें प्रस्थापित करनी होंगी तभी लागत कम की जा सकेगी और निर्मित माल की किस्म सुधारी जा सकेगी। पहले कहा गया है कि जूट उद्योग में लगभग आधे कर्घों को बदला जा चुका है। अतः नवीनीकरण की प्रगति काफी असन्तोषजनक कही जा सकती है।

(२) **निर्यात बढ़ाने का प्रश्न**—वास्तव में आधुनिकरण एवं निर्यात प्रोत्साहन दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। जूट के उद्योग के आधुनिकरण से निर्यात बढ़ाने का प्रश्न भी कुछ सीमा तक हल हो सकेगा। विदेशों में जूट के सामान की माँग अस्थिर रहती है। उस अस्थिरता का प्रभाव निर्यात पर पड़ना स्वाभाविक है। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में जूट के सामान का निर्यात बढ़ाने के लिए भारतीय जूट मिल एसोसियेशन की तरफ़ से अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड एवं संयुक्त राज्य में प्रतिनिधि मन्डल भेजे गए और प्रभावी प्रचार किया गया ताकि माँग बढ़ सके। कई मिलों ने उत्तम श्रेणी के माल बनाने पर विशेष ध्यान देना चालू किया है। भविष्य में सस्ता और अच्छा माल बना कर ही हम अपना निर्यात बनाये रख सकेंगे। विभिन्न देशों की बढ़ती हुई प्रतियोगिता को हमें चुनौती के रूप में स्वीकार करना होगा और तेजी से आवश्यक परिवर्तन करने होंगे। १६५३ से जापान भी नए प्रतिस्पर्द्धी के रूप में सामने आ गया है। उसने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में बहुत नीचे मूल्यों पर ऊँची किस्म का जूट

2. Idian 1959 Page 321.

का माल बेचना प्रारम्भ कर दिया है। हमें इन परिस्थितियों का मुकाबला करना होगा तभी जूट के माल का निर्यात-बाजार बना रह सकेगा।

(३) प्रतिस्थानापन्न वस्तुओं की प्रतियोगिता— भारत के जूट के सामान को विदेशों में कई प्रतिस्थानापन्न वस्तुओं की प्रतिस्पर्द्धा का भी सामना करना पड़ा है। कागज के थैले नवीनतम मशीनों से बनाए जाते हैं। इसी प्रकार कपड़े के थैले भी बनाये जाते हैं। अमेरिका में बड़ी मात्रा में सामान ढोने की प्रणाली (Bulk handling of goods) से भी जूट के सामान की माँग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। अतः प्रतिस्थानापन्न पदार्थ जूट उद्योग को एक ओर चुनौती देते हैं, जिसे स्वीकार करना होगा। अभी तक ये पदार्थ मँहगे हैं और जूट के माल के सफल एवं पूर्ण प्रतिस्थानापन्न प्रमाणित नहीं हो पाये हैं अतः हमें प्रयत्न करके अपना बाजार बनाये रखना चाहिये।

(४) कच्चे माल का अभाव—भारत में कच्चे जूट के अभाव की पूर्ति करने के भरसक प्रयत्न किए गए हैं, फिर भी भारत कच्चे माल की दृष्टि से अभी तक आत्म-निर्भर नहीं हो पाया है। भविष्य में उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न जारी रखने होंगे। उत्तम खाद्य बीजों की सहायता से प्रति एकड़ उत्पत्ति बढ़ाई जानी चाहिये। उत्तम श्रेणी के जूट की खेती की जानी चाहिये। शेष की पूर्ति पाकिस्तान से आयात करके की जानी चाहिए। लेकिन धीरे धीरे हमें पाकिस्तान पर निर्भरता कम करनी होगी। भूतकाल में पाकिस्तान ने कच्चे जूट का भारत में निर्यात करने में आवश्यक सहयोग नहीं दिखाया था और उसकी वजह से हमें भारी नुकसान उठाना पड़ा। अतः देश के कच्चे जूट का उत्पादन बढ़ाने के भरसक प्रयत्न किए जाने चाहियें।

जूट जाँच आयोग के सुझाव—भारत सरकार ने १९५३ में जूट उद्योग व कच्चे जूट के उत्पादन के सम्बन्ध में एक व्यापक जाँच करवाई और इसके लिए एक आयोग नियुक्त किया जिसने मार्च, १९५४ में अपनी रिपोर्ट पेश की। आयोग ने निम्न सिफारिशें कीं :—

(१) जूट उद्योग में बेकार उत्पादन-क्षमता मौजूद है, इसलिए नई मिलें स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान उत्पादन शक्ति का ही प्रयोग करना वांछनीय होगा।

(२) कच्चे जूट के उत्पादन में भारत को निरपेक्ष आत्मनिर्भरता (Absolute self-sufficiency) प्राप्त करने के बजाय सापेक्ष (Relative) आत्मनिर्भरता प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। सापेक्ष आत्मनिर्भरता का अभिप्राय यह है कि भारत कुछ कच्चा जूट (जो यहाँ उत्पन्न नहीं हो सकता है) पाकिस्तान से मँगायेगा और शेष का उत्पादन देश में ही करने का प्रयत्न करेगा। देश में उत्तम किस्म की जूट की पैदावार भी बढ़ाई जायगी।

(३) भारत को कच्चे जूट का निर्यात किसी हालत में नही करना चाहिये।

(४) उद्योग के लिए वैधानिक मूल्य नियन्त्रण अनुचित होगा क्योंकि माल विदेशों में भी भेजा जाता है।

(५) जूट की विस्तृत खेती के स्थान पर गहन खेती की जाय।

(६) जूट की मिलों में नवीनीकरण किया जाय।

(७) जूट उद्योग के लिए एक विकास समिति (Development Council) बनाई जाय।

(८) कच्चे जूट का न्यूनतम मूल्य निर्धारित किया जायगा और क्षेत्रीय वितरण प्रणाली प्रारम्भ की जायगी।

भारत सरकार ने जूट-जाँच आयोग की नई सिफारिशें स्वीकार की हैं जिनके अनुसार भारत में जूट की नई मिलें स्थापित नहीं होंगी, कच्चे जूट की किस्म सुधारी जायगी और उत्पत्ति बढ़ाने के लिए जूट की गहन खेती की जायगी। आशा है भविष्य में कच्चे जूट का उत्पादन बढ़ सकेगा।

चीनी उद्योग

भूमिका—चीनी हमारे दैनिक उपभोग की प्रमुख वस्तु है। भारत में प्राचीन समय से ही गुड़ व खाँडसारी चीनी का उत्पादन होता आया है। आज भी देश में इनका उपभोग काफी मात्रा में होता है। लेकिन चीनी मिल उद्योग का विकास बहुत पुराना नहीं है। १९३० के बाद चीनी मिलों का विकास तेजी से हुआ है। १९५५-५६ में देश में १४३ चीनी की मिलें चल रही थीं जिनमें से उत्तर प्रदेश में ६८, बिहार में २८, बम्बई में १५, आंध्र में ८ एवं शेष अन्य राज्यों में थीं।[1] इस प्रकार यह उद्योग प्रमुखतया उत्तर भारत में केन्द्रित है, हालाँकि धीरे धीरे इस उद्योग का विस्तार दक्षिण भारत में होता जा रहा है। अब भारत से चीनी का निर्यात भी किया जाने लगा है और हम विदेशी मुद्रा प्राप्त करते हैं। सरकार ने प्रतिवर्ष ५० हजार टन चीनी निर्यात करने का अनुमान लगाया है।[2]

चीनी उद्योग का विकास—बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारत में चीनी की मिलें खुलने लगीं। प्रारम्भ में चीनी मिलें उत्तर भारत में ही खुलीं। लेकिन उद्योग का वास्तविक विकास १९३१ से प्रारम्भ हुआ जबकि इस उद्योग को संरक्षण देना स्वीकृत हुआ। बाहर से आने वाली चीनी पर भारी आयात-कर लगा दिया गया ताकि आयात की मात्रा घट सके। संरक्षण की सहायता से यह उद्योग तेजी से उन्नति करता गया और १९५० में इस पर से संरक्षण उठा लिया गया। संरक्षण की अवधि में इसने काफी प्रगति की। फिर भी कुछ अर्थ-शास्त्रियों का कहना है कि जितना विकास इस उद्योग का होना चाहिये था उतना नहीं हो सका। अतः कार्य-क्षमता बढ़ाने के लिए और आवश्यक सुधार करने के लिए अन्त में संरक्षण हटा दिया गया। १९३१-३२ में भारत

1. Programmes of Industrial Development 1956-61 P. 398.
2. Report Currency and Finence, 1958-59 P. 16.

भविष्य में चीनी की मिलों की स्थापना दक्षिण में की जानी चाहिए। अन्य राज्यों में भी प्रयत्न करने पर चीनी की मिलें स्थापित की जा सकती हैं।

(३) आकार की समस्या—१९५५-५६ में ३१ फैक्टरियां ऐसी थीं जिनकी क्षमता प्रतिदिन ७०० टन से कम गन्ने का रस निकालने की थी। ७०० टन आर्थिक आकार माना जाता है। अतः चीनी उद्योग में अनार्थिक इकाइयों (Uneconomic Units) की भरमार है। ऐसी फैक्टरियों का आकार बढ़ाकर इन्हें आर्थिक बनाया जाना चाहिए।

(४) आधुनिकीकरण की आवश्यकता—अन्य उद्योगों की तरह चीनी उद्योग में भी बहुत सी मशीनें २० साल पहले लगाई गई थीं। मशीनों के हिस्से भी पूर्णतया नहीं बदले जा सके हैं। चीनी उद्योग की मशीनें आज भी बहुत मँहगी हैं। अतः नवीनीकरण पर व्यय बहुत करना पड़ेगा। सरकार को राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम के मार्फत चीनी उद्योग को भी नवीनीकरण के लिए आवश्यक सहायता देनी चाहिए। तभी देशवासियों को सस्ती चीनी मिल सकेगी और निर्यात बढ़ाने की सम्भावनायें भी उत्पन्न हो सकेंगी।

(५) विविध प्रश्न—चीनी उद्योग के सामने ईंधन की भी समस्या है। गन्ने का छिलका (Bagasse) जलाने पर भी कमी की पूर्ति नहीं हो पाती है। कारखाने में शक्ति-संतुलन (Heat Balance) स्थापित करने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में विद्युत के प्रयोग को बढ़ाना चाहिए। अन्य सहायक उद्योगों का विकास भी किया जाना चाहिए। उद्योग का विकास भविष्य में अनुसंधान पर भी निर्भर करेगा। गन्ने की किस्म सुधारने एवं अवशिष्ट पदार्थों का उपयोग करने के सम्बन्ध में पर्याप्त खोज करना आवश्यक है।

भविष्य में इस राष्ट्रीय उद्योग की सफलता निजी उद्योगपतियों के सहयोग एवं सरकारी नीति पर निर्भर करेगी। गन्ने के उत्पादकों, उद्योगपतियों एवं सरकार को मिलकर इस उद्योग का भविष्य उज्ज्वल बनाना चाहिए।

अध्याय २८ (अ)

लोहा और इस्पात

परिचय—लोहा और इस्पात उद्योग एक आधारभूत उद्योग गिना जाता है। किसी भी देश में इसका विकास आधुनिक युग में एक गौरवपूर्ण बात मानी जाती है। प्राचीन भारत में लोहा गलाने व ढालने की पद्धति से हम लोग परिचित थे। अशोक की लाट, जो ईसा से ३०० वर्ष पूर्व दिल्ली में स्थापित की गई थी, इस उद्योग में हमारी उन्नति का प्रतीक है। लेकिन आधुनिक ढंग पर भारत में लोहे व इस्पात उद्योग का जन्म पिछले ५० वर्षों में ही हो पाया है। १९०० में इस्पात का उत्पादन लगभग ३५,००० टन ही था। १९५८ में यह १३ लाख टन तक पहुँच गया। निकट भविष्य में ही भारत इस सम्बन्ध में एक लम्बा कदम उठा सकेगा। रूरकेला (उड़ीसा), भिलाई (मध्य-प्रदेश) एवं दुर्गापुर (पश्चिमी बंगाल) में भारत सरकार ने तीन बड़े इस्पात के कारखाने स्थापित किये हैं जिनके तैयार होने पर इस्पात का उत्पादन बहुत बढ़ जायगा। भारत की भावी योजनाओं में इस उद्योग का स्थान प्रमुख रहेगा।

उद्योग का विकास—लोहे व इस्पात उद्योग का असली प्रारम्भ १९०७ से माना जाता है जबकि विहार में साँची नामक स्थान पर जमशेदजी टाटा ने एक लोहे व इस्पात का कारखाना स्थापित किया। इसने १९११ से कच्चा लोहा (Pig iron) उत्पन्न करना चालू किया और १९१३ से इस्पात का उत्पादन प्रारम्भ किया। १९०८ में बंगाल में आसनसोल के पास हीरापुर में 'इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' प्रारम्भ की गई। १९२३ में मैसूर में भद्रावती नामक स्थान पर 'मैसूर स्टेट आयरन वर्क्स' चालू किया गया जो बाद में 'मैसूर आयरन एण्ड वर्क्स' कहलाने लगा। इस प्रकार निजी क्षेत्र में तीन लोहे व इस्पात के कारखाने स्थापित किये गये जिनको टिस्को (Tisco), आइस्को (IIsco), एम. आई. डब्लू (Miw) कह कर सम्बोधित करते हैं।

१९३९ तक इस्पात का उत्पादन ८ लाख टन से ऊपर तक पहुँच चुका था। द्वितीय महायुद्ध ने इस उद्योग को प्रोत्साहन दिया।[1] १९५६ की भारतीय उत्पादन-गणना (Census of Indian Manufactures) के अनुसार उस वर्ष देश में १४० छोटे-बड़े लोहे व इस्पात के कारखाने थे जिनमें लगभग ९४ करोड़ रु० की कुल पूँजी लगी हुई थी और ८८,०२७ व्यक्ति काम पाये हुए थे।

1. India 1960, Page 314.

योजना के अंत तक भी यह कमी बनी रहेगी। अतः इस सम्बन्ध में आवश्यक व्यवस्था की जानी चाहिए।

(२) यातायात की कठिनाई :—[2]कच्चे लोहे को इस्पात के कारखानों तक भेजने के सम्बन्ध में आवश्यक परिवहन की व्यवस्था अभी तक नहीं हो पाई है। रेल की लाइनें अभी तक नहीं बिछ पाई हैं। अतः कच्चे लोहे (iron ore) को भी इस्पात प्लान्ट तक पहुँचाने में भारी दिक्कत का सामना करना पड़ रहा है। यह समस्या भी प्रयत्न करने पर आसानी से हल हो सकती है।

(३) इस्पात की कीमत-निर्धारण का प्रश्न :—भारत में विदेशों से भी इस्पात का आयात होता है भारतीय इस्पात आयात किये हुए इस्पात से सस्ता होता है। सरकार १ जुलाई, १९५४ से 'टिस्को' व 'इस्को' दोनों निजी कम्पनियों से ठहराये गये मूल्य (retention price) पर इस्पात खरीदती रही है और ऊँचे मूल्यों पर उपभोक्ताओं को बेचती रही है। अन्तर एक समीकरण कोष में जमा हो जाता है जिसका उपयोग आयात को आर्थिक सहायता देने व इस्पात के कारखानों में नवीनीकरण करने में पूँजी लगाने में होता है। 'ठहराया हुआ' मूल्य बदलता रहता है। इस्पात की बिक्री की कीमत लगभग ६०० रु० प्रति टन रहती है। अतः इस्पात की कीमतों के निश्चित करने का प्रश्न कठिन है।

भारत में आज भी इस्पात का प्रति व्यक्ति उपभोग अमेरिका का १०० वाँ हिस्सा भी नहीं है। हमारी सरकार ने इस उद्योग का स्वतन्त्र स्टील मंत्रालय (Ministry for Steel) स्थापित करके इस बात का परिचय दिया है कि सरकार इस उद्योग का विकास करने को बहुत उत्सुक है।

प्रश्न

University of Rajasthan, B. A.

(1) What have you to say about the industrial position of India? What suggestions can you offer to secure rapid industrialisation of the country? (1954)

(2) Name three of the leading large scale industries of India, and discuss the factors which check their further progress. (1951)

(3) How far have the iron and steel, cotton textile and sugar industries developed in India? What suggestions would you make for their further progress? (1952)

(4) Give a brief account of the iron and steel industry of India and the steps taken by the Government to step up production of iron and steel during recent years. (1959)

---

2. The Hindustan Times, January, 1, 1960—'Steel Ambitions' by Touchstone.

(5) Trace the growth and development of cotton industry in India. What are the problems with which the industry is faced at present ? (1960)

(6) Trace the growth and development of sugar industry in India. What are its present problems ? (Supp. 1960)

Agra University, B. A. & B. Sc.

(1) Describe the growth and state the present position of either the coal industry or the cotton industry in India. What are the main problems from the point of view of management ? (195)

(2) Discuss the present position of the Indian Cotton textile industry. (1956)

(3) भारत में शक्कर उद्योग की वर्तमान स्थिति का वर्णन कीजिए। (1957)

सन्दर्भ ग्रन्थ

(1) India 1960, P. 310-315.

(2) Indian Economy—Alak Ghosh, 1959, Ch. 21.

उन्तीसवां अध्याय

औद्योगिक नीति

आवश्यकता—औद्योगिक विकास के लिए एक सुनिश्चित और प्रगतिशील औद्योगिक नीति की आवश्यकता होती है। आज यह स्पष्ट हो चुका है कि अर्द्ध विकसित और अविकसित देशों में सरकार को आर्थिक विकास में सक्रिय भाग लेना होता है क्योंकि स्वतन्त्र पूंजीवादी प्रणाली में अपने आप आवश्यक दिशा में तेजी से औद्योगिक विकास नहीं हो पाता है। उचित औद्योगिक नीति से ही निम्न लक्ष्य प्राप्त हो सकते हैं—

(१) प्रथम तो सरकारी क्षेत्र और निजी क्षेत्र अलग अलग निर्धारित हो जाते हैं और यह पता लग जाता है कि सरकार का कार्य क्षेत्र क्या होगा। इससे औद्योगिक क्षेत्र में अनिश्चितता समाप्त हो जाती है और उत्पादन बढ़ने में मदद मिलती है। (२) दूसरा लाभ यह है कि देश के सभी भागों में औद्योगिक विकास में समानता लाई जा सकती है। नीति के अभाव में असंतुलित विकास होगा जिसमें कुछ भाग बहुत आगे बढ़ जायेंगे और कुछ पीछे रह जायेंगे। इसलिए विकास में प्रादेशिक समानता लाभ के लिए नीति निर्धारित करना आवश्यक है। (३) इसके अलावा कृषि व उद्योग दोनों के संतुलित विकास के लिए भी औद्योगिक नीति आवश्यक है। (४) अन्त में औद्योगिक नीति से ही एक तरफ उपभोग्य व उत्पादक वस्तुओं का समान विकास किया जा सकता है और दूसरी तरफ बड़े, मध्यम एवं छोटे पैमाने के उद्योगों में उचित मेल स्थापित किया जा सकता है। (५) औद्योगीकरण की गति को तेज करने के लिए उचित औद्योगिक नीति की आवश्यकता होती है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व औद्योगिक नीति

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले ब्रिटिश सरकार की नीति भारत में तेजी से औद्योगीकरण करने की नहीं थी क्योंकि यह ब्रिटिश हित में नहीं था कि भारत में आधुनिक ढंग के कारखाने खोले जायें। वे भारत को सदा के लिए कच्चे माल की पूर्ति करने वाला देश रहने देना चाहते थे ताकि उनका निर्मित माल यहाँ बेचा जा सके। जब उनको यहाँ के औद्योगिक विकास में दिलचस्पी ही नहीं थी तब वे क्यों औद्योगिक नीति बनाते और अन्य प्रयत्न करते। १९१६ में एक भारतीय औद्योगिक आयोग यहाँ के साधनों एवं औद्योगिक सम्भावनाओं की विस्तृत जांच करने के लिए नियुक्त किया गया था। लेकिन सरकार ने कोई नीति घोषित नहीं की। द्वितीय महायुद्ध की अवधि

में ब्रिटिश सरकार ने भारत में औद्योगिक विकास, अनुसंधान एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता समझी। १९४४ में भारत सरकार ने एक योजना एवं विकास विभाग श्री आरदेशिर दलाल की अध्यक्षता में खोला। इस विभाग ने १९४५ में औद्योगिक नीति का प्रस्ताव रखा। इसमें सरकारी एवं निजी क्षेत्रों का वर्णन किया गया। यह विभाग १९४६ में समाप्त कर दिया गया। इसके स्थान पर एक योजना सलाह बोर्ड १९४६ में श्री नियोगी की अध्यक्षता में बनाया गया। इसने अपनी रिपोर्ट में इस बात पर जोर दिया कि देश के सभी भागों में उद्योगों का विकास किया जाना चाहिये और औद्योगिक शिक्षा का विस्तार किया जाना चाहिये। बोर्ड ने योजना आयोग की स्थापना की भी सिफारिश की। अगस्त, १९४७ में राष्ट्रीय सरकार बनी। उस समय देश में औद्योगिक संकट था, कच्चे माल की कमी थी, मशीनों का अभाव था और टैक्नीकल कर्मचारियों की कमी थी। दिसम्बर १९४७ में एक उद्योग सम्मेलन (Industries Conference) बुलाया गया। अब तक विनियोग कर्ताओं के सामने नई सरकार की औद्योगिक नीति की कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं आ पाई थी। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य एक निश्चित औद्योगिक नीति की रूपरेखा बनाना था। सम्मेलन ने औद्योगिक शान्ति पर बल दिया और सरकार को सिफारिश की कि वह एक योजना बनावे और उसमें देश के सभी भागों में उद्योगों की उन्नति के कार्यक्रम रक्खे। धन का केन्द्रीकरण रोका जाय और मजदूरी व मुनाफा ठीक से निर्धारित किये जाँय।

सम्मेलन के कुछ समय बाद कांग्रेस ने अपना आर्थिक कार्य-क्रम घोषित किया जिसमें सुरक्षा, आधारभूत उद्योग एवं सार्वजनिक हित के उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की चर्चा की गई। इससे औद्योगिक क्षेत्रों में संदेह, भय एवं अनिश्चितता का वातावरण फैलने लगा। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया कि सरकार एक स्पष्ट नीति की घोषणा करे जिसमें सरकारी एवं निजी-क्षेत्रों में आने वाले उद्योगों का विवरण किया जाय। इसके अलावा देश में एक तरफ गाँधी-वादी विचार-धारा चल रही थी जिसमें कुटीर एवं छोटे उद्योगों को ही भारत के औद्योगिक ढाँचे का आधार बनाने पर बल दिया जा रहा था और दूसरी तरफ सिर्फ बड़े कारखानों की स्थापना से ही भारत की समस्याओं को हल करने का दावा किया जा रहा था। अतः यह अत्यन्त आवश्यक हो गया था कि भारत सरकार एक औद्योगिक नीति घोषित करे और यह बतलावे कि सरकार कौन कौन से कारखाने अपने हाथ में रखेगी और कौन कौन से पूँजीपतियों के लिए छोड़ेगी। साथ में यह भी स्पष्ट करे कि भारत के औद्योगिक ढाँचे का क्या स्वरूप होगा—उसमें बड़े, मध्यम एवं छोटे उद्योगों का अपना अपना क्या स्थान होगा?

औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव, १९४८

६ अप्रैल, १९४८ को भारतीय संसद में उस समय के उद्योग एवं वाणिज्य मंत्री डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव रखा जिसमें सरकारी एवं निजी कार्य-क्षेत्र अलग अलग निर्धारित किये गये और यह भी स्पष्ट किया गया कि विभिन्न उद्योगों पर सरकारी नियंत्रण का क्या रूप होगा।

औद्योगिक नीति का आधार 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' (Mixed Economy) रखा गया जिसमें सरकार और पूँजीपति दोनों भाग लेंगे और देश में उत्पादन बढ़ाने का भरसक प्रयत्न किया जायगा। इस प्रस्ताव की मुख्य बातें निम्नांकित थीं—

(१) बड़े उद्योग—बड़े उद्योगों को चार भागों में बाँटा गया—

(क) प्रथम श्रेणी में तीन सामरिक महत्व के उद्योग रक्खे गये जिन पर सरकार का एकमात्र अधिकार होगा जैसे (i) अस्त्र-शस्त्र का निर्माण, (ii) अणुशक्ति का उत्पादन एवं नियन्त्रण और (iii) रेल यातायात का स्वामित्व एवं प्रबन्ध।

इस श्रेणी के सम्बन्ध में उद्योगपतियों को कोई आपत्ति नहीं हुई क्योंकि ये काम तो पहले से ही सरकार के हाथ में थे।

(ख) द्वितीय श्रेणी में ६ आधार उद्योग रक्खे गये, जैसे (i) कोयला, (ii) लोहा व इस्पात, (iii) हवाई जहाज बनाना, (iv) समुद्री-जहाज बनाना, (v) टेलीफ़ोन, तार एवं बेतार का सामान बनाना (रेडियो रिसीविंग सैटों को छोड़ कर) और (vi) खनिज तैल। इनके सम्बन्ध में यह कहा गया कि ये १० वर्ष तक उद्योगपतियों के अधिकार में रहेंगे, वे इस अवधि में इनका विकास भी कर सकेंगे लेकिन १० वर्ष बाद इनकी स्थिति का पुनः अध्ययन किया जायगा और उस समय राष्ट्रीय हित में आवश्यक हुआ तो राष्ट्रीयकरण भी किया जा सकेगा। इन १० वर्षों में यदि इन उद्योगों में नये कारखाने खोलने हुए तो सरकार ही खोल सकेगी। उद्योगपतियों को नये कारखाने नहीं खोलने दिये जायेंगे।

इस सरकारी और निजी मिली-जुली श्रेणी से उद्योगपति बहुत निराश हुए क्योंकि इसमें राष्ट्रीयकरण की धमकी थी।

(ग) तीसरी श्रेणी में २० महत्वपूर्ण उद्योग रक्खे गये जिनमें भारी रासायनिक उद्योग, चीनी, सूती व ऊनी वस्त्र, सीमेण्ट, कागज, नमक, मशीन टूल्स आदि शामिल किये गये और कहा गया कि ये उद्योगपतियों द्वारा सरकार के नियन्त्रण व नियमन में चलाये जायेंगे।

(घ) चौथी श्रेणी में वे बाकी के उद्योग रक्खे गये जो उद्योगपतियों द्वारा चलाये जायेंगे और उन पर राज्य का सामान्य नियन्त्रण रहेगा।

(२) कुटीर और छोटे उद्योग—औद्योगिक नीति के प्रस्ताव में कुटीर एवं छोटे पैमाने के उद्योगों का महत्व स्वीकार किया गया और उनका सहकारिता के आधार

पर विकास करने का सुझाव दिया गया। यह भी कहा गया कि बड़े पैमाने के उद्योगों के साथ इनका मेल बैठाना चाहिए।

(३) **औद्योगिक सम्बन्ध**—औद्योगिक नीति में मालिक एवं मजदूरों के सम्बन्धों के सुधारने पर बल दिया गया। मजदूरों को लाभ में भाग लेने एवं उत्पादन सम्बन्धी अन्य मामलों में शामिल करने के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। यह प्रस्ताव रक्खा गया कि मजदूर को उचित मजदूरी मिले और उद्योगपतियों को अपनी पूँजी पर उचित प्रतिफल मिले। औद्योगिक क्षेत्रों में मकानों की सुविधा बढ़ाने पर भी ध्यान दिया गया और १० साल में १० लाख मकान बनाने का लक्ष्य स्वीकार किया गया।

(४) **विदेशी पूँजी**—औद्योगिक नीति में विदेशी पूँजी के प्रति भी दृष्टिकोण स्पष्ट किया गया। इस सम्बन्ध में यह कहा गया कि भारत में विदेशी पूँजी का स्वागत किया जायगा लेकिन जिन शर्तों पर विदेशी पूँजी को स्वीकार किया जायगा वे हमारे हित में होंगी और सरकार पूरी जाँच के बाद किसी विदेशी पूँजी की साझेदारी मानेगी। देशी व विदेशी पूँजी में भेदभाव नहीं होगा। राष्ट्रीयकरण की स्थिति में उचित एवं न्यायपूर्ण मुआवजा दिया जायगा। इस प्रकार विदेशियों को उनकी पूँजी की पूर्ण सुरक्षा प्रदान की गई।

१९४८ की नीति की समालोचना

(१) १९४८ की नीति जिस वातावरण में बनी थी उसमें राष्ट्रीयकरण की सर्वत्र चर्चा थी। इसलिए इस नीति में द्वितीय श्रेणी के उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की धमकी का समावेश हो गया। इससे इस क्षेत्र में उद्योगपति निराश हो गये। उन्होंने अपने कारखानों की पुरानी मशीनों व यन्त्रों को नहीं बदला और अन्य विस्तार कार्य भी स्थगित कर दिये। परिणामस्वरूप औद्योगिक उत्पादन घटा और पूँजी-संचय कम हुआ।

(२) यह नीति इतनी स्पष्ट और सुलझी हुई नहीं थी जितनी योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्था में इसका होना आवश्यक था। वास्तव में यह कमी आना स्वाभाविक भी था क्योंकि जिस समय यह नीति घोषित की गई थी उस समय देश में आर्थिक आयोजन के स्वरूप, आकार और तरीकों के बारे में शासन के विचार स्पष्ट नहीं थे।

(३) १९४८ की नीति में चाहे कुछ भी कमी क्यों न हो लेकिन उसमें एक विशेषता यह थी कि उसने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत एक 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' का निर्माण करना चाहता है जिसमें उद्योगपतियों एवं सरकार के अलग-अलग निश्चित क्षेत्र रहेंगे। इस प्रकार इस प्रस्ताव ने देश में समाजवादी ढंग की समाज व्यवस्था का बीजारोपण किया।

उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम, १९५१

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि एवं सिंचाई के विकास पर ज्यादा बल दिया गया लेकिन साथ में उद्योग एवं खनिज विकास के लिए १७९ करोड़ रुपये रक्खे गये।

निजी क्षेत्र के उद्योगों का उचित दिशा में विस्तार करने एवं उन पर आवश्यक नियमन रखने के लिए १९५१ में उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम पास किया गया। यह ८ मई १९५२ से लागू किया गया। शुरू में यह ३७ उद्योगों पर लागू किया गया। १९५३ में इसमें संशोधन किया गया और यह ४८ उद्योगों पर लागू किया गया। मार्च १९५७ में इसमें ३४ उद्योग और जोड़ दिये गये। इसकी मुख्य बातें निम्नांकित हैं :—

(१) रजिस्ट्री—इस अधिनियम के अधीन आने वाले उद्योगों की रजिस्ट्री करवाना अनिवार्य कर दिया गया। एक लाख रु० की लागत की नई उत्पादन इकाई स्थापित करते समय लाइसेंस लेना आवश्यक बना दिया गया। मौजूदा कारखानों के लिए भी ६ महिनों की अवधि में लाइसेन्स लेना जरूरी कर दिया गया। विस्तार के लिए भी यही शर्त लागू कर दी गई। लाइसेन्स देते समय कारखाने के स्थानीकरण और आकार के सम्बन्ध में शर्तें लगाई जा सकती हैं। इस प्रकार योजना-रहित और विवेकहीन विस्तार रोका जा सकता है।

(२) विशेष संगठन—१९५१ के अधिनियम के अन्तर्गत एक केन्द्रीय सलाहकार समिति (A Central Advisory Council), विकास समितियाँ (Development Councils) एवं लाइसेन्स समिति (A Licensing Committee) स्थापित करने के सुझाव दिये गये।

(क) केन्द्रीय सलाहकार समिति—यह मई, १९५२ में स्थापित कर दी गई। इसमें उद्योग, श्रम एवं उपभोक्ता-वर्ग के प्रतिनिधि होते हैं। यह समिति उद्योगों की सामान्य समस्याओं पर विचार करती है और रजिस्ट्रेशन व लाइसेंस के विशेष मामलों पर राय देती है। किसी उद्योग का सरकार द्वारा प्रबन्ध लेते समय भी इससे विचार-विमर्श किया जाता है।

(ख) विकास समितियाँ (Development Councils) इस अधिनियम के अधीन प्रत्येक उद्योग या सम्बन्धित उद्योगों का उत्पादन बढ़ाने, उत्पादन की किस्म सुधारने एवं प्रबन्ध सम्बन्धी समस्याओं को हल करने के लिए एक विकास समिति बनाने की व्यवस्था की गई। इन विकास समितियों में मालिकों, मजदूरों तथा उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि एवं विशेषज्ञ होते हैं।

इस प्रकार की विकास समितियाँ ब्रिटेन में बहुत सफल हुई हैं। भारत में भी अब तक कई उद्योगों में विकास समितियाँ स्थापित की जा चुकी हैं जैसे चीनी उद्योग, साईकिल उद्योग, ऊनी वस्त्र उद्योग, कृत्रिम रेशमी वस्त्र उद्योग, बिजली उद्योग आदि आदि। इन समितियों के कार्य की सफलता उत्साहवर्द्धक रही है। ये समितियाँ निजी क्षेत्र के उद्योगों को पंचवर्षीय योजनाओं में निर्धारित लक्ष्यों तक पहुँचने में मदद देती हैं।

(ग) अन्य —एक लाइसेन्स देने वाली समिति भी स्थापित की जा चुकी है। यह समिति उद्योगों की स्थापना के क्षेत्र निर्धारित करती है और उनके आकार (Size) पर प्रभाव डालती है। इस प्रकार यह भारत के औद्योगिक ढांचे के दोषों को दूर कर रही है। केन्द्रीय सलाहकार समिति की एक उप-समिति नियुक्त की गई है जो लाइसेन्स देने वाली समिति के कार्य की जांच करती रहेगी और सरकार को लाइसेन्स देने के सामान्य सिद्धान्तों पर सलाह देती रहेगी। इस उप-समिति से भविष्य में बहुत आशायें हैं।

(३) जांच और सजा—यदि किसी उद्योग का उत्पादन घटता जाता है या माल घटिया किस्म का बनने लगता है या मूल्य विशेष बढ़ जाते हैं तो सरकार उस उद्योग की जांच करवाकर सुधार के आदेश दे सकती है और यदि इन आदेशों की अवहेलना की जावे तो सुधार होने तक सरकार उस उद्योग का प्रबन्ध अपने हाथ में ले सकती है।

मई १९५३ में यह अधिनियम प्रथम बार संशोधित किया गया। इसमें ४५ नये उद्योग शामिल किये गये। सरकार ने अपने हाथ में ज्यादा अधिकार ले लिये ताकि वह अपने प्रबन्ध में एक उद्योग को ५ साल से ज्यादा भी रख सके। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सलाहकार समिति से पूछना भी अनिवार्य नहीं माना गया और उद्योग को अपनी स्थिति स्पष्ट करने का अवसर देना भी सरकार की इच्छा पर छोड़ दिया गया। १९५६ में इस अधिनियम में दूसरी बार संशोधन किया गया। इस बार यह ३४ नये उद्योगों पर लागू किया गया। इस प्रकार अब यह अधिनियम कुल ७९ उद्योगों पर लागू हो चुका है।

निजी क्षेत्र के समर्थकों ने कुछ बातों को लेकर इस अधिनियम की कटु आलोचना की है। (१) मौजूदा उद्योगों के लिए लाइसेन्स लेना अनिवार्य करना अनावश्यक हस्तक्षेप प्रकट करता है। लाइसेन्स देने में विलम्ब और पक्षपात की भी शिकायत है। (२) उद्योगों की जांच और सरकारी प्रबन्ध में लेने की व्यवस्था पुलिस मनोवृत्ति का द्योतक है। परन्तु इस आलोचना के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि योजना रहित विकास को रोकने के लिए लाइसेन्स आवश्यक है। किसी उद्योग का प्रबन्ध सरकार तभी लेगी जब अन्य सब उपाय असफल हो जावें और यह कदम केन्द्रीय सलाहाकार परिषद की सलाह से उठाया जायगा। सरकार निजी उद्योगों में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करना चाहती परन्तु उनको सरकार की सामाजिक और आर्थिक नीति के दायरे में काम करना होगा। इस अधिनियम का नाम "विकास और नियमन" अधिनियम है न कि "नियंत्रण" अधिनियम। यह नामकरण भी इस उद्देश्य का द्योतक है। उद्योगों के लिए विकास समितियों का निर्माण उनको योजनानुसार उत्पादन के लक्ष्य प्राप्त करने में सहायता देगा।

नई औद्योगिक नीति

आवश्यकता—१९४८ की औद्योगिक नीति ने ८ वर्षों तक कार्य किया। लेकिन १९५६ में इसमें संशोधन की अनिवार्यता प्रतीत होने लगी। इसके चार कारण थे। (i) प्रथम तो भारत ने १९५० में एक नवीन संविधान बनाया और स्वीकृत किया जिसमें कुछ मौलिक अधिकार जनता को दिये गये और शासन के निर्देशक तत्त्व निर्धारित किये गये। उस संविधान की धाराओं के अनुसार औद्योगिक नीति का होना आवश्यक समझा गया। (ii) दूसरी बात यह है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना पूर्ण हो चुकी थी और उसके अनुभव हमारे पास थे जिनको ध्यान में रखते हुए भारत में औद्योगिक विकास करना आवश्यक हो गया। (iii) तीसरे, भारत सरकार ने दिसम्बर १९५४ में आर्थिक नीति का उद्देश्य समाजवादी ढंग का समाज स्थापित करना निश्चित कर दिया जिसमें सरकारी कार्यक्षेत्र बढ़ाना आवश्यक हो गया। (iv) चौथे, द्वितीय पंचवर्षीय योजना अप्रैल, १९५६ से प्रारम्भ हो चुकी थी और इसमें आधारभूत एवं भारी उद्योगों के विकास पर विशेष बल दिया गया। वैसे भी यह उद्योग-प्रधान योजना कही गई है। इसलिए यह आवश्यक हो गया कि एक नई औद्योगिक नीति घोषित की जाय जो बदली हुई परिस्थितियों में सर्वश्रेष्ठ हो और भारत के तीव्र औद्योगीकरण में सहायक सिद्ध हो सके।

नई नीति की विशेष बातें

(१) बड़े उद्योग—नई औद्योगिक नीति में बड़े उद्योगों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है। इन श्रेणियों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया गया है कि इनमें राज्य का किस रूप में एवं कितना स्थान होगा। प्रथम सूची (Shedule A) में १७[1] उद्योग शामिल किये गये हैं जिनके भावी विकास की एकमात्र जिम्मेदारी सरकार पर होगी। लेकिन निजी साहसियों को अपने वर्तमान उद्योगों का विस्तार करने दिया जायगा और नई इकाइयाँ स्थापित करते समय सरकार निजी क्षेत्र का भी सहयोग ले सकेगी ताकि राष्ट्रीय हितवर्द्धन हो सके। यदि निजी क्षेत्र का सहयोग लिया गया तो सरकार पूँजी में अधिक भाग लेगी ताकि उस उद्योग की नीति निर्धारित कर सकेगी। यह श्रेणी १९४८ की नीति की प्रथम व द्वितीय श्रेणियों को मिला कर बनाई गई है। १७

१. प्रथम सूची के उद्योग इस प्रकार हैं:—अस्त्र-शस्त्र, अणु-शक्ति, लोहा व इस्पात, लोहे व इस्पात की भारी ढलाई व तैयारी, भारी मशीनें, भारी बिजली के यन्त्र, कोयला व लिग्नाइट, खनिज तैल, कच्चा लोहा, मैंगनीज, क्रोम, जिप्सम, गन्धक, सोना एवं हीरे की खानें खोदना, ताँबा, सीसा, जस्ता, राँगा आदि की खानें खोदना व कच्चा माल सुधारना, अणु-शक्ति के उत्पादन से सम्बन्धित खनिज, हवाई जहाज बनाना, हवाई यातायात, रेल यातायात, समुद्री जहाज बनाना, टेलीफोन एवं इसके तार, तार एवं बेतार का सामान (रेडियो रिसीविंग सेट छोड़कर) और बिजली का उत्पादन एवं वितरण।

उद्योगों को देखने से पता चलता है कि इसमें तीन प्रकार के आर्थिक कार्यों पर बल दिया है—सामाजिक और आधार उद्योग, यातायात एवं खनिज पदार्थ। भविष्य में इनका विकास सरकारी क्षेत्र में ही करने की नीति अपनाई गई है। वास्तव में इन तीनों का एकीकृत विकास (Integrated development) हुए बिना औद्योगीकरण की सुदृढ़ नींव नहीं डाली जा सकती है। इसलिये सरकार ने इन उद्योगों में अपना क्षेत्र बढ़ाने का निश्चय किया है जो तेजी से आर्थिक विकास के लिए उचित जान पड़ता है। लेकिन अब राष्ट्रीयकरण की पहले वाली धमकी नहीं रही है।

उद्योगों की द्वितीय सूची (Schedule B) में १२[1] उद्योग रक्खे गये हैं जो धीरे धीरे सरकार के अधिकार में लिए जायेंगे और इस क्षेत्र में भी साधारणतया नये कारखाने सरकार द्वारा ही चालू किए जायेंगे। साथ ही साथ में निजी साहसियों को भी इन उद्योगों के विकास का अवसर दिया जायगा। वह चाहे व्यक्तिगत रूप में स्थापित करने का मौका हो अथवा सरकार की साझेदारी में स्थापित करने का हो। इस सूची के प्रमुख उद्योग खाद, मशीन टूल्स, दवाइयाँ, सड़क, समुद्री एवं सड़क यातायात आदि हैं।

बाकी के सब उद्योग तृतीय श्रेणी में रक्खे गये जिनका विकास सामान्यतया निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिया गया लेकिन सरकार चाहेगी तो इस क्षेत्र में भी प्रवेश कर सकेगी। सरकार यातायात, शक्ति व अन्य सेवाओं का विस्तार करके या उचित राजकोषनीय नीति अपना करके इस क्षेत्र में आने वाले उद्योग-पतियों को मदद पहुँचायेगी निजी क्षेत्र को वित्तीय सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी विशेषतः सहकारी ढंग पर चलाए गये उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जायगा। राज्य इन उद्योगों के शेयर या डिबेन्चर खरीद कर पूँजी लगाने को भी तैयार रहेगा। परन्तु निजी क्षेत्र को राज्य की आर्थिक और सामाजिक नीति के अधीन और राज्य के नियन्त्रण में कार्य करना होगा।

उद्योगों को तीन श्रेणियों में बाँटे जाने का यह अभिप्राय नहीं है कि वे एक दूसरे से पूर्णतया अलग-अलग रहेंगी बल्कि विभिन्न श्रेणियों से सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों का गहरा मेल भी स्थापित किया जा सकेगा। सरकार आवश्यकता होने पर तीसरी श्रेणी का कोई उद्योग भी चला सकती है और निजी उद्योग को अपने लिए या गौण उपज के रूप में पहली श्रेणी की चीजें बनाने दी जा सकती हैं। इस प्रकार यह नीति ज्यादा व्यावहारिक व लोचदार है और देश के नियोजित आर्थिक विकास के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध होगी।

---

१. दूसरी सूची में उद्योग होंगे :—छोटे खनिजों को छोड़कर 'अन्य खनिज पदार्थ,' अलमूनिअम एवं अलौह धातुएँ जो प्रथम सूची में नहीं हैं मशीन, टूल्स, फेरो-अलौयज एवं टूल स्टील, रासायनिक उद्योगों की आधारभूत सामग्री, दवाइयाँ, खाद, कृत्रिम रबर, कोयले का कार्बोनाइजेशन, रासायनिक घोल, सड़क यातायात एवं समुद्री यातायात।

(२) कुटीर और छोटे उद्योग—१९५६ की नीति में कुटीर एवं छोटे उद्योगों को विकसित करने पर पुनः जोर दिया गया है। देश में रोजगार बढ़ाने, राष्ट्रीय आय का ज्यादा समान वितरण करने एवं पूँजी व चतुराई का अधिक उपयोग करने के लिए इनका महत्व स्वीकार किया गया है। छोटे उत्पादकों की प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति बढ़ाने के लिए कुछ प्रभावी उपाय भी सुझाये गये हैं। सरकार बड़े पैमाने के उत्पादन और छोटे पैमाने के उत्पादन में सहयोग स्थापित करेगी। उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने के लिए कुटीर एवं छोटे पैमाने के उत्पादन पर विशेष ध्यान दिया जायगा। इनके विकास के लिए बड़े पैमाने के उत्पादन पर सीमा निर्धारित की जायगी और इन्हें प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता दी जायगी। छोटे पैमाने के उद्योगों को इतना शक्तिशाली कर देना होगा ताकि वे अपने पैरों पर खड़े हो सकें और हमेशा सरकार की ही सहायता के लिए न तरसते रहें। औद्योगिक बस्तियों के विचार का समर्थन किया गया है। बिजली की सहायता से इन उद्योगों को यदि सहकारी संगठन के आधार पर चलाया जायगा तो इनकी प्रगति हो सकेगी। इस प्रकार नई औद्योगिक नीति में छोटे उद्योगों के विकास के लिए निश्चित उपाय सुझाये गये हैं जिनको अपना कर भारत के औद्योगिक ढाँचे में इनका स्थान सुदृढ़ किया जा सकेगा।

(३) पिछड़े हुये क्षेत्रों का विकास :—सरकार पिछड़े हुए क्षेत्रों के औद्योगिक विकास पर विशेष ध्यान देगी ताकि देश में औद्योगिक विकास की दृष्टि से प्रादेशिक समानता स्थापित की जा सके। इसके लिए इन क्षेत्रों में सरकार शक्ति, पानी एवं यातायात की सुविधायें बढ़ायेगी ताकि मौका पड़ने पर कारखाने भी स्थापित किये जा सकें। इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में खेती और उद्योगों का संतुलित विकास किया जा सकेगा।

(४) कर्मचारियों का प्रशिक्षण :—१९५६ की नीति में प्राविधिक एवं प्रबन्ध तदर्थ सरकारी सेवाओं के विशेष वर्ग बनाने, प्रशिक्षार्थियों की संख्या बढ़ाने और विश्वविद्यालयों व अन्य संस्थाओं में प्रबन्ध विशेषज्ञों की शिक्षा का सुझाव दिया गया है।

(५) औद्योगिक शान्ति—औद्योगिक विकास के लिए औद्योगिक शान्ति आवश्यक है। अतएव नई औद्योगिक नीति में १९४८ की नीति की तरह श्रमिकों को विकास में साझेदार मान कर उनको प्रबन्ध में हिस्सा देकर तथा अन्य तरीकों से औद्योगिक सम्बन्धों के सुधारने पर जोर दिया गया है।

(६) विदेशी पूँजी—भारत की विदेशी पूँजी के प्रति नीति प्रधान मंत्री ने ६ अप्रैल १९४९ को विस्तार से प्रकट की है। अतएव उसको नई औद्योगिक नीति में दोहराया नहीं गया है। स्मरण रहे कि उस नीति में विदेशी पूँजी को भारतीय पूँजी के समान मान कर भारत के आर्थिक विकास में भाग लेने का निमंत्रण दिया गया है।

१९४८ और १९५६ के प्रस्तावों की तुलना

उपर्युक्त विवरण को ध्यान से देखने पर मालूम पड़ता है कि १९५६ की नई औद्योगिक नीति १९४८ की नीति से सर्वथा भिन्न नहीं है बल्कि उसी का एक विकसित रूप-मात्र है। दोनों प्रस्तावों में एकता दिखाई देती है। दोनों का आधार भारत में 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' ही स्थापित करना है। हाँ इस मिश्रण में नई नीति के अनुसार सरकार का क्षेत्र बढ़ जायगा और हम समाजवाद की ओर अग्रसर हो सकेंगे।

विभिन्नतायें—दोनों नीतियों में मुख्य अन्तर निम्नांकित हैं :—

(१) नई नीति में उद्योगों को ३ श्रेणियों में बांटा गया है जबकि १९४८ की नीति में इन्हें ४ भागों में बांटा गया था। नई नीति के उद्योगों की प्रथम श्रेणी वास्तव में पुरानी नीति की पहली और दूसरी श्रेणियों को मिलाकर ही बनी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भविष्य में खनिज उद्योग, यातायात एवं सामरिक और आधार उद्योगों के विकास की जिम्मेदारी सरकार अपने कंधों पर लेना चाहती है जो तेजी से औद्योगीकरण के लिए आवश्यक है।

(२) नई नीति में राष्ट्रीयकरण का भय नहीं है जब कि पुरानी नीति में दूसरी श्रेणी में राष्ट्रीयकरण की धमकी दी गई थी। अतः नई नीति के अनुसार निजी क्षेत्र को कार्य करने के लिए उचित सुविधायें दी जायेंगी। उनको वित्तीय सहायता प्रदान की जायेगी और सहकारी संगठन अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया जायगा। इस प्रकार सरकार निजी क्षेत्र को देश के आर्थिक विकास के कार्य में हिस्सा बंटाने का पूरा मौका देगी और उन्हें इस कार्य में पूरी मदद देगी। परन्तु निजी क्षेत्र को सरकार की आर्थिक और सामाजिक नीति के अन्तर्गत कार्य करना होगा। इस प्रकार नई नीति पुरानी की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक, लोचदार और रचनात्मक है जबकि पुरानी नीति नकारात्मक, और सिद्धान्तवादिता की ओर झुकी हुई थी।

(३) इसमें कुटीर व छोटे उद्योगों के विकास के लिए कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिये गये हैं जिनको अपनाने से ही वे पनप सकते हैं।

(४) इसमें देश के विभिन्न भागों में औद्योगीकरण की दृष्टि से समानता लाने पर बल दिया गया है।

(५) इसमें प्राविधिक और प्रबन्ध अधिकारियों के प्रशिक्षण पर जोर दिया गया क्योंकि इनके अभाव में सरकारी क्षेत्र के उद्योगों का चलाना और निजी क्षेत्र के उद्योगों का नियमन संभव नहीं हो सकता।

१९५६ की औद्योगिक नीति की समालोचना

नई औद्योगिक नीति, जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है द्वितीय योजना में तीव्र औद्योगीकरण का मार्ग तैयार करने के लिए उपयुक्त है। इसमें सार्वजनिक एवं

निजी दोनों क्षेत्रों का महत्व माना गया है। लेकिन सार्वजनिक क्षेत्र के बढ़ने के कार्य-क्रम निर्धारित किये गये हैं। इसमें उद्योगपतियों ने नई औद्योगिक नीति की भी आलोचना की है और इसकी सफलता में संदेह प्रकट किये हैं। विश्व बैंक के अध्यक्ष श्री यूजीन ब्लेक ने भी इस नीति की आलोचना की है और कहा है कि निजी क्षेत्र को विकास का पर्याप्त अवसर दिया जाना चाहिए।

सरकार के बढ़ते हुए कार्य क्षेत्र को देखकर निजी क्षेत्र वालों को अपना भविष्य निराशाजनक प्रतीत होने लगा है। लेकिन उनका ऐसा सोचना निराधार है क्योंकि उनको भी काम करने के लिए पर्याप्त अवसर दिया गया है। उन्हें सरकार के साथ सहयोग करना चाहिए। सरकार को भी चाहिए कि वह निजी क्षेत्र को योजना के लक्ष्यों तक पहुँचने में पूरी-पूरी मदद दे। अतः दोनों तरफ से दृष्टिकोण के परिवर्तन की आवश्यकता है।

हमने राष्ट्रीयकरण को सिद्धान्ततः नहीं माना है। हम बिना सोचे समझे राष्ट्रीय-करण नहीं करना चाहते हैं। लेकिन राष्ट्रीय हित में आवश्यक हुआ तो राष्ट्रीयकरण करने में हिचकेंगे भी नहीं। अतः हमारी नीति व्यावहारिक होगी और उसमें पर्याप्त लोच होगी। हमारे प्रधान मंत्री ने कई बार यह दोहराया है कि सरकार अपने साधन पुराने उद्योगों को लेकर और उनका मुआवजा देने में नहीं लगा देगी बल्कि नये कारखाने खोलेगी ताकि देश में उत्पादन, आय, रोजगार आदि बढ़ें। देश में इतने औद्योगिक कार्य करने पड़े हैं कि उन्हें सरकार एवं पूँजीपति दोनों करें तो भी बहुत कुछ करना शेष रह जाता है। इसलिए सरकार का नई दिशाओं में बढ़ना अनुचित नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में ध्यान से देखने से पता लगता है कि सरकार ने अपने लिए वे ही क्षेत्र तो लिए हैं जिनमें :—

(क) विशाल पूँजी की आवश्यकता थी, जिसकी व्यवस्था करना निजी क्षेत्र की शक्ति से परे था;

(ख) जिसमें जोखिम ज्यादा होने से साधारणतया उद्योगपति तुरन्त आना पसन्द नहीं करते;

(ग) जो सार्वजनिक सेवा की दिशायें थीं जिनमें सरकार का रहना राष्ट्रीय हित में आवश्यक था;

(घ) राष्ट्र के तीव्र औद्योगीकरण की नींव दृढ़ करने के लिए आधारभूत व मूल उद्योगों का विकास पूँजीपतियों के क्षेत्र में छोड़ा जाना उचित नहीं रहता। अतः हम सरकार की वर्तमान नीति को उचित समझते हैं क्योंकि यह व्यावहारिक है और कोई सिद्धान्तवादी नहीं है। लेकिन नई नीति की सराहना करने के लिए व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है और देश में नियोजित अर्थ-व्यवस्था की माँगें पहचानना अनिवार्य है।

क्या नई औद्योगिक नीति भारत का औद्योगीकरण कर सकेगी ?

वास्तव में इस सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना अनावश्यक है। इस विषय में न तो आशावादी होना चाहिए और न निराशावादी ही होना चाहिए। नई औद्योगिक नीति की सफलता या विफलता हमारे हाथों में है। यदि भारत के उद्योगपति नया दृष्टिकोण अपनावें, मजदूर को उत्पत्ति में साझेदार समझने लगें और सामाजिक हित को व्यक्तिगत मुनाफे से ऊपर मानें तो बहुत कुछ समस्यायें हल हो सकती है। साथ में सार्वजनिक क्षेत्र में भी कार्यकुशलता के स्तर ऊँचे करने की अभी सम्भावनायें बाकी पड़ी हैं। अतः सरकार को प्राद्योगिक शिक्षा का प्रचार करके एवं प्रवन्ध आदि ठीक करके सरकारी उद्योगों में उत्पादन बढ़ाने में कोई कसर नहीं छोड़नी चाहिए। इस प्रकार निजी क्षेत्र का नया दृष्टिकोण एवं सार्वजनिक क्षेत्र की अधिक कार्यक्षमता देश को आगे बढ़ा सकने में समर्थ हो सकते हैं। सच पूछा जाय तो सार्वजनिक क्षेत्र (Public sector) व निजी क्षेत्र (Private sector) दोनों को सामाजिक क्षेत्र (Social sector) के रूप में काम करना चाहिए। इनमें कोई जन्मजात विरोध नहीं है। ये एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं और होना भी चाहिए। तभी भारत में औद्योगिक विकास हो सकेगा। यदि निजी क्षेत्र ने अपने दृष्टिकोण में आवश्यक परिवर्तन कर लिया तो भारत में इसका स्थान सुरक्षित है अन्यथा बढ़ते हुए सार्वजनिक क्षेत्र के सामने इसका टिकना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जायगा। अतः नई औद्योगिक नीति की सफलता हमारे प्रयत्नों पर ही निर्भर करेगी।

सन्दर्भ ग्रन्थ

(1) Second Five-Year Plan, 1956, p. 43-50.

(2) The Industrial Economy of India—S. C. Kuchhal.

तीसवाँ अध्याय

औद्योगिक वित्त-व्यवस्था

कृषि, उद्योग, व्यापार आदि सभी उत्पादन के कार्यों के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है। पूँजी ही उद्योग का प्राण होती है। उद्योग स्थापित करते समय पूँजी की आवश्यकता होती है, इसको चलाने के लिए पूँजी आवश्यक है और इसमें समय-समय पर विस्तार (Extension) करने के लिए भी पूँजी आवश्यक होती है। एक उद्योग की पूँजी की आवश्यकता को साधारणतया दो भागों में बाँटा जाता है :—

(१) अचल या स्थायी पूँजी (Block Capital)—नया उद्योग प्रारम्भ करते समय भूमि, मकान, मशीनें, अन्य यंत्र व औजार खरीदने के लिए स्थायी रूप में पूँजी की आवश्यकता होती है। चालू उद्योगों को भी आवश्यक परिवर्तन, सुधार व विस्तार कार्यों के लिए स्थायी पूँजी की जरूरत होती है। इस प्रकार की पूँजी को अचल या स्थायी पूँजी कहते हैं।

(२) चल पूँजी या कार्यशील पूँजी (Working Capital)—जो पूँजी कच्चा माल खरीदने, मजदूरी चुकाने, माल की बिक्री के सम्बन्ध में आवश्यक विज्ञापन आदि करने एवं दैनिक कार्यों के लिए आवश्यक होती है उसे चल या कार्यशील पूँजी कहते हैं। औद्योगिक वित्त में हम चल एवं अचल दोनों प्रकार की पूँजी की पूर्ति के साधनों का अध्ययन करते हैं। यह अध्ययन दो भागों में बाँटकर किया जा सकता है—(१) बड़े पैमाने के उद्योगों की वित्तीय समस्यायें, (२) छोटे एवं मध्यम आकार के उद्योगों की वित्तीय समस्यायें।

हम प्रारम्भ में बड़े पैमाने के उद्योगों के लिए उपलब्ध पूँजी के साधनों का वर्णन करेंगे और उसके बाद छोटे उद्योगों के लिए वित्तीय व्यवस्था का वर्णन किया जायगा।

बड़े उद्योगों के लिए वित्तीय साधन

स्वतंत्रता प्राप्ति तक बड़े पैमाने के कारखानों के लिए पूँजी की सुविधायें बहुत कम थीं। लेकिन पिछले वर्षों में भारत में कई महत्वपूर्ण औद्योगिक विकास एवं वित्त निगम स्थापित किये गये हैं जिन्होंने उद्योगों के लिए वित्त की कमी को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया है और कर रहे हैं ताकि भारत औद्योगिक दृष्टि से एक शक्तिशाली राष्ट्र बन सके।

पहले शेयर एवं डिबेन्चर (Shares and Debentures), सार्वजनिक जमा (Public Deposits), प्रबन्ध-अभिकर्त्ता (Managing Agents) एवं

व्यापारिक बैंक ही उद्योगों को पूँजी प्रदान करने के साधन थे। इनका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है :—

(१) शेयर (Shares) – एक कम्पनी कई तरह के शेयर निकाल सकती है, जैसे साधारण शेयर (Ordinary shares), पूर्वाधिकार शेयर (Preference shares) एवं अस्थगित शेयर (Deferred shares)। ये शेयर विनियोगकर्ताओं की विभिन्न प्रकृति के कारण निकाले जाते हैं। उदाहरण के लिए पूर्वाधिकार शेयर धारी एक निश्चित लाभांश सबसे पहले प्राप्त करते है और पूँजी वापिस करते समय भी पहले इनका अधिकार होता है। साधारण शेयरधारियों को लाभ में हिस्सा इनके बाद मिलता है। इनका हिस्सा लाभ की मात्रा के साथ-साथ बदलता रहता है। आस्थगित शेयर प्रायः कम्पनी के संस्थापकों को दिये जाते हैं। साधारण शेयरधारियों को एक निश्चित दर पर लाभांश देने के बाद जो लाभ बचता है उसमें से इनको हिस्सा मिलता है। अत्यधिक लाभ वाले वर्षो में इनको बहुत बड़ा लाभांश मिलता है अन्यथा इनका हिस्सा कम होता है। भारत में आजकल साधारण एवं पूर्वाधिकार शेयरों का ही ज्यादा प्रचलन है।

एक कम्पनी अपनी अधिकृत पूँजी (Authorized Capital) से ज्यादा के शेयर नहीं निकाल सकती है। यदि इससे ज्यादा पूँजी की आवश्यकता होती है तो ऋण-पत्र (Debentures) चलाये जाते हैं।

(२) ऋण-पत्र (Debentures)—ऋण-पत्र बेचकर पूँजी इकट्ठी करना भी कम्पनियों की पूँजी का एक महत्वपूर्ण साधन है। इसमें कम्पनी को ब्याज देना पड़ता है। ऋण-पत्रधारी कम्पनी के ऋण दाता (Creditors) होते हैं, जो विनियोगकर्ता जोखिम से बचना चाहते हैं लेकिन साथ में ब्याज की एक निश्चित दर से ही संतुष्ट रहना चाहते हैं, उनके लिए ऋण-पत्र बहुत सुविधाजनक होते है। प्रायः ऋण-पत्रों के पीछे किसी सम्पति की जमानत होती है ताकि भुगतान करने की स्थिति में उस विशेष सम्पत्ति को बेचकर भुगतान प्राप्त किया जा सकता है। भारत में कई कारणों से ऋण-पत्र निर्गमित करना लोकप्रिय नहीं हुआ है। औद्योगिक कम्पनियों की सफलता से जनता में इनके प्रति विश्वास नहीं जम पाया है। ऋण-पत्र चलाने वाली कंपनी को बैंक सन्देह की दृष्टि से देखते है क्योंकि उसकी संपति का कुछ भाग ऋण-पत्रों के लिए गिरवीं रख दिया जाता है। ऋण-पत्र निर्गमन की शर्तें विशेष आकर्षक नहीं बनाई जाती हैं। विदेशों में ऋण-पत्र खरीदने वालों को रियायती दर पर साधारण शेयर उपलब्ध हो जाते हैं लेकिन भारत में इस प्रकार की कोई सुविधा नहीं है। इसके अलावा यहाँ ऋण-पत्रों पर ऊँचा ब्याज देना पड़ता है। ऊँची स्टाम्प दर होने से इनका हस्तानांतरण मँहगा हो जाता है जिससे उसका स्वतन्त्र बाजार नहीं बन पाता है। इन कठिनाइयों को दूर करके भारत में ऋण-पत्रों का प्रचलन बढ़ाया जाना

चाहिए। इससे कंपनियों को आवश्यक विस्तार कार्यों के लिए पूँजी व कार्यवाहक पूँजी उपलब्ध हो सकेगी।

(३) सार्वजनिक जमा (Public Deposits)—भारत में बैंकों के विकास से पहले उद्योगों का विकास हुआ। अतः जनता अपनी बचत कारखानों में जमा कराना उचित मानती थी। अहमदाबाद व बम्बई में सूती कपड़े की मिलों में इस प्रकार की जमा का प्रचार देखा गया है। इस जमा का प्रयोग चल पूँजी (Working Capital) के रूप में किया जाता है। जमा पर ब्याज मिलता है। उचित समय पर सूचना देकर जमा की रकम वापिस निकाली जा सकती है। यह साधन जोखिम से भरा हुआ है क्योंकि जनता का विश्वास उठ जाने पर वह अपनी जमा की माँग करती है जिससे कम्पनी की वित्तीय स्थिति डाँवाडोल हो जाती है। इस प्रकार की जमा को 'अच्छे मौसम का मित्र' कहा गया है। अतः यह साधन सुरक्षित नहीं माना जा सकता है।

(४) प्रबन्ध अभिकर्त्ता (Managing Agents)—भारत में प्रबन्ध-अभिकर्ता अचल व चल (Fixed and Working) दोनों प्रकार की पूँजी प्रदान करते रहे हैं। ये शेयर व ऋण-पत्र स्वयं खरीदते हैं और अपने मित्रों व संबंधियों से खरीदवाते हैं। इनकी गारन्टी पर बैंक ऋण देते है। इनके नाम से शेयर व ऋण-पत्र बिकते हैं। इस प्रकार प्रबन्ध-अभिकर्त्ता अपने प्रबन्ध में रहने वाली कम्पनियों के लिए आवश्यकता के समय पूँजी की व्यवस्था करते रहे हैं। लेकिन इस प्रथा में कई दुर्गुण आने से इस पर कठोर नियन्त्रण लगा दिये गये है। कंपनी अधिनियम, १९५६ के अन्तर्गत इस प्रथा पर काफी प्रबन्ध लगाये गए हैं। १५ अगस्त, १९६० के पश्चात् कई क्षेत्रों से प्रबन्ध-अभिकर्ता हटा दिए जायेंगे। भविष्य में केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से ही प्रबन्ध-अभिकर्ता नियुक्त किए जा सकेंगे। एक प्रबन्ध-अभिकर्ता १० से ज्यादा कंपनियों का प्रबन्ध नही कर सकेगा। इस प्रकार भविष्य में पूँजी के साधन की दृष्टि से इसका महत्व बहुत कम रह जायगा।

(५) व्यापारिक बैंक (Commercial Banks)—भारत के व्यापारिक बैंक कारखानों को अल्पकाल के लिए कार्य-शील पूँजी की सुविधा देते रहे हैं लेकिन दीर्घकाल के लिए उधार देने की स्थिति में नहीं हैं। इनके पास अल्पकाल के लिए जमा आती है। अतः ये दीर्घकाल के लिए पर्याप्त पूँजी कहाँ से उपलब्ध कर सकते है। भारत में अल्पकालीन बैंक-ऋण माल की जमानत पर दिये जाते हैं। हमारे देश में अभी तक औद्योगिक बैंक नही हैं। अतः बड़े उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण की सुविधा बैंकों से नहीं मिल पाती है। व्यापारिक बैंक अभी तक आन्तरिक व्यापार में ही अपनी पूँजी लगाते रहे हैं। व्यापारिक बैंकों को औद्योगिक वित्त प्रदान करने में ज्यादा रुचि दिखानी चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय तक ऐसी

संस्थाओं का अभाव था जो पर्याप्त मात्रा में बड़े उद्योगों के लिए वित्तीय-व्यवस्था कर सकें। हर्ष का विषय है कि स्वतन्त्रता मिलने के बाद से राष्ट्रीय सरकार औद्योगिक वित्त-व्यवस्था सुधारने में काफी सफल हुई है। कई सरकारी अथवा सरकारी सहायता व समर्थन प्राप्त-निगम बनाये हैं जो औद्योगिक-वित्त प्रदान करने के अलावा औद्योगिक-विकास में भी मदद देते हैं।

औद्योगिक वित्त-निगम (Industrial Finance Corporation of India)

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में औद्योगिक वित्त की सुविधायें बहुत कम थीं। देश में कोई औद्योगिक बैंक (Industrial Bank) नहीं था। विनियोग ट्रस्ट एवं निर्गम-गृह (Issue houses) भी नहीं थे। व्यापारिक बैंक उद्योगों की दीर्घ-कालीन पूंजी की आवश्यकता की पूर्ति नहीं करते थे। ऐसी परिस्थिति में यह बहुत आवश्यक था कि कोई ऐसी संस्था स्थापित की जाय जो उद्योगों की दीर्घकालीन या अस्थायी पूंजी का प्रबन्ध कर सके। केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति ने भारत में एक औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना का सुझाव दिया था। यह सुझाव वर्षों तक कार्यान्वित न किया जा सका। स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद संसद के अधिनियम के अन्तर्गत १ जुलाई, १९४८ से औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation) की स्थापना की गई। यह एक शेयर-धारियों का निगम है। इसके शेयर केन्द्रीय सरकार, रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंकों, जीवन-बीमा निगम व अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा खरीदे गये हैं। शेयरों पर भारत सरकार ने गारन्टी दी है।

निगम का कार्य-क्षेत्र—यह निगम सार्वजनिक कम्पनी या सहकारी संस्थाओं को दीर्घकालीन ऋण देगा जो भारत में रजिस्टर हुई हैं और जो माल के परिनिर्माण (Processing) या निर्माण (Manufacture) या खान खोदने या बिजली के उत्पादन या वितरण या अन्य किसी प्रकार की शक्ति (Power) उत्पन्न करने से संबंधित हैं। इन कम्पनियों में समुद्री जहाज की कंपनियाँ भी शामिल कर ली गई हैं।

इस प्रकार निगम के क्षेत्र में निजी कंपनियाँ (Private Companies), साझेदारी, एकाकी उत्पादक (Sole Producers) एवं छोटे उद्योग शामिल नहीं हैं। सरकारी उद्योगों को भी इस निगम से पूंजी नहीं मिल सकेगी। अतः निगम केवल सार्वजनिक कंपनियों (Public Limited Companies) व सहकारी संस्थाओं को जो उपर्युक्त कामों में लगी हुई हैं, दीर्घकालीन ऋण प्रदान कर सकेगा।

वित्तीय सहायता के रूप—निगम को निम्न तरीकों से वित्तीय सहायता प्रदान करने का अधिकार है :—

(अ) औद्योगिक कंपनियों ने खुले बाजार से जो ऋण लिये हैं उन पर यह गारन्टी दे सकता है। ऐसे ऋणों की अवधि २५ वर्ष तक की हो सकती है।

(आ) यह २५ वर्ष तक का ऋण स्वयं दे सकता है अथवा कंपनियों के ऋण-पत्र भी खरीद सकता है।

(३) यह कंपनियों के स्टॉक, शेयर, बंधक-पत्र (Bonds) या ऋण पत्रों का अभिगोपन (Under Writing) कर सकता है। लेकिन अभिगोपन की तारीख से ७ वर्ष की अवधि में इनका बेचा जाना अनिवार्य होगा।

१९५७ से निगम को आयातकर्ताओं को विलम्बित भुगतान पद्धति (Deferred payments) के सम्बन्ध में भी गारन्टी देने का अधिकार दिया गया है। यदि कोई आयातकर्ता विदेशी उत्पादक से मशीनें आदि खरीदने का इन्तजाम कर लेता है तो निगम गारन्टी दे सकता है ताकि विदेशी वस्तुएँ उधार मिल सकती हैं।

निगम की पूँजी के स्रोत
(Sources of Finance for the Corporation)

(अ) शेयर पूँजी :—निगम की अधिकृत पूँजी १० करोड़ रु० की है जो ५००० रु० प्रति शेयर के हिसाब से २०,००० पूर्ण-परिदत्त (fully paid up) शेयरों में बँटी हुई है। अभी तक केवल ५ करोड़ रु० की पूँजी निर्गमित की गई है जो १०,००० शेयरों में विभाजित है।[1] ३० जून १९५८ को ये शेयर इस प्रकार बंटे हुए थे :—

अंशधारी	अंशों की संख्या
१. केन्द्रीय सरकार	२०००
२. रिजर्व बैंक	२०५४
३. अनुसूचित बैंक	२,४०५
४. बीमा कम्पनियाँ, विनियोग ट्रस्ट एवं अन्य वित्तीय संस्थायें	२,५९८
५. सहकारी बैंक	९४३
कुल	१०,०००

१९५६ में जीवन-बीमा-निगम बनने के बाद चौथी श्रेणी के २,५९८ अंशों में से २,३४६ शेयर उसके हिस्से में आ गये हैं। इस प्रकार अब निगम के शेयरों पर सरकारी अधिकार बढ़ गया है। वैसे प्रारम्भ में शेयरों का वितरण इस प्रकार सोचा गया था, केन्द्रीय सरकार व रिजर्व बैंक में प्रत्येक को २००० शेयर, अनुसूचित बैंकों को २५००, बीमा कम्पनियों आदि को २५०० और सहकारी बैंकों को १००० शेयरों का पारस्परिक वितरण अधिनियम के अन्तर्गत बदला जा सकता है, इसीलिए ३० जून, १९५८ को उपर्युक्त स्थिति सम्भव हो सकी थी।

1. Industrial Economy of India

(अ) बन्धक पत्र (Bonds) व ऋण-पत्र (Debentures) :—निगम को प्रारम्भ में परिदत्त पूंजी व रिजर्व कोप के ५ गुने तक के बन्धक-पत्र व ऋण-पत्र निर्गमित करने का अधिकार दिया गया था जो बाद में (१९५७ में) १० गुने तक कर दिया गया। नवम्बर १९५७ एवं नवम्बर १९५८ में निगम ने क्रमशः ४'५६ करोड़ रु० और ४'३८ करोड़ रुपए के बन्धक-पत्र निर्गमित किये थे। मार्च २७, १९५९ को १९'७५ करोड़ रु० के बन्धक पत्र बकाया (Outstanding) थे। ऋण-पत्रों के मूलधन व ब्याज पर केन्द्रीय सरकार की गारन्टी होती है।[1]

(इ) रिजर्व बैंक से उधार :—औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम की धारा २१ (३) (ब) के अनुसार निगम रिजर्व बैंक से १८ महीने तक के लिए ३ करोड़ रु० तक की रकम उधार ले सकती है। इस धारा के अन्तर्गत मार्च २७, १९५९ को ९४ लाख रुपये निगम ने रिजर्व बैंक से उधार ले रक्खे थे।[1]

(ई) जमा (Deposits) :—निगम १० करोड़ रुपये तक की जमा कम से कम ५ वर्ष तक की अवधि की स्वीकार कर सकता है। यह जमा आम जनता, राज्य सरकार एवं स्थानीय संस्थाओं की हो सकती है। अभी तक निगम ने कोई जमा प्राप्त नहीं की है।

(उ) केन्द्रीय सरकार से उधार :—निगम भारत सरकार से भी कर्ज ले सकता है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में निगम को उधार देने की राशि २२'२५ करोड़ रु० रक्खी गई थी जिसमें से ३१ मार्च १९५९ तक १३ करोड़ रु० की राशि काम में ली जा चुकी है। इसके अलावा सरकार ने P. L. 480 कोप में से १० करोड़ रु० का ऋण देने का आश्वासन दिया है।

(ऊ) विविध :—निगम विदेशी मुद्रा में उधार लेने का भी अधिकारी है। ऐसे ऋणों पर भारत सरकार की गारन्टी होगी। एक विशेष रिजर्व कोष भी बनाया गया है जिसमें केन्द्रीय सरकार व रिजर्व बैंक का लाभांश जमा किया जायगा जब तक कि इस कोप की राशि ५० लाख रु० तक न हो जाय। इस प्रकार निगम के साधन बढ़ जायेंगे।

निगम का प्रबन्ध व कार्य-प्रणाली :—निगम का प्रबन्ध १२ संचालकों के एक मण्डल द्वारा होता है। ३ संचालक केन्द्रीय सरकार के मनोनीत, २ रिजर्व बैंक के मनोनीत, ६ अनुसूचित बैंकों व अन्य संस्थाओं द्वारा निर्वाचित एवं एक प्रबन्ध संचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त होते हैं। प्रबन्ध संचालक कार्यकारिणी समिति का अध्यक्ष भी होता है जिसमें ४ संचालक और होते हैं।

ऋण लेने वाली कम्पनी प्रार्थना-पत्र में विविध बातें स्पष्ट करती है जैसे निर्मित माल का स्वरूप, कारखाने की स्थापना का स्थान, शक्ति की व्यवस्था, माल की भावी

1. Report on Currency & Finance, 1958-59 page 45.

माँग की सम्भावना, लागत, जमानत की कीमत, सहायता या ऋण का उद्देश्य एवं लाभ प्राप्ति की क्षमता आदि आदि। ऋण मंजूर करते समय उद्योग का राष्ट्रीय महत्व, प्रबन्ध-क्षमता, वस्तु की किस्म व लागत, जमानत का स्वरूप, कच्चे माल की व्यवस्था आदि बातें देखी जाती हैं। निगम मकान, भूमि अथवा मशीन की जमानत पर ऋण देता है। ऋण मंजूर होने के २ या ३ साल बाद से ही किस्तों में भुगतान प्रारम्भ हो जाता है। व्याज की दर अप्रैल १९५८ से ६½% कर दी गई है जिस पर ½% की छूट दी जाती है। छूट उसी समय दी जाती है जब कि मूलधन व व्याज समय पर चुका दिये जाते हैं। अपने हितों की रक्षा के लिए निगम स्वीकृत ऋणों के उपयोग पर भी उचित ध्यान देता है। यदि कोई कम्पनी ऋण चुकाने में गड़बड़ करती है तो निगम उसका प्रबन्ध अपने हाथ में ले सकता है अथवा गिरवी रक्खी हुई सम्पत्ति को बेच भी सकता है। समय समय पर निगम कम्पनी की गतिविधि की रिपोर्ट भी मँगाता है।

निगम की प्रगति :—जुलाई, १९४८ से ३१ मार्च, १९६० तक निगम ने कुल ७२·१८ करोड़ रुपये के ऋण स्वीकृत किये। ३१५ आवेदन पत्रों पर ऋण स्वीकृत हुए और ४७·४८ करोड़ रु० (६५·८%) बाँटे गये।[1] इनमें से दो-तिहाई ऋण स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद में स्थापित नये औद्योगिक उपक्रमों को दिये गये थे और शेष चालू उद्योगों को दिये गये।

पिछले वर्षों में स्वीकृत ऋणों में पहले की अपेक्षा ज्यादा राशि वास्तव में बाँटी गई है। पहले ऋण तो स्वीकृत करा लिये जाते थे, लेकिन फिर किसी कारणवश उनका उपयोग नहीं किया जाता था। आजकल इस तरह की स्थिति को निरुत्साहित किया जाता है।

ज्यादातर ऋण चीनी, सूती कपड़ा, रासायनिक, कागज एवं सीमेंट उद्योगों को दिये गये हैं। एक कम्पनी को ज्यादा से ज्यादा १ करोड़ रु० का ऋण स्वीकृत हो सकता है।

१९५८-५९ में पहली बार निगम ने ऋण-पत्रों और शेयरों का अभिगोपन किया। इसके अतिरिक्त विलम्बित भुगतान पद्धति के अन्तर्गत बाहर से आयात की गई मशीनों वगैरः पर गारन्टी दी। १९५९-६० में निगम ने ७·७९ करोड़ रु० के विलम्बित भुगतान की गारन्टी दी।[2] यह कमी बहुत वर्षों से बराबर खटक रही थी।

औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम, १९४८ में संशोधन

निगम के प्रथम चार वर्षों में लगातार इस पर पक्षपात के आरोप लगाये गये। सरकार ने श्रीमती सुचेता कृपलानी की अध्यक्षता में एक जाँच समिति नियुक्त की

1. Report on Currency & Firance, 1959-60, p. 49.
2. The Report on Currency & Finance, 1959-60 page 49.

जिसने अपनी रिपोर्ट ७ मई, १९५३ को पेश की। जाँच समिति ने भ्रष्टाचार व पक्षपात के आरोप को गलत बतलाया लेकिन निगम को सफल बनाने के लिए कई सुझाव दिये।

निगम के विरुद्ध आलोचनायें—(१) निगम द्वारा ऋण स्वीकृत करने के सम्बन्ध में पक्षपात करने की शिकायत की गई है। कहा गया है कि ज्यादातर ऋण पहले से समृद्ध राज्यों के उद्योगों को मिले हैं। औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए राज्यों को ऋण कम मिले हैं। कुछ बड़े उद्योगपति अपने प्रभाव से ऋण स्वीकृत करवा लेते हैं। जिन उद्योगों में संचालकों को दिलचस्पी होती है उन्हें आसानी से ऋण मिल जाता है।

यह आलोचना सही नहीं है क्योंकि निगम ने जान-बुझकर ऐसा नहीं किया है। निगम उचित जमानत पर ही ऋण प्रदान कर सकता है। अत पर्याप्त जमानत न मिलने पर अथवा और किसी प्रकार से संतुष्ट न होने पर वह ऋण अस्वीकृत कर देता है। सावधानी के लिए ऐसा करना उचित है।

(२) निगम ने कम्पनियों के शेयर नहीं खरीदे है। अत: किसी उद्योग की स्थापना के समय पूँजी प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है। निगम शेयर खरीदने में अपनी पूँजी नहीं लगाना चाहता क्योंकि इससे जोखिम बढ़ जाती है और अभी तक ऐसी कम्पनियाँ बहुत कम हैं जिनके शेयर संदेह से परे हैं। निगम शेयरों का अभिगोपन अवश्य कर सकता है। वास्तव में निगम का उद्देश्य ऋण प्रदान करना है न कि जोखिम में भागीदार बनना। इसीलिए इसने शेयर न खरीदना ही उचित समझा है।

(३) कुछ आलोचकों का कहना है कि निगम की ब्याज की दर जो ७½% है (½% छूट) ऊँची है। लेकिन निगम अपने ऋण-पत्र भी ऊँचे ब्याज पर ही बेचता है और प्रवन्ध व्यय निकालने के लिए इतना ब्याज लेना अनुचित नहीं कहा जा सकता है।

(४) ऋण स्वीकार करने में बहुत विलम्ब होता है और ऋण बाँटने में भी काफी देर हो जाती है। बहुधा इस परिस्थिति के लिए स्वयं प्रार्थी ही जिम्मेदार होता है क्योंकि प्रार्थना-पत्र अधूरा रहने से निर्णय करना कठिन हो जाता है। जांच करने में भी समय लगता है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इस सम्बन्ध में सुधार किया जा सकता है। इसके लिए निगम को एक आर्थिक अनुसंधान-विभाग (Economic Research Section) खोलना चाहिए जिसमें प्रार्थना-पत्रों की ज्यादा वैज्ञानिक जाँच हो सके और निर्णय लेने में शीघ्रता बरती जा सके।

(५) निगम मैनेजिंग एजेण्ट की व्यक्तिगत गारन्टी पर भी ऋण देते समय जोर देता है। कुछ लोगों ने इसे अनुचित माना है। एक दृष्टि से तो यह अच्छा भी है कि प्रबन्ध अभिकर्ता को भी जिम्मेदार बना दिया जाता है। इससे ऋणों का सर्वोत्तम उपयोग हो सकता है।

(६) निगम ने ज्यादातर ऋण १२ वर्ष के लिए ही दिये हैं जब कि नियमानुसार इसे २५ वर्ष तक ऋण देने का अधिकार है।

(७) ऋण केवल सार्वजनिक व सहकारी संस्थाओं को ही मिल सकता है अन्य को नहीं। इन आलोचना का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि देश में अन्य निगम दूसरी संस्थाओं को ऋण देने के लिए बने हैं। अतः कार्यक्षेत्र सीमित करना कोई दुर्गुण नहीं कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि निगम की आलोचनाओं में विशेष सार नहीं है। पिछले १५ वर्षों की अवधि में इसने भारत के औद्योगिक ढांचे में अपना निश्चित स्थान बना लिया है। दूसरी पंचवर्षीय योजना में एवं भारत की भावी योजनाओं में ऐसे निगमों का महत्व बढ़ना स्वाभाविक है। निगम का कार्यक्षेत्र निरंतर बढ़ रहा है। उसके लिए इसके साधनों की अभिवृद्धि की आवश्यकता है। ज्यादा पूंजीगत साधन मिलने पर ही निगम उद्योगों की बढ़ती हुई वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगा।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम

(National Industries Development Corporation Ltd.)

बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास व वित्त से सम्बन्धित दूसरा महत्वपूर्ण निगम—राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम है जो २० अक्टूबर १९५४ में स्थापित हुआ था। यह सरकारी-निर्देशन में बनाया हुआ निगम है और इसीलिए भारत सरकार ने ही इसमें सारी पूंजी लगाई है।

पूंजी—निगम एक प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी के रूप में रजिस्टर्ड हुआ है। इसकी अधिकृत पूंजी १ करोड़ रुपये की है और परिदत्त- पूंजी १० लाख रु० की है जो सारी भारत सरकार द्वारा लगाई गई है। निगम को शेयर व ऋण-पत्र निर्गमित करके अपने पूंजीगत साधन बढ़ाने का अधिकार है। निगम को अतिरिक्त पूंजी निम्न दो तरह से मिल सकेगी—

(अ) विभिन्न औद्योगिक योजनाओं के अध्ययन व जाँच के लिए सालाना अनुदान दिया जायगा। इसी अनुदान में से प्राविधिक सलाहकारों व प्रबन्ध कर्मचारियों के दल तैयार किये जा सकेंगे।

(आ) जब कभी कोई योजना लागू करनी है तो उसके लिए ऋण की व्यवस्था की जा सकेगी।

उद्देश्य—(१) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम मुख्यतः उन उद्योगों में पूंजी लगाने के लिए बना है जो नियोजित विकास के दौरान में स्थापित होंगे। यह पूंजीगत माल, मशीन व अन्य साज-सामान बनाने को प्राथमिकता देगा। यह औद्योगिक कार्यक्रमों का अध्ययन व जाँच करेगा।

(२) यह सार्वजनिक व निजीक्षेत्र में सहयोग स्थापित करेगा। जहाँ तक हो सकेगा यह निजी क्षेत्र में उपलब्ध औद्योगिक साज-सामान, अनुभव व चतुराई का अधिकतम उपयोग करेगा। यह ऐसे उद्योग स्थापित करेगा जो आगे जाकर निजी क्षेत्र में सहायक उद्योग स्थापित करने में मदद देंगे। इस प्रकार देश में संतुलित व एकीकृत औद्योगिक विकास सम्भव हो सकेगा।

(३) निगम, इन्जीनियरों का एक दल तैयार करेगा जो सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों में आवश्यक प्राविधिक सहायता प्रदान कर सके।

(४) यह कुछ प्रमुख औद्योगिक सामान बनाने का विशेष प्रयत्न करेगा जैसे Raw Film, अल्युमिनियम, कृत्रिम रबड़ और दवा, रंग व प्लास्टिक उद्योग का आवश्यक सामान।

(५) किसी भी उद्योग को सरकारी ऋण देने के संबन्ध में यह सरकारी एजेन्ट के रूप में काम करेगा। प्रारम्भ में यह सहायता का कार्य-क्रम जूट व सूती वस्त्र उद्योगों के आधुनिकीकरण व पुनर्स्थापन के लिए, दिये गये सरकारी ऋणों पर लागू होगा।

प्रबन्ध—निगम का प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत २० सदस्यों के एक संचालक मन्डल द्वारा होता है। उद्योगपति, इन्जीनियर एवं अन्य विशेषज्ञ होते हैं।

प्रगति—१९५५ में भारत सरकार ने इस निगम द्वारा तैयार किये जाने के कुछ उत्पादन के कार्यक्रम स्वीकृत किये जो निम्न उद्योगों से संबंधित थे—[1] स्टील फाउन्ड-रीज, स्टील स्ट्रक्चरल्स के फोर्जेज व फेब्रिकेशन, रंग का सामान, लकड़ी की लुब्दी, कार्बन ब्लैक, पाईराइट से गन्धक, छापे की मशीन, हवा कम्प्रेशर, फ्रेक्शनल हॉर्स पॉवर मोटर्स व रिफ्रेक्टरीज।

उपर्युक्त उद्योगों की जाँच विदेशी विशेषज्ञों की सहायता से की गई। मार्च, १९५६ में निगम के संचालकों ने एक कृत्रिम रबड़ प्लान्ट स्थापित करने का सुझाव रक्खा।

जूट व सूती वस्त्र उद्योगों के अन्दर नई मशीनों के लगाने के लिए निगम ने ३१ मार्च, १९६[illegible] तक [illegible] करोड़ रु० के ऋण स्वीकृत किये।[2] निगम द्वारा स्वीकृत ऋणों का भुगतान ज्यादा से ज्यादा १५ समान वार्षिक किश्तों में करना होता है। ब्याज की दर $7\frac{1}{2}\%$ सालाना रक्खी गई है लेकिन समय पर मूलधन व ब्याज का भुगतान करने पर ५% ब्याज ही देना होता है।

ऋण सम्बन्धी आवेदन-पत्रों की छान-बीन के लिए जूट उद्योगों के लिए कलकत्ते में और सूती वस्त्र-उद्योगों के लिये बम्बई में दो सलाहकार समितियाँ बनाई गई हैं।

जून १९५९ में निगम ने जूट व सूती कपड़े के मिलों के आधुनिकीकरण को तीव्र गति प्रदान करने के लिए एक नया कार्यक्रम लागू किया है। इसके अनुसार नई मशीन की कीमत का २५% जमा करा देने पर निगम आवश्यक मशीन प्रार्थी-

1. Report on Currency and Finance, 1955-56, P. 42.
2. Report on Currency and Finance, 1959-60, P. 52.

मिल को सुलभ करेगा। मशीन की बाकी कीमत ६% वार्षिक ब्याज मिलाकर ५ समान सालाना किश्तों में चुकाई जा सकेगी। आशा है इस कार्य-क्रम से दोनों उद्योगों में अभिनवीकरण तेजी से हो सकेगा। लेकिन स्मरण रहे कि यह सुविधा देशी मशीनें खरीदने के लिए दी गई है। साथ में यह सुविधा केवल अल्प-कालीन ही होगी। ३१ मार्च, १९६५ तक निगम ने ६९ लाख रु० की सहायता प्रदान की।[1]

दूसरी पंचवर्षीय योजना में निगम के कार्यों के लिये ५५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। इसमें से लगभग ३५ करोड़ रु० की राशि भारी व आधारभूत उद्योगों के विकास के लिए रक्खी गई है। शेष, जूट व सूती कपड़े के उद्योगों में नई मशीनें लगाने के लिए रक्खी गई है।

निगम ने रांची (विहार) के पास एक भारी मशीन बनाने का प्लान्ट डाला है। इसके लिए रूस की सरकार ने ५०० मिलियन रूबल का ऋण प्रदान किया है।

विदेशी विनिमय के अभाव में द्वितीय पंच-वर्षीय योजना मे निगम द्वारा प्रस्तावित व्यय राशि में से (जो ५५ करोड़ रुपये है) बहुत कम राशि ही वास्तव में व्यय हो सकेगी। प्राविधिक कर्मचारियों के अभाव से भी विभिन्न कार्य-क्रमों के सफलीभूत होने में बाधा पड़ेगी।

औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम (The Industrial Credit and Investment Corporation of India Ltd).

यह ५ जनवरी, १९५५ को भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित किया गया। यह निगम निजी सदस्यों द्वारा निर्मित सस्था है और इसका उद्देश्य निजी क्षेत्र के लिए पूंजी की व्यवस्था करना है। पहले कहा जा चुका है कि औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation) शेयर खरीदने में भाग नहीं लेता है। इस कारण से नई कम्पनियों को शेयर बेचकर पूंजी प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम स्थापित किया गया है। यह कम्पनियों के शेयर भी खरीदेगा, शेयरों व ऋण-पत्रों का अभिगोपन करेगा और प्रत्यक्ष ऋण भी प्रदान करेगा। इस निगम में सरकारी सहायता व सहयोग भी होगा। यह इस बात का प्रमाण है कि भारत सरकार औद्योगिक विकास में निजी उद्यम (Private enterprise) का महत्व स्वीकार करती है और उसे मदद देने को भी तत्पर है।

[2]उद्देश्य व कार्य क्षेत्र :—निगम साधारणतया निम्न कार्य करेगा :—

(१) निजी क्षेत्र के उद्योगों के निर्माण, विस्तार एवं आधुनिकीकरण में मदद पहुँचायेगा।

---

1. Report on Currency and Finance, 1959-60, P. 52.
2. Report on Currency and Finance, 1954-55, P. 50.

(२) ऐसे उद्योगों में आन्तरिक व बाहरी निजी पूँजी को भाग लेने के लिए प्रोत्साहन देगा।

(३) औद्योगिक विनियोग के निजी स्वामित्व को बढ़ावा देगा और विनियोग बाजार का विस्तार करेगा। विशेषतया यह (क) पूँजी या तो दीर्घकालीन व मध्यम-कालीन ऋणों के रूप में प्रदान करेगा अथवा शेयरों में भाग लेगा, (ख) नये शेयरों व प्रतिभूतियों का बाजार में अभिगोपन करेगा, (ग) अन्य निजी विनियोग के स्रोतों के ऋणों पर गारन्टी प्रदान करेगा, (घ) जितनी जल्दी सम्भव हो सके उतनी जल्दी यह एक उद्योग में से विनियोग की रकम निकालकर उसके पुनर्विनियोग (Reinvestment by revolving investments) की व्यवस्था करेगा और (ङ) भारतीय उद्योगों को प्रबन्धकीय, टैक्नीकल व प्रशासनीय सलाह व सेवायें सुलभ करेगा। अतः यह निगम, निजी क्षेत्र में स्थापित उद्योगों के विकास के लिए भरसक प्रयत्न करेगा।

पूँजी—इस संस्था के निर्माण में विदेशी वित्त संस्थाओं ने भी हिस्सा लिया है। यह अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सहयोग का एक अनुपम उदाहरण है। इस निगम के सहारे विदेशी निजी विनियोगकर्त्ताओं को भारतीय-निजी-विनियोगकर्त्ताओं से निकट सम्पर्क स्थापित करने का मौका मिलेगा। हम विदेशी औद्योगिक अनुभव का भी लाभ उठा सकेंगे। विदेशी पूँजी के आगमन को प्रोत्साहन मिलेगा। विदेशी उद्यमकर्ता भारत के औद्योगिक ढांचे में निजी उद्यम का स्थान ठीक से समझ सकेंगे।

निगम की अधिकृत पूँजी २५ करोड़ रु० रखी गई है जो १०० रु० वाले ५ लाख साधारण शेयरों में एवं १०० रु० वाले २० लाख अवर्गीकृत (Unclassified) अंशों में बँटी हुई है। निर्गमित पूँजी ५ करोड़ रु० है जो १०० रु० के ५ लाख साधारण शेयरों में बँटी हुई है। यह पूँजी विभिन्न शेयरधारियों में इस प्रकार वितरित है :—

शेयरधारी	शेयरों की रकम (करोड़ रु० में)
(१) भारतीय बैंक, बीमा कम्पनियाँ, निगम के संचालक व उनके मित्र आदि	२ ,, ,,
(२) ब्रिटिश ईस्टर्न एक्सचेन्ज बैंक, संयुक्त राज्य की बीमा व अन्य कम्पनियाँ	१ ,, ,,
(३) अमेरिका के निगम व नागरिकों द्वारा	०·५ ,, ,,
(४) भारतीय जनता के लिए	१·५ ,, ,,
कुल	५ करोड़ रु०

इस प्रकार इस निगम में ब्रिटेन व अमेरिका के निजी क्षेत्रों की पूँजी का सहयोग मिला है।

भारत सरकार ने भी निगम को ७'५ करोड़ रु० का ब्याज-मुक्त ऋण दिया है जो १५ साल बाद से १५ समान सालाना किश्तों में चुकाया जायगा। जब तक ऋण की रकम बकाया रहेगी भारत सरकार को निगम के बोर्ड में एक संचालक नियुक्त करने का अधिकार होगा।

विश्व बैंक ने भी एक करोड़ डालर (लगभग ४'७५ करोड़ रु०) का ऋण निगम को देना स्वीकार किया जिसका उपयोग विभिन्न देशों की मुद्राएँ प्राप्त करने में किया जायगा। यह ऋण १५ साल के लिये दिया जायगा और कमीशन सहित ब्याज की दर ४$\frac{5}{8}$% होगी। भारत सरकार ने मूलधन व ब्याज आदि की गारन्टी दी है। निगम आवश्यकता पड़ने पर उधार भी ले सकेगा। उधार की मात्रा, पूँजी, संचित कोष व बकाया, सरकारी उधार की तिगुनी तक हो सकेगी। स्थापना के ५ वर्ष बाद से निगम के मुनाफे का २५% प्रतिवर्ष एक संचित कोष में ले जाया जायगा।

प्रगति-विवरण—प्रारम्भ से लेकर १९५९ के अन्त तक निगम ने कुल २०'४० करोड़ रु० की वित्तीय सहायता स्वीकृत की जिसका विभाजन इस प्रकार है :—[1]

	करोड़ रु०
(अ) ऋण के रूप में	१०'२४
(आ) शेयर व ऋण-पत्रों का अभिगोपन	८'३०
(इ) शेयर खरीद कर	१'८६
कुल	२०'४०

ऋण के रूप में जितनी रकम दी गई उसका ३४% रुपयों में था और ६६% विदेशी मुद्रा में था। १९५९ के अन्त तक निगम ने लगभग ९ करोड़ रु० के ऋण बाँट दिये थे।

इसी अवधि में निगम ने २२ अभिगोपन के कार्य किये जिनमें ६'८० करोड़ रु० की रकम में से इसे २'०४ करोड़ रु० के शेयर व ऋण-पत्र रखने पड़े और शेष जनता में बेच दिये गये। निगम की सहायता से कागज, रासायनिक उद्योग, फर्माक्यूटिकल्स, इंजीनियरिंग, चीनी, रबड़, वस्त्र उद्योग, सीमेंट, गाड़ियाँ एवं बिजली का सामान बनाने वाले उद्योगों ने विशेष लाभ उठाया।

निगम के साधन बढ़ाने के लिए (१) २१ मई, १९५९ को भारत सरकार ने यू० एस० टैक्नीकल सहयोग मिशन से एक समझौता किया है जिसके अन्तर्गत निगम को मिशन से नए पी० एल० कोष, ४८० से १० करोड़ रु० का ऋण मिलेगा और

1. Report on Currency and Finance, 1959-60, p. 51.

(२) जुलाई, १९५९ में विश्व बैंक ने १ करोड़ डालर का ऋण दूसरी बार मंजूर किया है।[1]

यह निगम भविष्य में कैसा रूप लेगा—इस सम्बन्ध में अभी निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता है। फिर भी इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि निजी क्षेत्र के विकास में इसका महत्वपूर्ण योग रहेगा। प्रबन्ध अभिकर्ता-प्रणाली के समाप्त होने की दशा में ऐसी संस्थाओं से ही निजी क्षेत्र की बढ़ती हुई वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव हो सकेगी। आशा है श्री जी० एल० मेहता की अध्यक्षता में यह निगम दिनों-दिन प्रगति करता रहेगा।

पुनर्वित्त निगम (Refinance Corporation)

औद्योगिक वित्त निगम, १९४८, राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम १९५४, एवं औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम, १९५५ की स्थापना के पश्चात् भी मध्यम श्रेणी के उद्योगों की मध्यम-कालीन ऋण सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति की समुचित व्यवस्था नहीं हो पाई। उपर्युक्त सब निगम अपना सम्बन्ध विशेषतया बड़े उद्योगों की दीर्घ-कालीन पूँजी की आवश्यकता की पूर्ति से रखते हैं। भारत में परोक्ष रूप में मध्यम-कालीन ऋण व्यापारिक बैंकों द्वारा प्रदान किए गए हैं। वे अल्प-कालीन ऋणों को भुगतान के समय पुनः नवीन करके उद्योगों को मध्य-कालीन (३ से ७ वर्ष तक) ऋण की सुविधा देते रहे हैं। लेकिन यह व्यवस्था, अपर्याप्त, असुविधाजनक एवं असन्तोषजनक ही बनी रही। द्वितीय योजना के प्रारम्भ में व्यापारिक बैंकों ने उद्योगों में विशेष दिलचस्पी दिखलाई। लेकिन साधनों के अभाव में वे उद्योगों को जितनी सहायता पहुँचानी चाहिये थी उतनी नहीं पहुँचा सके। अतः सरकार ने ५ जून, १९५८ को पुनर्वित्त निगम की स्थापना भारतीय कम्पनी विधान के अन्तर्गत एक निजी सीमित दायित्व वाली कम्पनी के रूप में की। सर्वप्रथम व्यापारिक बैंक मध्यम श्रेणी के उद्योगों को मध्यम-कालीन साख प्रदान करेंगे। और फिर वे स्वयं पुनर्वित्त निगम से साख प्राप्त कर सकेंगे। उद्योगों को ऋण देने की जोखिम व जिम्मेदारी व्यापारिक बैंकों की होगी। इस प्रकार व्यापारिक बैंकों के साधन बढ़ जायेंगे। द्वितीय योजना व भावी योजनाओं में शामिल किये गए उद्योगों को यह सुविधा सुलभ हो सकेगी।

पूँजी—निगम की अधिकृत पूँजी २५ करोड़ रु० की है जो १ लाख रुपये वाले २,५०० शेयरों में विभाजित है। शुरू में १२·५ करोड़ रु० के शेयर निर्गमित किए गए हैं जो विभिन्न संस्थाओं द्वारा इस प्रकार लिये गये हैं :—

1. Report on Currency and Finance, 1958-59, p. 47.

(करोड़ रु० में,

(१) रिजर्व बैंक	....	५
(२) जीवन बीमा निगम	....	२·५
(३) स्टेट बैंक	...	२·५
(४) १४ बड़े अनुसूचित बैंक	...	२·५
	कुल	१२·५

फिलहाल परिदत्त पूँजी (Paid-up Capital) २·५ करोड़ रुपये रक्खी गई है।

२१ जून, १९५८ को भारत सरकार ने पी० एल० ४८० कोष से २६ करोड़ रु० का ऋण निगम को स्वीकृत किया है। यह ऋण ३० साल के लिए दिया गया है। मार्च, १९५९ के अन्त तक निगम ने इस ऋण में से ५ करोड़ रुपये ले लिये थे। इस प्रकार निगम ३८·५ करोड़ रु० की पूँजी से कार्यारम्भ कर चुका है।

प्रबंध—निगम का प्रबंध ७ सदस्यों के एक संचालक बोर्ड द्वारा किया जायगा। रिजर्व बैंक का गवर्नर इसका अध्यक्ष होगा। रिजर्व बैंक का उप-गवर्नर, स्टेट बैंक का अध्यक्ष, जीवन बीमा निगम का अध्यक्ष एवं अनुसूचित बैंकों के तीन प्रतिनिधि इसके अन्य संचालक होंगे। निगम का कार्यालय बम्बई में रिजर्व बैंक की इमारत में रहेगा। पुनः साख मिलने की शर्तें इस प्रकार होंगी :—

(अ) ऋण-प्राप्त उद्योग की परिदत्त पूँजी व कोष की मात्रा ५ लाख रु० से २½ करोड़ रु० के बीच में होनी चाहिए।

(आ) एक पार्टी को ५ लाख रु० से ज्यादा का उधार नहीं मिलेगा।

(इ) ऋण की अवधि ३ से ७ वर्ष तक की होगी।

प्रगति—जून, १९५८ से मार्च, १९६५ के अन्त तक निगम ने २० आवेदन-पत्रों पर ४५·६ करोड़ रु० की राशि स्वीकृत की जिसमें से ८·३ करोड़ रु० के ऋण बाँटे गए।[1] फेरो-मैंगनीज, सूती वस्त्र, सीमेंट, फर्मास्यूटिकल्स, बिजली का सामान एवं इन्जीनियरिंग उद्योगों ने ऋण प्राप्त किये। निगम सदस्य बैंकों से ५% व्याज लेता है और बैंक उद्योगों से ६½% व्याज लेते है। अतः बैंकों का १½% मार्जिन रहता है। ६½% व्याज की दर अनुचित नहीं है क्योंकि अन्य निगम भी लगभग इतना ही व्याज लेते हैं। पुनर्वित्त निगम विशेषतया औद्योगिक साख एवं विनियोग से निकट सम्पर्क बनाए रखता है ताकि उनके सम्मिलित साधनों का देश की अर्थ-व्यवस्था के हित में सप्रभावित्व प्रयोग हो सके।

1. Report on Currency & Finance, 1959-60 P. 51.

कुछ क्षेत्रों में इस बात की आलोचना की गई है कि २६ करोड़ रु० औद्योगिक वित्त निगम को साख के रूप में दिये जाते तो उद्योगों का विशेष लाभ हो सकता था। लेकिन इस सम्बन्ध में आलोचना अनावश्यक है। भारत में विभिन्न प्रकार के उद्योगों की विविध किस्म की वित्तीय आवश्यकताओं को देखते हुए कई निगमों का होना बुरा नहीं है। आवश्यकता तो इस बात की है कि इसके क्षेत्र स्पष्टतया निर्धारित हों और इनके कार्यों में अत्यधिक मेल स्थापित हो सके। इन निगमों की स्थापना से औद्योगिक क्षेत्र में वित्तीय साधनों की पूर्ति काफी बढ़ गई है। आशा है इससे भारत के औद्योगीकरण को तीव्र गति मिल सकेगी।

छोटे पैमाने के उद्योगों की वित्तीय व्यवस्था

भारत के आर्थिक जीवन में छोटे पैमाने के उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान हमेशा बना रहेगा। छोटे उद्योगों को भी स्थायी पूँजी (Fixed Capital) और कार्य-वाहक पूँजी (Working Capital) की आवश्यकता होती है। इन उद्योगों के लिए भी पूँजी प्रदान करने वाले कुछ परम्परागत साधन रहे हैं लेकिन आधुनिक समय में वे अपर्याप्त सिद्ध हो चुके हैं। छोटे पैमाने के उद्योगों के स्वामी प्रायः अपनी पूँजी से कार्यारम्भ करते हैं। उन्हें समय-समय पर सर्राफों, महाजनों व व्यपारियों से पूँजी की सहायता मिलती है। वे अपने मित्रों व सम्बन्धियों से भी पूँजी की व्यवस्था करते हैं। लेकिन ये साधन अब छोटे उद्योगों के विकास के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

छोटे उद्योग प्रायः व्यक्तिगत, साझेदारी अथवा निजी सीमित दायित्व की कम्पनियों के आधार पर संगठित पाये जाते हैं। कहीं-कहीं ये सार्वजनिक कम्पनियों के रूप में भी स्थापित किये जाते हैं। इन्हें संगठित मुद्रा बाजार से पूँजी नहीं मिल पाती है क्योंकि इनके शेयर बिकना अत्यन्त कठिन कार्य है। व्यापारिक बैंक भी छोटे उद्योगों में कई कारणों से पूँजी लगाने में हिचकते हैं क्योंकि ये पर्याप्त जमानत नहीं देते और इनकी प्रबन्ध-व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं होती।

छोटे उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन भी पिछले वर्षों में बढ़ाये गये हैं। ये इस प्रकार हैं—

(१) उद्योगों को सरकारी सहायता सम्बन्धी अधिनियमों के अन्तर्गत (State Aid to Industries Act)।

(२) राज्य वित्त निगम (State Financial Corporations),

(३) भारत के स्टेट बैंक की वित्तीय सुविधा बढ़ाने की योजना,

(४) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम द्वारा प्रदान की गई सुविधा,

(५) रिजर्व बैंक की नीति।

(१) उद्योगों को सरकारी सहायता अधिनियम के अन्तर्गत—राज्य वित्त निगम बनने से पूर्व राज्य सरकारें इन अधिनियमों के अन्तर्गत छोटे उद्योगों को ऋण प्रदान करती थीं। मद्रास में सर्वप्रथम १९५२ में ऐसा अधिनियम पास हुआ। बाद में अन्य

राज्यों में भी ऐसे अधिनियम पास किये गये। इनके अन्तर्गत राज्य सरकारें अपने वार्षिक बजट में छोटे व मध्यम उद्योगों को उधार देने के लिए राशि की व्यवस्था करती हैं। आवेदन-पत्र की पर्याप्त जाँच करने के बाद उधार की राशि स्वीकृत होती है। छोटे पैमाने के उत्पादकों ने इन ऋणों से स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व बहुत कम लाभ उठाया। इसके कारण हैं, जैसे सरकार प्रतिवर्ष उधार के लिए मामूली रकम अलग रखती है, एक व्यक्ति को बहुत थोड़ी रकम प्राप्त हो सकती है, उधार स्वीकृत होने में बहुत समय नष्ट हो जाता है, उधार का सौदा गुप्त नहीं रखा जाता है एवं ब्याज की दर भी आकर्षक नहीं है। इन कारणों से इन अधिनियमों के अन्तर्गत मिलने वाली वित्तीय सहायता असफल सिद्ध हुई और १९२७ के बाद से स्वतंत्रता प्राप्ति तक किसी भी वर्ष समस्त भारत में इन अधिनियमों के अन्तर्गत ५ लाख रुपये से ज्यादा ऋण स्वीकृत नहीं हुआ।[1] लेकिन आजकल स्थिति काफी सुधर गई है। केन्द्रीय सरकार राज्यों को ऋण व अनुदान देती है ताकि छोटे उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। पिछले ३ वर्षों में राज्यों ने ६-५ करोड़ रु० के ऋण[2] बाँटे हैं।

(२) राज्य वित्त निगम (State Financial Corporations)—लघु एवं मध्यम-आकार के उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत सरकार ने १९५१ में राज्य वित्त निगम अधिनियम पास किया। इस अधिनियम के अन्तर्गत ३० मार्च, १९५९ को १२ राज्य वित्त निगम स्थापित हो चुके थे जो निम्न राज्यों से सम्बन्धित थे। आन्ध्र, आसाम, बिहार, बम्बई, केरला, मध्य-प्रदेश, मैसूर, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, यू० पी०, एवं पश्चिमी बंगाल। मद्रास में औद्योगिक विनियोग निगम भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत १९४९ में बना था लेकिन वह भी अन्य वित्त निगमों की तरह ही काम करता है। इसको मिलाने पर १३ राज्य वित्त निगम हो जाते हैं। जम्मू व कश्मीर को छोड़कर अब प्रत्येक राज्य में एक वित्त निगम बन चुका है।

राज्य वित्त निगम लघु एवं मध्यम-आकार के उद्योगों को मध्यम व दीर्घ-कालीन साख प्रदान करते हैं। ये औद्योगिक वित्त निगम के ही ढंग पर बने हैं और उसके छोटे संस्करण हैं। ये निजी उद्यम-कर्ताओं, साझे की फर्मों एवं प्राइवेट सीमित दायित्व वाली कम्पनियों को भी साख प्रदान करते हैं। राज्य वित्त निगमों की पूँजी में राज्य सरकार, रिजर्व बैंक, व्यापारिक बैंक, अन्य वित्तीय संस्थाओं एवं साधारण जनता का हिस्सा होता है। साधारण जनता का हिस्सा शेयर पूँजी में २५% से अधिक नहीं हो सकता है। राज्य वित्त निगम अधिक से अधिक २० वर्ष के लिए ऋण दे सकते हैं।

1. Understanding India's Economy—A course of Analysis By Dhires Bhattacharyya P. 96.

2. Report on Currency and Finance, 1958—59.P. 49.

एक राज्य वित्त निगम की अधिकृत शेयर पूँजी ५० लाख रु० से कम और ५ करोड़ रु० से अधिक नहीं हो सकती है। ये वन्धक-पत्र व ऋण-पत्र बेचकर अपनी परिदत्त, शेयर पूँजी व जमा कोष के ५ गुने तक पूँजी प्राप्त कर सकते हैं। इन्हें जन साधारण से जमा प्राप्त करने का भी अधिकार होता है जो कम से कम ५ वर्ष के लिए होते हैं। ये अधिक से अधिक परिदत्त पूँजी की मात्रा के बराबर हो सकते हैं। राज्य सरकारें शेयर-पूँजी पर न्यूनतम लाभांश की गारन्टी देती हैं।

राज्य वित्त निगम छोटे उद्योगों की सम्पत्ति की जमानत पर ऋण देते हैं और एक फर्म को १० लाख रु० से अधिक ऋण नहीं दे सकते हैं। राज्य वित्त निगम भी औद्योगिक वित्त निगम की तरह कम्पनियों के शेयर नहीं खरीदते हैं लेकिन प्रत्यक्ष ऋण (Loans and advances) देते हैं, अंश व ऋण-पत्रों का अभिगोपन कर सकते हैं और ऋण-पत्रों की बिक्री पर गारन्टी देते हैं एवं ऋण-पत्र स्वयं भी खरीद सकते है।

१९५९-६० में राज्य वित्त निगमों ने ५·६१ करोड़ रुपये के ऋण स्वीकृत किये जिसमें से ३·६६ करोड़ रुपये के ऋण बाँटे गये।[1]

प्रगति की समालोचना—राज्य वित्त निगमों की पिछले वर्षों की प्रगति से निम्न बातें हमारे समक्ष आ सकी हैं।

(१) इन्होंने मध्यम श्रेणी के उद्योगों को ज्यादा वित्तीय सहायता दी है जैसे सूती वस्त्र उद्योग, इन्जीनियरिंग, बिजली की पूर्ति, तेल निकालने का उद्योग एवं चाय व रबड़ के बागान आदि उद्योग। छोटे उद्योगों को बहुत कम मात्रा में पूँजी मिल पाई है।

इस स्थिति के लिए बहुत कुछ छोटे उद्योग ही जिम्मेदार हैं क्योंकि आवेदन-पत्रों में पूरे विवरण नहीं दिये जाते है, इनके पास जमानत अपर्याप्त होती है, योजना सुलझी हुई एवं सुदृढ़ नही होती है, एवं व्यवस्थित हिसाब व अंकेक्षण नही होता है और उत्पादन विधियाँ असंतोषजनक प्रमाणित होती हैं। प्रारम्भ में इन निगमों द्वारा सावधानी बरता जाना अच्छा ही माना जायगा। छोटे उद्योगों को सहकारी समितियाँ बना कर अपनी स्थिति सुधारनी चाहिए।

(२) इन्होंने कार्य शील पूँजी (Working capital) नहीं प्रदान की है। बहुत से छोटे उद्योग इस प्रकार की पूँजी के अभाव में कठिनाई में पड़ जाते हैं। राज्य वित्त निगम ऋण-पूँजी ही प्रदान करते हैं क्योंकि उसी के लिए उनको आवश्यक जमानत मिल पाती है।

कार्यशील पूँजी या अल्पकालीन पूँजी की सुविधा प्रदान करने का क्षेत्र राज्य-वित्त-निगमों का नहीं है। आजकल इस दिशा में स्टेट बैंक के प्रयत्न सराहनीय हैं। इनका विवरण आगे किया जायगा।

---

1. Report on Currency and Finance, 1959-60, P. 50.

(३) आवेदन-पत्रों की जाँच के लिए विशेषज्ञों का अभाव है इसलिए भी ऋण देने में देर हो जाती है।

(४) ब्याज की दरें छोटे उद्योगों को ध्यान में रखते हुए अधिक हैं क्योंकि रजिस्ट्रेशन चार्ज एवं ऋण पर स्टाम्प-कर आदि लगाने से कुल भार बढ़ जाता है। यह घटाया जाना चाहिए।

अब तक राज्य-वित्त-निगमों ने छोटे व मध्यम-आकार के उद्योगों की वित्तीय आवश्यकता की बहुत थोड़ी मात्रा में पूर्ति की है। लेकिन इनका संगठन इस बात का प्रतीक है कि राज्य सरकारें छोटे उद्योगों के विकास के लिए वित्तीय व्यवस्था बढ़ाने को प्रयत्नशील हैं।

(३) स्टेट बैंक की छोटे उद्योगों के लिए वित्तीय योजना—स्टेट बैंक ने अपनी स्थापना के समय से ही छोटे पैमाने के उद्योगों को वित्तीय सहायता पहुँचाने में दिलचस्पी दिखलाई है। इसने एक 'Pilot' योजना लागू की है जिसके अन्तर्गत छोटे उद्योगों के लिए साख की मिली-जुली व्यवस्था (Co-ordinated provision) हो सकेगी। इस व्यवस्था में राज्य वित्त निगम, सहकारी बैंक, केन्द्रीय व राज्य सरकारें भाग लेंगी। १ जनवरी, १९५९ से यह योजना स्टेट बैंक की शाखाओं वाले सभी केन्द्रों में लागू की जा चुकी है। इसका रूप इस प्रकार है : उधार लेने वाला स्टेट बैंक या स्थानीय सहकारी बैंक को अपनी तमाम साख की आवश्यकताओं के लिए आवेदन-पत्र देता है। छोटी रकम के आवेदन-पत्रों पर राज्यों के उद्योग-संचालक विचार करते है। अन्य कार्यशील पूँजी (Working capital) के ऋण स्टेट बैंक या सहकारी बैंक द्वारा प्रदान किये जाते है। मध्यम व दीर्घकालीन के ऋण राज्य वित्त निगमों द्वारा दिये जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न संस्थायें साख प्रदान करने में एक दूसरे से सहयोग करती हैं। स्टेट बैंक और सहकारी बैंक साख-योग्यता के सम्बन्ध में सूचना देते हैं।

मार्च १९६३ तक स्टेट बैंक ने उपर्युक्त योजना के अन्तर्गत ~~५.१९~~ 17.6 करोड़ रु० के ऋण ~~स्वीकार किये~~।

उपर्युक्त केन्द्रों में ही स्टेट बैंक ने 'उदार साख योजना' (Liberalised credit scheme) भी लागू की है जिसके अन्तर्गत विशेष परिस्थितियों में अपर्याप्त जमानत पर भी ऋण दे दिये जाते हैं।

१ जनवरी १९५९ से स्टेट बैंक ने छोटे उद्योगों को वित्तीय सहायता में एक नया कदम उठाया है। इसके अनुसार उन छोटी इकाइयों को, जिनके पास राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम के मार्फत सरकारी आर्डर माल खरीदने के लिए आये हुए है, विशेष वित्तीय सहूलियत दी जायगी। स्टेट बैंक इन इकाइयों को जो अतिरिक्त ऋण देगा उस

1. Report on Currency and Finance, 1959-60, P. 53.

पर निगम की गारन्टी होगी। एक इकाई के लिए गारन्टी की सीमा २५ हजार रु० होगी और अधिकतम सीमा ३० लाख रु० तक होगी। इस प्रकार छोटी इकाईयों को अधिक वित्तीय सहायता सुलभ हो सकेगी।[1]

(४) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Industries Corporation)—यह निगम फरवरी, १९५५ में स्थापित किया गया। यह छोटे उद्योगों के विकास के लिए विविध कार्य करता है। इसके अन्तर्गत छोटी इकाइयों को आधुनिक मशीनें किश्तों पर मिल सकती हैं। आवेदन पत्र लिखने वाले को सामान्य उद्देश्य वाली मशीन की कीमत का २०% व विशेष उद्देश्य की मशीन का ३३$\frac{1}{3}$% जमा कराना होता है। शेष मूल्य अर्द्ध-वार्षिक किश्तों में आठ वर्ष तक की अवधि में चुकाना होता है। १५००० रु० तक मशीन पर ४$\frac{1}{2}$% व्याज की दर होगी और इससे अधिक पर ६% होगी। औद्योगिक सहकारी समितियों से क्रमशः ३$\frac{1}{2}$% व ५% व्याज लिया जायगा।

१९५६ में योजना के प्रारम्भ से लेकर १९५९ के अंत तक निगम ने ७·६ करोड़ रु० के ऋण प्रदान करने के प्रार्थना-पत्र स्वीकार किये जिसमें से वास्तव में २·८ करोड़ रु० के मूल्य की मशीनें दी गई।[2]

(५) रिजर्व बैंक एवं लघु उद्योगों की वित्त व्यवस्था (अ) राज्य वित्त निगमों के मार्फत—रिजर्व ने विभिन्न राज्यों में स्थापित वित्त निगमों की पूँजी में अपना हिस्सा लिया है। इस प्रकार वह लघु उद्योगों के लिए वित्तीय सुविधा परोक्ष रूप से प्रदान कर रहा है। यह व्यवस्था दीर्घकालीन ऋण के सम्बन्ध में होती है।

(आ) राज्य सहकारी बैंकों के माध्यम से—रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा १७ (२) (बी. बी.) के अनुसार यह राज्य सहकारी बैंकों को कुटीर व लघु उद्योगों के उत्पादन व विक्री से सम्बन्वित कार्यों के लिए बनाये हुए बिल व प्रोमिसरी नोटों की पुनर्कटौती (Rediscounting) की सुविधा देता है। ये बिल या नोट १२ महीने की अवधि के होने चाहिएँ और इनके मूलधन व व्याज की गारन्टी राज्य सरकारों की होनी चाहिए। इस प्रकार रिजर्व बैंक सहकारी बैंकों की मार्फत लघु उद्योगों के लिए अल्पकालीन पूँजी की व्यवस्था करता है।

(३) व्यापारिक बैंकों के माध्यम से—१ जनवरी १९६० से रिजर्व बैंक ने २१ जिलों में गारन्टी स्कीम लागू करने का निश्चय किया है जिसके अन्तर्गत व्यापारिक बैंकों द्वारा लघु उद्योगों को प्रदान किये गये ऋणों पर रिजर्व बैंक २५ हजार रु० तक पर २०% एवं इसके ऊपर पर १०% की गारन्टी देगा। इस स्कीम के अन्तर्गत

---

1. Report on Currency and Finance, 1958-59, P. 50.
2. Report on Currency and Finance, 1959-60, P. 53-54.

लगभग २५ करोड़ रु० का ऋण दिया जा सकेगा। (विशेष विवरण के लिए कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योग का अध्याय देखिए।)

इस प्रकार छोटे पैमाने के उद्योगों के लिए पहले की अपेक्षा वित्तीय सुविधायें बहुत बढ़ गई हैं। राज्य वित्त निगम, स्टेट बैंक, राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम एवं व्यापारिक बैंक (रिजर्व बैंक की गारन्टी से लाभ उठाकर) लघु उद्योगों की वित्तीय सुविधायें बढ़ाने में लगे हुए हैं। इन संस्थागत वित्तीय सुविधाओं के बढ़ने से लघु उद्योग भारत की विकसित अर्थ-व्यवस्था में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर सकेंगे। यदि वित्त के अलावा अन्य समस्याएँ भी हल की जांय तो लघु उद्योगों का भविष्य उज्ज्वल बनाया जा सकता है।

औद्योगिक वित्त व्यवस्था में कमियाँ और उनको दूर करने के उपाय (Deficiencies of Industrial Finance & Suggestions for Inprovement).

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से लेकर अब तक औद्योगिक वित्त व्यवस्था में बहुत परिवर्तन हो गये हैं। बड़े पैमाने के उद्योगों को वित्त प्रदान करने के लिए कई निगम स्थापित किये जा चुके हैं। छोटे व मध्यम-आकार के उद्योगों की अल्पकालीन व दीर्घकालीन पूँजी की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी कई संस्थायें प्रारम्भ की गई है। इस प्रकार औद्योगिक वित्त की सुविधायें बहुत बढ़ गई हैं। भविष्य में औद्योगिक वित्त की मांग और भी बढ़ेगी क्योंकि सभी प्रकार के उद्योगों का विस्तार किया जायगा। उस बढ़ती हुई वित्त की माँग को पूरा करना आवश्यक होगा वरना औद्योगिक प्रगति नहीं हो सकेगी। अतः औद्योगिक वित्त व्यवस्था की कुछेक कमियों को आज से ही दूर करने में लग जाना चाहिए ताकि उपयुक्त समय पर पर्याप्त औद्योगिक वित्त सुलभ हो सके।

औद्योगिक वित्त-व्यवस्था की कमियाँ :—

१ विनियोग ट्रस्टों का अभाव (Lack of Investment Trusts) :— आज भी भारत में विनियोग ट्रस्टों का अभाव पाया जाता है। विनियोग ट्रस्ट उन संस्थाओं को कहते हैं जिनका निर्माण शेयर व ऋण-पत्र जनता में बेचकर किया जाता है और जो बाद में औद्योगिक कम्पनियों में पूँजी का विनियोग करती हैं। ऐसी संस्थाओं का प्रबन्ध कुशलतापूर्वक होना चाहिए ताकि जनता का विश्वास जम सके। विनियोग ट्रस्टों की स्थापना से जनता में बचत को प्रोत्साहन मिलेगा और विनियोग ट्रस्ट उस पूँजी का उपयोग देश के आर्थिक विकास में कर सकेंगे।

भारत में आम जनता की आय बहुत कम होती है और उसकी बचत करने की शक्ति भी कम होती है। लेकिन भविष्य में राष्ट्रीय आय बढ़ने से बचत भी बढ़ सकेगी

और बढ़ाई जानी चाहिए। उस परिस्थिति में विनियोग ट्रस्टों की स्थापना सम्भव हो सकेगी और उद्योगों को उनसे पूँजी प्राप्त हो सकेगी।

(२) **औद्योगिक बैंकों का अभाव** :—भारत में अभी तक बड़े औद्योगिक बैंकों का अभाव पाया जाता है। पहले इस तरह के कुछ बैंक बने थे लेकिन अकुशल प्रबन्ध के कारण असफल हो गये। भविष्य में ऐसे बैंकों की स्थापना की जानी चाहिए ताकि उद्योगों को दीर्घकालीन पूँजी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सके। औद्योगिक वित्त निगम भी एक प्रकार का औद्योगिक बैंक ही है। लेकिन इस अकेली संस्था का होना काफी नहीं है। इस अखिल भारतीय संस्था की तरह अलग-अलग राज्यों में औद्योगिक वित्त निगम भी खोले जा सकते हैं।

(३) **व्यापारिक बैंकों को औद्योगिक वित्त में ज्यादा भाग लेना चाहिए** :—इन्होंने अभी तक उद्योगों की अल्पकालीन पूँजी की ही आवश्यकता की पूर्ति की है। पुनर्वित्त निगम की स्थापना से ये उद्योगों की मध्यम-कालीन आवश्यकता की भी पूर्ति कर सकेंगे। लेकिन अभी तक ये उद्योगों के शेयर व ऋण-पत्र खरीदकर उन्हें दीर्घ-कालीन पूँजी की सहायता बहुत कम मात्रा में दे सके हैं। जर्मनी के उदाहरण का अनुकरण करते हुए भारत में भी व्यापारिक बैंकों को उद्योगों को पूँजी देने में ज्यादा रुचि लेनी चाहिए। इसके लिए बैंकों का एक संघ (Consortium or Syndicate) बनाया जाना चाहिए जिसमें बहुत से बैंक भाग ले सकें और अपना-अपना पूँजी का हिस्सा लगा सकें। ये संघ औद्योगिक कम्पनियों के शेयर व ऋण-पत्र खरीदने में पूँजी लगा सकेंगे।

व्यापारिक बैंकों को कभी-कभी व्यक्तिगत जमानत पर भी ऋण प्रदान करना चाहिए ताकि औद्योगिक विकास हो सके। पाश्चात्य देशों में इस प्रणाली का काफी प्रचार है। परन्तु ऐसा करते समय बैंकों को अपनी सुरक्षा का भी ध्यान रखना चाहिए।

(४) **अभिगोपन गृहों का अभाव** (Lack of Under-writing Houses) :—भारत में अभी तक कम्पनियों के शेयरों व ऋण-पत्रों के अभिगोपन की समुचित व्यवस्था नहीं हो पाई है जिससे नये उद्योग स्थापित करने वाली कम्पनियों को पूँजी प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है। औद्योगिक वित्त निगम व राज्य वित्त निगमों को अभिगोपन के कार्य में विशेष दिलचस्पी दिखानी चाहिए और नये अभिगोपन गृह भी बनने चाहिएँ।

अभिगोपन के कार्य की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि ऐसी नई कम्पनियाँ सामने आवें जिनके पास औद्योगिक उत्पादन की कोई सुदृढ़ योजना हो जो उत्साहवर्द्धक और आशाजनक हो। इस तरह से ही अभिगोपन के कार्य में विश्वास उत्पन्न हो सकेगा।

(५) देश में उद्यम व प्रबन्ध की योजना का अभाव :—औद्योगिक वित्त का सम्बन्ध औद्योगिक उद्यम एवं प्रबन्ध से भी है। केवल पर्याप्त वित्त प्रदान करना ही काफी नहीं होगा बल्कि देश में ऐसे उद्यमकर्त्ता और प्रबन्धक हों जो उन सुविधाओं का सदुपयोग भी कर सकें। वित्त की बाढ़ आ जाने से ही औद्योगिक उपक्रम स्थापित हों जिनके पास उद्योगों की सुलझी हुई योजनायें हों जिन्हें कार्यान्वित करके देश में उत्पादन बढ़ाया जा सके। भारत के वित्त निगमों ने इस कमी का प्रत्यक्ष अनुभव किया है। उनके वित्तीय साधनों का उपयोग करने वाली कम्पनियाँ भी धीरे-धीरे ही बढ़ रही है। ज्यादातर कम्पनियाँ तो ऐसी होती हैं जिनकी योजनायें अस्पष्ट, अधूरी व असंतोष-जनक होती हैं और जिनको ऋण देना सम्भव नहीं होता है और उनके प्रार्थना-पत्र अस्वीकार करने पड़ते है।

औद्योगिक वित्त-व्यवस्था सुधारने के लिए सर्राफ कमेटी के सुझाव :—१९५२ में रिजर्व बैंक ने श्री ए० डी० सर्राफ की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की जिसे निजी क्षेत्र के लिए वित्तीय साधनों की वृद्धि के सुझाव देने को कहा गया। कमेटी की रिपोर्ट १९५४ में प्रकाशित हुई। इसमें निजी क्षेत्र के लिए वित्तीय साधन बढ़ाने के कई सुझाव दिये गये जिनमें से बहुत से सुझाव अब तक कार्यान्वित किये जा चुके हैं। सर्राफ कमेटी की कुछ प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार थीं।

(१) भारत में निजी क्षेत्र के सामने राष्ट्रीयकरण की धमकी नहीं होनी चाहिए। ऐसा होने से ही उद्योगपति बिना किसी हिचक के अपनी पूँज़ी नये उद्योगों में लगा सकेंगे और चालू उद्योगों का विस्तार कर सकेंगे।

(२) रिजर्व बैंक द्वारा व्यापारिक बैंकों को इस प्रकार की सुविधायें मिलनी चाहिएँ जिससे वे उद्योगों को ज्यादा वित्त प्रदान कर सकें। रिजर्व बैंक को सस्ती भुगतान की सुविधायें देनी चाहिएँ। (Cheap remittance facilities) ताकि व्यापारिक बैंक लाभ उठा सकें।

(३) व्यापारिक बैंकों को प्रथम श्रेणी की औद्योगिक कम्पनियों के शेयर व ऋण-पत्र खरीदने चाहिएँ। इन्हें निगमों के शेयर व बन्धक-पत्र भी ज्यादा मात्रा में खरीदने चाहिएँ। इन्हें अपना संघ बनाकर जर्मन प्रणाली पर काम करना चाहिए।

(४) रिजर्व बैंक को बिल-बाजार-योजना ज्यादा उदार बनानी चाहिए ताकि व्यापारिक बैंकों को ज्यादा वित्तीय साधन मिल सकें। एक बिल की न्यूनतम राशि १ लाख रु० की जगह ५० हजार रु० कर दी जाय एवं कुल बिलों की राशि २५ लाख रु० से घटाकर १० लाख रु० कर दी जाय। १ करोड़ रु० या इससे ज्यादा की जमा राशि वाले अनुसूचित बैंकों को वित्तीय साधन प्रदान किये जाँय।

(५) बैंकों की शाखायें व चलते-फिरते बैंक (Mobile Banks) खोले जाँय जिससे लोगों की बचत एकत्र हो सके।

(६) जमा बीमा योजना (Deposit Insurance Scheme) लागू की जाय। बैंकों को इसकी सफलता पर विचार करना चाहिए।

(७) सर्राफों के बिलों व हुण्डियों की पुनर्कटौती (Rediscounting) की सुविधा रिजर्व बैंक द्वारा व्यापारिक बैंकों के मार्फत बढ़ाई जाय।

(८) विनियोग ट्रस्टों की स्थापना की जाय।

(९) राष्ट्रीय विकास निगम एवं निजी क्षेत्र के लिए औद्योगिक साख व विनियोग निगम स्थापित किये जाँय।

(१०) लघु उद्योगों के लिए एक विशेष-विकास-निगम बनाया जाय और इन उद्योगों का संगठन सहकारिता के आधार पर किया जाय।

सर्राफ कमेटी के बहुत से सुझाव तो कार्य रूप में परिणत किये जा चुके हैं। रिजर्व बैंक ने बिल-बाजार योजना को काफी उदार बना दिया है एवं भुगतान-सुविधा भी प्रदान की है। भविष्य में विनियोग ट्रस्टों की स्थापना की जानी चाहिए और व्यापारिक बैंकों का एक संघ (Consortium) बनना चाहिए।

विदेशी पूँजी

अविकसित एवं अर्द्ध-विकसित देशों के आर्थिक-विकास के लिए विदेशी पूँजी अत्यन्त आवश्यक होती है। पिछड़े हुए देशों की आय बहुत कम होती है इसलिए वहाँ आन्तरिक बचत भी थोड़ी होती है। आर्थिक-विकास के लिए जितनी पूँजी आवश्यक होती है उतनी वहाँ के आन्तरिक साधनों से उपलब्ध नहीं हो पाती है। इसलिए विदेशी पूँजी का सहारा लेना पड़ता है। विदेशी पूँजी के अभाव में उनका आर्थिक-विकास रुक जाता है या बहुत मन्द गति से होता है। आधुनिक-युग के आर्थिक दृष्टि से समृद्धिशाली देशों ने भी अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में विदेशी पूँजी का सहारा लिया था। अमेरिका जो आज पूँजी-निर्यात करने की दृष्टि से सबसे आगे गिना जाता है, स्वयं विदेशी पूँजी के सहारे आर्थिक-विकास कर सका है। इसी प्रकार ब्रिटेन, कनाडा, जापान आदि देशों ने समय-समय पर विदेशी पूँजी को अपनाया और अपना आर्थिक-विकास किया। रूस ने विदेशी पूँजी का उपयोग बहुत कम किया क्योंकि क्रान्ति के बाद इसे विपरीत परिस्थितियों का ही सामना करना पड़ा। पूँजीवादी राष्ट्र इसे मदद करने को तैयार नहीं थे। इसलिए रूस में उपभोग कम करके और अनिवार्य त्याग द्वारा पूँजी निर्माण करके आर्थिक विकास किया गया। लेकिन लोक-तान्त्रिक देशों के लिए रूस की पद्धति का प्रयोग सम्भव नहीं है। पिछड़े हुए देशों का रहन-सहन का दर्जा पहले ही बहुत नीचा होता है। इसलिए उसको और नीचे गिराना न तो सम्भव होता है और न उचित ही होता है। साम्यवादी चीन भी आज रूस की पूँजी, टैक्नीकल सहायता व औद्योगिक ज्ञान का लाभ उठाकर तेजी से औद्योगीकरण कर रहा है।

भारत ने भी आर्थिक-विकास के लिए विदेशी पूँजी को अपनाने का निश्चय किया है। लेकिन हमारे विदेशी पूँजी से सम्बन्धित अनुभव कड़वे रहे हैं इसलिए हम इसका प्रयोग बहुत सावधानीपूर्वक करना चाहते हैं ताकि राष्ट्र को कोई राजनीतिक क्षति न पहुँचे। विदेशी पूँजी ने भूतकाल में विदेशी राजनीतिक प्रभाव एवं प्रभुत्व देश में स्थापित कर दिया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमें सबसे पहले इस बात की फिक्र करनी चाहिये, कि हमारी स्वतंत्रता की रक्षा हो और हम समानता के स्तर पर दूसरे देशों के साथ आर्थिक सहयोग करें। अतः विदेशी पूँजीपति का हम स्वागत करेंगे लेकिन संरक्षक (Patron) के रूप में नहीं बल्कि साझेदार (Partner) के रूप में ताकि हमारी राजनीतिक स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रह सके। बदली हुई विश्व की परिस्थितियों में ऐसा होना आवश्यक है। पूँजी निर्यात करने वाले देश भी धीरे-धीरे अपनी मनोवृत्ति में परिवर्तन लाते जा रहे हैं ताकि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए राष्ट्रों के आर्थिक पुनरुद्धार में भाग लेकर वे भी अपनी जिम्मेदारी को निभा सकें।

भारत में विदेशी पूँजी के प्रति शंका का भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक था क्योंकि पहले विदेशी पूँजी के साथ साथ देश अपनी स्वतन्त्रता भी खो बैठा। विदेशी लोग अपनी पूँजी का विनियोग उन्हीं दिशाओं में करते थे जिनमें उनको सबसे ज्यादा लाभ हो। इसलिए उन्होंने भारत के आर्थिक अथवा औद्योगिक विकास पर इतना ध्यान नहीं दिया। पूँजी का विनियोग खनिज उद्योग, बागान (Plantations) व्यापार एवं यातायात के विकास में किया और तैयार माल बनाने के उद्योगों (Manufacturing industries) विशेषतः आधार उद्योगों पर कम ध्यान दिया गया जिससे संतुलित विकास नहीं हो सका। विदेशी कम्पनियों में भारतीयों को ऊँचे पदों पर नियुक्त नहीं किया जाता था। उनके प्रशिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं थी। इस प्रकार विदेशी पूँजी का उपयोग भारत के आर्थिक शोषण के लिए किया गया। लेकिन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद परिस्थिति बिल्कुल बदल गई है। पुरानी शंकाएँ व सन्देह अब कम होते जा रहे हैं। भारत ने योजनाबद्ध आर्थिक विकास का कार्यक्रम स्वीकार किया है। उसमें विदेशी पूँजी का सहयोग कई दृष्टियों से वांछनीय होगा :—

(१) विदेशी पूँजी के लाभ—भारत में पर्याप्त प्राकृतिक साधन मौजूद हैं। अभी तक उनका पूर्ण उपयोग नहीं हो रहा है। विदेशी पूँजी के सहयोग से हम उन प्राकृतिक साधनों का विदोहन कर सकेंगे अन्यथा वे बेकार पड़े रहेंगे।

(२) विदेशी पूँजी के साथ-साथ हम विदेशी टैक्नीकल ज्ञान एवं प्रबन्ध-कला का भी आयात कर सकते हैं जिससे भविष्य में भारत में भी टैक्नीकल विशेषज्ञ एवं कुशल प्रबन्धक तैयार हो सकेंगे जो आर्थिक विकास में योग देंगे।

(३) विदेशी-पूँजी के अभाव में देशी पूँजी भी प्रभावशाली नहीं हो पाती है। जब कोई उद्योगपति भारत में कारखाना खोलना चाहता है तो उसे मशीनें, औजार, कच्चा

माल व अन्य विकास सामग्री विदेशों से भी खरीदनी पड़ती है। यदि आवश्यक मात्रा में विदेशी सामान न मिले तो सारा कार्यक्रम ठप्प रह जायगा। यदि आवश्यकता के समय विदेशी पूँजी उपलब्ध हो जाती है तो देशी पूँजी का भी सर्वोत्तम उपयोग हो सकता है।

(४) रेल, बन्दरगाह, बाँध, सिंचाई की योजनाओं, खनिज व्यवसाय एवं आधार-भूत पूँजीगत उद्योगों के विकास में विदेशी अनुभव का लाभ उठाने के लिए भी विदेशी पूँजी आवश्यक है। औद्योगिक दृष्टि से समुन्नत देशों की उत्पादन विधियों को अविकसित अथवा अर्द्ध-विकसित राष्ट्र अपनाकर तेजी से औद्योगीकरण कर सकते हैं।

यही कारण है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना विदेशी सहायता पर बहुत ज्यादा आश्रित है। जब तक भारत में मशीनें नहीं बनने लग जाती हैं तब तक औद्योगिक विकास के लिए हमें विदेशों का सहारा लेना पड़ेगा।

आज भी कुछ क्षेत्रों में विदेशी पूँजी के प्रति सन्देह प्रगट किए जाते हैं और इसके विपक्ष में तर्क दिये जाते हैं। हम यह नहीं कह सकते कि वे सब तर्क सराहनीय हैं या मिथ्या हैं क्योंकि हमारी असावधानी से हमें विदेशी पूँजी की कुछ हानियाँ भी मिल सकती हैं।

विदेशी पूँजी के विपक्ष में—(१) देश स्वतन्त्र आर्थिक नीति अपनाये रखने में कठिनाई अनुभव करता है। उदाहरण के लिए भारत ने समाजवादी ढंग का समाज स्थापित करने का लक्ष्य निर्धारित किया है। लेकिन लगातार अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस आदि देशों से आर्थिक सहायता लेते रहने से समाजवादी नीति पर डटे रहने में कठिनाई प्रतीत होने लगती है। एक बार भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री जे० जे० अन्जारिया ने भी स्वीकार किया था कि 'विदेशी सहायता परोक्ष रूप से हमारी आर्थिक नीति पर प्रभाव डालती है।' हमें समय-समय पर यह जाँच करनी पड़ती है कि हमारी नीति से विदेशी विनियोगकर्त्ता तो असंतुष्ट नहीं हो रहे हैं। इस सम्बन्ध में कर नीति, औद्योगिक नीति, औद्योगिक क्षेत्र में निजी उद्यम का स्थान, विदेशी नीति एवं व्यापार नीति आदि इस रूप में ढालनी होती हैं कि विदेशी पूँजी का प्रवाह बना रहे। इस प्रकार हमारी आर्थिक नीति की स्वतन्त्रता कम हो जाती है।

(२) विदेशी पूँजी के कारण हमारे कंधों पर ब्याज का बोझा निरन्तर बढ़ता जाता है। मूलधन व ब्याज की समय पर अदायगी न होने से राष्ट्रीय सम्मान को ठेस पहुँचती है।

(३) अत्यधिक मात्रा में विदेशी मशीनें, यन्त्र, औजार व अन्य साधन काम में लेने से हमारी निर्भरता बढ़ जाती है। ये विदेशी वस्तुएँ उसी देश के औद्योगिक विकास की अवस्था के अनुसार बनती हैं इसलिए पिछड़े हुए देशों के लिए उनकी उपयोगिता सीमित होती है।

इसीलिए कुछ अर्थशास्त्रियों का यह कहना है कि भारत को आन्तरिक साधनों पर

ही ज्यादा निर्भर रहना चाहिए। ऐसा करने में चाहे हमारे विकास की गति कुछ धीमी भले ही पड़ जाय, क्योंकि दीर्घकालीन दृष्टिकोण से यह श्रेष्ठ रहेगा। अतः इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता है कि विदेशी पूँजी का किस सीमा तक प्रयोग वांछनीय है। फिर भी विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में एक बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि इसका उपयोग अधिकतम उत्पादन बढ़ाने में किया जाय ताकि देश की राष्ट्रीय आय बढ़े और साथ में मूलधन व ब्याज चुकाने की सामर्थ्य भी उत्पन्न हो सके। इसके अलावा देश में प्रशिक्षित टैक्नीकल कर्मचारियों व प्रबन्धकों का एक दल तैयार करने की आवश्यकता है। अतः विदेशी सहायता लेते समय हमें यह ध्यान रखना होगा कि भविष्य में हमें इससे मुक्त होना है।

विदेशी पूँजी के प्रति वर्तमान नीति (Present policy towards foreign capital in India)—१६४८ की औद्योगिक नीति में सर्वप्रथम विदेशी पूँजी के महत्व पर प्रकाश डाला गया और विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में कई आश्वासन दिये गये। लेकिन इस नीति में राष्ट्रीयकरण व अन्य सरकारी नियंत्रण के भय से विदेशी पूँजी का आयात आशा से बहुत कम हुआ। ६ अप्रैल, १६४६ को हमारे प्रधान मंत्री ने संसद में विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में सरकारी नीति की घोषणा की जिसकी मुख्य बातें ये है :—

(१) देशी व विदेशी पूँजी में कोई भेदभाव पूर्ण व्यवहार नहीं किया जायगा। विदेशी हितों पर कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं लगाया जायगा।

(२) विदेशी विनियोगकर्त्ताओं को लाभ व पूँजी देश से बाहर भेजने दिये जायेंगे लेकिन इस सम्बन्ध में देश की विदेशी-मुद्रा-स्थिति का अवश्य ध्यान रखना होगा।

(३) यदि कभी विदेशी उपक्रमों का राष्ट्रीयकरण किया गया तो उचित मुआवजा दिया जायगा। सरकार किसी भी रूप में विदेशी उद्यम को क्षति नहीं पहुँचाना चाहती है और भारत के आर्थिक विकास में रचनात्मक व सहयोगात्मक भाग लेने के लिए विदेशी पूँजी को आमन्त्रित करती है।

योजना आयोग ने भी प्रथम पंच-वर्षीय योजना की रिपोर्ट में विदेशी पूँजी के महत्व को स्वीकार किया। विदेशी पूँजी लेते समय अब हम भारतीय नियंत्रण पर बल देने लगे हैं। साथ में यह भी प्रयत्न करने लगे हैं कि भारतीय कर्मचारियों को प्रशिक्षित किया जाय। नई दिशाओं में विदेशी पूँजी का प्रयोग किया जाय और विदेशी पूँजी ऐसे उद्योगों में लगाई जाय जिनसे निर्यात बढ़े या आयात घटे और हमारी विदेशी-विनिमय-स्थिति सुदृढ़ हो। समय-समय पर विदेशी पूँजी के प्रति भारत सरकार की नीति देश और विदेश में दोहराई गई है, स्पष्ट की गई है और उसमें कुछ संशोधन भी किया गया है। विदेशों में हमारी नीति के प्रति भ्रमपूर्ण धारणाओं का बोल-बाला रहा है। कहने का अभिप्राय यह है कि भारत सरकार की विदेशी पूँजी के प्रति

नीति, विदेशी विनियोगकर्ता को बहुत ज्यादा प्रोत्साहित नहीं कर सकी है। हाँ, कुछ समय से आपसी विचार-विमर्श बढ़ने से स्थिति सुधर रही है। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी व कनाडा आदि देशों में भारतीय दृष्टिकोण पर ज्यादा सहानुभूति प्रगट की जाने लगी है। वास्तव में हमारी तटस्थ विदेशी नीति से भी विदेशी पूँजी का आयात बहुत सीमित रहा है।

इस प्रकार अपनी तटस्थ विदेशी नीति के कारण ही हमें इतने देशों से पूँजीगत सहायता मिल पा रही है। नीचे विदेशी पूँजी व विनियोग आदि के सम्बन्ध में आवश्यक सूचनायें दी जाती हैं।

४ भारत की विदेशी लेनदारी और देनदारी

भारत में जूट, सूती-वस्त्र उद्योग, खनिज व्यवसाय, बागान (चाय, कहवा व रबड़), रेल यातायात, व्यापार, माचिस, साबुन आदि उद्योगों के विकास में विदेशी पूँजी का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। रिजर्व बैंक ने भारत की विदेशी लेनदारी (Assets) व देनदारी (Liabilities) के सम्बन्ध में समय-समय पर सर्वेक्षण प्रकाशित किये हैं। तीसरा सर्वेक्षण दिसम्बर, १६५५ तक की सूचना प्रदान करता है। इसके अनुसार १६५५ के अन्त में भारत की कुल लेनदारी १२५१·८ करोड़ रु० थी और कुल देनदारी ७६६·३ करोड़ रु० थी। इस प्रकार लेनदारी ४८५·५ करोड़ रु० से ज्यादा थी। भारत एक लेनदार या साहूकार देश था। कुल लेनदारी व देनदारी का हिसाब लगाते समय सरकारी व गैर सरकारी क्षेत्रों की स्थिति का जोड़ लगाना होता है। जहाँ तक कुल विदेशी व्यवसाय विनियोगों (Foreign business investments) का प्रश्न है उनकी मात्रा ३१ दिसम्बर, १६५५ को लगभग ४८१ करोड़ रुपये थी जो एक साल बाद ३१ दिसम्बर, १६५६ को लगभग ५०६ करोड़ रु० हो गई। विदेशी व्यवसाय विनियोगों में वह पूँजी शामिल होती है जो भारत में कम्पनियों को प्राप्त होती है। सरकारी संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी को मिलने वाली पूँजी भी इसी के अन्तर्गत आती है।

विदेशी व्यवसाय विनियोगों के विस्तृत विश्लेषण से निम्न महत्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं :—

(१) विनियोग सबसे ज्यादा निर्माण-उद्योगों में हुए और दूसरा नम्बर व्यापार को प्राप्त हुआ। इसके बाद क्रमशः बागान, सेवाएँ व यातायात, वित्तीय संस्थाएँ, विविध व खनिज व्यवसाय के स्थान आते हैं।

(२) विदेशी व्यवसाय विनियोगों में सबसे पहला स्थान संयुक्त राज्य का है और दूसरा स्थान अमेरिका का। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी ब्रिटेन के विनियोग भारत में बढ़ते गये लेकिन आज कल अमेरिका के विनियोग भी बढ़ने लगे हैं।

(३) विनियोगों में 'प्रत्यक्ष विनियोग' (Direct Investments) की मात्रा 'पोर्टफोलियो विनियोग' (Portfolio Investments) से बहुत ज्यादा है।

दिसम्बर १९५५ को ४८१ करोड़ रु० के विनियोग में से लगभग[1] ४११ करोड़ रु० का विनियोग प्रत्यक्ष श्रेणी का था और शेष लगभग ७० करोड़ रु० दूसरी श्रेणी का था। प्रत्यक्ष विनियोग का अभिप्राय यह है कि इसमें विदेशी स्वामित्व (Ownership) के साथ-साथ विदेशी नियंत्रण (Control) भी होता है। ऐसा उस समय होता है जब भारत में विदेशी कम्पनियों की शाखाओं में पूँजी का विनियोग बढ़े अथवा भारत-स्थित-संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों पर विदेशी नियंत्रण रहे। 'पोर्टफ़ोलियो विनियोग' (Portfolio Investments) का अभिप्राय उस विनियोग से है जो प्रभुत्व अथवा नियंत्रण भारतीय हाथों में छोड़ देता है। इस प्रकार के विनियोगों पर केवल व्याज देना होता है अथवा एक निश्चित लाभांश की गारन्टी होती है। अतः इस प्रकार के विनियोगकर्ता अपने ऊपर जोखिम नहीं लेते हैं और प्रबन्ध वगैरः पर भी नियंत्रण नहीं रखते हैं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि भारत को निजी विदेशी प्रयत्क्ष विनियोगों (Private Foreign Direct Investments) को प्रोत्साहन देना चाहिए ताकि प्रतिवर्ष व्याज का निश्चित बोझा न भरना पड़े और विकास की प्रारम्भिक अवस्था में विदेशियों के कंधों पर जोखिम डाली जा सके। इससे वे अपनी सर्वोत्तम टैक्नीकल योग्यता व प्रबन्ध-पटुता का प्रयोग करेंगे जिससे भारत में रोजगार बढ़ेगा, उत्पादन में वृद्धि होगी और देश समृद्ध होगा। अतः कहा गया है कि विदेशी उद्योग-पतियों को भारत में अपने नियंत्रण व अपनी जोखिम पर उद्योग प्रारम्भ करने के लिए मौका देना चाहिए। प्रत्यक्ष रूप से यह सुझाव भला प्रतीत होता है लेकिन इसके राजनीतिक दुष्परिणाम निकलने की सम्भावना भी है। अतः परिस्थिति के अनुसार इसका प्रयोग किया जाना चाहिए। भारतीय उद्यम एवं विदेशी उद्यम का मेल स्थापित किया जाना चाहिए।

पंचवर्षीय योजनाओं में विदेशी पूँजी—भारत सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के समय से विदेशी पूँजी के महत्व पर विशेष जोर दिया है। हमें विदेशी क्षेत्रों से अनुदान (Grants) और ऋण (Loans) दोनों मिलते रहे हैं। पिछले वर्षों में भारत को अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, रूस, पश्चिमी जर्मनी, जापान, कोलम्बो योजना के देशों से, विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष आदि स्रोतों से विदेशी साधन उपलब्ध हुए हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त तक ४०५ करोड़ रु०[2] की विदेशी सहायता भारत को स्वीकृत हुई। इसमें से २१५ करोड़ रु० की राशि प्रथम योजना काल में प्रयुक्त हुई और शेष लगभग १९० करोड़ रु० की रकम द्वितीय योजना काल में काम में लेने के लिए उपलब्ध हो गई।[2] द्वितीय पंचवर्षीय योजना शुरू से ही विदेशी साधनों

1. Survey of India's Foreign Liabilities and Assets, 1957 (As on 31st December. 1955) P. 12—Table 1.
2. Report on Currency and Finance 1959-60, P. 85.

पर काफी आश्रित थी। योजना की रिपोर्ट में कहा गया कि ५ वर्षों में ११०० करोड़ रु० के विदेशी साधनों की आवश्यकता पड़ेगी जिनकी पूर्ति २०० करोड़ रु०, स्टर्लिङ्ग कोष में से प्राप्त करके, १०० करोड़ रु० विदेशी निजी विनियोग से प्राप्त करके और ८०० करोड़ रु० अन्य साधनों से प्राप्त करके की जा सकेगी। दूसरी योजना के २ वर्षों में ही देश के सामने विदेशी विनिमय संकट (Foreign Exchange Crisis) उत्पन्न हो गया। स्वेज दुर्घटना, विदेशों के ऊँचे मूल्य, सुरक्षा के सामान पर व्यय करने की आवश्यकता, खाद्यान्न का अप्रत्याशित आयात एवं अनियंत्रित निजी क्षेत्र के आयातों ने विदेशी विनिमय संकट ला खड़ा किया। द्वितीय योजना के सारे अनुमान अस्त-व्यस्त हो गये। रिजर्व बैंक के विदेशी विनिमय कोष तेजी से घटते गये। विश्व बैंक व अन्य देशों की सामयिक सहायता से स्थिति काफी सुधर गई। प्रथम योजना की बकाया रकम १६१ करोड़ रु० को शामिल करके मार्च[1], १९६० तक कुल सहायता लगभग १,५२८ करोड़ रु० तक की स्वीकृत हो चुकी है जिसमें से १,०३४.७ करोड़ रु० की राशि द्वितीय योजना के प्रथम चार वर्षों में काम में ली गई और शेष ४९३ करोड़ रु० की राशि भविष्य में काम आ सकेगी।[1] इसमें रूस, जेकोस्लोवाकिया, व यूगोस्लाविया द्वारा स्वीकृत क्रमशः १७९ करोड़ रु०, २३ करोड़ रु०, १६ करोड़ रु० की राशि शामिल नहीं है, जो तृतीय योजना के लिए निर्धारित की गई है।

भारत को विदेशी पूँजी देने में विश्व बैंक का स्थान सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण रहा है। अगस्त, १९५८ में और पुनः मार्च, १९५९ में विश्व बैंक ने वाशिंगटन में ५ राष्ट्रों का एक सम्मेलन बुलाया जिसमें भारत की विदेशी विनिमय आवश्यकताओं की पूर्ति बढ़ाने के उपाय सोचे गये। अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी एवं जापान ने उस सम्मेलन में भाग लिया। पहली मीटिंग में भारत को ३६ करोड़ डालर का ऋण या सहायता मिली। मार्च, १९५९ में भी १९५९-६० के विदेशी विनिमय की कमी को पूरा करने के लिए पर्याप्त सहायता देने का वायदा किया गया। इस प्रकार द्वितीय योजना की अवधि में आवश्यक विदेशी ऋण की व्यवस्था हो चुकी है। तृतीय पंच-वर्षीय योजना में भी औद्योगीकरण पर बल दिया गया है। अतः विदेशी पूँजी की अनिवार्यता बनी रहेगी। तृतीय योजना में कुल विनियोग १०,२०० करोड़ रु० का रखा गया है। इस योजना के लिए २,६०० करोड़ रु० की विदेशी सहायता की आवश्यकता होगी जिसमें से ५०० करोड़ रु० अधिक भुगतान करने के लिए, १,९०० करोड़ रु० मशीनों वगैरः के लिए (तृतीय योजना में) और २०० करोड़ रु० अन्य सामान मँगाने के लिए, जिससे देश में पूँजीगत माल का उत्पादन बढ़ सके। इस राशि के अतिरिक्त अमेरिका से १७ मिलियन टन खाद्यान्न-ऋण प्राप्त होगा जिसकी कीमत

1. Report on Currency and Finance, 1959-60, P. 85.

६०८ करोड़ रु० होगी। इस प्रकार तृतीय योजना में ३२०० करोड़ रु० का भुगतान का घाटा रहेगा।[1]

भारत को विदेशी पूँजी, निजी विनियोगकर्त्ताओं, सरकारों एवं अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से प्राप्त होती है। विश्व बैंक ने पिछले वर्षों में भारत के आर्थिक-विकास में बहुत मदद की है। इसने भारत में निजी उद्योगपतियों को भी ऋण प्रदान किये हैं। अमेरिका में भारत की पूँजीगत आवश्यकताओं को ज्यादा सहानुभूतिपूर्वक देखा जाने लगा है। वहाँ के निर्यात-आयात बैंक एवं विकास-ऋण-कोष (Development Loan Fund) के माध्यम से भारत को काफी मात्रा में ऋण मिले हैं। फोर्ड फाउन्डेशन एवं रॉकफेलर फाउन्डेशन के तत्त्वावधान में विशेष कार्यों के लिए अनुदान (Grants) मिले हैं। पी० एल० ४८० एवं ६६५ के अन्तर्गत गेहूँ अमेरिका से प्राप्त होता रहा है जिसकी रकम रुपयों में विभिन्न रूपों में भारत ही में विनियोजित होती है। अतः अमेरिका विभिन्न तरीकों से भारत के आर्थिक-विकास में सक्रिय भाग ले रहा है। अमेरिका के राष्ट्रपति आइसन हॉवर की भारत यात्रा के बाद दोनों देशों के आर्थिक सम्बन्ध ज्यादा दृढ़ हो सकेंगे और आशा है अमेरिका भारत के आर्थिक-विकास के लिए ज्यादा सहायता दे सकेगा।

इतना सब कुछ होने पर भी कुछ विद्वानों का यह कहना है कि भारत में विदेशी क्षेत्रों से निजी पूँजी अभी पर्याप्त मात्रा में नहीं आ पा रही है। अतः विदेशी निजी पूँजी को आकर्षित करने की आवश्यकता है। १९५७ के अन्त में एक औद्योगिक प्रतिनिधि मण्डल (Industrial Delegation) श्री घनश्यामदास बिड़ला के नेतृत्व में अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, फ्रांस, व पश्चिमी जर्मनी के दौरे पर गया और उन देशों के उद्योगपतियों, बैंकरों व अन्य वित्तीय संस्थाओं के अधिकारियों से मिला। लौटने पर प्रतिनिधि मण्डल ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि भारत को बहुत ज्यादा मात्रा में व्यापारिक ऋण मिल सकते हैं। भारत के लिए विदेशी ऋण की कोई कमी नहीं है बल्कि बराबर की देशी पूँजी का अभाव है। मण्डल ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि उपयुक्त वातावरण देश में उत्पन्न करने से विदेशी पूँजी ज्यादा मात्रा में आकर्षित हो सकेगी।

औद्योगिक प्रतिनिधि मण्डल ने कहा कि विदेशों में भारत की आर्थिक नीति के सम्बन्ध में कई संदेह व भ्रम प्रगट किये जाते हैं। वे संदेह चाहे सही हों अथवा गलत, लेकिन उनका प्रतिकूल प्रभाव अवश्य पड़ रहा है जिस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। राष्ट्रीयकरण का भय, कम्पनियों पर सम्पत्ति-कर (Wealth Tax), दोहरा कर, श्रम संघर्ष की शंका, अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप आदि से विदेशी विनियोगकर्त्ता हतोत्साहित होते हैं। यदि देश की कर-प्रणाली में उचित परिवर्तन किये जाँय तो निजी पूँजी के लिए अनुकूल वातावरण बन सकता है।

---

1. Third Five Year Plan : A Draft Outline, P. 55.

विदेशी पूँजीपति दो बातों पर ज्यादा ध्यान देते हैं, प्रथम तो अपनी पूँजी की सुरक्षा और दूसरी पर्याप्त आय। यदि ये दोनों शर्तें कोई देश पर्याप्त मात्रा में पूरी कर देता है तो उसके लिए विदेशी ऋण मिलने की कोई असुविधा नहीं होती है। उपर्युक्त दोनों मापदन्डों के अनुसार भारत की स्थिति अनुकूल ही मानी जानी चाहिये। विदेशी पूँजी पर जितनी आय भारत में प्राप्त हो सकती है उतनी अपने-अपने देशों में उस पूँजी से आय नहीं मिल सकती है। सुरक्षा के सम्बन्ध में कई बार घोषणा की जा चुकी है कि विदेशी पूँजी का राष्ट्रीयकरण नही किया जायगा और यदि राष्ट्रीय हित में ऐसा किया गया तो उचित मुआवजा दिया जायगा।

वास्तव में विदेशी पूँजी के मार्ग में मनोवैज्ञानिक बाधाएँ ज्यादा है। भारत की तटस्थ विदेशी नीति एवं समाजवादी आर्थिक नीति, पूँजी-आधिक्य (Capital-Surplus) देशों को पसन्द नही है और वे खुले दिल से भारत में पूँजी लगाने को उद्यत नहीं हो पाए हैं। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे देश भारत को ज्यादा उदारता पूर्वक मदद दें और यह समझें कि भारत को आर्थिक विकास में सहयोग देने का अभिप्राय है ४० करोड़ से ज्यादा नर-नारियों को जीवन-स्तर ऊँचा करने में सहायता देना, जो एक महान अवसर है—एक महान पुरस्कार है।

पूँजी संचय (Capital Formation)

आधुनिक युग में पूँजी का उत्पादन के साधन की दृष्टि से महत्व बहुत बढ़ गया है। पूँजी का अभाव आर्थिक विकास में बाधक सिद्ध होता है। पूँजी के अभाव में श्रमिकों को काम पर नही लगाया जा सकता और प्राकृतिक साधनों का विदोहन नहीं नहीं किया जा सकता। आर्थिक दृष्टि से समृद्ध देशों में पूँजी की प्रचुरता पाई जाती है और वे इस स्थिति में है कि पिछड़े हुए देशों को विकास के लिए पूँजी प्रदान कर सकें।

पूँजी का निर्माण बचत से होता है। लेकिन यह आवश्यक है कि वह बचत उत्पादक कार्यों में लगाई जाय। कई बार बचत अनुत्पादक रूप में पड़ी रह जाती है। उसका देश के आर्थिक विकास में प्रयोग होना चाहिए। भारत में राष्ट्रीय आय कम होने से बचत भी कम हो पाती है और बचत का कुछ अंश संग्रह (Hoarding) के रूप में भी पड़ा रह जाता है। अतः पूँजी का निर्माण बहुत कम हो पाता है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था को अपनाकर भारत पूँजी-संचय को बढ़ाना चाहता है और विकास के हित में ऐसा किया जाना वाँछनीय भी है।

आज जितने भी विकसित देश हमें दिखाई देते हैं, इन्होंने अपनी आय का १५ से २० प्रतिशत तक पूँजी निर्माण में लगाया है। तभी ये आर्थिक दृष्टि से इतने ज्यादा सम्पन्न हो सके हैं। १६१३ से १६३६ की अवधि में जापान में विनियोग की दर राष्ट्रीय आय की १६ से २० प्रतिशत तक थी। रूस में भी विनियोग की दर काफी ऊँची रही है और वह तभी तीव्र गति से औद्योगीकरण करने में सफल हो सका है।

भारत की स्थिति इस दृष्टि से बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं रही है। १९५०-५१ में जब प्रथम योजना प्रारम्भ हुई थी उस समय विनियोग की दर मुश्किल से राष्ट्रीय आय की ५% थी। इतनी नीची विनियोग की दर से एक देश की अर्थ-व्यवस्था प्रगतिशील नहीं बन सकती। इसलिए योजना ने विनियोग की दर बढ़ाने के कार्य-क्रम व लक्ष्य निर्धारित किये ताकि तेजी से आर्थिक विकास हो सके। प्रथम-पंचवर्षीय योजना में यह अन्दाज लगाया गया था कि १९६८-६९ तक विनियोग की दर राष्ट्रीय आय की २०% तक पहुँच जायगी। लेकिन दूसरी पंच-वर्षीय योजना में यह प्रतीत होने लगा कि विनियोग की इतनी ऊँची दर प्राप्त करना सम्भव नहीं होगा। इसलिए नए अनुमान लगाए गए जिनके अनुसार विनियोग की दर[1] १९५५-५६ में ७% से १९६०-६१ में ११% हो जायगी और भविष्य में यह वृद्धि चालू रक्खी जायगी ताकि १९६५-६६ में यह १४% हो जायगी और १९७०-७१ में १६% तक पहुँच जायगी। योजनाआयोग का कहना है कि १९७५-७६ में विनियोग की दर ज्यादा से ज्यादा १७% तक हो सकेगी।[1] यह दर भारत के लिए ऊँची अवश्य है लेकिन अप्राप्य (Unattainable) नहीं कही जा सकती है।

विनियोग की दर के परिवर्तन उपर्युक्त क्रम में होने से राष्ट्रीय आय १९६७-६८ में दुगुनी हो जायगी और १९७३-७४ तक प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय दुगुनी हो जायगी। इन अनुमानों के निर्धारण में जनसंख्या की वृद्धि को भी ध्यान में रक्खा गया है। भारत को पूँजी-निर्माण के बढ़ाने के लिये बहुत त्याग करना पड़ेगा। इसके लिए सरकार को भी ऐसे कार्य-क्रम अपनाने पड़ेंगे कि विनियोग की दर बढ़ाई जा सके ताकि देश औद्योगिक प्रगति कर सके।

भारत में पूँजी-संचय की समस्याओं का अध्ययन दो भागों में किया जा सकता है:—सार्वजनिक क्षेत्र में पूँजी-संचय (Capital formation in the public sector) और निजी क्षेत्र में पूँजी संचय (Capital formation in the private sector)। नियोजित अर्थ-व्यवस्था में दोनों क्षेत्रों में सहयोग स्थापित करना आवश्यक है तभी कुल पूँजी-संचय बढ़ सकता है।

सार्वजनिक क्षेत्र में पूँजी संचय—अर्द्ध विकसित देशों में कई कारणों से सरकार को विनियोग में भाग लेना पड़ता है। निजी क्षेत्र में विनियोग लाभ की सम्भावनाओं से ही निश्चय हो पाता है। सरकार इस सम्बन्ध में दीर्घकालीन राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रख सकती है। इसलिए सरकारों को उन क्षेत्रों में तो अवश्य आना पड़ता है जिनमें निजी उद्यम नहीं आना चाहता है।

सरकारी विनियोग बढ़ाने के कई उपाय हैं; जैसे कर, उधार, घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit finance) व देश की अतिरिक्त श्रम-शक्ति का पूँजी निर्माण में

1. Second Five Year Plan, 1956, P. 10.

उपयोग। कुछ लोगों की यह धारणा है कि करों से कुल विनियोग नहीं बढ़ सकता है क्योंकि करों से सार्वजनिक विनियोग बढ़ जाता है लेकिन साथ में निजी विनियोग घट जाता है। लेकिन यह धारणा सही नहीं है क्योंकि कई बार सरकार कर के रूप में जनता से वह रकम एकत्र कर लेती है जो अन्यथा उपभोग में खर्च हो जाती। ऐसी हालत में कर प्रणाली का उपयोग कुल विनियोग बढ़ाने में किया जाता है। भारत में कुल करों की आमदनी राष्ट्रीय आय को ७-८ प्रतिशत है। अतः ज्यादा कर लगाये जाने की गुंजाइश अब भी है। लेकिन सरकार को सावधानी से इस बात की जाँच करनी है कि किन क्षेत्रों में ज्यादा कर लगाये जा सकते हैं। कुछ अर्थशास्त्रियों का ऐसा विचार है कि ग्रामीण क्षेत्रों में कर का बोझा अभी हल्का है। भूमि पर लगान की दर बढ़ाने के सुझाव दिये गये हैं। एक विकसित अर्थ-व्यवस्था में कर-प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिए कि निर्माण कार्यों के लिए आय बढ़ाई जा सके।

सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग बढ़ाने के लिए दूसरा उपाय जनता से ऋण लेना है। ऋण लेकर विनियोग बढ़ाना अनुचित नहीं है लेकिन उस धन राशि का उपयोग अत्यधिक उत्पादक कार्यों में होना चाहिए ताकि ब्याज व मूलधन आसानी से चुकाये जा सकें। पिछड़े हुए देशों में इस सम्बन्ध में एक समस्या सामने आती है। बचत का कोष एक ही होता है और उसी में से सरकार उधार लेती है और उसी में से निजी उद्यमकर्ता अपनी पूँजी की आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहते हैं इसलिए ये दोनों कभी कभी सीमित पूँजी के लिए प्रतियोगी हो जाते हैं। विकास की प्रारम्भिक सीढ़ी पर ऐसा हो सकता है लेकिन बाद में बचत बढ़ने से दोनों क्षेत्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति होने लगती है।

जब सरकार अपनी आय से ज्यादा व्यय करती है तो इसे घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Finance) कह कर पुकारते हैं साधारणतया इसमें नोट छापने पड़ते हैं। इस पद्धति से आर्थिक विकास करना कुछ सीमा तक उचित है लेकिन अत्यधिक मात्रा में घाटे की वित्त-व्यवस्था से मुद्रा-स्फीति होने का भय रहता है। इसलिये इसका प्रयोग सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिये। अर्द्धविकसित देशों में घाटे की वित्त-व्यवस्था पूँजी निर्माण का एक साधन बनने लग गई है। स्थिर अर्थ-व्यवस्था को धक्का देने के लिए और उसे विकास के पथ पर डालने के लिये घाटे की वित्त-व्यवस्था का उपयोग उचित माना जाता है।

श्रम का उपयोग पूँजी-निर्माण के कार्यों में किया जाना चाहिये। भारत जैसे घनी आबादी वाले देशों में औद्योगिक विकास के अभाव में भूमि पर जन-संख्या का भार बहुत होता है। फलस्वरूप कई लोग जो भूमि पर लगे हुए होते हैं, भूमि की उपज बढ़ाने में बहुत कम या कुछ भी योग नहीं देते। यदि इन लोगों को भूमि से हटाकर

इमारतें, सड़कें या बाँध आदि बनाने में लगाया जा सके तो उपभोग्य पदार्थों का उत्पादन या उपभोग घटाए बिना पूँजी निर्माण किया जा सकता है।[1]

निजी क्षेत्र में पूँजी-संचय—भारत में निजी क्षेत्र में पूँजी-संचय की जाँच सराफ कमेटी ने १९५४ में की थी जिसने अपनी रिपोर्ट में बतलाया कि भारत में निजी क्षेत्र में विनियोग की शक्ति व इच्छा दोनों में गिरावट आरही है। कर-भार बढ़ने से निजी-उद्योगों की बचत करने की शक्ति कम हो रही है। सरकार द्वारा ऋण लेने के कारण निजी क्षेत्र के लिए ऋण मिलना कठिन होगया है। सरकार की औद्योगिक नीति, बढ़ता हुआ सरकारी हस्तक्षेप व श्रम-सम्बन्धी कानूनों ने विनियोग की इच्छा पर विपरीत प्रभाव डाला है। सरकार को विनियोग के लिए उचित वातावरण तैयार करना चाहिए ताकि विकास कार्यों में निजी उद्यम भी अपना भाग ले सके। निजी क्षेत्र को भी अपने प्रबन्ध वगैरः में आवश्यक सुधार करने चाहिएँ ताकि विनियोग कर्त्ताओं में ज्यादा विश्वास उत्पन्न किया जा सके। वास्तव में निजी उद्यम को सामाजिक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है और नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अनुसार अपने आपको ढालने की आवश्यकता है।

भारत में पूँजी संचय की दर उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। केन्द्रीय वित्त-मंत्रालय के आर्थिक सलाहकार प्रो० अन्जारिया ने अखिल-भारतीय आर्थिक सम्मेलन (All-India Economic Conference) में अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए दिसम्बर, १९५९ में कहा कि इस समय कुल विनियोग की दर राष्ट्रीय आय की लगभग ११% तक पहुँच चुकी है, जब कि प्रथम पंच-वर्षीय योजना के प्रारम्भ में यह ५% के लगभग थी। भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर योजनाओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा है। भविष्य में भी प्रत्येक आर्थिक क्रिया की उत्पादनशीलता बढ़ाई जानी चाहिए ताकि बचत बढ़ सके। विकास की प्रारम्भिक अवस्था में इस बात का भय रहता है कि बढ़ी हुई आय उपभोग में लगा दी जाय और पूजी संचय न बढ़ सके। इसलिए इस सम्बन्ध में कुछ ऐसे प्रयत्न करने आवश्यक हैं जिनसे आय के बढ़ने के साथ-साथ बचत की दर भी बढ़ती जाय। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए राजस्व प्रणाली व मौद्रिक नीति का इस प्रकार प्रयोग करना पड़ेगा कि राष्ट्रीय आय का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ भाग पूँजी निर्माण के लिए उपलब्ध हो सके। लेकिन लोकतान्त्रिक देशों में जनता का सक्रिय सहयोग भी उतना ही आवश्यक है जितना कि विभिन्न नीतियों का उचित सम्मिश्रण आवश्यक होता है। अतः सरकार को ऐसा वातावरण तैयार करना चाहिए कि पूँजी-संचय में मदद मिल सके।

---

1. Problem of Capital Formation in Underdeveloped Countries by R. Nurbse, P. 36.

प्रश्न (अध्याय २६ व ३०)

University of Rajasthan, B. A.

(1) Mention the sources of industrial finance in India and discuss the measures to make up the deficiencies therein. (1953)

(2) Discuss the existing means of Financing Large-Scale Industries in India, and suggest improvements, (1956)

(3) Write short notes on :—

(b) The Industrial Finance Corporation of India. (1958).

(4) Discuss the problem of Industrial Finance in India. Explain the role of the Industrial Finance Corporation of India in this connection. (Supp. 1960)

Agra University, B. A. & B. Sc.

(1) क्या नए उद्योग-धन्धों के लिए पूँजी वर्तमान समय में अपर्याप्त है ? इस अपर्याप्त मात्रा के क्या कारण हैं ? (1957)

(2) द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में औद्योगिक नीति पर बहस कीजिए और बताइए कि इसे क्रियात्मक रूप देने के लिए क्या करने का विचार है ? (1958).

Delhi University, B. A.

(1) Describe the existing system of Industrial Finance in India. Offer your own suggestions for improving it and say what is at present being done in this connection. (1953)

(2) Discuss the case for and against the Employment of Foreign Capital in India. What policy has been adopted by the Government of India in this respect ? Give your own suggestions. (1956)

Vikram University, B. A.

(1) State and examine the Industrial Policy of the Government of India since independence. (1959)

सन्दर्भ ग्रन्थ

(1) Reports on Currency and Finance (Reserve Bank of India) for 1958-59 and 1959-60. (For External Assistance, Statement 87 of Report for 1959-60).

(2) The Industrial Economy of India—S. C. Kuchhal.

(3) Indian Economy—Alak Ghosh, Ch. 19.

(4) Survey of India's Foreign Liabilities & Assets, 1957 (as on 31st Dec. 1955)—Reserve Bank of India.

इकत्तीसवाँ अध्याय

औद्योगिक प्रबन्ध—प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली

भारत में निजी क्षेत्र में औद्योगिक विकास का श्रेय प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली (Managing Agency System) को रहा है। देश के प्रमुख उद्योग इसी प्रणाली के अन्तर्गत स्थापित हुए, विकसित हुए और अपने आपको सुदृढ़ कर पाये। इन उद्योगों में कोयला, लोहा व इस्पात, जूट, सूती वस्त्र, जल-विद्युत एवं चीनी आदि शामिल किये जा सकते हैं। औद्योगिक जगत में इस प्रणाली का बड़ा बोलबाला रहा है। इससे जहाँ एक तरफ औद्योगिक प्रगति में सहायता मिली है वहाँ दूसरी तरफ कई दोषों के कारण विकास में बाधा भी पहुँची है। भारत सरकार ने इस पद्धति के दोषों को दूर करने के लिए भारतीय कम्पनी अधिनियम १९५६ के अन्तर्गत कई प्रतिबन्ध लागू किये हैं। उन प्रतिबन्धों का उद्देश्य यह है कि भारत में औद्योगिक प्रबन्ध की कार्यकुशलता बढ़े ताकि निजी क्षेत्र उत्पादन बढ़ाने में सफल हो सकें।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता कोई व्यक्ति, साझेदारी, निजी सीमित दायित्व वाली कम्पनी हो सकती है जो अन्य कंम्पनियों का प्रबन्ध करती है।[1] इनके प्रबन्ध के नीचे विविध असम्बन्धित उद्योग हो सकते हैं जैसे खानें, बागान, बैंक, मिलें आदि। ये प्रबन्धित कम्पनियों के लिए तीन काम करते हैं—स्थापना करना, पूँजी का इन्तजाम करना एवं प्रबन्ध करना। भारत के औद्योगिक जीवन में प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली ने केन्द्रीय स्थान प्राप्त कर लिया है। आगे के विवरण से इस प्रणाली की व्यापकता एवं विस्तार का पता लगेगा। शुरू में इस प्रणाली की उत्पत्ति व विकास पर प्रकाश डाला जायगा।

उत्पत्ति व विकास—इस प्रणाली का जन्म लगभग उस समय से हुआ था जब कि ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने व्यापार करना समाप्त कर दिया था और उद्योगों में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया था। डा० वीरा एन्स्टे ने इस प्रणाली का जन्म १८३३ से माना है। प्रारम्भ में ब्रिटिश व्यापारियों ने यह प्रणाली अपनाई। उन्होंने भारत के आर्थिक विकास की सम्भावनाओं को पहचाना और उद्योगों की स्थापना में दिलचस्पी

---

1. डा० पनन्दीकर के अनुसार "प्रबंध अभिकर्त्ता व्यक्ति या व्यक्तियों के दल होते हैं, जिनके पास प्रचुर वित्तीय साधन होते हैं, जो नई संस्थाओं के आरम्भ करने से पूर्व अनुसंधान व प्रयोग का प्रारम्भिक कार्य करते हैं, ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनियों का प्रवर्तन करते हैं, उनको वित्तीय साधन या गारन्टी प्रदान करते हैं और सामान्यतः उनका प्रबन्ध कार्य करते हैं। वे उनके लिए कच्चा माल खरीदने और प्रबंधित संस्थाओं का तैयार माल बेचने और वितरित करने का कार्य भी करते हैं। (Dr. Panandakar : Banking in India, pp.239-40,

दिखलाई। आज से १०० वर्ष पूर्व भारत में पूँजी बाजार लगभग नहीं के बराबर था, आज भी यह पूर्णतया संगठित व विकसित नहीं हो पाया है। अतः नये उद्योगों की स्थापना करना एक कठिन कार्य था जिसे अंग्रेज व्यापारियों ने प्रारम्भ किया। शुरू में इन्हें बड़े उत्साह व लगन से काम करना पड़ा। इन्होंने उद्योगों की स्थापना की, उनके लिए पूँजी जुटाई और दिन-प्रतिदिन के प्रबन्ध की भी देखभाल की। प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली का क्रमशः विकास होता गया और आगे चलकर भारतीय कम्पनियाँ भी स्थापित हुईं जिन्होंने प्रबन्ध अभिकर्त्ता का कार्य सम्हाला। इस प्रकार भारत में देशी एवं विदेशी दोनों तरह के प्रबन्ध अभिकर्त्ता तैयार हो गये। विदेशी प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं में मार्टिन, बर्ड, एण्ड्रयू यूल, एन्डरसन राइट लि०, मैकिलऑड एण्ड कम्पनी लि०, पैरी ऐंड कं०, लीवर ब्रादर्स आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतीय प्रबन्ध अभिकर्ताओं में टाटा, बिरला, डालमियाँ, थापड़, सिंघानियाँ, पोदार आदि प्रमुख गिने जाते हैं।

भारत में ज्यादातर कम्पनियाँ किसी न किसी प्रबन्ध अभिकर्त्ता के नियंत्रण व प्रबन्ध में पाई गई हैं। ३१ मार्च १९५५ में लगभग ३,९०० फर्में व कम्पनियाँ प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं (Managing agents) की थीं जो लगभग ४,९०० कम्पनियों के प्रबन्ध में लगी हुई थीं। ३,९०० में से २,५०० प्रबन्ध अभिकर्त्ता स्वत्वाधिकारी (Proprietory businesses) व साझेदारी फर्म थीं, १,२०० निजी कम्पनियाँ एवं २०० सार्वजनिक कम्पनियाँ थीं। पश्चिमी बंगाल, बम्बई, मद्रास में क्रमशः १,५००, ८०० और ४५० प्रबन्ध अभिकर्त्ता थे और यू० पी०, दिल्ली, मध्य-प्रदेश व पंजाब में प्रत्येक में १०० से ज्यादा इनकी संख्या थी। इन ७ राज्यों में समस्त भारत की ८०% मैनेजिंग एजेन्सियाँ काम कर रही थीं।[1]

भारत में ऐसे उदाहरण भी देखने को मिले हैं जब कि एक प्रबन्ध अभिकर्त्ता फर्म का प्रबन्ध भी दूसरी प्रबन्ध अभिकर्त्ता फर्म द्वारा किया गया। उदाहरण के लिये, मैसर्स कर्मचन्द थापर एन्ड संस, लि० का प्रबंध मैसर्स करमचन्द थापर एण्ड ब्रादर्स, लि० द्वारा किया गया है। इस प्रथा में बुराइयाँ होने से १९५६ के भारतीय कम्पनी अधिनियम में इस पर रोक लगा दी गई है।

संगठन :—पहले कहा जा चुका है कि प्रबन्ध अभिकर्त्ता कोई व्यक्ति, साझेदारी निजी कम्पनी व सार्वजनिक कम्पनी हो सकती हैं। १९५६ से पूर्व साझेदारी व निजी कम्पनियाँ अपने आपको सार्वजनिक कम्पनियों में बदलने लगी थीं। लेकिन १९५६ के कम्पनी अधिनियम के लागू होने पर कई प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपना संगठन सार्वजनिक कम्पनियों से पुनः निजी कम्पनियों में बदलने लगे हैं ताकि निजी कम्पनियों की वैधानिक सुविधाओं का लाभ उठा सकें। एक प्रबन्ध अभिकर्त्ता कम्पनी के प्रबन्ध में कई

1. Supplement to the Journal of Industry and Trade April 1956, p. 23.

कम्पनियाँ होती हैं। अतः इसे कई विभाग रखने होते हैं जिनमें विशेषज्ञ रखे जाते हैं। ये विशेषज्ञ आवश्यकता के समय सम्बन्धित उद्योगों को सलाह देते हैं। ऐसा करने से उनकी प्रगति में सहायता मिलती है।

कार्य :—प्रवन्ध अभिकर्त्ता अपना कार्य क्षेत्र केवल प्रवन्ध तक ही सीमित नहीं रखते है जैसा कि इसके नाम से प्रतीत होता है। ये कम्पनी के संस्थापन या प्रवर्त्तन (Promotion) पूँजी-व्यवस्था (Financing) एवं प्रवन्ध (Management) तीनों से ही समान रूप से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार यह प्रणाली कई कार्यों को एक साथ सम्पन्न करने वाली है। ऐसा करने से कई लाभ भी मिलते हैं तो कई हानियाँ भी होती हैं जिनका विवरण आगे चलकर किया जायगा। नीचे प्रत्येक कार्य का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है :—

(१) प्रवर्त्तन कार्य :—किसी भी उद्योग की स्थापना के पूर्व प्रवन्धक अभिकर्त्ता प्रारम्भिक जाँच व अनुसंधान करवाते है। इसमें उनको व्यय करना पड़ता है। प्रारम्भ की जोखिम ये ही वहन करते हैं। भारत में १० कम्पनियों में से ६ कम्पनियाँ प्रवन्ध अभिकर्त्ताओं की स्थापित की हुई हैं। विदेशों में कम्पनी-निर्माण के समय विशिष्ट संस्थायें मदद पहुँचाती हैं। लेकिन भारत में उनके अभाव के कारण प्रवन्ध अभिकर्त्ताओं को यह कार्य करना पड़ा। इस कार्य को ठीक से करने के लिए इनके पास विशेषज्ञों का एक दल होता है जो प्रत्येक औद्योगिक कार्यक्रम की जाँच करता है। पिछले कुछ वर्षों में इन्जीनियरिंग, रसायन एवं मोटर उद्योगों की स्थापना का कार्य प्रवन्ध अभिकर्त्ताओं द्वारा ही किया गया है।

इस प्रणाली के समर्थकों का कहना है कि भारत से इस प्रणाली को समाप्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह भूतकाल की वस्तु नहीं हो गई है वल्कि एक सजीव प्रभावशाली संस्था है। यदि प्रवन्ध अभिकर्ता न होते तो वहुत से उद्योग स्थापित न हुए होते क्योंकि स्थापना-सम्बन्धी प्रारम्भिक कार्य कौन करता। अव तो फिर भी स्थिति में कुछ सुधार हो गया है क्योंकि अक्टूबर, १९५४ में स्थापित राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम सरकारी क्षेत्र में उद्योगों का प्रवर्त्तन करेगा और १९५५ में स्थापित औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम निजी क्षेत्र में उद्योगों की स्थापना करेगा। लेकिन भूतकाल में प्रवन्ध-अभिकर्त्ता ही प्रारम्भिक पथ प्रदर्शन करते थे।

(२) पूँजी की व्यवस्था—भारत में एक संगठित पूँजी-वाजार का हमेशा से अभाव रहा है। विनियोग कर्त्ताओं व कम्पनियों में सम्पर्क स्थापित करना वहुत आवश्यक था। भारतीय पूँजी शर्मीली रही है। आवश्यक विश्वास के अभाव में यह वाहर नहीं आना चाहती है। प्रवन्ध-अभिकर्त्ताओं ने यह विश्वास उत्पन्न किया और पूँजी आकर्षित की। पूँजी की व्यवस्था में इन्होंने निम्न तरीकों से सहयोग दिया है—

(अ) ये प्रारम्भ में स्वयं शेयर व ऋण-पत्र खरीदते है। अपने सगे सम्बन्धियों व मित्रों से शेयर व ऋण पत्र खरीदवाते हैं।

(आ) ये शेयरों व ऋण-पत्रों का अभिगोपन (Under-writing) भी करते हैं। भारत में अभिगोपन-गृहों का अभाव होने से प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने ही इस कमी की पूर्ति की है।

(इ) बैंकों द्वारा उधार भी इनकी गारन्टी व हस्ताक्षर पर ही मिलता रहा है।

(ई) इनके नाम से ही आम जनता शेयर खरीदने को आकर्षित होती है और सार्वजनिक जमा (Deposits) के रूप में धनराशि प्राप्त हो सकी है।

(उ) प्रवन्ध-अभिकर्त्ता अपने प्रवन्धवाली कम्पनियों की पूंजी एक से निकालकर दूसरी में लगाते रहे हैं जिससे पूंजी के अभाव की पूर्ति हो जाती है। इस प्रथा से कई हानियाँ भी हुई हैं लेकिन प्रारम्भिक उद्देश्य कम पूंजीवाली कम्पनी को मदद पहुँचाना ही था।

इस प्रकार प्रवन्ध अभिकर्त्ता स्थायी पूंजी के अलावा चालू पूंजी की भी व्यवस्था करते हैं। इन्होंने पुनर्सङ्गठन, आधुनिकरण एव विस्तार कार्यों के लिए पूंजी की व्यवस्था की है। राष्ट्रीय योजना समिति की जाँच के अनुसार पता लगा है कि लगभग २५% पूंजी प्रत्यक्ष रूप में प्रवन्ध अभिकर्त्ताओं से ही प्राप्त हुई है। लेकिन अप्रत्यक्ष रूप में अन्य स्रोतों से पूंजी प्राप्त करवाने में भी इनका हाथ रहा है। मन्दी के समय जव अन्य साधनों से पूंजी नहीं मिलती है तब ये ही पूंजी की व्यवस्था करते हैं।

(३) प्रवन्ध—प्रवन्ध अभिकर्त्ताओं का कार्य कम्पनी की स्थापना व पूंजी की व्यवस्था कर देने से ही समाप्त नहीं हो जाता है। दरअसल ये कम्पनी के नित्य प्रति के प्रवन्ध में भी भाग लेते हैं। भारत में कुशल प्रबन्धकों का अन्तर रहा है। प्रवन्ध अभिकर्त्ताओं के पास प्रवन्ध विशेषज्ञ भी होते हैं। ये क्रय-विक्रय भी करते हैं। कम्पनियों के लिए मशीनें, कच्चा माल, स्टोर का सामान व अन्य सामग्री खरीदते हैं और तैयार माल व अन्य वस्तुओं के वेचने की व्यवस्था करते हैं। ये अपने इंजीनियरों व विशेषज्ञों की सहायता से उद्योगों की देख भाल करते रहते हैं। इस प्रकार एक छोटी कम्पनी को भी सस्ती लागत पर विशेषज्ञों की सहायता उपलब्ध हो जाती है। प्रवन्ध अभिकर्त्ता अपने प्रधान कार्यालय में विभिन्न उद्योगों के लिए विभिन्न विभाग एवं एक उद्योग के लिए कई उप-विभाग रखते हैं ताकि प्रबन्ध में सुविधा रहे।

दोष (Defects)

प्रवन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली ने औद्योगिक विकास में काफी मदद पहुँचाई लेकिन धीरे-धीरे इसमें दुर्गुण आते गये और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद चारों तरफ कड़े शब्दों में इसकी निंदा की जाने लगी और इसकी समाप्ति की माँग की गई। जो प्रणाली अब तक विकास में साधक सिद्ध हुई थी वही बदली हुई परिस्थितियों में बाधक प्रतीत

होने लगी। नीचे इस प्रणाली के दोषों का उल्लेख किया जाता है जिनका सम्बन्ध प्रवर्त्तन, वित्त-व्यवस्था एवं प्रबन्ध व्यवस्था से है—

(१) **आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण**—प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली में आर्थिक सत्ता केन्द्रित हो जाती है जिससे बहुत सी बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।[1] १९५१ में ९ प्रमुख ब्रिटिश प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के नियंत्रण में २५० से ज्यादा कम्पनियाँ थीं। एन्ड्रयू यूल एवं मेकिलऑड दोनों के प्रबन्ध में ६० से ज्यादा कम्पनियाँ थीं। भारतीय अभिकर्त्ताओं में डालमिया-जैन के पास लगभग ४० कम्पनियाँ थीं, जे० के० ग्रुप के पास ४२, थापर के पास ३२ आदि आदि। यह दुर्भाग्य का विषय है कि भारत जैसे विशाल देश में प्रबन्धकों का इतना अभाव है कि कुछ प्रबन्ध-अभिकर्त्ता इतनी ज्यादा संख्या में कम्पनियों पर नियंत्रण रखते हैं। अत्यधिक कम्पनियों की देख रेख करने से प्रबन्ध कुशलता मारी जाती है और प्रबन्ध के नाम पर कुचालें चली जाती हैं और बहुत सी कम्पनियाँ बरबाद हो जाती हैं। शेयरधारियों के हितों का बलिदान हो जाता है। उनकी आवाज कहीं भी सुनाई नहीं देती है।

(२) **वित्तीय दुर्व्यवस्था (Financial Mismanagement)**—प्रबन्ध अभिकर्त्ता एक कम्पनी की पूँजी का उपयोग अपनी इच्छा के अनुसार दूसरी कम्पनी में कर डालते हैं। यदि वह कम्पनी फेल हो जाती है तो पहली कम्पनी को भी धक्का पहुँचता है। इस प्रकार वित्तीय दृष्टि से सुदृढ़ कम्पनी भी कमजोर हो जाती है। अभिकर्त्ता स्वयं कम्पनियों से उधार ले लेते हैं एवं अपने मित्रों को उधार दिलवा देते हैं। अतः कई बार कम्पनियाँ इन्हें वित्त प्रदान करती हैं अपेक्षा इसके कि ये कम्पनियों को वित्त प्रदान करें। प्रबन्ध अभिकर्त्ता पूँजी का उपयोग अनावश्यक सट्टेबाजी में कर डालते हैं। पूँजी की व्यवस्था करने में खूब कमीशन लेते हैं जिससे पूँजी की लागत बढ़ जाती है। प्रबन्धित कम्पनियाँ वित्तीय मामलों में उन पर आश्रित हो जाती हैं। इस प्रकार वित्तीय गड़बड़ मचती है और कई कम्पनियाँ महान संकट में पड़ जाती हैं।

(३) **अत्यधिक प्रतिफल, कमीशन, भत्ता आदि**—प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपना ध्यान अधिक से अधिक मुनाफा प्राप्त करने पर रखते हैं। इस सम्बन्ध में वे प्रबन्धित कम्पनियों की आर्थिक स्थिति की कुछ भी परवाह नहीं करते हैं। ये क्रय और विक्रय पर कमीशन लेते रहे हैं। लाभ में भी हिस्सा प्राप्त करते हैं। पहले ऑफिस भत्ते के रूप में भी भारी रकम प्राप्त करने की कोशिश करते थे। कर जाँच-आयोग की सूचना के अनुसार १९४६-५१ के बीच में प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का औसत प्रतिफल लाभ का लगभग १४% था। इनके बहुत से कमीशन व व्यय तो कम्पनियों को देने ही पड़ते, चाहे उनको मुनाफा हो या न हो।

---

1. Industrial Economy of India By Kuchhal, P. 534.

(४) **प्रबन्ध में कार्यकुशलता का गिरता हुआ स्तर**—अभिकर्त्ताओं ने प्रबन्धित कम्पनियों के आधुनिकरण के लिए विशेष उत्साह नहीं दिखाया। इनके पास टैक्नीकल विशेषज्ञों का अभाव रहने लग गया और धीरे धीरे इनका प्रबन्ध-पटुता का दावा कमजोर पड़ने लग गया। कई बार वंश परम्परागत एजेन्सी होने से आने वाली अकर्मण्य पीढ़ियों ने सारा प्रबन्ध चौपट कर दिखाया। अतः यह प्रणाली प्रगतिशील नहीं रही और अस्थिर होने लगी।

(५) **पद का हस्तान्तरण**—कई बार यह देखने में आया कि मैनेजिंग एजेन्ट्स के अधिकार ऊँचे मूल्यों पर बेचे गये और बेचते समय खरीदने वाले के अनुभव व आर्थिक स्थिति को भुला दिया गया और शेयरधारियों के हितों को भी ताक पर रख दिया गया। इससे कई कम्पनियों की व्यवस्था भंग हो गई।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली में सुधार

प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली को सुधारने के लिए १९३६ में कम्पनी अधिनियम में संशोधन किये गये जिनके अनुसार कई प्रतिबन्ध लगाये गये। जैसे कोई अभिकर्त्ता २० साल से ज्यादा के लिए अपना पद नहीं रख सकेगा; वह ⅓ से ज्यादा संचालक नियुक्त नहीं कर सकेगा; एक कम्पनी के कोष, दूसरी में विनियोजित नहीं हो सकेंगे एवं अतिरिक्त कमीशन के लिए कम्पनी के संचालकों की स्वीकृति लेनी होगी। व्यवहार में इन संशोधनों का कोई फल नहीं निकला क्योंकि ये शर्तें कभी लागू नहीं की गईं।

इस प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के लिए भारत सरकार ने १९५० में भाभा कम्पनी कानून कमेटी नियुक्त की जिसने मार्च, १९५२ में अपनी रिपोर्ट पेश की। लेकिन इस बीच में १९५१ में कम्पनी विधान में पुनः संशोधन किया गया जिसमें कम्पनी के शेयरों पर एकाधिकार स्थापित करने पर रोक लगाई गई और यह कहा गया कि प्रबन्ध अभिकर्त्ता का परिवर्तन सरकार की आज्ञा से ही हो सकेगा। १९५१ में कम्पनी कानून पर सलाह देने के लिए एक कमीशन नियुक्त हुआ। सितम्बर १९५३ में कम्पनी बिल पेश हुआ जो १९५६ में अन्तिम रूप से पारित हुआ। १९५६ के कम्पनी अधिनियम ने प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली पर काफी कड़े प्रतिबन्ध लगाये हैं। इसकी मुख्य बातें नीचे दी जाती हैं:—

(१) **प्रणाली कब समाप्त हो?**—केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार मिला है कि वह यह घोषित कर सकती है कि विशेष श्रेणी या उद्योग या व्यापार की तमाम कम्पनियों पर प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की देख-रेख नहीं रहेगी। ऐसा, एक निर्धारित तारीख के ३ वर्ष के अन्त तक अथवा १५ अगस्त, १९६० से जो भी बाद में आवे, लागू माना जायगा। लेकिन सरकार पहले इस सम्बन्ध में एक कमेटी की राय लेगी। केन्द्रीय सरकार ने एक कम्पनी-कानून-प्रशासन-विभाग (Company Law Admi-

nistration Department) स्थापित किया है। यह विभाग एक्ट के विभिन्न पहलुओं की देख-भाल करेगा। एक सलाहकार आयोग भी नियुक्त किया गया है जो सरकार को प्रवन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली पर प्रतिबन्ध आदि के सम्बन्ध में उचित सलाह देगा।

(२) नियुक्ति—प्रवन्ध अभिकर्त्ता की नियुक्ति व पुर्ननियुक्ति की स्वीकृति पहले कम्पनी की साधारण सभा में होगी और फिर केन्द्रीय सरकार द्वारा होगी। पहली बार एक प्रवन्ध अभिकर्त्ता १५ वर्ष तक के लिए नियुक्त हो सकेगा और पुर्ननियुक्ति १० साल से ज्यादा के लिए नहीं हो सकेगी।

एक प्रबन्ध अभिकर्त्ता एक समय में १० से ज्यादा कम्पनियों का प्रवन्ध नहीं कर सकेगा। १५ अगस्त, १९६० तक वर्तमान अभिकर्त्ता इस सम्वन्ध में आवश्यक परिवर्तन कर लेंगे। प्रत्येक प्रवन्ध अभिकर्त्ता की अवधि १५ अगस्त, १९६० को समाप्त हो जायगी बशर्ते कि वह इस तारीख के पहले १९५६ के कानून के अनुसार पुनः नियुक्त नहीं किया गया है।

(३) प्रवन्ध अभिकर्त्ता का हटाना—एक दिवालिया या अपराधी प्रवन्ध अभिकर्त्ता अपना पद त्याग देगा। बेईमानी, विश्वासघात, लापरवाही एवं खराब प्रवन्ध के कारण प्रवन्धित कम्पनी के एक प्रस्ताव से उसे हटाया जा सकेगा।

(४) प्रतिफल—एक प्रवन्ध अभिकर्त्ता वास्तविक लाभ के १०% तक प्रतिफल ले सकेगा। मैनेजर को ५% और सेक्रेटरी व कोषाध्यक्ष को ७½% लाभ मिल सकेगा। १०% से ज्यादा, अतिरिक्त प्रतिफल माना जायगा और यह कम्पनी के विशेष प्रस्ताव एवं केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से ही मिल सकेगा।

(५) अन्य प्रतिबन्ध—(क) यदि संचालकों की कुल संख्या ५ से अधिक होगी तो प्रवन्ध अभिकर्त्ता ज्यादा से ज्यादा २, यदि कुल संख्या ५ से कम होगी तो १ संचालक की नियुक्ति कर सकेगा।

(ख) प्रवन्ध अभिकर्त्ता संचालक मण्डल के नियंत्रण, निर्देशन व देख-रेख में काम करेगा।

(ग) अन्तः-कम्पनी ऋण (Inter-Company Loans) की स्वीकृति पर प्रतिवन्ध लगाये गये हैं।

(घ) प्रवन्ध अभिकर्त्ता प्रबन्धित कम्पनी से प्रतिस्पर्द्धात्मक व्यापार में नहीं लग सकेगा। इस सम्वन्ध में भी आवश्यक रोक लगाई गई है।

इस प्रकार भारतीय कम्पनी अधिनियम, १९५६ में प्रवन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली पर व्यापक नियंत्रण लगा दिये गये है ताकि यह प्रणाली दोष रहित हो जाय। अधिनियम का उद्देश्य इस प्रणाली को समूल नष्ट करना नहीं है बल्कि इसको ज्यादा उपयोगी बनाना है। इससे सत्ता का केन्द्रीयकरण कम होगा। कम्पनी कानून प्रशासन विभाग और

सलाहकार आयोग की जिम्मेदारियाँ बढ़ गई हैं। आशा की जाती है कि नये अधिनियम से प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का नैतिक स्तर ऊंचा होगा। इससे औद्योगिक प्रबन्ध सुधर सकेगा।

आलोचना :—अधिनियम में सेक्रेटरी व कोषाध्यक्ष की व्यवस्था वर्तमान प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की तुलना में बहुत भिन्न नहीं होगी। आज के अभिकर्त्ता कल के सेक्रेटरी व कोषाध्यक्ष बन जायेंगे। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि कोई उत्तम विकल्प (Good alternative) नहीं सुझाया गया है। प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के सम्बन्ध में भी सरकारी नीति अभी तक पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो पायी है।

कम्पनी अधिनियम, १९५६ की तीव्र आलोचना सारे देश में हुई है। श्री ए० वी० विश्वनाथ शास्त्री की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गई जिसको कहा गया कि वह अधिनियम की व्यावहारिक कठिनाइयों को दूर करने के संबंध में सुझाव दे व अन्य दोष, अस्पष्टताएँ एवं कमियाँ दूर करने के उपायों के बारे में सिफारिशें करे। शास्त्री कमेटी की सिफारिशों के आधार पर कंपनी (संशोधन) बिल, १९५९ में पेश किया गया जो लोक सभा की चुनी हुई कमेटी के सम्मुख मौजूद है।

बिल की प्रमुख बातें इस प्रकार है :—

(१) क्रय व विक्रय एजेंट सरकार की स्वीकृति से नियुक्त किये जायेंगे। यह इसलिये किया जा रहा है कि मैनेजिंग एजेन्ट क्रय-विक्रय का कार्य करने के लिए प्रबन्ध संचालक बनने लगे थे।

(२) अन्तः कंपनी कोषों का विनियोग रोका जायगा।

(३) अभिकर्त्ताओं के प्रतिफल के निर्धारण में उनके बच्चों की निःशुल्क शिक्षा, मुफ्त मकान आदि का भी ध्यान रक्खा जायगा। यदि ये लाभ मिलते हैं तो प्रतिफल कम किया जा सकेगा। प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के संबंध में सरकारी नीति इसका अन्त (End) करने की नहीं है बल्कि सुधार (Mend) करने की है।

प्रयोगात्मक आर्थिक-अनुसंधान की राष्ट्रीय परिषद (The National Council of Applied Economic Research)—ने भी हाल में अपनी रिपोर्ट में प्रबंध अभिकर्त्ता-प्रणाली को जारी रखने का समर्थन किया है। रिपोर्ट में कहा गया है कि राज्य-संचालित वित्तीय संस्थाओं के प्रादुर्भाव के बावजूद भी भारत में पूँजी बाजार का पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है। कम्पनियों को पूँजी प्राप्त करने में अब भी कठिनाइयाँ होती हैं। कंपनी प्रवर्त्तन के लिए तो विशिष्ट संस्थायें अभी तक बिल्कुल नहीं के बराबर हैं। प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के चालू रखने के पक्ष में परिषद ने निम्न तर्क दिए हैं :—

(१) प्रबन्ध अभिकर्त्ता जोखिम-पूजी (Risk Capital) प्रदान करने में महत्वपूर्ण भाग लेते हैं। वे बचत भी आकर्षित कर सकते हैं।

(२) यह प्रणाली ७०% सार्वजनिक कंपनियों तक फैली हुई है। हाल ही में मशीन, रासायनिक एवं कार आदि उद्योगों की स्थापना में इसने सहयोग दिया है।

(३) एक प्रवन्ध अभिकर्त्ता के नीचे रहने वाली कई कंपनियों को कुछ बचतें (Economics) अवश्य होती हैं। उनका मुनाफे में हिस्सा होने से वे कार्यकुशलता पर ध्यान देते रहे हैं जो वेतनभोगी मैनेजर नहीं दे सकेंगे।

(४) समिति के अनुसार इस प्रणाली में आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण का दोष है। जो केन्द्रीकरण है वह पश्चिम में प्रवन्ध की विभिन्न प्रणालियों में भी पाया जाता है। भारत में एकाधिकार की तरफ कोई प्रवृत्ति नहीं देखी गई है।

(५) एक प्रवन्ध अभिकर्त्ता के नीचे १० से ज्यादा कंपनियाँ न होने से बहुत से दोष अपने आप दूर हो जायेंगे।

समिति ने उपर्युक्त कारणों से प्रवन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली को समाप्त न करने की सलाह दी है। शेयरधारियों के संगठनों को चाहिए कि वे भ्रष्टाचार के व्यक्तिगत मामलों को रोशनी में लावें ताकि आवश्यक सुधार किया जा सके।

भविष्य में इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि प्रवन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के दोषों को कड़ाई के साथ दूर किया जाय और कंपनी अधिनियम, १९५६ को, भावी संशोधनों के साथ, व्यवहार में लागू किया जाय और इस प्रक्रिया में यदि कुछ नियम उल्लंघन करने वालों को हटा भी दिया जाय तो शायद देश के हित में वह ठीक कदम होगा। इस संबंध में कंपनी-कानून-प्रशासन-विभाग एवं सलाहकार-आयोग के ध्यान देने की आवश्यकता है।

खण्ड ६—परिवहन

(अध्याय ३२ से अध्याय ३५ तक)

बत्तीसवाँ अध्याय

भारतीय रेलें

परिवहन के साधन—पथ, वाहन और शक्ति के अनुसार परिवहन के साधनों का अलग-अलग वर्गीकरण किया जा सकता है। पथ के अनुरूप वाहन होना चाहिये। अतएव इन दोनों को साथ रखें तो परिवहन के साधनों का एक वर्गीकरण पथ और वाहन के अनुसार और दूसरा चालक शक्ति के अनुसार किया जा सकता है।

चालक शक्ति के अनुसार परिवहन के साधनों के चार वर्ग किये जा सकते हैं; (१) मनुष्य की शक्ति से चलने वाले साधन जैसे, मनुष्य खुद अपने सिर, कन्धों या पीठ के बल पर बोझा ले जाता है या हाथ ठेलों या रस्सी के जरिये बोझा घसीट सकता है; (२) पशुओं की शक्ति से चलने वाले साधन जैसे, बैलगाड़ी और घोड़ागाड़ी या अन्य पशुओं से खींची जाने वाली गाड़ियाँ। पशुओं पर बोझा लादने या उनकी शक्ति से बोझा घसीटने का काम भी लिया जाता है; (३) वायु शक्ति, पुराने जमाने में नावें और जहाज पालों में भरी हवा के जरिए चलते थे। आजकल भी कहीं-कहीं ऐसी नावें या जहाज मिलते हैं। (४) यांत्रिक शक्ति; आधुनिक युग में परिवहन के अधिकांश साधन भाप, तेल, बिजली, या अणु-शक्ति से चलाये जाते हैं जैसे रेलें, मोटरें, ट्रामें, जहाज या विमान आदि।

वाहन अथवा मार्ग के आधार पर परिवहन के साधनों के तीन वर्ग किये जाते हैं।

(१) **स्थल मार्ग के साधन**—जिनमें रेलें, सड़कें और नल मुख्य हैं।

(२) **जल मार्ग के साधन**—जिनमें (क) अन्तर्देशीय जल-मार्ग जिनमें नदियाँ, नहरें अथवा झीलें शामिल की जाती हैं और (ख) सामुद्रिक मार्ग जिनकी दो उप-श्रेणियाँ की जाती हैं; (i) समुद्र-तटीय मार्ग और (ii) अन्तर्सामुद्रिक मार्ग।

(३) **वायु मार्ग के साधन**—इनके भी सैनिक और गैर-सैनिक (नागरिक) और अन्तर्देशीय व अन्तर्राष्ट्रीय आदि उप-विभाग किये जा सकते हैं।

भारत में उपर्युक्त सभी प्रकार के मार्गों का उपयोग किया जाता है। हम इस अध्याय में रेलों का वर्णन करेंगे और आगामी अध्यायों में क्रम से सड़क परिवहन, जल-परिवहन और वायु-परिवहन का अध्ययन करेंगे।

भारतीय जन-जीवन पर रेलों के प्रभाव—रेलों के निर्माण और विस्तार से भारत के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक-जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। रेलों के निर्माण से पहले भारत सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से एक पिछड़ा हुआ

देश था। यद्यपि भारत एक भौगोलिक इकाई है और भारतीय संस्कृति एक है तथा समय-समय पर समस्त भारत एक ही राजनैतिक शासन के अधीन रहा है तथापि भारतवासियों में एक राष्ट्रीयता की भावना का अभाव था। देशवासियों में जात-पाँत और क्षेत्रीय भावनाओं का जोर था। परिवहन के आधुनिक साधनों के अभाव में राजनैतिक एकता स्थायी नहीं हो सकती थी। आर्थिक दृष्टि से भारत छोटे गाँवों और छोटे उद्योगों का देश था। अधिकांश लोग गाँवों में रहते थे और खेती करते थे। गाँव स्वावलम्बी थे। उत्पादन का उद्देश्य अपनी सीमित आवश्यकताओं को पूरी करना था न कि बिक्री के लिए माल तैयार करना। बहुधा व्यापार स्थानीय था। विदेशी व्यापार बहुत कम होता था। बड़े पैमाने के उद्योगों का अभाव था और लोग उद्योगों में पूँजी लगाने में हिचकते थे। रेलों के निर्माण ने भारत में आर्थिक संक्रान्ति को जन्म दिया और हमारे सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन को भी प्रभावित किया। हम पहले संक्षेप में रेलों के सामाजिक और राजनैतिक परिणामों का उल्लेख करके रेलों के आर्थिक परिणामों का विस्तार से विवेचन करेंगे।

(अ) सामाजिक परिणाम—(१) रेलों के चलने से यात्रा की कठिनाइयाँ, समय और व्यय घट गया है। रेल-यात्रा सुरक्षित भी होती है। चोर और डाकुओं का भय मिट गया है। फलस्वरूप मनुष्यों में यात्रा करने की प्रवृत्ति बढ़ गई है। विशेषकर तीर्थ-यात्रा जाने वालों को बड़ी सुविधा हो गई है।

(२) रेलों के चलने से देश के भिन्न-भिन्न भागों का पृथकत्व (Isolation) समाप्त हो गया है और उनमें घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो गये हैं। ग्रामीण क्षेत्रों और नगरों में सम्पर्क बढ़ गया है, जिससे दोनों को लाभ पहुँचता है। देशवासियों में पारस्परिक विचार-विनिमय और सामाजिक मेल-मिलाप अधिक, बारम्बार और सुगम हो गया है।

(३) रेलों के कारण राज्य, भाषा और जाति के बन्धन शिथिल पड़ गये हैं। संकीर्णता, अनुदारता और अन्धविश्वास घट गये हैं और साधारण जनता का दृष्टिकोण अधिक व्यापक और उदार हो गया है। इससे जनता में एक-राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत होने में सहायता मिली है।

(४) रेलों के कारण व्यापारिक विज्ञापन के अतिरिक्त प्रचार कार्य में बड़ी सहायता मिलती है। सफाई और स्वास्थ्य सम्बन्धी बातें, खेती के सुधरे हुए ढंग तथा अन्य सामाजिक सुधारों सम्बन्धी प्रचार आन्दोलन रेलों द्वारा किये जा सकते हैं।

(५) रेलें देश को अनेक प्रकार के आर्थिक लाभ पहुँचा करके भी समाज को अधिक सुखी और सम्पन्न बनाती हैं।

(आ) राजनैतिक परिणाम—(१) रेलों के प्रभाव से भारतवर्ष में एक शक्तिशाली और केन्द्रीय सरकार की स्थापना और राष्ट्रीयता के भाव पैदा होने में सहायता मिली

है। इन्हीं के कारण देश में सुशासन और विशेषकर सैनिक रक्षण—वाह्य और आभ्यांतरिक—सम्भव हो सका है।

(२) रेलों के निर्माण और विकास के लिए राज्य को आर्थिक कार्यों में प्रत्यक्ष भाग लेना पड़ा है और जनता के आर्थिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करने की थोथी नीति (Policy of Laissez Faire) का निराकरण हुआ है।

(३) रेलों के द्वारा राज्य की आय-वृद्धि हुई है। आय-वृद्धि का प्रत्यक्ष रूप यह है कि अधिकांश रेलें राज्य की सम्पत्ति होने से उनका लाभ राज्य-कोष में जाता है और रेल भाड़ों पर कर लगाया गया है। इसके अतिरिक्त जनता की सम्पत्ति और कर देने की शक्ति को वढ़ाकर भी रेलों ने परोक्ष रूप में राज्य की आय में वृद्धि की है।

(इ) **आर्थिक परिणाम**—रेलों का सवसे अधिक प्रभाव देश के आर्थिक जीवन पर पड़ा है। कृषि, वन-उद्योग (Forest Industries), उद्योग-धन्धों, व्यापार, कीमतों, श्रमिकों और पूँजी आदि प्रत्येक विषय पर रेलों के चलने से गहरा प्रभाव पड़ा हैं।

(क) **कृषि पर प्रभाव**—(१) रेलों के चलने से कृषि की पैदावार देश-विदेश में दूर-दूर ले जाई जा सकती है। इससे मण्डियों का विस्तार वहुत वढ़ गया है। अब उत्पत्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर स्थानीय अभाव (Scarcity) और अधिकता (Glat) को दूर किया जा सकता है।

(२) रेलों के चलने से पहले किसान खेतों पर अपनी, अपने परिवार तथा पड़ोसियों की आवश्यकता की वस्तुएँ तैयार करते थे। खाने के लिए अनाज, दाल आदि, वस्त्रों के लिए कपास, तेल निकालने के लिए तिलहन आदि, प्रायः सभी दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ अपने खेतों में पैदा कर ली जाती थीं। प्रत्येक गाँव ही नहीं, प्रत्येक परिवार भी, स्वपर्याप्त (Self-sufficient) था। खेती का उद्देश्य जीवन-निर्वाह था। रेलों के वन जाने से किसानों के लिए अपनी पैदावार को दूर-दूर मण्डियों में भेजकर लाभ उठाना सम्भव हो गया। फलस्वरूप किसान वे फसलें तैयार करने लगे जिनकी पैदावार से अधिकतम लाभ उठाया जा सके। परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के स्थान पर मण्डी की माँग को पूरा करने के उद्देश्य से फसलें तैयार की जाने लगीं। प्रत्येक किसान वह फसल तैयार करने लगा जिसके लिए उसका खेत सवसे अधिक उपयुक्त था। इससे खेती का व्यापारीकरण (Commercialization) और फसलों का विशिष्टीकरण (Specialization) और स्थानीकरण (Localization) हो गया है। वंगाल में जूट, उत्तर-प्रदेश और विहार में ईख, पंजाव और उत्तर-प्रदेश में गेहूँ, वम्वई में कपास और मद्रास में तिलहन और चावल अधिक पैदा होता है। ग्रामीण लोग पहले गाँव ही की वनी हुई वस्तुओं का उपभोग करते थे। केवल नमक और लोहा आदि कुछ वस्तुएँ ऐसी थीं जिनके लिए उन्हें वाहर वालों पर निर्भर रहना पड़ता था। लेकिन रेलों के चलने से वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वाहर वालों पर

अधिकाधिक निर्भर रहने लगे। बर्मा और मध्यपूर्व का तेल, लंकाशायर और मैन्चेस्टरों के वस्त्र, जापानी खिलौने और वस्त्र, जर्मनी की सुइयाँ और उस्तरे (Razors) रेलों के कारण गाँव-गाँव में पहुँचने लगे। गाँवों की स्वपर्याप्तता (Self-sufficiency) और पृथकत्व (Isolation) समाप्त हो गये हैं।

(३) रेलों ने भारतवर्ष के खेतों का सम्बन्ध संसार की मण्डियों से स्थापित कर दिया है। इससे खेती की पैदावार की अच्छी कीमतें प्राप्त होने लगी हैं और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव देहातों की आर्थिक दशा पर पड़ने लगा है। उदाहरण के लिए, क्रीमिया (Crimea) के युद्ध के कारण भारत के जूट पैदा करने वाले किसानों को लाभ हुआ था और अमेरिका के गृह-युद्ध से हमारे कपास पैदा करने वाले किसानों को लाभ पहुँचा था। लेकिन संसार-व्यापी शक्तियों को प्रभावित करने में भारत के एक अकेले तथा असंगठित किसान का भाग नगण्य रहता है और उसका भाग्य ऐसी शक्तियों पर अवलम्बित हो गया है जिनको वह तनिक भी प्रभावित नहीं कर सकता है। फलस्वरूप संसार-व्यापी तेजी-मन्दी के कुप्रभाव भी उसे झेलने पड़ते हैं।

(४) रेलों के चलने से नाशवान वस्तुओं (Perishable Goods) की उत्पत्ति में वृद्धि हुई है क्योंकि रेलों के द्वारा वे वस्तुएँ शीघ्र उत्पत्ति के स्थानों से मण्डियों (और उपभोक्ताओं) तक पहुँचाई जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, रेलों के चलने से शाक, फल, दूध, मक्खन, अण्डे आदि नाशवान वस्तुओं की उत्पत्ति में वृद्धि हुई है।

(५) रेलों का एक लाभ यह बतलाया जाता है कि अकाल को रोकने और अकाल पीड़ित-क्षेत्रों को सहायता पहुँचाने के लिए रेलें एक महत्वपूर्ण साधन हैं। फलस्वरूप यह कहा जाता है कि रेलों के चलने से अकाल की भीषणता (Intensity) कम हो गई है। यदि किसी विशेष स्थान में अकाल का भय हो तो वहाँ रेलों द्वारा शीघ्र अन्य स्थानों से अन्न पहुँचाया जा सकता है। इस प्रकार अकाल सहायता कार्य अपेक्षाकृत सुगम हो गया है। लेकिन रेलों के चलने से अन्न की उत्पत्ति में वास्तविक वृद्धि हुई हो ऐसा नहीं माना जा सकता। हाँ, फसलों के विशिष्टीकरण और स्थानीकरण के कारण यदि किसी एक फसल की उत्पत्ति में वृद्धि हुई है तो साथ ही साथ किसी अन्य फसल की उत्पत्ति में कमी भी हुई है। लेकिन रेलों के कारण प्रति एकड़ उत्पत्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ा है और न वर्षा पर आश्रितता ही किसी प्रकार घटी है। यदि किसी विशेष स्थान पर अन्न की भारी कमी हो तो थोड़ा अन्न अन्य स्थानों से लाकर वह कमी रेलों द्वारा पूरी की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, किसी एक स्थान की भारी कमी को दूसरे स्थान से अन्न लाकर थोड़ा-थोड़ा हर एक स्थान पर बाँट दिया जाता है—अर्थात् रेलों द्वारा उत्पत्ति में वृद्धि तो सम्भव नहीं हो सकती, किन्तु वितरण की विषमता दूर की जा सकती है। इस प्रकार सहायता कार्य पहले से अधिक सुगम हो गया है। लेकिन रेलों के कारण सहायता कार्य की आवश्यकता पहले से अधिक हो

गई है। रेलों के चलने से पहले हमारे देश में कुटीर उद्योग-धन्धों (Cottage Industries) की बड़ी सम्पन्न दशा थी। दस्तकारों के अतिरिक्त, किसानों को भी इनसे बड़ा लाभ था। अकाल के समय में किसान कुटीर उद्योग-धन्धों की आय से जीवन-निर्वाह के साधन जुटा सकते थे। रेलों के द्वारा मशीनों की बनी हुई सस्ती वस्तुओं के आयात से कुटीर उद्योग-धन्धों का नाश हो गया है। दस्तकार लोग भी खेती पर आश्रित हो गये हैं और किसानों के पास खेती के अतिरिक्त जीवन-निर्वाह का अन्य कोई साधन नहीं रहा है, इसलिए अकाल पीड़ितों की संख्या अधिक हो गई है। **इस प्रकार रेलों द्वारा अकाल सहायता कार्य सुगम हो गया है लेकिन इनकी आवश्यकता पहले से अधिक हो गई है। दूसरे शब्दों में, रेलों से अकाल का स्वरूप पहले की अपेक्षा बदल गया है।** रेलों के चलने से पहले अकाल का अर्थ अन्न का अभाव था। अब यद्यपि रेलों द्वारा अकाल के समय भी अन्न उपलब्ध किया जा सकता है, किन्तु लोगों के पास अन्न खरीदने को मुद्रा नहीं होती। आजकल अकाल का अर्थ क्रय-शक्ति (Purchasing Power) का अभाव है। एक लेखक[1] के शब्दों में "रेलों ने अकाल को स्थायी दरिद्रता का रूप दे दिया है।" ऐसी स्थिति में निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि रेलों के चलने से भारतीय किसानों को लाभ अधिक हुए या हानियाँ।

(ख) वन-उद्योगों (Forest Industries) **पर प्रभाव**—आरम्भ में रेलों के निर्माण के लिए लकड़ी की इतनी माँग हुई कि बिना सोचे समझे पेड़ काट डाले गये। लेकिन प्रारम्भिक अवस्था के समाप्त हो जाने पर रेल के डिब्बे बनाने और पटरियों के नीचे रखने के लिए लट्ठों (Slippers) की माँग के कारण वन-उद्योग को प्रोत्साहन मिला। रेलों के रूप में यातायात के एक अच्छे साधन के उपलब्ध होने से वनों से उपयुक्त लाभ उठाना सम्भव हो गया और वनों की उत्पत्ति का व्यापारिक दृष्टि से लाभ उठाया जाने लगा है। इस प्रकार रेलों से वन-उद्योग की उन्नति हुई।

(ग) **उद्योग-धन्धों** (Industries) **पर प्रभाव**—रेलों के चलने से आधुनिक औद्योगीकरण (Industrialization) की स्थापना में बड़ी सहायता मिली क्योंकि रेलों के द्वारा कारखानों के लिए औद्योगिक केन्द्रों में मशीनें, कोयला, रसायन (Chemicals) कच्चा माल और दक्ष श्रमिक आदि लाने और वहाँ से तैयार माल विक्रेताओं द्वारा उपभोक्ताओं के पास सर्वत्र पहुँचाने में बड़ी सुविधा हो गई है। रेलों के निर्माण और व्यवस्था के लिए खनिज और इंजीनियरिंग उद्योग-धन्धों की तैयार वस्तुओं की माँग होने से इन्हें विशेष प्रोत्साहन मिला, किन्तु रेलों के चलने से अनेक भारतीय गृह-उद्योग मिट गये हैं। वे कुटीर उद्योग-धन्धे, जो मशीनों की बनाई हुई वस्तुओं के साथ प्रतियोगिता संग्राम में डटकर मोर्चा ले सकें या जो ऐसी स्थानीय

1. एम० डी० टंडन : एकोनोमिक्स, पृ० १६६।

माँग पर आश्रित थे जिसकी पूर्ति बाहर से नहीं की जा सकती थी, जीवित रहे और बड़े कारखानों की भाँति इन्हें भी रेलों के चलने से लाभ हुआ। इस प्रकार रेलों से एक ओर औद्योगिक साहस (Industrial Enterprise) को प्रोत्साहन मिला और दूसरी ओर कुटीर उद्योगों का क्षय भी हुआ।

(घ) व्यापार (Trade) पर प्रभाव—रेलों के चलने से पहले व्यापार की मात्रा और इसका क्षेत्र सीमित थे। रेलों ने माल के लाने-लेजाने का व्यय और कठिनाइयाँ कम करके आभ्यांतरिक व्यापार (Internal Trade) की उन्नति की है और बन्दरगाहों पर निर्यात-योग्य (Exportable) वस्तुएँ एकत्रित करके और वहाँ से आयातित माल देश में सर्वत्र पहुँचाकर विदेशी व्यापार (Foreign Trade) की उन्नति की है।

कभी-कभी रेलों के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जाती है कि इनके कारण देश का एकतरफा आर्थिक विकास हुआ है, क्योंकि ढुलाई कम लेकर इन्होंने देश से अन्न और कच्चे माल का निर्यात और देश में तैयार माल का आयात बढ़ाया है इसलिए भारत एक कृषि-प्रधान देश बन गया है। लेकिन यह अपराध रेलों का नहीं है अपितु उन अधिकारियों का है जो भाड़ों की नीति (Railway Rates Policy) निर्धारित करते थे। अब भाड़े की दरों में इस प्रकार का भेद-भाव मिटा दिया गया है।

(ङ) कीमतों पर प्रभाव—रेलों ने देश भर की कीमतों को समान कर दिया है और उन्हें संसारव्यापी कीमतों से बराबर ला दिया है; क्योंकि वस्तुएँ मन्दी के स्थानों से लाकर महँगाई के स्थानों में बेची जा सकती हैं इसलिए ढुलाई खर्च के अतिरिक्त कीमतों में अधिक अन्तर नहीं होने पाता है। लेकिन इनके कारण भारत के छोटे (Small) और अकेले (Isolated) उत्पादक पर उन संसारव्यापी शक्तियों का प्रभाव पड़ने लगा है जिन्हें वह प्रभावित नहीं कर सकता है। इससे शेष संसार के साथ-साथ हमारे देश में तेजी-मन्दी का प्रभाव पड़ने लग गया है।

(च) श्रम पर प्रभाव (१)—रेलों के चलने से श्रम की गतिशीलता (Mobility) बढ़ गई है। श्रमिक सुगमतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान को रोजगार के लिए जा सकते हैं। इससे जनसंख्या का वितरण समान हो जाता है और मजदूरी (Wages) की विषमता (Inequality) कम हो जाती है।

(२) रेलों के चलने से रोजगार (Employment) बढ़ गया है। प्रथम तो रेलों पर ११·५ लाख ड्राइवरों, गार्डों, स्टेशन मास्टरों आदि के रूप में कार्य करते है। दूसरे, रेलों के कारण उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन मिला है, जो श्रमिकों को नौकर रखते हैं।

(३) रेलों के चलने से श्रम की उत्तमता (Quality) में भी वृद्धि हुई है। रेलों पर काम करने से चतुर श्रम (Skilled Labour) की पूर्ति होती है और बनी रहती है।

(छ) पूँजी पर प्रभाव—रेलों के चलाने के लिए हमारे देश में करोड़ों रुपयों की विदेशी पूँजी लगाई गई, विशेषकर ऐसे समय में जब कि देशी पूँजीपति उद्यम के लिए तैयार नहीं थे। इससे देश में औद्योगिक उद्यम की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला है। परन्तु इस विदेशी पूँजी की सेवाओं के लिए देश को व्याज और अन्य रियायतों के रूप में भारी कीमत चुकानी पड़ी है।

(ज) नगरों की वृद्धि - रेलों के निर्माण में औद्योगीकरण की प्रवृत्ति बढ़ने और आवागमन बढ़ने से लोगों की देहात छोड़कर शहरों में बसने की प्रवृत्ति को बल मिला है। जमशेदपुर, बंगलौर, आसनसोल, बांदीकुई, फुलेरा आदि कई शहर और कस्बे रेलों के विकास की देन हैं। रेलों से बड़े शहरों की संख्या और आकार भी बढ़े हैं।

भारत में रेलों का विकास

भारत में रेलों के विकास को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम पाँच भागों में बाँट सकते हैं।

(१) पुरानी गारन्टी पद्धति (१८४९ से १८६९)—रेलों के बनने से पहले भारत में परिवहन के साधन पशु, पशुओं द्वारा खींची जाने वाली गाड़ियाँ या अन्तर्देशीय जल मार्ग थे। मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् देश में अशांति के कारण अधिकांश सड़कें खराब हो चुकी थीं। लॉर्ड विलियम बेंटिक पहला गवर्नर जनरल था जिसका ध्यान परिहन के साधनों की उन्नति की ओर गया। सबसे पहले १८३१-३२ में कावेरी नदी की घाटी में सड़क पर पटरियाँ बिछाकर पशुओं द्वारा खींची जाने वाली गाड़ियाँ चलाने की योजना बनाई गई। १८३६ में केप्टन ए० पी० कॉटन ने मद्रास को रेल द्वारा बंबई से जोड़ने का प्रस्ताव रक्खा। १८४१ में सर रानेडल मैकडॉनल्ड स्टीफेंसन ने कलकत्ता से उत्तरी पश्चिमी सीमा तक रेल बनाने का प्रस्ताव रखा और सन् १८४४ में लंदन में ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी (ई० आई० आर०) को जन्म दिया। इसी प्रकार श्री जार्ज क्लार्क ने १८४३ में बम्बई से थाना तक रेल मार्ग बनाने का प्रस्ताव रक्खा और तदर्थ ग्रेट इण्डिया पेनिन्सुला रेलवे (जी० आई० पी०) कम्पनी की लन्दन में स्थापना की गई। १७ अगस्त १८४९ को ईस्ट इन्डिया कम्पनी का ई० आई० आर० तथा जी० आई० पी० रेलवे कम्पनियों से समझौता हो गया। इस प्रकार इस विधि से भारत में रेलों का इतिहास प्रारम्भ होता है। १८५४ और ६० के बीच लॉर्ड डलहौजी की योजनानुसार कम्पनियों से इसी प्रकार समझौता किया गया। इस समझौते की मुख्य शर्तें निम्नांकित थीं :—

(१) रेलवे कम्पनियों को सरकार ने बिना मूल्य भूमि प्रदान की।

(२) कम्पनियों को उनके द्वारा लगाई हुई पूँजी पर ४½ से ५% तक व्याज की गारन्टी दी गई।

(३) इस गारंटी को पूरा करने के लिये सरकार को जो रुपया भरना पड़ेगा वह आगामी ५ वर्षों में ५ प्रतिशत से ज्यादा लाभ होने पर लाभ के आधे से चुकता करना पड़ेगा और शेष आधा लाभ कम्पनियों को मिलेगा।

(४) सरकार को रेल मार्ग, रेलों के गेज (पटरियों के बीच की चौड़ाई) और किराया-भाड़ा तय करने के अधिकार दिए गए और रेल निर्माण काम भी सरकार की देख रेख में करना निश्चय हुआ। कम्पनी के संचालक मन्डल में एक सरकारी सचालक रहेगा जिसको मंडल के निर्णय को रद्द करने का अधिकार होगा।

(५) सरकार को यह अधिकार था कि २५ साल या ५० साल बाद रेलों को उनके शेयरों के गत तीन साल के लन्दन के मूल्य के आधार पर खरीद ले।

(६) रुपयों में लेन-देन के सारे काम एक रुपया बराबर १ शिलिंग १० पेंस की विनिमय दर पर होना तय हुआ।

यह सही है कि भारतीय पूँजी के अभाव में सरकार को उपर्युक्त शर्तों पर रेल निर्माण के लिए ब्रिटिश पूँजी मँगवानी पड़ी; परन्तु यह नीति अत्यन्त दोषपूर्ण सिद्ध हुई। सरकार के साधनों तथा कर-दाताओं पर इसका बहुत भार पड़ा। जहाँ सरकार ने ५% व्याज की गारन्टी दी थी वहाँ ५ प्रतिशत से अधिक लाभ होने पर आधा लाभ ऋण अथवा व्याज चुकाने के काम में लाया जाता था और शेप आधा लाभ कम्पनियों को मिलता था। १० प्रतिशत से अधिक लाभ किराया-भाड़ा को कम करने के लिये काम में लाया जाता था। अतएव जहाँ सरकार को घाटा भरना पड़ता था वहाँ उसे लाभ में कोई हिस्सा नही मिलता था।

(२) व्याज, कम्पनियों द्वारा सरकारी कोप में रुपया जमा होने की तारीख से शुरू हो जाता था चाहे वर्षों तक रुपया काम में नही लाया जाय।

(३) रुपए की विनिमय दर २२ पेन्स के बराबर मान ली गई थी चाहे बाजार में दर कितनी ही क्यों न हो।

(४) सरकार को शेयरों की कीमत बाजार भाव के अनुसार चुकानी पड़ती थी न कि लगी हुई वास्तविक पूँजी के अनुसार।

(५) ५ प्रतिशत न्यूनतम व्याज की गारन्टी मिल जाने से कम्पनियों ने अंधाधुन्ध रुपया लगाना शुरू किया और किफायत से काम नहीं किया। परिणामस्वरूप लागत बहुत बढ़ गई और आमदनी कम हो गई। सरकार को १८४९ से १८६९ के बीच करीब १६ करोड़ रुपये की हानि उठानी पड़ी। यदि निश्चित विनिमय दर और भूमि के मूल्य आदि का हिसाब लगाया जाय तो कुल हानि लगभग २२ करोड़ रुपये होती है।[1]

---

1. डा० चौहान: आधुनिक परिवहन, पृ० १३६-३७

भारत में रेलों का निर्माण वास्तव में १८५३ में शुरू हुआ और १८६९ तक केवल ४२८७ मील लम्बी रेलवे लाइन बनी जिसकी वार्षिक औसत लगभग २५० मील होती है।

(२) सरकारी निर्माण और प्रबन्ध का युग (१८६९ से १८८१)—पुरानी गारंटी पद्धति की सभी क्षेत्रों में बड़ी कड़ी आलोचना हो रही थी और १८५७ के विद्रोह को दबाने के लिए सरकार को भारी ऋण लेना पड़ा था। अतएव भारत सरकार ने स्वयं रेलें बनाने का निश्चय किया। साथ ही ई० आई० आर० और जी० आई० पी० जैसी पुरानी कम्पनियों से समझौते की शर्तों में इस प्रकार संशोधन किया गया कि हर छःमाही सरकार को आधा लाभ मिल सके। सरकार ने रेलें बनाने के लिए प्रतिवर्ष २½ करोड़ रुपया ऋण लेना तय किया और चौड़ी पटरियों की रेलें बनाने के स्थान पर मीटर गेज़ की रेलें बनाना तय किया जो सस्ती पड़ती थीं। फलस्वरूप इस युग में रेलों का निर्माण-व्यय भी काफी घट गया औररेलों की लंबाई भी १८६९ में ४२८७ मील से बढ़कर १८८१ में ९८९१ मील हो गई; अर्थात् प्रतिवर्ष ४६० मील लम्बी रेलवे लाइनें बनीं। परन्तु सरकार के पास साधनों की कमी होने से सिंध और पंजाब की रेलों को चौड़ी पटरियों वाली रेलों में बदलने में कठिनाई हुई। फिर, रेल निर्माण अकाल आयोग की सिफारिशों (२० हजार मील) के अनुसार नहीं हो सका। अतः सरकार ने पुनः निजी कम्पनियों से सहायता लेने का निश्चय किया।

(३) मिश्रित उद्यम युग या नई गारन्टी पद्धति (१८८१ मे १९२१)—इस युग को मिश्रित उद्यम युग इसलिए कहते हैं कि इसमें सरकार और निजी कम्पनियों ने मिल कर रेल निर्माण का कार्य किया। इस युग को नई गारन्टी पद्धति का युग भी कहा जा सकता है, क्योंकि निजी कम्पनियों से जो समझौते किए गए थे उनकी शर्तें बदल दी गई थीं। इस युग को दो भागों में बाँटा जा सकता है, (१) पूर्वार्द्ध (१८८१ से १९०१) और (२) उत्तरार्द्ध (१९०१ से १९२१)।

(१) पूर्वार्द्ध (१८८१ से १९०१)—नई गारन्टी पद्धति की मुख्य शर्तें निम्नांकित थीं :—

(क) नई रेलें बहुधा प्रारम्भ ही से भारत मन्त्री की सम्पति समझी जाने लगीं। उसको पहले २५ वर्षो बाद या तत्पश्चात् हर १० वाँ वर्ष समाप्त होने पर कम्पनियों द्वारा लगाई हुई पूँजी सम मूल्य पर चुका कर समझौता खत्म करने का अधिकार दे दिया गया।

(ख) कम्पनी द्वारा लगाई जाने वाली पूँजी पर ब्याज की दर घटा कर बहुधा ३½ प्रतिशत कर दी गई।

(ग) सरकार ने अतिरिक्त-लाभ का बड़ा हिस्सा बहुधा ¾ लेने का निश्चय किया। यद्यपि इस प्रकार कम्पनियों को ब्याज की गारन्टी मिली और रेलों का प्रबन्ध उनके

हाथ में रहा तथापि रेलें आरम्भ ही से सरकार की सम्पत्ति बन गईं। जब पुरानी कम्पनियों के समझौतों की अवधि समाप्त हुई तो सरकार ने समझौते समाप्त कर दिये। कुछ छोटी लाइनें सरकार ने खरीद कर अपने प्रबन्ध में ले लीं। परंतु ई० आई० आर० और जी० आई० पी० लाइनें भी सरकार ने खरीद ली तथापि उनका प्रबन्ध कंपनियों के हाथ रहने दिया गया। इसी प्रकार जब अन्य कम्पनियों के समझौतों की अवधि समाप्त हुई तो सरकार ने यद्यपि प्रबंध उनके हाथ में ही रहने दिया तथापि शेयर पूँजी कम करवा दी या ब्याज घटा दिया था या अतिरिक्त मुनाफे में अपना हिस्सा बढ़ा लिया। इस प्रकार अधिकांश बड़ी रेलें (Trunk Lines) सरकार की संपत्ति बन गईं और कंपनियों की शेयर पूँजी कम हो गई लेकिन प्रबन्ध का कार्य सरकार के नियंत्रण में कम्पनियाँ करती रहीं।

इस अवधि में देशी रियासतों ने भी रेलों के निर्माण कार्य में उत्साह पूर्वक योग दिया। कुछ जिला बोर्डों ने भी अपनी रेलें बनाईं। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार, देशी राज्यों, स्थानीय संस्थाओं और निजी कम्पनियों सबने मिलकर रेल निर्माण-कार्य में अपना अपना योग दिया। इस अवधि में रेलों की लंबाई १८८१ में ९९०० मील से बढ़कर १९०१ में २५२०० मील हो गई; अर्थात् प्रतिवर्ष लगभग ७७० मील लम्बी रेलवे लाइनों का निर्माण हुआ।

(२) उत्तरार्द्ध (१९०१ से १९२१)—इस युग के उत्तरार्द्ध में सरकारी नीति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। मिश्रित उद्यम की नीति अब भी जारी रही। सबसे उल्लेखनीय बात यह हुई कि २० वीं शताब्दी के आरम्भ ही से जो रेलें अब तक सरकार के लिए भार-स्वरूप थीं अब वरदान सिद्ध होने लगीं। इसका प्रधान कारण यह था कि विदेशी विनिमय की दरों में स्थिरता आने से देश का व्यापार बढ़ गया जिससे रेलों की आय बढ़ी और रेलों की साज-सज्जा का पूरा उपयोग होने से लागत कम हो गई। इसी समय सरकारी बजट में भी कई वर्षों तक बराबर बचत रही। परिणामस्वरूप अब रेल निर्माण के लिए पूँजी की कोई कमी नहीं रही। सरकार कभी-कभी रेलों के लिए इतना रुपया मन्जूर करने लगी जितना साल भर में खर्च भी नहीं हो पाता था। इसी समय श्री टामस रॉबर्टसन ने रेलों की जाँच की और उन्होंने रेल निर्माण के हेतु रेलवे बोर्ड के अधीन एक रेलवे निधि कायम करने का सुझाव दिया। यद्यपि सरकार ने उनका रेलवे निधि संबन्धी सुझाव नहीं माना तथा १९०५ में रेलवे बोर्ड की स्थापना कर दी गई। १९०७ में पुनः भारतीय रेलों तथा व्यापारियों के प्रतिनिधित्व पर भारत मन्त्री ने मैके समिति की स्थापना की। इस समिति ने बताया कि भारत में रेलों के पास माँग के अनुरूप साधन नहीं हैं। उन्हें अपना काम सुचारु रूप से चलाने के लिए अधिक-निधि की आवश्यकता है।

१६१४ में प्रथम महायुद्ध छिड़ गया। फलस्वरूप एक ओर सरकार को रेलों पर पूँजी लगाने के कार्यक्रम में कमी करनी पड़ी और दूसरी ओर सैनिक तथा युद्ध सामग्री लाने ले जाने से रेलों पर बड़ा भार पड़ा। इङ्गलैंड से रेलो के लिए साज-सामान मँगाना बड़ा मुश्किल हो गया जिससे न सिर्फ रेलो का विस्तार रुक गया बल्कि मौजूदा रेलों के इन्जन, डिब्बों, पुलों आदि की भी समुचित मरम्मत नहीं हो सकी। फलस्वरूप जनता में रेल व्यवस्था की कड़ी आलोचना होने लगी और रेलों में सरकारी प्रबंध की माँग की जाने लगी। १ नवम्बर, १६२० को, सर विलियम अकवर्थ (Acworth) की अध्यक्षता में रेलों की जाँच करने के लिए एक समिति नियुक्त की गई। समिति की जाँच-रिपोर्ट की मुख्य बातें निम्नांकित थीं :—

(१) **रेलों का प्रबन्ध**—समिति इस बात में एकमत थी कि भारतीय रेलों का प्रबन्ध लन्दन से न होकर भारत से होना चाहिये। इसलिए जैसे-जैसे इंग्लिश गारण्टी वाली कम्पनियों के साथ समझौतों की अवधि समाप्त हो उनका अन्त कर देना चाहिए और उन्हें आगे के लिए नही बढ़ाना चाहिए। परन्तु रेलों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर समिति में मतभेद था। अन्त में सभापति के निर्णायक मत द्वारा राष्ट्रीयकरण के पक्ष में प्रश्न का निपटारा हुआ।

(२) **रेलवे बोर्ड**—अकवर्थ समिति ने रेलवे बोर्ड के स्थान पर ५ सदस्यों का एक रेलवे आयोग स्थापित करने की सलाह दी और यह सुझाव दिया कि बोर्ड वायसराय की कार्यकारिणी परिषद के एक अलग सदस्य के अधीन होनी चाहिए।

(३) **वित्तीय व्यवस्था**—समिति ने राय दी कि रेलों का बजट साधारण सरकारी बजट से अलग होना चाहिये ताकि रेलें अपनी स्वतंत्र नीति बरत सकें।

उपर्युक्त मुख्य सिफारिशों के अतिरिक्त अकवर्थ समिति ने किराये-भाड़े सम्बन्धी जनता की शिकायत जानने के लिए तीन सदस्यों का एक रेल भाड़ा न्यायाधिकरण बनाने की राय दी तथा जनसम्पर्क के लिए केन्द्रीय और स्थानीय सलाहकार समितियाँ बनाने का सुझाव दिया और रेलों के कर्मचारियों के भारतीयकरण पर जोर दिया।

(४) **राष्ट्रीयकरण का युग**—(१६२१ से १६५०) भारतीय रेलों का चौथा महत्त्वपूर्ण युग अकवर्थ समिति के सुझावों के अनुसार नीति परिवर्तन के साथ आरम्भ हुआ। इस युग की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को हम निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णन कर सकते हैं :—

(क) **राष्ट्रीयकरण** :—अकवर्थ समिति के सुझावों के अनुसार फरवरी १६२३ में विधान सभा ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसके अनुसार रेल कपनियों के साथ हुए समझौतों की अवधि समाप्त होते ही सरकार ने रेलों को अपने प्रबन्ध में ले लेने का निश्चय किया। सबसे पहले १६२४ में ई० आई० आर० और १६२५ में जी० आई० पी० आर० को भारत सरकार ने अपने प्रबन्ध में ले लिया। इसी प्रकार दूसरी रेलों

को भी जब-जब समझौते की अवधि पूरी हुई सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। स्वाधीनता मिलने के बाद देशी राज्यों के एकीकरण के साथ ही साथ उनकी रेलें भी सरकार के हाथ में आ गईं। इस प्रकार १ अप्रैल १९५० तक कुछ छोटी रेलों को छोड़कर सारी रेलें भारत सरकार के स्वामित्व और प्रबन्ध में आ गईं।

(ख) रेलों की वित्त व्यवस्था का प्रथकीकरण—अकवर्थ समिति के अनुसार रेलों का आय-व्यय सरकार के साधारण आय-व्यय में शामिल होने से सरकारी बजट में बड़ी अनिश्चितता रहती थी और रेलों को साधारण बजट की स्थिति पर निर्भर रहना पड़ता था। फलस्वरूप वे पूरी तरह व्यापारिक आधार पर नहीं चलाई जा सकती थीं। हर हालत में रेलों को जितना रुपया दिया जाता था यदि वे ३१ मार्च तक खर्च नहीं हो सका तो समाप्त हो जाता था। और अगले वर्ष के लिये नये सिरे से नई परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उनको खर्च की अनुमति मिलती थी। ऐसी हालत में रेलों के लिये कोई दीर्घकालीन नीति नहीं अपनाई जा सकती थी। न वे विकास, मरम्मत और नवीनीकरण के ही पूरे साधन जुटा पाती थीं, न उनके पास कोई संचित कोष था और न मूल्य ह्रास कोष। उनके हिसाब-किताब रखने का ढंग भी संतोषप्रद नहीं था। इन सब बातों को देखते हुए अकवर्थ समिति ने यह राय दी कि रेलों का बजट सरकार के साधारण बजट से अलग कर देना चाहिये। परन्तु समिति रेलों का विधान-सभा से पूरी तरह सम्बन्ध विच्छेद करने के पक्ष में नहीं थी। समिति की राय में रेलों की अपनी आंतरिक व्यवस्था में स्वतन्त्रता रहनी चाहिये, परन्तु अन्य विभागों की तरह सरकार के अधीन रहनी चाहियें। साथ ही रेलों के वार्षिक लाभ में भी सरकार को हिस्सा मिलना चाहिये। क्योंकि जब तक रेलों को घाटा रहा ब तक सरकार ने घाटा पूरा किया था और अब जब रेलों को लाभ होने लगा .. रकार और सरकार के द्वारा कर दाता को अवश्य हिस्सा मिलना चाहिये। २० सितम्बर १९२४ को केन्द्रीय विधान-सभा ने इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसकी मुख्य बातें निम्नांकित थीं :—

(१) रेलों का आय-व्यय सरकारी आय व्यय से अलग रखा जायगा, परन्तु रेलों को प्रतिवर्ष सरकारी कोष को एक निश्चिय अंशदान देना होगा जो उनकी शुद्ध आय पर प्रथम दायित्व माना जायगा। यह अंशदान उत्पादक रेलों (Commercial Railways) में लगी हुई पूँजी का १ प्रतिशत और बचे हुए अतिरिक्त लाभ का $\frac{1}{5}$ होगा। अनुत्पादक रेलों (Strategic Railways) में लगी हुई पूँजी का ब्याज और उनकी हानि सरकार को भुगतनी होगी और उसे रेलों के उक्त दायित्व से घटा दिया जायगा।

(२) सरकारी कोष को उक्त अंशदान देने के बाद शेष लाभ रेलों के रिजर्व फण्ड में रखा जायगा। किन्तु यदि किसी वर्ष इस फण्ड में जाने वाली रकम ३ करोड़ से

अधिक होगी तो अतिरिक्त रकम का दो-तिहाई भाग इस फण्ड में चला जायगा और एक-तिहाई सरकारी कोष को दिया जायगा।

(३) रेलों का बजट विधान-सभा के सामने साधारण बजट से पहले पेश किया जायगा और रेलों के लिये १२ सदस्यों की स्थायी वित्तीय समिति बनाई जायगी।

इस प्रस्ताव के फलस्वरूप रेलों के आय-व्यय पर सरकार के वित्त विभाग का नियंत्रण हट गया और रेलों को व्यापारी कम्पनियों के सिद्धान्तों के अनुसार अपनी वित्त व्यवस्था करने के लिये स्वतंत्रता प्राप्त हो गयी। साथ ही रेलों के बजट के अलग हो जाने से सरकारी बजट में भारी उतार-चढ़ाव की सम्भावना कम हो गई। परन्तु यह व्यवस्था सर्वथा दोष रहित नहीं थी। जब तक रेलों को अच्छा लाभ होता रहा तब तक गाड़ी ठीक चलती रही, परन्तु मन्दी के दिनों में जब रेलों को घाटा होने लगा तब इस व्यवस्था के कई दोष सामने आये। इस व्यवस्था के अनुसार रेलों को हर हालत में सरकारी पूँजी पर १ प्रतिशत देना अनिवार्य था।

अतिरिक्त लाभ होने पर इस अनुदान की मात्रा बढ़ सकती थी, परन्तु लाभ घट जाने या बिल्कुल लाभ नहीं रहने की हालत में भी यह अनुदान देना ही पड़ता था चाहे ऋण लेकर ही क्यों न चुकाना पड़े। यदि किसी वर्ष रेलें पूरा अंशदान न चुका सकीं तो आगामी वर्षों में सारी पिछली कमी को पूरी किये बिना न लाभ घोषित कर सकती थीं और न रिजर्व फण्ड ही में धन दे सकती थीं।

मार्च १६२५ में सर्वप्रथम नई व्यवस्था के अनुसार रेलों का बजट विधान-सभा में पेश किया गया। १६२४-२५ से लेकर १६३०-३१ तक रेलों ने सरकारी कोष को लगभग ४२ करोड़ रुपया अंशदान के रूप में दिया। परंतु १६३१-३२ से ही रेलों को घाटा रहने लगा और वह सरकारी कोष को अंशदान देने में असमर्थ रही। घाटे के प्रधान कारण संसार-व्यापी मन्दी के कारण कीमतों में कमी, आयात-निर्यात में कमी, देश में अशान्ति, बाढ़ और भूचालों से हानि व मोटरों से प्रतियोगिता थी। १६३१ से लेकर १६३६-३७ तक रेलों के अवशेष दायित्व की मात्रा लगभग ३१ करोड़ रुपये हो गई। इसी अवधि में रेलों को अपने मूल्य ह्रास कोष से ब्याज आदि चुकाने के लिये करीब ३१ करोड़ रुपये ऋण लेना पड़ा। १६३७ में प्रान्तों में स्वशासन लागू किया गया और प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार पर अंशदान के लिये जोर देने लगीं। केन्द्र और प्रान्तों में की गई वित्तीय व्यवस्था के अनुसार प्रान्तों को केन्द्र से अंशदान तभी मिल सकता था जब रेलों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो। अतएव १६३७ में केन्द्रीय विधान सभा ने ३ वर्ष के लिये रेलों से ऋण की वसूली बन्द करना स्वीकार किया जिसके फलस्वरूप ब्याज चुकाने के बाद बचा हुआ रेलों का अतिरिक्त लाभ, जो १६३६-३७ से प्रारम्भ हो गया था, सरकारी कोष को अंशदान चुकाने के काम में लिया जा

सकता था। इसके परिणामस्वरूप सरकार के लिये प्रान्तों को आय-कर में से कुछ हिस्सा देना सम्भव हो गया।

इस अवधि में रेलों ने अपने खर्च में कमी करने और अपनी दक्षता बढ़ाने के लिये १९३१ की छटनी समिति (Retrenchment Committee) और १९३२ की पोप कमेटी के सुझावानुसार प्रयत्न किये। अतः इस प्रयत्न के फलस्वरूप और मुख्यतः पुनर्शस्त्रीकरण के कारण व्यापार में सुधार और कीमतों के बढ़ने की प्रवृति से १९३६-३७ से रेलों की आर्थिक स्थिति में सुधार नजर आने लगा।

वेंजवुड समिति (Wedgwood Committee) :—१९३६-३७ से आंशिक सुधार के पूर्व रेलों की बिगड़ी स्थिति की जाँच करने की मांग की जाने लगी। प्रान्तों को आय कर में मिलने वाला भाग रेलों के अंशदान पर निर्भर होने से जाँच की मांग को और बल मिला। इस मांग को ध्यान में रखते हुए २० अक्टूबर, १९३६ को भारत सरकार ने सर राल्फ वेंजवुड (Wedgwood) की अध्यक्षता में रेलों की वस्तुस्थिति का अध्ययन कर आय बढ़ाने और आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाने के लिये सुझाव देने के लिये एक समिति नियुक्त की। वेंजवुड समिति ने रेलों के खर्चे में किफायत करने और आमदनी बढ़ाने के लिये कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये तथा रेलों और सड़क परिवहन की प्रतियोगिता समाप्त करने के लिये सूत्रीकरण की योजनाओं पर जोर दिया।

नई वित्तीय व्यवस्था :—हम बतला चुके हैं कि १९२४ की वित्तीय व्यवस्था रेलों के लिये बड़ी कठोर साबित हुई। जब तक रेलों को लाभ होता रहा तब तक तो गाड़ी ठीक चलती रही परन्तु जब मन्दी के दिनों में रेलों को घाटा रहने लगा तो वे सरकारी कोष को अंशदान देने में असमर्थ रहीं। १९३७ में एक प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय किया गया कि १ अप्रैल १९४० से पहले रेलों को पुरानी वित्तीय-व्यवस्था के अनुसार सरकारी कोष का ऋण चुकाने के लिये बाध्य नहीं किया जाय। सितम्बर, १९३९ को विधान सभा ने अपने १९३७ के प्रस्ताव को दोहराया और उसकी अवधि १ अप्रैल, १९४२ तक बढ़ा दी गई। परन्तु युद्धकाल में कोई स्थायी नीति निर्धारित करने की सम्भावना न होने से २ मार्च १९४३ को विधान सभा ने १९२४ के प्रस्ताव को अव्यावहारिक घोषित करते हुए यह निश्चय किया कि १ अप्रैल, १९४३ से पुराने प्रस्ताव का वह भाग जो सरकारी कोष के प्रति रेलों का दायित्व निर्धारित करता है, क्रियान्वित होना बन्द हो जायगा और १९४३-४४ से उत्पादक रेलों का लाभ सबसे पहले मूल्य ह्रास कोष में से लिये गये ऋणों के चुकाने के काम में लिया जायगा। तदुपरान्त शेष का २५ प्रतिशत रिजर्व फण्ड और शेष ७५ प्रतिशत सरकारी कोष में दिया जायगा। अतः भविष्य में जब तक नई व्यवस्था नहीं अपनाई जाती तब तक उत्पादक रेलों का लाभ प्रतिवर्ष सरकार और रेलों के बीच अपनी-अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर बाँट दिया जायगा।

१६४३ की व्यवस्था ३१ मार्च १६५० तक चलती रही और दिसम्बर १६४६ में एक नई व्यवस्था स्वीकार की गई जो १ अप्रैल १६५० को लागू की गई। इस नई व्यवस्था के अनुसार रेलें सरकारी कोष को प्रतिवर्ष अपनी पूंजी का एक निश्चित लाभांश दिया करेंगी। पहले पाँच वर्षों के लिए लाभांश कुल पूंजी का ४ प्रतिशत होगा तथा बाद में इस दर में लोक सभा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन कर सकेगी। इस प्रस्ताव में रिजर्व फण्ड का नाम बदल कर रेवेन्यू रिजर्व फण्ड कर दिया गया, एक विकास फण्ड की व्यवस्था की गई तथा मूल्य ह्रास कोष को बढ़ाने की व्यवस्था की गई। आगे चलकर यह तय किया गया कि अप्रैल १६५५ से आगामी ५ वर्ष के लिये भी ४ प्रतिशत लाभांश ही देंगी। परन्तु १६५५-५६ में लागू की गई संशोधित व्यवस्था के अधीन नई लाइनों को उनके निर्माण काल के बाद ५ वर्ष तक लाभांश में छूट दी गई है।

नई व्यवस्था पुरानी व्यवस्था से कई बातों में उत्तम है। इसमें पुरानी व्यवस्था की कठोरता और अनिवार्यता को दूर कर दिया गया है। पुरानी व्यवस्था में रेलों को हर हालत में सरकारी कोष की लगी हुई पूंजी पर एक प्रतिशत देना पड़ता था चाहे उनको लाभ हो या हानि। अब रेलें केवल लाभांश देने के लिए जिम्मेदार हैं। यदि किसी वर्ष उन्हें लाभ नहीं हो तो सरकारी कोष के प्रति उनका कोई दायित्व नहीं है और यदि वे एक वर्ष लाभ नहीं दे सकतीं तो अगामी वर्ष में उसे चुकता करने का भी दायित्व नहीं है। नई व्यवस्था के अंतर्गत लाभांश की दर में भी परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है। अब रेलों के अतिरिक्त लाभ में सरकार का कोई अधिकार नहीं रहा है। यह सारा रेवेन्यू रिजर्व फण्ड, विकास फण्ड और मूल्य ह्रास फण्ड में आवश्यकतानुसार बांट दिया जाता है जिससे रेलों के पुनर्स्थापन और विकास में सहायता मिलती है। पिछले कुछ वर्षों में रेलों की वित्तीय व्यवस्था संतोष-जनक रही है और सरकार को रेलों से अच्छी आमदनी प्राप्त हुई है तथा नई व्यवस्था के अधीन रेलें अपने प्रतिस्थापन और पुनर्स्थापन के कार्यों को बढ़ाने के साथ ही साथ देश की विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था की अच्छी सेवा करने में समर्थ रहीं हैं।

(ग) **कर्मचारियों का भारतीयकरण**—आजादी के पहले रेल व्यवस्था में योरोपीय लोगों का बोलबाला था। उच्चतम पदों पर कोई भारतीय नियुक्त नहीं किया जाता था। उच्चत्तर पदों पर भी बहुत कम भारतवासी थे। यहाँ तक कि निम्नतम श्रेणी के कर्मचारियों में भी योरोपीय लोग घुसे हुये थे। अकवर्थ समिति की जाँच से ज्ञात होता है कि उस समय रेलों के ७,१०,००० कर्मचारियों में से ७,००० यूरोपीयन थे। परन्तु १७४६ उच्च पदों में से केवल १८२ भारतीय थे। जिनमें केवल २४ जिला अधिकारी और १५८ सहायक जिला अधिकारी थे। जिला अधिकारी स्तर से ऊपर एक भी भारतीय नहीं था। अतएव अकवर्थ समिति के सुझाव पर सरकार ने भारतीयों को प्रशिक्षण देकर उच्च पदों पर नियुक्त करने की नीति अपनाई। फलस्वरूप १६२४-

२५ में भारतीयों का अनुपात उच्च पदों पर २३·७७% और निम्न पदों पर ६६·१६% से वढ़कर १९४६-४७ में क्रमशः ७०·५३% और ९२·९८% होगया।

(घ) द्वितीय महायुद्ध और रेलें—१९३९ में दूसरा महायुद्ध छिड़ने से रेलों पर माल और यात्रियों विशेषतः सैनिक सामान और सैनिकों के ढोने का भार वहुत वढ़ गया। अनेक उच्च कर्मचारियों की सेवाएँ युद्ध के लिए माँग ली गईं। मीलों लम्बी पटरियाँ, सलीपर, इन्जन और डिव्वे युद्ध के निमित्त विदेश भेज दिए गए। विदेशों से आने वाले रेलों के आवश्यक साज-सामान की पूर्ति घट गई और रेलों की शिल्पशालाओं (Workshops) में युद्ध सामग्री वनाई जाने लगी। देश में वड़ी लाइन के इन्जन वनाने का एक भी कारखाना नहीं था। फलस्वरूप कई गाड़ियाँ वन्द करदी गईं। जिससे रेलों में भीड़-भाड़ वहुत वढ़ गई। भू मापन (Survey) और निर्माण की जिन योजनाओं पर काम हो रहा था वन्द करदी गई। सरकार द्वारा कई मोटरों के ले लेने और पैट्रोल की कठिनाई से सड़क परिवहन कम हो गया और रेल-यातायात की माँग वढ़ गई। जापान के आक्रमण के वाद समुद्रतटीय व्यापार भी रेलों की ओर चला आया। वंगाल के भीषण अकाल के लिए अनाज ढोने से भी रेलों पर भार वढ़ा। फलस्वरूप कई यात्री-गाड़ियाँ वन्द करदी गईं और कारखानों के लिए कच्चा माल तथा कोयला पहुँचाने में कठिनाई होने लगी। इस प्रकार जनता को अपूर्व भीड़-भाड़ के कष्ट झेलने पड़े।

वित्तीय दृष्टि से रेलों की दशा सुधर गई। १९४०-४१ के रेल वजट में किराये-भाड़े वढ़ा दिये। फलस्वरूप रेलों का लाभ वढ़ा किन्तु इसका उपभोग पुराना ऋण चुकाने के लिए या युद्ध की प्रगति वढ़ाने के लिए सरकारी कोष में जाता रहा और रेलें अपने लिए कुछ भी व्यय करने में असमर्थ रहीं।

(ङ) देश विभाजन और रेलें—युद्ध काल में रेलों के नवकरण और प्रतिस्थापन (Renewals and Replacement) की वात तो दूर रही आवश्यक मरम्मत तक नहीं की जा सकती थी। युद्ध के समाप्त होने पर "डिव्वों को चलते रक्खो," "डिव्वे पूरे भरो," "पूरी गाड़ी लादो" आदि तरकीवों से तथा इंजनों-डिव्वों आदि का आयात और उत्पादन वढ़ाकर रेलों के पुनर्स्थापन के प्रयत्न आरम्भ किये गए। परन्तु अगस्त १९४७ में स्वतंत्रता के साथ देश-विभाजन के रूप में एक नया संकट उपस्थित हो गया। नार्थवेस्टर्न रेलवे के ६८८१$\frac{1}{2}$ मीलों में से ५०२६ मील, वंगाल आसाम रेलवे के ३५५५ मीलों में से १६१३ मील और जोधपुर हैदरावाद रेल का ३१९ मील भाग पाकिस्तान को चले गये। मुगलपुरा और सैयदपुर की शिल्पशालाओं के पाकिस्तान चले जाने से पूर्वी पंजाव रेलवे और आसाम रेलवे के पास कोई अपनी शिल्पशाला नहीं रही। विभाजन के फलस्वरूप भारत से जाने वाले अधिकांश कर्मचारी दक्षकर्मी थे और भारत को आने वाले वहुधा लिपिक् (Clerks) थे। फिर आने वालों की

संख्या जाने वालों की संख्या से ज्यादा होने से उनको खपाने में कई महीने लग गये। गृह-कलह और अशान्ति के कारण भी रेलों को क्षति उठानी पड़ी। व्यापार की दिशा में परिवर्तन होने से भी रेलों पर भार पड़ा और रेलों के इंजन-डिब्बों आदि की स्थिति बहुत बिगड़ गई।

(च) कुंजरू समिति (१९४७)—युद्ध के दिनों में तथा युद्ध के बाद भी रहन-सहन का खर्च बढ़ जाने से रेलवे कर्मचारी संघ ने अधिक वेतन व मँहगाई भत्ता, काम के घंटों में कमी तथा छुट्टियों आदि की माँग की। वे केन्द्रीय वेतन आयोग (Central Pay Commission) और एडज्युडिकेटर के निर्णयों से सन्तुष्ट नहीं हुये। अतएव उनकी माँगों पर विचार करने के लिए नवम्बर १९४६ में श्री के. सी. नियोगी की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई। परन्तु विभाजन के कारण इसका काम अधूरा ही रह गया। विभाजन के बाद श्री हृदयनाथ कुंजरू की अध्यक्षता में इस समिति का पुनर्गठन किया गया। कुंजरू समिति की रिपोर्ट १९४९ में प्रकाशित हुई। समिति ने रेलवे कर्मचारियों की दक्षता बढ़ाने और अकर्मण्यता कम करने के लिए कई सुझाव दिये जिनको सरकार ने मान लिया। परन्तु सरकार ने रेलों के पुनर्वर्गीकरण को पांच वर्षों के लिए स्थगित रखने और ग्रेन शोप संगठन को समाप्त करने के समिति के प्रस्तावों को नहीं माना।

(५) योजना-काल (१९५० से ५९)

(क) रेलों का पुनर्वर्गीकरण (Regrouping of Railways)—योजना काल में भारत की रेल व्यवस्था में जो सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है वह रेलों का पुनर्वर्गीकरण है। सरकार द्वारा रेलों को अपने हाथ में लेने से पहले रेलों के स्वामित्व और प्रवन्ध का एक पेचीदा तरीका था। कुछ रेलें सरकारी सम्पत्ति थीं और सरकार के प्रवन्ध में थीं, कुछ सरकारी सम्पत्ति थीं परन्तु कम्पनियों के प्रवन्ध में थीं और कुछ निजी सम्पति और प्रवन्ध में थीं। इनमें कुछ इतनी छोटी थीं कि उनका लाभप्रद होना असंभव था। इनकी कार्य विधि और रीति-नीति भी अलग-अलग थी। इनकी आपसी प्रतियोगिता और द्वेष-भाव के कारण जनता को अच्छी सेवा नहीं मिलती थी। छोटी बड़ी अनेक इकाइयों के होने से न इनके प्रवन्ध में कुशलता थी और न किफायत ही।

२० वी शताब्दी के प्रारम्भ ही से इनके पुनर्वर्गीकरण की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। अकंवर्थ समिति (१९२०) ने देश भर की रेलों को तीन वर्गों में बाँटने की राय दी। इंच केप समिति (१९२२-२३) और वैजवुड समिति (१९३७) ने भी इसका समर्थन किया। परन्तु कुंजरू समिति (१९४७) ने इस प्रश्न को पाँच वर्षों के लिए स्थगित करने की राय दी क्योंकि (१) देशी राज्यों और उनकी रेलों के भारत में मिलने तक इस ओर कोई कदम उठाना ठीक नहीं था और (२) विभाजन की प्रतिकूल

परिस्थितियों मे महत्वपूर्ण परिवर्तन के अनुकूल अवसर नहीं था। परन्तु सरकार ने कुंजरू समिति की यह बात नही मानी और रेलों की केन्द्रीय सलाहकार समिति की राय से १९५० में ३३,५८२ मील लम्बी रेलों को ६ क्षेत्रों में बाँट दिया गया। तब से कुछ परिवर्तन करके दो क्षेत्र और बढ़ा दिये गये हैं और मौजूदा आठ क्षेत्रों का ब्यौरा इस प्रकार है।[1]

क्षेत्र	आरम्भ तिथि	मुख्य कार्यालय	लम्बाई
दक्षिणी	१४ अप्रैल ५१	मद्रास	६,१५९·३६ मील
केन्द्रीय	५ नवम्बर ५१	बम्बई	३,५३०·५२ ,,
पश्चिमी	५ नवम्बर ५१	बम्बई	६,०५७·६१ ,,
उत्तरी	१४ अप्रैल ५२	दिल्ली	६,३६८·४० ,,
उत्तरी-पूर्वी	१४ अप्रैल ५२,	गोरखपुर	३,०६३·५३ ,,
उ० पू० सीमान्त	१५ जनवरी ५८	पाण्डु	१,७८८·०० ,,
पूर्वी	१ अगस्त ५५	कलकत्ता	२,३२४·६८ ,,
दक्षिणी पूर्वी	१ अगस्त ५५	कलकत्ता	३,४१९·४८ ,,

पुनर्वर्गीकरण के लाभ—(१) रेलों की छोटी छोटी इकाइयाँ होने से जनता को जो कठिनाइयाँ और क्लेश होते थे वे धीरे-धीरे दूर होते जा रहे हैं और एकरूपता तथा सामंजस्य स्थापित होने से रेलें जनता की अच्छी सेवा कर रही हैं।

(२) पुनर्गठन का मुख्य उद्देश्य मितव्ययता होता है। मितव्ययता के मुख्य क्षेत्र निम्नांकित हैं :—

(क) प्रबन्ध, प्रशासन का खर्चा:— छोटी-छोटी अलग-अलग इकाइयों की जगह बड़ी इकाइयों के बन जाने से जनरल मैनेजर, लेखापाल आदि उच्च कर्मचारियों की संख्या घटने से किफायत हो जाती है।

(ख) क्रय-विक्रय में किफायत—बड़ी इकाइयों को इंजन-डिब्बे, लोहा-लकड़ी, तेल-कोयला व कपड़े आदि बड़ी मात्रा में खरीदने पड़ते हैं इसलिए थोक के भाव पर सस्ते मिल जाते हैं। कटौती (Discount) भी ज्यादा मिलता है और माल के लाने का किराया भाड़ा भी कम देना पड़ता है।

जिस प्रकार माल खरीदने में किफायत होती है उसी प्रकार माल या सेवाएँ बेचने में भी बचत होती है। छोटी छोटी इकाइयों के मिल जाने से प्रतियोगियों की संख्या कम हो जाती है और विज्ञापन का खर्चा कम होता है। टिकट-घरों और कर्मचारियों का खर्चा भी घट जाता है।

(ग) साज-समान का सर्वोत्तम उपयोग—रेलों के मिल जाने से इंजन-डिब्बों की

(1) India 1959, p. 357.

कम संख्या से काम चल जाता है। दुहरी गाड़ियाँ नहीं चलतीं, कम लाभदायक मार्ग बन्द कर दिये जाते हैं और माल लादने-उतारने का खर्चा भी कम हो जाता है।

पुनर्वर्गीकरण के दोष—(१) **संचालन-व्यय में वृद्धि**—पुनर्वर्गीकरण से जहाँ मितव्ययता की आशा थी वहाँ "सरकारी रेलों के गत वर्षों के आय-व्यय पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि उनके संचालन-व्यय में प्रतिवर्ष वृद्धि होती जा रही है।... कुल संचालन व्यय के स्थान पर प्रति गाड़ी मील (Train Mile) व्यय लेकर चलें तो भी स्थिति भिन्न नहीं है ....यह व्यय वृद्धि हमारी रेलों की गिरती हुई स्थिति की सूचक है।"[1]

रेलों के संचालन-अनुपात (Operating ratio) का बढ़ना भी रेलों की गिरती हुई आर्थिक दशा का सूचक है। विभाजन के बाद के पहले तीन वर्षों में संचालन अनुपात १९४७-४८ में ९०·७९% से घटकर १९५०-५१ में ७८·१०% रह गया था। परन्तु पुनर्वर्गीकरण के बाद यह फिर बढ़ गया है। १९५८-५९ में यह अनुपात ८२·७२% था जो गत वर्ष से १·३१% अधिक था।

(२) **दुर्घटनाओं की भरमार**—बार बार होने वाली दुर्घटनाएँ भी यही सिद्ध करती हैं कि पुनर्वर्गीकरण के बाद भारतीय रेलों की प्रवन्ध-व्यवस्था में उन्नति की जगह ह्रास हुआ है। विशेषतः पुनर्वर्गीकरण के पश्चात कर्मचारियों की असावधानी के कारण होने वाली दुर्घटनाएँ बहुत बढ़ गई हैं।

(३) **दक्षता में कमी**—डा० हृदयनाथ कुंजरू ने, जो रेलों के प्रबन्ध व प्रशासन के अच्छे ज्ञाता माने जाते हैं संसद में बार बार कहा है कि पुनर्वर्गीकरण से पूर्व रेलें जो अपनी दक्षता के लिए प्रसिद्ध थी उनकी दक्षता घट गई है। इसका कारण यह नहीं है कि हमारे रेल-कर्मचारी आलसी व लापरवाह हो गये हैं बल्कि यह है कि "हमने अपनी रेलों की इतनी बड़ी बड़ी इकाइयाँ बनादी हैं जिनका प्रबन्ध सफलतापूर्वक करने में हम असमर्थ हैं।"[2]

(४) **किराए-भाड़े में वृद्धि**—छोटी-छोटी रेलों के मिलने से यह आशा की जाती है कि किराए-भाड़े में कमी हो जायगी और वे पहले से अच्छी सेवा करने लगेंगी। परन्तु भारतीय रेलों के पुनर्वर्गीकरण से किराए-भाड़े घटाने की जगह बढ़ा दिये गये हैं।

पुनर्वर्गीकरण के पश्चात रेलों की गिरती हुई स्थिति को देखते हुये जानकार लोगों ने माँग की है कि पुनर्वर्गीकरण की योजना पर पुनर्विचार करने के लिए एक विशेषज्ञों की समिति बनाई जानी चाहिये जो इसे वैज्ञानिक रूप देने का सुझाव दे और जिससे देश की विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था की अच्छी सेवा करने और हमारी पंचवर्षीय योजनाओं को सफल बनाने में महत्वपूर्ण सहायता कर सके।[3]

---

1. डा० चौहान : आधुनिक परिवहन, पृ० २०७-२०८।
2. डा० चौहान : आधुनिक परिवहन, पृ० २१०।
3. डा० चौहान : आधुनिक परिवहन, पृ० २११।

(ख) वर्तमान स्थिति—भारत की रेल-व्यवस्था एशिया में सबसे बड़ी और संसार में चौथी सबसे बड़ी है।

१६ अप्रैल १९५३ को भारत में रेलों को सौ वर्ष पूरे हुए थे और दिल्ली में रेल शताब्दी प्रदर्शनी की गई। इन सौ वर्षों में रेलों ने बड़ी उन्नति की है। १८५३ में देश में कुल २० मील लम्बी रेल की पटरियाँ थीं, रेलों में ३८ लाख रुपये की पूँजी लगी हुई थी, कुल आय ०·९० लाख रुपए, काम करने का व्यय ०·४१ लाख रुपए और विशुद्ध आय ०·४९ लाख रुपए थी। १०६ वर्ष बाद १९५८-५९ में पटरियों की लम्बाई ३५,०८१ मील और कुल लगी हुई पूँजी १६२१·२० करोड़ रु० थी, जिसमें ३४,६३६ मील लम्बाई और १६१४·८९ करोड़ रु० सरकारी रेलों का भाग था।

भारतीय रेलें देश का सबसे बड़ा राष्ट्रीयकृत (सरकारी) उद्योग है। ३१ मार्च १९५९ को रेल कर्मचारियों की कुल संख्या ११,४३,९१८ थी और १९५८-५९ में १८३·०५ करोड़ रु० सरकारी रेलों के कर्मचारियों में वेतन-भत्ते आदि के रूप में बांटे गये। इस वर्ष रेलों ने २५४ करोड़ रु० का माल खरीदा जिसमें १६७·९३ करोड़ रु०
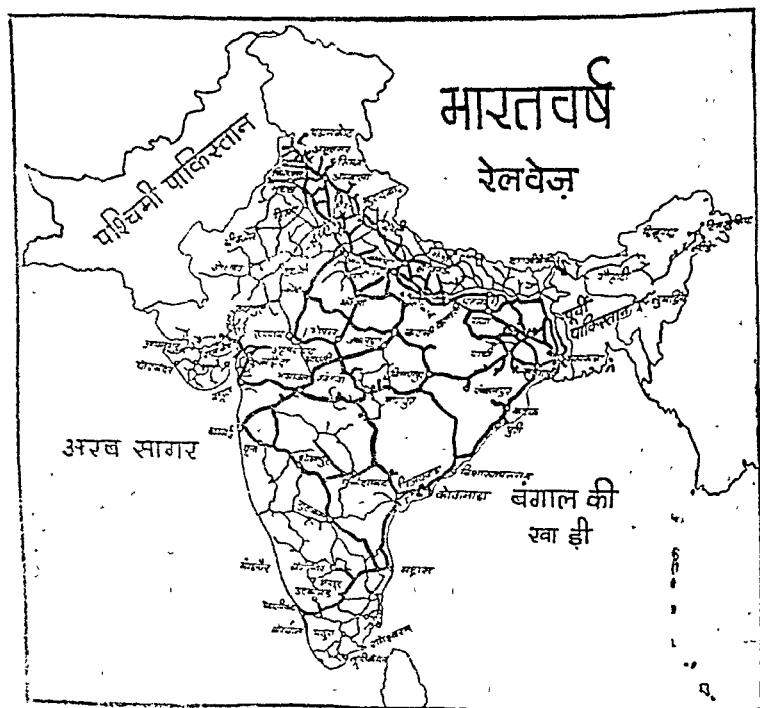
चित्र-संख्या—१७ भारतीय रेलें

का स्वदेशी माल था। इसी वर्ष ६७ लाख रु० की खादी और २·१५ करोड़ रु० का कुटीर तथा छोटे पैमाने के उद्योगों का बना हुआ माल खरीदा गया।

रेलें भारत में परिवहन का मुख्य साधन है। भारत में माल के यातायात का ८०% और यात्रियों के ७०% रेल-मार्ग द्वारा होता है। १९५८-५९ में भारतीय रेलों में १४४ करोड़ यात्रियों ने यात्रा की और १३·६ करोड़ टन माल ढोया गया।

३१ मार्च १९५९ को सरकारी रेलों में कुल मिलाकर १६१४·८९ करोड़ रु० की पूँजी लगी हुई थी, जिसमें सरकारी रेलों की कुल आमदनी ३९०·२१ करोड़ रु०, काम करने का व्यय २७६·३३ करोड़ रु० और विशुद्ध आय ५९·३२ करोड़ रु० हुई। जिसमें से ५०·३९ करोड़ रु० १९५५ के संशोधित सूत्र के अनुसार सरकार को दिये गये। संचालन अनुपात (Operating Ratio) ८२·७२% रहा जो गत वर्ष से १·३१% अधिक था।

पुनर्स्थापन और नवीनीकरण—पिछले वर्षों में रेलों की सबसे बड़ी समस्या पुनर्स्थापन और नवीनीकरण की रही है। इसका आरम्भ १९३० में संसार-व्यापी मंदी के दिनों में हुआ था और द्वितीय महायुद्ध तथा देश विभाजन के परिणामस्वरूप यह समस्या और भी भीषण हो गई। उन दिनों में हमारे इन्जनों और डिब्बों को अत्यधिक कार्य करना पड़ा था। वे पुराने पड़ गये और उनका नवीनीकरण नहीं हो सका। फलस्वरूप रेलों को बड़ी देर होने लगी और इनकी दक्षता बहुत घट गई। सरकार ने बड़ी मात्रा में इन्जन और डिब्बे विदेशों से मँगवाए और साथ ही देश में भी इनका उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न किया। फलस्वरूप १९४८ से ही रेलों की दशा निरंतर सुधर रही है। हम भाप के इन्जनों, पटरियों तथा माल और सवारी के डिब्बों में आत्म-निर्भर हो गए हैं। अतएव इनका आयात बन्द कर दिया गया है।

शक्ति के साधन—भारतीय रेलों के लिए शक्ति का मुख्य साधन कोयला है। यद्यपि बिजली से रेल चलाने का काम भारत में १९२५ में आरम्भ किया गया था, तथापि ३१ मार्च, १९५८ तक केवल ३०६·२४ मील रेल मार्ग पर बिजली से रेलें चलती थीं। दूसरी योजना में १४४२ मील रेल मार्गों में बिजली से और १२९३ मील रेल मार्ग पर डिजल से रेलें चलाने की व्यवस्था की गई है।

किरायों और भाड़ों का वैज्ञानीकरण—अंग्रेजों के शासन काल में रेल भाड़ों की दरें ऐसी निर्धारित की जाती थीं कि भारत से कच्चे माल के निर्यात और विदेशों से तैयार माल के आयात को प्रोत्साहन मिलता था। भारत सरकार ने १९४८ में रेलों के किरायों और भाड़ों का वैज्ञानिकन (Rationalisation) किया। कीमतों और रेलों के नवीनीकरण और चलन की लागत बढ़ जाने से १ अप्रैल १९५१ से किरायों में वृद्धि की गई। १ अप्रैल १९५५ से अधिक दूरी के लिए कम दरों का सिद्धान्त अपनाया गया और इसी प्रकार माल के भाड़ों का सुधार किया गया। फलस्वरूप अब माल कम

३% प्रति वर्ष की दर से ६५% बढ़ने का अनुमान है। तीसरी योजना की अवधि में रेलों पर कुल १२२० करोड़ रु० का व्यय प्रस्तावित किया गया है। बढ़े हुये यातायात और प्रतिस्थापन की आवश्यकताओं को देखते हुये इंजन डिब्बों का निम्नांकित कार्य-क्रम प्रस्तावित किया गया है—

	इंजन	सवारी के डिब्बे	माल के डिब्बे
अभिवृद्धि	१०३१	४९८३	६३१९९
प्रतिस्थापन	६४१	२८५४	२६६९७
योग	१६७२	७८३७	१०९८९६

रेलों के विकास कार्यक्रम में लाइनों की क्षमता बढ़ाने के लिए दुहरी लाइनें बिछाने, लाइनों का प्रतिस्थापन करने, स्टेशनों-यार्डों व पुलों को सुधारने के अतिरिक्त १२०० नई लाइनें बिछाने और कर्मचारियों के लिए ५४००० निवास स्थान बनाने के कार्य शामिल हैं। रेलों को इंजनों-डिब्बों आदि के मामले में आत्म-निर्भर बनाने का ध्येय भी सामने रखा गया है।[1]

परीक्षा के प्रश्न

University of Rajasthan, B. A.

(1) Discuss the merits of the recent regrouping of Indian railways. What measures would you recommend to further improve the efficiency of railways in India? (1954)

(2) Briefly and critically discuss the development and progress of railways in India. (1957)

(3) Examine the economic effects of the development and grouping of railways in our country. (1960 Supp.)

Agra University, B. A. & B. Sc.

(1) Examine the economic effects of the regrouping of railways in India. What measures would you recommend to further improve their efficiency? (1958)

Vikram University, B. A.

(1) "Railways have been described as nation's life-lines". Discuss the principal effects of railway construction on the economic life of India.

सन्दर्भ ग्रन्थ

(1) डॉ० शिवध्यानसिंह चौहान : आधुनिक परिवहन (1957), (लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा)

(2) Annual Reports of the Ministry of Railways Govt. of India.

---

1. Third Five Year Plan : A Draft Outline, pp. 243-46.

तेतीसवाँ अध्याय

सड़कें

इतिहास—किसी भी देश की सड़कों की स्थिति देखकर वहाँ के आर्थिक व सामाजिक विकास का अनुमान लगाया जा सकता है। भारत में प्राचीन काल से ही सड़कों की उत्तम व्यवस्था करना शासक का प्रधान कार्य माना जाता था। सिंध में मोहनजोदड़ो व पंजाब में हड़प्पा की खुदाई से पता चला है कि ईसा से ३,५०० व २,४०० वर्ष पूर्व इन शहरों में चौड़ी सड़कें थीं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से मौर्य काल की सड़क-व्यवस्था का पता लगता है जो उत्तम श्रेणी की थी। सम्राट अशोक ने भी सड़कों के निर्माण पर ध्यान दिया। उसके बाद शताब्दियों तक सड़कों की धीमी गति से प्रगति होती रही।

मुस्लिम काल में मोहम्मद तुगलक ने दिल्ली से दौलताबाद तक ट्रन्क सड़क (Trunk Road) बनवाई। शेरशाह, अकबर व औरंगजेब ने भी सड़कों के निर्माण पर ध्यान दिया। पहले सड़कों पर राजनीतिक सुरक्षा की दृष्टि से ध्यान दिया जाता था लेकिन व्यापारिक उद्योग के लिए सड़कों की समुचित व्यवस्था करने का महत्व नहीं था।

१९ वीं शताब्दी के मध्य तक भारतवर्ष में सड़कों की बहुत कमी थी। जो सड़कें थीं भी उनकी दशा बहुत बिगड़ी हुई थी। यात्रा में पिंडारियों और ठगों का बड़ा भय रहता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने, जो मुख्यतः एक व्यापारिक संस्था थी, सड़कों की उपेक्षा की। लार्ड विलियम बेन्टिक (William Bentick) ने ग्रान्ड ट्रन्क सड़क (Grand Trunk Road) का पुनः निर्माण कराया। लार्ड डलहौजी (Dalhousie) ने सन् १८५५ ई० में केन्द्र और प्रान्तों में सार्वजनिक निर्माण विभागों (P. W. D.) की स्थापना की। रेलों के निर्माण और विकास के पश्चात् अनेक सहायक सड़कें (Feeder Roads) बनाई गईं। किन्तु प्रधान सड़कों (Trunk-Roads) की अब भी उपेक्षा होती रही, क्योंकि सरकार रेलों की सफलता के विषय में अधिक चिन्तित थी और ऐसी सड़कें रेलों की प्रतियोगी होती हैं। तत्पश्चात् लार्ड मेओ (Mayo) और लार्ड रिपन (Rippon) की प्रगतिशील स्थानीय-स्वराज्य नीति के अन्तर्गत सड़कों के निर्माण को प्रोत्साहन मिला। इस शताब्दी में मोटरों के आविष्कार और विस्तार से सड़क निर्माण और सड़क यातायात के नियन्त्रण की नई समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। मोटरों के लिए अधिक और अच्छी सड़कों की आवश्यकता हुई और सड़कों की घिसावट भी बढ़ गई। १९२७ की सड़क विकास समिति की सिफारिशों के

अनुसार पैंट्रोल पर कर बढ़ाकर सड़कों के विकास की व्यवस्था की गई। परन्तु जब तक सड़कें एक प्रान्तीय विषय बनी रहीं बड़े पैमाने पर सड़क विकास का कार्यक्रम नहीं अपनाया जा सका। १९४३ में नागपुर में एक बड़ा सम्मेलन हुआ और सड़क विकास की एक महत्वाकांक्षी योजना स्वीकार की गई। नागपुर सम्मेलन ने सुझाव दिया कि राष्ट्रीय राजमार्गों का पूरा वित्तीय उत्तरायित्व केन्द्रीय सरकार को लेना चाहिये। तदनुसार केन्द्रीय सरकार ने १ अप्रैल १९४७ से राष्ट्रीय राजमार्गों के निर्माण और सुधार का भार सँभाला। नये संविधान में भी राष्ट्रीय राजमार्गों को संघीय विषय माना गया है।
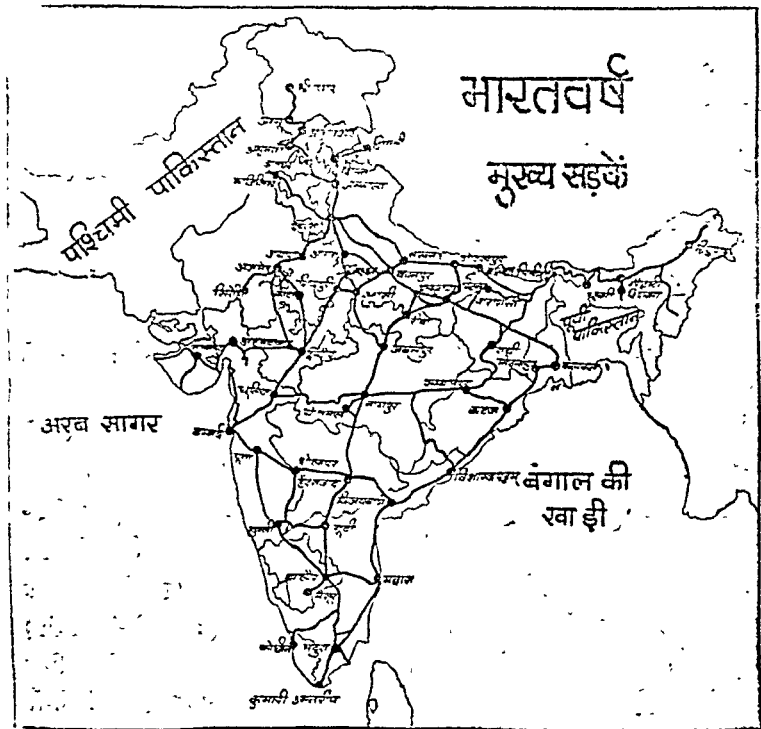
चित्र-संख्या—१८ भारतवर्ष की मुख्य सड़कें

नागपुर योजना में १,२३,००० मील पक्की सड़कें (Surfaced Roads) और २,०८,००० मील कच्ची सड़कें १० वर्ष में बनाने का लक्ष्य रखा गया था। इन पर ६७३ करोड़ रु० व्यय होने का अनुमान था। नागपुर योजना में सड़कों को चार भागों में बाँटा गया, राष्ट्रीय राजमार्ग, प्रान्तीय सड़कें, जिला सड़कें व ग्राम सड़कें। इस योजना का विस्तृत विवरण आगे दिया गया है। यहाँ पर इतना कहना ही पर्याप्त

होगा कि भारत की प्रथम व द्वितीय पंच-वर्षीय योजनाओं में सड़कों के विकास के कार्यक्रम नागपुर योजना से बहुत प्रभावित हुए हैं। नागपुर योजना को कार्यान्वित करने के लिए राज्य सरकारों ने अप्रैल, १९४७ से लागू होने वाला १२० करोड़ रु० का सड़क बनाने का कार्यक्रम स्वीकार किया। यह पाँच साल तक के लिए था। मार्च, १९५२ में जब यह कार्यक्रम समाप्त हुआ तो केवल ५० करोड़ रु० ही व्यय किये जा सके थे। अतः नागपुर योजना १९४७-५२ की अवधि में विशेष प्रगति नहीं कर सकी।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में सड़कों का विकास—प्रथम योजना की अवधि में सड़कों के विकास पर १४५ करोड़ रु० व्यय किये गये। विकास की स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट होती है—[1]

	पक्की सड़कों की लम्बाई (मील)	कच्ची सड़कों की लम्बाई (मील)
१ अप्रैल, १९५१	९८,०००	१,५१,०००
३१ मार्च, १९५६	१,२२,०००	१,९८,०००
नागपुर योजना के लक्ष्य	१,२३,०००	२,०८,०००

इस प्रकार प्रथम योजना में पक्की सड़कों की लंबाई २४,००० मील और कच्ची सड़कों की लंबाई ४७,००० मील बढ़ी। फिर भी नागपुर योजना के विकास के लक्ष्य प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त तक भी प्राप्त नहीं हो सके। पक्की सड़कों की लंबाई १,००० मील कम रह गई और कच्ची सड़कों की लंबाई १०,००० मील कम रह गई। अतः द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में सड़कों का विकास करने पर पुनः बल दिया गया।

द्वितीय योजना व सड़कें—द्वितीय योजना में सड़कों के विकास पर २५० करोड़ रु० व्यय होंगे। स्थानीय सड़क निर्माण कार्यों पर होने वाला व्यय इसमें शामिल नहीं है। १९६०-६१ तक पक्की सड़कों की लंबाई १,४४,००० मील और कच्ची सड़कों की लंबाई २,५०,००० मील हो जाने का अनुमान है। इस प्रकार पक्की सड़कों की लंबाई १९४०-४१ में ९८,००० मील से बढ़कर १९६०-६१ में १,४४,००० मील हो जायगी। १० वर्ष में यह वृद्धि लगभग ५० प्रतिशत हो जायगी। इससे स्पष्ट होता है कि द्वितीय योजना के अन्त तक नागपुर योजना के लक्ष्यों से भी अधिक सड़कों की लंबाई हो जायगी।

तृतीय योजना व सड़कें—केन्द्रीय व राज्य सरकारों के मुख्य इन्जीनियरों ने हाल ही में १९६१-८१ तक के २० वर्षों के लिए एक सड़क-विकास योजना तैयार की है।

1. India 1960, P. 360, Table 228.

इसका विस्तृत विवरण आगे दिया गया है। २० वर्षों के अन्त में अर्थात् १९८१ तक २,५२,००० मील पक्की सड़कों व ४,०५,००० मील कच्ची सड़कों के लक्ष्य प्राप्त करने की आशा है।[1] तृतीय पंच-वर्षीय योजना में सड़कों के विकास का कार्य-क्रम उपर्युक्त २० वर्षीय योजना को ध्यान में रखकर निर्धारित किया जायगा। द्वितीय योजना में अर्द्ध-विकसित क्षेत्रों में सड़कों के विकास पर विशेष बल दिया गया था। तृतीय योजना में भी अर्द्ध-विकसित व पहाड़ी क्षेत्रों में सड़कों के निर्माण पर अधिक ध्यान दिया जायगा। जिला बोर्ड, म्यूनिसिपल अधिकारी, सामुदायिक विकास व स्थानीय-वर्क्स-प्रोग्राम के अन्तर्गत सड़कों के निर्माण पर ध्यान दिया जा रहा है। तृतीय योजना में भी सड़कों पर २५० करोड़ रु० व्यय होने का अनुमान है। इस राशि में राज्यों की योजनाओं का अन्तिम स्वरूप निर्धारित होने पर आवश्यक परिवर्तन किया जा सकेगा। आशा है २५० करोड़ रुपए व्यय करने पर २०,००० मील लम्बी पक्की सड़कें तृतीय पंच-वर्षीय योजना में बन सकेंगी।[2]

विभिन्न प्रकार की सड़कों की स्थिति का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

(१) राष्ट्रीय राजमार्ग (National Highways)—जब १ अप्रैल, १९४७ को केन्द्रीय सरकार ने राष्ट्रीय राजमार्गों के विकास का कार्य-भार सम्भाला तब लगभग १,६०० लंबी मील सड़कें व हजारों नाले व पुल (१५० बड़े पुल) नहीं थे और ९,००० मील में सड़कों की सतह बहुत घटिया थी। उस समय से लेकर अब तक निम्न प्रगति हो सकी है :—

राष्ट्रीय राजमार्गों की प्रगति[3]

	गायब कड़ियों का निर्माण (मीलों में)	बड़े पुलों का निर्माण	चालू सड़कों का सुधार (मीलों में)	रास्तों को चौड़ा करना (मीलों में)
१ अप्रैल, १९४७ से ३१ मार्च १९५६ तक	७४६	३३	५,०००	४००
१ अप्रैल, १९५६ से ३१ दिसम्बर १९५९ तक	५२०	३१	२,६००	७७५
द्वितीय योजना की अवधि में	७००	४०	३,५००	८००

राष्ट्रीय राजमार्गों में जवाहर (बनिहाल) सुरंग (Tunnel) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पीर पंजाल श्रेणी के आर-पार ७,२५० फुट की ऊँचाई पर जम्मू-

1. Third Five Year Plan : A Draft Outline, P.247.
2. Third Five Year Plan : A Draft Outline, P. 248.
3. India 1960, P. 360.

श्रीनगर-उरी राष्ट्रीय राजमार्ग पर इसका निर्माण हो रहा है। विश्व की सबसे लम्बी सुरंगों में इसका स्थान होगा। इसके पूर्ण हो जाने पर कश्मीर की घाटी व शेष भारत में आवागमन की सुविधा हो जायगी।

अन्य सड़कें[1]—भारत सरकार राज्यों में कुछ सड़कों के विकास के लिए वित्तीय सुविधा देती है। आसाम में पासी-बदरपुर सड़क, बम्बई, मैसूर व केरल में 'पश्चिमी किनारे की सड़क' आदि इसके अन्तर्गत आती हैं। दिसम्बर, १९५९ तक द्वितीय योजना की अवधि में २८० मील लम्बी सड़कें बनाई गईं या सुधारी गईं।

मई, १९५४ के एक विशेष कार्यक्रम के द्वारा प्रथम योजना की अवधि में अन्तर्राज्यीय महत्त्व की १२५ मील लम्बी नई सड़कें बनाई गईं और ५०० मील चालू सड़कों को सुधारा गया। द्वितीय योजना में इसी श्रेणी की १०,०० मील नई सड़कें और २,००० मील पुरानी सड़कों का सुधार करने की आशा है।

राज्यों के क्षेत्र की सड़कें—द्वितीय योजना में इस श्रेणी में २१,००० मील पक्की सड़कें व ३७,००० मील कच्ची कड़कें बनायी जाएँगी।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि भारत में १९६०-६१ में १,४४,००० मील पक्की सड़कें व २,५०,००० मील कच्ची सड़कें हो जाने पर भी देश की जन-संख्या व क्षेत्र को देखते हुए सड़कों का अभाव ही रहेगा। सड़क परिवहन पुनर्संगठन समिति रिपोर्ट, १९५९ के अनुसार सड़कों की लम्बाई प्रतिवर्ग मील अमेरिका में १ मील, फ्रान्स में ३·०३ मील, संयुक्त राज्य में ३·२४ मील व भारत में ·२५ मील है। १९६१ में लागू की जाने वाली २०वर्षीय योजना के पूरा हो जाने पर १९८१ में भारत में सड़कों की लम्बाई प्रतिवर्ग मील ·५२ मील हो जाने की आशा है अर्थात् प्रति १०० वर्ग मील पर ५२ मील तक सड़कों का विस्तार हो जायगा।

भारत में सड़कों का महत्त्व व आवश्यकता—भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में सड़कों का विशेष महत्त्व है। सड़कों की आवश्यकता निम्न लाभों से स्पष्ट हो जायगी :—

(१) सड़कों के विकास से ही विस्तृत कृषि (Extensive Cultivation) सम्भव हो सकेगी। परती व बेकार पड़ी हुई भूमि पर कृषि प्रारम्भ करने के लिए सड़कों से सहायता मिलेगी। गहरी खेती (Intensive Cultivation) के लिए भी उत्तम खाद, बीज, औजार आदि की सुव्यवस्था सड़कों के विकास से ही सम्भव होगी। कृषक को कुशल व्यापारी बनाने के लिए सड़कों का निर्माण आवश्यक है ताकि वह अपना माल मण्डियों में ले जाकर उचित मूल्यों पर बेच सके। इस प्रकार सड़कों के विकास से कृषक एक कुशल उत्पादक व एक निपुण व्यापारी बन सकेगा।

(२) सड़कों के विकास से गांवों में शिक्षा, चिकित्सा आदि सामाजिक सेवाओं का

1, *India 1960, P. 361.*

इनमें से १,२३,००० मील लंबी पक्की सड़कें व २,०८,००० मील लंबी कच्ची सड़कें होंगी। नागपुर योजना के अनुसार पक्की सड़कें ८८,००० मील से बढ़कर १,२३,००० मील और कच्ची सड़कें १,३२,००० मील से २,०८,००० मील करने का लक्ष्य बनाया गया।

नागपुर योजना में राष्ट्रीय राजमार्गों का काम केन्द्रीय सरकार को सौंपा गया। इस योजना में सड़क इन्जीनियरों की संख्या बढ़ाने व टैक्नीकल प्रशिक्षण की सुविधा बढ़ाने पर बल दिया गया। योजना में निम्न प्राथमिकताएँ रखी गई :—

(१) गायब लाइनों व चालू सड़कों से सम्बन्धित पुलों का निर्माण;
(२) कमजोर पुलों का पुर्ननिर्माण;
(३) सड़कों को चौड़ा करना;
(४) जिला व ग्राम सड़कों का विकास करना।

भारत सरकार व राज्य सरकारों ने नागपुर योजना की सिफारिशों को स्वीकृति प्रदान की लेकिन योजना को कार्यान्वित करने के लिए अवधि निश्चित करने पर समझौता नहीं हुआ। फिर भी अप्रैल, १९४७ से प्रारंभ करके ५ वर्षों के लिए कुछ राज्यों ने १२० करोड़ रु० व्यय करके सड़कों के निर्माण व सुधार के लक्ष्य निर्धारित किये। १९४७-५२ के वर्षों की प्रगति धीमी रही। मार्च, १९५२-तक कुल ५० करोड़ रु० ही खर्च किए जा सके।

उपर कहा जा चुका है कि भारत की प्रथम व द्वितीय पंच-वर्षीय योजनाओं में सड़क निर्माण के लक्ष्य नागपुर योजना से काफी प्रभावित हुए। द्वितीय योजना के अन्त तक नागपुर योजना के लक्ष्यों से भी अधिक सफलता मिल सकेगी।

(२) **नई २० वर्षीय योजना (New Twenty-year plan)**— हाल ही में केन्द्रीय व राज्य सरकारों के मुख्य इन्जीनियरों ने २० वर्षीय सड़क-निर्माण-योजना तैयार की है। इसकी अवधि १९६१-८१ तक होगी। इसके निम्न लक्ष्य रखे गए हैं:— **(क) एक विकसित व कृषि क्षेत्र का गाँव, पक्की सड़क से ४ मील व अन्य सड़क से १½ मील की दूरी में आ जाए, (ख) अर्धविकसित क्षेत्र का गाँव पक्की सड़क से ८ मील व अन्य सड़क से ३ मील की दूरी में आ जाय, (ग) अविकसित व गैर-कृषि क्षेत्र का गाँव पक्की सड़क से १२ मील व अन्य सड़क से ५ मील की दूरी में आ जाय। इन लक्ष्यों को प्राप्त कर लेने पर प्रति १०० वर्ग मील के पीछे भारत में '५२ मील सड़कें हो जायेंगी जब कि आज '२८ मील ही हैं।**[1] इस योजना के अन्त तक २,५२,००० मील पक्की सड़कें व ४,०५००० मील कच्ची सड़कें बनाने का लक्ष्य रखा गया है।

नई २० वर्षीय योजना में जिला व ग्राम सड़कों के विकास पर विशेष बल दिया

1. India 1960, P. 361, also Third Five-Year Plan : A Draft Outline P. 247.

गया है। पुलों के निर्माण, सड़कों को चौड़ी करने व सुधारने पर भी ध्यान दिया गया है। तृतीय पंच-वर्षीय योजना में सड़कों के विकास के कार्यक्रम उपर्युक्त बीस-वर्षीय योजना से ही प्रभावित होंगे।

रेल सड़क समन्वय (Rail-Road Co-ordination)

परिवहन के विभिन्न साधनों में प्रतियोगिता पाई जाती है। उनमें आपसी मेल व समन्वय स्थापित करने से ही सर्वसाधारण को सस्ती व कुशल परिवहन सेवा प्राप्त हो सकती है। भारत में रेल-सड़क प्रतियोगिता (Rail-Road Competition) का प्रश्न पिछले लगभग ३५ वर्षों की ही उपज है। इस प्रतियोगिता की प्रकृति व सीमा का विवरण देने के बाद 'समन्वय' अथवा ताल-मेल स्थापित करने के तरीकों की चर्चा की जायगी।

भारत में रेल-सड़क प्रतियोगिता—रेल सड़क प्रतियोगिता की समस्या १९२५ के बाद ही उत्पन्न हुई है। रेलवे बोर्ड ने १९२५-२६ की रिपोर्ट में इसका जिक्र नहीं किया था। लेकिन १९२६-२७ की रिपोर्ट में इस प्रतियोगिता का वर्णन दिया गया है। बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे को बम्बई में प्रथम व द्वितीय श्रेणी के यात्रियों के लिए बस की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। ई०आई० और ई० बी० रेलवे को कलकत्ते के आस-पास बस की प्रतियोगिता का मुकाबला करना पड़ा। इस प्रतियोगिता से रेलों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। कई क्षेत्रों में रेलों को तीसरे दर्जे का किराया घटाना पड़ा।

१९३० की मन्दी ने भी रेलों पर बुरा प्रभाव डाला। बस वालों को विशेष क्षति नहीं हुई क्योंकि वे अनियमित समय पर अपनी सुविधा के अनुसार बसें चलाते थे। रेलों को समय पर चलाना पड़ता था। अतः मन्दी काल में प्रतियोगिता तीव्र हो गई।

१९३३ में मिचेल-किर्कनेस समिति रेल-सड़क प्रतियोगिता की जाँच के लिए नियुक्त हुई और इसने बतलाया कि रेलों को इस प्रतियोगिता से २ करोड़ रुपए का सालाना नुकसान हो रहा है। समिति ने बतलाया कि बसें ६५ मील से ज्यादा दूरी में भी यत्रियों को ले जाकर रेलों से प्रतियोगिता कर रही हैं। माल ले जाने में भी सड़क परिवहन बढ़ रहा है और रेलों को कठिनाई हो रही है। १९३४-३५ में प्रतियोगिता और भी बढ़ी।

१९३६ में वेजवुड समिति ने पुनः इस प्रश्न की जांच की और बतलाया कि रेलों को होने वाला नुकसान १९३३ में २ करोड़ रु० से बढ़कर १९३५ में तीन करोड़ रु० व १९३७ में ४½ करोड़ रु० हो गया है। धीरे धीरे प्रतियोगिता यात्रियों व माल दोनों में बढ़ने लगी और कम दूरी व अधिक दूरी दोनों में छा गई।

युद्ध-काल में सरकार द्वारा बसों को सैनिक कार्यों में लगा देने से प्रतियोगिता लगभग समाप्त हो गई। अतः युद्ध ने रेल सड़क-समन्वय स्थापित कर दिया। १९५० में

खोला गया है। यात्रियों के लिए मोटर यातायात के राष्ट्रीयकरण की नीति लगभग स्वीकार हो चुकी है और राज्यों में सरकारी बसें चालू हो गई हैं। लेकिन माल लाने-ले जाने में अभी तक निजी ट्रकों का महत्त्व वैसा ही बना हुआ है। विभिन्न परिवहन के विकास व समन्वय की एकीकृत नीति निर्धारित करने के लिए एक राष्ट्रीय-परिवहन अधिकारी की नितान्त आवश्यकता थी। भारत सरकार ने इसके लिए परिवहन विकास काउन्सिल व केन्द्रीय परिवहन समन्वय समिति नियुक्त की है।[1]

सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण की समस्या
(The Problem of Nationalisation of Road Transport)

पिछले कुछ वर्षों में सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण की काफी चर्चा हुई है। रेल-सड़क यातायात में समन्वय स्थापित करने के लिए भी राष्ट्रीयकरण आवश्यक बतलाया गया है। सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण के पक्ष व विपक्ष में जो दलीलें दी गई हैं वे काफी पुरानी एवं प्रचलित हो चुकी हैं और उन्हें किसी भी आर्थिक साधन के राष्ट्रीयकरण पर लागू किया जा सकता है, जैसे उद्योग बैंक, बीमा आदि।

सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में कहा गया है कि इससे उपभोक्ता-वर्ग को सस्ती व कुशल मोटर सेवा उपलब्ध हो सकेगी। किराए की दरें व सेवा की दशाएं स्थिर रहेंगी। अलाभप्रद रास्तों पर भी मोटरें चलायी जाएँगी। सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण से सड़कों के विकास में सहायता मिलेगी क्योंकि सड़कें व सड़क यातायात दोनों एक ही अधिकारी के नीचे आ जायेंगे। कर्मचारियों की काम की दशाओं में सुधार होगा।

सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में कहा गया है कि इससे सुधार की प्रेरणा नही रहेगी क्योंकि प्रतियोगिता समाप्त हो जायगी। सार्वजनिक प्रबन्ध में अपव्यय होता है। व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं रहता है। सेवा बेलोचदार हो जायगी। मुआवजे की समस्या उत्पन्न हो जायगी। भारी पूँजी की आवश्यकता होगी। मोटरगाड़ी कानून के अन्तर्गत सड़क यातायात पर काफी नियन्त्रण किया जा सकता है। अतः राष्ट्रीयकरण अनावश्यक है।

इस प्रकार राष्ट्रीयकरण के पक्ष व विपक्ष दोनों में दलीलें दी जा सकती हैं। निजी क्षेत्र में व्यक्तिगत मुनाफे की भावना होने से जनता की सुविधाओं की उपेक्षा की जाती है। लेकिन सार्वजनिक क्षेत्र में निजी स्वार्थ व प्रेरणा न होने से अपव्यय व अकार्यकुशलता उत्पन्न हो जाते हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्रीयकरण के बाद सेवा सस्ती व कुशल बनायी जाय।

भारत में सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण : वर्तमान स्थिति—प्रारम्भ में सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में त्रि-दलीय योजना पर बल दिया गया जिसमें

1. India 1960, P. 362.

रेलवे, राज्य सरकारें व निजी बसों के मालिकों के शामिल करने का सुझाव था। यातायात निगमों में इनकी साझेदारी करने की चर्चा की गई। लेकिन निजी बसों के स्वामियों ने इसमें सहयोग नहीं दिया। अन्त में राज्य सरकारों ने सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण करना प्रारम्भ कर दिया। १९४७ में मध्य-प्रदेश, मद्रास व उत्तर-प्रदेश में राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। बाद में अन्य राज्यों ने भी ऐसा ही किया। उत्तर-प्रदेश, दिल्ली व बम्बई राज्यों में सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण की प्रगति काफी सराहनीय रही है।

भारत सरकार ने १९५० में सड़क यातायात निगम कानून बनाया है जिसके आधीन राज्यीय सरकारें, रेल व्यवस्थाएँ और निजी चालक मिलकर सड़क यातायात निगम स्थापित करेंगे। कुछ राज्यों में सड़क यातायात का आंशिक राष्ट्रीयकरण हो चुका है। फिर भी अनुमान है कि लगभग सभी माल ढोने वाली गाड़ियाँ और तीन चौथाई यात्री गाड़ियाँ निजी चालकों के हाथों में है। दूसरी योजना में सड़कों के यातायात के राष्ट्रीयकरण का विस्तार किये जाने के बाद भी सड़क यातायात का बहुत बड़ा भाग निजी चालकों के हाथों में रहेगा। योजना आयोग ने यह सिफारिश की है कि दूसरी योजना की अवधि में माल यातायात का राष्ट्रीयकरण न किया जाए और निजी चालकों को संगठन बनाने में सहायता दी जाए। सवारी-गाड़ियों के सम्बन्ध में योजना आयोग की यह सिफारिश है कि राष्ट्रीयकरण के कार्यक्रम का विस्तार उपयुक्त अवस्थाओं में बाँटकर किया जाना चाहिए और निजी चालकों को जिन शर्तों पर लाइसेंस दिये जाते हैं उनको उदार बनाना चाहिए। आशा है कि इन उपायों से दूसरी योजना की अवधि में सड़क यातायात के विकास में सहायता मिलेगी।

द्वितीय योजना में सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण पर कुल विनियोग २६·५ करोड़ रु० का रखा गया है इसमें से १३·५ करोड़ रु० राज्यों के कार्यक्रमों के अन्तर्गत होंगे, १० करोड़ रु० रेलवे योजना में रखे गये हैं ताकि रेलें भी निगमों में भाग ले सकें और ३ करोड़ रु० दिल्ली-यातायात-सेवा के कार्यक्रम के निर्धारित किये गये हैं।

तृतीय योजना में राष्ट्रीयकरण की दिशा में १८ करोड़ रु० व्यय करने का अनुमान है ताकि ५,००० मोटरगाड़ियाँ जोड़ी जा सकें।[1] इस प्रगति के बाद भी सवारी गाड़ियों का बड़ा भाग निजी हाथों में रहेगा और माल-यातायात लगभग सारा निजी क्षेत्र में रहेगा।[2] विदेशी विनिमय की कमी व गाड़ियों की कमी के कारण सड़क यातायात के विकास में बाधा पड़ रही है। फिर भी व्यापारिक गाड़ियों की संख्या १९५०-५१ से १९६०-६१ के १० वर्षों में लगभग दुगुनी हो गई है। देश में मोटरगाड़ियों का

1. Third Five Year Plan : A Draft Outline, P. 248.
2. Third Five Year Plan : A Draft Outline, P. 249.

निर्माण बढ़ना चाहिये। 'यातायात नीति व समन्वय' पर एक समिति स्थापित की गई है जिसकी सिफारिशों के आधार पर सड़क यातायात व अन्य यातायात के साधनों के भावी विकास के लक्ष्य निर्धारित किये जायेंगे।

प्रश्न

(१) भारतीय शासन सड़क यातायात की प्रगति में कहाँ तक सहायक हो सकता है ? (आगरा, १९५७)

(२) भारत में सड़कों के महत्त्व व आवश्यकता पर प्रकाश डालिए और पंच-वर्षीय योजनाओं में होने वाली प्रगति का उल्लेख करिये।

(३) निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) नागपुर योजना;

(ख) २०-वर्षीय सड़क की योजना;

(ग) रेल-सड़क समन्वय;

(घ) भारत में सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण।

संदर्भ ग्रन्थ

(1) Transport in Modern India By K. P. Bhatnagar & Others (5th Edition, 1960), Chapters 18, 20, 28, 36 & 37.

(2) India, 1960, P. 359-362.

(3) Draft Outline of The Third Five Year Plan, P. 246-249.

(4) Road Transport Reorganisation Committee Report, March, 1959.

(5) Report of the Chief Engineers on Road Development Plan for India (1961-81).

चौंतीसवाँ अध्याय

भारत में जल-परिवहन

प्राचीन काल से मनुष्य जल-मार्ग को परिवहन के साधन के रूप में उपयोग करता आ रहा है। रेलों और सड़कों के विकास से पहले जलमार्ग ही परिवहन के मुख्य साधन थे। आज भी कई देशों में जलमार्गों का परिवहन के लिये बड़ा महत्त्व है। भारत में भी जलमार्गों के विकास की बड़ी सम्भावनाएँ हैं।

जल-परिवहन के लाभ—जल-परिवहन का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह रेल या सड़क-परिवहन की अपेक्षा सस्ता पड़ता है। इसके दो मुख्य कारण हैं—

(१) पहियों पर भार खींचने की अपेक्षा जल में नाव या जहाज चलाने में शक्ति कम लगती है, यद्यपि चाल तेज करने में अत्यधिक शक्ति की जरूरत होती है।

(२) जल परिवहन के सस्तेपन का दूसरा कारण यह है कि जहाँ नदियों या समुद्रों के रूप में प्राकृतिक जल-मार्ग होते हैं वहाँ सड़क बनाने तथा पटरियाँ डालने में जो पूँजी लगानी होती है उसकी जरूरत नहीं पड़ती। कृत्रिम जल-मार्ग जैसे नहरें आदि प्रायः सरकार द्वारा बनाई जाती हैं और उनकी मरम्मत आदि का खर्चा भी अपेक्षाकृत कम होता है।

(३) जल परिवहन का दूसरा बड़ा लाभ यह है कि घने जङ्गलों, बाढ़ों और बर्फीली जगहों में प्रायः जलमार्ग ही परिवहन के एकमात्र साधन होते हैं। उदाहरण के लिए हिमालय प्रदेश से मूल्यवान लकड़ी मैदानों में पहुँचाने के लिये जलमार्ग का ही उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार दूसरे देशों में भी लकड़ी, पत्थर, घास, कोयला आदि भारी और बड़े आकार की वस्तुओं के परिवहन में जल-मार्ग का विशेष महत्त्व है।

सीमाएँ—(१) जल परिवहन की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इसकी चाल बड़ी धीमी होती है। प्रायः जहाज १५-२० मील प्रति घण्टा से तेज नहीं चलता जब कि रेलें और मोटरें ५०-६० मील प्रति घन्टा चल सकती हैं।

(२) जल-परिवहन की दूसरी बड़ी कमी यह है कि इस पर मौसमी रुकावटों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। वर्षा ऋतु में बाढ़ों और तूफानों के कारण, सर्दी में बर्फ जम जाने और गर्मी में नदियों का पानी सूख जाने के कारण परिवहन में कठिनाई होती है।

(३) स्थल मार्ग की अपेक्षा जल-मार्ग में जान माल का खतरा भी अधिक रहता है। अतएव जलमार्ग द्वारा भेजे गये माल का बीमा कराना जरूरी हो जाता है।

(४) जलमार्ग की सुविधा सभी जगह उपलब्ध नहीं होती। अतः माल पहुँचाने में

कठिनाई होती है। इसलिये जलमार्ग का उपयोग वे नगर या उद्योग ही कर सकते हैं जो नदियों और समुद्रों के किनारे वसे हुये होते हैं।

जल परिवहन के भेद—हमने ऊपर ३२ वें अध्याय में वतलाया था कि क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से जल मार्गो को दो भागों में बांट सकते हैं, (१) अन्तर्देशीय जलमार्ग (Inland Water Ways) और (२) समुद्री जलमार्ग। समुद्री जलमार्ग के भी प्रायः दो उप-भाग किये जाते हैं। (१) तटीय जलमार्ग (Coastal Transport) और समुद्र के वीच में से जाने वाले जल मार्ग (Oceanic water ways)।

अन्तर्देशीय जल-मार्ग—इतिहास के प्राचीनतम काल से भारतवासी अन्तर्देशीय एवम् दूर देशों से व्यापार के लिये जलमार्गो का उपयोग करते आये हैं। प्राचीन काल में भारत में जलयान वनाने की कला वहुत उन्नत थी और भारतवासी अपने यहाँ वनाये हुये जलयानों द्वारा पूर्व में सुमात्रा, व जावा और पश्चिम में यूनान और मकदूनिया तक व्यापार करते थे। साँची के स्तूपों और अजन्ता की गुफाओं में नावों और जहाजों के जो चित्र मिलते हैं उनसे तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा भोज के "युक्ति कल्पतरु" आदि ग्रन्थों में जलयानों के वर्णन से इस वात की पुष्टि होती है। मेगस्थनीज ने आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व अपनी भारत-यात्रा के संस्मरण में लिखा है कि भारत में लगभग ५८ ऐसी नदियाँ थीं जो जलपरिवहन के योग्य थीं। इसी प्रकार रेनेल की "हिन्दुस्तान और मुगल साम्राज्य का मानचित्र" नामक पुस्तक में भारत के जलमार्गों, नहरों, नदियों का प्रामाणिक और विशद वर्णन है। डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी ने भी अपनी पुस्तक "हिस्ट्री ऑफ इण्डियन शिपिंग" में वैदिक काल से लेकर मुगल काल तक के भारतीय जलपरिवहन का क्रमवद्ध इतिहास प्रस्तुत किया है।

आधुनिक युग में भी रेलों के वनने तक भारत में भारी वस्तुओं के लाने ले जाने में अन्तर्देशीय जलमार्गो का वड़ा महत्त्व था। डॉ० चौहान के अनुसार "आसाम में ब्रह्मपुत्र नदी में डिब्रूगढ़ तक तथा गंगा में पटना से ७०० मील पर गढ़मुक्तेश्वर तक, यमुना में आगरा तक वड़े-वड़े अग्नीवोट (Steamers) चला करते थे। कानपुर नगर में नावों और अग्नीवोटों की इतनी भीड़ रहती थी कि वह एक वन्दरगाह सा प्रतीत होता था।"[1] भारत में भाप से चलने वाले जलयानों का प्रयोग लगभग १८२३ में शुरू हुआ और १८५० तक देश में लगभग ५ हजार मील से अधिक क्षेत्र में इनका प्रसार हो चुका था। परन्तु इसी समय जव देश में रेलों का निर्माण शुरू हुआ तो रेलों की प्रतियोगिता के कारण अन्तर्देशीय जल परिवहन को वड़ा धक्का लगा। रेल-यात्रा जल-यात्रा की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक और सुरक्षित रहती हैं और रेल की चाल भी तेज होती है। इसीलिए व्यापारी वर्ग ने माल भेजने के लिए रेलों का प्रयोग आरम्भ किया। क्योंकि सरकार भी सुरक्षा और अकाल सहायता की दृष्टि से रेलों के निर्माण

1. आधुनिक परिवहन, पृष्ठ ३४८।

में दिलचस्पी रखती थी और रेल कम्पनियों में अंग्रेजों की पूँजी लगी हुई थी इसलिए सरकार ने भी अन्तर्देशीय जलमार्गों की उपेक्षा की। १६वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में तथा २०वीं शताब्दी के आरम्भ में सिंचाई के लिए नहरों के विकास से भी नदियों में पानी की कमी होने लगी और वे जल परिवहन के लिए अनुपयुक्त हो गईं। देश में पूँजीपतियों ने रेलों के निर्माण के बाद जल-परिवहन में पूँजी लगाने की अपेक्षा उद्योगों में पूँजी लगाना अच्छा समझा। इन सब कारणों से भारत में जल-परिवहन की बड़ी अवनति हुई। आगे चलकर विशेषतः द्वितीय महायुद्ध के दिनों में रेलों में भीड़-भाड़ कम करने और छोटे पैमाने के सस्ते यातायात की आवश्यकता पूरी करने की दृष्टि से अन्तर्देशीय जलमार्गों के विकास पर ध्यान दिया जाने लगा। कांग्रेस की राष्ट्रीय योजना समिति ने भी अन्तर्देशीय जलमार्गों के विकास पर जोर दिया। यद्यपि स्वाधीनता मिलने तक अन्तर्देशीय जलमार्गों का विशेष विकास नहीं हुआ तथापि भारी वस्तुओं को कम दूरी तक ले जाने के लिए परिवहन के सस्ते साधनों के रूप में अन्तर्देशीय जलमार्गों का उपयोग होता रहा।

वर्तमान स्थिति—अनुमान है कि भारत में आधुनिक शक्ति संचालित नौकाओं के चलने योग्य ५ हजार मील से ऊपर लम्बा जलमार्ग है। इनमें लगभग १७६२ मील जलमार्ग ऐसे हैं जिनमें अग्नीबोट चल सकते हैं। जल परिवहन की दृष्टि से उत्तर-पूर्व और दक्षिण में विशेष प्राकृतिक सुविधाएँ हैं। उत्तर भारत में गंगा और उसकी अनेक सहायक नदियाँ जैसे यमुना, गोमती, गण्डक, घाघरा, कोसी, सोन आदि मिलकर एक विस्तृत जलमार्ग बनाती हैं। मेघना, ब्रह्मपुत्र एवम् बंगाल, बिहार, उड़ीसा व आसाम की अनेक छोटी-छोटी नदियाँ भी इसी भाँति उपयोगी हैं। दक्षिण भारत की महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, नर्बदा, ताप्ति और साबरमती में भी कुछ सीमा तक जल परिवहन सम्भव हो सकता है। इन नदियों से निकाली गई नहरें विशेषतः गोदावरी की नहरें, दुम्मागुदन नहर, कृष्णा की नहर, बकिंघम नहर, कुर्नुल-कुड़ापा नहर, पश्चिमी तट की नहरें, व वेदारनियम नहर परिवहन के लिए उपयोगी हैं। यह संतोष का विषय है कि देश के आर्थिक-विकास की योजना में अन्तर्देशीय जलमार्गों के विकास पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। भारत की विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था के लिए अन्तर्देशीय जलमार्गों के विकास से निम्नांकित लाभ मिल सकते हैं :—

(१) उद्योगों के लिए कच्चा माल, कोयला, मशीनें आदि भारी सामान जलमार्गों द्वारा सस्ते भाड़े पर पहुँचाया जा सकता है और खेती तथा जंगलों की उपज विशेषतः चाय, जूट, लकड़ी आदि औद्योगिक केन्द्रों या बन्दरगाहों तक भेजी जा सकती है।

(२) उत्तर-पूर्वी भारत में प्रतिवर्ष बाढ़ें आने से महिनों तक रेल और सड़क यातायात बन्द हो जाता है ऐसे मौकों पर जलमार्गों का प्रयोग किया जा सकता है।

(३) यद्यपि जलयानों की चाल प्रायः धीमी होती है तथापि बहुत सा माल एक

साथ बिना मार्ग में रुके किसी खास स्थान पर पहुँचाने में समय की बचत हो सकती है।

(४) रेलों और सड़कों की अपेक्षा जलमार्गों के विकास में बहुत कम पूँजी लगती है। इस दृष्टि से भी भारत जैसे गरीब देश के लिए जलमार्गों के विकास का विशेष महत्त्व है।

(५) सुरक्षा की दृष्टि से भी जलमार्गों का विशेष महत्त्व है। शत्रु-देश पुलें आदि तोड़कर रेल और सड़क यातायात को ठप्प कर सकता है, परन्तु अन्तर्देशीय जलमार्गों को इस भाँति क्षति नहीं पहुँचाई जा सकती है।

विकास के प्रयत्न—स्वाधीनता मिलने के बाद से भारत सरकार ने अन्तर्देशीय जलमार्गों के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया है। भारत के नये संविधान में अन्तर्राज्यीय नदियों और जलमार्गों के परिवहन को एक केन्द्रीय विषय बना दिया गया है और जल परिवहन की जाँच, योजना-निर्माण और विकास का भार केन्द्रीय जल तथा बिजली आयोग को सौंप दिया गया है। भारत सरकार ने १९५० में श्री ओटो पॉपर (Otto Popper) को अन्तर्देशीय जलमार्गों के विकास के सम्बन्ध में सलाह देने के लिए बुलवाया और उन्होंने बड़ी नावों को सहकारी इकाइयों में संगठित करने, उन्हें नदियों में चलाने के लिये प्रमाण-पत्र लेने के लिये बाध्य करने तथा कम गहरे पानी में नावें चलाने के लिए आवश्यक साधन उपलब्ध करने की राय दी। सरकार ने श्री पॉपर के सुझावों को स्वीकार कर लिया और उन पर अमल करना ही है। अप्रैल १९५१ में भारत सरकार ने भारतीय नदियों में चलने वाली सभी नावों पर पूर्ण नियंत्रण करने के उद्देश्य से १९१७ के अन्तर्देशीय अग्नीबोट कानून (Inland Steam Vessels Act) में समुचित संशोधन करके अन्तर्देशीय अग्नीबोटों का पञ्जीकरण (Registration) अनिवार्य कर दिया है। इस विषय में राज्य-सरकारों को आवश्यक कानून बनाने की आज्ञा दे दी गई है जिसका पालन हो रहा है।

नौ-परिवहन का विषय संविधान के अधीन राज्यों के अधीन है। अतएव अन्त-र्ज्यीय नदियों पर उनके उद्गम स्थान से लेकर मुहाने तक नौ-परिवहन के विकास के लिए विभिन्न राज्यों में सहकार की आवश्यकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मार्च १९५२ में भारत सरकार ने "गंगा-ब्रह्मपुत्र जल परिवहन मण्डल" की स्थापना की है जिसमें केन्द्र, पश्चिमी बंगाल, बिहार, आसाम और उत्तर-प्रदेश राज्यों के प्रतिनिधि हैं। भारत की कई नदियाँ जो प्राचीन काल में नौ-परिवहन के योग्य थीं अब बहुत उथली और बड़े जलयानों के लिए सर्वथा अयोग्य हो गई है। उनकी मिट्टी निकालकर गहरी करने में बहुत खर्चा होता है इसलिए उनमें ऐसी नावें चलाना तय किया गया है जो उथले पानी में चल सकें। ऐसी नावें चलाने की योजना बनाने के लिए अक्टूबर १९५२ में संयुक्त राष्ट्रीय प्राविधिक सहायता प्रशासन ने नैदरलैंड के विशेषज्ञ श्री० जे० जे० सूरी को भारत भेजा। इनकी सलाह पर गंगा-ब्रह्मपुत्र जल-परिवहन मण्डल ने

प्रयोग के तौर पर तीन योजनाएँ बनाई हैं। (१) गंगा-घाघरा के लिए, (२) ब्रह्मपुत्र की सहायक नदियों के लिए (३) ब्रह्मपुत्र के लिए। इन योजनाओं पर अमल किया जा रहा है और उथले पानी में चलने वाले अग्नीबोटों के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में अन्तर्देशीय नौकानयन का विकास करने के लिए ३ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। इसमें १,१५,००,००० रु० वकिंघम नहर और ४३,००,००० रु० पश्चिमी तटवर्ती नहरों के विकास पर खर्च किया जाएगा। धनराशि का शेष रु० और गंगा-ब्रह्मपुत्र मण्डल को राज्यों द्वारा दी जाने वाली रकम, बोर्ड द्वारा हाथ में लिए कार्यों पर खर्च की जाएगी।

केन्द्रीय जल तथा बिजली आयोग ने भारत में अन्तर्देशीय जलमार्गों के विकास के लिए एक दीर्घ-कालीन योजना बनाई है जिसमें (१) नर्वदा, गंगा, यमुना तथा इनकी सहायक नदियों को जोड़कर पश्चिमी-तट से पूर्वी-तट तक लगातार जलमार्ग बनाने, (२) नर्वदा और कावेरी को जोड़कर पश्चिमी-तट से पूर्वी-तट तक जलमार्ग बनाने, (३) ताप्ती और कावेरी को मिलाकर पूर्वी और पश्चिमी तटों के बीच एक और जल-मार्ग बनाने और (४) कलकत्ता, कटक और मद्रास होकर कोचीन तक जलमार्ग बनाने की योजनाएँ शामिल है। इन योजनाओं पर विचार करने तथा अन्तर्देशीय जलमार्गों सम्बन्धी नये कार्यक्रम सुझाने के लिए फरवरी १९५७ में भारत सरकार ने श्री बी० के० गोखले की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने अन्तर्देशीय जल यातायात की अवनति को रोकने पर जोर दिया है। समिति ने आगामी ३० वर्षों तक उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक जलमार्ग बनाने की योजनाओं को नदी घाटी योजनाओं के विकास तक स्थगित रखने की सलाह दी है। परन्तु उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पश्चिम में ६७ करोड़ रु० की लागत की कई छोटी-छोटी योजनाएँ सुझाई हैं जिसमें राजस्थान नहर की जलमार्ग के रूप में व्यवस्था करने का भी सुझाव है। समिति की राय में तीसरी योजना में अन्तर्देशीय जलमार्गों के विकास पर तीसरी योजना में ५० करोड़ रु० की व्यवस्था की जानी चाहिये। समिति ने साज-सामान के निर्माण और नाविकों को सहकारी आधार पर संगठित करने पर भी जोर दिया है।

तीसरी योजना के प्रारम्भिक मसौदे में अन्तर्देशीय जलमार्गो के विकास के लिये ६ करोड़ रुपयों का प्रावधान है। गोखले समिति की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए तीसरी योजना के विस्तृत कार्यक्रम बनाये जाएँगे। आशा है बराबर ध्यान देते रहने पर भारत में अन्तर्देशीय जलमार्गो का यथेष्ट विकास सम्भव हो सकेगा।

सामुद्रिक जलमार्ग

सामुद्रिक जलमार्गों की दृष्टि से भारत की भौगोलिक स्थिति बहुत अनुकूल है। भारत-पूर्वी गोलार्द्ध के बीचों-बीच आ गया है और भारत का समुद्र-तट लगभग ३५००

मील लम्बा है। दक्षिणी और दक्षिणी-पूर्वी एशिया में केन्द्रीय स्थिति होने से पश्चिम से पूर्व और पूर्व से पश्चिम जाने वाले सभी जहाज भारत के निकटवर्ती समुद्रों से होकर जाते हैं। फिर भारत में अनेक ऐसे पदार्थ पैदा होते हैं या निकलते हैं जिनकी दुनियाँ में सब जगह बड़ी माँग है। भारत का सामुद्रिक व्यापार भी विशाल एवं विस्तृत है, लगभग २०० लाख टन माल और दो लाख यात्रियों का प्रतिवर्ष भारत में आवागमन होता है। "प्राचीन काल में भारत का जहाज बनाने और जहाज-चलाने का व्यवसाय बड़ा उन्नत था। १९वीं शताब्दी के मध्य तक भारत में बनाये हुये लकड़ी के बड़े बड़े जहाज इङ्गलैण्ड जाते थे और लोहे के जहाजों से ज्यादा टिकाऊ माने जाते थे। परन्तु भारत विरोधी अँगरेजी नौवहन नीति, इङ्गलैण्ड में लोहे के बने हुये और भाप से चलने वाले जहाजों के निर्माण तथा भारत में लोहे और इस्पात के उद्योग के अभाव आदि कारणों से पिछले सौ वर्षों में भारत में जहाज-निर्माण लगभग बन्द हो गया और भारत के पास अपने जहाजी बेड़े का अभाव होगया। इसी प्रकार प्राचीन काल में भारत के समुद्र तट पर अनेक बन्दरगाह थे जो उपेक्षा के कारण जहाज ठहरने के योग्य नहीं रहे। आज से लगभग ५०० वर्ष पूर्व जहाँ भारत में ८४ मुख्य बन्दरगाह थे अब केवल ६ मुख्य बन्दरगाह रह गए हैं। स्वाधीनता से पूर्व भारत का जहाजी बेड़ा विश्व के जहाजी बेड़े के आधे प्रतिशत से भी कम रह गया था।

इस दयनीय स्थिति के कई कारण हैं :—(१) **अवसर-उपेक्षा :** प्रथम महायुद्ध के दिनों में; दोनों महायुद्धों के बीच के काल में और द्वितीय महायुद्ध के दिनों में कई बार ऐसे अच्छे अवसर आए जब भारत के जहाज बनाने और जहाज चलाने के उद्योगों को पुनर्जीवित कर इसका विकास किया जा सकता था। परन्तु हमारे अँग्रेजी शासकों ने कभी इस ओर ध्यान नहीं दिया। (२) **अँग्रेजी कम्पनियों को आश्रय :** भारत सरकार ने ब्रिटिश इन्डिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी और अन्य ब्रिटिश कम्पनियों को डाक और सरकारी यात्री लाने ले जाने का अधिकार देकर तथा बन्दरगाहों में विशेष सुविधायें देकर उनकी मदद की जब कि भारतीय कम्पनियों को भाव घोषित करने के अधिकार तक से वंचित रखा गया; (३) **किराए-भाड़े की लड़ाई :** शक्तिशाली ब्रिटिश कम्पनियों ने नव-स्थापित भारतीय कंपनियों के किराए-भाड़े घटाकर तथा स्थगित कटौतियाँ (Deferred Rebates) देकर शैशवावस्था ही में मार डालने के प्रयत्न किये। फलस्वरूप हमारा विदेशी व्यापार और तटीय व्यापार विदेशी जहाजी कंपनियों द्वारा होता रहा और हमें करोड़ों रुपये प्रतिवर्ष जहाजों के किराए भाड़े के रूप में इन कम्पनियों को देने पड़े। ये कम्पनियाँ माल भेजने वालों को विदेशी बीमा कम्पनियों से बीमा कराने के लिए बाध्य करती थीं। भारतीय व्यापारिक फर्मों के खिलाफ भेद-भाव करती थीं और भारतवासियों को उच्च पदों पर नौकर नहीं रखती थीं और न उनको प्राविधिक कार्यों

की ट्रेनिंग ही देती थीं। फलस्वरूप देश में भारी असन्तोष था और भारतीय जहाजी व्यवसाय के लिए संरक्षण की माँग की गई।

बहुत आंदोलन के पश्चात् ३ फरवरी १९२३ को भारत सरकार ने भारतीय व्यापारिक बेड़ा समिति (Indian Mercantile Marine Committee) की नियुक्ति की जिसका काम यह बतलाना था कि भारत में व्यापारिक बेड़े की उन्नति और भारतवासियों के नाविक प्रशिक्षण के लिए क्या उपाय किए जा सकते हैं। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में यह राय दी कि (क) भारत का तटीय व्यापार लाइसेंसों द्वारा भारतीय जहाजों के लिए रिजर्व रखा जाना चाहिए; (ख) सरकार को तटीय व्यापार में भाग लेने वाली ब्रिटिश कम्पनियों के जहाजों को हथिया कर भारतीय जहाज चलाने वालों को दे देने चाहिएँ; (ग) भारतवासियों को प्रशिक्षण देने के लिए एक "ट्रेनिंग शिप" बनाई जानी चाहिए और (घ) डाक व सरकारी स्टोर लाने-लेजाने के ठेके देकर तथा आर्थिक सहायता देकर भारतीय बेड़े को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

समिति की सिफारिशें भारतीय लोकमत के अनुरूप थीं। परंतु भारत सरकार ने कई वर्षों तक विचार करने के पश्चात् समिति की केवल एक सिफारिश मानी और १९२७ में जहाज कर्मचारियों व इन्जीनियरों की ट्रेनिंग के लिए "डफरिन" नामक जहाज की स्थापना की। परन्तु तटीय व्यापार को भारतीय जहाजों के लिए रिजर्व करने की उचित माँग व सुझाव पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

फलस्वरूप देश के स्वतंत्र होने तक विदेशी जहाजी कम्पनियों को शक्तिशाली ब्रिटिश कम्पनियों की भीषण प्रतियोगिता सहन करनी पड़ी। १९३० में भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड इर्विन ने देशी और विदेशी कम्पनियो में समझौता कराने के लिए एक सम्मेलन बुलाया। परन्तु विदेशी हितों के असहयोग के कारण यह सम्मेलन असफल रहा। १९३३ में भारत के वाणिज्य सदस्य सर जोसफ भोर ने पंच-फैसला दिया। परन्तु इसमें सिंधिया कम्पनी को विदेशी व्यापार में उचित स्थान नहीं दिया गया। सन १९४६ में सिंधिया, एशियाटिक ब्रिटिश इण्डिया कम्पनी में एक समझौता हुआ जिसमें सिंधिया कम्पनी को भारत के समुद्र तट तथा पड़ौसी देशों के व्यापार का कुछ हिस्सा दिया गया। १९३९ में एक बार इस समझौते में संशोधन हुआ; परन्तु फिर युद्ध काल में बार बार प्रयत्न करने पर भी दूसरे महायुद्ध के अन्त तक इसमें कोई सुधार नहीं हो सका। इस प्रकार दूसरे महायुद्ध के अन्त तक भारतीय व्यापारिक जहाजी बेड़े की स्थिति बड़ी दयनीय रही।

जहाज निर्माण और जहाज चालन का महत्त्व—(१) जहाज चालन परिवहन के प्राचीनतम साधनों में से है और आज भी विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तीन-चौथाई भाग जहाजों द्वारा होता है। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में हिस्सा लेने वाले

देशों के लिए जहाज निर्माण और जहाज चालन का बड़ा महत्त्व है। भारत के सामुद्रिक व्यापार का वार्षिक मूल्य लगभग १५०० करोड़ रु० है जो विश्व के कुल व्यापार का लगभग २ प्रतिशत है। भारत का विश्व व्यापार की दृष्टि से, संसार में १३ वाँ स्थान है। परन्तु भारत के जहाजी स्थानों का अनुपात विश्व जहाजी स्थानों का लगभग १/२ प्रतिशत है। भारत को जहाज बनाने के उद्योग का विस्तार करना चाहिये।

(२) जहाजों के द्वारा व्यापार और मंडी का विस्तार होता है। जिससे बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास में सहायता मिलती है। अतएव जो देश व्यापार और उद्योगों का विकास करना चाहते हैं उनके लिए जहाज निर्माण और जहाज चालन का विस्तार आवश्यक हैं।

(३) जहाज निर्माण स्वयं एक आधार उद्योग है जो अनेक उद्योगों को जन्म देता है अतः भारत सरकार ने १९५६ की औद्योगिक नीति में जहाज निर्माण को पहली अनुसूची में रखा है और इस उद्योग के भावी विकास की जिम्मेदारी स्वयं अपने पर ली है।

(४) विदेशी व्यापार की बाकी को संतुलित या अपने पक्ष में रखने की दृष्टि से भी जहाज चालन का बड़ा महत्त्व है। भारत को प्रतिवर्ष करोड़ों रु० विदेशी जहाजी कम्पनियों को भाड़े के लिये देने पड़ते हैं, जिससे व्यापार की बाकी हमारे विपक्ष में हो जाती है। अतएव यदि हम व्यापारिक जहाजी बेड़े का विकास कर सकें तो व्यापार की बाकी अपने पक्ष में कर सकते हैं और जहाजी भाड़े के रूप में विदेशी मुद्रा कमा सकते हैं।

(५) व्यापारिक जहाजी बेड़े के अभाव में दूसरे महायुद्ध और युद्धोत्तर काल में भारत का, अनाज और अन्य आवश्यक साज सामान मँगाने में, बहुत रुपया खर्च हुआ। अपने जहाजी बेड़े का विकास करके हम इन कठिनाइयों से बच सकते हैं।

(६) सामाजिक दृष्टि से भी व्यापारिक बेड़े का बड़ा महत्त्व है। यह सुरक्षा की दूसरी पंक्ति (Second line of Defence) मानी जाती है। संकट काल में देश-रक्षा के काम में ली जा सकती है।

जहाज निर्माण और चालन की नई नीति—हम बतला चुके हैं कि ब्रिटिश सरकार कई वर्षों तक भारतीय व्यापारिक जहाजी बेड़े के प्रति उपेक्षा और उदासीनता की नीति बरतती रही। लेकिन दूसरे महायुद्ध की परिस्थितियों ने सरकार को अपनी नीति बदलने के लिए मजबूर कर दिया। लड़ाई के अन्तिम दिनों में जब युद्धोत्तर पुनर्निर्माण की योजनाओं पर विचार किया जाने लगा तो १९४४ में भारत सरकार ने तत्कालीन वाणिज्य मन्त्री श्री अजीजुलहक की अध्यक्षता में जहाज चालन पुनर्निर्माण नीति समिति नियुक्त की। इस समिति ने भारतीय जहाज चालन और नौ-सेना की व्याख्या की। फिर नवम्बर, १९४५ में सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर के सभापतित्व में जहाज पुनर्निर्माण नीति उप-समिति नियुक्त की गई। इस उपसमिति ने भारत में जहाज चालन के भावी विकास के लिए निम्नांकित सुझाव दिए :—

(१) भारतीय व्यापार को सुचारु रूप से चलाने के लिए भारत को २० लाख टन के जहाजों की आवश्यकता है, अतएव इन लक्ष्यों को सामने रखकर जहाज चालन की उन्नति की जानी चाहिये।

(२) भारतीय तटीय व्यापार भारतीय जहाजों के लिए पूर्णतः रिजर्व कर देना चाहिए तथा सामुद्रिक व्यापार में भी भारतीय जहाजों को उपयुक्त स्थान मिलना चाहिये।

(३) आगामी ५-७ वर्षों में भारतीय जहाजों के लिए तटीय व्यापार का शत-प्रतिशत, पड़ोसी देशों के साथ व्यापार का ७५ प्रतिशत और दूर के देशों के व्यापार का ५० प्रतिशत और तथा पूर्वी देशों के साथ व्यापार का जो धुरी राष्ट्रों द्वारा होता था, ३० प्रतिशत भाग प्राप्त करना चाहिए।

(४) विदेशी व्यापार में भाग लेने वाली जहाजी कम्पनियों को सरकार की ओर से सहायता मिलनी चाहिए।

(५) ऊपर के सुझावों को अमल में लाने के लिए एक जहाज चालन बोर्ड की स्थापना की जानी चाहिए जिसे तटीय व्यापार में लाइसेंस देने, किराये-भाड़ों की प्रतियोगिता तथा कटौती के दोषों को दूर करने का अधिकार होना चाहिए।

भारत सरकार ने समिति के सुझावों को मान लिया और ये सुझाव भारत की भावी नीति का आधार बन गए। इस नीति को अमल में लाने के लिए ब्रिटिश सरकार और कम्पनियों से समझौता करना जरूरी था। तदर्थ भारतीय जहाज मालिकों का एक शिष्ट मण्डल जुलाई १९४७ में श्री वालचंद हीराचंद के नेतृत्व में इङ्गलैंड भेजा गया। परन्तु इसे कोई सफलता नहीं मिली। नवम्बर १९४७ में एक जहाज चालन सम्मेलन बुलाया गया और इसके सुझाव पर सरकार ने जहाजी कम्पनियों के पास जहाजों तथा प्रशिक्षण कर्मचारियों की कमी को पूरा करने के लिए सहायता देने का वचन दिया। १९५० में भारत सरकार ने तटीय व्यापार में भाग लेने वाले जहाजों के लिए लाइसेंस लेना जरूरी कर दिया जिससे कि भारत का तटीय व्यापार भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित किया जा सके। इसके अतिरिक्त सरकार ने १ मार्च १९५२ को विशाखापत्तनम में स्थित सिंधिया कम्पनी का जहाज बनाने का कारखाना अपने हाथ में लेकर "हिंदुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड" को दे दिया। साथ ही तटीय व्यापार में भाग लेने वाले बड़े जहाजों को सामुद्रिक व्यापार में लगाया गया और पाल से चलने वाले जहाजों का सुसंगठन किया गया। इङ्गलैंड, जर्मनी और जापान से नए जहाज बनवाने की व्यवस्था की गई तथा अमेरिका से पुराने जहाज मोल लेने की व्यवस्था की गई। जहाज चालन पुनर्निर्माण उपसमिति के २० लाख टन जहाजी क्षमता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भारतीय कंम्पनियों के पास पूंजी का अभाव था। अतएव भारत सरकार ने कुछ पूंजी अपनी ओर से लगाकर समुद्र पार व्यापार में भाग लेने के लिए १०-१० करोड़ रुपये

की पूँजी के तीन जहाजी निगम बनाने की योजना स्वीकार की। आरम्भ में इन निगमों की ५१ प्रतिशत पूँजी सरकार द्वारा, २६ प्रतिशत मैनेजिंग एजेन्ट द्वारा, २३ प्रतिशत जनता द्वारा लगाने की योजना बनाई गई। यह तय किया गया कि प्रत्येक निगम १ लाख टन का जहाज रखेगी और इन निगमों के अलग-अलग मार्ग और क्षेत्र होंगे ताकि इनमें परस्पर प्रतियोगिता न हो। इस नीति के अधीन १९५० में आस्ट्रेलिया तथा अन्य पूर्वी देशों से व्यापार करने के लिए १० करोड़ रु० की अधिकृत पूँजी वाले "ईस्टर्न शिपिंग कारपोरेशन" की स्थापना की। अगस्त १९५६ में इस कारपोरेशन का प्रबन्ध सरकार ने अपने हाथ में लिया। इसी वर्ष एक दूसरा पूर्णतः सरकारी "वेस्टर्न शिपिंग कारपोरेशन" भी चलाया गया। इसकी अधिकृत पूँजी १० करोड़ रुपये है और यह फारस की खाड़ी, लाल सागर तथा भारत-पौलेन्ड और भारत-रूस व्यापार मार्ग पर जहाज चलाएगा।

१९४७ के जहाज चालन सम्मेलन के अनुसार जहाज चालन उद्योग की प्रगति में एक बड़ी बाधा योग्य और प्रशिक्षित व्यक्तियों की कमी थी। यह अनुमान लगाया गया कि जहाज चालन विस्तार योजना को सफल बनाने के लिए हमें लगभग १७०० उच्चाधिकारियों, २१०० इंजीनियरों और नाविकों की आवश्यकता होगी। इस कमी को पूरा करने के लिए डफरिन जहाज पर प्रशिक्षण की सुविधाएँ बढ़ा दी गईं तथा बम्बई और कलकत्ता में उच्च नाविक शिक्षा के लिए कालेज खोले गए। कलकत्ता और विशाखापत्तनम के नाविकों (Ratings) के प्रशिक्षण के लिए क्रमशः "भद्र" और "मेखला" नामक जहाजों की व्यवस्था की गई।

१९५८ के जहाजरानी कानून के अधीन सरकार को सलाह देने के लिए एक राष्ट्रीय जहाजरानी मण्डल और जहाजी कम्पनियों को ऋण देने के लिए विकास कोष स्थापित किए गये। फलस्वरूप जहाँ १९४६ में भारतीय बेड़े में १,२७,०८३ टन के ४९ जहाज थे वहाँ दिसम्बर १९५९ के अन्त तक ७·३९ लाख टन के १५७ जहाज हो गए। इनमें से २·७४ लाख टन के ८९ जहाज तटीय व्यापार में भाग लेते हैं और ४·६५ लाख टन के ६८ जहाज समुद्र पार व्यापार में काम आते हैं।[1]

निम्नांकित तालिका से पहली और दूसरी योजनाओं की अवधि में जहाजी स्थान का विस्तार प्रकट होता है—

लाख टनों में

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१
तटीय	२·१७	२·४०	२·९२
समुद्रपार	१·७४	२·४०	६·१३
कुल	३·९१	४·८०	९·०५

1. India 1960, p. 363.

स्पष्ट है कि भारत के जहाजी बेड़े की क्षमता जो पहली योजना के आरम्भ में ३·९१ लाख टन थी पहली योजना के अन्त तक ४·८० लाख टन हो गई। विदेशी मुद्रा की कठिनाइयों के बावजूद यह दूसरी योजना के अन्त तक लक्ष्य के अनुसार ९ लाख टन हो जाने की आशा है। पहली योजना की अवधि जहाजी कार्यक्रम पर १८·७ करोड़ रु० खर्च किये गये थे। दूसरी योजना काल में इस कार्यक्रम पर ५४ करोड़ रु० खर्च होने का अनुमान है।

राष्ट्रीय जहाजरानी मण्डल ने तीसरी योजना के लिए १४·२ लाख टन का लक्ष्य सुझाया है—१०·८ लाख टन तटीय व्यापार के लिए और ३·४ लाख टन समुद्र पार व्यापार के लिए। इस प्रकार ५·२ लाख टन के नए जहाज प्राप्त किये जाने हैं और १·७ लाख टन के जहाज पुराने जहाजों के प्रतिस्थापन के लिए चाहियेंगे। इस कार्यक्रम की कुल लागत ११८·८ करोड़ रु० आँकी गई है। इसमें से १४ करोड़ रु० जहाजी कम्पनियाँ अपने साधनों में लगायेंगी। ५५ करोड़ का प्रावधान तीसरी योजना के मसौदे में किया गया है। ४ करोड़ रु० जहाजी विकास कोष से मिलने की संभावना है। इसके आधार पर जहाजी कम्पनियों का अंशदान ७ करोड़ रु० होता है। इस रकम से प्रतिस्थापन की आवश्यकता पूरी करने के उपरान्त जहाजी क्षमता २ लाख टन बढ़ सकेगी। आशा है योजना को अन्तिम रूप देते समय जहाजरानी के विकास के लिए अतिरिक्त राशि प्रदान की जा सकेगी।[1]

यद्यपि पिछले १५ वर्षों में भारत के व्यापारिक बेड़े की क्षमता १५४६ में १·२७ लाख टन से बढ़ कर १९६० के आरम्भ में ७·३९ लाख टन होगई है और आजकल भारत के तटीय व्यापार का शत प्रतिशत, पड़ौसी देशों के साथ व्यापार का ४० प्रतिशत और कुल समुद्र पार व्यापार का ८ से ९ प्रतिशत भारतीय जहाजों में होता है तथापि १९४५ की जहाजी नीति समिति के २० लाख टन के लक्ष्य की तुलना में हमारी वर्तमान स्थिति बहुत पिछड़ी हुई है।

भारतीय जहाज चालन की मुख्य समस्याएँ—

(१) विदेशी प्रतिस्पर्धा और भेदभाव—पिछले कुछ वर्षों में यद्यपि भारतीय जहाजरानी की क्षमता बढ़ी है फिर भी देश के बढ़ते हुये व्यापार को देखते हुए यह बहुत कम है। अतएव भारत के समुद्र पार व्यापार में आज भी विदेशी जहाजों की प्रधानता है और उनकी बढ़ती हुई क्रिया भारतीय जहाज चालन के लिए एक कठिन समस्या बन गई है। पिछले कुछ वर्षों में यद्यपि ब्रिटेन और अमेरिका के जहाजों का भाग कुछ कम हुआ है, किन्तु जापान, जर्मनी, इटली तथा नार्वे के जहाजों का भाग बढ़ता जा रहा है। फलस्वरूप भारतीय जहाजी कम्पनियों को भारी हानि उठानी

1. Third Five Year Plan—A Draft Outline, p. 241-50.

पड़ती है। प्रायः देखा जाता है, देशी जहाज खाली चलते हैं जबकि विदेशी जहाज पूरे भरे चले जाते हैं। इसके अतिरिक्त विदेशी जहाजी कम्पनियों ने अपने शक्तिशाली सङ्गठन बना लिए हैं जो भारतीय जहाजी कम्पनियों को जहाजी सम्मेलनों की सदस्यता से वंचित रखने का प्रयत्न करते हैं। भारत सरकार को चाहिए कि भारतीय जहाजों को इस अनुचित प्रतियोगिता से बचाने का प्रयत्न करे तथा भारतीय कम्पनियों की अन्तर्राष्ट्रीय सम्मलनों की सदस्यता प्राप्त करने में सहायता करे।

(२) **यात्री जहाजों और तेल ले जाने वाले जहाजों की कमी**—यद्यपि पिछले कुछ वर्षों में भारतीय जहाजों की क्षमता बढ़ी है तथापि आज भी भारतीय कम्पनियों के पास यात्री जहाजों और तेल ले जाने वाले जहाजों की बड़ी कमी है। यात्री जहाजों के अभाव में भारतीय यात्रियों और भारत में आने वाले विदेशी पर्यटकों को असुविधाएँ होती हैं। भारत को बड़ी मात्रा में प्रतिवर्ष विदेशों से तेल मँगाना पड़ता है; परन्तु अभी हमारे पास सिर्फ तीन तेल ले जाने वाले जहाज हैं जिनमें दो सरकारी और एक निजी है। हमें अपने देश में तेल ले जाने वाले जहाजों का निर्माण करके या दूसरे देशों से प्राप्त करके इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(३) **जहाजों की मूल्य-वृद्धि**—भारतीय जहाजी बेड़े के विस्तार में सबसे बड़ी बाधा जहाजों के मूल्य में होने वाली अनियमित वृद्धि है। डॉ० चौहान ने बतलाया है कि "ब्रिटेन में नए जहाजों का मूल्य स्तर १९३९ की अपेक्षा ३७५ प्रतिशत और १९४५ की अपेक्षा १६० प्रतिशत ऊँचा है। भारत में ब्रिटेन से लगभग २० प्रतिशत ऊँचा मूल्य है।"[1] भारत को विदेशों से जहाज प्राप्त करने के लिए ऊँचा मूल्य ही नहीं चुकाना पड़ता बल्कि विदेशी मुद्रा की भी आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त नए जहाज खरीदने में संसारव्यापी प्रतिस्पर्धा के कारण जहाज निर्माताओं के पास इतने आदेश इकट्ठे हो चुके हैं कि कोई भी प्रमुख निर्माता १९६०-६१ के पहले सुपुर्दगी देने के लिए तैयार नहीं है।

(४) **रेल प्रतियोगिता**—जहाज चालन के विकास के मार्ग में एक और कठिनाई रेलों की प्रतियोगिता से पैदा हुई है। साधारणतः जहाजों से माल भेजने की ढुलाई रेलों की अपेक्षा कम होती है। विशेषतः भारी कच्चा माल व कोयला, चाय आदि जहाजों द्वारा भेजने में किफायत रहती है; परन्तु यह देखा गया है कि कभी-कभी रेलें यातायात अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अपना भाड़ा घटा देती हैं जिससे जहाजी कम्पनियों को हानि होती है। सरकार ने रेल और समुद्री यातायात में ताल मेल बैठाने के लिए १९५५ में एक समिति नियुक्त की थी; परन्तु इसकी सिफारिशों पर अभी अमल नहीं किया गया है। भारत में रेलों के पास माल के डिब्बों की कमी को

---

1. आधुनिक परिवहन, पृष्ठ ५०२।

ध्यान में रखते हुए हमारे लिए यह हितकर होगा कि कोयला, सिमेण्ट, नमक, जूट इत्यादि भारी वस्तुएँ यथासम्भव रेल मार्ग की अपेक्षा समुद्री मार्ग से पहुँचाई जाएँ।

(५) **आधुनिक जहाज निर्माण उद्योग का अभाव :**—जहाज निर्माण एक आधार उद्योग माना जाता है। जहाजचालन व्यवसाय की उन्नति के लिए भी सुविकसित जहाज निर्माण उद्योग का होना आवश्यक है। प्राचीन भारत में जहाज निर्माण उन्नत अवस्था में था। अँगरेजों के भारत आने के समय भी भारत में इतने बड़े-बड़े और मजबूत सामुद्रिक जहाज बनते थे कि यूरोपीय जहाज खिलौने जैसे लगते थे। परन्तु ब्रिटिश सरकार की विरोधी नीति और देश में लोहे व इस्पात के उद्योग के अभाव में भारत में जहाज-निर्माण उद्योग का ह्रास हो गया। आज भी भारत में पाल-जहाज बनाने के कई घाट (Yards) और छोटे-छोटे जहाज बनाने व मरम्मत करने के पाँच कारखाने हैं। परन्तु देश में बड़े जहाज बनाने का केवल एक कारखाना है। इसकी स्थापना १९४१ में सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी ने विशाखापत्तनम में की और यह १९४७ में बन कर तैयार हुआ। १९४८ से इस कारखाने में प्रतिवर्ष दो जहाज बनने लगे। १९४९ में कई कारणों से सिंधिया कम्पनी ने इस कारखाने को चलाने में असमर्थता प्रकट की। फलस्वरूप १ मार्च १९५२ को भारत सरकार ने यह कारखाना सिंधिया कम्पनी से लेकर इसको चलाने के लिए "हिन्दुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड" नाम की एक कम्पनी बनादी, जिसमें दो-तिहाई पूँजी सरकार की है। इस कारखाने का बना हुआ पहला जहाज "जल उषा" १४–३–१९४८ को समुद्र में उतारा गया। तब से अब तक एक मूरिङ्ग जहाज, दो छोटे जहाज और २३ समुद्रगामी जहाज बनाये गये हैं जिनकी कुल क्षमता १,११,६०० टन है।[1] १९६०-६१ तक पाँच जहाज और बन कर तैयार हो जाने की आशा है। यद्यपि इस कारखाने ने अच्छी उन्नति की है तथापि यहाँ पर बने हुये जहाजों की कीमत ब्रिटेन में बने हुये जहाजों से २० प्रतिशत ऊँची होती है। इसलिए यहाँ के बने हुये जहाजों के मूल्य के २० प्रतिशत के बराबर भारत सरकार आर्थिक सहायता देती है। परन्तु जर्मनी और जापान में जहाज सस्ते बनते हैं। इसलिए यद्यपि भारतीय कम्पनियाँ ब्रिटेन से जहाज नहीं खरीदती हैं तथापि उनको जर्मनी व जापान से जहाज खरीदना सस्ता पड़ता है। यदि भारत सरकार ब्रिटेन के मूल्यों के आधार पर सहायता देने की बजाय जर्मनी व जापान के सस्ते मूल्यों के आधार पर सहायता देने लगे तो भारतीय कम्पनियाँ भारत ही के बने जहाज खरीदेंगी। जहाजों के लिए जहाज बनाने वाले कारखानों को सस्ते भाव पर इस्पात की पूर्ति की जानी चाहिये। फ्रान्सिसी विशेषज्ञों की जगह जर्मनी व जापान के विशेषज्ञों को रखने से भी किफायत हो सकती है। हमारे जहाज निर्माताओं के सामने दूसरी समस्या समय की

1. India 1960, p. 364.

है। भारत में जहाज बनाने में तीन-चार साल लगते हैं जबकि जर्मनी में केवल दो वर्ष इसके कारण अनुभवी व योग्य कर्मचारियों की कमी और प्रबन्ध का ढीलापन है। इस ओर सुधार की आवश्यकता है।

संयुक्त राज्य (U. K.) की सरकार ने कोलम्बो योजना के अधीन एक प्राविधिक शिष्ट मण्डल भारत में दूसरी जहाज निर्माण शाला (Shipyard) के लिए जानकारी प्राप्त करने और जगह चुनने के लिए भेजा। शिष्ट मण्डल की रिपोर्ट अप्रैल १९५८ में प्रकाशित हुई। भारत सरकार की अन्तर्विभागीय समिति ने इसकी रिपोर्ट की जाँच करके दूसरी जहाज निर्माण शाला कोचीन में बनाने की सिफारिशें की हैं। सरकार ने यह सिफारिश मानली है।[1]

(६) **श्रमिकों की समस्या** :—बन्दरगाहों पर काम करने वाले श्रमिक भी जहाजी कम्पनियों के लिए एक समस्या बन गये हैं। उनकी अवरोधात्मक चालों और हड़तालों से जहाजी कम्पनियों को बहुत हानि उठानी पड़ती है। १९५६ में इस समस्या पर विचार करने के लिए सरकार ने एक समिति नियुक्त की थी जिसकी सिफारिशों के अनुसार बम्बई और कलकत्ता के बन्दरगाहों पर कार्य के अनुसार मजदूरी दी जाने लगी है। इससे स्थिति में कुछ सुधार हुआ है। किन्तु यह स्थायी हल प्रतीत नहीं होता। वास्तव में यह एक संसार-व्यापी समस्या है और इसका प्रभावशाली हल निकाला जाना चाहिये।

(७) **बन्दरगाहों की कमी और विकास** :—भारत के ३५०० मील लम्बे समुद्रतट पर केवल ६ बड़े बन्दरगाह, १८ मंझोले बन्दरगाह और २२६ छोटे बन्दरगाह हैं जिनमें लगभग १५० चालू हैं।

(क) बड़े बन्दरगाह—कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कोचीन, विशाखापत्तनम और कान्दला भारत के ६ बड़े बन्दरगाह माने जाते हैं। इनमें पहले तीन का प्रबन्ध पोर्ट-ट्रस्टों द्वारा होता है जो केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में काम करते हैं और शेष तीन का प्रबन्ध सीधा केन्द्रीय सरकार स्थानीय प्रशासनिक अधिकारियों के द्वारा करती है जिनकी सहायता के लिए पोर्ट सलाहकार समितियाँ हैं।

देश-विभाजन के समय हमारे पाँच बड़े बन्दरगाहों की माल लादने और उतारने की क्षमता कुल मिला कर २०० लाख टन थी। पहली योजना की अवधि में यह बढ़कर २६० लाख टन हो गई। दूसरी योजना का लक्ष्य इनकी क्षमता ३० प्रतिशत बढ़ाना रखा गया था। वास्तव में इन पर १९५९-६० में २८८ लाख टन माल लादा-उतारा गया जब कि १९५६-५७ में इन पर ३१० लाख टन लादा उतारा गया था। देश में तेजी से आर्थिक विकास और यातायात की वृद्धि को देखते हुये यह क्षमता अपर्याप्त है। फलस्वरूप इन पर भीड़-भाड़, जमघट और देरी होना स्वाभाविक है। दूसरी योजना

1. India 1960, p. 364.

के अन्त तक यातायात में १५० लाख टन की वृद्धि होने का अनुमान है जब कि इनकी क्षमता में केवल ७५ लाख टन की वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है। अतएव दूसरी योजना के अन्त तक भीड़-भाड़ और बढ़ सकती है। तीसरी योजना का उद्देश्य बन्दरगाहों की मौजूदा सुविधाओं को बनाये रखना और सुधारना है न कि क्षमता बढ़ाना।[1] अतएव तीसरी योजना के अन्त में भीड़ भाड़ और भी बढ़ सकती है।

मंझले और छोटे बन्दरगाह :—भारत का विदेशी व्यापार मुख्यत. कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के बन्दरगाहों द्वारा होता आया है। अतएव जहाँ एक ओर इन बन्दरगाहों पर अत्यधिक भीड़-भाड़ रहती है वहाँ पर कोचीन, कान्दला सहित कई दूसरे बन्दरगाहों की क्षमता का पूरा उपयोग नहीं होता। आजकल भारत में लगभग १५० छोटे बन्दरगाह चालू हैं जिनकी क्षमता कुल मिलाकर लगभग ५० लाख टन या बड़े बन्दरों का छठा भाग है। परन्तु जहाँ पहली योजना में बड़े बन्दरों के विकास के लिए ६१ करोड़ रु० दिये गये थे वहाँ छोटे बन्दरों के विकास के लिए केवल २·४ करोड़ रु० दिये गये थे। दूसरी योजना में भी बड़े बन्दरों के लिए ८१ करोड़ रु० और छोटों के लिए कुल मिलाकर ५ करोड़ रु० का प्रावधान है। हमारा निश्चित मत है कि बड़े बन्दरों पर भीड़ भाड़ घटाने और देश के सन्तुलित विकास की दृष्टि से छोटों और मंझले बन्दरों का विकास आवश्यक है। इससे देश-रक्षा, अन्तर्राज्य व्यापार की उन्नति और देशवासियों में सामुद्रिक भाव जाग्रत करने में भी मदद मिलेगी। आशा है कि तीसरी योजना के मसौदे में प्रस्तावित ८५ करोड़ रु० की राशि में से छोटे और मंझले बन्दरों को यथेष्ट रकम दी जावेगी।[2]

(८) उदार राजकीय सहायता का अभाव :—जहाज निर्माण और जहाज चालन के सैनिक और आर्थिक महत्त्व को देखते हुये प्रत्येक देश की सरकार अपनी जहाजी शक्ति का विकास करने के लिए इस उद्योग को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से सहायता देती है। हम बतला चुके हैं कि कई देशों की तरह भारत में भी सरकार जहाज बनाने वालों को निर्माण सहायता (Construction Subsidy) देती है। किन्तु भारत सरकार ने इस सहायता के लिए जो आधार बनाया है वह उतना उदार नहीं है जितना अन्य देशों में। भारत में ब्रिटेन और भारत के निर्माण मूल्य के अन्तर के अनुसार २० प्रतिशत सहायता दी जाती है जब कि वास्तव में यह किसी भी देश के निम्नतम मूल्यों के आधार पर दी जानी चाहिये।

अनेक देशों में जहाज बनाने के लिए बिना ब्याज या कम ब्याज पर सरकार ऋण देती है। भारत सरकार ने भी पहली योजना के आरम्भ से जहाज निर्माण के लिए ऋण देना शुरू किया है। परन्तु ऋणों की शर्तों को उदार करने की आवश्यकता है।

1. Third Five Year Plan, A Draft Outline, p. 251.
2. Third Five Year Plan, A Draft Outline, p. 251.

कभी-कभी विदेशी प्रतिस्पर्धा के कारण जिन क्षेत्रों या मार्गों पर देशी कम्पनियाँ अपने जहाज चलाने में असमर्थ रहती हैं, वहाँ की सरकार उनके संचालन व्यय को भरने के लिए सहायता देती है। भारत का जहाज चालन उद्योग अभी शैशव अवस्था में है और शक्तिशाली विदेशी कम्पनियों से प्रतिस्पर्धा करने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। अतएव उसके लिये सरकारी सहायता की आशा करना स्वाभाविक है। परन्तु भारत सरकार की नीति इस ओर यथेष्ट उदार नहीं है। कुछ वर्ष पूर्व सिंधिया कम्पनी ने भारत-ब्रिटेन योरोप मार्ग पर दो यात्री जहाज चलाने शुरू किये थे। चार साल तक ६ लाख रुपए की वार्षिक हानि सहकर भी कम्पनी ने उन्हें चलाया; परन्तु अन्त में बन्द करना पड़ा।

अन्य देशों की सरकारों की तरह भारत-सरकार ने भी जहाज बनाने वाली कम्पनियों की यथेष्ट सहायता की है। यही नहीं सरकार ने सिंधिया कम्पनी के असमर्थता प्रकट करने पर १ मार्च, १९५२ को विशाखापत्तनम की जहाज निर्माण शाला को अपने हाथ में ले लिया है तथा एक और जहाज निर्माण शाला कोचीन में खोलने का निर्णय किया है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने जहाज चलाने के लिए दो सरकारी निगम भी स्थापित किये हैं। १९५० से ही भारत का सारा तटीय व्यापार भारतीय जहाजों के लिए रिजर्व कर दिया गया है। फिर भी समुद्र पार व्यापार में विदेशी जहाजों द्वारा क्रिया बढ़ाने से भारतीय जहाजी कम्पनियों को हानि होती है। सरकार को चाहिये कि अन्य देशों की भाँति भारतीय कम्पनियों को आश्रय दे और सरकारी यातायात का एक भाग भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित करने का नियम बना दिया जाय। इसके अतिरिक्त भारतीय कम्पनियों को प्रोत्साहित करने के लिए आय कर में छूट देकर लाभ का कुछ भाग उद्योग में लगाने का प्रलोभन दिया जा सकता है। जहाजी कम्पनियों को दिए जाने वाले मूल्य ह्रास भत्ते में वृद्धि की जा सकती है, जहाज बनाने में या चलाने में काम आने वाले इस्पात, कोयला, तेल या अन्य सामग्री में आयात-निर्यात कर या बिक्री कर की छूट या रियायत दी जा सकती है। आशा है कि भारत सरकार इस महत्त्वपूर्ण उद्योग को भविष्य में उदार सहायता प्रदान करेगी जिससे कि इसका तेजी से विकास सम्भव हो सके।

परीक्षा के प्रश्न

University of Rajasthan, B. A.

(1) Examine the importance of water ways in our transport system and give an outline of the measures taken in recent years to develop them. (1958)

(2) Give a brief account of the development of water transport in India in the post-war period. (1960)

ोgra Uuiversity, B. A. & B. Sc.

(3) Discuss the importance of water transport in India. How :an this type of transport be further developed and made more bene-icial for the country ? (1957)

(4) भारतीय तटीय जहाजरानी की समस्या पर प्रकाश डालिए और यह बताइए कि इस समस्या को किस प्रकार हल किया जाय ? (1957)

सन्दर्भ ग्रन्थ

(1) डॉ० शिवध्यानसिंह चौहान : आधुनिक परिवहन (1957), (लक्ष्मीनारायण अग्र-वाल, आगरा)।

(2) India 1960, Ch. 26 (Publication Division, Delhi).

(3) Indian National Steam Shipping Association, Bombay, Indian Shipping, monthly.

पैंतीसवाँ अध्याय

भारत में वायु-परिवहन

वायुयान परिवहन का नवीनतम आधुनिक साधन है। इसका सैनिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से बड़ा महत्त्व है। विमान-परिवहन की मुख्य विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

(१) तेज गति—विमान-परिवहन की सबसे बड़ी विशेषता इसकी तेज गति है। इस शताब्दी के आरम्भ में विमानों की गति ४० मील प्रति घण्टा थी; किन्तु आजकल ७०० मील की चाल सामान्य मानी जाती है और कुछ विमान १००० मील की चाल से जाने की क्षमता रखते हैं। विमानों की इस तेज चाल के फलस्वरूप दूर-दूर के देशों से निकट सम्पर्क स्थापित हो गया है और संसार घर-आँगन सा लगने लगा है।

(२) धरातल की बाधाओं का उल्लंघन—वायु मार्ग से चलने के लिए सड़कों, पटरियों, पुलों व सुरंगों आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती। धरातल कैसा भी क्यों न हो उड़ने में कोई रुकावट नहीं होती। विमान का मार्ग और उड़ने की दिशा यात्रियों की सुविधानुसार बदली जा सकती है।

(३) बहुमूल्य वस्तुओं का परिवहन—बहुमूल्य वस्तुओं को जितनी दूर ले जाना होता है और परिवहन में जितना ज्यादा समय लगता है उतनी ही जोखिम ज्यादा रहती है। विमान-परिवहन के द्वारा जोखिम का समय कम करके लाभ की मात्रा बढ़ाई जा सकती है।

(४) आराम—यात्रियों की सुख-सुविधा और आराम की दृष्टि से भी विमान-यात्रा अतुलनीय है। विमान-यात्रा के बराबर आराम रेल, मोटर या जहाज आदि की यात्रा में कभी सम्भव नहीं होता है।

(५) सैनिक महत्त्व—युद्ध-काल में वायु सेना का महत्त्व किसी से छिपा हुआ नहीं है। वास्तव में विमान-परिवहन का विकास एक प्रकार से युद्ध-काल की देन है। शत्रु पर बम गिराने के लिए वायुयान बड़े काम की चीज है। विमानों द्वारा सैनिक, गोला-बारूद व अस्त्र-शस्त्र शीघ्र यथास्थान पहुँचाये जा सकते हैं।

(६) संकट काल में सहायता—कभी-कभी अचानक बाढ़ या भूकम्प के आ जाने से ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि परिवहन के दूसरे साधन काम नहीं देते। ऐसे मौकों पर वायुयान द्वारा तुरन्त राहत पहुँचाई जा सकती है। इसी प्रकार अकाल-सहायता करने, औषधियाँ आदि पहुँचाकर अविलंब चिकित्सा की व्यवस्था करके रोगों के प्रसार को रोकने में भी वायुयान बड़ा उपयोगी साधन है। देश में अचानक विद्रोह

या दंगे वगैरा हो जाने की हालत में भी पुलिस अथवा सेनाएँ भेजकर तुरन्त शांति स्थापित की जा सकती है।

(७) **वाणिज्य व्यवसाय की उन्नति**—वाणिज्य व्यवसाय के लिए भी विमान बड़े काम की चीज है। तार द्वारा आदेश प्राप्त करके तुरन्त दूर-दूर तक माल भेजा जा सकता है। इससे मण्डी का विस्तार बढ़ता है। यह वायु-परिवहन के विकास का ही परिणाम है कि भारत से बड़ी मात्रा में आमों का विदेशों को निर्यात हो रहा है।

उद्योगपति या व्यापारी वायु यात्रा द्वारा आसानी से दूर-दूर स्थित अपनी शाखाओं का निरीक्षण और प्रबन्ध कर सकता है।

ऐसी भी कल्पना की जाती है कि वायु-परिवहन सस्ता हो जाने पर उद्योगों में काम करने वाले श्रमिक लोग सुदूर स्वास्थ्यप्रद स्थानों में निवास करने की सुविधा प्राप्त कर सकेंगे।

(८) **कृषि सुधार और वन रक्षा**—आजकल कीड़े मार दवाइयाँ छिड़क कर फसलों को रोगों, कीड़ों, टिड्डियों आदि से बचाने में विमानों से बड़ी सहायता मिलती है। इसी प्रकार जब वनों में आग लग जाती है तो विमान द्वारा आग बुझाकर वनों की रक्षा की जाती है।

(९) **वायु फोटोग्राफी**—वायुयान की सहायता से भूमि को मापकर नक्शे बनाने में बड़ी मदद मिलती है। युद्ध काल में विमानों द्वारा शत्रुओं के सुरक्षित स्थानों और गुप्त सैनिक अड्डों का फोटो उतार कर उनके छिपने के स्थानों, सैनिक शक्ति और अस्त्र-शस्त्र के भण्डारों का हाल मालूम किया जा सकता है।

वायु-परिवहन की सीमाएँ—जहाँ विमान-परिवहन में उपर्युक्त अनेक विशेषताएँ हैं वहाँ इसकी कुछ सीमाएँ भी हैं :—

(१) **मँहगाई**—वायु-यात्रा का व्यय और वायु मार्ग से माल भेजने में खर्चा बहुत होता है। आजकल विमानों का किराया काफी कम हो गया है फिर भी रेल के प्रथम श्रेणी के किराये से ऊँचा है। यही बात माल ढुलाई के लिए भी लागू होती है। अतएव जब तक विमान-परिवहन काफी सस्ता नहीं हो जाता भारत जैसे गरीब देश में इसका उपयोग बहुत सीमित रहेगा।

(२) **सीमित क्षेत्र**—केवल गिने चुने सम्पन्न व्यक्ति या ऊँची तनख्वाहें पाने वाले सरकारी अफसर ही वायु यात्रा का लाभ उठा सकते हैं। इसी प्रकार केवल हल्की और बहुमूल्य वस्तुएँ ही विमान द्वारा भेजी जा सकती है। इस दृष्टि से भी विमान-परिवहन का क्षेत्र भी सीमित है।

(३) **मौसम का प्रभाव**—तेज वर्षा, या आँधी, घने बादलों, तथा कुहरा एवम् बर्फ जम जाने से विमान के चढ़ने और उतरने में बड़ी दिक्कत होती है। परन्तु इन बातों

का परिवहन के दूसरे साधनों पर इतना असर नहीं पड़ता इसलिये मौसम की खराबी के कारण वायु यात्रा में समय की पाबन्दी नहीं रखी जा सकती।

(४) दुर्घटनाएँ—उड़ान कला में प्रगति के बावजूद विमानों की दुर्घटनाएँ अक्सर होती रहती हैं जिनकी आशंकाओं से कई लोग विमान यात्रा करना अच्छा नहीं समझते। वास्तव में सुरक्षा की दृष्टि से वायु यात्रा इतनी अच्छी नहीं समझी जा सकती जितनी की रेल, मोटर या जहाज की यात्रा हो सकती है।

(५) शोर—विमान के चलने का शोर भी वायु यात्रा की एक बड़ी असुविधा है। परन्तु अब शोर कम करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

भारत में वायु-परिवहन का विकास

मनुष्य की चिरकाल से यह अभिलाषा रही है कि पक्षियों की भाँति हवा में उड़ सकूँ। भारत और यूनान के प्राचीन ग्रन्थों में विमानों के प्रयोग के वर्णन हैं। रामायण में कई स्थानों पर आकाश-मार्ग से यात्रा का विवरण मिलता है। परन्तु विमान-परिवहन मुख्यतः २०वीं शताब्दी की देन है। भारत में यद्यपि प्रयोगात्मक उड़ानें १९११ में आरम्भ हो गई थी, किन्तु विमान-परिवहन का वास्तविक आरम्भ यहाँ १९२७ में हुआ जबकि भारत सरकार ने अपने नागरिक उड्डयन विभाग की स्थापना की। १९२९ में साम्राज्य वायु-सेवा का भारत में आगमन हुआ और पहली बार अनुसूचित विमान सेवा शुरू हुई। भारत सरकार की अनुमति से इम्पीरियल एयरवेज के विमान दिल्ली तक आने लगे। १५ अक्टोबर सन् १९३२ को ताता-बन्धुओं ने कराँची और मद्रास के बीच विमान सेवा प्रारम्भ की। अगले वर्ष इण्डियन नेशनल एयरवेज लि० नामक कम्पनी ने कराँची से लाहौर तक अपनी सेवा आरम्भ की। इन कम्पनियों को डाक ले जाने का अधिकार प्रदान किया गया जो इनकी आमदनी का मुख्य साधन था। १९३६ में एयर सर्विसेज ऑफ़ इण्डिया बनी जिसने बम्बई और काठियावाड़ के बीच विमान उड़ाना आरम्भ किए। १९३८ में ब्रिटिश सरकार ने साम्राज्य के सब देशों के बीच विमानों द्वारा डाक लाने ले जाने की व्यवस्था की। भारत सरकार ने भी इस योजना में भाग लिया और ताता एयर लाइन्स तथा इन्डियन नेशनल एयरवेज से क्रमशः कराँची-मद्रास और कराँची-लाहौर मार्ग पर डाक लाने ले जाने का १५ वर्षीय समझौता किया गया। इस समझौते से इन कम्पनियों को बड़ा लाभ हुआ। देश में निश्चित वायु सेवा की पक्की नींव पड़ी। सरकार ने हवाई अड्डों, विमानशालाओं, शिल्पशालाओं आदि की व्यवस्था की और उड़ान क्लबों की सहायता से चालकों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया गया।

परन्तु दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होते ही साम्राज्य वायु सेवा बन्द कर दी गई और भारत की दोनों कम्पनियाँ भी देश रक्षा तथा सरकारी काम में लग गईं। सरकार की सेवाओं के बदले कम्पनियों को अच्छा मेहनताना मिला और लड़ाई के आखरी दिनों

में सरकार ने कम्पनियों को नए प्रकार के वायुयान भी दिये। इस प्रकार दूसरे महायुद्ध के दिनों में वायु सेवा की दक्षता काफी बढ़ गई।

लड़ाई के आखिरी दिनों में युद्धोत्तर पुनर्गठन की योजनाएँ बनाई जाने लगीं। भारत में नागरिक उड्डयन के संचालक सर फ्रेडरिक टिम्स (Sir Frederick Tymms) और डाक एवम् उड्डयन पुनर्गठन नीति समिति की सलाह पर १९४५ में सरकारी नीति की घोषणा की गई जिसमें कहा गया कि सरकार सीमित संख्या में हवाई कम्पनियाँ बनाने की आज्ञा देगी और बिना लाइसेन्स लिये कोई भी विमान चालक काम नहीं कर सकेगा। अक्टोबर १९४६ में लाइसेन्स देने के लिए वायु-परिवहन बोर्ड (Air Transport Licensing Board) की स्थापना की गई। युद्धोपरान्त काल में रेलों की भीड़-भाड़ और समय की बचत की दृष्टि से वायु यात्रा बहुत लोकप्रिय हो गई। फलस्वरूप विमान चलाने के लिए कई कम्पनियाँ खोली गईं और बाजार में इनके शेयरों की कीमतें तथा प्रशिक्षित लोगों की मजदूरी एवम् वेतन की दरें बहुत बढ़ गईं। १९४५ तक २१ हवाई कम्पनियाँ बन गईं जिन्होंने लाइसेन्स लेने के लिये अपना पूर्वाधिकार जताने के हेतु सरकार से युद्ध के निकले हुए अनेक डाकोटा और वाईकिंग विमान खरीद लिये। सारा वातावरण इतना आशाप्रद था कि वायु-परिवहन बोर्ड ने आवश्यकता से अधिक कम्पनियों को हवाई जहाज चलाने के लाइसेन्स दे दिये और उनमें अनुचित प्रतियोगिता होने लगी।

सन् १९४७ में देश-विभाजन के कारण जहाँ एक ओर पाकिस्तान का क्षेत्र हवाई कम्पनियों के हाथ से निकल गया वहाँ दूसरी ओर शरणार्थियों को लाने ले जाने और उनको राहत पहुँचाने के काम से हवाई कम्पनियों को कुछ अस्थायी राहत मिली। भारत सरकार ने हवाई कम्पनियों की सहायता करने की दृष्टि से सन् १९४७ और ४८ में उनको किराया बढ़ाने की स्वीकृति प्रदान की। परन्तु प्रतियोगिता के बढ़ जाने और कार्य क्षेत्र के घट जाने से कई कम्पनियों को अपना काम बन्द कर देना पड़ा। हवाई कम्पनियों को सर्वनाश से बचाने के लिए सरकार ने अप्रैल, १९४९ से प्रथम श्रेणी की डाक यथासंभव हवाई ज़हाजों से भेजना तय किया। हवाई जहाजों में काम में आने वाले पेट्रोल पर टैक्स घटा दिया गया। परन्तु हवाई डाक योजना से अधिकांश लाभ हिमालयन एयरवेज और डक्कन एयरवेज को हुआ। जिन्होंने रात की उड़ानें शुरू कीं। पेट्रोल पर कर घटाने से भी कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, क्योंकि पेट्रोल कम्पनियों ने कीमतें बढ़ा दीं। अतएव सरकार ने हवाई कम्पनियों की जाँच करने के लिए फरवरी १९५० में वायु परिवहन जाँच समिति नियुक्त की जिसकी रिपोर्ट सितंबर १९५० में प्रकाशित हुई। इस समिति की जाँच से पता चलता है कि एयरवेज ऑफ इण्डिया को छोड़ कर बाकी सभी हवाई कम्पनियाँ घाटे में चल रही थीं और सरकार

द्वारा दिए गए पेट्रोल के कर की कटौती निकाल दी जाय तो यह कम्पनी भी घाटे में थी। समिति की राय में हवाई कम्पनियों की दुर्दशा के मुख्य कारण निम्नांकित थे :—

(१) जब कि देश में सिर्फ ४ कम्पनियों से काम चल सकता था उस समय १० कम्पनियाँ नियमित और ११ कम्पनियाँ अनियमित विमान सेवा प्रदान कर रही थीं। कई वायु मार्ग ऐसे थे जिन पर एक से अधिक कम्पनियों के जहाज चल रहे थे। अतएव उनमें प्रतियोगिता होने से उनका संचालन व्यय बहुत बढ़ गया था और आमदनी घट गई थी।

(२) जहाँ देश की स्थिति को देखते हुए वायु सेना के लिए ७० हवाई जहाज काफी हो सकते थे, इन कम्पनियों के पास ११३ हवाई जहाज थे। विमानों की संख्या और साज सज्जा अधिक होने से कम्पनियों की प्रारम्भिक लागत बहुत बढ़ गई थी।

(३) कम्पनियों की आपसी प्रतियोगिता और प्रशिक्षित आदमियों की कमी के कारण वेतन और मजदूरी की दरें बहुत बढ़ गई थीं जिससे संचालन लागत ऊँची पड़ती थी।

(४) हवाई जहाज के काम में आने वाले तेल की कीमत में बराबर वृद्धि हो रही थी। उदाहरण के लिये अप्रैल १९४६ में तेल का मूल्य ३० आने गैलन था जो मार्च १९४९ में बढ़कर ४१ आने गैलन हो गया था। कुछ राज्य सरकारों द्वारा तेल की बिक्री पर कर लगाने से भी तेल की कीमत बढ़ गई थी।

(५) रात को उड़ान करने वाली कम्पनियों ने किराये की दरें कम रखी थीं और इनकी प्रतियोगिता में दूसरी हवाई कम्पनियों को भी अपनी किराये की दरें कम करनी पड़ीं जिससे इनकी आय घट गई।

कमेटी की राय में हवाई कम्पनियों की दुर्दशा को सुधारने के लिए संख्या घटाना जरूरी था; परन्तु जिन ६ कम्पनियों को १० वर्ष के लाइसेंस दे दिये गये थे उन्हें नहीं हटाया जा सकता था। अतएव कमेटी ने राय दी कि जिन कम्पनियों को अस्थायी लाइसेन्स दिए गए हैं, उनकी अवधि समाप्त हो जाने पर नवीनीकरण नहीं किया जाना चाहिए। समिति ने हवाई मार्गों के पुनर्गठन और भाड़े की न्यूनतम दरें निर्धारित करने की भी राय दी। समिति ने वायु-परिवहन की उन्नति के लिये सरकारी सहायता पर भी जोर दिया। समिति ने वायु-परिवहन के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर भी विस्तार से विचार किया। परन्तु वर्तमान स्थिति को देखते हुए समिति ने राय दी कि ५ वर्ष के लिए इस प्रस्ताव को स्थगित कर देना चाहिए और यदि इस अवधि में भी हवाई कंपनियों की स्थिति नहीं सुधरे तो इस प्रश्न पर पुनः विचार किया जाना चाहिये।

वायु-परिवहन का राष्ट्रीयकरण—सबसे पहले फरवरी १९४७ में भारत सरकार के परिवहन मन्त्री ने राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक सम्मेलन

बुलाया। परन्तु मतभेदों के कारण इस नीति पर जोर नहीं दिया गया और १९४९ में औद्योगिक नीति की घोषणा के समय वायु-परिवहन को निजी क्षेत्र में छोड़ दिया गया। परन्तु जब सितम्बर १९५१ में वायु-परिवहन जाँच समिति की रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर पुनः विवाद शुरू हो गया। योजना आयोग ने भी इस प्रश्न पर विचार किया और छोटी-छोटी विमान कम्पनियों में प्रतियोगिता आदि के कारण, संचालन व्यय अधिक होने तथा उनके पास नए विमान खरीदने के लिए साधन नहीं होने की बात को ध्यान में रखते हुए योजना आयोग ने राष्ट्रीयकरण की सिफारिश की। तदनुसार १९५३ में एयर कॉरपोरेशन कानून स्वीकृत किया गया जिसके अधीन दो कॉरपोरेशन स्थापित किए गए।

(१) लम्बी दूरी के अन्तर्राष्ट्रीय वायु-परिवहन के लिए **एयर इण्डिया इंटरनेशनल** और (२) अन्तर्देशीय तथा पड़ोसी देशों के बीच वायु सेवा के लिए **इण्डियन एयर लाइन्स कारपोरेशन**।

१ अगस्त १९५३ में दोनों कारपोरेशनों ने अपनी सेवाएँ आरंभ कीं। अप्रैल १९५५ में दोनों कारपोरेशन के बीच ताल मेल बैठाने और महत्त्वपूर्ण सामयिक समस्याओं पर विचार करने के लिए वायु-परिवहन परिषद की स्थापना की गई। इसके अतिरिक्त दोनों कारपोरेशनों ने अपनी-अपनी सलाहकार समितियाँ और श्रम सम्बन्ध समितियाँ भी बनाईं।

निम्नांकित तालिकाओं में १९४७ से भारत में नागरिक उड्डयन की प्रगति के आँकड़े दिए जाते हैं :—[1]

अनुसूचित सेवाएँ

वर्ष	उड़ान के मील (हजारों में)	यात्री (हजारों में)	माल (हजार पौन्ड में)	डाक (हजार पौंड में)
१९४७	९३,९२	२५५	५९४८	१४०५
१९५९	२,४९,१३	७२२	७,३६,२०	१,४९,८१

गैर अनुसूचित सेवाएँ

वर्ष	उड़ान के मील (हजारों में)	यात्री (हजारों में)	माल (हजार पौंड में)
१९४७	४०,५१	६२	२९९३
१९५९	५३,४६	९२	७,९०,०५

1. India 1960, P. 366.

चित्र-संख्या १६—भारत के वायुमार्ग

भारत में वायु-परिवहन की वर्तमान स्थिति[1]

इण्डियन एयर लाइन्स कारपोरेशन के पास १० जनवरी १६६० को ७१ हवाई जहाज थे जिनमें १० वाइकाउण्ट, ५ स्काई मास्टर, ७ हेरोन और ५७ डकोटा थे। १६५८-५६ में इसके विमानों में ६½ लाख यात्रियों ने यात्रा की और १·६ करोड़ मील की उड़ान की। आजकल कॉरपोरेशन ने अपनी वायु-सेवा देश के प्रमुख केन्द्रों तक बढ़ा दी है।

एयर इण्डिया इन्टर नेशनल के पास ६ सुपर कान्स्टेलेशन और ३ बोइङ्ग जेट विमान हैं। जिनके द्वारा १६ देशों को वायु सेवा प्रदान की जाती है। १६५८-५६ में इसके विमानों में ८३,८६८ यात्री ले जाए गए और उन्होंने कुल मिलाकर ७½ लाख मील की उड़ान की।

1. India 1960, pp. 366-67.

१९५९ में भारतीय हवाई जहाज कुल मिलाकर ३०२ लाख मील उड़े, इनमें ८'१४ लाख यात्री और १'६७६ लाख पौण्ड माल और डाक ले जाई गई। इस वर्ष रात की हवाई डाक सेवाओं द्वारा ४३४०९ यात्री ३२३५७४५ पौण्ड माल और ४२,१६,९०६ पौण्ड डाक ले जाई गई।

प्रशिक्षण सुविधाएँ—नागरिक उड्डयन विभाग के इलाहाबाद स्थित केन्द्र में विविध प्रकार के प्राविधिक पाठ्यक्रमों में प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। १९५९ में इस केन्द्र में २६६ उम्मीदवारों को प्रशिक्षण दिया गया और नवम्बर १९५९ में १६० लोगों को ट्रेनिंग दी जा रही थी।

हवाई अड्डे—भारत सरकार के नागरिक उड्डयन विभाग के नीचे ८५ हवाई अड्डे हैं। बम्बई (शान्ताक्रुज), कलकत्ता (डमडम) और दिल्ली (पालम) के हवाई अड्डे अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे हैं। इनके सहित अगरताला, अहमदाबाद, पटना, दिल्ली (सफदरगंज), मद्रास तिरुचिरपल्ली, जोधपुर, भुज और अमृतसर के हवाई अड्डों को सीमाकर अड्डे घोषित कर दिया गया है।

हवाई जहाज—१ दिसम्बर १९५९ को रजिस्टर्ड हवाई जहाजों की संख्या ५०० थी जिनमें १९० को हवा में उड़ने के प्रमाण-पत्र प्राप्त थे।

वायु-परिवहन समझौते—वायु-परिवहन के विकास के लिए निम्नांकित देशों से समझौते किये गये हैं। अफगानिस्तान, आस्ट्रेलिया, लंका, मिश्र, फ्रांस, इटली, जापान, लिबेनोन, नीदरलैण्ड, पाकिस्तान, फिलीपीन, स्वीडन, स्विटजरलैण्ड, थाईलैण्ड, ईराक, अमेरिका, इङ्गलैण्ड, और सोवियत संघ।

पंचवर्षीय योजनाओं में असैनिक उड्डयन—पहली योजना की अवधि में ८ करोड़ *रु० असैनिक उड्डयन सम्बन्धी कार्यों तथा अन्य साज-सामान पर और १५'३ करोड़ रु०* दोनों कारपोरेशनों पर खर्च किये गये। दूसरी योजना में १२'५ करोड़ रु० की व्यवस्था असैनिक उड्डयन सम्बन्धी कार्यों और ३०'५ करोड़ रु० की दोनों कारपोरेशनों के लिए की गई है। तीसरी योजना के मसौदे में असैनिक वायु-परिवहन के विकास के लिए ५५ करोड़ रु० का प्रस्ताव रखा गया है जिसमें से २२ से २५ करोड़ रु० हवाई अड्डों के सुधार और विस्तार के लिए और शेष ३० से ३३ करोड़ रु० दोनों हवाई कारपोरेशनों के लिए हैं। इस रकम से एयर लाइन्स कारपोरेशन डकोटा विमानों की जगह नए विमान खरीदेगा और एयर इण्डिया इण्टर नेशनल जेट विमान खरीदेगी।[1]

भारत में वायु-परिवहन का भविष्य—वायु-परिवहन आधुनिक परिवहन की अपूर्व देन है। इसके विकास ने संसार को घर आँगन की तरह बना दिया है। मानव इससे भी आगे बढ़कर अन्तरिक्ष पर विजय प्राप्त करने में लगा हुआ है। इस प्रयत्न की

1. Third Five Year Plan—A Draft Outline, pp. 252-53.

सफलता से भू-लोक से जाकर चन्द्र-लोक तथा अन्य ग्रहों में जाकर बसने की कल्पनाएँ की जाने लगी हैं। अणु-शक्ति के विकास से वायुयानों की चाल में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो सकते हैं। हमारा विश्वास है कि भविष्य में विमान मानव के लिए परिवहन का प्रमुख साधन हो सकेगा।

भारत अपने आकार-प्रकार और जलवायु की दृष्टि से वायु-परिवहन के लिए उपयुक्त है। यात्रियों, डाक के सामान और हल्की तथा कीमती वस्तुओं के लाने-लेजाने में यातायात भी काफी मिल सकता है। परन्तु हवाई अड्डों की कमी, हवाई जहाजों की कमी, हवाई जहाज बनाने के कारखानों का अभाव और वायु यात्रा के ऊँचे किरायों और वायु-परिवहन के ऊँचे भाड़ों व जन-साधारण की गरीबी के कारण भारत में इसके विकास का क्षेत्र सीमित रहेगा।

परीक्षा के प्रश्न

(१) विमान-परिवहन की विशेषताएँ बतलाइये। भारत में विमान-परिवहन के विकास का वर्णन कीजिये।

संदर्भ-ग्रन्थ

(1) डा० शिवध्यानसिंह चौहान : आधुनिक परिवहन अ० ३७, ३८ और ३९ [लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा (१९५७)]

(2) India—1960 Ch. XXVI (Publications Division, Delhi).

(3) M. R. Dhekney : Air Transport in India.

खण्ड ७—व्यापार व प्रशुल्क नीति

(अध्याय ३६ से अध्याय ३८ तक)

छत्तीसवाँ अध्याय

भारत का आन्तरिक व्यापार

व्यापारे वसति लक्ष्मीः

लक्ष्मी व्यापार में निवास करती है।

भारत के आन्तरिक व्यापार (Internal Trade) से हमारा अभिप्राय उस व्यापार से है जो भारत के एक स्थान से दूसरे स्थान के बीच में होता है। आन्तरिक व्यापार को प्रायः दो भागों में बाँटा जाता है : (क) तटीय व्यापार (Coastal Trade) और (ख) अन्तर्देशीय व्यापार (Inland Trade)।

(क) तटीय व्यापार (Coastal Trade)

तटीय व्यापार उस व्यापार को कहते हैं जो उसी देश के तटवर्ती स्थानों के बीच में होता है। यद्यपि इस व्यापार में थोड़ा-सा विदेशी व्यापार भी शामिल होता है, तथापि यह देश के आन्तरिक व्यापार का एक अंग माना जाता है। भारत की राजनैतिक सीमाओं में समय-समय पर परिवर्तन होने से हम तटीय व्यापार के पुराने आँकड़ों की आधुनिक आँकड़ों से तुलना नहीं कर सकते हैं, क्योंकि जो व्यापार वर्मा और पाकिस्तान के अलग होने से पहले तटीय माना जाता था, वह आज विदेशी माना जाता है।

आजकल भारत के समुद्र-तट को सात समुद्री खण्डों में बाँटा गया है।[1] एक ही समुद्री खण्ड के बन्दरगाहों के बीच में होने वाले व्यापार को "आन्तरिक व्यापार" और दो अलग-अलग खण्डों के बीच होने वाले व्यापार को "बाह्य व्यापार" माना जाता है। १९५६-५७ में भारत के तटीय व्यापार का कुल मूल्य ३४३ करोड़ रु० था, जिसमें १८० करोड़ रु० का आयात और १६३ करोड़ रु० का निर्यात शामिल था। १८० करोड़ रु० के आयात व्यापार में १६९ करोड़ से ऊपर का खण्डों के बीच बाह्य व्यापार था और लगभग १० करोड़ रु० का खण्डों के बीच आन्तरिक व्यापार था।

---

१. अप्रैल १९५७ से राज्यों के पुनर्गठन के फलस्वरूप समुद्र तटीय राज्यों तथा संघ शासित क्षेत्रों के अनुसार नौ समुद्री खण्ड बना दिये गये है : (१) प० बंगाल, (२) उड़ीसा, (३) आन्ध्र प्रदेश, (४) मद्रास, (५) केरल, (६) मैसूर, (७) बम्बई (८) अण्डमन और निकोबार और (९) लक्कादिव, मिनिकोय और अमिनदिपि द्वीप। अब द्विभाषी बम्बई राज्य के टुकड़े हो जाने से महाराष्ट्र और गुजरात के अलग-अलग खण्ड बन जायेंगे और कुल दस खण्ड हो जायेंगे।

१६९ करोड़ रु० के बाह्य व्यापार में १५८ करोड़ रु० का भारतीय माल था और शेष ११ करोड़ रु० का विदेशी माल। निम्नांकित सारिणी में १९५६-५७ में भारत के तटीय व्यापार के आँकड़े दिये जाते हैं[1]—

	(लाख रु० में)
आयात	
भारतीय माल	१६६८७
विदेशी माल	१२६६
कुल निर्यात	१७९५३
निर्यात	
भारतीय माल	१४६९३
विदेशी माल	१६२१
कुल आयात	१६३१४
कुल व्यापार	३४२६७

विशेषताएँ—भारत के तटीय व्यापार की परम्परा से दो मुख्य विशेषताएं चली आई हैं :—

(१) भारत के विदेशी व्यापार की तरह इसके तटीय व्यापार में भी बम्बई, कलकत्ता, रंगून (बर्मा के अलग होने तक), करांची (पाकिस्तान के अलग होने तक) और मद्रास की प्रधानता रही है। इसके दो मुख्य कारण हैं : पहला, भारत के समुद्र तट के अन्य बन्दरगाह अपेक्षाकृत छोटे और अविकसित थे। दूसरा, आरम्भ ही से अँग्रेजों ने भारत की रेल प्रणाली ऐसी बनाई थी और रेलों पर माल ढुलाई की दरें ऐसे निर्धारित की जाती थीं कि देश के अन्दर के हिस्सों से इन बन्दरगाहों तक माल भेजने में सुविधा और किफायत रहती थी। हम पिछले अध्याय में बतला चुके हैं कि पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत दूसरे बन्दरगाहों के विकास पर ध्यान दिया जा रहा है और ढुलाई की दरों का यह भेद-भाव भी समाप्त कर दिया गया है।

(२) भारत आजाद होने तक भारत का अधिकांश तटीय व्यापार विदेशियों के हाथ में था। १९४३ के ३ दिसम्बर के "ईस्टर्न इकोनोमिस्ट" में प्रकाशित एक लेख में श्री कस्टोलिनों ने बतलाया है कि "भारत के तटीय व्यापार में तीन अँग्रेजी कम्पनियाँ हैं, जिन्होंने व्यापार को प्राय: एकाधिकृत कर रखा है; क्योंकि उनका हिस्सा ८० प्रतिशत है।" हमारा सौभाग्य है कि यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति अब नहीं है। हम पिछले अध्याय में बतला चुके हैं कि आज भारत का तटीय व्यापार पूरी तरह से हमारे ही देश के जहाजों द्वारा किया जाता है।

1. India 1960, p. 346.

(ख) अन्तर्देशीय व्यापार (Inland Trade)

भारत के अन्तर्देशीय व्यापार के यथेष्ट और विश्वसनीय आँकड़ों के अभाव में इसके आकार, मूल्य, बनावट या दिशा के बारे में सही अनुमान लगाना सम्भव नहीं है। रेलों और स्टीमरों के द्वारा होने वाले व्यापार के आँकड़े उपलब्ध हैं और इनसे कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु बैलगाड़ियों, नावों या भार-वाहक पशुओं के द्वारा होने वाले व्यापार के आँकड़े सर्वथा अप्राप्य हैं।

विशेषताएँ—भारत के अन्तर्देशीय व्यापार की तीन मुख्य विशेषताएं हैं—

(१) **भारत के अन्तर्देशीय व्यापार का आकार इसके विदेशी व्यापार से बहुत अधिक है।** जायर और बेरी ने १९२०-२१ में भारत का अन्तर्देशीय व्यापार १५०० करोड़ रु० आँका है जो उस समय के विदेशी व्यापार के मूल्य का २½ गुना है।[1] राष्ट्रीय योजना समिति की एक उप-समिति ने १९४० में भारत के अन्तर्देशीय व्यापार का मूल्य ७००० करोड़ रु० रखा है जब कि इस वर्ष हमारे विदेशी व्यापार का मूल्य लगभग ५०० करोड़ रु० था।[2] भारत के महाद्वीपीय विस्तार, जनसंख्या, जलवायु और उपज की विविधता आदि को देखते हुए भारत के अन्तर्देशीय व्यापार का इससे अधिक होना स्वाभाविक है।

यद्यपि पिछले कुछ वर्षों में परिवहन और संचार के साधनों की उन्नति, आर्थिक विकास तथा मूल्यों और आय की वृद्धि के फलस्वरूप अन्तर्देशीय व्यापार बढ़ता जा रहा है, फिर भी भारत के आकार और जन-संख्या को देखते हुए हमारा अन्तर्देशीय व्यापार कम है। इसका मुख्य कारण हमारे देश में उत्पादन, आय तथा जीवन के स्तर का नीचा होना है। देश के आर्थिक साधनों के पूर्ण विकास के साथ निश्चय रूप से हमारा अन्तर्देशीय व्यापार कई गुना बढ़ेगा। हमारे विदेशी व्यापार की अनिश्चितता को ध्यान में रखते हुए अन्तर्देशीय व्यापार के आयोजित विकास पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(२) **प्रो० अलक घोष के अनुसार हमारे अन्तर्देशीय व्यापार का ६० प्रतिशत देश के अन्दर के हिस्सों से बन्दरगाहों के बीच में और शेष ४० प्रतिशत अन्दर के हिस्सों के बीच में होता है।**[3] यह हमारे तटीय (और विदेशी) व्यापार के कुछ बन्दरगाहों में केन्द्रित होने की प्रवृत्ति का ही दूसरा रूप है, जिसका विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं। इन बन्दरगाहों में अधिकांश व्यापार व्यवसाय केन्द्रित होने से इनमें अत्यधिक भीड़-भाड़ बढ़ गई है और आस-पास के देहात एक प्रकार से उजड़ से गये हैं। आशा की जाती

1. भारतीय अर्थशास्त्र (हिन्दी रूपान्तर), भाग २, पृ० २४२।
2. India 1960, P. 346.
3. A. Ghosh : Indian Economy (1959), P. 493.

है कि पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत परिवहन, संचार और बैंकों आदि का विकास किया जायगा कि अन्तर्देशीय व्यापार का संतुलित विकास होगा।

व्यापारिक केन्द्र

भारत के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों को दो भागों में बाँटा जा सकता है :—(क) बन्दरगाह और (ख) अन्दर के स्थान।

(क) बन्दरगाह— बर्मा और पाकिस्तान के अलग हो जाने से रंगून, कराँची और चिटगांव के भारत से चले जाने के बाद हमारे देश में ६ बड़े बन्दरगाह रह गए हैं; कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कोचीन, विशाखापत्तन और कान्दला। इसके अतिरिक्त १५० से ऊपर छोटे छोटे बन्दरगाह हैं। हम पिछले अध्याय में इनका वर्णन कर चुके हैं। इनमें कलकत्ता, बम्बई और मद्रास केवल बड़े बन्दरगाह ही नहीं हैं बल्कि, प्रमुख व्यापारिक केन्द्र भी हैं।

(ख) अन्दर के स्थान—अन्दर के व्यापारिक केन्द्रों में दिल्ली, अमृतसर, अहमदाबाद, आगरा, कानपुर और लखनऊ और नागपुर मुख्य हैं। दिल्ली, जो भारत की राजधानी है, रेलों का बड़ा जंकशन है और पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों का विकास-गृह है, विशेषतः वस्त्रों एवं मेवों आदि के लिए। अमृतसर पंजाब में आयातित वस्तुओं का वितरण का प्रमुख केन्द्र है और कपड़ों, विशेषतः दरियों और कालीनों के लिए प्रसिद्ध है। अहमदाबाद वस्त्र-उत्पादन का केन्द्र है और बम्बई नगर के बाद राज्य का सबसे बड़ा व्यापारिक नगर है। आगरा दरी-कालीन, पत्थर का काम और जरी के अतिरिक्त चमड़े के संकलन का भी प्रधान स्थान है। कानपुर उत्तर-प्रदेश का प्रधान औद्योगिक केन्द्र है। यह उत्पादन के अतिरिक्त आयातित वस्तुओं के वितरण की भी प्रमुख मण्डी है। लखनऊ अवध की उपज को एकत्रित व वितरित करता है। नागपुर, कपास, रुई व वस्त्रों के कारखानों और मैंगनीज की खानों का केन्द्र है। इनके अतिरिक्त काश्मीर में श्रीनगर, पन्जाब में फजिलका और रेवाड़ी, उत्तर प्रदेश में मेरठ, हापुड़, इलाहाबाद, मिर्जापुर और गोरखपुर, बिहार में कोडरमा, मध्य प्रदेश में ग्वालियर और इन्दौर, बम्बई में अमरावती, शोलापुर, पूना और बड़ौदा। मैसूर में बंगलौर और मैसूर तथा राजस्थान में जयपुर, बयावर और भीलवाड़ा भी बड़े व्यापारिक केन्द्र हैं।

प्रश्न

(१) भारत के अन्तर्देशीय व्यापार की विशेषताएं बतलाइए।

(२) भारत के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1, India 1960, P. 346-47.
2, A- Ghosh : Indian Economy (1959) Ch. 32.

———

सैंतीसवाँ अध्याय

भारत का विदेशी व्यापार

संक्षिप्त इतिहास

प्राचीन समय से ही भारत के विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध रहे हैं। यहाँ से रोम, मिश्र, अरब, चीन आदि देशों को सूती कपड़ा, धातु के बर्तन व सुगंधित इत्र, गरम-मसाला आदि निर्यात होते थे और बदले में भारत को स्वर्ण प्राप्त होता था। भारतीय माल का विदेशों में बड़ा आदर था। ईस्ट इन्डिया कम्पनी भी प्रारम्भ में व्यापार के लिए ही बनी थी। इङ्गलैंड में औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व भारतीय सूती कपड़े का आयात होता था। लेकिन औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् भारत धीरे-धीरे कच्चे माल का निर्यात करने लग गया और पक्के माल का आयात करने लग गया।

भारत के विदेशी व्यापार में पिछले ५०-५५ वर्षों में बहुत परिवर्तन हुए हैं। १९०५ के बाद भारत का विदेशी व्यापार बहुत तेजी से बढ़ा है। प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ होने के ५ वर्ष पहले तो विदेशी व्यापार में बहुत वृद्धि हुई थी। १९१४-१८ के युद्धकाल में विदेशी व्यापार में अस्त-व्यस्त स्थिति उत्पन्न हो गई। युद्धकाल में विदेशी व्यापार में कमी आना स्वाभाविक था। लेकिन युद्ध समाप्त होने के बाद स्थिति में पुनः सुधार हुआ। विदेशों में भारतीय वस्तुओं की माँग बढ़ने से यहाँ से निर्यात बढ़े और व्यापार संतुलन भारत के पक्ष में रहा। १९१९ से १९२४ तक व्यापाराधिक्य भारत के पक्ष में रहा, सिर्फ १९२०-२१ और १९२१-२२ में युद्धोत्तर काल की मंदी का प्रभाव रहने से व्यापार संतुलन भारत के विपक्ष में रहा। १९२२-२३ से १९२९-३० तक व्यापाराधिक्य भारत के पक्ष में रहा।

१९२९-३० से १९३३-३४ तक मंदी के प्रभाव से भारत का विदेशी व्यापार संकुचित हो गया। उसके बाद पुनः वृद्धि चालू हो गई और १९३७ में मंदी का फिर प्रभाव पड़ा और बर्मा के अलग हो जाने से भारत खाद्यान्नों का आयात करने लग गया।

१९३९ में द्वितीय महायुद्ध चालू हो जाने से स्थिति पुनः बदल गई। भारत के विदेशी व्यापार पर द्वितीय महायुद्ध का प्रभाव अत्यधिक पड़ा। विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) लगने से विदेशी व्यापार का सामान्य प्रवाह अवरुद्ध होगया। ब्रिटेन व अमेरिका पक्का माल निर्यात करने की स्थिति में न थे। भारत से ब्रिटेन को विशाल मात्रा में युद्ध-सामग्री भेजी गई और बदले में पौंड पावना (Sterling Balances) एकत्र होता गया। भारत ने सारा स्टर्लिंग ऋण चुका

दिया और लगभग १६००-१७०० करोड़ रु० का पौंड पावना इकट्ठा कर लिया। ब्रिटेन एक कर्जदार देश होगया। भारत कर्जदार से साहूकार बन गया।

१६४५ में युद्ध समाप्त होने के बाद आयात बढ़े और निर्यात कम होगये। युद्धकाल में देश में मुद्रा-स्फीति हो जाने से भारतीय माल विदेशों में मँहगा पड़ने लगा जिससे निर्यात घट गये। युद्ध के बाद दबी हुई माँग की पूर्ति के लिए आयात बढ़ाये गये। परिणामस्वरूप व्यापार का संतुलन भारत के विपक्ष में रहना प्रारम्भ होगया।

१६४७ में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय अर्थ-व्यवस्था में आधारभूत परिवर्तन हुए जिनका प्रभाव विदेशी व्यापार पर पड़ना स्वाभाविक था। पिछले १२-१३ वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार में बड़े उतार-चढ़ाव आये हैं। १६५१ से आर्थिक योजनाओं का विदेशी व्यापार पर प्रभाव नजर आने लगा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से लगातार व्यापार-सन्तुलन भारत के विपक्ष में रहने लगा है। लेकिन इस अवधि में सभी वर्षों में विदेशी व्यापार का ढँग एक सा नहीं रहा है। अध्ययन की सुविधा के लिए इस अवधि के निम्न भाग किये जा सकते हैं।

[1](१) १६४८-४६ से १६५१-५२ तक के चार वर्ष,

(२) १६५२-५३ से १६५३-५४ तक के दो वर्ष,

(३) १६५४-५५ और १६५५-५६ के दो वर्ष,

(४) १६५६-५७ और १६५७-५८ (द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के पहले दो वर्ष)

(५) १६५८-५६ व १६५६-६० (द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के अगले दो वर्ष)।

(१) १६४८-४६ से १६५१-५२ तक के ४ वर्ष :—इस अवधि में भारत के विदेशी व्यापार पर देश के विभाजन, रुपये का डालर में अवमूल्यन (devaluation) एवं कोरिया युद्ध से उत्पन्न आर्थिक तेजी का प्रभाव पड़ा। युद्धोत्तर काल में उपभोग्य व पूँजीगत माल के आयात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। विभाजन के कारण कपास, जूट व खाद्यान्नों का भारत में अभाव हो गया। मशीनों का आयात भी बढ़ गया। १६४८-४६ में व्यापार का घाटा २८३'८ करोड़ रु० हुआ। १६४६ में अवमूल्यन के बाद यह १६४६-५० में घटकर ८६'६ करोड़ रु० हो गया और १६५०-५१ में ३'५ करोड़ रु० का घाटा रह गया। लेकिन १६५१-५२ में अत्यधिक आयात होने के कारण व्यापार का घाटा पुनः २३२'८ करोड़ रु० हो गया, हालाँकि इस अवधि में निर्यात भी कोरिया के युद्ध के कारण काफी बढ़े थे।

(२) १६५२-५३ और १६५३-५४ :—देश व विदेश में इन दो वर्षों में थोड़ी आर्थिक मंदी का प्रभाव दिखाई दिया। अमेरिका में मंदी व कोरिया युद्ध की तेजी कम

---

१. १६४८-४६ से १६५५-५६ की अवधि के विदेशी व्यापार का विवरण। India's Balance of Payments 1958-41—1955-56. R. B. I. publication सेक्शन २ पर आधारित है।

होने से निर्यात कम हुए। देश में कृषि व औद्योगिक उत्पादन बढ़ा। आयात नियंत्रण कड़े किये गये जिससे आयात भी कम हुए। व्यापार का घाटा १९५२-५३ और १९५३-५४ में क्रमश: ३१'१ करोड़ रु० व ५२'१ करोड़ रु० हुआ।

(३) १९५४-५५ और १९५५-५६ :- प्रथम योजना के इन अन्तिम दो वर्षों में आयातों के लिए विशेष सुविधा दी गई, अत: आयात बढ़े। वनस्पति तेल, कपास व चाय का निर्यात भी बढ़ा। लेकिन आयात निर्यातों की बनिस्बत ज्यादा बढ़े क्योंकि प्रथम योजना के अन्तिम चरण में लोहे व इस्पात के माल व मशीनों का आयात बढ़ गया। अत: पुन: इन दोनों वर्षों में व्यापार का घाटा क्रमश: ८७'२ करोड़ रु० व १०९'५ करोड़ रु० तक बढ़ गया।

[1](४) १९५६-५७ और १९५७-५८ :—द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के इन प्रथम दो वर्षों में आयात बहुत तेजी से बढ़े और निर्यात् प्रथम वर्ष में तो थोड़े घटे लेकिन दूसरे वर्ष में काफी घट गये। अत: व्यापार का घाटा बहुत बड़ी सीमा तक पहुँच गया। यह स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है :—

		१९५६-५७	१९५७-५८(संशोधित)	
१.	आयात	१०९९'५	१२०४'२	(करोड़ रु० में)
[2]२.	निर्यात्	६३५'२	५९४'७	,,
३.	व्यापार की बाकी	–४६४'३	—६०९'५	,,

१९५६-५७ में आयात अधिक होने के कई कारण थे जैसे निजी क्षेत्र के औद्योगिक कार्यों में तीव्र वृद्धि, खाद्यानों का भारी आयात, आयात नीति में ढिलाई व द्वितीय योजना के लिए लोहे व इस्पात की मांग के नीचे अनुमान। निजी क्षेत्र (Private Sector) में आयात बहुत बढ़े।

१९५७-५८ में आयात पुन: बढ़े लेकिन निर्यात् घट गये। आयात की मात्रा व मूल्य दोनों बढ़े। सरकारी क्षेत्र में आयात बढ़े जब कि निजी में पिछले वर्ष की तुलना में आयात घटे। इन दोनों वर्षों में व्यापार का घाटा १००० करोड़ रु० से भी अधिक हुआ जो भारत के विदेशी व्यापार के इतिहास में अभूतपूर्व था। दोनों वर्षों में कुल ४८१ करोड़ रु० के विदेशी विनिमय कोष कम हो गये।

(५) १९५८-५९ और १९५९-६०:—सन् १९५८-५९ में आयात और निर्यात दोनों में कमी हुई लेकिन आयात ज्यादा घटे। १९५७ के मध्य से आयात नियंत्रण की जो नीति अपनाई गई थी उसके परिणाम १९५८-५९ की अवधि से मिलने प्रारम्भ हुए। अमेरिका व पश्चिमी योरोप में मन्दी आजाने से निर्यात बढ़ने के स्थान पर घट गए, जापान व चीन की प्रतिस्पर्द्धा बढ़ने से सूती कपड़े का निर्यात कम होगया। विशेपतया निजी क्षेत्र

1. Report on Currency & Finance, 1958-59, p. 72.
२. १९५७-५८ के निर्यात् में ७४'४ करोड़ रु० की चाँदी का निर्यात् शामिल नहीं है

में आयात घटे। सरकारी क्षेत्र में आयात काफी बढ़ गये। १९५८-५९ में व्यापार का घाटा ४७०'४ करोड़ रु० हुआ। विदेशी विनिमय कोष में केवल ४७ करोड़ रु० की कमी आई। इस अवधि में विदेशी व्यापार की स्थिति इस प्रकार थी :—

(करोड़ रु०)

	आयात	निर्यात	व्यापार की बाकी
१९५८-५९	१०४६'५	५७६'१	—४७०'४

[1]जनवरी-दिसम्बर १९५९ की अवधि में निर्यात में काफी वृद्धि हुई जो १९५८ की तुलना में १०'२% ज्यादा थी। १९५९ में ६२६ करोड़ रु० का निर्यात हुआ और ८६९ करोड़ रु० का आयात हुआ। इस प्रकार कलेन्डर वर्ष में २४३ करोड़ रु० का घाटा रहा। खाद्यान्नों व खाद, ट्रक बनाने का सामान व रसायन आदि का आयात भी बढ़ा। सूती कपड़ा, कमाया हुआ चमड़ा व खालें, सीमेंट व पिग लोहे का निर्यात बढ़ा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत के विदेशी व्यापार में काफी परिवर्तन हुए हैं और अब भी हो रहे हैं। द्वितीय महायुद्ध, विभाजन, व पंच-वर्षीय योजनाओं ने इसमें आमूल परिवर्तन ला दिया है। भारत के विदेशी व्यापार का स्वरूप एक औद्योगिक देश जैसा होने लग गया है। यहाँ से कारखानों के माल का निर्यात होने लग गया है और विदेशों से कच्चा माल मंगाया जाने लगा है। भविष्य में इस प्रवृत्ति के बढ़ने की आशा है।

भारत के विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषताएँ

उपर्युक्त विवरण के बाद हम भारत के वर्तमान विदेशी व्यापार की विशेषताओं का उल्लेख करने की स्थिति में हैं। पिछले वर्षों में विदेशी व्यापार की बनावट व दिशा में परिवर्तन हुए हैं। आजकल विदेशी व्यापार की निम्न विशेषताएँ हैं :—

(१) निर्यात में निर्मित माल का स्थान बढ़ रहा है और आयात में कच्चे माल का महत्त्व बढ़ रहा है। लेकिन आज भी कलपुर्जों तथा यन्त्रों के भारी आयात से आयात में तैयार माल का बड़ा अनुपात है। विभाजन के बाद भारत में कपास व जूट का अभाव होगया। अतः इनका आयात बढ़ाना पड़ा। देश का औद्योगिक विकास होने से पक्के माल का निर्यात बढ़ रहा है। भविष्य में इस प्रवृत्ति के जारी रहने की आशा है क्योंकि पंच-वर्षीय योजनाओं के द्वारा हमारी अर्थ-व्यवस्था अपना औपनिवेशिक स्वरूप छोड़कर एक स्वतन्त्र औद्योगिक देश की जैसी बन रही है।

(२) भारत के विदेशी व्यापार में सदा से ग्रेट ब्रिटेन का भाग अधिक रहा है। लेकिन पिछले कुछ वर्षों से इसमें अमेरिका व[2] ओ० ई० ई० सी० (OEEC) देशों तथा पूर्वी योरोपीय देशों, राष्ट्र मन्डल के देशों तथा जापान का स्थान भी बढ़ रहा

1. Annual Report of The Ministry of Commerce & Industry for the Year 1959-60 पर आधारित।

1. Organisation for European Economic Co-operation जिसमें इटली, फ्रान्स, पश्चिमी जर्मनी, बेल्जियम व हालैंड आदि शामिल हैं।

है। १९५६-५७ व १९५७-५८ में ओ० ई० ई० सी० देशों से अत्यधिक आयात होने से व्यापार का घाटा बहुत बढ़ गया था।

(३) देश के विभाजन के बाद से व्यापार की बाकी भारत के प्रतिकूल रहने लगी है जिससे हमारे समक्ष विदेशी विनिमय के अभाव की समस्या उत्पन्न होगई है। विकास कार्य के लिए कच्चे माल व मशीनों का आयात काफी बढ़ा है, लेकिन प्रयत्न करने पर भी आवश्यक मात्रा में निर्यात नहीं बढ़ पाये हैं। अतः व्यापार की बाकी हमारे विपक्ष में रहने लगी है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के प्रथम दो वर्षों के व्यापार के घाटे के कारण हमारे विदेशी विनिमय कोषों में लगभग ४८१ करोड़ रु० की कमी आ गई। व्यापार का घाटा १९४८-४९, १९५१-५२, १९५५-५६, १९५६-५७, १९५७-५८ व १९५८-५९ में ज्यादा हुआ। १९५७-५८ में तो यह ६१० करोड़ रु० तक पहुँच गया। इतना घाटा एक वर्ष में पहले कभी नहीं हुआ था।

(४) भारत के निर्यात व्यापार में चाय, सूती कपड़ा व जूट के माल की प्रधानता है। इनसे प्राप्त होने वाली आय बड़ी अस्थिर रहती है। विश्व में माँग की परिस्थिति के बदलने से इनके निर्यात पर काफी प्रभाव पड़ता है। यदि किसी वर्ष इन तीन वस्तुओं का निर्यात घट जाता है तो हमारे विदेशी व्यापार को बड़ा धक्का पहुँचता है।

धीरे-धीरे भारत से इन्जीनियरिंग माल का निर्यात बढ़ रहा है। लेकिन निर्यात में मूल्य की दृष्टि से उपर्युक्त तीन वस्तुओं का स्थान ही सर्वोच्च मानना चाहिए।

(५) हमारे आयातों में कई वस्तुएँ समाविष्ट होती हैं लेकिन आज भी मशीनरी पेट्रोल, कपास व खाद्यान्नों का ही आयात में विशेष स्थान है। अतः निर्यात की तरह आयात भी कुछ ही वस्तुओं पर केन्द्रित है।

(६) भारत के विदेशी व्यापार का अधिकांश लाभ आज भी विदेशियों को प्राप्त होता है; क्योंकि आयात-निर्यात करने वाली फर्में, जहाजी कम्पनियाँ, बीमा कंपनियाँ व विनिमय बैंक शुरू से ही विदेशी प्रबन्ध में रहे हैं; लेकिन धीरे धीरे इनका भारतीयकरण किया जा रहा है।

(७) भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार आज भी समुद्री मार्ग से होता है, हालांकि विभाजन के बाद से पाकिस्तान से स्थल मार्ग से भी विदेशी व्यापार होने लग गया है।

(८) भारत का विदेशी व्यापार कलकत्ता, बम्बई व मद्रास के बन्दरगाहों द्वारा विशेषकर होता है। अतः बन्दरगाहों पर भीड़-भाड़ की समस्या बनी रहती है। इसलिए विशाखापत्तनम्, कोचीन व कान्दला बंदरगाहों का विकास किया गया है।

(९) पिछले वर्षों में कुल विदेशी व्यापार का मूल्य काफी बढ़ा है, लेकिन फिर भी

भारत में प्रति व्यक्ति विदेशी व्यापार का मूल्य बहुत कम है। औद्योगिक विकास से विदेशी व्यापार में और भी वृद्धि हो सकेगी।

भारत के प्रमुख आयात

जनवरी १६५७ से व्यापार वर्गीकरण में संशोधन होने से वस्तुओं के समूह पहले से थोड़े भिन्न हो गए हैं।[1] १६५८ की आयात की स्थिति इस प्रकार थी :—

(करोड़ रु० में)

	(१६५८)
(१) मशीनें (बिजली की छोड़ कर)	१३६·६
(२) लोहा व इस्पात	६७·८
(३) पेट्रोल की वस्तुएँ	६०·३
(४) बिजली की मशीनें व औजार	४६·०
(५) कपास	३०·७
(६) गेहूँ	१०२·७
(७) रासायनिक पदार्थ	२८·४
(८) दवाइयाँ	१०·२
(६) ताँबा	१३·५
(१०) चावल	४४·०
(११) फल	१२·३
(१२) ऊन व बाल	११·०
(१३) विविध	२६४·४
कुल	८६४·२

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि भारत के प्रमुख आयात मशीनें, लोहा व इस्पात, पेट्रोल, खाद्यान्न, कपास, रासायनिक पदार्थ व दवाइयाँ एवं ऊन आदि हैं। इन पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ नीचे दी जाती हैं :—

(१) मशीनें :—द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में आधारभूत उद्योगों व यातायात के साधनों का विकास करने के लिए विदेशों से काफी मात्रा में मशीनों का आयात किया

वर्षों तक भारत विदेशों से आवश्यक मशीनें मँगावेगा। भारत में मशीनें ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी आदि देशों से आती हैं।

(२) लोहा व इस्पात :—भारत में लोहे व इस्पात की मांग इनकी पूर्ति से अधिक है। इसलिए इनका आयात किया जाता है। तीन नए इस्पात के कारखाने स्थापित करके इनका उत्पादन बढ़ाया जा रहा है। फिर भी तीव्र औद्योगिक विकास के लिए लोहे व इस्पात का आयात करना होगा। भारत में लोहा व इस्पात इंगलैंड, अमेरिका व पश्चिमी जर्मनी से मंगाया जाता है।

(३) पेट्रोल :—भारत में पेट्रोल की माँग निरन्तर बढ़ रही है लेकिन देश में इसका अत्यन्त अभाव पाया जाता है। अतः पेट्रोल बर्मा, रूस, ईरान व अमेरिका से आयात किया जाता है। आजकल बिना साफ किया हुआ तेल (Crude oil) मंगा कर देश में साफ किया जाता है ताकि अवशिष्ट पदार्थों का उपयोग यहीं पर हो सके और देशवासियों को काम मिल सके।

(४) खाद्यान्न :—विभाजन के बाद भारत में प्रतिवर्ष विदेशों से खाद्यान्नों का आयात किया गया है। १९५१-५२ में खाद्यान्नों के आयात २२८·१ करोड़ रु० तक पहुँच गये। लेकिन प्रथम पंच-वर्षीय योजना में खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ने से इनका आयात कम कर दिया गया जो १९५५-५६ में घट कर केवल १७·५ करोड़ रु० का हो गया। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में पुनः खाद्यान्नों का आयात बढ़ गया है क्योंकि देश में इनकी मांग निरन्तर बढ़ती जा रही है। अमेरिका से पी० एल० ४८० के अन्तर्गत गेहूँ व चावल का आयात किया गया है। कनाडा से गेहूँ व वर्मा से चावल का आयात होता है। कोलम्बो योजना के अन्तर्गत आस्ट्रेलिया से खाद्यान्नों का आयात किया गया है।

खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ा कर इनका आयात कम किया जा सकता है।

(५) कपास :—भारत में बढ़िया किस्म की कपास का आयात अमेरिका, पाकिस्तान, सूडान व मिश्र से होता है लेकिन मोटे रेशे की कपास का निर्यात किया जाता है। देश में लम्बे रेशे की कपास का उत्पादन बढ़ाया जा रहा है ताकि इसका आयात कम किया जा सके। विभाजन के बाद भारत कपास का आयात करने वाला देश हो गया क्योंकि कपास के प्रमुख क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये। जूट का भी विभाजन के बाद अत्यन्त अभाव हो गया था लेकिन भारत सरकार ने जूट का उत्पादन बढ़ाकर इसका अभाव लगभग मिटा दिया है। १९५९ में पहली बार जूट का थोड़ा निर्यात हुआ।

(६) अन्य वस्तुएँ :—उपर्युक्त वस्तुओं के अलावा भारत में विदेशों से रासायनिक पदार्थ, दवाइयाँ, ऊन व बाल, ताँबा, कागज, रंगने का सामान आदि का भी आयात किया जाता है।

(७) कच्चा लोहा :—भारत में कच्चे लोहे का उत्पादन माँग से अधिक होता है। अतः यह जापान को प्रमुखतया निर्यात् किया जाता है। भारत में लोहे व इस्पात के उद्योग का विकास होने से कच्चे लोहे की माँग बढ़ेगी। देश में कच्चे लोहे की खपत बढ़ने से निर्यात कम हो जायगा।

(८) तम्बाकू :—१६५८ में लगभग १४·७ करोड़ रु० की तम्बाकू का निर्यात किया गया। इंगलैण्ड, जापान, स्वीडन, नीदरलैंन्ड आदि देश भारतीय तम्बाकू का आयात करते हैं। तम्बाकू की किस्म सुधारने से व इसे खराब होने से बचाने के उपाय अपनाने से निर्यात बढ़ने में सहूलियत रहेगी।

(६) बनस्पति तेलः—पहले भारत से तिलहन का निर्यात किया जाता था लेकिन आजकल देश में तेल की मिलों का विस्तार होने से विदेशों में तेल भेजा जाने लगा है। यहाँ से मूँगफली, अलसी व अंडी का तेल ब्रिटेन, बर्मा, इटली, बेल्जियम, आदि देशों को भेजा जाता है। भारत से मूँगफली का तेल ज्यादा निर्यात् किया जा सकता है।

(१०) विविध वस्तुएँ :—भारत से विदेशों में कई अन्य वस्तुएँ भी निर्यात् होती हैं जैसे काली मिर्च, चपड़ा, मैंगनीज आदि। कुछ वर्षों से इन्जीनियरिंग वस्तुओं का निर्यात बढ़ने लगा है, जैसे बिजली के पंखे, कपड़ा सीने की मशीनें, साइकिलें, संग्रह बेटरियाँ आदि। भविष्य में इनका निर्यात बढ़ने की सम्भावना है।

भारत के विदेशी व्यापार में आधुनिक प्रवृत्तियाँ
(Recent Trends in India's Foreign Trade)

प्रारम्भ में भारत के विदेशी व्यापार के संक्षिप्त इतिहास में बतलाया जा चुका है कि पिछले २० वर्षों में हमारे विदेशी व्यापार में काफी परिवर्तन हो गये हैं। यहाँ विदेशी व्यापार की आधुनिक प्रवृत्तियों पर विस्तृत प्रकाश डाला जाता है। सर्व-प्रथम द्वितीय महायुद्ध की अवधि में होने वाले परिवर्तनों का विवरण किया जायगा और उसके बाद स्वतन्त्रता प्राप्ति से लेकर अब तक की स्थिति का विवेचन होगा।

(१) १६३६ से १६४७ तक विदेशी व्यापार की बनावट (Composition)

(अ) निर्यात-व्यापार की बनावट में अन्तरः—युद्धकाल में पक्के माल का निर्यात बढ़ा। जूट का सामान व सूती कपड़ा अधिक मात्रा में निर्यात किया गया। जापान के युद्ध में लगे रहने के कारण भारतीय सूती कपड़े की मध्य-पूर्व, अफ्रीका व मलाया के बाजारों में माँग उत्पन्न होगई। भारत से चाय का निर्यात भी बढ़ा। इस प्रकार युद्धकाल में निर्यात व्यापार की बनावट में विशेष अन्तर नहीं पड़ा। जूट का सामान व चाय भारत के प्रमुख निर्यात रहे। तिलहन के स्थान पर तेल का निर्यात ज्यादा होने लगा।

सरकार ने युद्ध काल में निर्यात पर नियंत्रण स्थापित किया। निर्यात से जो विदेशी मुद्रा प्राप्त की जाती उस सर सरकारी नियंत्रण रहता।

(आ) आयात की बनावट में अन्तरः—निर्यात की बनिस्वत आयात व्यापार की

बनावट में ज्यादा अन्तर हो गया। १९३८-३९ में आयात में मशीनों, तेल, सूत, व सूती कपड़े, खाद्यान्नों व कपास की अधिकता थी। लेकिन विभाजन के बाद से कच्चे माल का आयात बढ़ने लगा है जो स्वाभाविक है, क्योंकि विकास कार्यों के लिए इसकी मांग दिनों-दिन बढ़ रही है।

१९३९-४७ की अवधि में व्यापार की दिशा में परिवर्तन:—१९३८-३९ में हमारे आयात-व्यापार में ब्रिटेन का स्थान सर्वोपरि था और उसके बाद बर्मा, जापान आदि देशों का था। उस समय अमेरिका का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं था, परन्तु युद्धकाल में अमेरिका का महत्त्व अन्य देशों की अपेक्षा काफी बढ़ गया।

युद्धकाल में व्यापार की बाकी:—युद्धकाल में आयात की बनिस्बत निर्यात ज्यादा होने से व्यापार का अन्तर भारत के पक्ष में रहा। भारत एक देनदार देश से एक लेनदार देश हो गया। इसने अपना समस्त स्टर्लिंग ऋण चुका दिया और लगभग १७०० करोड़ रु० का पौंड पावना इकट्ठा कर लिया। युद्ध के समाप्त होने पर पुनः आयात बढ़े और १९४४-४५ से १९४६-४७ तक व्यापार की बाकी भारत के विपक्ष में हो गई। तब से लगातार निर्यात की अपेक्षा आयात ही अधिक हो रहे हैं।

(२) **१९४७ से १९५९ तक के विदेशी व्यापार की स्थिति:**—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से हमारे विदेशी व्यापार में बड़े परिवर्तन देखने को मिलते है। यहाँ तक कि विदेशी व्यापार का सारा स्वरूप ही बदल गया है। इस अवधि में आयात और निर्यात दोनों की बनावट में काफी परिवर्तन हुआ। इन दोनों का अलग-अलग वर्णन नीचे किया जाता है।

(१) (अ) **निर्यात की मात्रा व बनावट में अंतर**—१९४८-४९ में निर्यात (पुन-निर्यात सहित) की कुल मात्रा ४५८·७ करोड़ रु० थी। १९४९-५० से १९५१-५२ तक निर्यात में वृद्धि होती रही और १९५१-५२ में ७३३·० करोड़ रु० तक के निर्यात किये जा सके। सितम्बर, १९४९ में रुपये के डालर में अवमूल्यन हो जाने से डालर क्षेत्रों में निर्यात बढ़े और कोरिया युद्ध के कारण मांग बढ़ने से १९५१-५२ में निर्यात चर्म-सीमा पर पहुँच गये। लेकिन युद्ध का प्रभाव घटने पर पुनः १९५२-५३ में निर्याग ५७७·३ करोड़ रु० तक के रह गये। आगे के वर्षों की निर्यात की रकम नीचे दी जाती है।

	निर्यात का मूल्य (करोड़ रु०) में
१९५३-५४	५३०·७
१९५४-५५	५९३·५
१९५५-५६	५९७·२
१९५६-५७	६३५·२
१९५७-५८	५९४.७
१९५८-५९	५७६·१
१९५९-६० (प्रारम्भिक) अनुमान	६२३·०

उपर्युक्त तालिका से पता चलता है कि १९५८-५९ तक केवल १९५६-५७ को छोड़कर हमारे निर्यात लगभग स्थिर रहे अथवा थोड़ी गिरावट भी आयी। यह एक चिन्ताजनक विषय है। विदेशी बाजारों में भारत को बढ़ती हुई प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है। ११५९-६० में पुनः निर्यात में थोड़ी वृद्धि हुई है लेकिन अभी तक इस दिशा में बहुत कुछ करना बाकी है।

१९४८-४९ में निर्यात में सर्वप्रथम स्थान जूट के सामान का था और बाद में चाय, सूत व सूती कपड़ा, कपास, चमड़ा व खालें और तेल आदि का स्थान आता था। १९५४-५५ में निर्यात में प्रथम स्थान चाय को मिल गया। आजकल भी निर्यात में चाय का ही सबसे ऊँचा स्थान है। हालांकि आज भी निर्यात में तीन चीजें ही प्रमुख हैं, (चाय, जूट का सामान व सूती कपड़ा) लेकिन कई नई वस्तुओं का निर्यात भी बढ़ रहा है जैसे कपड़ा सीने की मशीनें, साइकिलें, कृषि के औजार, बिजली के पंखे आदि। अतः निर्यात व्यापार में विविधता आने लगी है और निर्यात में पक्के माल का स्थान बढ़ रहा है।

(१) (आ) आयात की मात्रा व बनावट में अंतरः—देश के विभाजन, खाद्य-संकट एवं पंच-वर्षीय योजनाओं के कारण आयात-व्यापार की मात्रा व बनावट में बहुत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होगये हैं। विभाजन के कारण भारत को कपास व कच्चा जूट आयात करने के लिए बाध्य होना पड़ा। खाद्य-संकट के कारण विदेशों में करोड़ों रु० का अनाज व आटा मंगाना पड़ा। आर्थिक विकास के लिए कच्चे माल व मशीनों का आयात भी बढ़ाना पड़ा। परिणामस्वरूप १९५६-५७, १९५७-५८ व १९५८-५९ में क्रमशः आयात का मूल्य १०९९·५ करोड़ रु०, १२०४·२ करोड़ रु०, १०४६·५ करोड़ रु० तक पहुँच गया। द्वितीय योजना के प्रथम दो वर्षों के आयातों ने देश के समक्ष विदेशी विनिमय संकट उपस्थित कर दिया।

इस प्रकार पिछले वर्षों से हमारे आयातों में विकास सामग्री का स्थान बढ़ रहा है जो देश की औद्योगिक प्रगति का सूचक है। जिन उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन भारत में हो सकता है उनका आयात बन्द किया गया है। इस प्रकार उपभोग्य वस्तुओं का आयात घट रहा है।

(२) १९४७ से १९५९ तक की अवधि में विदेशी व्यपार की दिशाः—ब्रिटेन व अमेरिका का हमारे विदेशी व्यापार में आज भी महत्त्वपूर्ण स्थान है लेकिन पिछले वर्षों से ओ० ई० ई० सी० देशों का (इटली, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी आदि) और साम्यवादी देशों का स्थान भी बढ़ रहा है।

(३) व्यापार के घाटे में वृद्धिः—इस अवधि में व्यापार का घाटा काफी बढ़ गया है। १९४८-४९ में यह २८३·८ करोड़ रु० था। १९५०-५१ में एक बार यह ३·५ करोड़ रु० ही रह गया लेकिन पुनः १९५१-५२ में यह २३२·८ करोड़ रु० हो गया।

१९५७-५८ में तो यह ६०९·५ करोड़ रु० तक पहुँच गया। लगातार व्यापार में घाटा रहने से हमारे विदेशी विनिमय कोष काफी घट गये और हमें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विदेशों से सहायता व ऋण लेने पड़े।

(४) **व्यापारिक समझौतों का विशेष प्रचार**:—भारत ने निर्यात बढ़ाने के लिए पिछले वर्षों में व्यापारिक समझौतों का सहारा लिया है। अब तक व्यापारिक समझौतों की संख्या[1] २७ हो गई है। इस सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण इस अध्याय के परिशिष्ट में किया गया है। इन द्विपक्षीय व्यापारिक समझौतों में निर्यात व आयात की मदें निश्चित की जाती हैं। इनसे विदेशी व्यापार के बढ़ने में बहुत मदद मिली है।

भारत सरकार की आयात नीति (Import Policy)

भारत सरकार की आयात नीति में समय-समय पर परिवर्तन हुए हैं। कभी यह उदार रही है तो कभी कठोर। १९४८ में आयात नीति उदार रखी गई जिससे आयात काफी बढ़ गये। इसलिए मई १९४९ में आयातों पर प्रतिबन्ध लगाया गया। अगस्त, १९४९ में प्रतिबन्ध और भी कड़े कर दिये गये। १९५०-५१ में पुनः उदारता बरती गई। आयात की सूची में कई वस्तुएँ जोड़ी गईं। १९५३ में भी उदार नीति चलती रही लेकिन कई वस्तुओं पर आयात कर बढ़ाये गये। आयात कर लगने से देश में कई वस्तुओं का उत्पादन प्रोत्साहित हुआ। १९५५-५६ में भी आयात नीति का उद्देश्य देश के आर्थिक विकास में योग देना ही रखा गया और इसलिए कच्चा माल व मशीनों के आयात में उदार नीति दिखाई गई। परिणामस्वरूप १९५६-५७ में आयात का मूल्य १,०९९·५ करोड़ रु० हो गया। विदेशी व्यापार में इस वर्ष ४६४·३ करोड़ रु० का घाटा हुआ और विदेशी विनिमय कोषों में २२१ करोड़ रु० की कमी आ गई।

देश के समक्ष विदेशी विनिमय संकट आने से १९५७ के मध्य से प्रतिबन्ध लगाये गये और उदार आयात नीति छोड़ दी गई। लेकिन पुराने समझौते होने के कारण कड़ी आयात नीति का प्रभाव १९५७-५८ की अवधि में सामने नहीं आ पाया। १९५७-५८ में आयात का मूल्य १२०४·२ करोड़ रु० हो गया जो पिछले वर्ष से भी अधिक था। व्यापार का घाटा भी बढ़ कर ६०९·५ करोड़ रु० हो गया और विदेशी विनिमय कोषों में २६० करोड़ रु० की कमी हो गई। १९५८-५९ की अवधि में आयात घट कर १,०४६·५ करोड़ रु० हो गये और विदेशी विनिमय कोषों में सिर्फ ४७ करोड़ रु० की कमी आई। इस प्रकार १९५७ के मध्य में अपनाई गई प्रतिबन्धात्मक-आयात-नीति का प्रभाव १९५८-५९ की अवधि में दिखाई दिया।

1. India 1960, P. 339.

वर्तमान आयात नीति के मुख्य लक्षण:—

(१) वार्षिक विदेशी विनिमय बजट बनाया जाने लगा है ताकि किसी भी वर्ष अत्यधिक मात्रा में आयात नहीं हो सके और विदेशी विनिमय का उचित वंटवारा किया जा सके। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के प्रथम दो वर्षों में विदेशी विनिमय बजट के अभाव में ही अप्रत्याशित आयात हो गये थे। अतः भविष्य में यह दिक्कत नहीं रहेगी।

(२) अनावश्यक आयातों पर रोक लगा दी गई है। जिन उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन भारत में हो सकता है और उससे देश की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है, उनका आयात वन्द कर दिया गया है।

(३) कच्चे माल के आयातों के लिए पर्याप्त उदारता व स्वतन्त्रता प्रदान की गई है ताकि देश का आर्थिक विकास हो सके।

(४) पूँजीगत वस्तुओं का आयात उपलब्ध विदेशी सहायता के अनुसार नियमित किया जाता है।

भारत सरकार की उपर्युक्त आयात नीति देश की आवश्यकताओं के अनुकूल कही जा सकती है। स्मरण रहे कि भारत के लिए बिना सोचे-समझे आयातों पर प्रतिवन्ध लगाना घातक सिद्ध होगा क्योंकि ऐसा करने से योजनाओं के विकास-कार्यक्रमों को क्षति पहुँचेगी। इसलिए एक तरफ अनावश्यक वस्तुओं के आयात पर प्रतिवन्ध लगाया जाना चाहिए तो दूसरी तरफ आवश्यक विकास-सामग्री का आयात उदारतापूर्वक होना चाहिए। हमारी आयात-नीति इन दोनों लक्ष्यों को प्राप्त कर सकेगी, अतः यह वैज्ञानिक है और देश के हित में है।

१९५८-५९ में निजी क्षेत्र में आयात कम हुए और सरकारी क्षेत्र में आयात वढ़े। कपास का आयात वढ़ा। विदेशों से आयात करते रहने के लिए हमें निर्यात बढ़ाने पर जोर देने की आवश्यकता है। पिछले वर्षों में निर्यात वढ़ाने के काफी प्रयत्न किये गये हैं लेकिन कुछ कारणों से अभी तक इस दिशा में सराहनीय सफलता नहीं मिल पाई है।

भारत में निर्यात-संवर्द्धन (Export Promotion in India)

द्वितीय महायुद्ध में निर्यात नियंत्रण की नीति अपनाई गई थी। लेकिन युद्ध समाप्त होने के वाद और विशेषतया विभाजन के वाद निर्यात वढ़ाने की नीति पर जोर दिया गया है। वढ़ते हुए आयातों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए निर्यात वढ़ाना आवश्यक है। पिछले वर्षों में सरकार ने निर्यात वढ़ाने के लिए कई उपाय काम में लिए हैं लेकिन अभी तक इस दिशा में वहुत कुछ करना वाकी है।

जून १९५७ में एक विदेशी व्यापार वोर्ड और एक निर्यात-संवर्द्धन-विभाग स्थापित किये गये हैं। निर्यात-संवर्द्धन-विभाग को चार टुकड़ों में वाँटा गया है जिसकी तीन

प्रादेशिक शाखाएँ बम्बई, मद्रास व कलकत्ता में स्थित हैं। इन शाखाओं के निम्न कार्य हैं :—

(अ) निर्यात-संवर्द्धन-समितियों के कार्यों में योग देना;

(आ) विशेष वस्तुओं के निर्यात बढ़ाने के ठोस उपाय ढूँढ़ना और निर्यातकों को लक्ष्य प्राप्त करने में मदद पहुँचाना;

(इ) प्रशासनीय व पद्धति की कठिनाइयाँ दूर करने में व्यापार की सहायता करना।

सरकार ने पिछले वर्षों में निम्न ११ वस्तुओं के लिए निर्यात-संवर्द्धन समितियाँ (Export Promotion Councils) स्थापित की हैं; (१) सूती वस्त्र; (२) रेशम व रेयोन वस्त्र; (३) प्लास्टिक व लिनोलिअम; (४) काजू व मिर्च; (५) तम्बाकू; (६) खेल का सामान; (७, रासायनिक व सहायक पदार्थ; (८) चपड़ा (Shellac); (९) चमड़ा; (१०) इंजीनियरिंग माल; (११) अभ्रक।

निर्यात-संवर्द्धन-सलाहकार समिति भी निर्यात बढ़ाने के लिए उचित नीति के सुझाव के लिए स्थापित की गई। अगस्त, १९५९ में इसमें व्यापारियों के प्रतिनिधि भी शामिल किये गये।

निर्यात जोखिम बीमा निगम (Export Risks Insurance Corporation)—यह जुलाई, १९५७ में ५ करोड़ रु० की अधिकृत पूँजी से स्थापित किया गया। यह निगम उन जोखिमों का बीमा करता है जिनका कि अन्य व्यापारिक बीमा कम्पनियाँ प्रायः नहीं करती हैं। निगम ने कलकत्ता व मद्रास में अपनी शाखाएँ खोली हैं। [1]१९५८-५९ में निगम ने १७६ पॉलिसी निर्गमित की जिनमें अधिकतम देनदारी ६·८३ करोड़ रु० की थी।

भारतीय माल का प्रदर्शन इटली, टोकियो, कनाडा, व सिडनी के मेलों में छोटे पैमाने पर किया गया और कैलीफोर्निया, शिकागो आदि में बड़े पैमाने पर किया गया। बगदाद, बुडापेस्ट, रियोडी जेनीरो आदि में नुमाइशें लगाई गई जिनमें भारतीय माल का प्रचार किया गया।

विभिन्न निर्यात-संवर्द्धन-समितियों ने व्यापारिक प्रतिनिध-मंडल विदेशों में भेजे ताकि निर्यात के लिए नये बाजार ढूँढ़े जा सकें। १९५९-६० की अवधि में अमेरिका, बर्मा व स्वीडन से भारत में व्यापारिक प्रतिनिधि-मण्डल आये जिन्होंने भारतीय माल खरीदने के अवसरों की जाँच की।

भारत सरकार ने निर्यात बढ़ाने के लिए निम्न कदम उठाये हैं :—

(अ) निर्यात-उद्योगों में काम आने वाले कच्चे माल पर आयात-कर वापिस करने की नीति अपनाई गई है। उन पर उत्पादन-करों में भी छूट दी जाती है;

(आ) निर्यात-करों में कमी की गई है जैसे चाय, सूती कपड़ा, कपास पर अथवा

1. India 1960, P. 339.

कहीं-कहीं निर्यात-कर समाप्त भी किये गये हैं जैसे मूँगफली का तेल, अरण्डी का तेल और मैंगनीज पर;

(इ) देश के आन्तरिक भागों से बन्दरगाह तक रेल द्वारा निर्यात का माल भेजने में ५०% भाड़े की कमी की स्वीकृति दी गई है। यह सुविधा साइकिलों, मोटर की बेटरियों व ऑयल प्रेसर लेम्प के लिए दी गई है;

(ई) निर्यात के कोटा तिलहन व तेल के लिए उदार बनाये गये हैं।

राज्य-व्यापार-निगम (State Trading Corporation)

राज्य-व्यापार-निगम ५ करोड़ रु० की अधिकृत पूँजी से मई, १९५६ में सरकारी संगठन के रूप में स्थापित किया गया था। इसका उद्देश्य भी निर्यात बढ़ाना है। यह नियंत्रित अर्थ-व्यवस्था (Controlled Economies) वाले देशों में भारतीय वस्तुओं का निर्यात बढ़ाने में प्रयत्नशील रहेगा। ऐसा करने से ही भारत को इन देशों से इस्पात, सीमेंट व अन्य औद्योगिक साज-सामान मिल सकेगा।

निगम ने सस्ते भावों पर सीमेंट, सोडा एश, कास्टिक सोडा, कच्चा रेशम, उर्वरक, शेलखरी (Gypsum), पाउडर दूध व अखबारी कागज आयात करने में सफलता प्राप्त की है।

निगम ने खनिजों, जूतों, दस्तकारी की वस्तुओं, नमक, चाय, कहवा व ऊनी कपड़ों के निर्यात में भाग लिया है। निगम ने अब तक लगभग १२६ करोड़ रु० का व्यवसाय किया है (५२ करोड़ रु० का आयात और ७४ करोड़ रु० का निर्यात)।

जुलाई, १९५६ में सरकार ने निगम को यह कार्य सौंपा कि वह देश के उत्पादकों से सीमेंट प्राप्त करे और विदेशों से आयात भी करे और फिर सारी वस्तु को एक भाव पर भारत में बेचने की व्यवस्था करे। इस कार्य के लिए निगम को कमीशन मिलता है। पूर्ति की स्थिति ठीक होने से निगम ने २ लाख टन सीमेंट निर्यात करने का अधिकार भी सरकार से १९५८ में प्राप्त किया। जुलाई, १९५७ से कच्चे लोहे के निर्यात का कार्य भार भी निगम पर आ गया है। आशा है राजकीय-व्यापार निगम भविष्य में निर्यात बढ़ाने में ज्यादा सफल हो सकेगा। इसके लिए निगम के ढांचे व नीति में आवश्यक परिवर्तन किया जाना चाहिए।

तृतीय पंच-वर्षीय योजना व निर्यात-व्यापार

निर्यात बढ़ाने की आवश्यकता[1]—भारत की विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में आयात निरंतर बढ़ते जा रहे हैं। वैसे देश में उत्पादन बढ़ने से कई वस्तुओं का आयात घटता है लेकिन अन्य वस्तुओं का आयात बढ़ाना भी पड़ता है। अतः कुल मिलाकर आयातों में वृद्धि ही होती है। द्वितीय योजना की अवधि में निर्यात बढ़ाने की आवश्यकता पर

1. Draft Outline of The Third Five Year Plan, P. 52-57 पर आधारित.

बल दिया गया था और निर्यात बढ़ाने के कई उपाय भी काम में लिये गये थे। परिणामस्वरूप १९५९-६० की अवधि में निर्यातों में अभिवृद्धि दिखाई दी है। तृतीय पंच-वर्षीय योजना में निर्यात बढ़ाने की आवश्यकता और भी बढ़ गई है। योजना आयोग का अनुमान है कि १९६१-६२ से १९६५-६६ की अवधि में अर्थ-व्यवस्था की गति को बनाये रखने के लिए हमें ३,५७० करोड़ रु० के आयातों (Maintenance imports) की आवश्यकता होगी। इसी अवधि में लगभग ५०० करोड़ रु० की विदेशी मुद्रा की आवश्यकता द्वितीय योजना काल व तृतीय योजना की अवधि में लिए गए ऋणों को चुकाने के लिए होगी। इस प्रकार ४,०७० करोड़ रु० की विदेशी मुद्रा की आवश्यकता गैर-योजना कार्यों के लिए होगी। इसके अतिरिक्त २,१०० करोड़ रु० की विदेशी विनिमय की आवश्यकता योजना कार्यों के लिए होगी। (१,९०० करोड़ रु० की मशीनें व योजना के प्रोजेक्टों के लिए अन्य सामग्री के लिए व २०० करोड़ रु० का सामान देश में मशीनों का उत्पादन आदि बढ़ाने के लिए)। इस प्रकार कुल ६,१७० करोड़ रु० की विदेशी मुद्रा की आवश्यकता तृतीय योजना काल में होगी।

योजना आयोग का अनुमान है कि १९६१-६२ से १९६५-६६ तक निर्यातों से ३,४५० करोड़ रु० की विदेशी विनिमय मिल सकेगी व अन्य उद्देश्यों की बचत से १२० करोड़ रु० तक विदेशी मुद्रा मिल सकेगी। इस प्रकार कुल ३५७० करोड़ रु० की विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकेगी और परिणामस्वरूप २,६०० करोड़ रु० (६,१७० करोड़ रु०—३,५७० करोड़ रु०) का अन्तर रहेगा। इस अन्तर को भरने के लिए विदेशों से उधार लेना होगा। लेकिन दीर्घ-कालीन दृष्टिकोण से निर्यात बढ़ाकर आयात की माँग की पूर्ति करना ज्यादा श्रेयष्कर होगा। अतः तृतीय योजना में निर्यात बढ़ाने पर बल दिया गया है और १९६१-६२ से १९६५-६६ की अवधि में निर्यात का सालाना औसत ६९० करोड़ रु० माना गया है।

तृतीय योजना में निर्यात बढ़ाने के प्रस्तावित कार्यक्रम[1]—तृतीय योजना काल में प्रतिवर्ष ६९० करोड़ रु० तक का निर्यात करने का लक्ष्य रखा गया है। लेकिन इससे भी अधिक निर्यात करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये।

प्रचलित दिशाओं में निर्यात बढ़ाने की गुन्जाइश है। भारतीय चाय, कहवा, वनस्पति तेल, दालें, फल व सब्जी, छोटे रेशे की कपास, तम्बाकू व गरम मसालों का निर्यात बढ़ाया जा सकता है। इनका उत्पादन बढ़ाना चाहिये ताकि बढ़ती हुई घरेलू माँग की पूर्ति करने के बाद निर्यात में भी बढ़ोतरी की जा सके।

मछली व ऊन एवं कमाये हुए चमड़े व खालें आदि का निर्यात भी बढ़ाया जा सकता है।

---

1. Draft Outline of The Third Five Year Plan, P. 80-83 पर आधारित.

कच्चे लोहे का निर्यात १९५९-६० के ३ मिलियन टन से बढ़कर तृतीय योजना के अन्त तक १० मिलियन टन तक हो जाने की आशा है। पिग लोहा, फेरो-मैंगनीज व अभ्रक का निर्यात भी बढ़ेगा।

जूट के माल व सूती कपड़े की किस्म सुधारनी होगी और कीमत कम करनी होगी ताकि विदेशी बाजारों में बिक्री बढ़ सके।

नई दिशाओं में निर्यात बढ़ाना होगा। इन्जीनियरिंग, रासायनिक व फर्मास्यूटिकल उद्योगों का माल निर्यात करना होगा जैसे कृषि के औजार, डिजल इन्जन, बिजली की मोटर, पम्प, सीने की मशीनें, घरेलू बिजली का सामान व औजार आदि। इनका निर्यात ५-६ गुना किया जा सकता है।

राजकीय व्यापार बढ़ाना चाहिये। अफ्रीका, लेटिन अमेरिका व एशिया के अन्य देशों से व्यापार बढ़ाना होगा।

निर्यात बढ़ाने के लिए व्यापारिक नीति, विनियोग नीति, मूल्य-नीति व राजकोषीय नीति (Fiscal Policy) सभी को ऐसा बनाना होगा कि हमारा लक्ष्य प्राप्त हो सके।

निर्यात बढ़ाने के अन्य सुझाव—१९५९-६० में भारत से ६२३ करोड़ रु० का माल निर्यात किया गया। तृतीय योजना की अवधि में सालाना निर्यात ६९० करोड़ रु० तक करने का लक्ष्य रखा गया है। निर्यात के इस लक्ष्य तक पहुँचना बहुत आवश्यक है क्योंकि हमारे आयात बढ़ रहे हैं, विदेशी विनिमय कोष बहुत घट गये हैं और विदेशी ऋणों पर कब तक निर्भर किया जा सकता है। अतः निर्यात बढ़ाना आवश्यक है। पिछले वर्षों में प्रयत्न करने पर भी निर्यात विशेष नहीं बढ़े अथवा कुछ दिशाओं में घट गये। हमें इनके कारणों को समझना होगा और स्थिति में आवश्यक सुधार करना होगा। भारत में निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की घरेलू माँग तेजी से बढ़ रही है। सूती कपड़ा, चीनी, चाय, कपास, तम्बाकू, तिलहन, कच्चा लोहा, कोयला, सीमेंट, जूट का माल, वनस्पति तेल, जूते, बिजली का सामान आदि की माँग भारत में बढ़ रही है। देश में आय की वृद्धि, शहरीकरण, उपभोक्ता की प्राथमिकताओं में परिवर्तन आदि से इन वस्तुओं की घरेलू माँग का बढ़ना स्वाभाविक है। देश में मुद्रा-स्फीति होने से निर्यातक घरेलू बाजार में माल बेचकर लाभ प्राप्त करना पसंद करते हैं और निर्यात के झंझट से बचना चाहते हैं। निर्यात की वस्तुओं की लागत बढ़ रही है जैसे जूट के माल व चीनी की उत्पादन-लागत बढ़ी है। कहीं-कहीं निर्यात उद्योगों को मशीनों की कमी आदि का भी सामना करना पड़ा है। जूट के माल के प्रतिस्थापन्न पदार्थ निकल रहे हैं, लाख के सम्बन्ध में थाईलैंड की प्रतिस्पर्द्धा, एवं चाय में किस्म व कीमत में लंका व पूर्वी अफ्रीका की प्रतिस्पर्द्धा के कारण इन वस्तुओं की विश्वव्यापी माँग में कमी व परिवर्तन उत्पन्न हो रहे हैं।

हमें निर्यात बढ़ाने के लिए उपर्युक्त कारणों को दूर करने का प्रयास करना होगा। इस संबंध में निम्न सुझाव दिए जा सकते :—[1]

(१) अल्पकालीन उपाय :—

(क) निर्यात सहायता (Export Subsidy)—निर्यात की वस्तुओं के उत्पादकों को आर्थिक सहायता या तो निर्यात-माल की मात्रा के अनुसार या न्यूनतम उत्पादन से अधिक उत्पादन की मात्रा के अनुसार दी जा सकती है। इससे वे घरेलू बाजार में बेचने के स्थान पर विदेशी बाजारों में बेचने के लिए आकर्षित होंगे।

(ख) राजकीय व्यापार निगम द्वारा व्यवस्था—उपर्युक्त उपाय के साथ-साथ एक दूसरा तरीका निर्यात बढ़ाने का यह भी है कि राजकीय व्यापार निगम निर्यात की वस्तुओं को यहाँ खरीद कर विदेशों में बेचने की व्यवस्था करे इस संबंध में जो रुपयों की हानि हो उसे सरकार विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के लिए बरदाश्त करे।

(ग) निर्यात व्यापार का विभिन्न देशों में बढ़ाना (Diversification of Export Trade)—भारत को अपनी वस्तुओं के निर्यात के लिए नए बाजार तलाश करने पड़ेंगे ताकि प्रचलित वस्तुओं का निर्यात भी बढ़ सके।

(घ) अन्य उपाय—निर्यात उद्योगों की क्षमता का अधिकतम उपयोग किया जाय। निर्यात नियंत्रण घटाये जाँय या हटाये जाँय। निर्यात कोटा बढ़ाया जाय। लाइसेन्स पद्धति सुधारी जाय। वस्तुओं की किस्म सुधारी जाय। विदेशी बाजारों से सम्पर्क गहरा किया जाय। निर्यात उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल व सामान का आयात किया जाय एवं निर्यात का संगठन अच्छा किया जाय। भारत को निर्मित माल, कच्चा माल, खनिज पदार्थ आदि का परिस्थिति के अनुसार निर्यात बढ़ाना होगा।

(२) दीर्घकालीन उपाय—भारत सरकार को निर्यात बढ़ाने के लिए निर्यात-उद्योगों के उत्पादन पर विशेष बल देना होगा। अभी तक भारत में उन वस्तुओं के उत्पादन पर ध्यान दिया गया है जो विदेशों से आयात नहीं की जा सकती हैं। (Non-importable goods) अथवा आयात की वस्तुओं के प्रतिस्थापन के रूप में काम आ सकती हैं (Import-substitutes) भविष्य में निर्यात-उद्योगों पर अधिक ध्यान देना होगा।

उपर्युक्त निर्यात बढ़ाने के लिए सारे प्रयत्न तभी सफल हो सकते हैं जबकि विकसित देश उदार आयात नीति (Liberal import policy) अपनावें और विकासोन्मुख देशों की बनी हुई वस्तुओं का स्वागत करें। विकसित देशों को केवल ऋण देकर ही अपनी जिम्मेदारी की इतिश्री नहीं माननी चाहिए बल्कि अर्द्ध विकसित

1. See article by S. Ranganathan in 'Yojana', Aug. 7, 1960 and another article by Prof. Bhabatosh Dutta in 'Yojana', Sept. 4, 1960

देशों का बना हुआ माल खरीद कर भी उनको आर्थिक विकास में सहयोग देना चाहिए।

भारत का भुगतान-संतुलन
(India's Balance of Payments)

ऊपर यह बताया जा चुका है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से लगातार व्यापार की बाकी भारत के विपक्ष में रही है। यहाँ पर भुगतान-संतुलन की मदों का विवेचन किया जायगा। किसी भी देश के भुगतान-संतुलन के खाते में तीन किस्म के लेन-देन शामिल होते हैं :—

(१) वस्तुएँ व सेवाएँ;

(२) दान (Donations);

(३) विनियोग व मौद्रिक सोना (Investments and monetary gold)

प्रथम दो किस्म के लेन-देन चालू खाते (Current account) में शामिल होते हैं और तृतीय भाग पूँजीगत खाता (Capital account) कहलाता है।

(१) व्यापार की बाकी (Balance of Trade) में दृश्य आयात व दृश्य निर्यात का विवरण होता है। किसी भी देश के भुगतान-संतुलन के खाते में वस्तुओं का आयात और निर्यात प्रमुख माना जाता है। वस्तुओं के आयात व निर्यात में भारी परिवर्तन होने से भुगतान-संतुलन पर भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

वस्तुओं के अलावा सेवाओं का आयात व निर्यात होता है जैसे विदेशी यात्रा, यातायात, बैंकिंग व बीमा, विनियोग की आय आदि। भारत के सेवा आयातों में निम्न बातें शामिल की जायेंगी :—

(१) जो ऋण भारत ने विदेशों से लिया है, उसका व्याज देना होता है;

(२) जो विद्यार्थी विदेशों में अध्ययन के लिए जाते हैं उनके लिए धन भेजना पड़ता है;

(३) भारतीय यात्रियों को विदेशों में व्यय करना पड़ता है;

(४) विदेशी बैंकों, जहाजी कम्पनियों व बीमा कम्पनियों से प्राप्त सेवाओं का भुगतान करना पड़ता है।

(५) विदेशों में भारतीय दूतावासों पर सरकार को व्यय करना पड़ता है।

भारत के सेवा निर्यातों में निम्न दरें आयेंगी :—

(१) विदेशों को दिए हुए ऋणों से भारत को प्राप्त होने वाली व्याज की आय;

(२) जो विदेशी विद्यार्थी भारत में अध्ययन करते हैं और वे यहाँ व्यय करते हैं;

(३) विदेशी यात्रियों द्वारा भारत में किया जाने वाला खर्च;

(४) भारतीय बैंकों, जहाजी कम्पनियों व बीमा कम्पनियों की सेवाओं के बदले में प्राप्त आय;

(५) भारत में विदेशी दूतावासों पर किया जाने वाला व्यय आदि।

ये सेवाएँ अदृश्य (Invisible) होती हैं अतः इन्हें अदृश्य आयात व निर्यात में माना जाता है।

(२) दान (Donations)—इनमें नकद या वस्तु के रूप में भेंट, व्यक्तिगत व पारिवारिक भुगतान एवं प्रवासियों द्वारा किए गए अन्तरण (Transfer) आते हैं। ये एक तरफा सौदे होते हैं और भुगतान संतुलन के खाते में अलग से दिखाये जाते हैं।

(३) विनियोग व मौद्रिक सोना—इनसे भुगतान-संतुलन खाते का 'पूँजी खाता' (Capital account) बनता है। वस्तुओं, सेवाओं व दान से 'चालू खाता' (Current account) बनता है। यदि चालू खाते में बचत है तो एक देश विदेशी सम्पत्ति प्राप्त करेगा या अपने पुराने कर्ज चुका देगा। यदि चालू खाते में घाटा है तो एक देश या तो अपनी संगृहीत सम्पत्ति काम में ले डालेगा अथवा विदेशों में उधार लेगा।

भुगतान-संतुलन खाते के घाटे या बचत का प्रभाव विदेशी विनिमय कोषों पर पड़ना आवश्यक है। यदि उसमें बचत है तो विदेशी विनिमय कोष बढ़ेंगे अन्यथा घटेंगे। यदि मुद्रा-अधिकारी देश में घरेलू कार्यों के लिए भी सोना बेचते हैं तो उनके पास सोना कम होता है। इसका वही परिणाम होता है जो वस्तुओं के आयात का होता है। अतः सोने के घरेलू सौदे भी मुद्रा-अधिकारी 'पूँजी खाते' में दिखाते हैं।

भारत में भुगतान-संतुलन की स्थिति

१९४८ से भारत के भुगतान-संतुलन की सूचना नियमित रूप से एकत्र की जा रही है। १९४८ से १९५९ तक की अवधि में चालू खाते में सरकारी डॉनेशन्स (Official Donations) मिलाकर स्थिति निम्न प्रकार से रही :—

१९४८-४९ से १९५१-५२ तक चालू खाते में सरकारी डॉनेशन्स मिलाकर काफी घाटा रहा। यह घाटा[1] ४२२·९ करोड़ रु० का हुआ। इन्हीं वर्षों में निजी पूँजी भी बाहर गई जो ६५·४ करोड़ रु० की थी। भूल-चूक ४३·७ करोड़ रु० की मानी गई। ब्रिटेन व पाकिस्तान को क्रमशः पेंशन व अविभाजित भारत की सम्पत्ति में हिस्से के रूप में भुगतान भी इसी अवधि में हुए। इन दोनों भुगतानों व अन्य सौदों सहित कुल रकम ४१२·४ करोड़ रु० थी। इस अवधि में सरकारी सहायता व ऋण के रूप में सिर्फ ९२ करोड़ रु० प्राप्त हुए। अतः ८५९·८ करोड़ रु० की व्यवस्था विदेशी कोषों में कमी करके, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं अन्य साधनों से उधार लेकर की गई।

1. India's Balance of Payments 1948-49--1955-56, P. 19, Table IV

१६५२-५३ व १६५३-५४ में चालू खाते में बचत रही और कुल मिलाकर विदेशी कोषों में वृद्धि हुई। १६५४-५५ व १६५५-५६ में चालू खाते में तो घाटा रहा लेकिन विदेशी सहायता व ऋण मिल जाने से विदेशी कोष थोड़े बढ़े।

१६४८-४६ से १६५५-५६ के ८ वर्षों में ७२०·७ करोड़ रु० के विदेशी विनिमय कोष घट गये। १६५६-५७ से १६५८-१६५६ की भुगतान संतुलन की स्थिति निम्न[1] तालिका से स्पष्ट होती है :—

(करोड़ रु० में)

	१६५६-५७	१६५७-५८	१६५८-५६
(१) व्यापार की बाकी	−४६४·३	−६०६·४	−४७०·४
(२) सरकारी सहायता	+ ३६·४	+ ३२.७	+ ४०·६
(३) अन्य अदृश्य (विशुद्ध)	+११२·५	+१००·६	+ ६०·७
(४) चालू खाता (विशुद्ध)	−३१२·३	−४७५·६	−३३८·८
(५) भूल-चूक	+ १·६	− ४·१	− २८·०
(६) सरकारी ऋण	+ ३०·७	+ १२·३	+२१६·७
(७) अन्य पूँजीगत सौदे (विशुद्ध)	+ ५८·७	+१२७·८	+१०३·५
विदेशी विनिमय कोषों में परिवर्तन (वृद्धि + कमी −)	−२२१·३	−२५६·६	−४६·६

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि भुगतान-संतुलन की स्थिति द्वितीय योजना के प्रथम दो वर्षों में बहुत बिगड़ी। देश के समक्ष विदेशी विनिमय संकट उपस्थित हो गया। १६५६-५७ व १६५७-५८ में क्रमशः २२१ करोड़ रु० के विदेशी विनिमय कोष घट गये। १६५८-५६ में स्थिति थोड़ी सुधरी और सिर्फ ४७ करोड़ रु० के विदेशी विनिमय कोष ही घटे।

१६४८-४६ से १६५८-५६ तक के ११ वर्षों में भुगतान-संतुलन की समस्या जटिल होती गई। विदेशों से सहायता व ऋण मिलने के बावजूद भी इस अवधि में लगभग १२०० करोड़ रु० के विदेशी विनिमय कोष घट गए।

भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता के कारण

पिछले वर्षों में भुगतान-संतुलन के प्रतिकूल होने का मुख्य कारण वस्तुओं के आयात का अत्यधिक रूप से बढ़ जाना है। निर्यात प्रयत्न करने पर भी बढ़ नहीं पा रहे हैं। अतः व्यापार की बाकी निरंतर भारत के प्रतिकूल रही है। इसके निम्न कारण हैं:—

(१) देश का विभाजन—विभाजन से पूर्व भारत कपास व कच्चे जूट का निर्यात

1. Report on Currency & Finance For the Year, 1958-59, P. 72.

किया करता था। लेकिन विभाजन के बाद इन दोनों वस्तुओं के प्रमुख उत्पादन-क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए और भारत इनका उत्पादन करने के लिए वाध्य हो गया। विभाजन ने खाद्यान्नों की स्थिति पर भी प्रभाव डाला और भारत इनका भी आयात करने को मजबूर हो गया।

(२) **खाद्यान्नों का अभाव**—भारत में जन-संख्या ज्यादा है और खाद्यान्नों की पूर्ति कम है। इसलिए प्रतिवर्ष विदेशों से अनाज, दाल व आटा मँगाया जाता है। प्रथम योजना के अन्त में खाद्यान्नों का आयात कम हो गया था लेकिन पुनः दूसरी योजना के शुरू में खाद्य-संकट आ जाने से आयात चालू होगया।

(३) **कच्चे माल व मशीनों का बढ़ता हुआ आयात**—भारत विदेशों से पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल व मशीनें मँगाने लगा है ताकि देश में तीव्र गति से आर्थिक विकास हो सके। अतः इससे भी आयात बहुत बढ़ गये हैं। मशीनों के ऊँचे मूल्य होने से आयात का मूल्य बढ़ना स्वाभाविक है।

(४) **निर्यात का न बढ़ पाना**—एक तरफ भारत के आयात तो बढ़ते गये लेकिन कई कारणों से निर्यात नहीं बढ़ पाये। हमें सूती माल, जूट के सामान व चाय के विदेशी बाजारों में प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ रहा है। हमारे माल की कीमतें ऊँची हैं। किस्म अच्छी नहीं है। निर्यात किए जाने वाले माल की देश में माँग बढ़ रही है। अतः निर्यात बढ़ाने के लिए अधिक उत्पादन की आवश्यकता है।

(५) **आयात नियन्त्रण में ढिलाई**—द्वितीय योजना के प्रथम वर्ष में आयात नियंत्रण उदार कर दिए गए जिससे निजी क्षेत्र में व सरकारी क्षेत्र में आयात बढ़ गये। उस समय कोई सालाना विदेशी विनिमय बजट नहीं बनता था। अतः आयात नीति उदार होने से देश में पुनः आयातों को बढ़ने का सुअवसर मिला।

(६) **अदृश्य स्रोतों से अपर्याप्त आय**—एक तरफ व्यापार का घाटा बढ़ा लेकिन उसको पूरा करने के लिए अदृश्य स्रोतों से आय नहीं बढ़ी जैसे १९५६-५७ से १९५८-५९ तक अदृश्य मदों की आय ९०·७ करोड़ रु०, १००·९ करोड़ रु० व ११२·५ करोड़ रु० ही हुई है। अतः भुगतान-संतुलन बना रहा।

(७) **उपचार**—अब तक भुगतान-संतुलन को ठीक करने के लिए समय-समय पर निम्न कदम उठाये गये :—

(१) **आयात नियंत्रण**—आज कल सरकार की आयात नीति कड़ी हो गई है। अनाश्यक वस्तुओं का आयात बन्द कर दिया गया है लेकिन कच्चे माल (विशेषतया निर्यात उद्योगों के लिए) व मशीनों का आयात चालू है। अतः आर्थिक विकास के हित में आयातों पर पूर्ण प्रतिवन्ध सम्भव नहीं है।

(२) **निर्यात बढ़ाने के प्रयत्न**—सितम्बर, १९४९ में रुपये का डालर में अव-मूल्यन करके डालर क्षेत्रों में निर्यात बढ़ाया गया। निर्यात बढ़ाने के लिए कई

वस्तुओं पर निर्यात कर घटाये गए या हटाए गए। निर्यात-वर्द्धन समितियाँ स्थापित की गईं। निर्यात जोखिम-बीमा-निगम स्थापित किया गया। राज्य-व्यापार-निगम चालू हुआ। व्यापारिक समझौते किए गए। निर्यात किए जाने वाले माल की किस्म सुधारी गई। लेकिन फिर भी स्थिति में विशेष सुधार नहीं हो पाया।

(३) **उत्पादन वृद्धि**—एक तरफ देश में कपास व कच्चे जूट की पैदावार बढ़ा कर आयात पर निर्भरता कम की गई है तो दूसरी तरफ निर्यात-उद्योगों में उत्पादन बढ़ाने के भी प्रयत्न किये गये हैं।

(४) **विदेशी विनिमय बजट**—जनवरी, १९५७ से ही विदेशी विनिमय बजट बनाया जाने लगा है, ताकि सीमित विदेशी मुद्रा का सर्वोत्तम उपयोग किया जा सके।

(५) **विदेशी सहायता व ऋण**—भुगतान असंतुलन की विकट समस्या को हल करने के लिए भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक से मशीनें आदि मँगाने के लिए ऋण लिये हैं। अमेरिका, रूस, पश्चिमी जर्मनी, ब्रिटेन, जापान आदि देशों से भी ऋण प्राप्त किये गये हैं।

(६) **रिजर्व बैंक अधिनियम में संशोधन**—१९५६ से पहले भारत में नोट निर्गमित करने की आनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System) चालू थी जिसके अन्तर्गत नोटों के पीछे ४०% स्वर्ण या विदेशी प्रति-भूतियाँ जमा रखनी पड़ती थीं। लेकिन १९५६ के एक संशोधन द्वारा कोष की मात्रा ४०० करोड़ रु० की विदेशी प्रतिभूतियाँ व ११५ करोड़ रु० का सोना निश्चित की गई (प्रतिभूतियाँ विशेष परिस्थिति में ३०० करोड़ रु० तक हो सकती थीं।) एक साल बाद कोष की न्यूनतम मात्रा पुनः घटाकर कुल २०० करोड़ रु० करदी गई जिसमें ११५ करोड़ रु० का सोना शामिल था। इस प्रकार विदेशी विनिमय कोषों का उपयोग भुगतान असंतुलन की समस्या को हल करने के लिए किया गया।

तृतीय पंच-वर्षीय योजना की अवधि में हमें आयात कम करने व निर्यात बढ़ाने पर और भी जोर देना पड़ेगा ताकि भुगतान असंतुलन कम रहे। अब विपरीत परिस्थिति का मुकाबला करने के लिये या तो विदेशों से उधार लेना होगा या निर्यात बढ़ाना होगा क्योंकि विदेशी विनिमय कोषों का अमूल्य सहारा भी भविष्य में नहीं मिल सकेगा।

प्रश्न

University of Rajasthan, B. A.

(1) Describe the salient features of India's foreign trade since 1947. (1952)

(2) Analyse the foreign trade of India and discuss how the direction of her trade as well as its composition has been changing in the post—1947 period. (1954)

(3) Point out the principal features of India's foreign trade and discuss its future trends in the light of implementation of the Five-Year Plan. (1955)

(4) Discuss and explain the changes in the direction and composition of our Foreign trade since 1939. (1956)

(5) Write short notes on the following :-

(c) Our Chief Exports. (1957)

(6) Mention our chief exports, and our main customers for them. Give suggestions for further development of our export trade. (1958)

(7) Examine the causes of India's adverse balance of payments (भुगतान का प्रतिकूल सन्तुलन) in post-war years. What measures have been adopted to correct the adverse balance ? (1959)

(8) What important changes have taken place in the nature, volume and direction of our foreign trade since 1940 ? (1960)

संदर्भ ग्रन्थ

(1) India, 1960, Ch. 25, P. 334-347.

(2) Reports on Currency and Finance for 1958-59 & 1959-60.

(3) Third Five-Year Plan–A Draft Outline, June, 1960, P. 52-57.

(4) India's Balance of Payments, 1948-49 to 1955-56. (Reserve Bank of India).

(5) Reserve Bank of India—monthly bulletin.

(6) An Article by Prof. Bhabatosh Dutta in 'Yojana', Sept 4, 1960, P. 2. 'We must increase export earnings'.

अड़तीसवाँ अध्याय

भारत की प्रशुल्क नीति (Tariff Policy)

प्रशुल्क नीति (Tariff Policy) से हमारा अभिप्राय किसी देश के आयात व निर्यात् पर लगाये जाने वाले करों के सम्बन्ध में वरती जाने वाली नीति से है। प्रशुल्क सूची में प्राय आयात करों की ही प्रधानता होती है यद्यपि समय समय पर निर्यात् कर भी लगाये जाते हैं। ये कर राज्य के लिए आय प्राप्त करने के उद्देश्य से लगाये जाते हैं या घरेलू उद्योगों की विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा करने तथा उनका विकास करने के उद्देश्य से लगाये जाते हैं। जब किसी देश में आयात निर्यात पर कोई कर नहीं लगाया जाता या केवल राज्य के लिए आय प्राप्त करने के लिए कर लगाये जाते हैं तो हम उस देश की प्रशुल्क नीति को मुक्त व्यापार या अबाध व्यापार (Free Trade) की नीति कहते हैं। परन्तु जब घरेलू उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाकर उनका विकास करने के उद्देश्य से आयात करों का प्रयोग किया जाता है तो प्रशुल्क नीति को संरक्षण नीति (Policy of protection) की संज्ञा दी जाती है।

वास्तव में संरक्षण एक व्यापक कार्यक्रम है जिसमें विदेशी माल पर आयात कर लगाना प्रमुख स्थान रखता है। पहले संरक्षण का संकुचित अर्थ लगाया जाता था और इसका सम्बन्ध सिर्फ विदेशी माल पर आयात कर लगाकर उसे मँहगा बना देना था ताकि देशी माल ही बाजार में बिक सके और उसके उत्पादन को प्रोत्साहन मिले। ऐसा करने से कुछ उद्योगों की उन्नति तो हो जाती थी लेकिन देश के समस्त औद्योगिक ढाँचे पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। अतः आधुनिक समय में संरक्षण आर्थिक योजना में—विशेषतया औद्योगिक योजना में अपना विशेष स्थान रखता है। संरक्षण के अन्तर्गत वे सब उपाय आ जाते हैं जिनसे घरेलू उद्योगों की शक्ति बढ़ती है और वे विदेशी माल के मुकाबले टिकने की क्षमता प्राप्त करते हैं। अतः आयात करों (Tariffs) के अलावा परिवहन के साधनों का समुचित विकास, प्रायोगिक शिक्षा, वैज्ञानिक ज्ञान में वृद्धि, उद्योगों को आर्थिक सहायता आदि भी लागत कम करने और औद्योगिक विकास के आवश्यक अंग माने जाते हैं।

संसार के लगभग सभी देशों ने अपने उद्योग-धन्धों की रक्षा तथा उन्नति करने के लिए संरक्षण की नीति को अपनाया है। प्रसिद्ध जर्मन अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट के समय से ही पिछड़े हुये देशों के आर्थिक विकास के लिये संरक्षण की आवश्यकता सभी ने स्वीकार की है। आज तो संरक्षण का महत्त्व और भी बढ़ गया है क्योंकि अविकसित देश योजना-बद्ध तरीके से आर्थिक विकास करना चाहते हैं।

पहली बात तो यह है कि तेजी से आर्थिक विकास से विदेशी विनिमय की स्थिति पर दबाव पड़ता है और विदेशी मुद्रा की आवश्यकता बहुत बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में यह अनिवार्य हो जाता है कि देश में ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाय जो विदेशी मुद्रा कमाने में सहायक हो सकें (निर्यात उद्योग), या विदेशी मुद्रा की बचत करने में सहायक हों (ऐसे उद्योग जो आयात पदार्थ के बदले सामान बना सकें)।

दूसरी बात यह है कि संरक्षण से ही उत्पादन के उपलब्ध साधनों का सर्वोत्तम उपयोग हो सकता है। साधनों को ऐसी दिशाओं में लगाया जा सकता है जहाँ जाने का उनका अन्यथा साहस नहीं होता। इस प्रकार संरक्षण से श्रम की उत्पादन शक्ति बढ़ती है, अर्थ-व्यवस्था में विविधता आती है और औद्योगिक विकास की नींव सुदृढ़ होती है। अतः संरक्षण औद्योगिक और आर्थिक विकास का एक साधन है। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि जब तक किसी उद्योग को संरक्षण मिलता रहता है तब तक समाज को ऊँची कीमतों के रूप में या सीधी सहायता के लिए लगाये गये करों के रूप में उसका भार उठाना पड़ता है। संरक्षण एक लागत भी है और लाभ भी है। इसलिए संरक्षण देते समय हमें सदा यह ध्यान रखना चाहिये कि संरक्षण की लागत की अपेक्षा समाज को इससे लाभ अधिक होता है और संरक्षण की आड़ में उत्पादन की अकुशल प्रणालियाँ नहीं पनपने या कायम रहने पायें।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भारत जैसे देश के लिए जो आज द्रुतगति से औद्योगीकरण के मार्ग पर बढ़ रहा है एक उपयुक्त प्रशुल्क नीति कितनी आवश्यक है। नीचे भारत को प्रशुल्क नीति का विस्तृत विवरण दिया जाता है।

ऐतिहासिक विकास

अंग्रेज लोग भारत के माल के लिए यहाँ थे न कि भारत के भले के लिए। इङ्गलैण्ड में औद्योगिक क्रांति के पश्चात् भारत में ब्रिटिश आर्थिक नीति का उद्देश्य भारत से सस्ता कच्चा माल प्राप्त करना और भारत के विस्तृत बाजार को ब्रिटिश उद्योगों के तैयार माल के लिए सुरक्षित रखना था। अतएव उन्होंने ब्रिटिश परम्परा के अनुकूल भारत में भी मुक्त व्यापार की नीति को अपनाया। वास्तव में यह नीति इतनी कड़ाई से बरती गई कि जब कभी राज्य की आय के लिए आयात कर लगाये गये तो इनका संरक्षणात्मक प्रभाव समाप्त करने के लिए उसी दर पर भारत में उत्पादन कर (Excise duty) भी लगाये गये। सन् १८८२ से सन् १८९४ तक तो आयात-निर्यात करों का प्रयोग बिल्कुल नहीं किया गया लेकिन बाद में सरकार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सन् १८९४ में सूती माल पर ५% आयात कर लगाया गया। लोहे व इस्पात के आयात पर भी १% आयात-कर लगाया गया और कुछ वस्तुओं को कर से मुक्त भी रखा गया। इन आयात करों से भी भारतीय उद्योगों को पनपने और लाभ उठाने का अवसर नहीं दिया गया क्योंकि एक तरफ आयात कर लगे तो दूसरी तरफ

उन्हीं वस्तुओं पर भारत में उत्पादन कर (Excise duties) लगा दिये गये। इस प्रकार आय प्राप्त करने के लिये लगाये गये आयात-करों का संरक्षण-प्रभाव मिटा दिया गया। वास्तव में साम्राज्यवादी सरकार संरक्षण नीति कैसे अपना सकती थी क्योंकि इसका उद्देश्य अपना हितवर्द्धन करना था न कि भारतीय जनता का कल्याण करना।

लेकिन धीरे धीरे कुछ ऐसे परिवर्तन हुए जिन्होंने सरकार को भारत के लिए संरक्षण नीति स्वीकार करने के लिए तैयार कर दिया। ये परिवर्तन इस प्रकार थे :—

(१) प्रथम महायुद्ध के समय सरकार ने अपनी बढ़ती हुई आर्थिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए आयात कर ५%से ७½ % कर दिये, लेकिन साथ में उत्पादन कर नहीं बढ़ाये। युद्ध के समय भारत में आयात वैसे भी घट गये। अतः भारतीय उद्योगों को पनपने का मौका मिल गया। फिर भी पर्याप्त औद्योगिक विकास न होने से शासकों को युद्ध संचालन में कई कठिनाइयाँ प्रतीत हुईं और उन्हें स्वतन्त्र व्यापार नीति की कमियाँ दिखाई देने लगीं। सन् १९१६ के औद्योगिक आयोग ने भी इस बात पर जोर दिया कि भारत में औद्योगिक विकास में सरकार को भाग लेना चाहिए। इन सब बातों ने सरकार को एक संरक्षणात्मक प्रशुल्क नीति अपनाने को प्रेरित किया।

(२) युद्ध के संचालन में भारत ने जो जन-धन से सहायता दी उसके फलस्वरूप सन् १९१७ में भारत सचिव श्री मॉंटेग्यू ने भारत को धीरे धीरे स्वशासन प्रदान करने की प्रसिद्ध घोषणा की। स्वशासन के अन्तर्गत स्वतन्त्र व्यापार नीति अपनाने का अधिकार भी होता है। अतएव राजकोषीय स्वतन्त्रता की परम्परा (Fiscal autonomy Convention) प्रारम्भ की गई जिसके अधीन केन्द्रीय विधान सभा और गवर्नर जनरल की परिषद् में सहमति होने पर भारत-सचिव का प्रशुल्क सम्बन्धी मामलों में हस्तक्षेप बन्द हो गया। इससे भी भावी संरक्षण की नीति का मार्ग खुल गया।

(३) भारत में स्वदेशी आन्दोलन आगे बढ़ने लगा और अंग्रेजी मुक्त व्यापार नीति की बड़ी निन्दा होने लगी। जर्मनी, जापान, अमेरिका आदि देशों ने संरक्षण की नीति का लाभ उठाकर अपनी औद्योगिक शक्ति काफी बढ़ा ली। इसलिए भारत सरकार पर भी मुक्त-व्यापार नीति छोड़ने के लिए दबाव डाला जाने लगा।

विवेचनात्मक संरक्षण की नीति

इस प्रकार कुछ आन्तरिक व बाहरी कारणों से भारत सरकार पर इस बात के लिए दबाव पड़ा कि उद्योग धन्धों के विकास के लिये आवश्यक संरक्षण की नीति घोषित करे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ७ अक्टूबर, १९२१ को सर इब्राहीम रहिमतुल्ला की अध्यक्षता में एक तटकर-आयोग (Fiscal Commission) नियुक्त किया गया। इस आयोग का काम यह था कि सब हितों को ध्यान में रखकर भारत

सरकार की प्रशुल्क नीति की जांच करे। साम्राज्यान्तर्गत अधिमान (Imperial Preference) के सिद्धान्त को अपनाने की आवश्यकता पर भी विचार करे और सिफारिशें करे।

इस आयोग ने यह निष्कर्ष निकाला कि भारत में देश के आकार, जनसंख्या व प्राकृतिक साधनों को देखते हुए औद्योगिक विकास बहुत कम हुआ है। आयोग ने भारत में उद्योग धन्धों की उन्नति के लिए संरक्षण की आवश्यकता पर बल दिया। सब बातों पर सोचने के बाद आयोग ने कहा कि भारत के लिये विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection) की नीति सर्वश्रेष्ठ रहेगी। इसका मतलब यह है संरक्षण बिना सोचे समझे सभी उद्योगों को नही देना चाहिये बल्कि केवल उन अधिकारी उद्योगों को दिया जाना चाहिए जो कुछ शर्तों को पूरा करते है। इसके लिये आयोग ने एक त्रि-सूची कसौटी (Triple formula) सुझाई जिसको लागू करके संरक्षण के लायक उद्योग चुना जा सकता था। ये तीन शर्तें इस प्रकार हैं—

(१) **प्राकृतिक साधनः**—*संरक्षण चाहने वाले उद्योग को पर्याप्त प्राकृतिक साधन* सुलभ होने चाहियें जैसे पर्याप्त कच्चा माल, सस्ती शक्ति, पर्याप्त मात्रा में श्रम की पूर्ति, और एक विस्तृत घरेलू बाजार। इन साधनों का सापेक्ष महत्त्व भिन्न भिन्न उद्योगों में एक सा नहीं होगा लेकिन इनके महत्त्व को अच्छी तरह देखना होगा।

(२) **संरक्षण की अनिवार्यताः**—उद्योग ऐसा हो जो या तो संरक्षण के बिना बिल्कुल भी न पनप सके या उतनी तेजी से न पनप सके जितनी से इसका राष्ट्रीय हित में पनपना आवश्यक है।

(३) **अस्थायी संरक्षणः**—उद्योग ऐसा हो जो भविष्य में बिना संरक्षण के विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का मुकाबला कर सके। इसका अभिप्राय यह हुआ कि संरक्षण स्थायी रूप से नहीं दिया जा सकेगा बल्कि अस्थायी रूप से ही दिया जायगा।

इन तीन मुख्य शर्तों के अलावा कुछ और बातों पर भी बल दिया गया जो निम्न प्रकार हैं :—

(क) आधारभूत उद्योगों व सुरक्षा के लिए आवश्यक उद्योगों को संरक्षण दिया जाना चाहिए।

(ख) जिन उद्योगों को बड़े पैमाने के उत्पादन की बचतें मिलने से घटती हुई उत्पादन-लागत पर उत्पादन करने की सुविधा हो उन्हें संरक्षण में प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

(ग) जहाजी भाड़े की कमी, राशिपातन (Dumping) अनुचित लाभ, आर्थिक सहायता प्राप्त आयात आदि के मामलों की जांच की जानी चाहिए और आवश्यक उपाय काम में लाये जाने चाहिएँ।

(घ) प्राथमिक शिक्षा में भी औद्योगिक प्रवृत्ति की जानी चाहिए। श्रम की गतिशीलता बढ़ाई जानी चाहिए।

(ङ) कच्चा माल व मशीनें साधारणतया कर मुक्त आने देनी चाहिएँ और अर्द्ध-निर्मित माल पर जो भारतीय उद्योगों में काम आता है बहुत कम कर दिया जाना चाहिए।

आयोग के ११ सदस्यों में से ५ ने इन शर्तों में से कुछ को नहीं माना। अल्पमत ने विशेषतया त्रि-सूत्री सिद्धान्त का विरोध किया।

सरकार ने संरक्षण का सिद्धान्त मान लिया और १९२३ में एक प्रस्ताव इस सम्बन्ध में पास हो गया जिसमें तीन शर्तों वाला फार्मूला लागू कर दिया गया। पहला प्रशुल्क मण्डल (Tariff Board) जुलाई १९२३ में स्थापित किया गया। तटकर आयोग ने स्थायी प्रशुल्क मण्डल की स्थापना की सिफारिश की थी लेकिन सरकार ने अस्थायी प्रशुल्क मंडल ही स्थापित किये।

विवेचनात्मक संरक्षण की आलोचना:—विवेचनात्मक संरक्षण की नीति की कटु आलोचना की गई है। त्रि-सूत्री फार्मूला में सैद्धान्तिक अस्पष्टता, विरोध व त्रुटियाँ बतलाई गई हैं। व्यवहार में भी यह नीति अनुदार व अनुचित ही प्रमाणित हुई। इसकी मुख्य आलोचनायें इस प्रकार हैं:—

(१) तीन शर्तों की समीक्षा:—कुछ आलोचकों के अनुसार पहली दो शर्तें विरोधात्मक हैं। यदि किसी उद्योग को पहली शर्त के अनुसार सब प्राकृतिक सुविधायें हों तो संरक्षण की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए क्योंकि संरक्षण तो उस परिस्थिति में आवश्यक होता है जब कि उद्योग को कोई असुविधा हो जो संरक्षण से दूर हो जाय। दूसरी शर्त यह है कि उद्योग ऐसा हो जो संरक्षण के बिना पनप न सके या तेजी से न बढ़ सके। लेकिन यह शर्त वही उद्योग पूरी करेगा जिसको प्राकृतिक सुविधायें नहीं हैं। अतः ऐसा उद्योग मिलना कठिन है जो एक साथ दोनों शर्तों को पूरा कर सके।

तीसरी शर्त के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह एक प्रकार की भविष्यवाणी है कि अमुक उद्योग भविष्य में अपने पैरों पर खड़ा हो ही जायगा। इस शर्त को भी व्यवहार में लागू करना कठिन हो जाता है।

उपर्युक्त आलोचना पूर्णतः ठीक नहीं है। वास्तव में आलोचकों ने औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश की समस्या को समझने की कोशिश नहीं की है। पहली दो शर्तें आपस में टकराती नहीं हैं क्योंकि एक पिछड़े हुए देश में प्राकृतिक सुविधायें होने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि एक उद्योग अपने आप पनप सकेगा। उस देश में औद्योगिक सङ्गठन पिछड़ा हो सकता है। अतः संरक्षण मिलने पर ही प्राकृतिक सुविधाओं का लाभ उठाया जा सकेगा अन्यथा नहीं। तीसरी शर्त का भी अभिप्राय: समझना होगा कि यह संरक्षण को समाज पर सदा के लिए भार बनाने के विपक्ष

में है। अस्थायी संरक्षण मिलने से उद्योग सावधानीपूर्वक चलाया जायगा और अपने पैरों पर खड़ा होने का प्रयास करेगा। स्थायी संरक्षण से उद्योग अकुशल बना रहता है। इसलिए तीसरी शर्त भी उचित है।

(२) शर्तों के पालन में अनावश्यक कड़ाई:—उपर्युक्त विश्लेपण के अनुसार यह स्पष्ट है कि शर्तों में कोई बड़ी सैद्धान्तिक कमी नहीं थी लेकिन व्यवहार में शर्तों का कड़ाई से एवं अनुदारतापूर्वक पालन किया जाना अनुचित था। यदि उद्योग को संरक्षण के लिए चुनते समय मोटे तोर से शर्तों पर विचार किया गया होता तो कोई हानि नहीं थी, परन्तु उनका अक्षरशः पालन करने की नीति से कुछ उद्योगों को संरक्षण नही दिया गया। काँच-उद्योग का संरक्षण का मामला कच्चे माल की कमी बतला कर अस्वीकृत कर दिया गया। विस्तृत घरेलू बाजार के साथ साथ निर्यात की संभावनाओं पर ध्यान नहीं दिया गया। इसलिए इंजन उद्योग (Locomotive Industry) को संरक्षण नहीं मिला। इसके लिए घरेलू बाजार अपर्याप्त माना गया।

(३) सीमित दृष्टिकोण--आयोग का दृष्टिकोण बड़ा संकुचित रहा। उसने संरक्षण को आर्थिक विकास पर प्रभाव डालने के साधन के रूप में नहीं देखा, बल्कि कुछ उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से बचाने के साधन के रूप में देखा। यही नहीं बल्कि इसने उद्योगों के विकास के लिए विशेपतया आयात-कर लगाने पर ही बल दिया। इसके अलावा संरक्षण प्राप्त उद्योगों की गति विधि व प्रगति की जाँच आदि की समुचित व्यवस्था नहीं की गई।

(४) नये उद्योगों की उपेक्षा:--विवेचनात्मक संरक्षण की नीति केवल चालू उद्योगों पर लागू की गई। ऐसे उद्योग जो अभी अंकुरित नहीं हुए थे, इससे कुछ भी लाभ नहीं उठा सके। भारत जैसे देश में नये उद्योगों की स्थापना भी आवश्यक थी। लेकिन इस नीति ने उनके लिए मार्ग प्रशस्त नहीं किया।

(५) प्रशुल्क बोर्ड का अस्थायी गठन और सीमित अधिकार:—सरकार ने अस्थायी प्रशुल्क बोर्ड नियुक्त किये जिससे प्रशुल्क नीति में नियमितता और समानता नहीं आ सकी और संचित अनुभव का उपयोग नहीं हो सका। संरक्षण के लिए प्रार्थना-पत्र भारत सरकार के उद्योग विभाग को देना पड़ता था जिसे वह प्रारम्भिक जांच के आधार पर बिना प्रशुल्क बोर्ड के सामने रखे ही अस्वीकृत कर सकता था। यदि केन्द्रीय उद्योग विभाग यह महसूस करता कि किसी उद्योग के संरक्षण के लिए मांग उचित है तो वह इसकी विस्तृत जांच के लिए एक अस्थायी प्रशुल्क मंडल का गठन करता था। परन्तु विदेशी कम्पनियाँ इसके सामने बयान देने से इन्कार कर देती थीं और हर तरह से उनकी अवहेलना करती थीं। बंगाल चेम्बर ऑव कॉमर्स ने टैरिफ बोर्ड के समक्ष बयान देने से इन्कार कर दिया था। अन्ततः यदि प्रशुल्क

मंडल संरक्षण की सिफारिश भी करता तो सरकार के लिए उनका मानना आवश्यक नहीं था। इस प्रकार प्रशुल्क मंडल का गठन दोष-पूर्ण था, उसके अधिकार सीमित थे और संरक्षण के मार्ग में अड़चनें बहुत थीं इसलिए संरक्षण प्रदान करने में बहुत देरी लगती थी।

(६) साम्राज्यान्तर्गत अधिमान दो विश्व-युद्धों की अवधि में चालू रहा जिसने ब्रिटिश हितों को ज्यादा लाभ हुआ और भारत को हानि हुई क्योंकि ब्रिटिश माल पर भारत को रियायत करनी पड़ती थी। भारत को बदले में इतनी रियायत नहीं मिलती थी। इससे भी संरक्षण की उपयोगिता घट गई।

(७) कुछ मामलों में तो आय के लिए लगाये गये आयात-करों को ही रक्षा के लिए लगाये गये करों में बदल दिया गया। ऐसा करने से पूरी सफलता नहीं मिली।

विवेचनात्मक संरक्षण की व्यावहारिक सफलतायें (Achievements):—ऊपर विवेचनात्मक संरक्षण की नीति की विस्तृत आलोचना की जा चुकी है। उससे पता चलता है कि यह नीति भारत के लिए सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित नहीं हुई। अतः इस नीति का मूल्यांकन करते समय हमें यह न भूलना चाहिए कि यह प्रारम्भिक प्रशुल्क नीति थी और इसका प्रयोग विदेशी सरकार कर रही है। यदि इन सब बातों को ध्यान में रखकर देखें तो विवेचनात्मक संरक्षण की निम्न सफलतायें स्वीकार करनी होंगी :—

(क) औद्योगिक उन्नतिः—इस नीति के अधीन भारतीय लोहा तथा इस्पात उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग, कागज उद्योग तथा माचिस उद्योग को क्रमशः १९२४, १९२७, १९३२, १९२५ और १९३२ में संरक्षण दिया गया और इन उद्योगों ने काफी प्रगति की। फलस्वरूप संरक्षण क्रमशः १९४७, १९४७, १९५० तथा १९४७ में उठा लिया गया। चीनी उद्योग को छोड़कर शेष उद्योगों की उत्पादन-लागत भी काफी कम हो गई। परन्तु इस नीति के अधीन सीमेन्ट, काँच और कोयला जैसे कई उद्योगों को संरक्षण नहीं दिया गया। रासायनिक उद्योग को बहुत कम समय के लिये संरक्षण दिया गया और वह यथेष्ट उन्नति नहीं कर सका। साथ ही सरकार ने अधिकतर आयात करों के रूप में संरक्षण दिया और लोहा तथा इस्पात उद्योग को छोड़कर अन्य उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करना स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार तटकर संरक्षण का कार्य बहुत संकुचित होगया।

(ख) रोजगार में वृद्धिः—संरक्षण के कारण देश में प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रोजगार की मात्रा में वृद्धि हुई। १९२३ से १९३७ तक संरक्षित उद्योगों में रोजगार लगभग ड्योढ़ा हो गया।

(ग) मंदी का कम प्रभावः—जब अन्य उद्योगों में मंदी फैली हुई थी, तब संरक्षित उद्योग अपना विकास कर रहे थे। उन्होंने मंदी काल में भी अपना उत्पादन बढ़ाया।

(घ) कच्चे माल का उत्पादन बढ़ा। – सूती कपड़े व चीनी के उद्योगों को संरक्षण मिलने से कपास व गन्ने का उत्पादन बढ़ा क्योंकि इनको संरक्षण मिलने से कच्चे माल की मांग बढ़ गई। कच्चे माल के मूल्य स्थिर रहे। कपास की पैदावार व किस्में दोनों सुधरीं।

(ङ) सहायक उद्योगों का विकास—लोहे के उद्योग ने अपने सहायक उद्योग जैसे टिन-प्लेट, तार, इंजीनियरिंग लोकोमोटिव, कृषि औजार आदि के पनपने का अवसर दिया। कागज उद्योग के कारण (Cellulose) उद्योग उन्नत हुआ। सूती कपड़े के उद्योग के कारण स्टार्च उद्योग को प्रोत्साहन मिला, आदि आदि।

इस प्रकार विवेचनात्मक संरक्षण की नीति जो दो महायुद्धों के बीच की अवधि (१६२३-१६३६) में और कुछ परिवर्तित रूप में बाद में चलती रही, अपने सीमित क्षेत्र में पर्याप्त सफल हुई। बड़े उद्योगों को संरक्षण देने के प्रत्यक्ष व परोक्ष लाभ उस भार से ज्यादा थे जो संरक्षण के कारण उपभोक्ताओं पर पड़ा।

द्वितीय महायुद्ध में आयात नियंत्रण के कारण संरक्षण देने की आवश्यकता नहीं हुई। लेकिन युद्ध के पहले जिन उद्योगों को संरक्षण दे दिया गया था वह चालू रहा। नवम्बर, १६४५ को एक अन्तरिम प्रशुल्क बोर्ड (Interim Tariff Board) नियुक्त किया गया। यह २ साल के लिए नियुक्त हुआ। पहले के प्रशुल्क बोर्डों की तुलना में इसके अधिकार ज्यादा थे। यह द्वितीय महायुद्ध में स्थापित उद्योगों के संरक्षण के दावों की जाँच करने के लिए नियुक्त किया गया था। यह तीन साल तक के संरक्षण की सिफारिश कर सकता था। द्वितीय महायुद्ध के समय जो उद्योग स्थापित किये गये थे उन्हें कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा—जैसे कच्चे माल की कमी, ऊँची लागत, पुरानी मशीनें आदि। अन्तरिम बोर्ड को इन उद्योगों की जाँच जल्दी ही पूरी करने के लिए कहा गया ताकि इनको उचित सहायता दी जा सके।

संरक्षण के लिए चुनाव करते समय अन्तरिम बोर्ड ने निम्न बातों पर विशेष ध्यान दिया—

(१) उद्योग उचित व्यापारिक ढंग पर चलाया जा रहा है या नहीं;

(२) प्राकृतिक सुविधाओं की जाँच के साथ साथ वास्तविक व सम्भावित लागत का अन्दाज लगाना ताकि भविष्य में बिना संरक्षण के वह उद्योग चल सके;

(३) यदि राष्ट्रीय हित में आवश्यक हो तो संरक्षण देना।

इस प्रकार अन्तरिम बोर्ड ने 'राष्ट्रीय हित', 'वास्तविक या सम्भावित लागत' आदि पर ज्यादा जोर दिया। इसके अलावा बोर्ड ने अपनी सिफारिशों में 'सहायता के अन्य साधनों' पर भी जोर देना प्रारम्भ कर दिया—जैसे सरकार द्वारा उत्पादकों को माल का आर्डर देना, भारतीय उत्पादकों के हितों की विशेष रक्षा करना, आर्थिक सहायता देना। इसको ४६ मामले सौंपे गये जिनमें से इसने ४२ मामलों पर सिफारिशें कीं।

इनमें ३८ युद्ध-कालीन उद्योग थे और ४ युद्धपूर्व के उद्योग थे। इसी बोर्ड ने यह सुझाया था कि चीनी उद्योग को संरक्षण चालू रखा जाय और सूती वस्त्र, इस्पात और कागज पर से संरक्षण हटा दिया जाय।

अन्तरिम बोर्ड ने अपना काम बड़ी तेजी से किया। १९४७ में इसे पुनर्संगठित किया गया ताकि यह ३ साल के लिए और काम कर सके।

१९४७ में इसका कार्य क्षेत्र बढ़ा दिया। उत्पादन लागत व थोक एवं खेरीज के मूल्यों की सरकार के कहने पर जांच करना, राशिपातन के विरुद्ध सिफारिश करना और संरक्षित उद्योगों की प्रगति की जांच करना भी इसके कार्यों में शामिल हो गया। बोर्ड ने इस अवधि में जिन उद्योगों को संरक्षण दिया उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं : अल्यूमिनियम, एन्टीमनी, कॉस्टिक सोडा, ब्लीचिंग पाउडर, सोडा एश, बाइसिकल, सीने की मशीन, क्लोराइड आदि। बोर्ड ने लीवर अक्सट्रेक्ट, स्लेट व स्लेट-पेंसिल, बिजली के पंखे बनाने का उद्योग, दूध का चूर्ण बनाने का उद्योग आदि को संरक्षण नहीं दिया। परन्तु चीनी व कुछ अन्य उद्योगों को प्राप्त संरक्षण हटा दिया गया।

नई प्रशुल्क नीति

इस प्रकार १९४५ से प्रशुल्क बोर्ड कुछ उदार नीति अपनाने लग गया था। फिर भी मूल रूप से संरक्षण नीति पुरानी ही चलती आ रही थी। भारत के स्वतंत्र होने के बाद अप्रैल, १९४८ में औद्योगिक नीति का प्रस्ताव रखा गया जिसमें सरकार की प्रशुल्क नीति के बारे में कहा गया कि सरकार अनुचित विदेशी प्रतियोगिता रोकेगी और उपभोक्ताओं पर अनुचित बोझा डाले बिना आर्थिक साधनों का उपयोग करने में मदद देगी। २० अप्रैल, १९४९ को श्री वी० टी० कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में एक राजकोषीय (तटकर) आयोग (Fiscal Commission) स्थापित हुआ। द्वितीय राजकोषीय आयोग को निम्न बातों पर सिफारिश करनी थी

(क) उद्योगों को संरक्षण या सहायता देने के सम्बन्ध में भावी सरकारी नीति एवं संरक्षित या सहायता प्राप्त उद्योग की जिम्मेदारियाँ,

(ख) इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक मशीनरी तथा

(ग) इस नीति को प्रभावशाली बनाने वाली कोई अन्य बात।

आयोग ने जुलाई १९५० में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसने संरक्षण का सम्बन्ध आर्थिक विकास की योजना से किया। द्वितीय आयोग का दृष्टिकोण पहले से ज्यादा व्यापक एवं भिन्न था। संरक्षण केवल कुछ उद्योगों के विकास का ही साधन न रहे बल्कि इसका देश के औद्योगिक ढांचे पर प्रभाव पड़ना चाहिए। आयोग की सिफारिशें योजना-बद्ध अर्थ व्यवस्था को आधार मान कर चलती हैं।

उद्योगों का वर्गीकरण—संरक्षण के लिए उद्योगों को तीन भागों में बाँटा गया है—

(क) सुरक्षा सम्बन्धी उद्योग,

(ख) आधारभूत व मूल उद्योग,

(ग) अन्य उद्योग।

(क) पहली श्रेणी के उद्योगों को राष्ट्रीय महत्व की दृष्टि से संरक्षण दिया जायगा। ऐसा करने से चाहे जनता पर भार कितना भी क्यों न पड़े। ऐसे उद्योगों को संरक्षण व अन्य किस्म की सहायता देनी चाहिए।

(ख) दूसरी श्रेणी के आधारभूत व मूल उद्योगों को भी संरक्षण दिया जायगा। प्रशुल्क बोर्ड को इनके लिए संरक्षण की किस्म व मात्रा निश्चित करनी होगी। प्रशुल्क बोर्ड ही इनके संरक्षण की शर्तें निश्चित करेगा और संरक्षण के बाद इनकी प्रगति की जाँच करेगा।

(ग) तीसरी श्रेणी के अन्य उद्योगों के सम्बन्ध में आयोग ने निम्न बातें कहीं—

(अ) योजना में उच्च स्थान प्राप्त उद्योगों को संरक्षण मिलना चाहिए,

(आ) आधारभूत उद्योगों के सहायक या पूरक उद्योगों को संरक्षण मिलना चाहिए,

(इ) शेष उद्योगों को संरक्षण देने के लिए दो बातों पर विचार करना होगा, एक तो वास्तविक व सम्भाव्य लागत का ताकि उद्योग भविष्य में अपने पैरों पर खड़ा हो जाय और दूसरे समाज पर उनका भार अत्यधिक नहीं पड़ना चाहिये।

संरक्षण की शर्तें—आयोग ने संरक्षण के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातों पर ज़ोर दिया जो इस प्रकार हैं—

(१) देश में कच्चे माल की प्राप्ति की संरक्षण की शर्त नहीं मानी जानी चाहिये। यदि अन्य आर्थिक लाभ मिलते हों तो उद्योग संरक्षण के लिए चुन लिया जाना चाहिये।

(२) इसी प्रकार घरेलू माँग की पूर्णतया पूरी करने की शर्त भी जरूरी नहीं है। निर्यात बाज़ार की स्थिति पर भी ध्यान दिया जाना चाहिये। इतना ही पर्याप्त मानना चाहिए कि उद्योग उचित समय में घरेलू माँग का काफी भाग पूरा कर सकेगा।

(३) 'क्षतिपूरक संरक्षण' भी दिया जाना चाहिये। यह संरक्षण उन उद्योगों को दिया जाना चाहिये जो कुछ संरक्षित उद्योगों का कच्चा माल काम में लेते हैं और इस कारण कुछ नुकसान उठाते हैं। इसके अलावा यह भी कहा गया कि कच्चा माल उत्पन्न करने वाले उद्योगों को आर्थिक सहायता के रूप में संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिये।

(४) नये उद्योगों को भी संरक्षण दिया जाय जिनमें भारी पूँजी लगानी होती है लेकिन विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का भय बना रहता है।

(५) यदि राष्ट्रीय हित में आवश्यक हो तो खेती की उपज को भी संरक्षण दिया जाना चाहिये। लेकिन ऐसी वस्तुओं की संख्या सीमित रखी जानी चाहिये।

(६) केन्द्रीय उत्पादन-करों का उपयोग उसी परिस्थिति में किया जाना चाहिये

जबकि सरकारी आय के अन्य साधन सुलभ न हों; क्योंकि इनसे संरक्षण का उद्देश्य विफल होता है।

(७) केन्द्रीय सरकार विधान द्वारा संरक्षित उद्योग के कच्चे माल की कीमत आवश्यकता होने पर निर्धारित करे।

संरक्षित उद्योगों के कर्त्तव्य—इन सिफारिशों के अलावा आयोग ने संरक्षित उद्योगों के कर्त्तव्यों या दायित्वों का भी वर्णन किया। ऐसा पहले कभी नहीं किया गया था। वे दायित्व इसलिए बताये गये कि संरक्षित उद्योग उनको निभाकर ही कार्य-क्षमता बढ़ा सकता है। (क) संरक्षित उद्योग का उत्पादन का पैमाना निरंतर बढ़ना चाहिए। (ख) वस्तु की किस्म निश्चित किये गये नमूने के माफिक होनी चाहिए। (ग) उद्योग को नवीनतम मशीनों व पद्धतियों का प्रयोग करना चाहिये। (घ) संरक्षित उद्योग को शोध, टैक्नीकल शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिये। (ङ) जहाँ तक हो स्थानीय कच्चे माल का प्रयोग करना चाहिये। (घ) संरक्षित उद्योग समाज को क्षति पहुँचाने वाला कार्य न करे।

उपर्युक्त दायित्वों का यह अभिप्राय नहीं है कि प्रत्येक उद्योग को ये निभाने ही होंगे वरना संरक्षण नहीं मिल सकेगा। ये तो केवल प्रशुल्क-प्रशासन के सामान्य सिद्धान्तों के रूप में रहेंगे जो संरक्षण देते या दोहराते समय ध्यान में रखे जायेंगे।

स्थायी प्रशुल्क आयोग—इस आयोग ने एक प्रशुल्क आयोग (Tariff Commission) की स्थापना की भी सिफारिश की। प्रशुल्क आयोग एक स्वतंत्र व स्थायी संस्था होगी और यह अर्द्ध-न्यायिक (Quasi-Judicial) ढंग के कार्य करेगी। इस प्रशुल्क संस्था को कई कार्य सौंपे जा सकेंगे जैसे मूल्यों की जाँच करना, संरक्षण का देश की अर्थ-व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों एवं संरक्षण करों की पुनः जाँच करना आदि। इसको विशेष अधिकार होंगे ताकि यह अनिवार्य रूप से आवश्यक बयान ले सके। सरकार को इसकी सिफारिशों पर २ महीनों में अपना निर्णय देना चाहिये। प्रशुल्क आयोग को किसी भी संरक्षण के मामले पर स्पष्ट व विस्तृत रिपोर्ट देनी चाहिये ताकि जनता सारी स्थिति से पूर्णतया परिचित हो जाय।

द्वितीय आयोग की सिफारिशों का मूल्यांकन

यह स्वाभाविक था कि द्वितीय राजकोषीय आयोग की सिफारिशें ज्यादा उदार और व्यापक होंगी क्योंकि यह राष्ट्रीय सरकार द्वारा स्थापित किया गया था। इसने संरक्षण का सम्बन्ध योजना-बद्ध आर्थिक-विकास से किया जो उचित था। इसने नये उद्योगों के संरक्षण का मार्ग खोला। इसने आयात-करों के अलावा उद्योगों की सहायता के अन्य साधनों पर भी बल दिया। साथ में संरक्षित उद्योग पर कुछ जिम्मेदारियाँ भी डालीं और एक स्थायी प्रशुल्क आयोग की स्थापना का सुझाव दिया जो पहले के प्रशुल्क बोर्डों की तुलना में ज्यादा अधिकार रक्खे। इस प्रकार इस आयोग की

सिफारिशें भारत में औद्योगिक विकास के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुई हैं और भविष्य में भी होंगी। लेकिन जब से आयोग ने रिपोर्ट दी है तब से आज तक काफी परिवर्तन हो चुके हैं। १९५६ में सरकार की नई औद्योगिक नीति आ गई है। सरकार ने समाजवादी ढंग का समाज स्थापित करना अपनी आर्थिक नीति का आधार बनाया है। दूसरी पंच-वर्षीय योजना समाप्त होने जा रही है और तीसरी योजना की चर्चा प्रारम्भ हो चुकी है। अतः हमें यह देखना है कि क्या बदली हुई परिस्थितियों में हमारी प्रशुल्क-नीति जो द्वितीय आयोग ने सुझाई थी पर्याप्त रहेगी या उसमें कुछ परिवर्तन करने होंगे। आयोग की सिफारिशों में निम्न कमियाँ प्रतीत होने लगी हैं जिन्हें दूर किया जाना आवश्यक है :—

(१) द्वितीय आयोग ने अपनी सिफारिशें १९४८ की औद्योगिक नीति के प्रस्ताव के अनुसार की थीं। लेकिन १९५६ में औद्योगिक नीति ही परिवर्तित हो गई है। अब सरकारी क्षेत्र में ज्यादा उद्योगों को ले लिया गया है। इन सबका औद्योगिक विकास एवं प्रशुल्क नीति पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इसलिए नई प्रशुल्क नीति अपनाई जानी चाहिए।

(२) आयोग ने योजना में शामिल किये जाने वाले प्रत्येक उद्योग के संरक्षण की चर्चा की है; लेकिन यह अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है। आधारभूत एवं मूल उद्योगों में भी संरक्षण देते समय लागत के प्रश्न को पूर्णतया नहीं भुलाना चाहिए जैसा कि आयोग ने किया है। दीर्घ-कालीन दृष्टिकोण से उत्पादन के साधनों की न्यूनता व लागत आदि पर भी विचार किया जाना चाहिए।

(३) संरक्षण के लिए 'अन्य उद्योगों' की दो शर्तें पहले से तो उदार हैं, फिर भी पुरानी शर्तों की ही पुनरावृत्ति-मात्र हैं। सिर्फ 'प्राकृतिक सुविधाओं' के स्थान पर 'लागत' का समावेश कर दिया गया है।

(४) योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्था में आयात-नियंत्रण भी आवश्यक हो जाता है और संरक्षण के साधन के रूप में अपनाया जाता है। परन्तु आयोग ने आयात-नियंत्रण का इतना समर्थन नहीं किया है। वास्तव में योजना के अनुभव से हमें पता चल गया है कि विदेशी व्यापार पर नियंत्रण अत्यावश्यक है। आज सम्पूर्ण आयात नीति ही इस प्रकार की बनाई जाती है जिसमें घरेलू उद्योगों के विकास की पूर्ण व्यवस्था हो सके।

(५) यदि निजी क्षेत्र के किसी उद्योग को संरक्षण नहीं दिया जाता है तो इसका योजना पर असर पड़ना स्वाभाविक है। लेकिन आयोग ने उस उद्योग के लिए और कोई व्यवस्था नहीं की है ताकि वह योजना में अपना भाग सफलतापूर्वक अदा कर सके।

(६) आयोग ने इस बात पर पूर्ण प्रकाश नहीं डाला कि भारत को अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार-संगठन व अन्य इसी प्रकार की संस्थाओं में किस रूप में भाग लेना चाहिए। इसने हवाना चार्टर की मूल कमियों पर भी कम ध्यान दिलाया है। इन संगठनों में भाग लेने से हमारी प्रशुल्क-नीति एवं संरक्षण-नीति पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

अतः पिछले लगभग १० वर्षों की आन्तरिक एवं बाहरी घटनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत की संरक्षण नीति में ऐसे संशोधन आवश्यक हैं जिनसे भारत का औद्योगिक विकास तीव्र गति से हो सके। वास्तव में सब उद्योगों को चाहे संरक्षण देना वांछनीय न हो लेकिन आवश्यक सरकारी सहायता एवं सहयोग अवश्य मिलने चाहिएँ। विदेशी विनिमय संकट ने एक सुव्यवस्थित विदेशी व्यापार नीति अपनाने को प्रेरित किया है। भविष्य में भी भारत को विदेशी मुद्रा अर्जित करने का भरसक प्रयास करना चाहिए। इसके लिए एक तरफ निर्यात उद्योग पनपाने होंगे और दूसरी तरफ अनावश्यक आयात बन्द करने होंगे एवं साथ में आवश्यक आयातों के भी भारतीय प्रतिस्थापन पदार्थ निकालने होंगे। अतः योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्था में हमारी समस्त विदेशी व्यापार नीति इस प्रकार संगठित करनी होगी ताकि योजना सफल हो सके। अतः प्रशुल्क-नीति से ध्यान हटकर अब उपयुक्त विदेशी व्यापार नीति पर लगने लगा है जो आवश्यक है। शायद यही कारण है कि द्वितीय योजना में संरक्षण के प्रश्न पर कुछ भी वर्णन नहीं किया गया है। आज यह स्पष्ट हो गया है कि औद्योगिक विकास के लिए प्रशुल्कों के अलावा अन्य साधन काम में लाने होंगे। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अब प्रशुल्क आयोग या अधिकारी की आवश्यकता नहीं होगी। बल्कि यह सुझाया गया है कि प्रशुल्क-कर उद्योगों की उन्नति का एक साधन है—एकमात्र साधन नहीं है। इसीलिए उचित विदेशी व्यापार नीति, सरकारी क्षेत्र में उद्योगों की स्थापना, एवं योजना के लक्ष्यों की पूर्ति आज ज्यादा आवश्यक समझे गये हैं। अतः प्रशुल्क-नीति का स्थान धीरे-धीरे गौण होता जा रहा है क्योंकि यह एक नकारात्मक नीति है जिससे आयात किये गये माल की लागत बढ़ जाती है। वास्तव में रचनात्मक उपाय अपना कर देशी उद्योगों की लागत कम करने से भी संरक्षण के उद्देश्य की सिद्धि होती है और देश का औद्योगिक विकास होता है।

प्रशुल्क आयोग (Tariff Commission)

प्रशुल्क आयोग का ढांचा, कार्य-प्रणाली और सफलतायें—प्रशुल्क आयोग अधिनियम १९५१ में पास हुआ और २१ जनवरी, १९५२ को भारत सरकार ने द्वितीय राजकोषीय आयोग की सिफारिश पर एक प्रशुल्क आयोग नियुक्त किया। इसके तीन सदस्य हैं जिनमें से एक अध्यक्ष है। आयोग एक स्वतंत्र संस्था है। इसके कार्य

पहले के प्रशुल्क मण्डलों से ज्यादा विस्तृत हैं। सरकार प्रशुल्क आयोग को जाँच व रिपोर्ट के लिए निम्न कार्य सौंप सकती है :—

(अ) किसी उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए संरक्षण मंजूर करना;

(आ) किसी उद्योग के संरक्षण के लिए आयात-करों व अन्य करों में परिवर्तन की जाँच करना;

(इ) राशिपातन के विरुद्ध कार्यवाही एवं संरक्षित उद्योग द्वारा संरक्षण के दुरुपयोग की जाँच;

(ई) संरक्षण का सामान्य मूल्य स्तर व जीवन-व्यापन व्यय पर प्रभाव देखना;

(उ) आयात-करों में रियायत जो व्यापारिक समझौतों में दी जाती है, उसका प्रभाव विशेष उद्योग के विकास पर देखना,

(ऊ) संरक्षण से उत्पन्न होने वाले अन्य प्रश्नों पर विचार करना।

प्रशुल्क आयोग नये उद्योगों की भी जाँच करेगा। अपनी इच्छा से प्रशुल्क आयोग कोई भी जाँच कर सकता है सिर्फ संरक्षण की प्रारम्भिक स्वीकृति की जाँच अथवा संरक्षित या असंरक्षित वस्तुओं के मूल्यों की जाँच सरकार के कहने पर ही की जा सकेगी।

आयोग को विशेष अधिकार दिये गये हैं। यह संरक्षण की अवधि जितनी चाहे उतनी निश्चित कर सकता है। यह संरक्षित उद्योग की कार्य-प्रणाली, उत्पादन का पैमाना, उत्पादन की किस्म एवं भावी विकास की सम्भावनाओं पर जाँच करके सरकार को रिपोर्ट दे सकता है।

आयोग की स्थिति अर्द्ध-न्यायिक है। यह तथ्यों की जाँच करता है। लागत का अनुमान लगाता है। फिर उसी वस्तु का आयात मूल्य देखता है और संरक्षण की मात्रा निश्चित करता है।

प्रशुल्क आयोग अधिनियम, १९५१ के अनुसार संसद आयोग की रिपोर्ट पर तीन महिने में घोषित करती है कि उस पर क्या कार्य किया गया है और यदि कोई कार्य नहीं किया गया है तो उसके कारण बतलाये जाते हैं।

जनवरी, १९५२ में प्रशुल्क आयोग ने पुराने प्रशुल्क बोर्ड से निम्न मामले लिये (i) संरक्षण की माँग के ५ मामले, (ii) मूल्य निश्चित करने के ३ मामले, (iii) संरक्षित उद्योगों की जाँच के ४२ मामले। शुरू में जिन उद्योगों को इसने संरक्षण स्वीकार किया उनके नाम इस प्रकार हैं :—बाल बियरिंग, स्टील बाल, मोटर गाड़ी उद्योग, पावर एण्ड डिस्ट्रीब्यूशन ट्रान्सफॉर्मर उद्योग एवं टिटानियम डायोक्साइड उद्योग।

प्रशुल्क आयोग के कार्य का पता निम्न तालिका से लगता है :—

प्रशुल्क आयोग का कार्य, १९५२-६०

	प्रशुल्क जाँच			
	नई	चालू	कुल	मूल्य जाँच
१९५३-५४	४	११	१५	३
१९५४-५५	५	१७	२२	१
१९५५-५६	३	१७	२०	२
१९५६-५७	२	४	६	४
१९५७-५८	—	२२	२२	१
१९५८-५९	—	१२	१२	३
१९५९-६०	—	१४	१४	३
कुल	१४	९७	१११	१७

(Source : S. C. Kucchal, 'Industrial Economy of India' and Currency and Finance, Reports from 1958-59 and 1959-60, P. 172),

पिछले ८ वर्षों में प्रशुल्क आयोग ने संरक्षण के १४ नये मामलों की जाँच की जिनमें से ६ का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में मोटर उद्योग से था। आयोग ने इन सबके संरक्षण की सिफारिश की और सरकार ने उसे स्वीकार किया। तीन नये मामलों में संरक्षण नहीं दिया गया जैसे ऊनी बनियान फ्लेक्स का सामान, एवं आईसोनियाजिड उद्योग।

पिछले तीन वर्षों में कोई नई जाँच नहीं की गई है। यह निराशाजनक है क्योंकि द्वितीय योजना में तो औद्योगीकरण पर विशेष बल दिया गया है। शायद नियंत्रित आयात व विदेशी विनिमय के अभाव ने उद्योगों को परोक्ष रूप से संरक्षण दे दिया जिससे संरक्षण के लिए विशेष माँग नहीं की गई है।

अल्पकाल के लिए संरक्षण मिलने के कारण चालू संरक्षित उद्योग अपनी माँग फिर दोहराते हैं इसलिए पिछले ७ वर्षों में चालू उद्योगों की जाँच की संख्या ८३ तक पहुँच गई। आज हमारे देश में ३७ उद्योगों को संरक्षण मिला हुआ है जिनमें ८ पूँजीगत उद्योगों के समूह में आते हैं, १९ औद्योगिक कच्चा माल व उपभोग्य स्टोर के समूह

1. Report on Currency and Finance, 1959-60, P. 91-92

में, ३ उपभोग्य वस्तुओं के एवं शेष ७ उद्योग यातायात के समूह में आते हैं। इस प्रकार पूँजीगत उद्योग व कच्चे माल वाले समूह पर विशेष ध्यान दिया गया है जो देश के लिए लाभप्रद ही सिद्ध होगा।

प्रशुल्क आयोग को ऐसे उद्योगों की देखभाल करते रहना चाहिए जिनसे संरक्षण उठा लिया गया है ताकि वे अपनी कार्य-कुशलता में सुधार करने को तैयार हो सकें। प्रशुल्क आयोग ने अपना कार्य बड़ी तत्परता से किया है जिससे भविष्य में इससे ज्यादा सफलता की कामना की जा सकती है।

प्रश्न

University of Rajasthan, B. A.

(1) Define the term 'discriminating protection'. Has the policy of discriminating protection been a success in India ?
(1951, 1957, 1959, short note in 1960)

(2) Discuss briefly the important recommendations of the 1950 Fiscal Commission. (1953, 1955, 1958)

(3) What are the grounds on which protection to industries can be justified in India ? (1956)

(4) Explain the principles on which the present fiscal policy of the Indian Government is based. How far has this policy promoted the development of Indian industries ? (Supplementary, 1960)

संदर्भ ग्रन्थ

(1) The Industrial Economy of India—S. C. Kuchhal.
(2) Report on Currency and Finance for the years 1958-59 and 1959-60 (R. B. I.)

खण्ड ८

राष्ट्रीय आय, रोजगार व आयोजन

(अध्याय ३६ से अध्याय ४४ तक)

उन्तालीसवाँ अध्याय

राष्ट्रीय आय

"राष्ट्रीय आय से हमारा अभिप्राय किसी राष्ट्र द्वारा निश्चित समय में उत्पादित सब आर्थिक वस्तुओं के विशुद्ध मूल्य से होता है।—" (डा० साइमन कूजने ट्स)

"राष्ट्रीय आय का अर्थ किसी राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था द्वारा वस्तुओं और सेवाओं के चालू उत्पादन से प्राप्त श्रम और सम्पत्ति (पूँजी) कुल कमाई (आय) से होता है।" —(अमेरिकी वाणिज्य विभाग)

"तेतै पाँव पसारिये जेती लम्बी सौर"—इस कथन में बड़ा आर्थिक सत्य है। कोई व्यक्ति या देश कितना खर्च कर सकता है या बचत और विनियोग कर सकता है—यह उस व्यक्ति या देश की आय पर निर्भर है। अतएव किसी देश की अर्थ-व्यवस्था के अध्ययन में उस देश की राष्ट्रीय आय के अध्ययन का बड़ा महत्त्व है।

कुछ परिभाषाएँ

किसी देश की राष्ट्रीय आय का दो प्रकार से वर्णन किया जा सकता है। हम किसी देश में एक निश्चित अवधि (प्रायः एक वर्ष) में उत्पादित सब वस्तुओं और सेवाओं के आर्थिक मूल्य में जोड़ लगा सकते हैं या उत्पादन साधनों को प्राप्त होने वाली आय का जोड़ लगा सकते हैं। पहली प्रकार के जोड़ को अर्थ-शास्त्र में "अन्तिम उत्पादन का योग" (Final Products Total) कहते हैं और दूसरी प्रकार के जोड़ को "साधनों को भुगतान का योग" (Factor Payments Total) कहते हैं। हम संक्षेप में दोनों पर अलग अलग विचार करते हैं।

(अ) अन्तिम आय का उत्पादन का योग—इस तरीके से "कुल राष्ट्रीय उत्पादन" (G. N.) हमको किसी देश में एक वर्ष की अवधि में उत्पादित सब अन्तिम वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों को जोड़ना पड़ता है। इसमें केवल उपभोक्ताओं द्वारा खरीद कर अन्तिम वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों को जोड़ना चाहिये; अन्य वस्तुओं के बनाने में काम आने वाली मध्यवर्गीय वस्तुओं के मूल्यों को नहीं जोड़ना चाहिये। उदाहरण के लिये, यदि पुस्तक के दाम १० रु० हैं और इसके बनाने में २ रु० का कागज काम में आता है तो हमको कुल उत्पादन के मूल्य में केवल १० रु० जोड़ना चाहिये। यदि इस पुस्तक के बनाने में काम में आने वाले कागज का मूल्य भी अलग से जोड़ दिया जाता है तो एक ही वस्तु का मूल्य दो बार गिनने की गलती हो जाती है। इस प्रकार "कुल राष्ट्रीय उत्पादन" (G. N. P.) (i) उपभोक्ताओं द्वारा खरीदी गई वस्तुओं

और सेवाओं धन (ii) सरकार द्वारा खरीदी गई वस्तुओं और सेवाओं धन (iii) कुल निजी विनियोग के मूल्य के वरावर होता है।

नई वस्तुओं के वनाने में मशीनों और इमारतों आदि कई मौजूदा वस्तुओं को काम में लिया जाता है अतएव 'विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन" (N. N. P.) जानने के लिए हमको कुल राष्ट्रीय उत्पादन (G. N. P.) में मौजूदा वस्तुओं की घिसाई टूट-फूट और जूनी पड़ने से होने वाला ह्रास (Depreciation) घटाना चाहिए। इस प्रकार कुल राष्ट्रीय उत्पादन—मूल्य-ह्रास = विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन

(आ) साधनों को भुगतान का योग—वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में भूमि, श्रम, पूँजी आदि उत्पादन के साधनों की सहायता ली जाती है और उत्पादित वस्तुओं का मूल्य उत्पादन के साधनों के पारिश्रमिक के रूप में बाँटा जाता है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय (National Income) उत्पादन के साधनों की कमाई यानी लगान, मजदूरी, व्याज तथा लाभ के वरावर होती है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय की गणना करने में जो भुगतान विना किसी प्रकार का उत्पादन किये प्राप्त होती है, जैसे विस्थापितों तथा अकाल ग्रस्त लोगों को दी जाने वाली सहायता, उसको शामिल नहीं किया जाता है।

यह ध्यान देने की वात है कि अन्तिम उत्पादन योग में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मन्डी में प्रचलित मूल्यों के आधार पर आँका जाता है। ये मूल्य उत्पादन लागत से ऊँचे होते हैं क्योंकि इनमें परोक्ष कर (Indirect taxes) भी शामिल होते हैं। परन्तु उत्पादन के साधनों को की जाने वाली भुगतान में ये परोक्ष कर शामिल नहीं होते क्योंकि उत्पादन के मूल्य में से परोक्ष कर चुकाने के वाद जो राशि रहती है वही उत्पादन के साधनों में वाँटी जा सकती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं का सम्बन्ध निम्नांकित समीकरणों द्वारा समझाया जा सकता है :—

कुल राष्ट्रीय उत्पादन—मूल्य-ह्रास = विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन
(मन्डी के मूल्यों के अनुसार)

विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन—परोक्षकर = राष्ट्रीय आय (साधनों की लागत के अनुसार)

राष्ट्रीय आय का महत्त्व (१)—किसी देश की राष्ट्रीय आय के अध्ययन से हम उस देश के अर्थ-व्यवस्था के वारे में वहुत कुछ जान सकते हैं। (क) इससे हमको ज्ञात होता है कि देश के प्राकृतिक, भौतिक और मानवीय साधनों का कहाँ तक और कैसा उपयोग हो रहा है और देश की आर्थिक स्थिति सुधर रही है या नहीं। (ख) इससे हमको ज्ञात होता है कि देश की कृषि, उद्योगों तथा व्यापार आदि की क्या दशा है और किसानों, श्रमिकों तथा व्यवसाइयों की क्या स्थिति है। परन्तु इन वातों की जानकारी के लिए केवल कुल राष्ट्रीय आय के आँकड़ों का ज्ञान काफी नहीं है। हमको यह भी

ज्ञात होना चाहिए कि राष्ट्रीय आय कहाँ पैदा होती है और इसका बँटवारा कैसे होता है। विशेष रूप से हमको यह ज्ञात होना चाहिये कि किसी देश की राष्ट्रीय आय का कितना भाग उपभोग के काम आता है और कितना बचाया जाता है और विनियोग की मात्रा बचत के बराबर है या नहीं।

(२) केन्द्रीय सरकार का बजट बनाते और करारोपण करते समय भी राष्ट्रीय आय का ज्ञान आवश्यक है। आज-कल बजट का उद्देश्य देश को मुद्रा स्फीति और बेरोजगारी से बचाकर देश की आर्थिक और सामाजिक उन्नति करना होता है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मुद्रा-स्फीति से बचने के लिए कितनी बचत करनी होगी या कितना करारोपण करना होगा तथा बेरोजगारी से बचने के लिए राज्य को कितना विनियोग करना होगा। जिन देशों में आर्थिक विकास के लिए आर्थिक आयोजन की नीति अपनाई जाती है उनमें राष्ट्रीय आय के अध्ययन का विशेष महत्त्व है। आर्थिक विकास के लिए राष्ट्रीय आय का उत्तरोत्तर अधिक भाग बचाकर विनियोग करना होता है और तदर्थ विशिष्ट राजकोषी, मौद्रिक तथा कीमतों और मजदूरी संबंधी नीतियाँ अपनानी पड़ती हैं।

(३) दो या अधिक देशों के बीच किसी सामान्य भार का न्यायोचित बँटवारा करने में भी राष्ट्रीय आय के आँकड़ों की सहायता ली जाती है।

राष्ट्रीय आय और आर्थिक कल्याण—साधारणतः राष्ट्रीय आय या प्रति व्यक्ति आय (राष्ट्रीय आय ÷ जनसंख्या) को देश की आर्थिक प्रगति का द्योतक माना जाता है। निःसन्देह यदि राष्ट्रीय आय जनसंख्या की तुलना में तेजी से बढ़ती है तो प्रति व्यक्ति आय बढ़ जाती है और साधारणतः प्रति व्यक्ति आय बढ़ने का अर्थ होता है कि आर्थिक दक्षता, उत्पादन तथा उपभोग की संभावनाएँ पहले से अधिक हैं। परन्तु कई कारणों से प्रति व्यक्ति आय सदा देश की सुख-समृद्धि को ठीक ठीक प्रकट नही करती। (१) मौद्रिक आय बढ़ जाने भी यदि मुद्रा की क्रय-शक्ति घट जाती है तो वास्तविक उपभोग तथा तुष्टि नहीं बढ़ती। (२) मौद्रिक मूल्य सदा वस्तुओं की सामाजिक उपयोगिता को प्रकट नहीं करता। प्रति व्यक्ति मौद्रिक आय बढ़ने का मतलब है कि पहले की तुलना में प्रति व्यक्ति उत्पादन का मूल्य अधिक है। परन्तु इससे यह प्रकट नहीं होता कि किस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा है। युद्ध के दिनों में शस्त्रास्त्रों के उत्पादन के बढ़ने से राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय बढ़ जाती है परन्तु राष्ट्र का जीवन स्तर नहीं बढ़ने पाता। शान्ति काल में भी यदि शराब आदि नशीली वस्तुओं का उत्पादन बढ़ जाता है तो वास्तविक जीवन-स्तर नहीं बढ़ता। (३) राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से यह प्रकट नहीं होता कि इसे प्राप्त करने के लिए नागरिकों को कितना काम करना पड़ता है। आराम (Leisure) कम करके कठिन परिश्रम द्वारा राष्ट्रीय आय बढ़ाई जा सकती है। परंतु इससे सुख का स्तर नहीं बढ़ता। (४) इसी प्रकार बिना सोचे

समझे देश के प्राकृतिक साधनों का विदोहन करके अल्प-काल में राष्ट्रीय आय बढ़ाई जा सकती है परन्तु यह दीर्घकालीन दृष्टि से अच्छा नहीं माना जा सकता। (५) राष्ट्रीय आय उत्पादन का मूल्य बतलाती है, उपभोग की मात्रा नहीं बतलाती। परन्तु जीवन-स्तर उन्नत होने के लिए उपयोग में वृद्धि आवश्यक है। यदि बढ़ती हुई राष्ट्रीय आय बचाकर विनियोग में लगाई जाती है तो भावी आय बढ़ती है परन्तु मौजूदा उपभोग और जीवन-स्तर नही बढ़ता। फिर "उपभोग" के सम्बन्ध में जो आँकड़े इकट्ठे किये जाते हैं वे उपभोग्य वस्तुओं और सेवाओं पर किया जाने वाला खर्चा बतलाते है उपभोक्ताओं द्वारा उनसे प्राप्त होने वाली तुष्टि नहीं बतलाते हैं। (६) अन्तिम प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि से केवल यह प्रकट होता है कि औसत आय बढ़ी है। परन्तु यदि औसत आय बढ़ने के साथ ही साथ आय के वितरण की विषमता भी बढ़ जाती है तो जन-साधारण का जीवन-स्तर बढ़ने की जगह घट सकता है। अतएव राष्ट्रीय आय या प्रति व्यक्ति आय को देख कर आर्थिक कल्याण के सम्बन्ध में नतीजा निकालने में बड़ी सावधानी चाहिए।

राष्ट्रीय आय की तुलना—जिस प्रकार राष्ट्रीय आय और आर्थिक कल्याण में सम्बन्ध स्थापित करने में सावधानी चाहिए उसी प्रकार दो देशों की राष्ट्रीय आय की तुलना करने या एक ही देश की अलग अलग समय में राष्ट्रीय आय की तुलना करने में बड़ी सावधानी चाहिए। उदाहरण के लिए, १९५५ में जब भारत की प्रति व्यक्ति आय लगभग २५२ रु० थी तब अमेरिका (U. S. A.) की प्रति व्यक्ति आय लगभग ९३५१ रु० थी।[1] इस आधार पर यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि एक औसत भारत के नागरिक की तुलना में एक अमेरिकी नागरिक का जीवन-स्तर सैंतालीस गुना ऊँचा है। कारण स्पष्ट है। (१) अलग-अलग देशों के राष्ट्रीय आय के आँकड़े अलग-२ सिद्धान्तों के अनुसार प्राप्त किये जाते हैं। उदाहरण के लिए भारत में स्त्रियाँ अधिकतर घरेलू काम करती हैं। इसलिये उनकी सेवाओं का मूल्य राष्ट्रीय आय में नहीं आँका जाता है। परन्तु अधिकांश अमेरिकी दम्पति दोपहर का भोजन बाजार में करते हैं और भोजन-शालाओं की सेवाओं का मूल्य राष्ट्रीय आय में शामिल किया जाता है। (२) कई वस्तुएं जिनकी भारत में आवश्यकता नहीं होती अमेरिका में अनिवार्य मानी जाती हैं। उदाहरण के लिये अमेरिका के उत्तरी राज्यों में मकानों को गरम रखने की आवश्यकता होती है परन्तु भारत में इसकी बहुत कम आवश्यकता होती है। (३) अंतिम मुद्रा की क्रय शक्ति भी अलग-अलग देशों में अलग-अलग होती है। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि यदि एक देश की प्रति व्यक्ति मौद्रिक आय दूसरे देश से सैंतालीस गुनी है तो वहाँ के निवासी भी उतने ही अधिक सुखी हैं।

जो बातें भिन्न भिन्न देशों की राष्ट्रीय या प्रति व्यक्ति आय की तुलना करते समय ध्यान में रखनी पड़ती हैं वे एक ही देश की भिन्न भिन्न समय में राष्ट्रीय या

1. India & World Economy, P. 64.

प्रति व्यक्ति आय की तुलना करते समय भी ध्यान में रखनी चाहियें। (१) समय समय पर कीमतों में परिवर्तन होते रहते हैं। अतएव चालू कीमतों में प्रकट राष्ट्रीय या प्रति व्यक्ति आय की तुलना नहीं की जा सकती। (२) कभी कभी सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप जिन वस्तुओं का पहले मुद्रा में मूल्य नहीं आँका जाता था अब मुद्रा में मूल्य आँका जाने लगता है और वे राष्ट्रीय आय में गिनी जाने लगती हैं। (३) हम देख चुके हैं कि राष्ट्रीय आय से केवल उत्पादन का मूल्य प्रकट होता है न कि उपभोग की मात्रा जिस पर जीवन-स्तर निर्भर करता है। (४) अन्तिम, कालान्तर में उपभोग के ढाँचे में परिवर्तन होने से भी तुलना में कठिनाई होती है। उदाहरण के लिए कुछ वर्षों पहले भले घरों में कई घरेलू नौकर रखने का रिवाज था। आज कल सम्पन्न लोग भी ज्यादा नौकर रखने की अपेक्षा अन्य सुविधाओं पर अधिक खर्च करते हैं। उपर्युक्त कारणों में राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति आज की तुलना करने में सावधानी चाहिये।

भारत में राष्ट्रीय आय की माप

(क) राष्ट्रीय आय का हिसाब लगाने में कठिनाइयाँ:—भारत की राष्ट्रीय आय का हिसाब लगाने के मार्ग में कई कठिनाइयाँ हैं:—

(१) राष्ट्रीय आय का हिसाब लगाने में यह मानकर चला जाता है कि देश में उत्पादित अधिकांश वस्तुओं और सेवाओं का मुद्रा से विनिमय किया जाता है। परन्तु भारत एक कृषि प्रधान देश है और हमारे अधिकांश किसान अपने गुजारे के लिए खेती करते हैं। हमारे खेतों की अधिकांश उपज मण्डी में बिक्री के लिए नहीं आती—उसका उपभोग उत्पादक स्वयं कर लेते हैं या अन्य वस्तुओं या सेवाओं से सीधा विनिमय किया जाता है।

(२) भारत के अधिकांश किसान, कारीगर व अन्य उत्पादक अशिक्षित हैं। वे प्रायः हिसाब-किताब नहीं रखते और उनको अपनी पैदा की हुई या बनाई हुई वस्तुओं की मात्रा और मूल्य का ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता। अतएव इन लोगों के उत्पादन के आँकड़े अनुमानों पर आधारित होते हैं।

(३) भारत के अधिकांश किसान भूमि और साल भर के लिए काम की कमी के कारण वे खेती के अतिरिक्त कोई कुटीर धन्धा जैसे पशु-पालन आदि या मजदूरी भी करते हैं। इस प्रकार कई धन्धे करने वाले लोगों का विशिष्ट व्यवसायों में वर्गीकरण कठिन हो जाता है और राष्ट्रीय आय का हिसाब लगाने में कठिनाई होती है।

(४) भारत में खेती और कारखानों की कुल उपज और कार्यशील जनता की संख्या आदि के बारे में पूर्ण तया विश्वसनीय आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। इसी प्रकार देहाती तथा शहरी आबादी के उपभोग एवं बचत सम्बन्धी आँकड़े भी उपलब्ध नहीं

है। क्षेत्रिय विभिन्नताओं के कारण एक क्षेत्र के सम्बन्ध में उपलब्ध जानकारी का दूसरे क्षेत्र के लिए उपयोग करने में भी कठिनाई होती है।

(ख) भारत में राष्ट्रीय आय की माप का तरीका:—राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के साधारणतः दो तरीके प्रचलित हैं। पहले (उत्पादन गणना प्रणाली) तरीके के अनुसार एक निश्चित अवधि (प्रायः एक वर्ष) में प्राप्त उत्पादन का विशुद्ध मूल्य ज्ञात किया जाता है। विशुद्ध उत्पादन ज्ञात करने के लिए कुल उत्पादन (बिक्री+खुद का उपभोग+भण्डार में बढ़ोत्तरी) में से पूँजी का मूल्य ह्रास तथा मध्य वर्गीय वस्तुओं का मूल्य घटाना पड़ता है। इस प्रकार सब उद्योगों के विशुद्ध उत्पादन को जोड़कर विशुद्ध घरेलू उत्पादन ज्ञात किया जाता है। इसमें विदेशों से प्राप्त आय जोड़ने से विशुद्ध राष्ट्रीय आय ज्ञात हो जाती है। दूसरे (आय गणना प्रणाली) तरीके के अनुसार उसी अवधि में उत्पादन के साधनों की निजी आयों का जोड़ लगाया जाता है। दोनों तरीकों से एक ही नतीजा निकलना चाहिये क्योंकि मनुष्यों के किसी समूह द्वारा प्राप्त आयों का जोड़ उनके द्वारा उत्पादित माल के मूल्य के बराबर होना चाहिये। भारत में राष्ट्रीय आय समिति ने राष्ट्रीय आय का हिसाब लगाने में अंशतः पहले और अंशतः दूसरे तरीके को काम में लिया है। कृषि, वन उद्योग, पशु-पालन, शिकार, मछली पकड़ने, खान खोदने और उद्योगों के वार्षिक उत्पादन के विशुद्ध मूल्य का हिसाब लगा कर राष्ट्रीय आय में शामिल किया गया है। परन्तु व्यापार, परिवहन, प्रशासन व्यवसायों, ललित कलाओं तथा घरेलू सेवा कार्यों से प्रतिनिधि व्यक्ति की आय का हिसाब लगाकर काम करने वालों की संख्या से गुणा करके राष्ट्रीय आय में शामिल किया गया है।

(ग) राष्ट्रीय आय समिति का कार्यः—भारत सरकार ने अगस्त १९४९ में प्रो० पी० सी० महलनॉबिस की अध्यक्षता में राष्ट्रीय आय समिति की नियुक्ति की। प्रो० डी० आर० गादगिल और प्रो० वी० के० आर० वी० राव इस समिति के सदस्य थे। समिति के सचिव २५ दिसम्बर १९४९ तक डा० आर० सी० देसाई और बाद में श्री एम० मुकर्जी रहे। समिति को प्रो० साइमन कूजनेट्स, श्री जे० आर० एन० स्टोन और डा० जे० बी० डी० डर्कसन आदि विदेशी विशेषज्ञों की सलाह-सहायता का प्रबन्ध किया गया। इस समिति की पहली रिपोर्ट अप्रैल १९५१ में और अन्तिम रिपोर्ट फरवरी १९५४ में प्रकाशित हुई। समिति की पहली रिपोर्ट में १९४८-४९ में भारत की राष्ट्रीय आय के अनुमान दिये गये और अन्तिम रिपोर्ट में १९४८-४९ में राष्ट्रीय आय के संशोधित अनुमान और १९४९-५० तथा १९५०-५१ में राष्ट्रीय आय के अनुमान दिये गये हैं। तब से केन्द्रीय सांख्यकी सङ्गठन (Central Statistical Organisation C.S.O.) राष्ट्रीय आय पर वार्षिक परिपत्र प्रकाशित करता है।

राष्ट्रीय आय समिति की नियुक्ति से पहले भी कुछ विद्वानों ने[1] समय समय पर भारत की राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाने के प्रयत्न किये थे परन्तु इनको यथेष्ट सामग्री प्राप्त नहीं थी और इनके तरीके भी अपूर्ण थे। इनके अनुमानों का उद्देश्य भारत में अंग्रेजी राज की अच्छाई या बुराई बतलाना था, इसलिए इनमें पक्षपात का दोष भी था।

राष्ट्रीय आय समिति के मुख्य विचार—

(१) समिति के अनुसार भारत की राष्ट्रीय आय चालू कीमतों के अनुसार १९४८-४९ में ८६५० करोड़ रु० थी जो बढ़ कर १९४९-५० में ९०१० करोड़ रु० और १९५०-५१ में ९५३० करोड़ रु० हो गई। इस प्रकार इन तीन वर्षों में राष्ट्रीय आय ८८० करोड़ रु० या १०'१५ प्रतिशत बढ़ी। परन्तु इस अवधि में कीमतें बढ़ रहीं थीं। समिति ने बतलाया है कि १९४८-४९ की कीमतों के अनुसार राष्ट्रीय आय जो १९४८-४९ में ८६५० करोड़ रु० थी १९५०-५१में ८८५० करोड़ रु० हो गई।

इस प्रकार राष्ट्रीय आय में वास्तविक वृद्धि केवल २'३ प्रतिशत हुई।[2]

(२) समिति के अनुसार भारत में प्रति व्यक्ति आय चालू कीमतों के अनुसार १९४८-४९ में २४६'९ रु० थी जो बढ़कर १९५०-५१ में २६५'२ रु० हो गई यानी चालू कीमतों के आधार पर इन तीन वर्षों में प्रति व्यक्ति आय में ७'४ प्रतिशत वृद्धि हुई। परन्तु यदि स्थिर कीमतों के आधार पर हिसाब लगाया जाय तो ज्ञात होता है कि इस अवधि में प्रति व्यक्ति आय लगभग समान रही। वास्तव में यह १९४९-५० में ७'७ प्रतिशत बढ़ी परन्तु १९५०-५१ में १९४९-५० की तुलना में ०'९ प्रतिशत घट गई।[3]

(३) समिति की रिपोर्ट से प्रकट है कि १९५०-५१ में हमारी राष्ट्रीय आय में कृषि का भाग ५१'३ प्रतिशत खान खोदने, माल तैयार करने के कारखानों और छोटे उद्योगों का १६'१ प्रतिशत; वाणिज्य, परिवहन और संचार का १७'७ प्रतिशत और अन्य सेवाओं का १५'१ प्रतिशत[4] इन आँकड़ों से भारत की अर्थ व्यवस्था का असंतुलन प्रकट होता है। यह भी स्पष्ट होता है कि इस असन्तुलन को मिटाने के लिए भारत में उद्योगों का विकास आवश्यक है। यह सन्तोष का विषय है कि हमारी पंच-वर्षीय योजनाओं में इस ओर प्रयत्न किया जा रहा है।

---

(१) दादा भाई नारोजी ने १८६८ में भारत की प्रति व्यक्ति आय २०) बतलाई। १९११ में प्रो० फिन्डले शिराज ने इसे ४९) रु० बतलाई। डा० राव ने १९३१-३२ में ६५) रु० और १९४२-४३ में ११४) रु० बतलाई।

2. Final Report of the National Income Committee, Feb, 1954, P. 144.

3. India, P. 116.

4. India, P. 106.

(४) समिति की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि १६५०-५१ में भारत के विशुद्ध घरेलू उत्पादन की कीमत ६५५० करोड़ रु० थी जिसमें से ६२६० करोड़ रु० का उत्पादन छोटे उद्यमों में हुआ और लगभग १०२० करोड़ का उत्पादन बड़े उद्यमों में।[1] इन आँकड़ों से भारत की अर्थ-व्यवस्था में छोटे उद्यमों की प्रधानता स्पष्ट है जिनके उत्पादन का मूल्य बड़े उद्यमों की तुलना में ६ गुना है। हमारी दूसरी पंच-वर्षीय योजना में छोटे उद्यमों का महत्त्व स्वीकार करके इनके विस्तार और पुनर्संङ्गठन की व्यवस्था की गई है।

(५) राष्ट्रीय आय समिति के अनुमान से चालू कीमतों के आधार पर १६४८-४६ और १६५०-५१ के बीच में राष्ट्रीय आय में खेती तथा सम्बन्धित कार्यों का योगदान ४६·१ प्रतिशत से बढ़कर ५१·३ प्रतिशत होगया जब कि खान खोदने तथा उद्योगों का भाग १७·१ प्रतिशत से घटकर १६·१ प्रतिशत रह गया। परन्तु यदि स्थिर कीमतों के आधार पर हिसाब लगाया जाय तो स्थिति में विशेष अन्तर प्रकट नहीं होता।[2] परन्तु परिवहन, रेलों और सरकारी सेवाओं का भाग चालू तथा स्थिर कीमतों तथा सापेक्षिक अंशदान सब प्रकार से बढ़ा है।

(६) समिति की रिपोर्ट से प्रकट होता है कि करों से प्राप्त आय, विशेषतः परोक्ष करों की आय, सरकारी व्यय और सार्व-जनिक क्षेत्र में पूर्ण निर्माण बढ़ा है। ये बातें भारतीय अर्थ-व्यवस्था में सरकार के बढ़ते हुए कार्य को प्रकट करती हैं।[3]

(७) राष्ट्रीय आय समिति की रिपोर्ट की ३८ वीं और ३६ वीं सारिणियों से प्रकट है कि इस अवधि में विदेशी पूँजी का देश में आयात घट गया था। इसका कारण स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् सरकारी नीतियों की अनिश्चतता और विदेशी पूँजी का निर्यात है।

(घ) भारत की राष्ट्रीय आय में नई प्रवृत्तियाँ—हम बतला चुके हैं कि केन्द्रीय सांख्यकी संगठन राष्ट्रीय आय पर वार्षिक परिपत्र प्रकाशित करता है। इन परिपत्रों से पिछले कुछ वर्षों में भारत की राष्ट्रीय आय में होने वाले मुख्य परिवर्तन प्रकट होते हैं :—

(१) भारत की राष्ट्रीय आय चालू कीमतों के आधार पर पिछले ग्यारह वर्षों में लगभग ४४ प्रतिशत बढ़ी है यानी १६४८-४६ में [८६५० करोड़ रु० से बढ़कर १६५८-५६ में १२,४७० करोड़ रु० होगई है। परन्तु वास्तविक वृद्धि लगभग ३५ प्रतिशत हुई है क्योंकि १६४८-४६ की कीमतों से राष्ट्रीय आय १६४८-४६ में ८६५० करोड़ रु० से बढ़कर १६५८-५६ में ११,६६० करोड़ रु० तक पहुँचने का अनुमान है। इस अध्याय के अन्त में दी गई सारिणी से ज्ञात होता है कि पहली पंच वर्षीय

1. India, P. 107.
2. India, P. 117,
3. India, Tables 34-36.
1. India, Tables 38-39

योजना की अवधि में यानी १९५१-५२ से १९५५-५६ की अवधि में भारत की राष्ट्रीय आय में १८'४ प्रतिशत वृद्धि हुई जब कि दूसरी पंचवर्षीय योजना के पहले तीन वर्षों में राष्ट्रीय आय में ११'५ प्रतिशत वृद्धि हुई है। परन्तु राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ ही साथ देश की जनसंख्या में भी वृद्धि हुई। फलस्वरूप हमारी प्रति व्यक्ति आय पहली पंचवर्षीय योजना की अवधि में ११'१ प्रतिशत और दूसरी योजना के पहले तीन वर्षों में ७'३ प्रतिशत बढ़ी है। १९५८-५९ में गत वर्ष की तुलना में राष्ट्रीय आय में वृद्धि ७'३ प्रतिशत या ८०० करोड़ रु० हुई।[1] इस प्रकार पहली योजना की अवधि में राष्ट्रीय आय १८ प्रतिशत बढ़ी और दूसरी योजना की अवधि में २० प्रतिशत बढ़ने का अनुमान है। कुल मिलाकर दस वर्षों में राष्ट्रीय आय ४२ प्रतिशत और प्रति व्यक्ति आय २० प्रतिशत बढ़ने का अनुमान है।[2] स्पष्ट है कि यद्यपि हमारी विकास योजनाओं का हमारी राष्ट्रीय आय की वृद्धि पर कोई चमत्कारिक प्रभाव नहीं पड़ा है तथापि योजनाओं के अन्तर्गत विनियोग की बढ़ती हुई दर के कारण राष्ट्रीय आय में लगातार वृद्धि हो रही है।[3] तीसरी योजना का पहला लक्ष्य भारत की राष्ट्रीय आय में ५ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि करना है; साथ ही विनियोग का क्रम इस प्रकार रखा जायेगा कि विकास की यह गति भावी योजनाओं की अवधि में बनी रह सके।

(२) हम देख चुके हैं कि भारत की अर्थ-व्यवस्था की एक बड़ी कमजोरी इसका भारी असन्तुलन है। हमारे देश की लगभग ७० प्रतिशत जन-संख्या खेती में लगी हुई है। खेती पिछड़ी हुई होने से उपज बहुत कम होती है। हमारे किसानों की आय इतनी कम है कि वे यथेष्ट बचत करके देश की आर्थिक उन्नति के लिए पूँजी नहीं जुटा सकते। अतएव भारत की अर्थ-व्यवस्था की एक बड़ी समस्या खेती पर जन-भार घटाने और खेती की उपज तथा किसानों की आय बढ़ाने की है। भारत की राष्ट्रीय आय में विभिन्न औद्योगिक स्रोतों के तुलनात्मक महत्त्व पर ध्यान देने से भी हमारी अर्थ-व्यवस्था का असन्तुलन प्रकट होता है। हम बतला चुके हैं कि १९५०-५१ में हमारी राष्ट्रीय आय में कृषि का भाग ५१'३ प्रतिशत था। पहली योजना के अन्त में यह ४८ प्रतिशत रहा। अनुमान है कि दूसरी योजना में औद्योगीकरण पर विशेष जोर दिये जाने से हमारी कुल राष्ट्रीय आय में कृषि का भाग १९५५-५६ में ४८ प्रतिशत से घटकर १९६०-६१ में ४६ प्रतिशत हो जायगा और खानों तथा कारखानों का भाग ९ प्रतिशत से बढ़कर ११ प्रतिशत हो जायगा। स्पष्ट है कि भारत की

1. Indian Information (15-3-1960), P. 310.
2. The Third Five Year Plan—A Draft Outline, P. 17.
3. Alak Ghosh : Indian Economy (1959), P. 139.

अर्थ-व्यवस्था पूर्ववत कृषि-प्रधान है और बनी रहेगी । कृषि पर आश्रितता घटाने के लिए हमको आगामी कई योजनाओं में औद्योगीकरण पर लगातार जोर देना होगा । अन्त में पांचवी योजना पूर्ण होने तक कृषि पर जन-संख्या का अनुपात वर्तमान में ६९-७० प्रतिशत से घट कर ६० प्रतिशत होने का अनुमान है ।[1]

(ङ) राष्ट्रीय आय का भविष्य—आर्थिक विकास के लिए आयोजन एक दीर्घ-कालीन प्रक्रिया है । भारत के योजना आयोग ने पहली और दूसरी योजनाओं को आर्थिक विकास के मार्ग में बढ़ते हुए चरण माना है । पहली योजना में १९५०-५१ से १९८०-८१ तक की तीस वर्षों की अवधि में आर्थिक विकास का चित्र प्रस्तुत किया गया था । जनसंख्या की वृद्धि, राष्ट्रीय आय में होने वाली वृद्धि का विनियोग किया जा सकने वाला अनुपात और इस विनियोग के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले अतिरिक्त उत्पादन के सम्बन्ध में कुछ कल्पनाओं के आधार पर पहली योजना में यह अनुमान लगाया गया था कि १९५०-५१ में जो राष्ट्रीय आय का स्तर था वह १९७१-७२ तक दुगुना किया जा सकेगा और प्रति व्यक्ति आय १९७७-७८ तक दुगुनी हो जायेगी । पहली योजना में प्राप्त अनुभव के आधार पर ये कल्पनाएँ और सम्भावनाएँ दूसरी योजना में दोहराई गईं जिससे यह नतीजा निकाला गया कि १९५०-५१ की तुलना में राष्ट्रीय आय १९६७-६८ में और प्रति व्यक्ति आय १९७३-७४ में दुगुनी की जा सकेगी ।

इन लक्ष्यों की प्राप्ति जनसंख्या में होने वाली वृद्धि और आगामी तीन योजनाओं में किए जाने वाले प्रयत्नों पर निर्भर करेगी । केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन ने अनुमान लगाया है कि अगामी १५ वर्षों में जनसंख्या की वृद्धि दूसरी योजना में मानी गई गति से अधिक रहने की संभावना है । इन अनुमानों के आधार पर १९५१-७६ की अवधि में जन-संख्या में वृद्धि करीब २०·६ करोड़ हो सकती है जब कि दूसरी योजना में केवल १३·८ करोड़ रु० का अनुमान लगाया गया था । जनसंख्या बढ़ने के अतिरिक्त उपभोग और रोजगार की व्यवस्था करनी पड़ती है । अतएव प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाने और खेती पर आश्रितता कम करने के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए बचत और विनियोग की दर बढ़ाना होगा ।

दूसरी योजना में राष्ट्रीय आय का उत्तरोत्तर अधिक अनुपात विनियोग में लगाने पर जोर दिया गया था और यह अनुमान लगाया था कि विनियोग की दर जो पहली योजना के अन्त में राष्ट्रीय आय की ७ प्रतिशत थी दूसरी योजना के अन्त में ११ प्रतिशत और तीसरी, चौथी तथा पाँचवी योजना के अन्त में क्रमशः १४, १६, और १७ प्रतिशत करनी पड़ेगी ।

योजना आयोग में किये गये अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि तीसरी योजना की अवधि में राष्ट्रीय आय १९६०-६१ में १३,००० करोड़ रु० से बढ़ा कर १९६५-६६ में

1. Third Five Year Plan—A Draft Outline, P. 4.

१७,००० करोड़ रु० करने के लिए लगभग १०,००० करोड़ रु० का विनिमय करना होगा। इसी प्रकार चौथी और पाँचवीं योजनाओं के अन्त तक राष्ट्रीय आय क्रमशः २२,००० करोड़ रु० और ३०,००० रु० करने के लिए क्रमशः १५०००-१६००० करोड़ रु० और २१०००-२२००० करोड़ रु० का विनियोग करना होगा।[1]

कभी कभी यह भय प्रकट किया जाता है कि इतनी बड़ी मात्रा में विनियोग संभव बनाने के लिए विदेशों से बड़ी मात्रा में सहायता लेने के अतिरिक्त घरेलू बचत की दर को इतना बढ़ाना पड़ेगा कि कई वर्षों तक जनता के उपभोग और जीवन-स्तर में उल्लेखनीय वृद्धि नहीं की जा सकेगी। यह सच है कि आर्थिक विकास के लिए कठिन परिश्रम और त्याग करना आवश्यक होता है। हाल ही में रिजर्व बैंक द्वारा प्रकाशित भारत में बचत और विनियोग के एक अध्ययन से ज्ञात होता है कि हमारे देश में बचत की मात्रा १९५१-५२ में राष्ट्रीय आय के ५·१ प्रतिशत से बढ़कर १९५६-५७ में ८·६ प्रतिशत हो गई।[2] दूसरी योजना के पहले चार वर्षों में यह लगभग ८ प्रतिशत रहने का अनुमान है। हम देख चुके हैं कि दूसरी योजना में विनियोग की दर राष्ट्रीय आय के ७ प्रतिशत से बढ़ कर ११ प्रतिशत होगई। परन्तु घरेलू बचत इतनी नहीं बढ़ने से विदेशों मे साधन जुटाने पड़े। अनुमान है कि दूसरी योजना काल में कुल ६,२०० का गिनियोग होगा जिसमें से करीव दो तिहाई घरेलू और शेप एक तिहाई विदेशी साधनों से प्राप्त होगा।

तीसरी योजना में विनियोग की मात्रा बढ़ाकर लगभग १०,००० करोड़ रु० करने के लिए विदेशों से साधन जुटाने के साथ ही साथ घरेलू बचत को बढ़ाना होगा। अनुमान है कि विनियोग की दर दूसरी योजना में राष्ट्रीय आय के ११ प्रतिशत से बढ़कर तीसरी योजना में १४ प्रतिशत हो जायगी। तदर्थ घरेलू बचत की दर को ८ प्रतिशत से बढ़ा कर ११ प्रतिशत करना होगा।

स्पष्ट है कि हमको उपभोग पर नियंत्रण रखना होगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि देश में उपभोग का स्तर गिराना होगा। वास्तव में योजना में भोजन, वस्त्र, चीनी आदि उपभोग्य पदार्थों की उपलब्धी बढ़ाने की व्यवस्था है। अनुमान है कि बचत की दर ८ प्रतिशत से बढ़ाकर ११ प्रतिशत करने पर भी उपभोग में ४ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि हो सकेगी यदि राष्ट्रीय आय लक्ष्यों के अनुसार ५ प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ाई जा सकी।

---

1. Third Five Year Plan—A Draft Outline, P. 4, 5 & 8.
2. Indian Information (1-7-1960), P. 404.

सारिणी[1]

वर्ष	राष्ट्रीय आय करोड़ रु०		प्रतिव्यक्ति आय रु०	
	चालू कीमतों से	१९४८-४९ की कीमतों से	चालू कीमतों से	१९४८-४९ की कीमतों से
१९४८-४९	८,६५०	८,६५०	२४६·९	२४६·९
१९४९-५०	९,०१०	८,८२०	२५३·९	२४८·६
१९५०-५१	९,५३०	८,८५०	२६५·२	२४६·३
१९५१-५२	९,९९०	९,१६०	२७४·०	२५०·१
१९५२-५३	९,८२०	९,४६०	२६६·४	२५६·६
१९५३-५४	१०,४८०	१०,०३०	२८०·७	२६८·७
१९५४-५५	९,६१०	१०,२८०	२५४·२	२७१·९
१९५५-५६	९,९८०	१०,४८०	२६०·८	२७३·६
१९५६-५७	११,३१०	११,०००	२९४·३	२८४·०
१९५७-५८	११,४००	१०,८९०	२९०·१	२७७·१
१९५८-५९	१२,४७०	११,६९०	३१३·२	२९३·६

1. Source : Central Statistical Organization, Govt. of India.

अभ्यास

(१) राष्ट्रीय आय का अर्थ और महत्त्व समझाइये। क्या राष्ट्रीय आय से किसी देश का आर्थिक कल्याण मापा जा सकता है ?

(२) राष्ट्रीय आय समिति की रिपोर्ट की मुख्य बातों पर प्रकाश डालिये।

(३) भारत की राष्ट्रीय आय में हाल की प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिये। भारत की राष्ट्रीय आय के भविष्य के बारे में क्या अनुमान लगाये गये हैं ?

(४) राष्ट्रीय आय से आप क्या समझते हैं ? भारत की राष्ट्रीय आय क्या है ?

(आगरा, बी० ए० १९५७)

सन्दर्भ ग्रन्थ

(1) Simon Kuznets : National Income & Its Composition (1919-1938), Vol. I, Ch. I.

(2) National Income Committee Reports :
First Report April 1951.
Final Report February 1954.

(3) Estimates of National Income 1948-49 to 1955-56 (C. S. O. New Delhi, 1957)

---

1. Third Five Year Plan—A Draft Outline, P. 44-45.

चालीसवाँ अध्याय

बेरोजगारी की समस्या

भारत में इस समय सबसे पेचीदी समस्या बेरोजगारी की है। इससे ज्यादा दुःख की बात क्या हो सकती है कि एक व्यक्ति काम करने को तैयार है लेकिन उसे कोई भी काम नहीं मिलता है। आश्चर्य की बात है कि भारत में बहुत काम करने बाकी पड़े हैं फिर भी लोगों को काम नहीं मिलता हैं और श्रम-शक्ति व्यर्थ नष्ट हो रही है। इस अवस्था के उत्पन्न होने और बने रहने के कारणों की जाँच करना अत्यन्त आवश्यक है तभी इसे बदला जा सकेगा।

समस्या का आकार

भारत में वेरोजगारी व्यापक रूप से फैली हुई है। शहरों व गाँवों में, शिक्षित वर्ग व अशिक्षित वर्ग में, कुशल व अकुशल श्रमिकों आदि सभी में वेकारी दिखाई पड़ती है; सिर्फ अंशों का अन्तर अवश्य है। जैसे गाँवों में भूमिहीन मजदूरों में वेरोजगारी ज्यादा है और उसको दूर करना भी बहुत कठिन है। देश के कुछ भागों में इस समस्या ने ज्यादा गम्भीर रूप धारण कर रक्खा है और ऐसे क्षेत्रों में तुरन्त कदम उठाने की आवश्यकता है। देश में किसानों और घरों में काम करने वाली स्त्रियों के कई वर्ग ऐसे हैं जिनको पूरे समय के लिए काम नहीं मिलता। यह अर्द्ध रोजगार की समस्या भी वेरोजगारी का एक अंग है।

भारत में वेरोजगारी के आकार व प्रकृति की जाँच करने के लिए आवश्यक आँकड़ों का अभाव है। अतः इस समस्या की गम्भीरता को आँकड़ों से सिद्ध करने में कठिनाई होती है। शहरों में फैली हुई वेकारी का अनुमान रोजगार के दफ्तरों की सूचना के आधार पर थोड़ा सा लगाया जा सकता है लेकिन वह भी पूर्णतया विश्वसनीय नहीं माना जा सकता है क्योंकि अभी तक सभी व्यक्ति इनमें अपना नाम नहीं लिखाते हैं और कुछ काम पर लगे हुए भी ज्यादा अच्छे काम की तलाश में अपना नाम दर्ज करवा देते हैं। कुछ भी हो पिछले वर्षों में इन दफ्तरों की सूचना से भी यही प्रमाणित हुआ है कि देश में वेरोजगारी बढ़ी है। मार्च, १९५६ में ७·०५ लाख वेरोजगार व्यक्तियों ने रोजगार के दफ्तरों में अपने नाम लिखा रक्खे थे। नेशनल सेम्पल सर्वे के अनुसार लगभग २५% व्यक्ति दफ्तरों में अपने आपको रजिस्टर करवाते हैं। अतः मार्च १९५६ में लगभग २८ लाख व्यक्ति शहरों में वेकार थे।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में शहरों व गाँवों में फैली हुई वेरोजगारी का अनुमान

लगाया गया। गाँवों की बेरोजगारी का अनुमान कृषि-श्रम-जाँच के आधार पर लगाया गया और शहरों के सम्बन्ध में नेशनल सेम्पल सर्वे की सूचना का उपयोग किया गया।

योजना आयोग ने दूसरी योजना की अवधि में बेरोजगारी का आकार इस प्रकार आँका है—

(लाखों में)

	शहरों में	गाँवों में	कुल
नये रोजगार चाहने वाले	३८	६२	१००
पुराने बेकार	२५	२८	५३
कुल	६३	९०	१५३

उपर्युक्त सूचना से यह स्पष्ट होगया कि दूसरी योजना के अन्त तक देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करने के लिए लगभग १½ करोड़ व्यक्तियों को रोजगार दिया जाना चाहिए। लेकिन योजना आयोग ने कहा कि इतने लोगों को रोजगार देना सम्भव नहीं होगा। गैर-कृषि क्षेत्रों में ज्यादा से ज्यादा ८० लाख व्यक्तियों को काम दिया जा सकेगा ताकि १९५६ की अपेक्षा १९६१ में बेरोजगारी की स्थिति बिगड़ने से रोकी जा सकेगी।

बेरोजगारी व अर्द्ध-रोजगार के सम्बन्ध में पूर्णतया संतोषप्रद सूचना व आँकड़े उपलब्ध न होने से इनकी व्यापकता व गम्भीरता पर कुछ कहना मुश्किल हो जाता है। फिर भी यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि देश में रोजगार बढ़ रहा है लेकिन साथ में बेरोजगारी भी बढ़ रही है। प्रतिवर्ष जितने नए व्यक्ति काम चाहने वाले सामने आते हैं उतने काम नहीं बढ़ पा रहे हैं इसलिए बेरोजगारी की समस्या दिनोंदिन ज्यादा पेचीदी बनती जा रही है।

बेरोजगारी की किस्में
(Types of Unemployment in India)

पश्चिमी विकसित पूँजीवादी औद्योगिक देशों में दो चार प्रतिशत अस्थिर बेकारी (Frictional unemployment) के अलावा व्यापक बेकारी मन्दी काल में माँग घट जाने से उत्पन्न होती है। केन्स के अनुसार पूँजी की पूर्ति की तुलना में विनियोजन घट जाने से मन्दी आती है। लेकिन भारत में पूँजी के अभाव में बेरोजगारी की स्थिति बनी रहती है। अतः अमेरिका आदि विकसित देशों में पूँजी के उपयोग के अभाव में बेरोजगारी फैलती है जब कि भारत में पूँजी के अभाव में बेरोजगारी बनी रहती है। अतः दोनों की स्थिति में मौलिक अन्तर है जिसे समझने की आवश्यकता है।

भारत में विविध किस्म की बेकारी पाई जाती है। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है :—

(१) खुली बेरोजगारी (Open Unemployment or Structural Unemployment) :—भारत में ऐसे बहुत से व्यक्ति मौजूद हैं जो काम ढूँढ़ते हैं लेकिन उनको काम नहीं मिलता है। ऐसे व्यक्तियों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती ही जाती है क्योंकि जनसंख्या आर्थिक साधनों के उपयोग की तुलना में ज्यादा तेजी से बढ़ रही है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था में स्थिरता, शिथिलता एवं गतिहीनता की अवस्था बहुत वर्षों से बनी हुई है। देश की अधिकांश आबादी कृषि पर निर्भर है और कृषि में वही पुरानी परिपाटी चली आ रही है जो वर्तमान परिस्थितियों के लिए अनुपयुक्त है। नई भूमि कृषि के अन्तर्गत बहुत कम आई है। देश औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। कुटीर व घरेलू उद्योगों का पतन होने से बेरोजगारी बढ़ी लेकिन बड़े कारखानों में बहुत कम व्यक्तियों को खपाया जा सका। व्यापार, यातायात, सामाजिक सेवाओं आदि का विकास भी उतनी तेजी से नहीं हुआ जितनी तेजी से होना चाहिए था। अतः हमारी अर्थ-व्यवस्था का ढाँचा ही ऐसा रहा है जिससे बेरोजगारी खुले रूप में विद्यमान रही है।

(२) छिपी हुई बेरोजगारी या अर्द्ध-रोजगार (Disguised Unemployment or Under-employment) भारत में बेरोजगारी का यह रूप बहुत प्रचलित है। इसका गाँवों में ज्यादा जोर है। छिपी हुई बेकारी का मतलब यह है कि श्रमिक वैसे तो अपने आपको काम पर लगा हुआ समझता है लेकिन उसकी सीमान्त उत्पत्ति नगण्य या नहीं के बराबर होती है—अर्थात् यदि उसको वहाँ से हटाकर दूसरी तरफ लगा दिया जाय तो पहली दिशा के उत्पादन में कोई कमी नहीं आयेगी। भारत में भूमि पर जनसंख्या का भार अत्यधिक है। भूमि छोटे छोटे टुकड़ों में विभाजित हो चुकी है। अनार्थिक जोतों की संख्या ज्यादा है। यदि भारत में जनसंख्या को कृषि क्षेत्रों से हटाकर उद्योगों में लगाया जाय तो कृषि का उत्पादन नहीं घटेगा क्योंकि थोड़े व्यक्ति ही वैज्ञानिक कृषि के आधार पर अधिक उत्पादन कर सकेंगे। अतः कृषि में लोग लाभपूर्ण ढङ्ग से नहीं लगे हुए हैं। छिपी हुई बेकारी शहरों में (विशेषकर सरकारी विभागों में) भी पाई जाती है। भारत में प्रशासन का व्यय बढ़ता जा रहा है। कई स्थानों पर आवश्यकता से ज्यादा कर्मचारी नियुक्त किये जाते हैं। यह भी मूलतया इसी किस्म की बेकारी का नमूना है। कई घरों में स्त्रियों को पूरा काम नहीं मिलता और वे भी अर्द्ध-रोजगारी का शिकार होती हैं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि उचित दिशा में प्रयत्न करने से छिपी हुई बेकारी की व्यर्थ जाने वाली शक्ति का उपयोग पूँजी-निर्माण में ज्यादा सफलतापूर्वक हो सकता है।

(३) मौसमी बेकारी (Seasonal Unemployment):—भारत के कई भागों में कृषि का कार्य साल भर तक नहीं चलता है। इसलिए कुछ महीनों में किसानों को बेकार रहना पड़ता है। मौसमी बेकारी औद्योगिक केन्द्रों में भी पाई जा सकती है जैसे चीनी की मिलें साल भर तक नहीं चल पाती हैं, इसलिए श्रमिकों को कुछ समय तक बेकार रहना पड़ता है।

कुटीर उद्योगो के पतन से मौसमी बेरोजगारी की तीव्रता बढ़ गई है। इससे किसानों के जीवन-स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। भारत में मौसमी बेकारी भी काफी व्यापक है।

(४) चक्रीय बेकारी (Cyclical Unemployment)—मन्दी के दिनों में मांग घट जाने से जो बेकारी फैलती है उसे चक्रीय बेकारी कहते हैं। पहले कहा जा चुका है कि इस किस्म की बेकारी पूँजीवादी देशों में ज्यादा पाई जाती है। लेकिन भारत भी इससे मुक्त नहीं है। कई वार निर्यात-मांग घट जाने से निर्यात-उद्योग को धक्का पहुँचता है और कुछ कारखाने वन्द हो जाते हैं, जिससे इस प्रकार की बेकारी आ जाती है। लेकिन भारत में ऐसी स्थिति सूती-वस्त्र-उद्योग में विशेष रूप से देखने को मिली है।

(५) अस्थिर बेकारी (Frictional Unemployment)—कई वार कुछ काम वन्द हो जाते हैं और उनमें लगे हुए श्रमिक बेकार हो जाते हैं। ऐसे श्रमिक नये काम सीख कर जल्दी ही उनमें लग जाते हैं। लेकिन कुछ समय तक इनको बेकार रहना पड़ता है। यह अस्थिर बेकारी का प्रतीक है। पाश्चात्य देशों में इस किस्म की बेकारी कोई विशेष समस्या नहीं मानी जाती है क्योंकि श्रम की गतिशीलता अधिक होने से व प्रशिक्षण की पर्याप्त सुविधायें होने से श्रमिक जल्दी ही नये व्यवसाय में प्रवेश पा लेते हैं लेकिन भारत में इन परिस्थितियों के अभाव में अस्थिर बेरोजगारी भी बहुत कष्टदायक सिद्ध होती है।

(६) प्राद्यौगिक बेकारी (Technological Unemployment)—उत्पादन के आधुनिक श्रम बचाने वाले तरीकों के अपनाने से जो बेकारी फैलती है उसे प्राद्यौगिक बेकारी कहते हैं। भारत जैसे देश में जहाँ पहले से बहुत बेकारी फैली हुई है, उद्योगों में नवीनीकरण आसानी से नहीं किया जा सकता है। इसलिए ऐसा उपाय अपनाया जाता है कि धीमी गति से आधुनिकीकरण किया जाय और साथ में बेकार होने वाले व्यक्तियों को भी काम पर लगाने की व्यवस्था की जाय ताकि विना आँसू बहाये वैज्ञानीकरण (Rationalisation without Tears) सम्भव हो सके। हमें प्राद्योगिक बेकारी का सामना अवश्य करना पड़ेगा क्योंकि इसके विना उत्पादन-क्षमता नहीं बढ़ सकती है। कृषि में भी टैक्नीकल परिवर्तन होने से अर्थात् वैज्ञानीकरण से बेरोजगारी

बढ़ने की सम्भावना है। अतः प्राद्योगिक बेकारी कृषि व उद्योग दोनों में पाई जा सकती है।

ऊपर विविध किस्म की बेकारी का उल्लेख किया गया है। उससे स्पष्ट होता है कि भारत में वास्तव में लाभप्रद ढंग का रोजगार पाये हुए लोगों की संख्या बहुत कम है। बहुत से लोग पूर्णतया बेकार हैं और काफी लोग अर्द्ध-बेकार हैं, और बहुत थोड़े पूर्णतया काम पाये हुए हैं। यह हमारे आर्थिक पिछड़ेपन का द्योतक है। ऐसी स्थिति में सामान्य रूप से देश में गरीबी का होना स्वाभाविक ही है।

बेरोजगारी के विविध भेदों से इसके विभिन्न कारणों पर अच्छा प्रकाश मिलता है। अधिकतम जन संख्या सिद्धान्त के अनुसार बेकारी उस समय उत्पन्न होती है जबकि जन-संख्या आर्थिक साधनों को देखते हुए ज्यादा बढ़ जाती है। अतः बेरोजगारी का सबसे प्रमुख कारण जन संख्या की अत्यधिक वृद्धि है। भारत में अब जन-संख्या लगभग २% प्रतिवर्ष की दर से बढ़ने लगी है। इसलिए प्रतिवर्ष काम चाहने वालों की संख्या भी बढ़ रही है। बेरोजगारी के अन्य कारणों में निम्न बातों का उल्लेख किया जा सकता है—आर्थिक साधनों का कम उपयोग, कुटीर उद्योगों का पतन, औद्योगीकरण का अभाव, कृषि का पिछड़ापन, कृषि का वर्षा पर आश्रित होना, श्रमिकों को काम पर लगाने के लिए पूंजी का अभाव, वर्तमान शिक्षा-प्रणाली, श्रम की गतिशीलता का अभाव, अकुशल व अशिक्षित श्रमिकों का आधिक्य एवं देश की पिछड़ी हुई सामाजिक दशा।

उपर्युक्त सब कारणों ने मिलकर बेरोजगारी की समस्या को अत्यधिक जटिल बना दिया है और ऐसा लगता है कि पूर्ण रोजगार (Full Employment) तो एक आदर्श ही बना रहेगा और उसे व्यवहार में शायद ही कभी प्राप्त किया जा सकेगा। भारत योजना-बद्ध आर्थिक-विकास का रास्ता स्वीकार कर चुका है। अतः योजनाओं में रोजगार के साधन बढ़ाने पर जोर दिया जाना स्वाभाविक है। दोनों पंच-वर्षीय योजनाओं में रोजगार बढ़ाने के सम्बन्ध में जो प्रयत्न किये गये हैं उनका विवरण नीचे दिया जाता है :—

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में रोजगार सम्बन्धी नीति

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में बेरोजगारी के प्रश्न पर शुरू में गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया गया क्योंकि उस समय खाद्यान्नों व कच्चे माल का अभाव, मुद्रा-स्फीति के तनाव व दबाव आदि प्रश्न ज्यादा सामने थे। १९५३ के आरम्भ से बेरोजगारी की समस्या ज्यादा स्पष्ट होती गई और योजना आयोग ने रोजगार बढ़ाने के लिए प्रथम योजना का आकार बढ़ा दिया और ३०९ करोड़ रु० अतिरिक्त व्यय करने की व्यवस्था की। १९५३ के अन्त में रोजगार के अवसर बढ़ाने के लिए ११ सूत्री कार्यक्रम घोषित किया गया जिसकी मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं :—

(१) सिंचाई व विद्युत योजना-केन्द्रों के पास ट्रेनिंग कैम्प स्थापित करना, (२) छोटे उद्योगों के लिए व्यक्तियों व छोटे समूहों को विशेष सहायता देना, (३) जिन कामों में श्रमिकों का अभाव है उनमें प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, (४) सरकारी विभागों द्वारा लघु-उद्योगों का बना हुआ सामान, स्टोर-क्रय-नीति के अन्तर्गत खरीदना, (५) शहरों व ग्रामों में शिक्षकों की नियुक्ति, (६) राष्ट्रीय विस्तार सेवा को फैलाना, (७) गन्दी बस्तियों की सफाई के कार्यक्रम व शहरों में थोड़ी आमदनी वालों के लिए मकान बनाने के कार्यक्रम, (८) सड़कें बनाना, (९) निजी भवन-निर्माण को प्रोत्साहन, (१०) शरणार्थी नगर-निर्माण, (११) रोजगार वृद्धि कार्यों को प्राथमिकता देना।

इस महत्त्वाकांक्षी कार्यक्रम की घोषणा के बावजूद भी बेरोजगारी की समस्या के हल में विशेष मदद नहीं मिली। प्रथम योजना की अवधि में लगभग ५४ लाख व्यक्तियों को प्रत्यक्ष रोजगार प्राप्त हुआ। अतः पहली योजना की अवधि में बेरोजगारी बढ़ी और इसके प्रति जागरूकता बढ़ी और दूसरी योजना में इस प्रश्न पर विशेष ध्यान देने की स्थिति उत्पन्न हो गई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना व रोजगार

प्रो० महालनोबिस ने दूसरी योजना की रूपरेखा में बताया था कि देश के सीमित पूँजीगत साधन आधारभूत उद्योगों के विकास में लगाये जाने चाहिएँ और उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने व रोजगार वृद्धि के लिए कुटीर व घरेलू उद्योगों का विकास किया जाना चाहिए। दूसरी योजना की यह आधारभूत नीति (Basic strategy) बाद में संसद में भी स्वीकृत हुई और रोजगार बढ़ाने के लिए कुटीर व छोटे उद्योगों के विकास पर विशेष बल दिया गया।

पहले कहा जा चुका है दूसरी योजना में ८० लाख व्यक्तियों के लिए कृषि के अलावा अन्य क्षेत्रों में रोजगार पाने का लक्ष्य निश्चित किया गया। कृषि में लगभग १६ लाख व्यक्तियों को रोजगार दिलाने का अनुमान लगाया गया। इस प्रकार योजना आयोग ने यह कहा कि यदि ये लक्ष्य प्राप्त हो सके तो द्वितीय योजना के अन्त में भी लगभग उतने ही व्यक्ति बेकार रहेंगे जितने कि इसके प्रारम्भ में थे—अर्थात् स्थिति को खराब होने से ही बचाया जा सकेगा। इससे ज्यादा सफलता प्राप्त करना मुश्किल माना गया। योजना आयोग ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषित किया कि द्वितीय योजना की अवधि में भारत में पूर्ण रोजगार की परिस्थिति नहीं लाई जा सकेगी।

साधनों के अभाव के कारण द्वितीय योजना का आकार घटा दिया गया। इससे रोजगार के लक्ष्यों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। संशोधित अनुमानों के अनुसार द्वितीय योजना की अवधि में लगभग ६५ लाख व्यक्तियों को ही रोजगार दिया जा सकेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि दूसरी योजना के अन्त में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या इसके प्रारम्भ की तुलना में अधिक होगी अर्थात् स्थिति थोड़ी खराब ही होगी।

कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि द्वितीय योजना में फैक्ट्री उपभोग-माल-उद्योगों पर ध्यान नहीं दिया गया जिससे रोजगार नहीं बढ़ सका और मुद्रास्फीति उत्पन्न हो गई। इस आलोचना में कुछ सत्यांश अवश्य है लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारत के लिए ऐसी उत्पादन की विधि ज्यादा उपयुक्त होगी जिसमें ज्यादा से ज्यादा श्रमिकों को खपाया जा सके। अतः द्वितीय योजना का दृष्टिकोण उचित था लेकिन संगठन की कमी व साधनों की कठिनाई से सफलता उतनी नहीं मिल सकी जितनी की मिलनी चाहिए थी।

भारत में पूर्ण रोजगार (Full Employment in India)

इस बात में कोई संदेह नहीं कि भारत की भावी योजनाओं में रोजगार बढ़ाने पर अवश्य बल दिया जायगा और उत्तरोत्तर रोजगार के साधनों का विस्तार होगा। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या भारत में पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न हो सकती है और वह किस प्रकार रक्खी जा सकती है ?

पूर्ण रोजगार का सरल अभिप्राय यह लगाया जा सकता है कि देश में काम के योग्य व्यक्तियों को चालू मजदूरी की दर पर रोजगार के अवसर मिलना। इसके लिए तीन तरफ प्रयत्न करने आवश्यक हैं :

(१) पुराने वेकार व्यक्तियों को काम पर लगाया जाय,

(२) प्रति वर्ष काम चाहने वाले नये व्यक्तियों के लिए रोजगार के साधन उपलब्ध किये जाँय,

(३) अर्द्ध-रोजगार की स्थिति को समाप्त किया जाय ताकि अधिक काम करके श्रमिक अपनी आय में वृद्धि कर सकें और अपना जीवन-स्तर ऊँचा बना सकें।

पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करना इतना कठिन नहीं है जितना कि इसको बनाये रखना। जनसंख्या के निरंतर बढ़ने से समस्त आर्थिक साधनों के शोषण की एक उच्चतम अवस्था आ जाती है। अतः एक देश के लिए दीर्घकाल तक 'पूर्ण रोजगार' की स्थिति एक आदर्श ही मानी जायगी। चीन ने आर्थिक ढाँचे में क्रांतिकारी परिवर्तन करके अपनी जनता के लिए रोजगार के साधनों में अत्यधिक वृद्धि की है। मिट्टी-रक्षा कार्यक्रम, वृक्षारोपण, बाँध बनाना, सड़क बनाना, आधुनिक ढंग के छोटे विकेन्द्रित उद्योग स्थापित करना, आदि कार्यों में उन्होंने विशाल जन-समूह को काम दिया है और इतने अल्प समय में अपने देश में 'पूर्ण रोजगार' की स्थिति उत्पन्न कर दी है।

भारत ने प्रजातान्त्रिक योजना का मार्ग अपनाया है। इसलिए स्वभावतः विकास की रफ्तार उतनी तेज तो नहीं हो सकती जितनी उन देशों में हुई है जिन्होंने साम्य-वादी पद्धतियाँ स्वीकार की हैं। फिर भी हम निम्न विधियों को अपना कर उत्तरोत्तर ज्यादा रोजगार (Fuller Employment) के लक्ष्य तक भावी योजनाओं में

पहुँच सकते हैं। सौभाग्य से भारत के पास वेकार पड़े हुए आर्थिक साधन विद्यमान हैं जिनको जन-कल्याण में प्रयोग किया जाना चाहिए।

सुझाव

(१) जनसंख्या को वृद्धि पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण—चाहे कितनी भी तीव्रगति से आर्थिक विकास क्यों न किया जाय, फिर भी 'अधिकतम आय के स्तर पर अधिकतम रोजगार' की स्थिति तक पहुँचने के लिए जन्म-दर पर नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक है। चीन जैसे देशों को भी 'पूर्ण रोजगार' के लिए अन्त में जनसंख्या पर नियन्त्रण लगाने की नीति अपनानी पड़ेगी। भारत के लिए भी इस सम्बन्ध में प्रभाव पूर्ण प्रचार की आवश्यकता है।

(२) वैज्ञानिक कृषि—भारत में वड़े पैमाने की यंत्रीकृत खेती प्रति व्यक्ति उपज बढ़ा सकेगी लेकिन उसमें श्रम शक्ति का उपयोग कम होने से वेकारी की समस्या हल नहीं होगी। अतः हमें प्रति एकड़ उपज वढ़ाने के लिये छोटे पैमाने की कृषि अपनानी होगी। जिसमें उत्तम खाद, सिंचाई आदि से गहरी पैदावार वढ़ाई जा सके। अनार्थिक जोतों को मिला कर सहकारी खेती करना भी उचित होगा।

(३) मिश्रित कृषि (Mixed Farming)—कृषि के साथ पशु-पालन मुर्गी पालन आदि अपनाकर कृषक की आय वढ़ाई जा सकेगी और अर्द्ध-रोजगार की स्थिति समाप्त हो सकेगी।

(४) औद्योगीकरण—भारत के आधारभूत उद्योगों के विकास की आवश्यकता है। उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन भी वड़े पैमाने पर किया जा सकता है। लेकिन रोजगार वढ़ाने के लिए हमारे देश में विकेन्द्रित व आधुनिक लघु उद्योगों की ज्यादा आवश्यकता है। वे यथा सम्भव गाँवों में ही स्थापित किए जाँय ताकि शहरों की आबादी पर अत्यधिक भार न हो। अतः हमें गाँवों के औद्योगीकरण की आवश्यकता है ताकि जनसंख्या को अपने स्थानों पर ही काम दिया जा सके। वैसे शहरों में भी विभिन्न किस्म के उद्योग स्थापित किए जा सकते है लेकिन हमारे औद्योगीकरण का आधार गाँवों में चलाये जाने वाले उद्योग ही होंगे। उनमें नवीनतम पद्धतियों का प्रयोग किया जाना चाहिये।

(५) सामाजिक सेवाओं का विस्तार—भारत शिक्षा, चिकित्सा व अन्य सामाजिक सेवाओं की दृष्टि से अभी तक वहुत पिछड़ा हुआ है। अतः सामाजिक सेवाओं के विस्तार से भी रोजगार के साधन वढ़ेंगे। कुछ व्यक्ति सामाजिक सेवाओं से उत्पन्न रोजगार को अनुत्पादक कह कर इसका महत्त्व अन्य उत्पादक रोजगार की तुलना में वहुत कम कर देते हैं। लेकिन उनका यह सोचना भ्रमपूर्ण है क्योंकि सामाजिक सेवाओं के प्रसार से ही श्रम की कार्य-कुशलता वढ़ती है और लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा होता है।

(६) राष्ट्रीय निर्माण के विविध कार्य—भारत जैसे देश में राष्ट्रीय निर्माण के अनेकों काम करने वाकी हैं, जैसे सड़कें बनाना, रेल यातायात का विकास, बाँध-पुल आदि बनाना, वृक्ष लगाना, मिट्टी की रक्षा करना, मकान बनाना, नए गाँव न नगर बनाना आदि, आदि, जिनमें विशाल श्रम-शक्ति को खपाया जा सकेगा।

अन्त में यह भी कहना उचित होगा कि भारत में अभी 'कठिन परिश्रम' करने की आवश्यकता है तभी अर्थ-व्यवस्था गतिशील हो सकेगी और अत्यधिक उत्पादक होगी जो 'पूर्ण रोजगार' की स्थिति को थाम कर रख सकेगी।

प्रश्न

University of Rajasthan, B. A.

(1) Discuss the main causes behind the problem of growing unemployment in India. What short term and long term remedies you would suggest to solve the problem? (1954)

(2) Discuss the extent and nature of the unemployment problem *among the educated persons in India. What is the solution? (1957)*

सन्दर्भ ग्रन्थ

(1) Second Five Year Plan—Final Draft.
(2) Nabagopal Das : Unemployment, Full Employment & India.

इकतालीसवाँ अध्याय

प्रथम पंच-वर्षीय योजना

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत ने योजनाबद्ध आर्थिक विकास का मार्ग अपनाया। मार्च, १९५० में प्रधान मन्त्री श्री नेहरू की अध्यक्षता में योजना आयोग नियुक्त किया गया जिसने पहली योजना की रूपरेखा जुलाई १९५१ में प्रस्तुत की। इसकी अवधि अप्रैल, १९५१ से मार्च, १९५६ तक की रक्खी गई। योजना की अवधि के लगभग १½ साल बाद दिसम्बर, १९५२ में इसका अन्तिम स्वरूप देश के समक्ष रक्खा गया। पहली योजना में जो कार्य-क्रम रक्खे गये उनमें से बहुत से ऐसे थे जिन्हें स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद प्रारम्भ कर दिया गया था। लेकिन बाद में उन विविध कार्य-क्रमों को मिलाकर, आवश्यक सुधार व विस्तार के साथ प्रथम पञ्च-वर्षीय योजना का रूप दे दिया गया।

प्रथम योजना के उद्देश्य, विशेषताएँ व लक्ष्य—पहली योजना प्रारम्भ होने के समय देश में खाद्यान्नों व कच्चे माल का अत्यन्त अभाव था। चारों तरफ मुद्रा-स्फीति और मँहगाई छाई हुई थी। द्वितीय महायुद्ध व विभाजन के कारण अर्थ-व्यवस्था में असंतुलन व तनाव पैदा हो गए थे। कारखानों में बेकार उत्पादन-क्षमता (Unutilised productive capacity) पड़ी हुई थी। ऐसी स्थिति में प्रथम योजना का मुख्य उद्देश्य खेती की पैदावार बढ़ाना रक्खा गया ताकि खाद्यान्नों व कच्चे माल का अभाव दूर हो जाए। साथ में मूल्य-स्तर घटाने पर भी बल दिया गया।

प्रारम्भ में पहली योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में २,०६९ करोड़ रु० व्यय करने का प्रस्ताव किया गया लेकिन बाद में यह रकम बढ़ा कर २,३७८ करोड़ रु० कर दी गई क्योंकि योजना के तीसरे वर्ष में बेकारी की समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया था, इसलिए रोजगार के साधन बढ़ाने के लिए अतिरिक्त व्यय करना आवश्यक हो गया।

संशोधित राशि का वितरण विभिन्न सदों पर इस प्रकार रक्खा गया :—

	(करोड़ रु०)[1]	कुल व्यय का प्रतिशत
(१) कृषि व सामुदायिक विकास	३५४	१४·९
(२) सिंचाई व शक्ति	६४७	२७·२
(३) उद्योग व खनिज पदार्थ	१८८	७·९
(४) यातायात व संदेशवाहन	५७१	२४·०
(५) सामाजिक सेवायें	५३२	२२·४
(६) विविध	८६	३·६
कुल	२३७८	१००

1. प्रथम योजना की अन्तिम प्रगति रिपोर्ट के आधार पर।

उपर्युक्त तालिका से प्रथम योजना की प्राथमिकताओं का पता चलता है। इसमें कृषि के विकास पर सबसे ज्यादा ध्यान दिया गया। कुल व्यय का ४२·१% कृषि सामुदायिक विकास, सिंचाई व शक्ति के लिए रक्खा गया। इसके बाद योजना में यातायात के विकास की भी समुचित व्यवस्था की गई। शिक्षा, चिकित्सा, मकान व अन्य सामाजिक कल्याण कार्यों पर भी यथेष्ट राशि निर्धारित की गई। पहली योजना में उद्योगों पर कुल १८८ करोड़ रु० (७·६%) व्यय करने का निश्चय किया गया। इसमें से ४६ करोड़ रु० ग्रामीण व छोटे उद्योगों के विकास के लिय रक्खे गये और शेष १३६ करोड़ रु० बड़े उद्योगों, खनिज पदार्थों व वैज्ञानिक खोज के लिये निर्धारित किये गये। इस प्रकार पहली योजना में उद्योगों के विकास पर कम बल दिया गया और योजना के साधन कृषि को सुदृढ़ बनाने के लिए खर्च करना ही उचित समझा गया। योजना में निजी क्षेत्र के ४२ उद्योगों के उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित किये गये। उद्योगों की बेकार पड़ी हुई उत्पादन क्षमता का अधिकतम उपयोग करने का सुझाव दिया गया।

प्रारम्भ में जब योजना में २,०६९ करोड़ रुपये की राशि के व्यय का अनुमान था, तब १,२५८ करोड़ रु० करों से व जनता से उधार लेकर, २९० करोड़ रु० घाटे की वित्त व्यवस्था से और शेष विदेशी सहायता, अतिरिक्त उधार, अतिरिक्त घाटे की वित्त व्यवस्था अथवा करों से प्राप्त करने का लक्ष्य था। जब संशोधित रूप में योजना का आकार बढ़ा दिया गया, तो ज्यादा साधन जुटाने के लिऐ विदेशी सहायता, घाटे की वित्त-व्यवस्था, उधार व कर आदि पर ही जोर पड़ना स्वाभाविक था।

प्रथम योजना की प्रगति (१९५१-५६)

प्रथम योजना का आकार साधारण था और इसके उद्देश्य व लक्ष्य भी ऊँचे नहीं थे। इसलिए योजना की प्रगति काफी संतोषजनक रही। प्रथम योजना के अन्त में भारतीय अर्थ-व्यवस्था ज्यादा संतुलित व सुदृढ़ हो गई। खाद्यान्नों व कच्चे माल का संकट मिट गया। औद्योगिक उत्पादन बढ़ा। वस्तुओं के मूल्य भी घटे। पहली योजना की सबसे बड़ी खूबी यह थी कि लगभग ४२० करोड़ रु० की घाटे की वित्त-व्यवस्था होने पर भी मुद्रा-स्फीति उत्पन्न हुई, बल्कि मूल्य थोड़ी मात्रा में घटे। विदेशी भुगतान की स्थिति ठीक रही। ये सब आर्थिक उन्नति के परिचायक थे। विभिन्न क्षेत्रों की प्रगति का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है :—

(१) **व्यय, राष्ट्रीय आय व पूँजी निर्माण**—प्रथम योजना की अन्तिम प्रगति रिपोर्ट (मई, १९५७) के अनुसार पांच वर्षों में कुल व्यय लगभग १,९६० करोड़ रु० ही हुआ जबकि व्यय का अनुमान २,३७८ करोड़ रु० था। शुरू के तीन वर्षों में व्यय बहुत थोड़ा हुआ लेकिन अन्तिम दो वर्षों में व्यय की दर बढ़ा दी गई। राष्ट्रीय आय में १७·५% वृद्धि हुई और प्रति व्यक्ति आय १०·५% बढ़ी। योजना के आरम्भ में पूँजी-

निर्माण राष्ट्रीय आय का लगभग ५% था जो योजना के अन्त में लगभग ६$\frac{3}{4}$% हो गया। पूँजी निर्माण की यह दर भी आर्थिक विकास के लिए अपर्याप्त ही मानी जायगी लेकिन पहली योजना में ही इस सम्बन्ध में विशेप प्रगति होनी सम्भव नहीं थी।

(२) कृषि सिंचाई व शक्ति—पहली योजना में कृषि की पैदावार लगभग १८% बढ़ी। खाद्यान्नों का उत्पादन १९५०-५१ में ५४ मिलियन टन से बढ़कर १९५५-५६ में ६५ मिलियन टन हो गया जो लक्ष्य से अधिक था। १९५३-५४ में कृषि की पैदावार में आशातीत वृद्धि हुई। उत्पादन की इस वृद्धि में अनुकूल मानसून का बड़ा हाथ था लेकिन खाद, बीज व सिंचाई से भी उत्पादन बढ़ाने में सहायता मिली। तिलहन व कपास का उत्पादन लक्ष्य से अधिक रहा लेकिन जूट व गन्ने की पैदावार लक्ष्य से कुछ कम ही रही।

पाँच वर्षों में लगभग १४० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि पर सिंचाई की जाने लगी जिसमें से १०० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई के छोटे साधनों का प्रयोग हुआ और शेप पर बड़े साधनों से सिंचाई बढ़ाई गई। बिजली की उत्पादन क्षमता १९५०-५१ में २३ लाख किलोवाट से बढ़कर १९५५-५६ में ३४ लाख किलोवाट हो गई।

(३) उद्योग :—औद्योगिक उत्पादन पाँच वर्षों में लगभग ४०% बढ़ा। सूती कपड़े का उत्पादन लगभग ३७२ करोड़ गज से बढ़कर ५१० करोड़ गज सालाना हो गया जो योजना के लक्ष्य से ४० करोड़ गज अधिक था। सीमेंट का उत्पादन २७ लाख टन से ४६ लाख टन हो गया। चीनी, कपड़ा सीने की मशीनें, कागज, और साइकिलों का उत्पादन लक्ष्य के अनुसार हुआ। इंजीनियरिंग उद्योगों व भारी रसायन उद्योगों में भी उत्पादन बढ़ा। पुरानी बेकार पड़ी हुई उत्पादन क्षमता का पूरा उपयोग किया गया और नई क्षमता भी उत्पन्न की गई। पेट्रोल साफ करने, समुद्री जहाज और हवाई जहाज बनाने, रेल के इंजिन, पेनिसिलिन, डी० डी० टी० बनाने आदि के कार्यों में भी यथेष्ट प्रगति हुई। इस्पात के कारखानों व भारी बिजली का सामान बनाने के कारखाने की प्रगति संतोषजनक नहीं हुई।

निजी क्षेत्र में उत्पादन काफी बढ़ा और व्यय के लक्ष्य पूरे कर दिये गए। वास्तव में सार्वजनिक क्षेत्र की बनिस्वत निजी क्षेत्र की प्रगति ज्यादा सराहनीय रही।

(४) **यातायात की प्रगति** :—पहली योजना में यातायात की प्रगति काफी संतोषजनक रही। इस अवधि में ३८० मील नई रेल की लाइनें डाली गई। ६३६ मील लम्बी सड़कों का निर्माण किया गया। ३० बड़े पुल बने। ४००० मील लम्बी चालू सड़कों को सुधारा गया। इस प्रकार रेल व सड़कों का विकास किया गया।

(५) **वित्तीय व्यवस्था** :—योजना में १,९६० करोड़ रु० व्यय हुए जिनकी व्यवस्था निम्न प्रकार से की गई :—

	(करोड़ रु०)
करों व रेलों से	७५२
बाजार ऋण	२०५
अल्प बचत व अन्य ऋण	३०४
अन्य पूँजीगत आय	९१
विदेशी साधन	१,८८
घाटे की वित्त-व्यवस्था	४,२०
कुल	१,९६०

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि करों की आय विशेष संतोषजनक नहीं रही। अल्प-बचत कार्यक्रम सफल रहा। योजनाकाल में कुल २९६ करोड़ रु० की विदेशी सहायता व ऋण स्वीकृत हुए जिनमें से १८८ करोड़ रु० के साधनों का प्रयोग किया गया और शेष १०८ करोड़ रु० दूसरी योजना में ले जाये गये। घाटे की वित्त व्यवस्था लक्ष्य से अधिक रही लेकिन इसने मुद्रा-स्फीति उत्पन्न नहीं की।

प्रगति की समीक्षा :—पहली योजना भारत के लिए योजना की भूमिका थी। प्रथम प्रयास होने के कारण कई कमियों का आ जाना स्वाभाविक था। कई विद्वानों ने तो इसे योजना कहना भी उपयुक्त नहीं समझा है बल्कि एक व्यय का कार्यक्रम-मात्र माना है। कुछ भी हो प्रथम योजना की प्रगति को देखकर हम इसे संतोषजनक कह सकते हैं। १९५५-५६ में अर्थ-व्यवस्था ने स्थिरता, ताकत, संतुलन एवं विकास के चिन्ह दिखलाये जबकि १९५१-५२ में यह अस्थिर, कमजोर व असंतुलित थी।

पहली योजना की सफलता से प्रेरित होकर योजना आयोग ने दूसरी योजना का आकार महत्वाकांक्षी रखा और औद्योगीकरण पर बल दिया। वास्तव में पहली योजना एक कृषिगत योजना थी और उसका लक्ष्य औद्योगीकरण का मजबूत आधार तैयार करना था। साथ में कारखानों की उत्पादन-क्षमता का अधिकतम उपयोग करना था। इन सब प्रयत्नों में पहली योजना काफी सफल रही लेकिन निम्न कमियों की तरफ भी ध्यान देना आवश्यक है ताकि हम प्रगति का सही मूल्यांकन कर सकें।

(१) कृषि-उत्पादन की वृद्धि में अनुकूल प्रकृति का हाथ काफी था। अतः इस सम्बन्ध में प्रगति क्षणिक व अस्थायी थी जैसा कि भावी घटनाओं से स्पष्ट भी हो गया।

(२) कृषि के क्षेत्र में भी भूमि-सुधार, सहकारी खेती, फसल योजना (Crop-planning) आदि की प्रगति विशेष प्रभावशाली व चमत्कारिक नहीं रही।

(३) रोजगार की दृष्टि से पहली योजना सफल नहीं कही जा सकती है। पहली योजना की अवधि में बेरोजगारी में वास्तव में वृद्धि हुई।

(४) वास्तविक व्यय अनुमानित व्यय से काफी कम रहा।

(५) पहली योजना की सफलताओं ने आम जनता में विशेष उत्साह उत्पन्न नहीं किया। अतः प्रगति-आंकड़ों में ही झलक कर रह गई और व्यवहार में लोगों के जीवन-स्तर में परिलक्षित नहीं हो सकी।

बियालीसवाँ अध्याय

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना

प्रथम पंच-वर्षीय योजना की सफलता से प्रभावित होकर योजना आयोग ने दूसरी योजना देश के समक्ष रक्खी जिसका आकार काफी बड़ा था और लक्ष्य बहुत ऊँचे थे। इसकी अवधि अप्रैल, १९५६ से मार्च, १९६१ तक रक्खी गई। पहली योजना में कृषि का आधार सुदृढ़ किया गया था, इसलिए दूसरी योजना में औद्योगिक विकास पर ज्यादा ध्यान दिया जाना स्वाभाविक था। अतः द्वितीय योजना ने भारत में औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात किया क्योंकि इसी में आधारभूत उद्योगों की प्रगति पर विशेष ध्यान दिया गया। द्वितीय योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में पाँच वर्षों में केन्द्र व राज्यों की तरफ से ४८०० करोड़ रु० व्यय करने का अनुमान लगाया गया और योजना के निम्न चार उद्देश्य निर्धारित किये गये :—

(१) राष्ट्रीय आय में पाँच वर्षों में कुल २५% वृद्धि ताकि देश में जीवन-स्तर ऊँचा हो सके। १९५५-५६ में राष्ट्रीय आय १०८०० करोड़ रु० हो गई थी, उसको १९६०-६१ में १३,४८० करोड़ तक कर देने का लक्ष्य घोषित किया गया।

प्रति व्यक्ति आय में १८% वृद्धि करने का अनुमान लगाया गया ताकि द्वितीय योजना के अन्तिम वर्ष में यह ३३१ रु० हो जाय जबकि प्रारम्भिक वर्ष में यह केवल २८१ रु० थी।

(२) देश में तीव्र गति से औद्योगिक विकास हो ताकि भारत में संतुलित अर्थ-व्यवस्था का जन्म हो सके। इसके लिए आधारभूत उद्योगों का विकास किया जायगा।

(३) देश में रोजगार के साधन बढ़ाये जायेंगे ताकि पाँच वर्षों में कृषि के अलावा अन्य क्षेत्रों में लगभग ८० लाख व्यक्तियों को नया रोजगार मिलेगा और कृषि क्षेत्रों में १६ लाख व्यक्तियों को काम दिया जा सकेगा। इस प्रकार योजना की अवधि में लगभग १ करोड़ व्यक्तियों को रोजगार दिया जा सकेगा।

(४) धन व आय की असमानता कम करना और आर्थिक-सत्ता को केन्द्रित होने से रोकना ताकि देश में समाजवादी ढंग का समाज स्थापित किया जा सके।

उपर्युक्त चारों उद्देश्य एक दूसरे से सम्बन्धित हैं जैसे राष्ट्रीय आय की वृद्धि के लिए आधारभूत उद्योगों का विकास अनिवार्य है और देश में रोजगार के साधन बढ़ाना भी आवश्यक है। आर्थिक व सामाजिक समानता कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए अत्यन्त आवश्यक है। ये चारों उद्देश्य परस्पर सम्बन्धित होते हुए भी कभी-कभी

एक दूसरे से स्पर्द्धा भी करने लगते हैं अर्थात् यदि एक को प्राप्त करने की कोशिश करते हैं तो दूसरे को प्राप्त करना कठिन हो जाता है जैसे अल्पकाल में आधारभूत उद्योगों के विकास से रोजगार के साधन बहुत अधिक नहीं बढ़ पाते हैं। धन व आय की समानता पर बल देने से पूँजी-निर्माण शिथिल पड़ जाता है। अतः चारों उद्देश्य आवश्यक होते हुए भी एक साथ प्राप्त कर लेना आसान नहीं है। इनमें आवश्यक मेल व संतुलन स्थापित करना योजना अधिकारियों के लिए एक चुनौती है जिसका सामना किया जाना चाहिए।

वित्तीय पक्ष

द्वितीय योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल ४८०० करोड़ रु० (२,५६० केन्द्र के और २,२४० राज्यों के) व्यय करने का निश्चय किया गया था जिसकी व्यवस्था के लिए निम्न उपाय सुझाये गये :—

		(करोड़ रु०)
१—चालू आय में से बचत		८००
(क) करों की वर्तमान दरों से (१९५५-५६)	३५०	
(ख) अतिरिक्त करों से	४५०	
२—जनता से ऋण लेकर		१,२००
(क) बाजार ऋण	७००	
(ख) अल्प बचत	५००	
३—बजट के अन्य साधनों से		४००
(क) रेलों का अंशदान	१५०	
(ख) प्रॉविडेन्ट फन्ड व अन्य जमा खाते	२५०	
४—विदेशी साधन		८००
५—घाटे की वित्त-व्यवस्था		१,२००
६—शेष कमी, जो स्वदेश के साधनों से पूरी करनी है		४००
	कुल	४,८००

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि दूसरी योजना की कुल लागत (४,८०० करोड़ रु०) का $\frac{1}{6}$ भाग विदेशी साधनों से प्राप्त करने का अनुमान लगाया गया और शेष $\frac{5}{6}$ भाग स्वदेशी साधनों से ही जुटाने का निश्चय किया गया। कुल अनुमानित व्यय का $\frac{1}{4}$ अर्थात् १,२०० करोड़ रु० घाटे की वित्त व्यवस्था से पूरा करना खतरे से खाली नहीं कहा जा सकता है। इसमें मुद्रा-स्फीति उत्पन्न होने की सम्भावनायें छिपी हुई हैं।

वित्तीय साधनों में करों से प्रत्यक्ष रूप में ८०० करोड़ रु० एकत्र करने का अनुमान था, लेकिन जिस मात्रा तक ऋण की रकम में कमी पड़ेगी और शेष ४०० करोड़ रु०

के लिए, करों के बढ़ाने की ही आवश्यकता होगी। अतः हमें करों का स्थान केवल ८०० करोड़ रु० का ही नहीं मानना चाहिए बल्कि इससे कहीं अधिक समझना चाहिए। इस प्रकार दूसरी योजना के लिए साधन जुटाने के लिए कर, ऋण, विदेशी साधन, घाटे की वित्त-व्यवस्था आदि सभी को पर्याप्त मात्रा में बढ़ाने का निर्णय करना पड़ा।

जहाँ तक विदेशी साधनों का प्रश्न है, यह अन्दाज लगाया गया कि ५ वर्षों में लगभग ११५० करोड़ रु० का भुगतान का घाटा रहेगा जिसकी पूर्ति के लिए २०० करोड़ रु० पौण्ड पावने की रकम के ले लिए जायेंगे, १०० करोड़ रु० की विदेशी निजी पूँजी भारत में आ जायगी और शेष लगभग ८०० करोड़ रु० के लिए विदेशी सरकारों व संस्थाओं से व्यवस्था करनी होगी।

इस प्रकार दूसरी योजना में साधन जुटाने के लिए कर, ऋण, विदेशों से उधार व सहायता एवं घाटे की वित्त-व्यवस्था सभी पर बल दिया गया।

विनियोग का ढाँचा

द्वितीय योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में ४,८०० करोड़ रु० और निजी क्षेत्र में २,४०० करोड़ रु० व्यय करने का अनुमान लगाया गया। सार्वजनिक क्षेत्र के व्यय का विभिन्न मदों में वितरण नीचे दिया जाता है। तुलना के लिए साथ में प्रथम योजना के संशोधित प्रस्तावित व्यय का वितरण भी दिया जाता है।

	द्वितीय योजना में		प्रथम योजना में	
	(करोड़ रु०)	कुल का प्रतिशत	(करोड़ रु०)	कुल का प्रतिशत
१. कृषि व सामुदायिक विकास	५६८	११·८	३५४	१४·९
२. सिंचाई व शक्ति	९१३	१९·०[1]	६४७	२७·२
३. यातायात व संदेशवाहन	१,३८५[2]	२८·९	५७१	२४·०
४. उद्योग व खनिज	८९०[3]	१८·५	१८८	७·९
५. सामाजिक सेवायें	९४५	१९·७	५३२	२२·४
६. विविध	९९	२·१	८६	३·६
कुल	४,८००	१००·०	२,३७८	१००·०

उपर्युक्त तालिका से द्वितीय योजना की प्राथमिकताओं का स्पष्ट पता चलता है और साथ में प्रथम योजना से अन्तर भी मालूम हो जाता है।

---

(१) १०·१% सिंचाई व बाढ़-नियंत्रण के लिए और ८·९% शक्ति के विकास के लिए।

(२) ९०० करोड़ रु० रेलों के लिए।

(३) बड़े व मध्यम श्रेणी के उद्योगों के लिए ६१७ करोड़ रु०, खनिज पदार्थों के लिए ७३ करोड़ रु० और लघु उद्योगों के लिए २०० करोड़ रु०।

दूसरी योजना में औद्योगीकरण पर अधिक बल दिया गया है क्योंकि १८·५% व्यय तो स्पष्ट रूप से 'उद्योग व खनिज' के अन्तर्गत होगा लेकिन शक्ति व यातायात पर किया जाने वाला व्यय भी उद्योगों की उन्नति में सहायक होगा। इस प्रकार दूसरी योजना का झुकाव औद्योगिक प्रगति की ओर ज्यादा है। उद्योग, खनिज, शक्ति व यातायात के विकास पर जोर देने के कारण ही इसे 'उद्योग प्रधान' योजना कहा गया है।

दूसरी योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में किये जाने वाले व्यय में से ३,८०० करोड़ रु० का विनियोग होगा अर्थात् इससे स्थायी सम्पत्ति (Assets) का निर्माण होगा और शेष १,००० करोड़ रु० चालू खर्च होगा जैसे सामाजिक सेवाओं आदि में। अतः सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों में मिलाकर ६,२०० करोड़ रु० का विनियोग होगा।

निजी विनियोग का ढाँचा

		(करोड़ रु०)
१.	संगठित उद्योग व खनिज	५७५
२.	बागान, विद्युत, रेलों को छोड़कर अन्य यातायात	१२५
३.	निर्माण	१,०००
४.	कृषि, ग्रामीण व छोटे पैमाने के उद्योग	३००
५.	स्टॉक	४००
	कुल	२,४००

उत्पादन व विकास के लक्ष्य (Targets)

द्वितीय योजना आर्थिक विकास के लिए एक बड़ा कदम कहा जा सकता है। इसमें विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों के विकास के लक्ष्य निर्धारित किये गये जिनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण उत्पादन व विकास के लक्ष्य नीचे दिये जाते हैं :—

	१९५५-५६ (वास्तविक उत्पादन)	१९६०-६१ (प्रारम्भिक अनुमान)	१९६०-६१ (संशोधित अनुमान)
१. खाद्यान्न	६५ (मिलियन टन)	७५	८०·५
२. कपास	४२ (लाख गाँठें)	५५	६५
३. जूट	४० (लाख गाँठें)	५०	५५
४. तिलहन	५·५ (मिलियन टन)	७·०	७·६
५. गन्ना (गुड़)	५·८ (मिलियन टन)	७·१	७·८
६. चाय	६४४ (मि० पौंड)	७००	
७. सिंचाई का क्षेत्र	६·७ (मिलियन एकड़)	८८	
८. बिजली (उत्पादन क्षमता)	३४ (लाख किलोवाट)	६९	
९. तैयार इस्पात	१३ (लाख टन)	४३	
१०. राष्ट्रीय विस्तार सेवा खंड	५००	३,८००	
११. सामुदायिक विकास खंड	६२२	१,१२०	
१२. राष्ट्रीय मार्ग	१२,९०० मील	१३,८०० मील	
१३. बंदरगाहों की ढोने की क्षमता	२५ मिलियन टन	३२½	

दूसरी योजना के चालू होने के तुरन्त बाद ही कृषि उत्पादन के लक्ष्यों में संशोधन किया गया। संशोधन करते समय यह कहा गया कि व्यय की राशि को उतना ही रखने पर भी उत्पादन ज्यादा हो सकेगा।

दूसरी योजना में देश में उपभोग की मात्रा २०% बढ़ सकेगी, कपड़े का उपभोग १९५५-५६ के १५ गज प्रति व्यक्ति सालाना से बढ़कर १९६०-६१ में १८ गज हो जायगा।

योजना में खाद्यान्नों के उत्पादन बढ़ाने के साथ साथ दूध, अंडे, माँस, फल, सब्जी आदि रक्षात्मक पदार्थों के उत्पादन बढ़ाने पर भी आवश्यक जोर दिया गया। कृषि अर्थ-व्यवस्था को प्रगतिशील बनाने के लिए भूमि-सुधारों को कार्यान्वित करने की आवश्यकता स्वीकार की गई और इस सम्बन्ध में सहकारी कृषि, सीमा-निर्धारण आदि पर सुझाव दिये गये।

दूसरी योजना में उद्योग

पहली योजना में तैयारी की कमी व कर्मचारियों के अभाव से विशेष औद्योगिक प्रगति नहीं हो सकी। अतः दूसरी योजना में उद्योगों के विकास को प्राथमिकता दी गई। देश में रोजगार व आय बढ़ाने और उपभोग्य वस्तुओं की मात्रा बढ़ाने के लिए कुटीर व छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास पर जोर दिया गया। दूसरी योजना के औद्योगिक विकास के कार्यक्रम की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं:—

(क) भिलाई, रूरकेला व दुर्गापुर में लोहे व इस्पात का उत्पादन बढ़ाया जायेगा। इस्पात का उत्पादन बढ़ने से आर्थिक विकास का रास्ता खुल सकेगा।

(ख) मशीनें बनाने के उद्योग, भारी इन्जीनियरिंग व रसायन उद्योगों का विकास किया जायगा। रसायन उद्योगों में सल्फरिक एसिड, सोडा एश, कॉस्टिक सोडा का निर्माण होगा ताकि अन्य उद्योगों में इनका प्रयोग हो सके। नाइट्रोजन खाद (अमोनियम सल्फेट) का उत्पादन बढ़ने से कृषि की पैदावार बढ़ सकेगी।

(ग) सीमेंट का उत्पादन बढ़ाया जायगा। सीमेंट की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए उत्पादन बढ़ाना आवश्यक है।

(घ) जूट, सूती कपड़ा, व चीनी उद्योगों में नवीनीकरण किया जायगा ताकि उत्पादन बढ़ने से निर्यात भी बढ़ जायगा।

इसके अलावा कारखानों की बेकार पड़ी हुई उत्पादन क्षमता का पूरा उपयोग करके उत्पादन बढ़ाया जायगा। इन समस्त उपायों का सामूहिक परिणाम औद्योगिक उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ औद्योगिक ढाँचे में परिवर्तन भी होगा और देश में औद्योगीकरण की नींव मजबूत हो सकेगी।

द्वितीय योजना व रोजगार

पहले कहा जा चुका है कि दूसरी योजना का एक उद्देश्य रोजगार का साधन बढ़ाना है। बेरोजगारी का अनुमान लगाते हुए योजना में कहा गया है कि पुराने

बेकारों की संख्या ५३ लाख है और द्वितीय योजना के पांच वर्षों में लगभग १ करोड़ व्यक्ति नये रोजगार चाहने वाले आ जायेंगे। अतः यदि द्वितीय योजना के अन्त तक पूर्ण रोजगार की स्थिति लानी है तो लगभग १½ करोड़ व्यक्तियों के लिये योजना की अवधि में नये रोजगार की व्यवस्था करनी होगी। लेकिन योजना आयोग ने कहा कि इतने लोगों को रोजगार देना सम्भव नहीं होगा। पांच वर्षों में खेती के अलावा अन्य क्षेत्रों में ८० लाख व्यक्तियों को काम दिया जा सकेगा और कृषि कार्यों में लगभग १६ लाख व्यक्तियों को खपाया जा सकेगा।

अतः बेरोजगारी को बढ़ने से रोका जा सकेगा। **द्वितीय योजना के अन्तिम वर्ष में भी लगभग उतने ही लोग बेकार पाये जायेंगे जितने कि इसके प्रारम्भ में थे।**

सिंचाई के विस्तार से एवं लघु-उद्योगों के विकास से आंशिक बेकारी की समस्या कुछ सीमा तक हल हो सकेगी। यह पहले कहा जा चुका है कि भारत में रोजगार बढ़ाने के लिए छोटे उद्योगों का विकास किया जाना आवश्यक है। योजना में एक तरफ मशीन बनाने के उद्योगों का विकास किया जा रहा है तो दूसरी तरफ कुटीर व लघु उद्योगों की प्रणाली में भी सुधार किया जा रहा है। यह दूसरी योजना की आधारभूत नीतियों में से एक है।

दूसरी योजना व विभिन्न नीतियाँ (Policies)

इस विशाल व व्यापक योजना को सफलीभूत करने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में स्पष्ट नीति-निर्धारण आवश्यक था। अतः योजना आयोग ने भूमि-सुधार, मुद्रा-स्फीति-नियंत्रण, औद्योगिक विकास, प्रशासन आदि विषयों से सम्बन्धित नीतियाँ घोषित की हैं ताकि योजना आर्थिक-विकास में ज्यादा से ज्यादा सहायक हो सके। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है :—

(क) भूमि-सुधार-नीति—भूमि-सुधार-नीति निश्चित करते समय सामाजिक न्याय व अधिकतम उत्पादन दोनों पर समान रूप से बल दिया गया है। इनको प्राप्त करने के लिए निम्न कार्यक्रम सुझाये गये हैं :—

(अ) राज्य व किसान के बीच के मध्यस्थ वर्ग को समाप्त करना, (आ) काश्तकार को भू धारण की सुरक्षा प्रदान करना; (इ) काश्तकारों को भू-स्वामी बनाना; (ई) भू-सीमा निर्धारण (Ceiling on Land Holdings) करके अतिरिक्त भूमि खेतिहर मजदूरों में बाँटना; (उ) अनार्थिक जोतों को मिलाकर सहकारी खेती की व्यवस्था करना ताकि उत्पादन बढ़ सके।

अभी तक उपर्युक्त नीति के अनुसार कार्य होना बाकी है क्योंकि सहकारी खेती, भूमि पर सीमा-निर्धारण आदि को लागू करने में कई व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं।

(ख) मौद्रिक नीति—दूसरी योजना में विशाल मात्रा में घाटे की वित्त-व्यवस्था होने से मुद्रा-स्फीति का भय था, इसलिए रिजर्व बैंक को व्यापक अधिकार दिये गये हैं

ताकि वह प्रतिकूल स्थिति का मुकाबला कर सके। उसे जमा-कोषों का अनुपात बदलने का अधिकार दिया गया है। योजना आयोग ने मूल्य-स्थिरता पर बल दिया है ताकि लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके।

(ग) औद्योगिक नीति—मई, १९५६ में भारत सरकार ने नई औद्योगिक नीति घोषित की जिसमें आधारभूत उद्योगों, यातायात व खनिज पदार्थों के विकास में सार्वजनिक क्षेत्र को बढ़ाना स्वीकार किया गया। अतः भविष्य में इन क्षेत्रों में सरकार ज्यादा हिस्सा लेगी। आर्थिक-विकास में सरकार ने अपनी प्रत्यक्ष जिम्मेदारी बढ़ाना निश्चित किया है। लेकिन निजी क्षेत्र को भी काम करने का अवसर दिया जायगा और सरकार उसे वित्तीय साधन उपलब्ध करेगी। इस प्रकार भविष्य में सार्वजनिक क्षेत्र निजी क्षेत्र की तुलना में ज्यादा तेजी से बढ़ेगा।

निजी उद्योगों में विशेषतः छोटे और मध्यम आकार के उद्योगों में सहकारी संगठन के विकास को ज्यादा महत्त्व दिया जायगा।

(घ) प्रशासनीय नीति—धीरे-धीरे योजना के प्रशासनीय पक्ष पर ज्यादा विचार किया जाने लगा है। इस सम्बन्ध में विकेन्द्रीकरण पर जोर दिया जाने लगा है। ग्राम-पंचायतों को संगठित किया जा रहा है। प्रजातान्त्रिक योजना में जब तक प्रजा का प्रभावपूर्ण सहयोग नहीं होगा तब तक वह सफल नहीं हो सकेगी। अतः नौकरशाही प्रशासन को हटाकर विकेन्द्रित प्रशासन की तरफ बढ़ने के प्रयास किये जा रहे हैं। सामुदायिक विकास कार्यक्रम की सफलता के लिए भी विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। आशा है भविष्य में इस सम्बन्ध में ज्यादा सफलता प्राप्त की जा सकेगी।

समालोचना

दूसरी योजना को प्रारम्भ से ही बहुत सी आलोचनाओं का शिकार होना पड़ा है। बाद की घटनाओं ने कुछ आलोचनाओं को सत्य सिद्ध कर दिया है और कुछ को गलत भी सिद्ध कर दिया है। नीचे द्वितीय योजना की विभिन्न आलोचनाओं का उल्लेख किया जाता है और योजना के ४ वर्षों की प्रगति के आधार पर उनका मूल्यांकन भी किया जाता है।

(१) दूसरी योजना महत्त्वाकांक्षी (Over-ambitious) है—दूसरी योजना का आकार पहली योजना की तुलना में दुगुना होने से इसे महत्त्वाकांक्षी कहा गया है। इसमें विनियोग की दर के १९५५-५६ में राष्ट्रीय आय के ७·३% से बढ़ कर १९६०-६१ में १०·७% हो जाने का अनुमान है। इसलिए आलोचकों का कहना है कि विनियोग की यह वृद्धि सम्भव नहीं होगी।

दूसरी योजना देश की आवश्यकताओं को देखते हुए तो बड़ी नहीं है लेकिन साधनों की दृष्टि से यह महत्त्वाकांक्षी सिद्ध हुई है। साधनों के अभाव के कारण ही मई, १९५८ एवं बाद में पुनः सितम्बर, १९५८ में योजना में काट-छाँट करनी पड़ी है। अतः दूसरी

योजना बाद की घटनाओं से भी महत्वाकांक्षी सिद्ध हुई लेकिन भारत जैसे पिछड़े हुए देश के तीव्र आर्थिक विकास के लिए मामूली योजना से काम नहीं चलेगा। हमें विशाल विनियोग की व्यवस्था करनी ही पड़ेगी और उसके लिए जनता को तैयार करना होगा।

(२) इसमें कृषि पर कम ध्यान और उद्योगों पर आवश्यकता से ज्यादा ध्यान दिया गया है—दूसरी योजना के सम्बन्ध में यह आलोचना आज तक की जाती है जबकि योजना की अवधि समाप्त होने को आई है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि इस योजना में औद्योगीकरण का आधार सुदृढ़ करने पर विशेष जोर दिया गया है क्योंकि रोजगार, उत्पादन, राष्ट्रीय आय वगैरः बढ़ाने के लिए ऐसा करना आवश्यक है।

कृषि-उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि न होने से इस अलोचना में सत्यांश प्रतीत होने लगा है। दूसरी योजना में कृषि, सामुदायिक विकास व सिंचाई पर व्यय करने की व्यवस्था की गई थी, फिर भी यह क्यों कहा जाता है कि इसमें कृषि की उपेक्षा की गई? वास्तविक स्थिति यह है कि योजना आयोग की यह गलती नहीं थी कि दूसरी योजना में उद्योग पर विशेष बल दिया गया बल्कि प्रथम योजना में कृषि-उत्पादन की वृद्धि पर अत्यधिक सन्तोष प्रकट करना एक भूल थी क्योंकि इससे कृषि-विकास के प्रति योजना-की तत्परता (Readiness) में कमी अवश्य आ गई। इस रूप में कृषि की उपेक्षा अवश्य की गई है और इसलिये तृतीय योजना में इस भूल को सुधारा जा रहा है और कृषि-उत्पादन बढ़ाना इसके उद्देश्यों में रक्खा गया है।

आगामी पंच-वर्षीय योजना में भी हमको कृषि की पैदावार बढ़ाने के लिए भारी प्रयत्न करने होंगे वरना औद्योगिक विकास की गति भी धीमी पड़ जायगी। अभी तक भारतीय कृषि के विकास का आधार सुदृढ़ नहीं हो पाया है।

(३) उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने के लिए कुटीर व लघु उद्योगों पर विशेष बल दिया गया है और फैक्ट्री उपभोग्य-उद्योगों को भुला दिया गया है—योजना में एक तरफ आधारभूत उद्योगों के विकास के लिए भारी विनियोग किया जायगा और दूसरी तरफ कुटीर उद्योगों की उन्नति के सरकारी प्रयत्न किए जायेंगे। उपभोग का सामान बनाने वाले कारखानों को विकास का समुचित अवसर नहीं मिलेगा। बल्कि सूती वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग आदि पर प्रतिबन्ध लगाकर सम्बन्धित लघु उद्योगों का विकास किया जायगा।

योजना आयोग की यह नीति अल्पकाल में चल सकती है लेकिन दीर्घकालीन दृष्टिकोण से सभी उद्योगों को विकास का समान अवसर देना चाहिए और उसकी व्यवस्था की जानी चाहिए।

(४) योजना मुद्रा-स्फीति उत्पन्न करेगी—१२०० करोड़ रु० की घाटे की वित्त-व्यवस्था से देश में मुद्रा-प्रसार होगा। इस सम्बन्ध में शुरू से ही योजना के वित्तीय पक्ष की कटु आलोचना की गई है। कर-वृद्धि से, विशेषतया परोक्ष करों में वृद्धि होने

से, उपभोक्ता-वर्ग को ऊँचे मूल्य देने पड़ेंगे। देश में विशाल मात्रा में विकास-व्यय बढ़ेगा लेकिन वस्तुओं का उत्पादन अनुपात से कम बढ़ेगा क्योंकि ज्यादातर व्यय आधारभूत उद्योगों पर होगा।

दूसरी योजना के प्रारम्भ से ही मुद्रा-स्फीति के दबाव प्रारम्भ हो गए और वे अब भी जारी हैं। लेकिन प्रो. शिनोय ने घाटे की वित्त-व्यवस्था की जिस सीमा तक प्रतिकूल परिणाम की आशंका प्रकट की थी, उतनी भयानक स्थिति अभी तक नहीं आ पाई है। प्रो. शिनोय ने घाटे की वित्त व्यवस्था की सीमा लगभग २५० करोड़ रु० सुझाई थी जब कि दूसरी योजना के पांच वर्षों में यह १२०० करोड़ रु० तक पहुँच जायगी।

अतः दूसरी योजना स्फीतिकारी अवश्य है लेकिन खाद्यान्नों की स्थिति ठीक रहने पर यह नियन्त्रण में रक्खी जा सकती है। इसके अलावा आर्थिक विकास की प्रक्रिया में मुद्रा-स्फीति निहित है और एक सीमा तक टाली भी नहीं जा सकती है।

(५) सार्वजनिक क्षेत्र के विकास पर ज्यादा बल दिया गया है—पहली योजना में सार्वजनिक व निजी क्षेत्र का हिस्सा ५० : ५० था जब कि दूसरी योजना में यह ६०:४० हो गया है इसलिए कुछ लोगों ने आशंका प्रगट की है कि निजी क्षेत्र को विकास का पूर्ण अवसर नहीं दिया गया है लेकिन यह आशंका सही नहीं है। निजी क्षेत्र के लिए विकास की विशाल सम्भावनायें पड़ी हैं। उसे योजना के साथ कदम मिलाकर चलना चाहिये।

(६) विदेशी साधनों पर निर्भरता—दूसरी योजना में ८०० करोड़ रु० के विदेशी ऋण व सहायता का अन्दाज लगाया गया था लेकिन यह अनुमान नीचा सिद्ध हुआ और बाद में इससे लगभग दुगने विदेशी साधनों की आवश्यकता प्रतीत हुई।

पिछड़े हुए देश में औद्योगीकरण की कोई भी योजना बिना विदेशी पूँजी की सहायता के सफल नहीं हो सकती है। लेकिन इस सम्बन्ध में विस्तृत छान-बीन करके अनुमान लगाये जाने चाहियें। दूसरी योजना में इस सम्बन्ध में काफी अनिश्चितता रही और उसके घातक परिणाम भुगतने पड़े।

दूसरी योजना व विदेशी विनिमय संकट

दूसरी योजना के प्रारम्भिक दो वर्षों में ही संकट का सामना करना पड़ा। देशों में मुद्रा स्फीति के दबाव उत्पन्न हो गए क्योंकि वस्तुओं की पूर्ति उस रफ्तार से नहीं बढ़ सकी जिस रफ्तार से कि इनकी माँग बढ़ने लगी। खाद्यान्नों की कमी से इनके भाव बढ़े और धीरे धीरे अन्य वस्तुओं के मूल्य भी बढ़ने लगे। इस प्रकार आन्तरिक दबाव उत्पन्न हो गए और देशवासियों को प्रतीत होने लगा कि उन्हें अब योजना के लिये त्याग करना पड़ेगा और कष्ट सहने होंगे।

लेकिन आन्तरिक दबाव से भी ज्यादा तीव्र विदेशी विनिमय संकट था। सरकारी व निजी क्षेत्रों में आयात बढ़ गये। प्रतिरक्षा का सामान मँगाया गया, खाद्यान्नों का भारी

मात्रा में आयात करना पड़ा, कच्चा माल, अन्य विकास सामग्री, व उपभोग का सामान मँगाना पड़ा। विदेशों में मूल्य बढ़े। स्वेज दुर्घटना के कारण जहाजी किराया बढ़ गया। विदेशी विनिमय के सम्बन्ध में बजट नहीं बनाने से योजना के पहले दो वर्षों में ही इतने आयात हो गए जितने नहीं होने चाहिये थे। विदेशी भुगतान असंतुलन को पूरा करने में रिजर्व बैंक की विदेशी परिसम्पत्ति (Assets) तेजी से समाप्त होने लगी। अप्रैल, १९५६ से फरवरी १९५९ तक रिजर्व बैंक के कोषों में ५३५[1] करोड़ रु० की कमी आ गई। (ये कोष ७४६ करोड़ रु० से घटकर २११ करोड़ रु० हो गए)।

विदेशी विनिमय संकट को दूर करने के लिये हमें विदेशों से ऋण लेने का प्रयत्न करना पड़ा। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ९६ करोड़ रु० का ऋण लिया गया। इस प्रकार दूसरी योजना शुरू के वर्षों में ही संकट में पड़ गई। यह संकट योजना के तीसरे अथवा चौथे वर्ष में अनुमानित था लेकिन प्रतिकूल परिस्थितियों ने इसे जल्दी ही ला उपस्थित किया। रिजर्व बैंक के स्टर्लिङ्ग कोष का २०० करोड़ रु० तक का उपयोग योजना के ५ वर्षों में होना था लेकिन प्रथम तीन वर्षों में ही इसका लगभग २½ गुना समाप्त हो गया। भुगतान के घाटे की पूर्ति एवं विकास कार्यों को चलाने के लिये विदेशी ऋण लेने की कोशिश की गई और विदेशी-विनिमय-संकट से निकालने के लिये अमेरिका व अन्य देशों से सामयिक सहायता मिली। लेकिन द्वितीय योजना के प्रारम्भिक वर्षों के अनुभवों ने हमें बहुत सावधान कर दिया है।

उपर्युक्त संकट एक विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था के लिये खतरे का चिन्ह नहीं मांना जाना चाहिये क्योंकि यह इस बात का सूचक है कि हम अपनी महत्त्वाकांक्षी योजना को कार्यान्वित करने के लिये तत्पर है लेकिन साधनों का अभाव उसमें बाधाएँ उपस्थित कर रहा है। कुछ भी हो दूसरी योजना ने यह संकट लाकर हमें अपनी जिम्मेदारियों के प्रति सजग कर दिया है।

योजना का पुनर्मूल्यांकन व संशोधन

आन्तरिक व बाहरी दबाव बढ़ने से योजना में संशोधन व परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। योजना आयोग ने बराबर योजना का मूल आकार (Basic or Original size) बनाये रखना चाहा और कभी भी योजना में कटौती करने की घोषणा नहीं करनी चाही। लेकिन देश व विदेशों में मूल्य बढ़ने से योजना की लागत बढ़ गई और ४८०० करोड़ रु० व्यय करके प्रारम्भिक भौतिक लक्ष्यों (Physical targets) को प्राप्त करना असम्भव हो गया। साधनों का अभाव स्पष्ट होता गया। अतः दो बातें सामने आईं :—

(१) पुराने निश्चित किये हुए लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए ४,८०० करोड़ रु० की जगह लगभग ५,६०० करोड़ रु० व्यय करने होंगे।

1. India 1959—Footnote P. 209.

(२) वित्तीय साधन पाँच वर्षों में ४,८०० करोड़ रु० भी नहीं जुटाये जा सकेंगे।

अतः योजना में मई, १९५८ में संशोधन किया गया। इसमें योजना को दो भागों में बाँटा गया—'अ' भाग में ४,५०० करोड़ रु० रक्खे गये जो कृषि-उत्पादन बढ़ाने के कार्यक्रम को शामिल करने के साथ साथ मुख्य योजना (Core projects) कार्यों पर व्यय किये जायेंगे। मुख्य योजना कार्यों में इस्पात के कारखाने, कोयला, रेलें, बन्दरगाह व शक्ति केन्द्र शामिल किये गये। इनमें वे कार्यक्रम भी शामिल किये गये जो काफी प्रगति कर चुके थे और जिनको बीच में छोड़ना संभव नहीं था। योजना आयोग ने कहा कि इस 'अ' भाग को पूरा करना अत्यन्त आवश्यक है और भरसक प्रयत्न करके इसे पूरा किया जायगा। 'ब' भाग में ३०० करोड़ रु० व्यय करने के हेतु रक्खे गये और इसमें शेष कार्यक्रम शामिल किये गये जिन्हें साधनों के प्राप्त होने की स्थिति में ही पूरा किया जा सकेगा।

द्वितीय योजना के मई, १९५८ के मूल्यांकन में यह भी कहा गया कि 'अ' भाग को पूरा करने के लिए भी साधनों का अभाव दिखाई देता है क्योंकि उस समय कुल साधनों के लगभग ४,२६०[2] करोड़ रु० तक पहुँचने का अनुमान लगाया गया। इसका मतलब यह हुआ कि 'अ' भाग को पूरा करने के लिए भी लगभग २४० करोड़ रु० की कमी पड़ेगी।

सितम्बर, १९५८ में योजना का पुनर्मूल्यांकन घोषित किया गया जिसमें साधनों के अभाव के कारण 'ब' भाग को छोड़ दिया गया और साथ में यह भी बतलाया गया कि प्रथम भाग को पूरा करने के लिए ४,५०० करोड़ रु० की जगह ४,६५० करोड़ रु० खर्च करने होंगे। अतः साधनों की कमी २४० करोड़ रु० से बढ़कर ३९० करोड़ रु० की हो गई। यदि इतने अतिरिक्त साधन नहीं जुटाये जा सके तो 'अ' भाग में भी अनिवार्यतया कटौती करनी पड़ेगी। संशोधन के बाद 'खनिज व उद्योग' पर व्यय बढ़ा दिया गया है और 'सामाजिक सेवाओं' पर घटा दिया गया है।

इस प्रकार योजना आयोग द्वारा योजना को बचाने के सब उपाय करने पर भी इसमें कमी करनी पड़ी है। साधारण व्यक्ति तो शायद यह समझे कि अब ४८०० करोड़ रु० की जगह ४५०० करोड़ रु० ही व्यय होंगे, लेकिन मूल्य स्तर ऊँचा हो जाने से वास्तविक सफलता व भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति में भी कमी आ जायगी। रोजगार

---

1. इस्पात, सीमेंट व शक्ति को 'hard core' इसलिए कहा गया है कि इनके असली लाभ देर से मिलते है और इस बीच में जनता को कष्ट उठाने पड़ते हैं। देखिए—
Indian Economy—Its Nature and Problems by Alak Ghosh P. 82-93. (Third Edition)

2. २,०२२ करोड़ रु० आन्तरिक बजट-साधनों से, १०,३८ करोड़ रु० विदेशी साधनों से एवं १२,०० करोड़ रु० को घाटे की वित्त-व्यवस्था से।

८० लाख व्यक्तियों की जगह केवल ६५ लाख व्यक्तियों को ही मिल सकेगा अतः योजना के अन्त में बेरोजगारी बढ़ेगी जब कि मूल योजना में सोचा गया था कि कुल बेरोजगारी न तो बढ़ेगी और न घटेगी। अतः हम रोजगार की वृद्धि के लक्ष्य प्राप्त करने में असमर्थ रहेंगे।

द्वितीय योजना की प्रगति

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भिक वर्षों में ही भारत की विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में तनाव व दबाव उत्पन्न हो गये। देश में खाद्य-संकट उपस्थित हो गया। आन्तरिक मूल्य-स्तर बढ़ने लगा और साथ में विदेशी विनिमय संकट भी उत्पन्न हो गया। परिस्थितियों से बाध्य होकर द्वितीय पंचवर्षीय योजना का मई व सितम्बर, १९५८ में दो बार पुनर्मूल्यांकन किया गया और योजना का आकार ४,८०० करोड़ रु० से घटाकर ४,५०० करोड़ रु० का कर दिया गया।

अब हमें यह देखना है कि द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में अब तक क्या कार्य सिद्धि हुई है और योजना की समाप्ति तक सफलता की क्या सम्भावनाएँ हैं।

द्वितीय योजना की तीन साल की प्रगति की सूचना के आधार पर निम्न विवरण दिया जाता है :—

द्वितीय योजना में व्यय की राशि प्रथम वर्ष में ६३९ करोड़ रु० से बढ़कर तृतीय वर्ष में लगभग १००० करोड़ रु० तक पहुँच गई। द्वितीय योजना की अवधि में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल व्यय लगभग ४६०० करोड़ रु० होने का अनुमान है। विनियोग की मात्रा बढ़ने से १९५८-५९ तक विनियोग का राष्ट्रीय आय का अनुपात लगभग ११% हो गया जबकि द्वितीय योजना के प्रारम्भ में यह लगभग ९% था। द्वितीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में कुल राष्ट्रीय आय में वास्तविक वृद्धि ११·५[1] प्रतिशत आँकी गई है। प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि ७·३ प्रतिशत बतलाई गई है। द्वितीय योजना में विभिन्न क्षेत्रों में हुई प्रगति पर संक्षेप में नीचे प्रकाश डाला जाता है :—

(१) कृषि, सिंचाई व विद्युत :—कृषि के क्षेत्र में द्वितीय योजना के प्रथम दो वर्षों में दैवी प्रकोप व बाढ़ आदि के कारण स्थिति खराब रही। लेकिन तीसरे वर्ष अर्थात् १९५८-५९ में पुनः सुधार दिखाई दिया है और उत्पादन में वृद्धि हुई है। खाद्यान्नों के उत्पादन की स्थिति निम्न आँकड़ों से स्पष्ट हो जाती है :—

१९५५-५६	६५·३ मिलियन टन
१९५६-५७	६८·७ मिलियन टन
१९५७-५८	६२·० मिलियन टन
१९५८-५९	७३·५ मिलियन टन

1. Central Statistical Organization द्वारा प्रसारित राष्ट्रीय आय के वार्षिक पत्र के सातवें अंक से उद्धृत।

आरम्भ में खाद्यान्नों की पैदावार घटने से मूल्यों में वृद्धि होना स्वाभाविक था। परन्तु १९५८-५९ में पैदावार के बढ़ने पर भी मूल्यों में कमी नहीं आई है; क्योंकि देश में निरंतर खाद्यान्नों की मांग बढ़ रही है और पूर्ति कम रहती है। अतः देश के सामने खाद्यान्नों का प्रश्न अपने जटिल रूप में ही उपस्थित है।

[1]सिंचाई का जहां तक सम्बन्ध है द्वितीय योजना में १·२ करोड़ एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई का लक्ष्य रक्खा गया था। लेकिन प्रगति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि योजना के अन्त तक लगभग १ करोड़ ४ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि में ही सिंचाई हो सकेगी।

इसी प्रकार बिजली उत्पन्न करने की अतिरिक्त क्षमता का मूल लक्ष्य ३५ लाख किलोवाट के स्थान पर केवल ३० लाख किलोवाट ही पाँच वर्षों में सम्भव हो सकेगी। प्रथम तीन वर्षों में लगभग ८½ लाख किलोवाट बिजली पैदा करने की अतिरिक्त क्षमता स्थापित होने का अनुमान है।

(२) **औद्योगिक विकास व खनिज-उत्पादन**—द्वितीय योजना में औद्योगीकरण पर विशेष बल दिया गया है। उद्योगों का विकास सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों में होगा। औद्योगिक विकास पर व्यय की जाने वाली राशि का लगभग ८०% पूँजीगत तथा मशीनें बनाने वाले उद्योगों में खर्च होगा। साथ में सूती वस्त्र उद्योग, जूट उद्योग व चीनी उद्योग के आधुनिकीकरण व पुनः यंत्रीकरण के भी कार्यक्रम रक्खे गये हैं। इस कार्य के लिए योजना में १५० करोड़ रु० खर्च करने की व्यवस्था है।

सरकारी क्षेत्र के औद्योगिक कार्यक्रमों के लिए १९५८ के साधनों के पुनर्निर्धारण के अनुसार ७०५ करोड़ रु० निर्धारित किये गये हैं। अब तक की प्रगति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि योजना के अंत तक व्यय की राशि इससे आगे ही निकल जायेगी।

१९५८-५९ तक कई औद्योगिक योजनाएँ पूरी हो गयीं, जैसे अलवाय का डी० डी० टी० कारखाना, दिल्ली के डी० डी० टी० कारखाने का विस्तार, हिन्दुस्तान एण्टीबायोटिक्स कारखाने का विस्तार, मैसूर स्टील वर्क्स का स्पन पाइप संयंत्र व बिहार का सुपर फॉस्फेट कारखाना। इसके अलावा निम्न योजनाएँ भी पूरी होगई हैं—सिंदरी खाद कारखाने का विस्तार, दुर्गापुर कोक ओवन संयंत्र में कोक का उत्पादन, हिन्दुस्तान मशीनी औजार कारखाने में छिलाई मशीनों एवं खराद मशीनों के उत्पादन का विस्तार आदि। द्वितीय योजना के अंत तक निम्न योजनाएँ पूरी होने की आशा है—तीनों इस्पात के कारखाने, नंगल का खाद का कारखाना, नेवेली लिग्नाइट योजना का खनन भाग तथा हिन्दुस्तान शिपयार्ड का विस्तार कार्यक्रम।

---

१. उद्योग व्यापार पत्रिका, अप्रैल, १९६०, पृष्ठ ३२६।
(अन्य प्रगति-विवरण भी इस पर आधारित है)

निजी क्षेत्र में उद्योगों के विकास पर पाँच वर्षों में ६८५ करोड़ रु० लगाने के लक्ष्य के मुकाबले लगभग ७७५ करोड़ रु० की पूँजी लगने की सम्भावना है।

कुटीर व छोटे उद्योगों के विकास पर प्रथम तीन वर्षों में लगभग १०० करोड़ रु० खर्च होने का अनुमान है। हाथ-कर्घा वस्त्र का उत्पादन लक्ष्य से काफी कम हो पाया है। अतः लक्ष्य के मुताबिक व्यय होने पर भी वास्तविक उत्पादन-वृद्धि की सफलता विशेष सराहनीय नहीं है।

खनिज विकास के लिए योजना में निर्धारित राशि ७३ करोड़ रु० से बढ़ाकर ११० करोड़ रु० कर दी गई थी। कोयले का उत्पादन-लक्ष्य योजना के अन्त तक ६ करोड़ टन रखा गया था। अभी तक जो प्रगति हुई है, उसके आधार पर कोयले के उत्पादन में लक्ष्य से ४० लाख टन की कमी होने की सम्भावना है।

प्रगति की समीक्षा—द्वितीय पंच-वर्षीय योजना की तीन वर्षों की प्रगति का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि इस योजना के समक्ष प्रारम्भ से ही कई कठिनाइयाँ उपस्थित हो गईं जिससे योजना की सफलता संदिग्ध हो गई। प्राकृतिक कारणों से खाद्य की स्थिति बिगड़ने से आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में दबाव व असंतुलन पैदा हो गए। देश में मुद्रा-स्फीति उत्पन्न होने लगी। विदेशी मुद्रा की कमी ने भी योजना के अनुमानों में परिवर्तन आवश्यक कर दिया। इन सब कारणों से द्वितीय योजना को वह अनुकूल परिस्थिति नहीं मिली जो कि प्रथम योजना को प्राप्त हुई थी। द्वितीय योजना के समक्ष आये हुए संकटों में डरने या निराश होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में यह बहुत कुछ स्वाभाविक है। लेकिन हमें अपनी भूलों से सीखने की आवश्यकता है। द्वितीय योजना में कृषि-उत्पादन वृद्धि पर थोड़ा कम ध्यान दिया गया, वित्तीय साधनों में घाटे की अर्थ-व्यवस्था का आवश्यकता से ज्यादा सहारा लिया गया और योजना का आकार उपलब्ध साधनों की तुलना में महत्त्वाकांक्षी रखा गया। अतः शीघ्र ही असंतुलन, तनाव व दबाव पैदा हो गए। हर्ष का विषय है कि तृतीय पंच-वर्षीय योजना में पुनः कृषि पर अधिक ध्यान दिया जायगा एवं घाटे की वित्त-व्यवस्था की मात्रा काफी कम रखी जायेगी। लेकिन साधनों के सम्बन्ध में भी पूर्ण सावधानी रखना आवश्यक है ताकि भविष्य में संकटों का सामना न करना पड़े।

इस बात में कोई संदेह नहीं कि द्वितीय योजना ने भारत में तीव्र औद्योगीकरण की शुरूआत कर दी है। इस कार्य को आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। आशा है आगामी पंच-वर्षीय योजनाओं में भारत कृषि व उद्योग का संतुलित विकास कर सकेगा।

तेतालीसवाँ अध्याय

तृतीय पंच-वर्षीय योजना

कांग्रेस आयोजन उप-समिति ने १९५९ के प्रारम्भ से ही तृतीय पंच-वर्षीय योजना के विविध पहलुओं पर अध्ययन चालू कर दिया था। ३० मई से ५ जून, १९५९ तक मद्रास में उटकमण्ड स्थान पर तृतीय योजना पर एक गोष्ठी (ऊटी सेमीनार) की गई जिसमें देश के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों, अर्थशास्त्रियों व अन्य विशेषज्ञों ने भाग लिया। इस गोष्ठी में तृतीय योजना के प्रति दृष्टिकोण, विनियोग की मात्रा व ढांचा आदि पर विचार-विमर्श हुआ। बाद में राष्ट्रीय-विकास परिषद् (National development council) ने तृतीय योजना के विनियोग के आकार व ढांचे व अन्य विकास नीतियों पर विचार किया। योजना आयोग ने ६ जुलाई, १९६० को तृतीय पंच-वर्षीय योजना की रूपरेखा का प्रारूप (Draft outline) देश के समक्ष उपस्थित किया है। रिपोर्ट में कुल २५४ पृष्ठ हैं और १२ अध्याय हैं जिनमें योजना के विविध पक्षों पर नीति की चर्चा की गई है और विकास के लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं।

तृतीय योजना के प्रति दृष्टिकोण (Approach to the Third Plan)

तृतीय योजना के उद्देश्य, प्राथमिकताएँ व उत्पादन-लक्ष्य निर्धारित करते समय योजना के सामाजिक उद्देश्य, योजना की अवधि में अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताएँ, भावी दीर्घ-कालीन विकास का चित्र व पहली दोनों योजनाओं की प्रगति आदि ध्यान में रखे गये हैं। योजना की रिपोर्ट के प्रारम्भ में ही इस बात पर जोर दिया गया है कि तृतीय योजना देश को समाजवादी ढंग के समाज की तरफ ले जाने में सहायक होगी। अधिक उत्पादन और अधिक समान वितरण की नीति को स्वीकार किया गया है। कृषि, मध्यम व छोटे पैमाने के उद्योग, व्यापार व वितरण एवं सामाजिक सेवाओं के विभिन्न क्षेत्रों में 'सहकारी ढांचे' के विकास पर जोर दिया गया है। देश के आर्थिक-विकास में निजी क्षेत्र (Private sector) को स्थान दिया जायगा लेकिन सार्वजनिक क्षेत्र (Public sector) संगठित निजी क्षेत्र की तुलना में सापेक्ष व निरपेक्ष दोनों दृष्टियों से अधिक विकास करेगा।

तृतीय योजना का प्रमुख उद्देश्य अर्थ-व्यवस्था को तेजी से 'आत्म-निर्भर-विकास' (Self-sustaining growth) की तरफ ले जाने का है। भारत आज आर्थिक-विकास के लिए विदेशों का मुँह ताकता है। देश में पूँजीगत माल का उत्पादन बढ़ाने से यह निर्भरता धीरे-धीरे घटाकर समाप्त की जा सकती है। इससे आयात कम होंगे।

भुगतान संतुलन की समस्या हल हो सकेगी। भविष्य में पूँजी का आयात अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी की सामान्य गति पर निर्भर करेगा। भारत विदेशों से विशेष सहायता नहीं माँगेगा। अतः भारत आवश्यक मशीनें व साज-सामान बनायेगा और खाद्यान्न व कच्चे माल का उत्पादन भी बढ़ावेगा। कृषि व उद्योग का संतुलित विकास किया जायगा। आत्म-निर्भर-विकास की तरफ बढ़ने के कई पहलू हैं जैसे उत्तरोत्तर बचत में वृद्धि होनी चाहिये ताकि बढ़ते हुए विनियोग की माँग पूरी की जा सके, पूँजीगत उद्योगों का तेजी से विकास हो, एवं भुगतान संतुलन के खाते की कमी को पूरा किया जाय। प्रगतिशील कृषि ही विकास की तरफ बढ़ने का सफल आधार होगी।

तृतीय योजना के उद्देश्य

दोनों पंच-वर्षीय योजनाओं के अनुभव को ध्यान में रखकर तृतीय योजना के निम्न उद्देश्य (Aims) निर्धारित किये गये हैं :—

(१) **तृतीय योजना की अवधि में प्रतिवर्ष ५% से अधिक राष्ट्रीय आय में वृद्धि प्राप्त करना।** विनियोग का ढाँचा ऐसा बनाना कि भावी योजनाओं में भी विकास की यह दर बनी रह सके;

(२) **खाद्यान्नों में आत्म-निर्भरता प्राप्त करना**, एवं उद्योगों व निर्यातों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कृषि का उत्पादन बढ़ाना;

(३) **आधारभूत उद्योगों जैसे इस्पात, ईंधन व शक्ति का विस्तार करना और** मशीन-निर्माण-क्षमता स्थापित करना ताकि आगामी १० वर्षों में देश के स्वयं के साधनों से औद्योगीकरण की आवश्यकताएँ पूर्ण कर सकना;

(४) देश की श्रम-शक्ति का अधिकतम उपयोग करना और **रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना**; और

(५) **आय और धन के वितरण की असमानता घटाना** और आर्थिक शक्ति का समान वितरण करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों को देखने से पता चलता है कि तृतीय योजना के उद्देश्य द्वितीय योजना के जैसे ही हैं। सिर्फ खाद्यान्नों के उत्पादन बढ़ाने पर विशेष बल तृतीय योजना में दिया गया है। इस प्रकार तृतीय योजना में विकास कार्य को तेजी से आगे बढ़ाया जायगा।

विनियोग की मात्रा द्वितीय योजना के अन्त में राष्ट्रीय आय के ११% से तृतीय योजना के अन्त तक १४% बढ़ाने का प्रयत्न किया जायगा।

तृतीय योजना में सामान्य मूल्य-स्तर की स्थिरता बनाये रखने पर विशेष बल दिया गया है। खाद्यान्नों का आयात करके इनका स्टॉक जमा रखा जायगा ताकि मूल्य बढ़ने की स्थिति का मुकाबला किया जा सके। राज्य-व्यापार, सहकारी बिक्री व

सरकार द्वारा मूल्य-नियमन (Regulation of Prices) करके मूल्यों की स्थिरता का लक्ष्य प्राप्त किया जायगा।

विनियोग का आकार व ढाँचा (Size and Pattern of Investment)

तृतीय योजना में सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों में कुल १०,२०० करोड़ रु० का विनियोग किया जायगा। सार्वजनिक क्षेत्र का विनियोग ६,२०० करोड़ रु० होगा और शेष ४,००० करोड़ रु० निजी क्षेत्र के लिए रखे गये हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में १०५० करोड़ रु० चालू कार्यों पर खर्च होंगे जैसे सामाजिक सेवाओं, कर्मचारियों व आर्थिक सहायता आदि पर। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र का कुल व्यय ७,२५० करोड़ रु० हो जायगा। सार्वजनिक क्षेत्र के विनियोग में एक २०० करोड़ रु० की रकम ऐसी है जो निजी क्षेत्र में पूँजी-निर्माण के लिए सार्वजनिक क्षेत्र की तरफ से अन्तरित (Transfer) की जायगी।

द्वितीय व तृतीय योजनाओं में विनियोग की मात्रा

	सार्वजनिक क्षेत्र में	निजी क्षेत्र में (करोड़ रु० में)	कुल
द्वितीय योजना	३६५०	३१००	६७५०
तृतीय योजना	६२००	४०००	१०२००

इस प्रकार तृतीय योजना में कुल विनियोग द्वितीय योजना की तुलना में लगभग ५१% ज्यादा होगा, सार्वजिनक क्षेत्र में ७०% ज्यादा होगा और निजी क्षेत्र में २९% अधिक होगा।

विनियोग व चालू खर्च का ढाँचा

	सार्वजनिक क्षेत्र (करोड़ रु०)			निजी क्षेत्र	
	योजना में में खर्च	चालू खर्च	विनियोग	में विनियोग	कुल विनियोग
१. कृषि, छोटे सिंचाई के साधन व सामुदायिक विकास	१०२५	३५०	६७५	८००	१४७५
२. बड़े व मध्यम सिंचाई के साधन	६५०	१०	६४०	—	६४०
३. शक्ति	९२५	—	९२५	५०	९७५
४. ग्रामीण व छोटे उद्योग	२५०	९०	१६०	२५७	४३५
५. उद्योग व खनिज	१५००	—	१५००	१०००	२५००
६. यातायात व संदेशवाहन	१४५०	—	१४५०	२००	१६५०
७. सामाजिक सेवाएँ	१२५०	६००	६५०	१०७५	१७२५
८. (Inventories)	२००	—	२००	६००	८००
९. कुल	७२५०	१०५०	६२००	४०००	१०,२००